सम्मेलन-पत्रिका

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जन्मशती विशेषांक

भाग ७० : संख्या २–४
चैत्र–मार्गशीर्ष – १९०६

सम्पादक
डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग
१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद
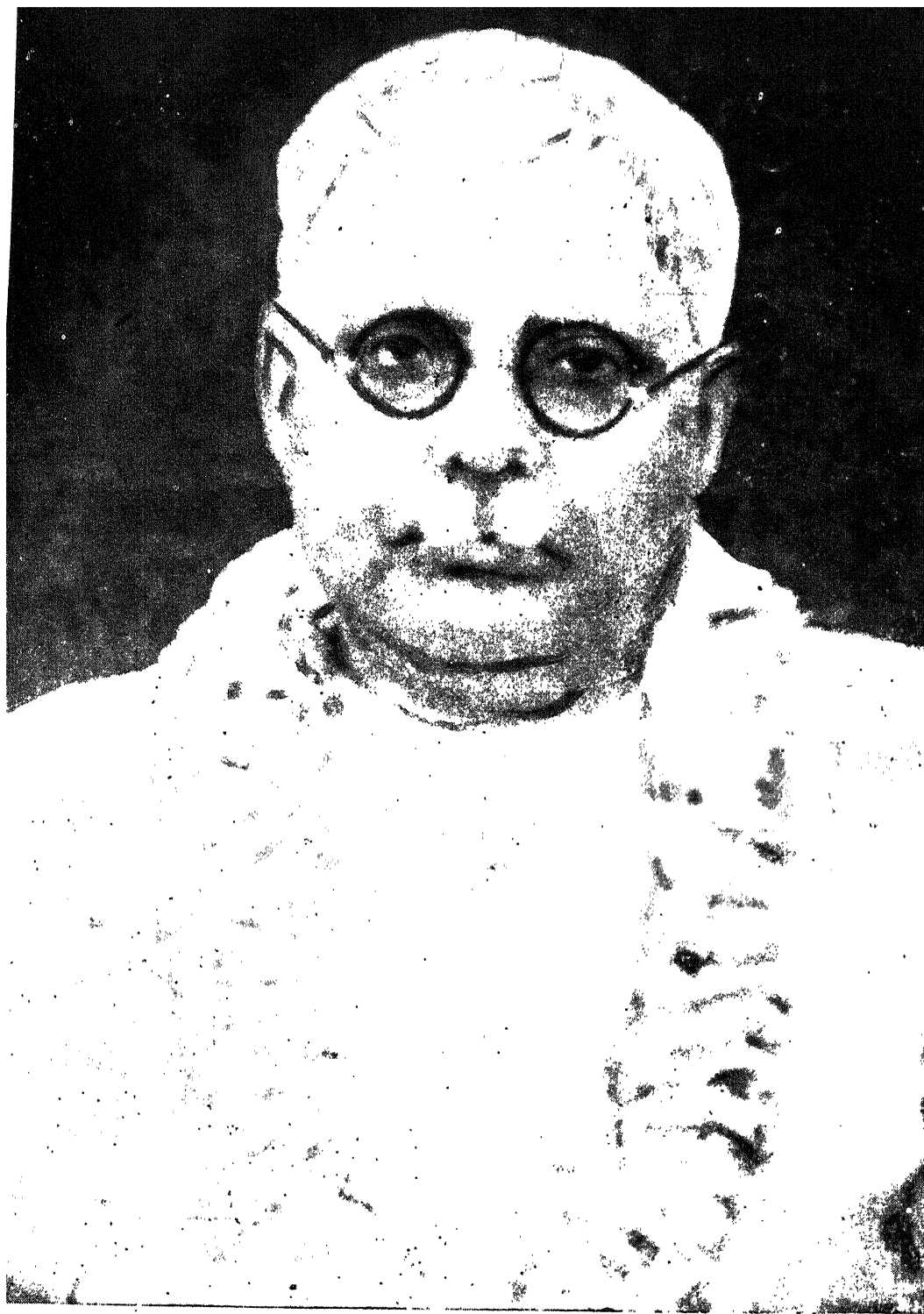
सम्पादकीय

आचार्य देव

आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-जगत् में प्रकाश-स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे स्वयं प्रकाश द्रष्टा थे। उनका अपना आलोकमय जगत् था। दिव्यता की उच्च मनोभूमि में सतत विचरण करते हुए अपने अन्तस् के आलोक की जो किरणें उन्होंने विकीर्ण कीं, उन्हीं के पावन प्रकाश में हिन्दी साहित्य ने अपना मार्ग प्रशस्त किया। सृष्टि के कण-कण में एक यज्ञीय विधान व्याप्त है। मानव-शरीर सृष्टि का एक अङ्ग है। अतः उसकी सार्थकता याज्ञिक बनने में ही है। तत्त्वान्वेषी आचार्य शुक्ल ने इस तथ्य को आत्मसात् कर लिया था। यज्ञ के अनेक रूप हैं। उन्हीं में से एक ज्ञान-यज्ञ भी है। शुक्ल जी ने इसी ज्ञान-यज्ञ की साधना की थी। वस्तुतः उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को यज्ञमय बना लिया था।

यज्ञ-विधान में अग्नि का विशेष महत्त्व है। अग्नि शक्तिसम्पन्ना है। वह स्फूर्ति-प्रदायिनी है, प्रेरक है। उसकी ऊर्ध्व गति होती है। जो जल अग्नि का शमन करता है उसी के गर्भ में वह (बड़वानल के रूप में) निवास करती है और उसी जल को पर्जन्य के रूप में ऊपर ले जाकर इतस्ततः इस प्रकार बिखेर देती है, जिससे समस्त आतपतापित प्रदेश शान्ति-सुख का अनुभव करता है। यह है, अग्नि देवता की देव-वृत्ति। देव-वृत्ति सत्त्व गुण सम्पन्न होती है। इसी सत्त्व गुण की साधना में विकास सम्भव है। हमारी सात्त्विक क्रिया ही जीवन का यज्ञ है जिससे दिव्यता एवं ऐश्वर्य की सम्प्राप्ति होती है। आचार्य शुक्ल के अन्तस् में जो अग्नि, जो ऊष्मा थी, उसी से शक्ति पाकर अपनी क्रियाशीलता द्वारा आपने अपने जीवन को चरितार्थता प्रदान की।

भगवती सरस्वती की कृपा से आचार्य शुक्ल के जीवन में ज्ञानमय एवं भावमय चेतना का सागर सतत तरङ्गायित रहता था। उन तरङ्ग-मालाओं में शुक्ल जी के बुद्धि-वैभव का प्रदीप दीपित रहता था। इसी प्रदीप के पुण्य आलोक में आपने साहित्य-साधना-क्षेत्र में एक साधक के रूप में प्रवेश किया और उससे प्राप्त सिद्धिस्वरूप साहित्य की सृष्टि वे जन-जन की हित-कामना से अनुप्राणित होकर करते रहे। साहित्य के महापण्डित और साहित्य का मात्र क-ख-ग जानने वाले, सभी शुक्ल जी के प्रदेय को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हैं। आपका साहित्य पात्रता का साहित्य है, जिसमें जितनी ग्राहिका शक्ति अथवा क्षमता है, वह उसी के अनुरूप उसका उपभोग कर पाता है। ग्राहिका शक्ति का आधार है सहृदयता एवं संवेदनशीलता।

वस्तुतः साहित्य-सृष्टि साहित्यकार का एक अनुपम उपहार है जो वह समाज को अपनी सहज उदारतावश अयाचित ही दिया करता है। तथ्य तो यह है कि साहित्य-सृष्टि साहित्यकार

की एक मनुहार-भरी भोली विवशता है। साहित्य-सेवी मधु का उपासक है। वह मधु की ही साधना करता है; मधु ही उसके जीवन का लक्ष्य है। इसीलिए उसके जीवन में मधु का अनन्त स्रोत विद्यमान रहता है। आचार्य शुक्ल जी की दृष्टि में जीवन और साहित्य दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। उन्होंने जिस साहित्य की रचना की है उसका सम्बन्ध जीवन से है और उस साहित्य की व्याख्या, उसका विश्लेषण भी उन्होंने जीवन सापेक्षता की पृष्ठभूमि में ही किया है। वे जीवन की कसौटी पर ही साहित्य को परखते थे। कोरी कल्पनाक्रान्त रचनाओं को वे साहित्य का प्रकृत रूप नहीं मानते थे। "मन के भीतर लोकोत्तर उत्कर्ष की झाँकियाँ तैयार करने में"[१] उन्होंने कल्पना को अवश्य स्वीकार किया है, क्योंकि कल्पना के द्वारा भाषा की गुणवत्ता बढ़ जाती है, उसमें हृदय-स्पर्शिता एवं रमणीयता आ जाती है। शुक्ल जी की यह पुष्ट धारणा थी कि "काव्य स्वप्न का सगा भाई नहीं है।"[२] "मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखने वाले रूपों और व्यापारों"[३] के प्रति शुक्ल जी का विशेष आग्रह था। उनका यह विश्वास था कि "अन्तः प्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चलती चलेगी।"[४]

"कला कला के लिये है अथवा कला जीवन के लिए है"——इस विषय पर विद्वानों द्वारा पर्याप्त मंथन किया गया है। अतः इस सम्बन्ध में यहाँ पर तर्क-वितर्क करना समीचीन न होगा। प्रस्तुत संदर्भ में हमारा मात्र इतना ही कथन है कि शुक्ल जी साहित्य-सृष्टि के मूल में जीवनानुभूति को ही विशेष महत्त्व देते थे। उन्होंने 'नूतन सृष्टि-निर्माण वाली कल्पना' के चक्कर में पड़कर साहित्य के 'व्यक्तिवादी' दृष्टिकोण को कभी स्वीकार नहीं किया। उनका स्पष्ट कथन है कि "सब की रुचि और प्रकृति में भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी अन्तर्भूमियाँ हैं जहाँ पहुँचने पर अभिन्नता मिलती है। ये अन्तर्भूमियाँ नर-समष्टि की रागात्मिका प्रकृति के भीतर हैं।"[५] इन अन्तर्भूमियों के परिचय द्वारा 'लोक-हृदय' का परिचय मिलता है और इसी की अभिव्यक्ति साहित्य का उद्देश्य होता है। इसी आधार पर शुक्ल जी ने साधारणीकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए रस-दशा की स्थापना की थी और रस-दशा को ही काव्यानन्द का पर्याय माना था। आनन्द का आधार विशुद्ध रूप से हमारी आनुभूतिक सत्ता ही है। अनुभूति के अभाव में हमारा समस्त कथन केवल वाग्जालप्रसूत चमत्कार ही माना जायगा। प्रत्येक अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति में रचनाकार के संस्कारगत औदात्य गुण को ग्रहण कर आनन्ददायिनी बनती है। इसीलिए जीवन में संस्कारों को महत्त्व प्रदान किया गया है।

जिस प्रकार पुष्प से गंध की और मधु की सृष्टि होती है उसी प्रकार जीवन से साहित्य की प्रसूति होती है। इसीलिए शुक्ल जी की जीवन के प्रति पूर्ण आस्था थी। वे साहित्य में जीवन

---

१. चिन्तामणि, (भाग १), पृष्ठ ३६३।
२. उपरिवत्।
३. चिन्तामणि (भाग १) : पृष्ठ १९७ [कविता क्या है]।
४. चिन्तामणि (भाग १) : पृष्ठ २५३।
५. चिन्तामणि (भाग १) : पृष्ठ ३२३ [साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद]।

की ही विभिन्न झाँकियाँ देखते थे। उनकी इस दृष्टि का सर्वाधिक प्रमाण है उनका "हिन्दी साहित्य का इतिहास"। राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक एवं धार्मिक इकाइयों से हमारा सम्पूर्ण जीवन संग्रथित है। इन्हीं के बीच हम निरन्तर साँस लेते रहते हैं। इन्हीं क्षेत्रों से व्यक्ति भावों, विचारों, स्वप्नों, संवेदनाओं आदि को प्राप्त करता है। उन्हें अपने हृदय में सँजोता है और अवसर पाकर अपने ढंग से उनकी अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार युग की साँसों के स्वर उसकी अभिव्यक्ति में स्वरित होते हैं। आचार्य शुक्ल ने विभिन्न युगीन श्वासों, चेतना के नाना रूपों का परीक्षण करते हुए हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा है। कतिपय समीक्षक अपनी ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर यह कानाफूसी-सी करते हुए पाये जाते हैं कि शुक्ल जी का इतिहास अपूर्ण है। उसमें अनेक न्यूनताएँ हैं। शुक्ल जी के दिवंगत होने के बाद की साहित्यिक गतिविधियों के आकलन की दृष्टि से उनके इतिहास में अभाव होना स्वाभाविक है। पर अपने समय तक की प्राप्त सामग्री के आधार पर जिस सूक्ष्मता, तात्त्विकता, गम्भीरता एवं व्यापक दृष्टिमत्ता के साथ शुक्ल जी ने जो लिखा है, वही उस समय लिखा जाना सम्भव था। उनके इतिहास ग्रंथ के महत्त्व का सब से बड़ा प्रमाण यही है कि बाद के हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक प्रेरणा उन्हीं के इतिहास ग्रंथ से लेते हुए देखे जाते हैं। वे सामान्यतः शुक्ल जी द्वारा प्रतिष्ठित भाव-भूमियों की परिक्रमा-सी करते हुए पाये जाते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति के लेखन-कार्य में उसकी रुचि-सापेक्षता के स्वरूप का पाया जाना स्वाभाविक है। विवेचना करते समय लेखक की वैयक्तिक धारणाएँ अपनी विवशता में उभर-उभर कर आ ही जाती हैं। इस तथ्य के अपवाद प्रायः कम ही मिल सकेंगे। शुक्ल जी भी अपनी मान्यताओं के प्रभावस्वरूप तुलनात्मक विवेचन करते समय अपनी रुचि के परिवेश में वस्तुगत ममता से मुक्त नहीं हो सके। काव्य की निर्गुण-सगुण धारा के विश्लेषण में जिस तल्लीनता एवं रमणीयता के साथ वे सगुण-काव्यधारा में रमे हैं वह निर्गुण काव्यधारा में प्रायः नहीं मिलती है। पर तथ्यों की उपेक्षा भी कहीं नहीं हुई है। यह बात दूसरी है कि निर्गुनिये संतों की साधना-पद्धति के प्रति उसके व्यावहारिक पक्ष को देखते हुए आपने यत्र-तत्र व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ कर दी हैं। इस स्थिति का कारण यह है कि शुक्ल जी व्यक्तिगत धर्म की अपेक्षा लोक-धर्म को सदैव वरीयता प्रदान करते रहे। उन्होंने सर्वत्र लोक-धर्म की ही स्थापना करनी चाही। लोक-धर्म का निर्वाह मानव की सहज उदात्त एवं त्यागमयी वृत्ति की अपेक्षा रखता है। 'स्व' को दबा कर पर-हित-कामना ही इस धर्म का व्यवहार पक्ष है। इस दृष्टि से शुक्ल जी को 'रामचरितमानस' सर्वाधिक प्रिय है। इसमें सामाजिक जीवन के विभिन्न अंगों एवं पारिवारिक जीवन के विभिन्न संबंधों का निर्वाह 'मनुष्यता की उच्च भूमि' में पहुँच कर जिस चारुता एवं गरिमा के साथ हुआ है, वह कदाचित् अन्यत्र दुर्लभ है।

शुक्ल जी ने अपने इतिहास ग्रंथ में अपनी स्थापनाओं एवं मान्यताओं की सकारण विवेचना की है और उसके लिए पुष्ट प्रमाण भी दिये हैं।

समीक्षा-क्षेत्र में भी शुक्ल जी का अवदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य में समीक्षा का जो प्रारंभिक रूप दिखाई पड़ता है वह संस्कृत साहित्य से ही पूर्ण प्रभावित है। उस समय के समीक्षक संस्कृत लक्षण-ग्रंथों का पल्ला पकड़े हुए चलते रहे और अपने को नायक-

नायिका भेद, अलंकार और कहीं-कहीं शब्दशक्ति तक ही सीमित रखते रहे। भारतेन्दु-युग तक आते-आते समीक्षा-पद्धति ने करवट लेना प्रारंभ किया और द्विवेदी-युग में साहित्य को समय की आवश्यकता की पूर्ति का साधन समझा जाने लगा और इसी मापदण्ड के आधार पर रचनाओं को महत्त्व दिया गया। जीवन के आचारिक एवं नैतिक मूल्यों की कसौटी पर ही साहित्य को परखने की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। आचार्य शुक्ल ने समीक्षा को जीवन के व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। पहले जो समीक्षा किन्हीं विशिष्ट प्रकोष्ठों में सिमटी पड़ी थी वह उन्मुक्त वातावरण में पदार्पण कर स्वस्थ साँसें लेने लगी। मानव-मन के विभिन्न वातायनों के माध्यम से साहित्य-सौन्दर्य देखने का उपक्रम प्रारम्भ हुआ। पहले जो सूर-तुलसी धार्मिक दृष्टि से ही महत्त्व पाते रहे, उन्हें साहित्यिक सौन्दर्य-द्रष्टा एवं निर्माता के रूप में जानने-समझने का भी प्रयत्न किया गया। कहने का तात्पर्य यह कि जायसी, सूर और तुलसी पर आचार्य शुक्ल जी ने जो समीक्षा प्रस्तुत की वह कवि और उसके साहित्य का अंतरंग एवं बहिरंग दोनों का सटीक दर्शन है। साहित्य हमारे मनोविकारों, मनुहारों, आशा-आकांक्षाओं का ही प्रतिफल है। शुक्ल जी ने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में उद्भूत होने वाली मन: स्थितियों के सूक्ष्म एवं गम्भीर अध्ययन द्वारा इन कवियों के साहित्य का अनुशीलन किया और पाठक अथवा श्रोता के हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव को भी व्यक्त किया।

शुक्ल जी ने अपनी समीक्षा-पद्धति में भारतीय सिद्धान्तों का केवल अनुसरण ही नहीं किया, अपितु उन्हें जीवंतता भी प्रदान की। उन्हें हमारे सामने मनोवैज्ञानिक ढंग से इस प्रकार सँवार कर रखा जिससे हम सहज रूप में ही उनसे आत्मीयतापूर्ण परिचय प्राप्त कर सकें। आपने अंग्रेजी समीक्षा-साहित्य का भी गहन अध्ययन किया था। पर शुक्ल जी ने उस साहित्य का अन्धानुकरण नहीं किया। यथावसर तथ्यों के प्रतिपादन में उन्होंने उसका प्रयोग अवश्य किया। अधिकांश स्थलों पर आपने पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों की तीखी आलोचना भी की है और भारतीय सिद्धान्तों के महत्त्व का उत्साहपूर्ण प्रतिपादन भी किया है। उनकी रस-पद्धति की विवेचना इस तथ्य का प्रमाण है। संक्षेप में आचार्य शुक्ल ने अपनी समीक्षा-पद्धति द्वारा सत्-असत् की भेदक रेखाओं का निर्माण करके जन-मानस की साहित्यिक रुचि के परिष्कार का मार्ग प्रशस्त किया। वस्तुत: हिन्दी समीक्षा शुक्ल जी को पाकर सनाथ हो गयी। उनकी लेखनी के संस्पर्श से समीक्षा-क्षेत्र प्राणवान् हो उठा। उसकी धमनियों में स्वस्थ रक्त का संचार होने लगा।

आचार्य शुक्ल केवल साहित्य और साहित्यशास्त्र के ही ज्ञाता न थे, अपितु वे भाषाविद् और भाषावैज्ञानिक भी थे। अपनी काव्य-कृति 'बुद्धचरित' की भूमिका में हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में जो विवेचना आपने उपस्थित की है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आपने विभिन्न कालीन हिन्दी साहित्य का भाषापरक अध्ययन बड़ी पैनी दृष्टि से किया है। 'काव्य भाषा' शीर्षक के अन्तर्गत आपने यह देखने का प्रयत्न किया है कि प्राकृत-काल से किस प्रकार हिन्दी विभिन्न प्रान्तीय धरातलों का स्पर्श करती हुई चली है। ब्रज और अवधी के बीज कहाँ-कहाँ प्राकृत-काल के साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं, इसका भी अध्ययन इसी भूमिका भाग में किया गया है। विभिन्न कालों में क्रियापद अपना रूप बदलते हुए आज किस स्थिति में हैं,

इसका भी यत्किञ्चित् मात्रा में आपने उल्लेख किया है। ब्रज, अवधी और खड़ीबोली में व्यक्तिवाचक और सर्वनाम के साथ कारक चिह्नों की क्या स्थिति रहती है, इस विषय पर भी आपने दृष्टिपात किया है। तात्पर्य यह कि इस विभिन्न भाषा-परक विवेचन से आपके व्याकरणिक ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है।

'बुद्ध चरित' की भूमिका से शुक्ल जी के भाषा सम्बन्धी कतिपय महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष नीचे दिये जा रहे हैं—

१. हिन्दी की काव्य-भाषा के पूर्व रूप का पता विक्रम की ११ वीं शताब्दी से लगता है।······यद्यपि इस भाषा का ढाँचा पच्छिमी (ब्रज का-सा) था, पर यह साहित्य की एक व्यापक भाषा हो गयी थी। इस काव्य-भाषा की व्यापकता के कारण ही उसमें भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का मिश्रण स्वाभाविक था। (पृष्ठ ६)।

२. भारत में मुसलमानों के आने के समय तक दिल्ली की बोली (खड़ी) साहित्य या काव्य की भाषा नहीं थी। और प्रादेशिक बोलियों के समान वह भी एक कोने में पड़ी थी। (पृष्ठ १३)।

३. पुराने उर्दू-कवियों में ब्रजभाषा का पुट केवल यह बतलाता है कि उर्दू कविता पहले स्वभावतः देश की काव्य-भाषा का सहारा लेकर उठी, फिर जब टाँगों में बल आया तब किनारे हो गयी। यह नहीं कि खड़ीबोली का अस्तित्व उस समय था ही नहीं और दिल्ली, मेरठ आदि में भी ब्रजभाषा बोली जाती थी।

४. प्रान्तीय बोलियों के महत्त्व के बढ़ने के साथ-ही-साथ ब्रजभाषा का भी महत्त्व बढ़ा। इस संदर्भ में शुक्ल जी बड़ी स्पष्टता के साथ कहते हैं कि "जो भाषा साहित्य की भाषा बन कर बोलचाल की भाषा से कुछ अलग-अलग बड़ी ठसक से चल रही थी वह ब्रजमण्डल की चलती हुई भाषा के प्रवाह में डुबायी गयी जिससे उसमें नया जीवन आ गया, वह निखर कर जीती-जागती भाषा के मेल में हो गयी। (पृष्ठ १५)।

५. इधर काव्य भाषा ने ब्रज का चलता रूप पूरा-पूरा धारण किया, उधर साहित्य की ओर अवध प्रदेश की भाषा अग्रसर हुई।...महाकवि तुलसी के हाथ में पड़ कर अवधी भाषा पूर्व से पश्चिम तक ऐसी गूँजी कि काव्य की सामान्य भाषा ने अष्टछाप के कवियों द्वारा ब्रज का जो चलता शुद्ध रूप पाया था उसमें बाधा पड़ने का सामान हुआ...ब्रजभाषा की कविता में भी अवधी के शब्दों का मनमाना प्रयोग करने लगे। (पृष्ठ १६-१७)।

६. जब साहित्य की एक व्यापक भाषा और सामान्य भाषा बन जाती है तब उसमें कई प्रदेशों के प्रयोग आ मिलते हैं। साहित्य की भाषा को जो व्यापकत्व प्राप्त होता है वह इसी उदारता के बल से। (पृष्ठ ३०)।

७. कविता में (भाषागत) नये-पुराने दोनों रूपों का साथ-साथ पाया जाना केवल परम्परा का निर्वाह ही नहीं, कवियों का आलस्य और भाषा की उतनी परवा न करना भी सूचित करता है। (पृष्ठ २६)।

आचार्य शुक्ल की भाषा में सदैव सहज सजगता सम्प्राप्त होती है। जिस प्रकार हरद्वार-ऋषीकेश आदि स्थानों में गंगा के निर्मल जल की तलहटी में पड़ी वस्तु स्पष्ट प्रतीत

होती है वैसे ही भाषा के अन्तर्गत भावों की स्पष्टता के भी वे पक्षधर थे। सामान्यातिसामान्य विषयों को भी आप बड़ी गम्भीरता और विस्तार के साथ देखने के अभ्यासी थे। अतः इनकी रचनाओं में न तो कहीं विवेचनगत हलकापन है और न हलकी-फुलकी चलताऊ भाषा है। आपके चिन्तन प्रधान निबन्धों की भाषा में भाषागत गम्भीरता स्वाभाविक है। तथ्य तो यह है कि उनका साहित्य जासूसी उपन्यासों की भाँति जन-सामान्य का साहित्य नहीं है। पोखरों-तालाबों, नहरों-नदियों में तो सभी तैर लेते हैं, पर सिन्धु का अवगाहन तो किसी मरजीवा का ही काम है। शुक्ल जी का साहित्य भाव-मन्थन एवं विचार-मन्थन का साहित्य है, जिसके समझने के लिए परिष्कृत मस्तिष्क और परिष्कृत हृदय की ही अपेक्षा रहती है।

भाषागत वर्णसंकरता उन्हें अप्रिय थी। वे एकरूपता के पक्षपाती थे अवश्य, पर हास्य-व्यंग्य में अन्य भाषा के शब्दों एवं मुहावरों के प्रयोग को वे छूत की बीमारी भी नहीं समझते थे। अन्य भाषाओं में शब्दों का प्रयोग करते समय उनकी शुद्धता का उन्हें पूरा-पूरा ध्यान रहता था। उनके नुक़ते की निगाह को देखिए——

(१) इसी बीच में देश में मुसलमानों का आना हुआ जो ज़रा ज़बान के तेज़ थे। (बुद्ध चरित, पृष्ठ १३)।

(२) इस बढ़ती हुई ग़ज़लबाज़ी के ज़माने में और ख़ास दिल्ली में अब भी घरेलू गीतों, कहावतों आदि की भाषा कुछ और ही है, उसमें वह खड़ापन या अक्खड़पन नहीं है। (बुद्ध चरित, पृष्ठ १४)।

आचार्य शुक्ल जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने साहित्य की विभिन्न धाराओं का अध्ययन किया था। समीक्षा के साथ-ही-साथ आपने साहित्य-सृजन का भी कार्य किया था। इस प्रकार आपने अपने ऊपर दुहरा उत्तरदायित्व लिया था। सामान्यतः यह एक बड़ी विषम स्थिति होती है। एक ओर कविता, निबन्ध लिखना और दूसरी ओर साहित्य की विभिन्न धाराओं का अवगाहन करते हुए हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास लिखना तथा समीक्षा-सिद्धान्तों का तुलनात्मक दृष्टि से आलोड़न-विलोड़न करके अपनी मान्यताओं का समर्थ प्रतिपादन करना। यह सब-कुछ दो नावों पर पैर रखने के समान था। पर अपनी अद्भुत प्रतिभा एवं विस्तृत तथा गम्भीर स्वाध्याय के परिणामस्वरूप आपने हिन्दी-क्षेत्र में एक पृथक् स्थान ही बना लिया। शान्तिनिकेतन में एक बार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से एक व्यक्ति ने प्रश्न किया——"भारतीय वाङमय में आचार्य शुक्ल के समकक्ष समीक्षक कौन है ?" उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया——"आचार्य शुक्ल समीक्षक रूप में अद्वितीय हैं।" वस्तुतः शुक्ल जी ने अपनी समीक्षा-पद्धति द्वारा साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया है।

शुक्ल जी का वैयक्तिक जीवन बड़ा संघर्षपूर्ण था। प्रारम्भ से ही उन्हें अपने विशाल परिवार का उत्तरदायित्व बड़ी विषम परिस्थितियों में वहन करना पड़ा। जीवन के उतार-चढ़ाव में आपने धैर्य, साहस और विवेक का ही सदैव सम्बल ग्रहण किया। आपने कर्म के महत्त्व का प्रतिपादन केवल अपनी लेखनी से ही नहीं किया, अपितु अपनी आचारपरक निष्ठा द्वारा कर्म-सौन्दर्य की मङ्गलमयी झाँकी का भी दर्शन कराया। 'कथनी और करनी' की एकता उनकी जीवन-पद्धति का एक बड़ा प्रेरक पक्ष था।

आचार्य शुक्ल जी की ऐहिक लीला समाप्त हुए ४४ वर्ष व्यतीत हो रहे हैं, पर आज भी वे हमारे मानस-पटल पर छाये हैं, वे आज भी हमें दिशा-बोध प्रदान कर रहे हैं। उनके वाक्य आज भी आप्त वाक्य के रूप में स्वीकार किये जा रहे हैं। सत्त्वगुण सम्पन्न बड़े-बड़े साहित्य मनीषी अपने को परखने के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में शुक्ल जी को ही कसौटी मान रहे हैं।

शुक्ल जी को अपनी धरती का कण-कण प्रिय था। उनके हृदय में राष्ट्र-प्रेम की धारा सतत प्रवाहित रहती थी। उनका सम्पूर्ण भाव-जगत् स्वदेश की गरिमा से व्याप्त था। भारत-भूमि, भारतीय संस्कृति, सभ्यता और भारत की भारती हिन्दी पर उन्हें गर्व था। उनके समक्ष राष्ट्र-प्रेम और हिन्दी-प्रेम ये दोनों परस्पर पर्याय थे। हिन्दी साहित्य का समुन्नयन करके आपने हमारे राष्ट्रीय गौरव को समुन्नत किया। 'भारत का हृदय गाँवों में बसता है', इस भावना से वे ग्राम्य-जीवन के प्रति विशेष ममत्व रखते थे। वन्य प्रकृति के प्रति उनका सहज आकर्षण था। अपने पारिवारिक परिवेश में भी रंग-बिरंगे फूलों, बेलों, लताओं के बीच रमने में वे अधिक सुख अनुभव करते थे।

हिन्दी-जगत् में आचार्य शुक्ल जी एक युग-पुरुष के रूप में अवतरित हुए। युग-पुरुष युग-चेतना का अध्येता एवं निर्माता होता है। आपने अपने साहित्य के माध्यम से युग का दर्शन किया और उसे दिशा भी दी। शरीर तो एक-न-एक दिन राख में मिलता ही है—"भस्मान्त-शरीरम्," पर जो व्यक्ति भद्र ही सुनता-बोलता है, भद्र ही देखता है और भद्र ही करता है वह महाभाग प्राणी अपनी भद्रता में अमरत्व प्राप्त करता है। आचार्य देव शुक्ल जी 'भद्र' के ही उपासक थे। वे दिवंगत होकर भी अपनी साहित्य-साधना द्वारा हमारे बीच सतत विद्यमान हैं, मृत्युञ्जय हैं।

× × ×

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की जन्मशती के अवसर पर श्रद्धाञ्जलि-रूप में सम्मेलन-पत्रिका का यह विशेषाङ्क हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सहयोगियों एवं हिन्दी-प्रेमी सुधी जनों के समक्ष हम अत्यन्त विनम्र भाव से प्रस्तुत कर रहे हैं। सम्मेलन के प्रधानमंत्री डॉ० प्रभात शास्त्री इस प्रकार के विशेषांकों के प्रकाशित करने में अपना सतत सहयोग एवं सत्परामर्श दे रहे हैं। इसी शृंखला में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एवं आचार्य परशुराम चतुर्वेदी से सम्बन्धित अंक भी हिन्दी-जगत् के समक्ष शीघ्र ही आ रहे हैं। इन समस्त कार्यों में सम्मेलन-परिवार के कर्मठ सदस्य श्री हरिमोहन मालवीय (अध्यक्ष साहित्य विभाग), श्री रमेश कुमार उपाध्याय एवं डॉ० त्रिवेणीदत्त शुक्ल आदि का अविस्मरणीय परिश्रम सन्निहित है। सम्मेलन मुद्रणालय का सहयोग भी सराहनीय है।

पत्रिका के सुधी एवं सहृदय लेखकों के उदार सहयोग का ही प्रतिफल है यह आचार्य शुक्ल विशेषांक। अतः उनके प्रति हम सम्मेलन की ओर से हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

—प्रेमनारायण शुक्ल

विषय-सूची

सम्पादकीय

लेख - लेखक		पृष्ठ संख्या
१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	—डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'	१
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : जीवनवृत्त एवं संस्मरण	—पं० केशवचन्द्र शुक्ल	२
३. आचार्य शुक्ल जी	—स्व० श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१०
४. जीवन तत्त्व और साहित्य-सिद्धान्तों का समन्वय : चिन्तामणि	—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक	१५
५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और परवर्ती हिन्दी आलोचना	—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी	३४
६. आनन्दानुभूति और आचार्य शुक्ल	—डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित	५२
७. मध्यकाल : आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी की व्याख्या	—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	६५
८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (कविता)	—स्व० राजाराम शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा'	७२
९. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और परवर्ती हिन्दी आलोचना : साहित्यालोचन के सन्दर्भ में	—डॉ० रामलाल सिंह	७४
१०. दो निबन्धकार—फ्रांसिस बेकन और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	—डॉ० मोहन अवस्थी	८६
११. साहित्य में अप्रस्तुत—विधान और आचार्य शुक्ल का सन्दर्भ	—डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'	९३
१२. संस्कृति परक समीक्षा के प्रवर्तक आचार्य शुक्ल	—डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव	११२
१३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : कवि	—डॉ० किशोरीलाल गुप्त	१२१
१४. रामचन्द्र शुक्ल जी की कविताएँ : एक संक्षिप्त चर्चा	—डॉ० एन० रवीन्द्रनाथ	१४७
१५. आचार्य-प्रवर रामचन्द्र शुक्ल—'स्मृति-शती' (कविता)	—श्री सिद्धिनाथ मिश्र	१६४
१६. आचार्य शुक्ल और डॉ० रिचर्ड्स का काव्य-चिन्तन	—डॉ० रमाशंकर तिवारी	१६६
१७. प्राचीन काव्य के नदीष्ण विद्वान : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	—डॉ० किशोरीलाल	१७४

पृष्ठ संख्या

१८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विज्ञान और धर्म सम्बन्धी चिन्तन —डॉ० ब्रजमोहन सिंह १७८
१९. आचार्य शुक्ल की अप्रस्तुत रूपविधान विषयक मान्यता : एक प्रत्यालोचन —डॉ० योगेन्द्रप्रताप सिंह १९६
२०. आचार्य शुक्ल की चिन्तन-धारा के मूलाधार —डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा २१०
२१. आचार्य शुक्ल : भाषिक औदात्य —डॉ० त्रिभुवननाथ शुक्ल २१६
२२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : व्यक्ति, आलोचक, निबन्धकार —डॉ० रामप्रसाद मिश्र २२४
२३. कवि रामचन्द्र शुक्ल : एक मूल्यांकन —डॉ० मिथिलेश कुमारी मिश्र २३१
२४. शुक्लोत्तर आलोचना के प्रतिमान —डॉ० रमेश तिवारी २३५
२५. हिन्दी भाषा का स्वरूप : आचार्य शुक्ल की कलम से —डॉ० अनुजप्रताप सिंह २५०
२६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का शब्दार्थ-विवेचन —डॉ० जगदीश्वर प्रसाद २६८
२७. आचार्य शुक्ल का काव्यशास्त्र —डॉ० ऋषिकुमार चतुर्वेदी २७४
२८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास-दर्शन —डॉ० मृत्युञ्जय उपाध्याय २८३
२९. प्रकृति प्रेमी : कविवर रामचन्द्र शुक्ल —डॉ० दामोदर पाण्डेय २९३
३०. समीक्षक : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल —डॉ० शम्भूनाथ चतुर्वेदी २९९
३१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनका काव्य सिद्धान्त —श्री अशोककुमार मिश्र ३०३
३२. शुक्ल जी का व्यंग्य-विनोद —प्रो० रामशंकर द्विवेदी ३१६
३३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और छायावाद —डॉ० श्यामसुन्दर घोष ३२१
३४. आचार्य शुक्ल का काव्य —डॉ० माधवप्रसाद पाण्डेय ३२६
३५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : गहरी राष्ट्रीय मानसिकता एवं बहुमुखी बोध का व्यक्तित्व —डॉ० भगीरथ मिश्र ३४२
३६. स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल —डॉ० रामनिरंजन पाण्डेय ३४६
३७. आचार्य शुक्ल और रसानुभूति के विविध स्तर —डॉ० जगदीश गुप्त ३४९
३८. एक संस्मरण —डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री ३५२
३९. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि और लोकमंगल —डॉ० कोमलसिंह सोलंकी ३५५
४०. संश्लिष्ट काव्यशास्त्र और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल —डॉ० सत्यदेव मिश्र ३५९
४१. आचार्य शुक्ल का शब्द चिन्तन —डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय ३७५
४२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और प्रकृति —डॉ० कृष्णचन्द्र वर्मा ३८३
४३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : एक संस्मरण —श्री दशरथप्रसाद श्रीवास्तव ३८८
४४. आचार्य शुक्ल की पाठ-दृष्टि —श्रीमती मंजू भार्गव ३९३

पृष्ठ संख्या

४५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : नवोत्थानवादी
समीक्षा-पद्धति —डॉ० घनश्यामदास व्यास ४०२
४६. आचार्य शुक्ल की छायावाद सम्बन्धी अवधारणा —डॉ० कमला सिंह ४१४
४७. आचार्य शुक्ल के निबन्धों में सूक्ति-विधान —डॉ० शिवनारायण शुक्ल ४१८
४८. सरस्वती पुत्र : आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल —डॉ० ज्ञानेश्वरी वाजपेयी ४२८
४९. आचार्य शुक्ल के निबन्धों में हास्य-व्यंग्य विनोद —डॉ० सरोज ४३४
५०. आचार्य शुक्ल के लिखने की प्रेरणास्थली मिर्जापुर —डॉ० अर्जुनदास केसरी ४४७
५१. भक्त सूरदास जी से आचार्य शुक्ल जी की भेंट —डॉ० विश्वनाथ मिश्र ४५१
५२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और कविवर
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' —डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे ४६३
५३. आचार्य शुक्ल का काव्य-चिन्तन —डॉ० त्रिभुवन राय ४६८
५४. निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
और मराठी लघुनिबन्ध —डॉ० दूधनाथ धर दूबे ४८०
५५. तुम हो हिन्दी के गंगाधर —डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' ४८८
५६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की
रचना-सूची (काल क्रमानुसार) —श्री उदयभानु दुबे ४९०
५७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और गाँधीवाद —डॉ० विश्वभावन देवलिया ४९७
५८. सम्मेलन और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल —डॉ० त्रिवेणीदत्त शुक्ल ५०६
५९. आचार्य शुक्ल का भाषा-चिन्तन —डॉ० कृष्णकुमार गोस्वामी ५१३
६०. आचार्य शुक्ल का प्रकृति-प्रेम —डॉ० मुरारिलाल शर्मा 'सुरस' ५१९
६१. आचार्य शुक्ल और रीति-शृंगार-काव्य —डॉ० रामफेर त्रिपाठी ५२५
६२. मेरे गुरुदेव —पं० अयोध्यानाथ शर्मा ५२९
६३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के संस्मरण —डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ५३५

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : जीवनवृत्त एवं संस्मरण

पं० केशवचन्द्र शुक्ल

⊙

आज से प्राय: ५० वर्ष पूर्व की बात है। राठ (हमीरपुर) के एक साधारण से मदरसे में एक दुबले-पतले साँवले रंग के सात साल के बालक को उर्दू-फारसी की शिक्षा मिल रही थी। उसके पिता राठ के सुपरवाइज़र कानूनगो थे। ब्राह्मण होते हुए भी चाल-ढाल तथा वेश-भूषा तत्कालीन फारसी-शिक्षासम्पन्न किसी मौलवी से कम न थी। काली घनी दाढ़ी, गोल मोहरी के पायजामे, पटेदार बालों तथा अलपका की शेरवानी ही तक बात न थी, उनकी जबान भी 'सर सैयद' की जबान थी तथा उनके विचार उस समय के फारसी पढ़े हुए 'शिष्ट' कहलाने वाले मुसलमानों से साधारण व्यवहार की बहुत-सी बातों में अधिकतर मिलते-जुलते थे। संस्कृत अथवा हिन्दी बेहूदा जबान थी। धोती पहनकर बाहर निकलना या नंगे सिर रहना जुर्म था। उनके उन्नत सुव्यवस्थित शरीर तथा स्वाभाविक रतनारे विशाल नेत्रों से उनके उच्च वंश का सहज आभास होता था। एण्ट्रेंस पास करके बस्ती जिले से वे राठ नौकरी पर आये थे। अवस्था २५-२६ वर्ष की थी। उनके साथ में उनकी धर्म-पत्नी, उनकी वृद्धा माता तथा दो छोटे-छोटे उनके लड़के थे। एक की अवस्था सात वर्ष की तथा दूसरा तीन वर्ष का दूध पीता बालक था। इस परिवार में वृद्धा माता का परम ऊर्ज स्थान था। वे राम-भक्त थीं। नित्य बड़ी सुन्दर रीति से वे तुलसी, केशव आदि के भजन गातीं तथा पूजा-पाठ में निमग्न रहतीं। उस समय आर्य-समाज का चारों ओर प्रबल आन्दोलन चल रहा था। स्वामी दयानन्दजी के लेखों को राठ में भी कुछ लोग बड़ी श्रद्धा के साथ पढ़ते और दूसरों को सुनाते थे। इस समाज ने बस्ती जिले के नवयुवक कानूनगो को भी अपने रंग में रँगा। आगे चलकर अवश्य यह रंग उड़ने लगा तथा अन्त में कुछ दिनों के उपरान्त मिर्जापुर में, जहाँ वे सदर कानूनगो के पद पर जीवन के अन्तिम समय तक रहे, उसका कोई भी अंश शेष न रहा; किन्तु जब तक वे राठ में रहे, उनमें किसी प्रकार का भी परिवर्तन दिखायी न पड़ा।

जिस क्षीण-गात सात वर्षीय बालक का उल्लेख आरम्भ में किया है, वह हिन्दी-संसार का वही परम देदीप्यमान सूर्य था जो अभी अस्त हुआ है—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। पं० रामचन्द्र शुक्ल के पूर्वज गोरखपुर जिले के भेड़ी नामक स्थान में रहते थे। उनके पितामह पं० शिवदत्त शुक्ल का जिस समय देहांत हुआ था, उस समय पं० रामचन्द्र शुक्ल के पिता पं० चन्द्रबली शुक्ल की अवस्था ४-५ वर्ष की थी। उनकी माता—(पं० रामचन्द्र शुक्ल

की दादी) उन्हें लेकर बस्ती जिले के अगोना ग्राम में रहती थीं, जहाँ उनको 'नगर' के राज-परिवार की ओर से यथेष्ट भूमि मिली थी। पं० चन्द्रबली की प्रारम्भिक शिक्षा फारसी में नगर के मदरसे में—(अगोना से दो मील दूर) हुई थी। अगोना से नित्य वे नगर पढ़ने जाते थे। इसी अगोना ग्राम में संवत् १९४० को आश्विन-पूर्णिमा को पं० रामचन्द्र शुक्ल का जन्म हुआ था। इनकी माता (अर्थात् पं० चन्द्रबली शुक्ल की धर्मपत्नी) गाना के एक पुनीत मिश्र घराने की कन्या थीं। इसी गाना के मिश्र भक्त-शिरोमणि प्रातः स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास थे। इस प्रकार गोस्वामी जी पं० रामचन्द्र शुक्ल के सीधे मातुलवर्ग में आते हैं। इस सम्बन्ध में फिर कभी सविस्तार लिखा जायेगा। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल को अपने जीवन-काल में जितनी शक्ति तथा शान्ति गोस्वामी जी की पावन निर्मल वाणी द्वारा प्राप्त हुई, उतनी उन्हें और किसी भाव-भूमि में जाकर नहीं मिली।

अगोना बस्ती से छः मील दूर दक्खिन हरे-भरे खेतों और अमराइयों के बीच एक छोटा-सा ग्राम है। गाना यहाँ से तीन मील पूर्व है। इस प्रान्त की भाषा विशुद्ध अवधी है। अयोध्या अगोना से कुल ३०-३२ मील पश्चिम है। गाना से एक सीधा, चौड़ा कच्चा मार्ग अगोना होता हुआ अयोध्या चला गया है। अब तक इस प्रदेश की ग्राम-स्त्रियाँ बैलगाड़ियों पर आवरण डालकर, उनके भीतर से 'रथ हाँकउ गाड़ीवान अजोध्यन जावौं' गाती हुईं भगवान् की पावन जन्म-भूमि के दर्शनार्थ इसी मार्ग से जाया करती हैं। जन्म लेते ही जिस वाणी के प्रकृत-सौन्दर्य के बीच बालक रामचन्द्र शुक्ल का हृदय पला था, जिस वाणी में माता-पिता तथा परिचित जन हँसते-बोलते, खेलते-कूदते रोते-गाते सुनायी पड़े, उसी प्रिय परिचित वाणी के परमोज्ज्वल प्रकाश में भगवान् के मङ्गलमय, लोकरञ्जक, शीलोत्कर्ष की दिव्य प्रभा को आगे चलकर असाधारण-प्रतिभा-सम्पन्न इस बालक ने कितना झाँक-झाँककर देखा तथा उसके माधुर्य पर कितना मुग्ध हुआ।

जैसा कि ऊपर कह आये हैं, राठ से पं० रामचन्द्र शुक्ल की शिक्षा प्रारम्भ हुई। तत्कालीन शिक्षा-विधि में 'भाषा' का स्थान बहुत नीचे था। मुगलों के समय से ही फारसी सरकारी दफ़्तरों तथा अदालतों की भाषा चली आ रही थी। जिस मदरसे में पं० रामचन्द्र शुक्ल की फारसी शिक्षा होती थी, उसी में एक किनारे एक पंडित जी 'हिन्दुई' भी पढ़ाते थे। उन्होंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को अक्षरारम्भ कराया। राठ में कुल ३ वर्ष के लगभग इनके पिता रहे। तदुपरान्त वे मिर्जापुर सदर कानूनगो होकर गये। मिर्जापुर ही में पं० रामचन्द्र शुक्ल की अलौकिक प्रतिभा का स्फुरण हुआ। राठ में एक घटना ऐसी हुई जिसने उनके भावी जीवन के कुछ काल को, अत्यन्त जटिल बना दिया। इनकी अवस्था अभी ९ वर्ष की ही थी कि इनकी माता इनके तीसरे भाई पं० कृष्णचन्द्र के जन्म के एक मास के उपरान्त इस संसार से चली गयीं। पं० रामचन्द्र शुक्ल उस 'दीया तालाब' का स्मरण बराबर किया करते थे, जहाँ राठ में उनकी माता के नश्वर शरीर की अन्तिम प्रक्रिया समाप्त की गयी थी।

मिर्जापुर प्रकृति की अनुपम क्रीड़ा-स्थली है। यहाँ विन्ध्य के चरणों के प्रति जाह्नवी का अद्भुत अनुराग है। वैसे तो राठ रहते हुए बुन्देलखण्ड की पहाड़ियों का भी प्रभाव पं० रामचन्द्र शुक्ल के हृदय पर पड़ा था, किन्तु जितनी गहरी सुखानुभूति उनकी उत्कृष्ट कल्पना को मिर्जापुर की सघन वन्य-वृक्षों से लदी पर्वतमालाओं, ऊँची-नीची पर्वत-स्थलियों के बीच क्रीड़ा करते हुए टेढ़े-मेढ़े नालों, सुदूर तक फैले हुए हरे-भरे लहलहाते कछारों, बड़ी-बड़ी चट्टानों के मध्य से हरहराते हुए निर्झरों, रंग-बिरंगे शिला-खण्डों पर बहती हुई नदियों की निर्मल धाराओं तथा फूली-फली अमराइयों के समीप बसी हुई ग्राम्य-बस्तियों के साह्चर्य से प्राप्त हुई उतनी बुन्देलखण्ड के रूखे-सूखे भू-खण्ड के द्वारा कदापि सम्भव न थी। जोगिया, मेहँदिया, आमघाट, बरघाट, तुलतुलहवा, लुटकिया आदि स्थान सदा उनके स्मृति-चिह्न बनाये रहे। मृत्यु के प्राय: डेढ़ मास पूर्व जब वे किसी कार्यविशेष से काशी से मिर्जापुर गये थे, तब वहाँ के साहित्य-मण्डल ने उनका अपूर्व स्वागत किया था और उस अवसर पर जो उनके हृदयोद्‌गार निकले थे, उनकी शब्दावली तो अभी तक प्राप्त न हो सकी; किन्तु आशय इस प्रकार था :—

"यद्यपि मैं काशी में रहता हूँ और लोगों का यह विश्वास है कि वहाँ मरने से मुक्ति मिलती है तथापि मेरी हार्दिक इच्छा तो यही है कि जब मेरे प्राण निकलें तब मेरे सामने मिर्जापुर का यही भू-खण्ड रहे। मैं यहाँ के एक-एक नाले से परिचित हूँ—यहाँ की नदियों, काँटों, पत्थरों तथा जंगली पौधों में एक-एक को जानता हूँ।"

मिर्जापुर की जिस 'रमई पट्टी' में आकर इनके पिता रहने लगे थे, उसके सौन्दर्य-संकेत 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने स्वयं किया है। हरे-भरे खेतों के बीच 'लाल खपरैल के सँवारे धान' इसी रमई पट्टी के लिये आया है। रमई पट्टी के जिस छोर पर इनके पिता ने अपना निवास-स्थान बनाया था, उस ओर कुल ४-५ मकान पहले से बने हुए थे। उनमें पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद तथा बा० बलभद्रसिंह डिप्टी कलक्टर के नाम उल्लेखनीय हैं। बा० बलभद्रसिंह आगरे के क्षत्रिय थे। पुरानी संस्कृति के वे केवल अनुमोदक मात्र-ही नहीं, उसके अनन्य उपासक भी थे। उनके यहाँ सदा महाभारत, रामायण, श्रीमद्‌भागवत पुराण आदि का पाठ होता था। ३०-४० सुनने वाले व्यक्ति सदा एकत्रित रहते थे। पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद के घर में तो संस्कृत का निवास ही था। नित्य बहुत-से विद्यार्थी माघ, कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की कृतियों का अध्ययन करने के लिए उनके यहाँ आया करते थे। पंडित जी प्राय: संध्या के समय अपने विद्यार्थियों को लेकर पर्वतों की ओर निकल जाते थे, जो कि वहाँ से दो-तीन मील पर है। अथवा किसी निर्जन स्थान में जाकर किसी सरोवर अथवा नदी-नाले के किनारे स्वच्छन्द समय व्यतीत करते तथा मग्न होकर अत्यन्त सुमधुर स्वर से कालिदास, भवभूति आदि के श्लोक पढ़ते थे। कुछ बड़े होने पर पं० रामचन्द्र शुक्ल भी विद्यार्थियों में मिलकर प्रकृति के इस भावुक पुजारी के साथ घूमने निकलने लगे।

मिर्जापुर पहुँचते ही आपकी अंग्रेजी शिक्षा प्रारम्भ हुई। फ़ारसी की ओर भी

उनके पिता का ध्यान पूर्ववत् रहा। उन्हें पढ़ाने के लिए एक मौलवी साहब घर पर आते रहे। उन दिनों वहाँ पं० रामगरीब चौबे नामक अंग्रेजी के एक असाधारण सुलेखक रहते थे। Sir Williams Crooks की 'Hilltribes and Carstcs' नामक पुस्तक निकल रही थी। पं० रामगरीब उसे लिखते जाते थे। Crooks साहब इधर-उधर कुछ संशोधन मात्र करके उसे छपाते जाते थे। उनके द्वारा जो प्रोत्साहन पं० रामचन्द्र शुक्ल को अंग्रेजी के अध्ययन में मिला, उसे वे जीवन-पर्यन्त स्वीकार करते रहे। इसी स्थान पर हम बड़ी श्रद्धापूर्वक पं० वागेश्वरी जी का भी उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते। पं० रामचन्द्र शुक्ल के वे हिन्दी-अध्यापक थे तथा अत्यन्त विनोद-प्रिय भी थे। उनकी भी शिष्य-मण्डली घूमने निकलती। इस प्रकार मिर्जापुर का 'लोक' राठ से बहुत विभिन्न दिखायी पड़ा। पं० रामचन्द्र शुक्ल को बा० बलभद्रसिंह तथा पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद के यहाँ का वातावरण अपने पिता के सानिध्य से कहीं अधिक प्रिय प्रतीत होने लगा। वहाँ उनके सहचर रामानन्द और परमानन्द (पं० माताप्रसाद के लड़के) तथा जैजैलाल (मुन्शी जगदम्बाप्रसाद वकील के भतीजे) बराबर मिलते। इन लोगों में किसी की अवस्था १४-१५ वर्ष के ऊपर न थी। परमानन्द-रामानन्द की विलक्षण जोड़ी थी। दोनों बड़े हँसमुख और विनोदप्रिय थे। ये चन्दन लगाते थे और धोती पहनकर नंगे सिर दिखायी देते थे। जैजैलाल (लालजी) भी कायस्थ होकर धोती पहने रहते। इस मण्डली में जाकर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चन्दन तो नहीं लगाया किन्तु पायजामा छोड़कर धोती पहनने लगे। स्कूल कोट-पतलून पहनकर जाने लगे। कभी-कभी घूमती-फिरती यह 'बाल-मण्डली' पक्के पोखरे तक निकल जाती, जो रमई पट्टी से थोड़ी दूर बाहर है और वहाँ भगवती को 'राधेश्याम-राधेश्याम' कहकर चिढ़ा आती थी। इस प्रकार की जीवन-चर्य्या पं० रामचन्द्र शुक्ल को जितनी प्रिय प्रतीत हुई, उनके पिता को उतनी ही अप्रिय। इनके धोती पहनने पर नाराज होकर वे कहा करते—"हराम-जादा उन बेहूदों के साथ वशिष्ठ बना घूमता है।" इनके पिता भूलकर एक क्षण के लिये भी बाबू बलभद्र सिंह अथवा पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद आदि के यहाँ न जाते। वहाँ के वायुमण्डल से उनको बड़ी 'नफ़रत' थी।

धीरे-धीरे मिर्जापुर में रहते हुए इनके पिता को दो साल हो गये। उनका दूसरा विवाह ठीक हो गया। पं० रामचन्द्र शुक्ल की अवस्था जिस समय ग्यारह साल की थी, घर में विमाता का प्रवेश हुआ। अभी इनकी दादी जीवित थीं और घर में उनका पूर्ण आतंक था। विमाता के आने से किसी प्रकार का परिवर्तन पं० रामचन्द्र अथवा इनके दोनों सहोदर भ्राताओं को न जान पड़ा। १२ वर्ष की अवस्था में पं० रामचन्द्र शुक्ल का भी विवाह कर दिया गया। बाल-विवाह की कुप्रथा की ओर उस समय इतना ध्यान नहीं रखा जाता था जितना कि अब शिक्षा के प्रसार से हुआ है। १५ वर्ष की अवस्था में पं० रामचन्द्र शुक्ल नवीं कक्षा में पहुँचे। उसी साल उनकी धर्मपत्नी (लेखक की पूज्या माता) घर में आयी। पं० रामचन्द्र शुक्ल की दादी बूढ़ी हो चली थीं। वे अभी नवीं कक्षा भी पास न कर पाये थे कि उनकी दादी की अकस्मात् मृत्यु हो गयी।

लगभग ६-७ वर्ष तक पं० रामचन्द्र शुक्ल के जीवन का अत्यन्त जटिल अंश रहा है। दादी की मृत्यु के उपरान्त विमाता के शासन से पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा उनके दोनों भाई श्री हरिश्चन्द्र तथा श्री कृष्णचन्द्र बराबर विमाता को झाड़ते-फटकारते रहे। पिता इन लड़कों से सख्त नाराज हो दाँत पीसकर--"कमबख्त, बज्जात, बद्तमीज, बद्बख्त, नामाकूल, नालायक, आदि फारसी शब्दों की तीव्र वर्षा इन पर करते, उस समय प्रलय-प्रभञ्जन उठता था। नौबत यहाँ तक आयी कि स्कूल की फीस बन्द कर दी गयी। विमाता के दुर्व्यवहार से दुखी होकर पढ़ना-लिखना छोड़कर पं० रामचन्द्र 'अगोना' भाग जाने की तैयारी करने लगे। किसी प्रकार गृह-कलह कुछ शान्त हुआ और पं० रामचन्द्र की एण्टेंस की पढ़ायी समाप्त हुई। अब दूसरा बखेड़ा खड़ा हुआ। पं० रामचन्द्र शुक्ल के पिता यह चाहते थे कि कचहरी में जाकर वे दफ्तर का काम सीखें; किन्तु पं० रामचन्द्र शुक्ल, जो बराबर अपने दर्जे में प्रथम रहे, इलाहाबाद जाकर आगे कालेज में पढ़ना चाहते थे। एक वर्ष तक यह द्वन्द्व चलता रहा। अन्त में इनके पिता ने वकालत पढ़ने के लिए इनको प्रयाग भेजा। इनकी रुचि वकालत में न होने के कारण ये परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहे तथा मिर्जापुर लौट आये। मिर्जापुर आने पर उन्होंने अपने पिता के भीतर एक विशेष परिवर्तन देखा। उनका झुकाव अब धीरे-धीरे 'हिन्दी' की ओर हो रहा था--रामायण, रामचन्द्रिका आदि बड़ी भक्ति से वे पढ़ने लगे। साथ ही साथ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ग्रन्थों का भी अवलोकन करते। रामानन्द, परमानन्द, लालजी, (पं० रामचन्द्र शुक्ल के सहचर) अब उनके पास आने-जाने लगे। सबसे अधिक आश्चर्य पं० रामचन्द्र शुक्ल को इस बात पर हुआ कि इनके अनुत्तीर्ण होने पर इनके पिता ने किसी प्रकार का रोष प्रकट नहीं किया। इस नूतन परिवर्तन का चाहे और कोई कारण रहा हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सबसे अधिक प्रभाव उन पर रमई पट्टी के सुचारु वातावरण का पड़ा था। पं० रामचन्द्र शुक्ल को पिता के इस आकस्मिक परिवर्तन से बड़ा प्रोत्साहन मिला। 'मनोहर छटा' नामक इनकी कविता 'सरस्वती' में बहुत पहले निकल चुकी थी। 'शिशिर-पथिक', 'वसन्त-पथिक', 'भारत और वसन्त', 'दुर्गावती' इत्यादि इनकी और रचनाएँ अब निकलीं। पिता भी इनकी कृतियों पर प्रसन्न दिखायी पड़े। मिर्जापुर से उस समय स्वर्गीय उपाध्याय पं० बदरीनारायण जी चौधरी की 'आनन्द-कादंबिनी' पत्रिका निकलती थी। पं० रामचन्द्र शुक्ल की रचनाएँ इसमें भी निकलने लगीं। चौधरी जी के यहाँ पं० रामचन्द्र शुक्ल बराबर जाने लगे और इनके भीतर हिन्दी के सुलेखक बनने की बड़ी प्रबल उत्कण्ठा जग गयी जो निरन्तर दृढ़तर ही होती गयी। इसी समय उन्होंने अंग्रेजी से दो अनुवाद कर डाले, जो इनकी उस समय की अल्पावस्था के ध्यान रखने वालों को चक्कर में डाल देते हैं। (Addision Essays on Jmagination) का अनुवाद--'कल्पना का आनन्द' लेख रूप में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में निकला तथा (Megathenes) की (India) का अनुवाद 'मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन' ग्रन्थाकार प्रकाशित हुआ। उस काल की एक मनोरञ्जक घटना का उल्लेख यहाँ कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। इनके पिता बड़ा प्रयत्न करके इनका नाम तहसीलदारी के लिए (Mr. Wyndhom) के द्वारा, जो उस समय

मिर्जापुर का कलेक्टर था, गवर्नमेण्ट में भिजवाया। पं० रामचन्द्र शुक्ल अपने पिता के साथ कई बार कलेक्टर के बँगले पर गये। उस कलेक्टर को प्रसन्न करने के लिए 'हुजूर' कहना परमावश्यक था। सम्भवतः पं० रामचन्द्र शुक्ल को भी इस अपमानजनक विधि का प्रतिपालन करना पड़ा। तदुपरान्त इनके आत्मबल को इतनी ठेस लगी तथा इनके चित्त में इतनी ग्लानि का संचार हुआ कि चट इन्होंने अंग्रेजी कर्मचारियों की नव्वाबी तथा हिन्दुस्तानियों की खुशामदी जी हजूरी की तीव्र आलोचना (Hindustan Review) में, जो इस समय प्रयाग से निकलता था, की। अंग्रेजी के इस लेख (What has India to do) लिखकर की। किसी प्रकार यह लेख (Mr. Wyndham) के हाथों में पड़ गया। चिढ़कर उसने इन्हें 'नालायक' कहकर इनका नामिनेशन रद्द कर दिया। उस दिन से कभी किसी भी सरकारी नौकरी का नाम इन्होंने नहीं लिया। अपना जो मार्ग ये स्वयं निकाल रहे थे, वही इन्हें कल्याणकारी प्रतीत हुआ।

तीन वर्ष तक मिर्जापुर के लन्दन-मिशन-स्कूल में ड्राइंग-टीचर रहने के उपरान्त २५ वर्ष की अवस्था में 'हिन्दी-शब्द-सागर' के सहायक सम्पादक होकर ये काशी आये। कोष-कार्य के समाप्त होते ही हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में इनकी नियुक्ति हो गयी। वहीं ये अन्तिम समय तक रहे और काशी ही में इनके जीवन का अधिक भाग व्यतीत हुआ। बीच में एक वर्ष के लिए जब बा० श्यामसुन्दरदास के साथ 'शब्दसागर-विभाग' उठकर कश्मीर गया, तब ये भी कश्मीर गये। वहाँ इनके स्वास्थ्य को अपूर्व लाभ पहुँचा, इनका शरीर स्निग्ध-सा हो गया। हिन्दू विश्वविद्यालय में आने के उपरान्त एक बार अलवर-नरेश विद्या-प्रेमी महाराज सर सवाई जैसिंह जी ने तुलसी के अध्ययन के लिए इन्हें अपने यहाँ बुलाकर रखा; किन्तु इनका जी वहाँ भी न लगा और ये चले आये। काशी ही में सूर, तुलसी, जायसी, आदि पर गूढ़ आलोचनात्मक निबन्ध तथा 'काव्य में रहस्यवाद' 'काव्य में प्रकृति दृश्य' तथा 'कविता क्या है' आदि गम्भीर मार्मिक काव्य-समीक्षाएँ इनकी निकलीं। 'हिन्दी-शब्द-सागर तथा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का प्रणयन भी इन्होंने काशी ही में की। 'बुद्ध-चरित', 'प्राचीन फारस का इतिहास', 'शशांक', 'विश्व प्रपञ्च', 'आदर्श जीवन' आदि और कितने ही प्रसून इनकी लेखनी द्वारा वहाँ से प्रकट हुए। काशी में आने के उपरान्त 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादन-काल में मनोविकारों पर इनके जटिल दार्शनिक विचारात्मक निबन्ध पहले निकल चुके थे। बाल्यकाल से ही ये गम्भीर विचारक थे। विद्यानुराग इनका उसी समय प्रकट हो गया जब नवीं कक्षा में ही रात्रि के एक-एक बजे तक इनके कमरे में दीपक जला करता था और वे लेटे-लेटे (Addision) के (Essays on Imagination) अथवा (Herbert Spencer) की (Psychology) के पृष्ठों में डूबे हुए दिखायी पड़ते थे। मिर्जापुर की (Maya Memoril Lebrary) का संचालन उस समय पं० केदारनाथ पाठक के द्वारा होता था। अंग्रेजी पुस्तकों की कमी तो वहाँ न थी; किन्तु हिन्दी की पुस्तक जोड़-बटोरकर पाठक जी पं० रामचन्द्र शुक्ल के सामने रखते थे। पढ़ने वाला व्यसन उनको जीवनपर्यन्त रहा। इनका स्वभाव इतना सरल; इनकी बातें इतनी सरस तथा इनकी छाया इतनी शीतल थी कि उसमें

मनुष्य ही नहीं कुत्ते, बिल्ली, फूल-काँटे, घास, पात, करील, झाऊ, आदि को भी विश्राम मिलता था। उनके साहचर्य के माधुर्य को उनके समीप रहने वाले अथवा उनके समीप आने वाले सदा समझेंगे जो प्राणी बोल सकते हैं वे रोयेंगे, जो मूक हैं वे अवाक् रहेंगे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के जीवनकाल में बहुत-सी झंझट पूर्ण घटनाएँ हुई हैं—बैकुण्ठपुर की यात्रा उनमें एक है। घटना १९३४ की है। उस समय मैं आजमगढ़ में डिप्टी कलेक्टर था। मेरे अनुज स्व० श्री गोकुलचन्द्र मध्यप्रदेश की एक रियासत बैकुण्ठपुर में राजकीय हाई स्कूल के प्रिंसिपल थे। वहीं वे सपरिवार रहते भी थे। वर्षाकाल था, वे अचानक बीमार हो गये। मेरे पूज्य पिता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के शिक्षक-पद पर प्रतिष्ठित हो चुके थे और अपने बनवाये हुए दुर्गाकुंड-स्थित भवन में रहते थे। वहाँ से उनका मेरे पास सन्देश मिला कि तुरन्त किसी योग्य डॉक्टर को लेकर बैकुण्ठपुर मेरे साथ चलने के लिए आ जाओ। मैं दूसरे ही दिन आजमगढ़ के सुविख्यात डॉक्टर केदारनाथ गौड़ (जो बाद में काशी विश्वविद्यालय तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालय में चीफ मेडिकल ऑफिसर के पद पर नियुक्त हो गये थे) को लेकर काशी पहुँचा।

काशी से हमारे साथ आचार्य जी के अतिरिक्त मेरी पूज्या माता जी, मेरी छोटी बहन कमला तथा मेरे चाचा श्री जगदीशचन्द्र भी सम्मिलित हो गये। हम लोगों के बैकुण्ठपुर पहुँचने की अग्रिम सूचना तार द्वारा भेज दी गयी थी। काशी से रेल द्वारा कटनी-बम्बई मेल से तथा कटनी से रात्रि में तत्कालीन बी० एन० रेलवे के चँदिया रोड स्टेशन पर हम लोग दिन में प्रायः १० बजे पहुँचे। स्टेशन के चारों ओर अत्यन्त सघन श्यामल वनस्थली दिखायी पड़ी। वहाँ हमारे भोजन और विश्राम की राज्य की ओर से पूरी व्यवस्था थी। चँदिया रोड से बैकुण्ठ-पुर लगभग १५-१६ मील दूर मेकल-पर्वत के अंचल में एक छोटा-सा साफ-सुथरा नगर है जिसे राजधानी कहा जाता था। चँदिया रोड से वहाँ जाने के लिए जो मार्ग राज्य द्वारा निर्मित किया गया था, वह प्रायः कच्चा था; किन्तु अत्यन्त रमणीक था। साखू के बड़े-बड़े जंगलों के खंड, पहाड़ी, नाले और नीलाभ पर्वत-मालाएँ मार्ग के दोनों ओर अपनी दिव्य छटा दिखा रही थीं। हम लोगों के लिए वाहन के रूप में राज्य की ओर से २ हाथी, २ घोड़े और एक पालकी का प्रबन्ध था। आचार्य जी दमे के कारण बहुत शिथिल थे। वे चुपचाप जाकर पालकी में लेट गये। मैंने तथा मेरे चाचा जी ने घोड़े लिये और मेरी माता और डॉक्टर साहब तथा मेरी छोटी बहन हाथी पर सवार हो गये।

प्रस्थान करते ही अत्यन्त तेज हवा के साथ घनघोर वर्षा होने लगी जो लगभग रास्ते भर हमारे साथ लगी रही। ५ बजे संध्या में वर्षा से भींगे लथपथ हम लोग जब बैकुण्ठपुर पहुँचे तब सर्व-प्रथम सब कपड़े जो गीले हो गये थे, अग्नि के समक्ष सुखाये गये और गरमा-गरम चाय का सेवन किया गया। डॉ० गौड़ ने मेरे अनुज को परीक्षा करके बताया कि इनको टायफ्वायड (Typhoid) हो गया है और यहाँ इन्हें रखना ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ के डॉक्टर मलेरिया की दवा कर रहे हैं जो प्राण-घातक सिद्ध हो सकती है। उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि मैं इनको अपने साथ ले चलूँगा। तब बड़ी विकट समस्या उपस्थित हुई;

किन्तु आचार्य ने दृढ़ता से इसका समाधान उसी समय निकाल लिया। उन्होंने तुरन्त हिज हाइनेस (महाराज) को अंग्रेजी में एक पत्र लिखकर उनसे मिलने (इण्टरव्यू) की प्रार्थना की। दूसरे दिन लगभग ११ बजे एक स्टेट-कार हम लोगों के लिए आयी। पैलेस में पहुँचने पर एक सुसज्जित हाल में विधिवत् पान-इलायची से हम सबका सत्कार किया गया और महाराज से हम सबका साक्षात्कार हुआ। महाराज स्वयं हम लोगों के बीच आये—गौर वर्ण, सुगठित शरीर, अवस्था लगभग ३५ वर्ष। सब वृत्तान्त सुनने के उपरान्त उन्होंने सहर्ष हमारे अनुज को एक मास का अवकाश प्रदान करके उनके भेजने का सारा प्रबन्ध कर दिया। दूसरे दिन एक स्टेट-कार में उन्हें लेकर हम लोग चँदिया रोड स्टेशन पहुँचे। वहाँ से बनारस तक की रेल-यात्रा के लिए हम लोगों को स्टेट की ओर से फर्स्ट क्लास के टिकट भी दिये गये। बैकुण्ठपुर-नरेश की इस उदारता से हम लोग आचार्य सहित सानन्द काशी लौट आये और अपने अनुज की दवा के लिए डॉक्टर साहब के संरक्षण में उन्हें अपनी कार में आजमगढ़ ले आये। प्रायः ३ सप्ताह में वे रोग-मुक्त हो गये। स्वनामधन्य डॉक्टर केदारनाथ गौड़ के सौहार्द के लिए हमारा परिवार सदा के लिए ऋणी है।

इस प्रसंग की चर्चा जब बाद में कभी, होती तो आचार्य इस यात्रा की कठिनाइयों के बीच वर्षा के अनुपम सौन्दर्य का मुक्त-हृदय से वर्णन करते थे और साहसिक-कृत्य (एडवेंचर) के उदाहरण के रूप में इस यात्रा का उल्लेख करते थे। उनकी यह मान्यता थी कि एडवेंचर के अभाव में कोई यात्रा हृदय को नहीं स्पर्श कर सकती। इसी भाव की पुष्टि उनकी कविता के निम्नांकित अवतरणों में निहित है:—

१. किस अतीत-पट से छन-छन कर
    रूप अमित स्मृति-मधु बन बन कर
खुले नयन-पथ की धारा में
    कभी टपक कर घुल जाते हैं
किसी झलक का ललक-भरे
    हम भूल आप को अपनाते हैं
बिछड़ा-सा कुछ मिल जाता है
    जीवन जग में खिल जाता है। —मधुस्रोत

२. चमक दमक कुछ नहीं जहाँ पर
    भोग-विभूति नहीं विस्मयकर
रूप वहाँ के भी अंतस् में
    कोई प्रिय प्रसंग कहते हैं
साहचर्य-श्रुत-स्निग्ध श्लेष
    रस-रिक्त सदा लिपटे रहते हैं। —रूपमय हृदय से

लूसा, पोस्ट बबौड़ा, मिरजापुर

आचार्य शुक्ल जी

स्वर्गीय श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

⊙

आठ-नौ वर्ष हुए, मध्यप्रान्त के एक प्रमुख साहित्यिक, पत्रकार और कवि से हिन्दी-साहित्य की वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में बातें हो रही थीं। गद्य और समालोचना की चर्चा छिड़ी। मैंने कुछ गर्व और उल्लास के साथ कहा—"हिन्दी-साहित्य के गद्य और समालोचना में से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कृतियाँ हटा ली जाँय तो क्या बच जाता है? गद्य में गम्भीर चिन्तन और शिष्टशैली का समावेश पहले-पहल शुक्लजी के द्वारा ही हुआ, और समालोचना क्या वस्तु है, उसका क्या स्वरूप है, इसका पहले-पहल ज्ञान शुक्लजी के द्वारा ही हिन्दी जाननेवालों को हुआ। वाह-वाह और छिः-छिः की पद्धति से ऊँचे उठकर शुक्लजी ने आलोच्य विषय की तह में प्रवेश कर पहले-पहल हृदय की खोज की और उसे बड़े ही भावपूर्ण और प्रभावमय शैली में हिन्दी-पाठकों के सम्मुख रक्खा। कविता में भी प्रकृति के विराट् रूप के साथ विश्व-हृदय की तन्मयता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव शुक्लजी ने ही रक्खा। प्रकृति के नानारूपों से मानव-हृदय का कैसे मेल खाता है और उसमें कौन-सा मंगल-विधान है, इसका व्यवस्थित उल्लेख शुक्लजी ने ही अपनी कविताओं में पहले-पहल किया। दार्शनिक और कवि, लेखक और समालोचक, एक साथ ही शुक्लजी में आदर्श रूप में प्रकट हुए और हिन्दी-साहित्य ने आज अपने इस सेवक के कारण ही विश्व-साहित्य में अपना स्थान बना लिया है। शुक्लजी की कृतियों को देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि अँग्रेजी-साहित्य में मैथ्यू ऑर्नल्ड ने (Mattheu Arnold) जो किया है, वही और उससे बढ़कर शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य के उत्थान और अभ्युदय के लिए किया है। शुक्लजी मेरी दृष्टि में 'ऑर्नल्ड ऑफ द ईस्ट' हैं।" इस विषय पर मैं आज जितनी ही गम्भीरता से विचार करता हूँ, उतनी ही यह बात और भी स्पष्ट होने लगती है।

आचार्य शुक्लजी की बहुमुखी प्रतिभा को देखते हुए इनकी साहित्य-सेवा पर जब दृष्टि जाती है, तो मस्तक कृतज्ञता के ऋण से झुक जाता है। इस विद्वान् ने जितना किया उतना शताब्दियों के सहस्रों साहित्यिक मिलकर नहीं कर सके। हिन्दी-गद्य को तो शुक्ल जी ने एक संयत शैली और सुव्यवस्थित रूप दिया। आचार्य शुक्लजी ने दर्शन को साहित्य का आधार बनाकर अपने गम्भीर चिन्तन को एक बड़े ही ओजपूर्ण ढंग से हिन्दी-संसार के सामने रक्खा। शुक्लजी ने गद्य में जो कुछ भी लिखा, वह उनके प्रगाढ़ चिन्तन और मनन का ही

परिणाम था। थिंकर के रूप में शुक्लजी के सामने हिन्दी-साहित्य में कोई हुआ ही नहीं। लिखने के पहले शुक्लजी अपने अन्तस् के आलोक में समग्र सृष्टि को अपने दृष्टिकोण से एक बार देख लेते हैं और इसीलिए उनका व्यक्तित्व उनके प्रत्येक शब्द में ओत-प्रोत है। शुक्लजी के लेखों को पढ़ने से यही प्रकट होता है कि किसी भी विषय को बहुत दूर तक और बहुत गम्भीरतापूर्वक वह देखते-सोचते हैं। लिखते समय भी वह अपने चिन्तन की दिव्य मनोभूमि में ही विराजते हैं और शब्द आप ही आप कढ़ते जाते हैं। शुक्लजी ने ऐसे विषयों पर लेखनी चलायी है, जिन पर दूसरों को न साहस हुआ, न हो सकता है। क्रोध, करुणा श्रद्धा, भक्ति आदि ऐसे विषय थे, जिनकी समीक्षा के लिए मनोविज्ञान और दर्शन का ज्ञान अनिवार्य है और इस प्रकार के उच्च ज्ञान के साथ-ही-साथ ऐसे शब्दों का बाहुल्य होना चाहिए जिनके द्वारा इन कठिन विषयों का सरलतापूर्वक प्रतिपादन किया जा सके। शुक्ल जी के पास वैसा पारदर्शी ज्ञान भी था और वैसी गंभीर शैली भी। इसी से ऊपर कहा जा चुका है कि शुक्ल जी ने जिन-जिन विषयों पर लेखनी चलायी, उन विषयों की छाया भी दूसरे नहीं छू सकते, उन्हें समझना और लिखना तो दूर की बात है। आचार्य द्विवेदी जी में भाषा की शुद्धता तो आगयी थी, परन्तु गूढ़ चिन्तनधारा का समावेश उतना न था, जिसे आचार्य शुक्लजी ने पूरा किया।

समालोचना के क्षेत्र में तो शुक्लजी के कारण ही समालोचना 'समालोचना' कही जाने योग्य हुई। "वाह-वाह, ले मारा, कलम तोड़ दी, कमाल हासिल है, ये खूब" भी कोई समालोचना है? भटियारिनों की भाषा में साहित्य का सौष्ठव प्रकट करने की जो घृणित प्रथा हिन्दी-साहित्य में जड़ जमा चली थी, उसका मूलोच्छेद करके शुक्लजी ने संयत, शिष्ट और साधु शैली में आलोच्य-विषय का प्रतिपादन किया, उसकी सुन्दरता को विस्तार के साथ सुझाया और उसकी भूलों पर भी ध्यान दिया। 'आर्ट क्रिटिस' के रूप में शुक्लजी हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ हैं। इसके दो कारण हैं--शुक्लजी के पास सुन्दर हृदय भी है और गंभीर मस्तिष्क भी। वह किसी विषय को संवेदन और चिन्तन दोनों शैलियों से देख-समझ सकते हैं। संवेदन, हृदय का धर्म है और चिन्तन, मस्तिष्क का। शुक्लजी हृदय से किसी वस्तु की सुन्दरता की सराहना करते हैं, परन्तु उनका मस्तिष्क उन्हें सदा सचेत रखता है। जायसी, तुलसी और सूर के सम्बन्ध में शुक्लजी ने जो कुछ लिखा, वह अनूठा और अपने ढंग का एक है। वह जिस विषय पर लिखते हैं, उस पर अन्तिम शब्द (फाइनल वर्ड) लिख देते हैं। उनके बाद जिन लोगों ने भी सूर, तुलसी और जायसी पर लिखा है—सभी ने शुक्लजी की जूठन से ही संतोष कर लिया है। जायसी का तो शुक्लजी ने पुनरुद्धार ही नहीं, अपितु पुनरुज्जीवित कर दिया। शुक्लजी की भूमिका के पहले जायसी को कितने लोग जानते थे, और जो लोग जानते भी थे वे 'सुधाकरी अर्थ' को ही। 'तुलनात्मक समालोचना' का आज दुनिया में बड़ा शोर है, परन्तु सच्ची तुलनात्मक समालोचना लिखनी कितनी टेढ़ी खीर है! शुक्लजी का अंग्रेजी, हिंदी-संस्कृत, फारसी और बँगला-साहित्य पर एक अपूर्व अधिकार है और इस अगाध ज्ञान के बल पर ही वह अधिकार के साथ लेखनी चलाते हैं। सूर,

तुलसी और जायसी पर शुक्लजी ने जो कुछ लिखा, उस पर कोई आज तक 'इम्प्रूव' नहीं कर सका। जहाँ-तहाँ से वाक्य नोचकर लोग 'अपना' बना लेते हैं, परन्तु जिन्हें आँखें हैं, वे तो साफ देखते हैं कि यह सारा सामान शुक्ल के घर से डाका डाला हुआ है। कहीं-कहीं तो शुक्लजी की कितनी ही बातें उन्हीं के शब्दों में ज्यों-त्यों अपनी पुस्तकों में लेकर हमारे कई ख्यातनामा साहित्य-निर्माता डकार गये हैं। कृतघ्नता और डाकेज़नी का दौरा हिन्दी-साहित्य में ज़ोरों पर है।

आये दिन भाषा-विज्ञान पर हिन्दी में कुछ पुस्तकें लिखी जाने लगी हैं। वे बहुधा अंग्रेजी पुस्तकों का भावानुवाद या छायानुवाद होती हैं। स्वयं लेखक को शब्दों के रूप और प्रत्यय का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है, परन्तु इसलिए कि प्रभुओं की कलम से वे बातें लिख दी गयी हैं, इसलिए सिर आँखों पर रख ही लेना चाहिए---वे ज्यों की त्यों उद्धृत कर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि जो स्वयं उनकी डाइजेस्ट की हुई वस्तु नहीं है, वह दूसरे क्या समझें? विचारे 'भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी अध्यापक का मुँह देखते रह जाते हैं। विशेषतः जब वही अध्यापक स्वयं अपनी ही लिखी पुस्तक पढ़ाते समय स्वयं ही उसकी सींग-पूँछ नहीं समझ रहा है। शुक्लजी का भाषा-विज्ञान आज हिन्दी में किसी से भी ऊँचा है। जायसी की भूमिका में अवधी और खड़ीबोली तथा 'बुद्ध-चरित' की भूमिका में ब्रजभाषा, अवधी और खड़ीबोली का जो मार्मिक तुलनात्मक आलोचन और अनुशीलन शुक्लजी ने किया है, वह उनके अपार भाषा-ज्ञान का बहुत ही सुन्दर परिचायक है। शुक्लजी अपने ज्ञान का ढिंढोरा पीटना नहीं चाहते। वह सब कुछ हो सकते हैं, पर पेटेंण्ट होना उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। वह अपने विषय में बड़े ही soy हैं। जहाँ 'नवरत्न' और 'विनोद' की भूमिका में लेखकों ने अनावश्यक रूप में अपनी भी जीवनी, अपनी ही कलम से लिख दी है, वहाँ शुक्ल जी ने 'हिन्दी-साहित्य' का इतिहास' में जायसी, तुलसी और सूर पर लिखी अपनी समालोचनाओं का बड़े ही संकोच के साथ नामोल्लेख-मात्र कर दिया है। भाषा-ज्ञान के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि शुक्लजी का देश की विविध भाषाओं के रूप और विकार के सम्बन्ध में जितना पक्का ज्ञान है, उतना शायद ही आज के किसी भी भारतीय फिलॉलॉजिस्ट कहानेवाले में हो।

रीति और अलंकारों के सम्बन्ध में शुक्लजी की कोई पुस्तक अभी प्रकाशित नहीं हुई है। एक पुस्तक रीति और अलंकारों पर लगभग ३०० पृष्ठ की अधूरी लिखी पड़ी है; पर शुक्लजी उसे प्रकाशित नहीं कराना चाहते। इस सम्बन्ध में थोड़ी-सी झलक जायसी, तुलसी, सूर की भूमिका में मिलती है, जहाँ शुक्लजी ने अलंकार-विधान की चर्चा की है। वहाँ पता चलता है कि इस विषय के वह कितने ऊँचे मर्मज्ञ हैं। उनका रीति-अलंकार-ज्ञान संस्कृत-साहित्य के आधार पर होने के कारण बहुत ही प्रगाढ़ और गम्भीर है। काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण, ध्वन्यालोक और चन्द्रालोक का बहुत पहले ही शुक्लजी ने मन्थन कर लिया है। साथ ही, अंग्रेज़ी के अलंकारों का भी बहुत ही शुद्ध और व्यवस्थित ज्ञान शुक्लजी को है। रामायण में आये हुए अलंकारों की विवेचना करते हुए वह अंग्रेजी के कई अलंकारों की समानता भी दिखलाते गये हैं।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में दो शब्द। आज तो रहस्यवाद का दौरदौरा ही है। जिसे देखिए, वही रहस्यवादी बनकर 'अनन्त की ओर' चल देता है। कलम पकड़ने का शऊर नहीं है, पर हृत्तन्त्री के झंकार से व्याकुल 'कविजी' अपना 'मौन संगीत' अखबारों में प्रकाशित करा ही देते हैं। आजकल के अधिकांश रहस्यवादी कविगण बाजारू प्रेम की पीर में पागल बने फिरते हैं और ज़मीन पर रहते हुए 'आकाश-कुसुम', इन्द्रलोक की परियों का स्वप्न देखते हैं। इन्हीं छोकरों में से कुछ उच्छृंखल युवकों ने आचार्य शुक्लजी पर भी हमला किया। शुक्लजी साहित्य में उच्छृंखलता को सहन नहीं कर सकते। वे इन 'काष्ठ-कौशिकों' को समझाना चाहते हैं कि आँख खोलकर दुनिया को देखो और झूठे रहस्यवाद के फेर में पड़कर अपने जीवन और अमूल्य चरित्र को भ्रष्ट न कर बैठो। इन कथित 'सो काल्ड' रहस्यवादियों को यह पता होना चाहिए कि आज बंगाल से साहित्य की जो हवा आयी है, उसमें बीमारी और दुर्बलता के कीटाणु भरे पड़े हैं और हिन्दी-साहित्य का स्वस्थ रूप उसके प्रभाव में न आवे, इसके लिए हमें सजग हो जाना चाहिए। जिस रहस्यवाद को लेकर वे अपना पतन कर बैठे हैं, उससे जगाने के लिए शुक्लजी ने बार-बार चेष्टा की है। आज भी रहस्य-वाद की परिभाषा जानने की जब आवश्यकता होती है, तो शुक्ल जी की जायसी की भूमिका ही देखनी पड़ती है। इसके सिवा रहस्यवाद क्या है और साहित्य में इसका प्रवेश किस रूप में अभिनन्दनीय है, इसे जानने के लिए शुक्लजी का 'काव्य में रहस्यवाद' ग्रंथ देखना चाहिए। उसमें बहुत ही व्यापक रूप में, बहुत ही विस्तार के साथ अंग्रेजी, फ़ारसी और बँगला-साहित्य के स्वरूप का ज्ञान कराते हुए वर्तमान काव्य-धारा की समीक्षा की गयी है। रहस्यवाद के सच्चे मर्म को शुक्ल जी पहचानते हैं, इसीलिए जब साहित्य क्षेत्र में पेडैण्ट्स एण्ड प्रिटेंडर्स घुसना चाहते हैं, तो शुक्लजी उनका शेर की खाल में सियार का रूप दिखाकर लोगों को आगाह कर देना चाहते हैं कि इन गिरहकटों से बचो टेक केयर ही बाइट्स।

कवि-रूप में शुक्लजी का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर कम प्रतीत होता है। इसका मुख्य कारण है हिन्दी-पाठकों के मनःक्षितिज की निम्नता। अब तक हिन्दी में स्वस्थ काव्य के स्वरूप को बहुत कम लोग समझ पाये हैं। ज्वराक्रांत दुर्बल मनोभावों की चीख और वासना-मलिन मदान्ध कुत्सित चेष्टाओं को पालिश्ड भाषा में रखकर ही अब तक हिन्दी-साहित्य के अधिकांश वर्त्तमान कवि अपनी ख्याति की ध्वजा फहरा रहे हैं। जनसाधारण की मनोवृत्ति तो अधोमुखी होती ही है। आजकल सिनेमा की ओर जो हमारी प्रवृत्ति हो रही है, वह हमारे दुर्बल अस्वस्थ मन के कारण। ठीक यही हाल कविता का भी रहा। कवि-सम्मेलनों में कविजी पधारते हैं—चितवन, चितचोर, केशराशि और रूपराशि की मदिरा में बेसुध होकर अपने दिल के फफोले उपस्थित जनता पर फोड़ते हैं और इधर से भी वाह-वाह और करतल-ध्वनि की वर्षा हो पड़ती है। उनका कुत्सित मद और अहंकार अपना भोजन पाकर बढ़ता जाता है और वे विलासिता की उपासना को ही साहित्य की निर्मम साधना कहने लगते हैं। शुक्लजी तो उन कवियों में हैं, जिनकी रचनाएँ हमारे हृदय को केवल पावन, उज्ज्वल और उन्नत ही नहीं बनातीं, अपितु समस्त चराचर में भावरूप से ओत-प्रोत कर देती हैं। शुक्लजी

अपनी कविताओं में हमारे हृदय को जगाते और मस्तिष्क को उद्बोधित कर परमपुरुष की अनन्तरूप आभा का दर्शन करा देते हैं। सामने के संसार से आँखें मूँद कर अनन्त के प्रेम-विरह में छटपटानेवाले यह नहीं जानते कि सामने जो कुछ भी विश्व का रूप है, वह हमारे 'प्रियतम' का ही स्वरूप है और 'इस' से हटकर हम 'उस' को नहीं पा सकते। शुक्लजी की कविताएँ हमारे हृदय पर पड़े हुए पर्दे को हटा कर समग्र रूप से भगवान् की छवि का दर्शन कराती हैं। वह भगवान्, जो वसुन्धरा के कण-कण से हमारी ओर निहार रहा है और हमें इस विराट् रास में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित कर रहा है—संकेत दे रहा है—बुला रहा है।

जीवन की जटिल समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए शुक्लजी की कविताएँ हमें उस उच्च दिव्य मनोभूमि में पहुँचा देती हैं, जहाँ सभी कुछ सत्यं, शिवं, सुन्दरम् है। 'हृदय का मधुर भार' और 'रूपमय हृदय' हिन्दी-साहित्य की अमर निधि हैं। 'बुद्ध-चरित' अपने ढंग का अकेला काव्य-ग्रंथ है। भाषा की दृष्टि से व्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में शुक्लजी का अक्षुण्ण अधिकार है और बड़ी ही सफलतापूर्वक आपकी लेखनी दोनों प्रवाह में अदा के साथ चलती है।

एक बात और! लंबी भूमिका, जिसमें कवि की कृतियों का सूक्ष्म सविस्तर गुण-दोष विवेचन हो, शुक्लजी ने ही पहले-पहल लिखी। जायसी, तुलसी और सूर पर लिखी उनकी भूमिकाएँ इस पथ में प्रदर्शक रूप से हैं। अब तो साधारण लोगों में भी यह रोग-सा हो गया है कि वे अनावश्यक रूप से भी अपनी विद्वत्ता का परिचय देने के लिए लम्बी भूमिकाएँ लिख मारते हैं और अनाप-शनाप जहाँ भी, जो कुछ भी वे जानते हैं या नहीं जानते, मँगनी-उधार लेकर लिख ही डालते हैं। ज्ञान-प्रदर्शन की इस मूर्खतापूर्ण शैली का अब अन्त होना चाहिए और इसे केवल अधिकारी पुरुषों के लिए ही छोड़ देना चाहिए। आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों में अधिकारी-भेद तो है ही—मानना न मानना हमारे मन की बात है!

इस प्रकार गद्य-लेखक, निबन्ध-कर्त्ता, शैली-निर्माता, समालोचक, कवि और दार्शनिक रूप में आचार्य शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य की वह सेवा की है, जो आर्नाल्ड से अंग्रेजी-साहित्य की न हो सकी। आर्नाल्ड के मुकाबले में तो अंग्रेजी-साहित्य में लेखक और समालोचक हुए भी, पर हमारे इस आचार्य के मुकाबले में हिंदी-साहित्य में कौन है? इस लेख में केवल सरसरी तौर से मैंने शुक्लजी की बहुमुखी प्रतिभा और साहित्यिक मनोभावों पर दृष्टिपात किया है। उनकी एक-एक दिशा का सविस्तार अनुशीलन करने की चेष्टा अत्यन्त अपेक्षित है।

⊙

जीवन तत्त्व और साहित्य-सिद्धान्तों का समन्वय : चिन्तामणि

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

⊙

भावाभिव्यक्ति की विविध शैलियों में निबन्ध अपेक्षाकृत एक सुश्रृंखल एवं सुगठित शैली है। भावों और विचारों को एक सूत्र में पिरोकर सुसम्बद्ध रूप से प्रस्तुत करना निबन्ध-कला का वैशिष्ट्य माना जाता है। निबन्ध शब्द की व्युत्पत्ति में इसी अर्थ की ध्वनि है और उसका निर्वचन भी इसी दिशा की ओर संकेत करता है। किन्तु निबन्ध-कला के उद्‌भव काल से उपर्युक्त सीमाबन्धन को निबन्ध-लेखकों ने स्वीकार नहीं किया। भारतीय साहित्य में तो आधुनिक शैली के निबन्ध का विकास बहुत परवर्तीकाल में हुआ, अतः उसके स्वरूप का प्रश्न ही नहीं उठता। संस्कृत-साहित्य में निबन्ध शब्द का प्रयोग उपलब्ध होने पर भी आधुनिक शैली के निबन्ध का सर्वथा अभाव है। शास्त्रार्थ-चर्चा के लिए काव्य-शास्त्र या दर्शन-शास्त्र के ग्रन्थों में जो वृत्तियां (गद्यात्मक रूप में) उपलब्ध हैं, उन्हीं को कुछ विद्वानों ने निबन्ध का प्रारूप कहा है। वृत्तियों के संकलित रूप को निबन्ध मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। हाँ, उद्देश्य की दृष्टि से उनका निबन्ध के साथ बादरायण सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। अतः संस्कृत-साहित्य के आधार पर निबन्ध-शैली का विवेचन सम्भव नहीं है।

पाश्चात्य-साहित्य में, विशेषतः फ्रेंच और अंग्रेजी में, निबन्ध का व्यापक विस्तार है। वह 'ऐस्से' (ESSAY) शब्द के द्वारा निबन्ध का ग्रहण पुराने युग से चला आ रहा है। किन्तु प्रारम्भ में सुगठित और सुसम्बद्ध रचना की शर्त अनिवार्य नहीं थी। मौण्टेन के निबन्धों में विश्रृंखलता और असम्बद्धता का साम्राज्य था, वह व्यक्तित्व को प्रधानता देकर आत्मीय तत्वों से समन्वित निबन्ध लिखने का विश्वासी था। प्रसिद्ध निबन्ध-लेखक बेकन ने तो निबन्ध को उच्छिन्न चिन्तन (डिस्पर्स्ड मेडीटेशन) की संज्ञा देकर किसी बन्धन या श्रृंखला के लिए अवकाश ही नहीं छोड़ा। कदाचित् आदि निबन्ध लेखकों की इस निबन्ध आत्माभिव्यक्ति को लक्ष्य करके ही डॉ० जानसन ने निबन्ध की परिभाषा में 'मन के स्वच्छन्द विचरण से उद्‌भूत अनियमित एवं असम्बद्ध रचना' आदि वाक्यों को स्थान दिया था। किन्तु निबन्ध के क्रमिक विकास में इस उच्छृंखल और असम्बद्ध रचना-प्रक्रिया को चिरकाल तक स्वीकार नहीं किया गया। फलतः 'ऐस्से' या निबन्ध में शनैः-शनैः सुश्रृंखल

सीमा-मर्यादा, सुसम्बद्ध विचारयोजना तथा सुगठित वाक्य-विन्यास को स्थान मिलने लगा। शैली की दृष्टि से भी निबन्ध में दीप्ति, कान्ति, भव्यता और विशदता की अनिवार्यता अनुभव हुई और निबन्ध अपने यथार्थ रूप में पूरे निखार के साथ साहित्य क्षेत्र में चमक उठा। अब निबन्ध के लिए एक ओर सुसम्बद्धता और एकसूत्रता अनिवार्य तत्त्व बने तो दूसरी ओर वैयक्तिकता एवं आत्मीयता की भी आवश्यकता सामने आयी। निदान, गद्य के विविध रूपों में निबन्ध को विचार-प्रसार का सबसे अधिक वैज्ञानिक रूप माना जाने लगा और गद्य की कसौटी भी निबन्ध को ही स्थिर किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में निबन्ध की चर्चा करते हुए लिखा है—"यदि गद्य कवियों की या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्ध में ही सबसे अधिक सम्भव है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की निबन्ध शैली

शुक्ल जी की निबन्ध विषयक मान्यता में पाश्चात्य लक्षणों का प्रभाव है—अर्थात् निबन्ध में व्यक्तित्व और व्यक्तिगत विशेषता की सन्तुलित स्वीकृति वे मानते हैं। किन्तु सुसम्बद्ध विचार-शृंखला तथा प्रकृत अर्थयोजना के अभाव में उच्छृंखल विचार-प्रवाह को शुक्ल जी ने स्वीकार नहीं किया है। निबन्ध के लेखक स्वेच्छा से विषय की सीमाओं में विचरण करता हुआ अपनी बात कहने के लिए स्वतंत्र है, किन्तु किसी न किसी सम्बन्ध सूत्र का आधार उसके पास होना चाहिए। निबन्ध-लेखक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ—अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों के लिए हुए अपने विषय-प्रतिपादन में प्रवृत्त हो। लेखक की प्रकृति का प्रभाव उसकी रचना पर पड़ना सहज है. अतः करुण, विनोद, व्यंग्य-हास्य, गम्भीर आदि अवस्थाओं का प्रतिफलन निबन्धों में यथास्थान देखा जा सकता है। अर्थगत विशेषता के आधार पर भाषा और अभिव्यञ्जना-शैली में परिवर्तन भी शुक्ल जी आवश्यक समझते हैं। शुक्ल जी के मन में निबन्ध-लेखन एक गूढ़ और गम्भीर कार्य है। विचारोद्भावन और विचारोत्तेजन करना निबन्ध का प्रधान गुण होना चाहिए। "निबन्ध पढ़ते ही पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नयी विचार पद्धति पर दौड़ पड़े, वही निबन्ध अपने उद्देश्य में सफल समझा जायेगा।" इसी कारण विचारात्मक निबन्धों को शुक्ल जी सर्वश्रेष्ठ कोटि का निबन्ध मानते हैं। शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में उपर्युक्त मान्यताओं को पूरी तरह स्थान दिया है। उक्त मान्यताओं के आधार पर हम शुक्ल जी की 'चिन्तामणि' में संकलित निबन्धों पर विचार करेंगे।

'चिन्तामणि' में संकलित निबन्धों को हम विचारात्मक कोटि के निबन्धों में स्थान देते हैं—यद्यपि उन निबन्धों में विचार की कोटियां समान न होकर विविध हैं। प्रथम कोटि में वे निबन्ध आते हैं जिन्हें शुक्ल जी ने स्वयं भाव या मनोविकार शीर्षक से मनोवैज्ञानिक वृत्तियों, स्थितियों और भावनाओं के प्रस्फुटन के लिए लिखा है। उत्साह, श्रद्धा, भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध—ये नौ निबन्ध

प्रथम कोटि के विचार प्रधान मनोवैज्ञानिक निबन्ध हैं। दूसरी कोटि साहित्यिक विचार प्रधान निबन्धों की है, जिनको उद्देश्य की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे निबन्ध हैं जो साहित्य के सैद्धान्तिक (शास्त्रीय) पक्ष का विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से लिखे गये हैं। जैसे, कविता क्या है, काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद तथा रसात्मक बोध के विविध प्रकार। चिन्तामणि (द्वितीय भाग) के तीनों निबन्ध भी सैद्धान्तिक समीक्षा के अन्तर्गत आते हैं। अतः उनका विवेचन भी इसी कोटि के भीतर किया जाएगा। दूसरे वर्ग में हम उन निबन्धों को स्थान देंगे जो साहित्यिक समीक्षा के व्यावहारिक पक्ष को लेकर लिखे गये हैं,जिनमें 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'तुलसी का भक्तिमार्ग' और 'मानस की धर्मभूमि' आते हैं। हम क्रमशः इन निबन्धों की शैली पर नीचे की पंक्तियों में अपने विचार व्यक्त करेंगे।

शुक्ल जी ने भावों और मनोविकारों को निबन्ध के लिए एक विशिष्ट उद्देश्य से ग्रहण किया था। समस्त मानव-जीवन के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, अतः सामान्य क्रिया-व्यापार से लेकर गम्भीर काव्यादि रचना तक इन्हीं का प्रभाव व्याप्त रहता है। जब तक इनके स्वरूप का बोध न होगा तब तक मन की प्रवृत्तियों की प्रतीति भी सम्भव नहीं होगी। शुक्ल जी ने इस तथ्य को भलीभाँति समझ कर इन विषयों के विश्लेषण का कार्य अपने हाथ में लिया। भाव और मनोविकार के साथ प्रत्येक मानव का परिचय होता है किन्तु उनके उद्भव, विकास और गति को समझना बड़े-बड़े पंडितों और ज्ञानियों के लिए भी दुष्कर है। यही कारण कि इन विषयों पर हिन्दी में तो किसी लेखक ने लिखने का साहस ही नहीं किया, अन्य भाषाओं में भी बहुत कम इन विषयों पर लिखा गया है। भारतेन्दु तथा द्विवेदीकालीन निबन्ध-लेखकों ने इन्हें दर्शन की परिधि में समझकर स्पर्श नहीं किया। द्विवेदी जी ने भय और क्रोध आदि विषयों पर दो-तीन निबन्ध लिखे जो सतही स्पर्श के सिवा किसी गूढ़ अभिप्राय की व्यञ्जना नहीं कर सके। मनोवेगों की उत्पत्ति और उनके लक्षण तथा विकास को दृष्टि में रखकर तो कोई लेखक विचार ही नहीं कर सका था। मनोवैज्ञानिक आधार पर साहित्यिक शैली में मनोवेगों का सबसे पहली बार आचार्य शुक्ल ने ही विवेचन प्रस्तुत किया।

जीवन के तत्त्व

इन निबन्धों पर विचार करते समय सबसे पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मनोवेग या मनोविकार साहित्यिक परिधि के विषय हैं या मनोवैज्ञानिक होने के कारण दार्शनिक कोटि में रखे जाने योग्य हैं। कुछ विद्वानों ने इन्हें दर्शन का विषय समझकर यह व्यवस्था दे डाली है कि इन विषयों की मीमांसा शास्त्रीय चिन्तन है, साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं। इस शंका के निवारणार्थ हम इन निबन्धों के मौलिक स्वरूप का उद्घाटन आवश्यक समझते हैं।

दर्शन या मनोविज्ञान चिन्तन-मनन की गूढ़ गम्भीर प्रक्रिया । वस्तु-तथ्य का बोध

और उद्‌घाटन उसका उद्देश्य है। तथ्यानुशीलन के कारण बौद्धिक तर्क और प्रमाण की शुष्क पद्धति उसका आधार बनती है। किन्तु इसके विपरीत काव्य या साहित्य आत्मानुभूति की सरस अभिव्यक्ति है, जो भाव-सत्य पर केन्द्रित होकर मन की संवेदनशील गतियों का परिचय देती है। किसी बौद्धिक तथ्य को ग्रहण कर उसकी विवृति करना साहित्य का उद्देश्य नहीं होता। हृदय की रागात्मिका वृत्ति के द्वारा सौन्दर्य और आनन्द को मूर्त्त करना, काव्य या साहित्य का ध्येय है। अतः कोई भी साहित्यिक उपक्रम दार्शनिक मतवाद के साथ अपना पूर्ण तादात्म्य करके जीवित नहीं रह सकता। शुक्ल जी इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे, अतः वे अपनी आत्माभिव्यक्ति और अनुभूति को दर्शन की शुष्क और नीरस सीमाओं में आबद्ध क्यों करते ?

इन निबन्धों में शुक्ल जी ने विषय-प्रतिपादन करते समय यह ध्यान रखा है कि अपनी अनुभूति और प्रतीति को प्रमुख स्थान मिले, शास्त्रीय वचनों का दामन पकड़कर किसी सिद्धान्त की स्थापना न की जाय। किसी भाव, विचार या मनोवृत्ति का स्वरूप प्रतिपादन करने में शुक्ल जी ने कहीं भी शास्त्र का सहारा नहीं लिया। जीवन में प्रतिफलित होने वाले व्यावहारिक दर्शन को पकड़ कर भावों और मनोवेगों की व्याख्या की गयी है। कहीं व्यक्ति के माध्यम से इनका वर्णन हुआ है तो कहीं सामाजिक प्रभाव दिखाकर इसका आकलन किया गया है। अतः इन निबन्धों को शास्त्रीय या दार्शनिक विवेचन समझना सरासर भूल है। शुक्ल जी जिस प्रकार साहित्य-विवेचन में रसवादी परिपाटी के समर्थक थे, वैसे ही इन निबन्धों में भी उनकी रसग्राहिता प्रतिबिम्बित होती दृष्टिगत होती है।

मनोवेगों का हमारे जीवन के साथ शाश्वत सम्बन्ध है। ये मनोवेग एक ओर जहाँ हमारे आध्यात्मिक जीवन का निर्माण करते हैं, वहीं दूसरी ओर ये हमारे भौतिक अर्थात् सांसारिक जीवन का भी नियंत्रण और निर्माण करने वाले हैं। शुक्ल जी ने मनोविकार (इमोशन) तथा भाव-वृत्तियों (सेण्टीमेण्ट) के वर्णन में उनकी इस द्विविध कार्य-क्षमता का ध्यान रखा है। साहित्य और जीवन को सम्पृक्त करके देखने की दिशा में इन निबन्धों का अपूर्व योगदान है। शुक्ल जी ने अपनी साहित्य-समीक्षा में जिन मान्यताओं को स्थापित किया, यथार्थ में उनका मूलाधार इन भाव या मनोविकार-विषयक निबन्धों में ही है। आलोचना के मानदण्ड के रूप में शुक्ल जी ने इन भाव-वृत्तियों को स्वीकार किया था। इसी कारण इन पर प्रकाश डालना उन्हें अनिवार्य प्रतीत हुआ। दर्शन की गहन-गूढ़ जटिलता में फँसकर इनका विश्लेषण उन्हें अभिप्रेत न था। जीवन के व्यवहार-पक्ष और साहित्य के वर्ण्य-पक्ष को इन निबन्धों के माध्यम से एक सूत्र में पिरोकर प्रस्तुत किया गया है, यही इनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

अभिव्यञ्जना-शैली

विश्लेषण और व्याख्या का चरमोत्कर्ष इन निबन्धों का शैलीगत सौन्दर्य है। विश्लेषण

के लिए समता-विषमता का प्रदर्शन, व्यास और समास शैली का ग्रहण, आगमन तथा निगमन-पद्धति का सम्यक् समन्वय स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है।

समास-शैली से जहाँ भावाभिव्यक्ति हुई है, वहाँ निबन्धों में सूत्रात्मक संक्षिप्तता, सौष्ठव और सुसम्बद्धता का सौन्दर्य देखा जा सकता है। विशद भावखण्ड को सूत्र के सीमित कलेवर में आबद्ध करना, एक दुरूह प्रक्रिया है। केवल वे ही लेखक इस शैली से विचार व्यक्त करने में सफल होते हैं, जो भाव को भलीभाँति पचाकर उसके अनावश्यक विस्तार और अनपेक्षित आवरण को त्यागने में प्रवीण हों। सूत्रात्मक परिभाषाएँ स्थिर करना तो इससे भी एक कदम आगे की दुस्साध्य कला है। शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में इस प्रकार की बीसियों सूत्रात्मक परिभाषाएँ प्रस्तुत करके अपनी तत्त्वाभिनिवेशिनी प्रतिभा का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ, सूत्र-शैली की कतिपय परिभाषाएँ मनन करने योग्य हैं—

(क) 'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।' —चिन्तामणि, पृ० ५

(ख) 'साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है।' —चिन्तामणि, पृ० ६

(ग) 'श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है।' —चिन्तामणि, पृ० १७

(घ) 'वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।' —चिन्तामणि, पृ० १३८

(ङ) 'काव्य में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है।' —चिन्तामणि, पृ० १४५

(च) 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।' —चिन्तामणि, पृ० ३२

समास-शैली का दूसरा रूप वहाँ मिलता है, जहाँ लेखक ने दो भावों या मनोविकारों का पारस्परिक सम्बन्ध, साम्य-वैषम्य या तारतम्य व्यक्त किया है। इस साम्य-वैषम्य प्रदर्शन में सूत्र-रचना का चातुर्य देखकर पाठक शुक्ल जी की मेधा और प्रतिभा पर विस्मय-विमुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) 'श्रद्धा का व्यापार स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार।' —चिन्तामणि, पृ० १८

(ख) 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।' —चिन्तामणि, पृ० १८

(ग) 'लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख।' —चिन्तामणि, पृ० ६१

(घ) 'साधारण बोलचाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है, उसे लोभ और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे प्रेम कहते हैं।' —चिन्तामणि, पृ० ८५।

(ङ) 'वैर का आधार व्यक्तिगत होता है, घृणा का सार्वजनिक।' —चिन्तामणि, पृ० ९९

(च) 'ईर्ष्या एक संकर भाव है जिसकी सम्प्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है।' —चिन्तामणि, पृ० १०७

(छ) 'ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्द्धा वस्तुगत।' —चिन्तामणि, पृ० १०८

(ज) 'दुःख-वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनन्द-वर्ग में उत्साह का है।' —चिन्तामणि, पृ० ६

शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में सर्वत्र समास-शैली का ही आश्रय नहीं लिया है। अनेक स्थलों पर व्यास शैली से विषय की व्याख्या प्रस्तुत कर उसका अन्त में संक्षेप से सार लिखा है। व्यास शैली की विशेषता व्याख्या और विषय के परिधि-विस्तार में देखी जा सकती है। व्यास शैली में भी दो रूप हैं—पहला रूप तो केवल किसी भाव या विचार की व्याख्या प्रस्तुत करके उसकी विशद परिभाषा करना है, दूसरा रूप है उस भाव या विषय की सीमा में आने वाले विविध विचारों का मूल विषय से साम्य-वैषम्य का व्यावर्तन दिखाना। अतः व्यास-शैली में भी दोनों प्रकार के अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं। व्यास शैली से विशद परिभाषात्मक प्रसंगों के दो-तीन उदाहरण हम प्रस्तुत करते हैं—

(क) उत्साह की व्यास शैली से परिभाषा—

'जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना उत्पन्न होती है और जो आनन्द कर्म करते समय तक बराबर चलता रहता है, उसी का नाम उत्साह है।' —चिन्तामणि, पृ० १४

(ख) श्रद्धा की व्यास शैली से परिभाषा—

'किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है, उसे श्रद्धा कहते हैं।' —चिन्तामणि, पृ० १७

(ग) लज्जा की व्यास शैली से परिभाषा—

'दूसरों के चित्त में अनेक विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है, उनकी स्वच्छन्दता के विघात का जो अनुभव होता है, उसे लज्जा कहते हैं।' —चिन्तामणि, पृ० ५६

(घ) लोभ की व्यास शैली से परिभाषा—

'किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को, जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जाग पड़े, उसे लोभ कहते हैं।' —चिन्तामणि

दो भावों या मनोविकारों का पार्थक्य प्रदर्शित करते हुए वृत्तियों के व्यावर्तन के लिए भी व्यास शैली का सुन्दर प्रयोग किया गया है। शुक्ल जी ने व्यावर्तक धर्मों का निर्धारण जिस गहन अनुभूति और मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है, वह उनकी सारग्राही प्रतिभा और मनीक्षा का निदर्शन है। घृणा और क्रोध में पार्थक्य-प्रदर्शित करते हुए शुक्ल जी ने दोनों विषयों की प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा प्रेरक शक्ति का सूक्ष्म छानबीन के साथ विवेचन किया है। घृणा में विषय से दूर ले जाने की प्रवृत्ति है, यह प्रवृत्ति एक तरह से विषय से निवृत्ति का ही रूप है। घृणा को इसीलिए शान्तभाव से स्थिर किया है। क्रोध में हानि पहुँचाने वाले के पास जाने की उद्वेगमयी (अशान्त) प्रवृत्ति रहती है, अतः उसे प्रेरक उत्तेजक या उद्वेगना भाव

कहा जाता है। इस विषय को व्यावर्तन के आधार पर शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक पद्धति से प्रस्तुत कर अपनी चिन्तन शैली का अच्छा परिचय दिया है—

• 'घृणा का भाव शान्त है, उसमें क्रियोत्पादिनी शक्ति नहीं होती। घृणा, निवृत्ति का मार्ग दिखाती है और क्रोध प्रवृत्ति का।. . .घृणा, विषय से दूर ले जाने वाली है और क्रोध हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर विषय के पास ले जाने वाला।'—(चिन्तामणि, पृ० ९९)

इसी प्रकार लोभ और प्रीति का पार्थक्य सिद्ध करते हुए दोनों मूल प्रवृत्तिपरक धर्मों का शुक्ल जी ने मनोविज्ञान के आधार पर वर्णन किया है। यथार्थ में लोभ और प्रीति के बीच का अन्तर इतना सूक्ष्म और क्षणिक है कि उसका व्यावर्त्तन करना कभी-कभी कठिन हो जाता है। फिर भी शुक्ल जी ने व्यक्ति और वस्तु के आधार पर उसका भेद स्थिर करने की सफल चेष्टा की है।—'मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।' लज्जा और ग्लानि के विषय में भी लेखक ने इसी शैली का अनुसरण करके उनके धर्म-पार्थक्य द्वारा दोनों की सीमाएँ निर्धारित की हैं। इस वर्णन में प्रायः गहन चिन्तनपूर्ण व्यास-शैली का आश्रय लिया गया है। हाँ, अभिव्यञ्जना अवश्य तत्सम-प्रधान और सुगठित पदावली द्वारा हुई है। साधारण पाठक को इस प्रकार के गंभीर चिन्तनपूर्ण स्थलों पर यदि कुछ क्लिष्टता प्रतीत हो तो यह लेखक का नहीं, पाठक के ज्ञान की सीमा का ही दोष समझा जायगा। विचारों में सघनता होने पर भी स्वच्छता और स्पष्टता का कहीं अभाव नहीं है।

शुक्ल जी गम्भीर प्रकृति के मननशील व्यक्ति थे। हास्य-विनोद उनकी सहज वृत्ति नहीं थी, अतः उनकी रचनाओं में विनोदपूर्ण हास्य की खोज करना व्यर्थ है। हाँ, किसी विषय का प्रतिपादन करते समय उस पर व्यंग्यमयी शैली से प्रकाश डालने के लिए शुक्ल जी हास्य का प्रयोग करते हैं, किन्तु उनका हास्य प्रायः व्यंग्यात्मक और वस्तुपरक (आब्जेक्टिव) होने के कारण पाठक के स्मित आनन तक ही सीमित न रहकर उसके अन्तर में पैनी लकीर खींचता चला जाता है। उनका लक्ष्य विकच हास्य नहीं—विकल व्यंग्य होता है जो अपने उद्देश्य तक पैने तीर की तरह पहुँचे बिना नहीं रुकता। व्यंग्यात्मक हास्य का प्रयोग टेढ़ी-खीर है—सामान्य कोटि के लेखक के लिए यह साध्य नहीं। शुक्ल जी ने भी इसका प्रयोग बहुतायत से नहीं किया है। उनके निबन्धों में इसका प्रयोग विरल है। तीन-चार स्थलों पर उनका हास्य शुद्ध सरल हास्य ही रहा है और किसी प्रखर व्यंग्य के बिना, मृदुल मोहक हँसी तक ही अपनी शक्ति को समेटे रहता है। हास्य और व्यंग्य का भेद यही है कि हास्य में छींटाकशी न होकर मनोरञ्जन ही प्रधान लक्ष्य रहता है। किन्तु व्यंग्य में वर्ण्य या अभि-व्यंग्य को सम्मुख रखकर सोद्देश्य प्रहार करना अभीष्ट होता है। व्यंग्य की प्रखरता उसके प्रहारजन्य प्रभाव से आँकी जाती है, हास्य की केवल मनोरञ्जन से। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में दोनों कोटि के हास्य-व्यंग्य मिलते हैं। फिर भी इतना ध्यान रखना चाहिए कि शुक्ल जी ने तामस कोटि के फूहड़ हास्य को कहीं भी स्थान नहीं दिया। हम उनके निबन्धों में से कुछ उदाहरण दोनों प्रकार के हास्य प्रस्तुत करते हैं।

'संगीत के पेच-पाँच देखकर हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए, आठ अंगुल मुँह फैलाता है और ',अ आ' करके विकल होता है, उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है। दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले आलसियों का आसन डिग जाता है।' —चिन्तामणि, भाग १, पृ० २४

'काव्य पर शब्दालंकार आदि का इतना बोझ लादा गया कि उसका सारा रूप ही छिप गया।...यदि ये कलाएँ मूर्तिमान रूप धारण करके सामने आतीं तो दिखायी पड़ता कि किसी को जलोदर हुआ है, किसी को फीलपाँव। इनकी दशा सोने और रत्नों से जड़ी गुठली धार की तलवार की-सी हो गयी।' —चिन्तामणि, पृ० २५

'रसखान तो किसी की लकुटी और कमरिया पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके माँदे के फटे पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझ कर—यम का से कम खीझकर बिना मन मैला किये कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियों, तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अंदेसे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।'

—चिन्तामणि भाग १, पृ० ७७

'इस ज़माने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायेगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाये हुए पारिवारिक प्रपञ्चों तक में पाये जाते हैं और काफी तादाद में।'

—चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४

उपरिलिखित चारों उदाहरणों में शुक्ल जी का हास्य पाठक को मोहक हास्य के वातावरण में ले जाने की पूरी शक्ति रखता है। पक्के गाने वाले कलावन्त का मुँह, काव्यकलाओं को जलोदर और फीलपाँव की बीमारी, मोटे आदमियों की स्वार्थ वृत्ति तथा आधुनिक युग के वाग्वीरों की शूर वीरता किसे हँसी से परिपूर्ण नहीं करती।

मृदुल हास्य के साथ तीखा-व्यंग्य भी शुक्ल जी के निबन्धों में प्रचुर मात्रा में मिलता है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में तो व्यंग्यात्मक हास्य के बहुत ही मार्मिक उदाहरण मिलते हैं। निबन्धों में इस कोटि के व्यंग्य का प्रयोग अन्धविश्वास, छल, दम्भ, कपट आदि भावों को स्पष्ट करने के लिए हुआ है, ऐसे स्थलों पर व्यंग्य की ध्वनि एक ओर जहाँ हास्य की सृष्टि करती है वहीं दूसरी ओर उन रूढ़ियों और छलनाओं के—सामाजिक या धार्मिक असंगतियों—के प्रति मन में कुत्सा और वितृष्णा का भाव भी उत्पन्न करती है। इस प्रकार के हास्य-मिश्रित व्यंग्य में हल्की-सी चोट रहती है, जो पाठक की चेतना को जागरित कर उसे प्रस्तुत-विषय पर विचार करने के लिए बाध्य कर देती है। यह शैली काव्य के अप्रस्तुत विधान का ही रूप है, जिसकी सराहना निबन्ध पढ़ने पर प्रत्येक पाठक अवश्य करेगा। 'ह्यमर' और 'सेटायर' में विट का पुट देकर शुक्ल जी ने व्यंग्यात्मक हास्य का जो मिश्रण तैयार किया है, वह अपनी प्रभावोत्पादकता में अद्वितीय है। नीचे के उदाहरणों से हमारे इस कथन की पुष्टि होगी।

किन्तु, श्रद्धाकर्षण के लिए ढोंगी व्यक्तियों का वर्णन करते हुए शुक्ल जी ने बड़ी मीठी चुटकी लेते हुए लिखा है—

'आचार्य नहीं कि इसके लिए कुछ दिनों में एक अलग विद्यालय खुले।...आजकल सार्वजनिक उद्योगों की बड़ी धूम रहा करती है और बहुत से लोग निराहार परोपकार व्रत करते सुने जाते हैं।'

लज्जा और संकोच का भेद बताते हुए तथा संकोच को लज्जा का हलका रूप ठहराते हुए वे कहते हैं कि प्रायः बहुत से लोगों में यह अनेक अवसरों पर देखा जाता है। आगे इसी संकोच की बात कहते हुए व्यंग किया है—

'सारांश यह है कि बेवकूफी करने में लोग संकोच नहीं करते और सब बातों में करते हैं।'

धन के लोभ का वर्णन करते हुए आपने बड़ा ही सुन्दर व्यंग्य किया है—'रुपये के रूप, रस, गंध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता, पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते हैं, उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए मांस पर भी न टूटते होंगे।' आगे लोभ की वृद्धि और लक्ष्य की एकता का उल्लेख करते हुए धन की लोलुपता पर बड़ी सटीक उक्ति है—'लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गयी, उपासक सब पत्थर हो गये। राज-धर्म, आचार्य-धर्म, वीर-धर्म सब पर पानी फिर गया, सब टका धर्म हो गये...केवल वणिग्धर्म रह गया।'

प्रीति के स्वरूप पर और उसके ग्रहण करने के नाम पर बड़ी मार्मिक उक्ति देखिए—'मेल से क्या-क्या लाभ होते हैं, यह तो न जाने कितने झगड़ालू बताते हैं और न जाने कितने लोग सुनकर झगड़ा करते हैं।'

लोभ में आपादमग्न कृपण व्यक्तियों का उपहास करते हुए शुक्ल जी ने जिस व्यंग्य मयी प्रखर शैली को स्वीकार किया है, वह हास्यपूर्ण कठोर व्यंग्य का सुन्दर निदर्शन है—'लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रियनिग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है। तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो, तुम्हें धिक्कार है।' इस सन्दर्भ के प्रत्येक शब्द का अभिधेयार्थ ही इतना अर्थ-गर्भ है कि पाठक के समक्ष प्रत्येक पद-पदार्थ मूर्तिमान होता जाता है। शुक्ल जी के निबन्धों में इस तरह के चुटीले व्यंग्य अनेक स्थानों पर मिलते हैं। देश-प्रेम की बात करते हुए वे कहते हैं कि 'जो देश की प्रकृति और देश के स्वरूप का चिन्तन कर उसमें मग्न होता है, वह सच्चा देश-प्रेमी है। भले ही वह घूम-घूम कर वक्तृता दे या न दे, चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत, निकाले या न निकाले।' इसी प्रकार आधुनिक युग के उपकरणों और सामाजिक कार्यों पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा है—'अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्व हरण के लिए जाली दस्तावेज़ बनाना, मोटर की चरखी घुमाना आदि द्वारा रसपरिपाक सम्भव नहीं है।'

भाव और मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों के मूल में कोई न कोई गम्भीर विचार रहता है जिसकी विवेचनात्मक शैली से विवृत्ति करना लेखक का अभीष्ट होता है। अतः

निबन्ध में अथ से इति तक एक ही प्रभाव का सामञ्जस्य बनाये रखने पर भी विषय के स्पष्टीकरण के लिए विषयान्तर या प्रासंगिक उद्‌भावनाएँ स्वीकार करने पर लेखक को विवश होना पड़ता है। सफल लेखक वह है जो विषय-प्रतिपादन के लिए प्रसंग-प्राप्त विषयान्तर ग्रहण करके भी मूल विचार की प्रभावान्विति में विघ्न-बाधा उपस्थित न होने दे। शुक्ल जी के निबंध प्रभावान्विति की दृष्टि से इतने सुसम्बद्ध और पुष्ट हैं कि उनकी अवान्तर उद्‌भावनाएँ उन्हें कहीं भी शिथिल या निर्जीव नहीं बनने देतीं। हाँ, विषयान्तर स्वीकार करने में शुक्ल जी ने एक-दो स्थलों पर वैयक्तिक स्वतंत्रता का पूरा-पूरा उपयोग किया है। उन्हीं दो एक स्थलों को लेकर कुछ लोगों ने यह आपत्ति उठायी थी कि शुक्ल जी अपनी मान्यताओं की स्थापना के लिए अप्रासंगिक रूप से विषयान्तर ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु उन स्थलों का भी यदि निष्पक्ष भाव से पारायण किया जाय तो उनमें गम्भीर दोष-दर्शन का अवकाश न मिलेगा। उदाहरणार्थ, श्रद्धा और भक्ति के प्रसंग में क्षात्र-धर्म की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करते हुए शुक्ल जी ने लम्बा प्रवचन प्रस्तुत कर दिया है। यह ठीक है कि श्रद्धा-भक्ति के प्रसंग में क्षात्र-धर्म का यह उपदेश संदर्भ के साथ पूर्णतया अन्वित नहीं होता और पाठक को लगता है कि जैसे लेखक अपनी क्षात्रधर्म विषयक मान्यताओं को ऐसे अवसर पर सिद्धांत-खंड के रूप में प्रस्तुत कर रहा है, जिसके लिए कदाचित् यह उचित अवसर नहीं है। सबसे त्रुटिपूर्ण बात यह है कि यह निबन्ध इसी क्षात्रधर्म-सिद्धान्त के प्रवचन में मूल विषय से उच्छिन्न एकदम (एवरप्टली) समाप्त हो जाता है।

विषयान्तर का दूसरा उदाहरण 'लोभ और प्रीति' निबन्ध में द्रष्टव्य है। प्रीति के अन्तर्गत लेखक ने देशप्रेम को घसीटा है और उसका प्रतिपादन इस शैली से किया है कि पाठक की उसमें रुचि नहीं होती। देश प्रेम का वर्णन करते हुए इधर-उधर की बातें, जिनका साक्षात् प्रीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रस्तुत की गयी हैं और उन्हें लिखने में वैयक्तिक अभिरुचि का भी पुट दे दिया गया है। देश प्रेम के भीतर ही प्रकृति प्रेम का भी ब्यौरेवार वर्णन है। कहीं-कहीं अवान्तर प्रसंग केवल विषय की सोदाहरण व्याख्या के लिए ही आये हैं। उनमें प्रसंग-गर्भत्व-तत्व भी रहता है। भारतीय इतिहास या पौराणिक आख्यान की कोई मार्मिक घटना या व्यक्ति ऐसे अवसरों पर अंकित किया गया है। किन्तु ये अवान्तर प्रसंग प्रभावोत्पादन के साथ विषय की मूल विचारधारा में व्याघात उत्पन्न नहीं करते। फलतः विचार का सतत प्रवाह रुकने पर भी मूल प्रभावान्विति का तारतम्य बना रहता है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं अपने काव्य-सिद्धान्तों का भी भाव और मनोविकार-विषयक निबन्धों में वर्णन वह इन्हीं अवान्तर प्रसंगों या विषयान्तरों द्वारा लेखक ने किया है। स्थलो पर मूल उद्देश्य तो विषय की विवेचना ही है। किन्तु उनका समर्थन किया गया है स्वमन्तव्यों द्वारा। लोकसंग्रह, शील और सौन्दर्य, काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था आदि को उच्च स्थान देने के लिए शुक्ल जी ने विषयान्तर किया है। इन निबन्धों में शुक्ल जी के काव्य-सिद्धान्त खंड रूप में छिटके पड़े हैं।

शुक्ल जी के निबन्धो की भाषा अत्यधिक प्रौढ़, तत्सम-प्रधान और प्राञ्जल है। गुम्फित

वाक्यरचना के लिए भावव्यंजक पदावली का जैसा सुन्दर चयन शुक्ल जी ने किया है, वैसा हिन्दी निबन्ध-लेखकों में अन्यत्र नहीं मिलता। कहीं-कहीं भाषा में कविता का लालित्य भी दृष्टिगत होता है। तर्कपूर्ण वैज्ञानिक शैली के साहित्यिक निबन्धों की भाषा का मानदण्ड शुक्ल जी के इन्हीं भाव और मनोविकार-सम्बन्धी निबन्धों से स्थिर किया जा सकता है।

विषय-प्रतिपादन के अवसर पर व्याख्यात्मक शैली के साथ भाषा भी अपेक्षाकृत सरल और प्रभावमयी है। वहाँ न तो गूढ़ भाव-व्यंजक क्लिष्ट पदावली का प्रयोग है और न लाक्षणिक या शास्त्रीय शब्दों की भरमार। सीधी-सादी अभिव्यक्ति का ही लेखक ने आश्रय लिया है। वाक्य-योजना वार्तालाप-शैली की होने से इतनी सहज है कि यह नहीं प्रतीत होता कि लेखक किसी भाव या मनोविकार का रहस्य समझाने का प्रयत्न कर रहा है। भाषा का रूप घरेलू बातचीत के समान जाना-पहचाना-सा बना रहता है। जैसे—

'मान लीजिए कि एक ओर से हमारे गुरु जी और दूसरी ओर से एक दण्डधारी दुष्ट दोनों आते दिखायी पड़े। ऐसी अवस्था में पहले हमें उस दुष्ट का सत्कार करके तब गुरु जी को दण्डवत् करनी चाहिए।' इन दो वाक्यों में बात को समझाने की शैली घरेलू बात-चीत की है। शब्द भी तद्भव ही हैं। इस प्रकार की भाषा व्याख्यात्मक शैली से किसी विषय को स्पष्ट करने के लिए प्रायः प्रत्येक निबन्ध में मिलेगी।

भाषा का दूसरा रूप तत्सम और क्लिष्ट-पद योजनापूर्ण है। ऐसे स्थलों पर सूक्ष्म भाव का साहित्यिक भाषा द्वारा विवेचन किया गया है।

'लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनन्द का अनुभव होना। अतः वह आनन्द स्वरूप है।'

'भक्ति में किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हमारी महत्त्व के अनुकूल गति का प्रसार और प्रतिकूल गति का संकोच होता है। इस प्रकार का सामीप्य लाभ करके हम अपने ऊपर पहरा बिठा देते हैं।'

तत्सम पदावली से परिपूर्ण वाक्य-योजना से तो ये निबन्ध आद्योपान्त भरे पड़े हैं, अतः उदाहरण देकर विस्तार करना व्यर्थ है। अब काव्यमयी सरस भाषा वाले स्थलों का निर्देश करना हम आवश्यक समझते हैं। शुक्ल जी साहित्य में चमत्कार का सदा विरोध करते रहे। उनकी मान्यता थी कि कोरा शब्दचमत्कार न तो सुन्दर काव्य का स्रष्टा है और न वह उन्नत विचारशील भावुक का स्थायी मनोरञ्जन ही कर सकता है। अतः चत्मत्कार से बचना ही श्रेयस्कर है। किन्तु कहीं-कहीं वे स्वयं इस चमत्कार की सृष्टि कर गये हैं। शुक्ल जी ने जिस समय साहित्य से परिचय प्राप्त करना प्रारम्भ किया था, उस समय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' अपनी दीर्घ समास-शैली के निबन्ध लिखने में संलग्न थे। शुक्ल जी ने उनकी शैली से अव्यक्त रूप में प्रभाव ग्रहण किया। यद्यपि वे प्रेमघन जी की शैली के समर्थक नहीं थे, किन्तु उनके प्रेमी पाठक अवश्य थे। चिन्तामणि के निबन्धों में तीन-चार ऐसे दीर्घ समास शैली वाले स्थल हैं, जहाँ कविता की भाषा को शुक्ल जी ने गद्य का परिधान देकर प्रस्तुत किया है। कहना न होगा कि उन स्थलों पर प्रेमघन जी की शैली का अव्यक्त प्रभाव है—

'जो केवल प्रफुल्ल प्रसून प्रसार के सौरभ सञ्चार, मकरन्दलोलुपमधुप गुञ्जार, कोकिल कूजित निकुञ्ज और शीतल सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमबिन्दुमण्डित मरकताभ शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गम्भीर गर्त से उठी हुई सीकर नीहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए सब कुछ पाते हैं—तमाशबीन हैं।'

'जैसाकि कहा जा चुका है, सौन्दर्य का दर्शन मनुष्य, मनुष्य में ही नहीं करता है प्रत्युत पल्लव-गुम्फित पुष्पहास में, पक्षियों के पक्षजाल में, सिन्धुराम सान्ध्य दिगञ्चल के हिरण्य मेखला-मण्डित धनखण्ड में, तुषारावृत तुंग गिरि शिखर में, चन्द्रकिरण से झलझलाते निर्झर में और न जाने कितनी वस्तुओं में वह सौन्दर्य की झलक पाता है।'

—चिन्तामणि भाग १, पृ० १४५

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों की भाषा अत्यन्त कवित्वपूर्ण एवं अनुप्रासमयी है। इसका कारण शुक्ल जी की प्रवृत्ति न होकर प्रसंग की अनिवार्यता ही समझना चाहिए। जिन संदर्भों में अन्य शैली को लेखक ने स्वीकार किया है वे काव्य का वातावरण प्रस्तुत करने वाले हैं, अतः तदनुकूल अनुप्रासमयी कवित्वपूर्ण भाषा भी सहज ही में आगयी है। फिर भी निबन्धों में ऐसी भाषा के लिए विशेष अवकाश नहीं होता।

मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग शुक्ल जी के निबन्धों में विरल है। दो-तीन स्थलों को छोड़कर कहीं भी मुहावरे नहीं आये हैं। जिन स्थलों पर मुहावरों का प्रयोग हुआ है वह एक सुनिश्चित वाक्ययोजना के साथ है। देखिए—

'यदि सब की धड़क, एकबारगी खुल जाय तो एक ओर छोटे मुँहों से बड़ी-बड़ी बातें निकलने लगें, चार दिन के मेहमान तरह-तरह की फरमाइशें करने लगें, उँगली का सहारा पाने वाले बाँह पकड़ कर खींचने लगें, दूसरी ओर बड़ों का बड़प्पन निकल जाय, गहरे-गहरे साथी बहरे हो जायें या सूखा जवाब देने लगें, जो हाथ सहारा देने के लिए बढ़ते हैं, वे ढकेलने के लिए बढ़ने लगें—फिर तो भलमनसाहत का भार उठाने वाले इतने कम रह जायें कि वे उसे लेकर चल ही न सकें।'

— चिन्तामणि भाग १, पृ० ६६

'अनिष्ट से बचने-बचाने के लिए इष्ट यही है कि हम दुष्टों का हाथ थामें और धृष्टों का मुँह। उनकी वन्दना करके हम पार नहीं पा सकते। इधर हम हाथ जोड़ेंगे उधर वे हाथ छोड़ेंगे।' —चिन्तामणि भाग १, पृ० ६४

'पर जब हम उस वस्तु की ओर हाथ बढ़ायेंगे या औरों को उसकी ओर हाथ बढ़ाने न देंगे तब बहुत-से लोगों का ध्यान हमारे इस कृत्य पर जायगा जिनमें से कुछ हाथ थामने वाले और मुँह लटकाने वाले भी निकल सकते हैं।' —चिन्तामणि भाग १, पृ० ७२

तत्सम और तद्भव शब्दों के साथ उर्दू-फारसी के कुछ गिने-चुने शब्द तथा प्रान्तीय बोली के भी पाँच-सात शब्द शुक्ल जी के निबन्धों में साभिप्राय प्रयुक्त हुए हैं। यह समझ

रखना चाहिए कि उर्दू-फारसी या देशज शब्दों के स्थान पर उन्होंने तत्सम शब्दों का प्रयोग जान-बूझ कर बचाया है, क्योंकि जिस विशिष्ट भाव की अभिव्यञ्जना उर्दू-फारसी या देशज शब्दों से सम्भव है, वह तत्सम या तद्भव शब्दों द्वारा नहीं। उदाहरणार्थ, हम फारसी के 'इजारा' शब्द को ही लें, इसके स्थान पर हिन्दी का कोई पर्यायवाची शब्द वैसी समर्थ और विशद व्यंजना नहीं कर सकता जो इस शब्द में समाविष्ट है। एकाधिपत्य के लिए 'इजारा' का व्यवहार अंग्रेजी के 'मोनोपली' से भी अधिक व्यंजक प्रतीत होता है। इसी प्रकार एक-दूसरे स्थान पर पूरे वाक्य की योजना चलती उर्दू में बहुत ही भावपूर्ण बन पड़ी है—'इसी बात का विचार करके सलाप-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने से पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।' इस वाक्य में पाँच उर्दू-फारसी के शब्द हैं किन्तु उनका प्रयोग इतना व्यावहारिक और चालू शैली से हुआ है कि उनके लिए पर्याय-वाची शब्द तलाश करना व्यर्थ है। झूठी कवायद, फिजूल की शिकायत, दुरंगी झलक, आशिक-माशूक के किस्से, मुनादी होना, कठहुज्जती आदि इसी तरह के अन्य उर्दू-शब्दों के प्रयोग हैं जो अपने प्रचलित रूप में वाक्यरचना के साथ ऐसे 'फिट' बैठते हैं कि उनकी जगह समानार्थ हिन्दी शब्दों को कोई सहृदय स्वीकार नहीं करेगा। अलबत, चुनांचे, गोया आदि भी कहीं-कहीं दीख पड़ते हैं। प्रान्तीय या देशज शब्दों में ढब, दुर्री, झोंक, परच, लहक आदि थोड़े-से प्रयोग हैं किन्तु इनका माधुर्य संदर्भ में ही सहारा जा सकता है। व्यावहारिक और प्रच-लित शब्दों को भी शुक्ल जी ने स्वीकार किया है—जैसे अटकल-पच्चू, फेर-फार, कलेजा चिरना, इधर-उधर फिरना, तड़क-भड़क आदि।

शुक्ल जी की भाषा की सबसे उल्लेख्य विशेषता है समर्थ एवं भावव्यंजक शब्दों का नूतन निर्माण। ऐसे भी अनेक शास्त्रीय शब्द हैं, जिनका प्रयोग शुक्ल जी से पहले हिन्दी निबन्ध या समालोचना में किसी ने नहीं किया था। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के उन शब्दों का शुक्ल जी ने बेधड़क प्रयोग किया और उन्हें सर्वजन-सुलभ बनाया। अंग्रेजी समीक्षा-शास्त्र के शब्दों को भी शुक्ल जी ने भावानुवाद के माध्यम से हिन्दी में ग्रहण किया और उनका प्रचार करके परवर्ती लेखकों के लिए उपादेय बनाया। यदि ऐसे शब्दों की तालिका तैयार की जाय तो वे कई सौ होंगे। अंग्रेजी शब्दों का अनुवाद यद्यपि सब जगह पूर्ण व्यंजक नहीं हुआ, फिर भी उसमें अर्थबोध की पर्याप्त शक्ति है। कहीं-कहीं साधारण बोलचाल के रूप में प्रयुक्त होने वाले अंग्रेजी शब्दों को तत्सम रूप में ही ग्रहण किया है जैसे, फैशन, पास, लेक्चर आदि शब्द। कहीं-कहीं अंग्रेजी मुहावरों का हिन्दी रूपान्तर भी शुक्ल जी ने स्वीकार किया है।

आचार्य शुक्ल के 'चिन्तामणि' में संकलित विचारात्मक मनोवैज्ञानिक निबन्धों के विषय में यह विवाद रहता है कि ये विषय-प्रधान हैं अथवा व्यक्ति-प्रधान। इस सम्बन्ध में अपना निर्णय देने से पूर्व हम स्वयं लेखक के स्पष्टीकरण की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। चिन्तामणि के निवेदन में शुक्ल जी ने इन निबन्धों को अपनी 'अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश' माना है। बुद्धि और हृदय के सहयोग से भावलोक की यह यात्रा

सम्पन्न हुई है। यात्री तो बुद्धि ही है पर एकाकी नहीं—हृदय उसका साथी है। यात्रा के मार्ग (विषय) का संधान बुद्धि ने किया है, किन्तु मार्मिक प्रदेशों में पहुँचने पर हृदय उनमें रमा है। अर्थात् 'बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिये कुछ-न-कुछ पाता रहा है।' उक्त परिष्कार के बाद लेखक ने यह निर्णय नहीं दिया कि वह इन निबन्धों को व्यक्ति-प्रधान मानता है या विषय-प्रधान।

शुक्ल जी के निवेदन का यदि विश्लेषण किया जाय तो इतना तो स्पष्ट है कि इन निबन्धों का मुख्य सम्बन्ध बुद्धि (विषय) से रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय (व्यक्तित्व) को भी कुछ-न-कुछ मिलता अवश्य रहा है, किन्तु यात्रा बुद्धि ने की है। अतः बुद्धि के प्रमुख होने पर विषय की प्रमुखता को तो अपने आप ही सिद्ध हो जाती है। फिर भी यह प्रश्न विवादास्पद क्यों बना, यह विचारणीय है।

व्यक्ति-प्रधान निबन्ध (पर्सनल एसे) की सीमा-मर्यादा पर विचार करने पर यह प्रश्न सुलझ जाता है। वैयक्तिक भावनाओं, विचारों, अनुभूतियों और मान्यताओं के आरोप से जो निबन्ध लिखे जाते हैं और जिनमें व्यक्तिगत सुख-दुःख, रुचि-अरुचि, त्याग-ग्रहण की ही चर्चा होती है, वे व्यक्ति-प्रधान कहे जाते हैं। अंग्रेजी में चार्ल्स लैम्ब, लेहण्ट, हैजलिट और स्टीवेन्सन प्रभृति लेखकों में इस कोटि के निबन्ध लिखने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। हिन्दी में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के निबन्ध इस कोटि के हैं। वर्तमान युग में बाबू गुलाबराय ने उच्चकोटि के वैयक्तिक निबन्ध लिखे हैं। बाबूजी के आत्मव्यंजक निबन्ध हिन्दी में सर्वश्रेष्ठ कोटि के हैं। उनके निबन्धों के विषय भी कभी-कभी आत्मनिष्ठ और वैयक्तिक होते हैं कि पाठक को रसानुभूति होने पर भी लेखक ने निजी रूप की छाप से मुक्ति नहीं मिलती। उन निबन्धों में लेखक कभी-कभी इतने आत्मनिष्ठ और वैयक्तिक होते हैं कि पाठक को रसानुभूति होने पर भी लेखक के निजी रूप की छाप से मुक्ति नहीं मिलती। उन निबन्धों में लेखक कभी-कभी ऐसी विलक्षण और वैयक्तिक अनुभूति और मान्यता का वर्णन प्रस्तुत करता है। जो सामान्य पाठक की अनुभूति से तादात्म्य नहीं रखती। फलतः उनको विषय-प्रतिपादन और व्यक्ति के निकट पाकर हम व्यक्ति-प्रधान कह देते हैं। व्यक्ति प्रधान निबन्धों में विषय का स्वरूप इतना क्षीण और दुर्बल रहता है कि उसकी ओर न तो लेखक का ध्यान जाता है और न पाठक ही पूरा निबन्ध पढ़कर प्रतिपाद्य विषय से अवगत होता है। व्यक्ति-प्रधान निबन्धों की जहाँ यह कमजोरी है, वहाँ रोचकता और सरसता के कारण उनमें पाठक की चित्तवृत्ति को रमाये रखने की प्रबल शक्ति होती है। कभी-कभी तो पाठक गल्प, उपन्यास या आत्मकथा के सदृश रसानुभूति करने लगता है और उनमें लीन होकर यह विस्मृत कर बैठता है कि वह निबन्ध पढ़ रहा था या लेखक के आत्मचरित का कोई मोहक विवरण। इन निबन्धों में लेखक प्रायः प्रथम पुरुष में आत्माभिव्यक्ति करके किसी घटना या तथ्य का वर्णन प्रस्तुत करता है।

इसके विपरीत विषय-प्रधान निबन्ध का आधार प्रतिपाद्य वस्तु होती है जिसकी रूप-संघटना के लिए लेखक को युक्ति, तर्क, प्रमाण, दृष्टान्त आदि प्रस्तुत करके उसका आकार

बड़ा करना होता है। लेखक को अपने अधीन और अनुभूत ज्ञान की समस्त अर्जित सम्पत्ति विषय-प्रतिपादन में लगानी होती है। लोक-व्यवहार को ध्यान में रखकर उसका भी अपने विषय की पुष्टि में उपयोग करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि प्रतिपाद्य विषय को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों से सामग्री चयन करके उसे ऐसा रूप देना अनिवार्य समझा जाता है जो पाठक के लिए सुपाठ्य होने के साथ-साथ बुद्धिग्राह्य हो सके। फलतः विषय-प्रधान निबन्ध की आत्मा का निर्माण व्यापक भाव-सामग्री से होता है, केवल लेखक की आत्माभिव्यंजक उक्तियों या अनुभूतियों के चित्रण से नहीं। विषय-प्रधान निबन्ध जब किसी विचार या भाव को केन्द्रबिन्दु मान कर लिखे जाते हैं तब लेखक उसमें उन्हीं आत्मानुभूतियों का पुट दे सकता है जो आत्म-सीमा का अतिक्रमण कर सहज ही परानुभूति भी बनने में समर्थ हों। दूसरे शब्दों में एक व्यक्ति की अनुभूति होने पर भी उनकी संवेदना अनेक की बन सके अर्थात् वे व्यष्टि-सीमा से परे समष्टि में समा सकें। प्रतिपाद्य विषय काल की दृष्टि से कालातीत, देश की दृष्टि से सार्वदेशिक और व्यक्ति की दृष्टि से सार्वजनीन होकर सबका बन सके। विषय-प्रधान निबन्धों में व्यक्तित्व का आरोप केवल शैली में किया जा सकता है। समर्थ लेखक सदैव अपनी वैयक्तिक शैली को अक्षुण्ण रखते हुए विषय का प्रतिपादन करते हैं। उनके विषय-प्रधान निबन्ध भी अभिव्यञ्जना में व्यक्तित्व की ऐसी गहरी छाप लेकर सामने आते हैं कि उनका प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक पद और प्रत्येक शब्द लेखक के नाम का जयघोष करता सुनायी देता है।

व्यक्ति-प्रधान और विषय-प्रधान निबन्ध की सीमाओं का संक्षेप में वर्णन करने के बाद शुक्ल जी के निबन्धों पर दृष्टिपात करने से यह निष्कर्ष सहज ही में निकाला जा सकता है कि भाव या मनोविकार-सम्बन्धी विषयों पर लिखते समय लेखक के समक्ष गम्भीर तथ्य-निरूपण ही प्रमुख रहा है। लेखक का ध्येय सूक्ष्म भाव या मनोविकार का वैज्ञानिक विवेचन करना है, उसका मनमाना अनर्गल वर्णन करना नहीं। लोकानुभव की भित्ति पर लेखक ने अपने प्रतिपाद्य का भवन खड़ा किया है, केवल वैयक्तिक विचार या कल्पना के आधार पर मन की मौज या तरंग में बहक कर इन्हें नहीं लिखा है। सुश्रृंखल विचार-परम्परा की निहिति लेखक का जागरूक प्रयत्न है। अभीष्ट विषय को तर्क, युक्ति, प्रमाण और लोक दृष्टान्त द्वारा प्रस्तुत करने का तात्पर्य यही है कि ये निबन्ध व्यक्ति-सीमा (लेखक) को लाँघ कर समष्टि-सीमा (सहृदय पाठक) में समा सकें। अतः निबन्ध की कसौटी पर कसने पर इन्हें विषय-प्रधान ही समझते हैं। हाँ, व्यक्तित्व का स्पृहणीय संयोग इन निबन्धों में लेखक ने अभि-व्यञ्जना-शैली और कहीं-कहीं विषय-प्रतिपादन के लिए दृष्टान्त आदि प्रस्तुत करने में किया है। उस स्पृहणीय संयोग की उपेक्षा नहीं की जा सकती और इसलिए इन निबन्धों के वैयक्तिक पक्ष पर विचार करते समय उसका उचित मूल्यांकन भी करना आवश्यक है।

शुक्ल जी के भाव और मनोविकार-सम्बन्धी निबन्धों पर दृष्टिपात करते समय मूलतः उनके प्रतिपाद्य पर ही ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि लेखक भावों और मनोविकारों का सामाजिक तथा साहित्यिक दृष्टि से स्वरूप-निर्धारण करने में प्रवृत्त हुआ है, उनके

सम्बन्ध में अपनी वैयक्तिक रुचि या भावना का वर्णन करना उसका लक्ष्य नहीं है। अतः इस भ्रम के लिए कोई अवकाश नहीं कि शुक्ल जी के निबन्ध व्यक्ति-प्रधान हैं और उनका मूल्यांकन वस्तु के आधार पर न करके व्यक्ति-विचार के आधार पर होना चाहिए। उनके निबन्ध अकेले लेखक के हृदय से ही सम्बन्ध नहीं रखते, वरन् मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले हैं।

शुक्ल जी समर्थ शैलीकार निबन्ध-लेखक हैं। उनकी शैली का वैशिष्ट्य शब्द-चयन, पदयोजना, वाक्य-रचना सादृश्य विधान आदि सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। शैली को व्यक्तित्व का प्रतिरूप कहा जाता है—'स्टाइल इज़ द मैन इटसेल्फ' का यह प्रयोजन ही है कि समर्थ शैली-निर्माता अपनी प्रत्येक रचना में अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ प्रतिबिम्बित रहता है। व्यक्तित्व की यह स्पष्ट छाप देख, यदि कोई पाठक उस रचना को व्यक्ति-प्रधान समझ बैठे तो यह उसकी भूल है। शैलीगत व्यक्तित्व तो प्रत्येक समर्थ लेखक की पहचान है। इसके अभाव से लेखक को साहित्य में स्थायित्व ही नहीं मिलता। अतः व्यक्तित्व के स्वरूप का निर्धारण करते समय शैली से ही किसी रचना को व्यक्ति-प्रधान नहीं कहा जा सकता। 'पर्सनल एसे' का तात्पर्य है उसमें निहित भाव, विचार या वस्तु का वैयक्तिक रूप से वर्णन। कभी कभी इस प्रकार के वर्णन व्यक्तिगत अनुभूति या कल्पना तक ही सीमित रहते हैं, पाठक का उनके साथ न तो तादात्म्य होता है और न साधारणीकरण द्वारा आनन्दोपलब्धि ही। किन्तु सभी व्यक्ति प्रधान निबन्धों में यह त्रुटि नहीं पायी जाती। सुन्दर निबन्ध व्यक्ति-प्रधान होने पर भी इतने रोचक और आकर्षक होते हैं कि पाठक का मन उनमें लीन होकर रसानुभूति करता है।

व्यक्ति-प्रधान निबन्धों की एक शैली प्रथम पुरुष का प्रयोग है। 'मैं' सर्वनाम का प्रयोग करके लेखक स्थान-स्थान पर स्वानुभूतियों को उपन्यस्त करके निबन्ध को कलेवर देता है। शुक्ल जी ने भी अपने निबन्धों में अनेक स्थलों पर 'मैं' सर्वनाम द्वारा स्वानुभूति या स्वमत प्रकाशन की शैली स्वीकार की है। शुद्ध आत्माभिव्यक्ति का स्वरूप विषय से दूर मन की तरंग में बह कर वर्णन करना मात्र है जो शुक्ल जी को कभी ग्राह्य नहीं हुआ। अतः प्रथम पुरुष 'मैं' शब्द के प्रयोग से इन निबन्धों को व्यक्ति-प्रधान ठहरा देने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए। प्रथम पुरुष में वैयक्तिक घटनाओं का वर्णन या स्वमत प्रकाशन के कतिपय प्रसंगों का संकेत हम चिन्तामणि के निबन्धों में कर सकते हैं—

"एक दिन मैं काशी की एक गली से जा रहा था। एक ठठेरे की दूकान पर कुछ परदेशी यात्री किसी बरतन का मोल-भाव कर रहे थे और कह रहे थे कि इतना नहीं—इतना लो तो लें। इतने ही में सौभाग्यवश दूकानदार जी को ब्रह्मज्ञानियों के वाक्य याद आगये और उन्होंने चट कहा—'माया छोड़ो और इसे ले लो। 'सोचिए तो, काशी ऐसा पुण्य-क्षेत्र। यहाँ न माया छोड़ी जायगी तो कहाँ छोड़ी जायगी।"

—चिन्तामणि भाग १, पृ० २८

'एक बार मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते-फूँकते थक गये। जब आग

न जली तब उस पर कोप करके चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गये। इस प्रकार का क्रोध अपरिष्कृत है।'
—चिन्तामणि भाग १, पृ० १३५

'मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया।...वसन्त का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।' इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोक कर कहा, 'यहाँ महुए-महुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।' मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।''
—चिन्तामणि भाग १, पृ० ७८

''मिलकर कोई कार्य करने से उसका साधन अधिक या सुगम होता है, यह बताना 'पर उपदेश कुशल नीतिज्ञों' का काम है, मेरे विचार का विषय नहीं। मेरा उद्देश्य तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की छानबीन है जो निश्चयात्मिका वृत्ति से भिन्न है।''
—चिन्तामणि भाग १, पृ०७९

उल्लिखित चारों उद्धरणों में लेखक ने प्रथमपुरुष एकवचन सर्वनाम 'मैं' द्वारा भावाभिव्यक्ति की है। इन प्रसंगों में प्रथमपुरुष का प्रयोग किसी घटना-विशेष की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट कर मूल विषय के प्रतिपाद्य के साथ उसे संयुक्त करना है। वे स्वानुभूतिपरक घटनाएँ केवल आत्माभिव्यंजन के उद्देश्य से नहीं लिखी गयी हैं, अतः इस प्रकार के पाँच-दस प्रसंगों के आधार पर निबन्धों को व्यक्ति-प्रधान नहीं ठहराया जा सकता।

संक्षेप में, इन निबन्धों में विषय-प्राधान्य होने पर भी विद्वान्-लेखक ने व्यक्तिगत शैली और यथास्थान उदाहरण, दृष्टान्त आदि द्वारा व्यक्तित्व का ऐसा सुन्दर समावेश किया है कि हम लेखक के व्यक्तित्व का क्षण भर के लिए भी विसर्जन नहीं कर पाते। विषय और व्यक्तित्व के समीचीन समन्वय से ही इन निबन्धों की रचना हुई है, किन्तु केवल व्यक्तिगत अनुभूति, मान्यता या अभिरुचि के आधार पर विषय-प्रतिपादन नहीं किया है। व्यक्तित्व का समावेश विषय का सहायक और समर्थक है, स्वतन्त्र रूप से निबन्ध का अधिष्ठान उसमें नहीं है।

साहित्य-सिद्धान्त

शुक्ल जी ने समीक्षा-शास्त्र के कतिपय गूढ़-गंभीर प्रश्न पर विचार करने के लिए फुटकर निबन्ध लिखे हैं, जिनमें से चिन्तामणि (प्रथम भाग) में चार निबन्ध संकलित हैं। इनमें से प्रथम निबन्ध 'कविता क्या है' एक ऐसा विशद व्यापक निबन्ध है जो शुक्ल जी की विविध मान्यताओं का एक साथ परिचय करा देता है। इस निबन्ध में शुक्ल जी ने अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं के साथ शाश्वत सत्य के उद्घाटन का प्रयास किया है जो कविता के स्वरूप-निर्धारण में सार्वजनिक रूप से स्वीकृत होते हैं। व्यक्तिगत मान्यताएँ भी सर्वथा एकांगी और अग्राह्य नहीं हैं। हाँ, उनमें किसी-किसी स्थल पर मतभेद सम्भव है। जैसे काव्य और सूक्ति का भेद करते हुए शुक्ल जी ने जो अभिमत प्रकट किया है वह

अन्तिम व्यवस्था नहीं हो सकती। सूक्ति और काव्य भेद को स्पष्ट करने के लिए जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें मतभेद की पूरी गुंजाइश है। सिद्धान्त, प्रतिपादन के लिए अपेक्षित वाक्ययोजना करते हुए लेखक ने बार-बार एक ही मन्तव्य पर चोट की है जैसे वह पाठक के अन्तर में उस सिद्धान्त को 'अंकित करने के लिए कटिबद्ध हो। काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह सिद्धान्त एक ही निबन्ध में घुमा-फिरा कर तीन बार दुहराया गया है। इन निबन्धों में शुक्ल जी ने भारतीय दर्शन, इतिहास, पुराण और काव्य-शास्त्रादि से उपयुक्त सामग्री का चयन किया है। इसके साथ ही, भारतीय दृष्टिकोण से उन्होंने देश, जाति, धर्म और संस्कृति का अवगाहन भी किया है। मेघदूत का प्रसंग आने पर वे उसे भारत-भूमि के स्वरूप का मधुर ध्यान कहकर देशप्रेम का प्रतीक मानते हैं। उनकी दृष्टि से यह काव्य प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूपमाधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि है।

काव्य को व्यवहार के साथ तथा मनुष्यता की उच्च भूमि के साथ जोड़ने की शैली में शुक्ल जी ने अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। इसी प्रकार भावना और कल्पना के प्रसंग में भी कल्पना के आतिशय्य का विरोध करते हुए भावना अर्थात् भाव-वस्तु की प्रधानता स्वीकार की है। सौन्दर्य, चमत्कारवाद, मनोरञ्जन, कविता की भाषा आदि प्रसंगों पर विचार व्यक्त करते समय शुक्ल जी ने बड़ी स्पष्टता तथा प्रखरता से काम लिया है।

'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' शीर्षक निबन्ध शैली की दृष्टि से बहुत ही पुष्ट निबन्ध है। लोक-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर काव्य लिखने वाले कवियों तथा सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर काव्यरचना करने वाले कवियों का भेद-प्रदर्शन इस निबन्ध का मूलाधार है। अपने मन्तव्य की स्थापना में शुक्ल जी ने तर्क, प्रमाण और युक्ति का जो कोटिक्रम रखा है, वह पाठक को एक बार तो प्रभावित कर ही लेता है। हो सकता है सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले कवियों को भी उत्तम कोटि का कवि समझा जाय किन्तु शुक्ल जी की विचार-परम्परा का सामान्य रूप से प्रत्येक पाठक अनुगमन करता ही है। इस निबन्ध में भारतीय महाकाव्य-परम्परा को शुक्ल जी ने साधनावस्था की उत्कृष्ट रचना ठहराया है। सिद्धान्त-प्रतिपादन की शैली यहाँ भी आगमन और निगमन दोनों पद्धतियों पर आधृत है। भावों की छानबीन करने पर मंगल का विधान करने वाली दो वृत्तियाँ आपने स्थिर की हैं--करुणा और प्रेम। 'करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजना की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है, रंजन का अवसर पीछे आता है।' इस सिद्धान्त को शुक्ल जी ने अनेक युक्तियों से पाठक के अन्तर्मन में उतारने का सफल प्रयास किया है।

'साधारणीकरण' और 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' शुक्ल जी का गम्भीर सैद्धान्तिक निबन्ध है, जिसमें साधारणीकरण की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। इस निबन्ध के दो भाग हैं— व्यक्ति-वैचित्र्य वाले दूसरे भाग में लेखक ने उन पाश्चात्य-वादों की निस्सारता दिखायी

है जो समष्टि की उपेक्षा करके व्यष्टि-सीमा तक ही विनोद या क्षणिक रंजन में विश्वास करके निश्चिन्त होते हैं। बिम्बग्रहण वाली बात पर इस निबंध में पर्याप्त बल दिया गया है। निबंध की शैली शास्त्रीय विचार-चिन्तन की है। शब्दावली में यद्यपि कुछ क्लिष्टता दृष्टिगत होती है, किन्तु ऐसे गंभीर विषय पर कामचलाऊ पदावली का प्रयोग सम्भव भी नहीं है। हिन्दी में साधारणीकरण को सबसे पहली बार इस निबंध द्वारा शास्त्रीय विवेचन का रूप मिला है। अतः जो शास्त्र-सिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित हैं, उन्हें इनमें क्लिष्टता प्रतीत हो तो लेखक का इसमें दोष नहीं समझा जाना चाहिए।

'रसात्मक बोध के विविध रूप' शुक्ल जी के मौलिक चिन्तन से प्रसूत विचार-पूर्ण निबंध है। इसमें प्रत्यक्ष रूप-विधान तथा उसके द्वारा रसात्मक प्रतीति का विधान शुक्ल जी ने किस आधार पर सिद्ध किया है, इसका प्रामाणिक शास्त्रीय आधार भले ही न मिले, किन्तु लेखक की शैली में इतना बल है कि उसे अस्वीकार करते नहीं बनता। कल्पना और स्मृतियों का व्यावर्तन करते हुए लीन करने वाली मर्मस्पर्शी स्मृतियों को लेखक ने काव्य की अमूल्य निधि ठहराया है।

यथार्थ में इन निबंधों का उद्देश्य ही शास्त्रीय सिद्धान्तों का बौद्धिक आधार पर विवेचन करना है। जिस रूप में शुक्ल जी ने इन शास्त्रीय विषयों को देखा, परखा और समझा है, उसी रूप में सामान्य पाठक के लिए प्रस्तुत करना उनका लक्ष्य रहा है। इन निबंधों की शैली ने जो मानदंड स्थिर किये, उनका अनुगमन परवर्ती काल में दो तीन लेखक ही कर सके। किन्तु इनके द्वारा शास्त्रीय चिन्तन की परिपाटी स्थिर हुई, विचारविमर्श के लिए उपयुक्त शब्द, वाक्य और अभिव्यञ्जना-शैली उपलब्ध हुई। निबंधों द्वारा समीक्षा और सिद्धान्त-प्रतिपादन का मार्ग उन्मुक्त हुआ, यही इनकी सबसे बड़ी देन है। इस दिशा में विषय-वस्तु के प्रतिपादन के साथ अभिव्यञ्जना की शैली का भी बड़ा महत्त्व मानना होगा।

ए-५।३, राणाप्रताप बाग,
दिल्ली-७

●

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और परवर्ती हिन्दी आलोचना

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

⊙

पं० रामचन्द्र शुक्ल सर्ववादिसम्मत आचार्य थे। आचार्य 'सत्य' का साक्षात्कार करता है और साक्षात्कृत सत्य के अनुरूप अपने राष्ट्र के प्रतिष्ठित वाङ्मय के साक्ष्य पर अपना प्रस्थान निरूपित करता है। आचार्य शुक्ल ने अपने युग के सत्य का साक्षात्कार किया था और वह युग सत्य है—मानवता ही ईश्वर है और समाज सेवा धर्म। शुक्ल जी का केन्द्र यही 'मानवता' है। यदि जगत् रक्षक, रञ्जक और पालक का नाम ईश्वर है, तो उसकी अभिव्यक्ति की संभावना मानव में है। यह मानवता मनुष्य में विकसित चेतना की अवदात संभावना है, जो विकासक्रम में निम्नस्तरीय जीवों की भूमिका पर अव्यक्त थी। जिस युग-सत्य को शुक्ल जी की मृत्यु के दो वर्ष बाद नेहरू जी घोषित कर रहे हैं—उसे केन्द्र में रखकर एक विराट् प्रस्थान की रचना आचार्य शुक्ल ने पहले ही कर दी है। नेहरू जी कहते हैं—

"The modern mind is to say the better type of the modern mind is practical and pragmatic ethical and social betterment. The ideals which move it represent the spirit of the age, zeitgist, the Yugdharm. It has discarded to a large extent the philosophical approach of the ancients, their search for ultimate reaching, as well as the devotionalism and mysticism of the medieval period. Huminity is its God and social services its religion."

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सन् ४० में ही नहीं, उसके बाद तक यही आक्षेप कर रहे थे कि शुक्ल जी के पीछे न तो पौरस्त्य और पाश्चात्यदर्शन की संगत पीठिका है और न ही ठोस ऐतिहासिक आधार। यद्यपि वाजपेयी जी यह स्वीकार करते हैं कि "साम्प्रदायिक और परम्परागत विवेचन-पद्धति से छुटकारा देने और एक व्यापक मानव दृष्टिकोण का संस्थापन करने में शुक्ल जी समर्थ हुए।" शुक्ल जी का समस्त कार्य नवयुग के सच्चे साहित्याचार्य का कार्य है। दूसरी ओर शुक्ल जी की 'चिन्तामणि' को 'मञ्जूषा' में सँजोकर रखनेवाले

वाजपेयी जी की अपेक्षा 'परम्परा' से कहीं अधिक जुड़े हुए आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र कहते हैं—'वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः' की नीति से कुछ कहना दूसरी बात है और शुक्ल जी की धारणा को समझने और पूरा-पूरा हृदयंगम कर लेने के अनन्तर उसका खण्डन करना दूसरी बात। मिश्र जी शुक्ल जी से प्रभावित ही नहीं, अभिभूत हैं। इसीलिए उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया—"उन्होंने (शुक्ल जी ने) पारस्परिक विचारधारा की पकड़ से अपना विच्छेद नहीं होने दिया।" तीसरी ओर प्रगतिवादियों और रीति या शास्त्रीयवादियों के आक्रमण से क्षुब्ध प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा ने उनकी पक्षधरता करते हुए बड़े-बड़े शुक्ल-विरोधी महारथियों को धराशायी कर दिया है। लौह-पुरुष शुक्ल जी पर सर्वाधिक सांघातिक प्रहार करने वाले वाजपेयी जी ने एक बात विरोध में कहते हुए भी अनजाने अनुकूल कह दी और वह यह कि 'अनुसंधान के विभिन्न विषयों को एक-दूसरे से पृथक् मानकर उनमें अलग-अलग दृष्टियों से प्रवेश करना शुक्ल जी को अभीष्ट न था।' सचमुच उन्हें यह अभीष्ट नहीं था। उनका केन्द्रविन्दु एक था और वह है—'मानवता—सात्विक अवदात मनोदशा—मानव का स्वभाव'। इसी को केन्द्र में रखकर उनका व्यवहार-प्रस्थान, काव्यप्रस्थान और भक्तिप्रस्थान प्रस्थापित हुआ है। भारतीय परम्परा में भी 'स्वभाव' को केन्द्र में रखकर व्यावहारिक, पारमार्थिक तथा काव्यात्मक प्रस्थान का विवेचन किया गया है और तीनों की सार्थकता या चरितार्थता उसकी ही उपलब्धि में मानी है। शुक्ल जी मानव-स्वभाव की व्याख्या 'लोक' के संदर्भ में करते हैं जबकि परम्परा 'परलोक' के संदर्भ में करती है—यह बात अलग है कि उसकी 'सामान्य' और 'विशेष व्यवस्था' लोकहित को आत्मसात् करती है। परम्परा 'स्व-भाव' की व्याख्या आत्मवाद के आलोक में करती है, जबकि शुक्ल जी 'विकासवाद' के आलोक में। विकासवाद का आलम्बन लेकर भी शुक्ल जी डार्विन के योग्यतमावशेष की मान्यता कम से कम मानवस्तर पर विकसित चेतना में तो नहीं ही मानते, विपरीत इसके स्पेंसर की 'परस्पर साहाय्यवृत्ति' की बात मानते हैं। वस्तुतः वे विश्वात्मा की प्रेरणा भी उसके पीछे निहित मानते हैं। वे 'मानव-भाव' में परार्थता की लोकव्यापी संभावना स्वीकार करते हैं। शुक्ल जी का साध्य व्यवहार का सौन्दर्य है, विरुद्धों का सामञ्जस्य है। मानवता की ईश्वरत्व पर्यवसायिनी क्षात्रकला का पूर्ण प्रस्फुटन व्यक्त जगत् के बीच ही होता है। व्यवहार वही व्यवहार है जो इसी भूमि से प्रेरित हो, काव्य वही काव्य है जो उसी मानवता की भूमि से प्रस्फुटित होकर उसी भूमि पर पहुँचा दे और लोकमंगलोपयोगी कर्त्तव्य में लगा दे। इस मानवीय उदात्त मनोदशा जो रस दशा है, जो लोक और काव्य का अन्तर नहीं जानती—से प्रेरित कर्म ही धर्म है और उसी की रसात्मक अनुभूति भक्ति है। शुक्ल जी की भक्ति लोकधर्म का हृदय है। उनका भक्तिरस काव्यरस की तरह प्राकृत मनोभूमि का ही है, वह अति प्राकृत और रहस्यमय नहीं है। निष्कर्ष यह कि व्यवहार, काव्य और भक्ति तीनों प्रस्थानों का गन्तव्य मानव स्वभाव—मानवता की उपलब्धि ही है। इस प्रस्थापना में भारतीय चेतना काम कर रही है। भारतीयता की ओर झुकाव होने के ही कारण अपनी मानवता की पुष्टि के लिए वे भारतीय वाङ्मय का साक्ष्य

भी देते चलते हैं, पर उसमें धारणा अपनी भरते हैं। परम्परा व्यवहारकाव्य तथा परमार्थ सर्वत्र 'विश्रान्ति' चाहती है—शुक्ल जी 'कर्त्तव्य' के पक्षधर हैं। इसीलिए परम्परा जहाँ रस को आत्मवादी दर्शन के आलोक में संविद् विश्रान्ति कहना चाहती है, वहाँ शुक्ल जी वैज्ञानिक परिवेश में 'रस' को कर्त्तव्यरत होने में साधन मानते हैं।' इस दृष्टि से आप उन्हें प्रतिबद्ध चिन्तक भी कह सकते हैं। एक तरफ 'हमारे यहाँ'—'हमारे यहाँ' की भावना से वे भारतीय चेतना से संपृक्त लक्षित होते हैं, पर दूसरी ओर वे परम्परा से अपना प्रस्थान पृथक् भी कर लेते हैं—'इसीलिए वे एक स्वतंत्र परम्परा के प्रस्थापक आचार्य प्रतीत होते हैं। भारतीय परम्परा इस प्रवृत्ति की साक्षी है कि वह शब्दावली परम्परा से ही लेती है, पर अर्थ अपना भरती है। 'आशय' का अर्थ 'वासना' पातञ्जलधारा अपने ढंग से करती है। 'अनुग्रह' और 'कृपा' में तुलसी अर्थभेद करते हैं। अभिप्राय यह कि शुक्ल जी परम्परागत धर्म, दर्शन और काव्यशास्त्र की शब्दावली तो लेते हैं पर युगसत्य के अनुरूप 'दर्शन', 'जीवनदर्शन' अथवा 'काव्य-दर्शन' का निर्माण करते हुए उसमें अर्थ अपना भरते हैं।

(क) '**दर्शन**—शुक्ल जी मूलसत्ता का प्रश्न उठाते हैं और कहते हैं कि "जगत् के विषय में दो प्रकार की जिज्ञासा हो सकती है—यह जगत् क्या है अर्थात् इसकी मूलसत्ता किस प्रकार की है ? दूसरे जगत् के नाना व्यापार किस प्रकार होते हैं ? उस गति का विधान क्या है, जिसके अनुसार नाना पदार्थ अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुए हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि विकास-सिद्धान्त का संबंध असल में दूसरे प्रश्न से है। सत्ता की मीमांसा विकास का विषय नहीं है।" विकासवाद की सीमा बताते हुए शुक्ल जी कहते हैं—"वह केवल गोचर व्यापारों की पूर्वापर परम्परा दिखाता है—ये सब व्यापार किसके हैं, वस्तु या सत्ता का शुद्ध (इन्द्रिय निरपेक्ष) स्वरूप क्या है, यह वह नहीं बताता। वह केवल तटस्थ लक्षण कहता है, स्वरूप लक्षण नहीं। अतः सत्ता के विवेचन के लिए विज्ञान के क्षेत्र से निकल कर पराविद्या या शुद्ध दर्शन की ओर आना पड़ता है।" वे मानते हैं कि भेदों में अभेददृष्टि की सच्ची तत्त्वदृष्टि है। जो चिन्तक अभेद के जितना ही नजदीक पहुँचता है, वह 'सत्ता' के उतना ही पास पहुँचता है। अभेद पक्ष में भी दो संभावनाएँ हैं—पदार्थ सत्व है, चेतना उसकी विकृति है या चेतना प्रकृति है, पदार्थ या भौतिकता उसकी परिणति है। इस विन्दु पर पहुँच कर शुक्ल जी लिखते हैं—"यदि चैतन्य की नित्यसत्ता सर्वमान्य हो गयी तो फिर सब मतों की भावना का समर्थन हुआ समझिए।" 'विश्वप्रपंच' की भूमिका का समापन धर्माचार्यों के पक्षधर प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर आलिवर लाज के व्याख्यान से लिये गये लम्बे उद्धरण से अपना आन्तरिक झुकाव आत्मवाद की ओर ध्वनित करते हैं। प्रो० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का मत है कि शुक्ल जी आत्मवाद के प्रति दृढ़ विश्वासी थे और उसी पर आधारित सामाजिक व्यवस्था (लोकधर्म) के पक्ष में इन्होंने सर्वत्र अपना मत व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त वे मानते हैं कि 'अव्यक्त' की अभिव्यक्ति जगत् है और जगत् की अभिव्यक्ति कविता। वे कविता और भक्ति की बात करते हुए कहते हैं—

'धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्वस्थिति में मिलता है।' इसी क्रम में वे स्वीकार करते हैं—'सत्, चित् और आनन्द—ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्तिमार्ग 'आनन्द' स्वरूप को लेकर चले। साधनावस्था और सिद्धावस्था—इसकी अभिव्यक्ति की लोक में दो अवस्थाएँ हैं। इसी तरह वे यह भी मानते हैं कि भीतर का चित् बाहर सदंश की पूर्ण अभिव्यक्ति का साक्षात्कार करता है तब आनन्दमग्न हो उठता है। 'परस्पर साहाय्य (स्पेंसर) के जो व्यापक उद्देश्य हैं, उनको धारण करने वाला मनुष्य का छोटा-सा अंतःकरण नहीं, विश्वात्मा है। (करुणा) इन सब विवेचनों से उनका आत्मवाद की ओर उन्मुख अवचेतन स्पष्ट झलकता है—यद्यपि सचेतन बुद्धिवाद की भूमि पर वे आत्मवाद की सीमाओं का भी संकेत देते हैं और व्यावसायात्मिका बुद्धि से परे स्वानुभूति या 'इण्ट्यूशन' का भी तटस्थ इजहार करते हैं।

(ii) दूसरी ओर डॉ० रामविलास शर्मा उनके दार्शनिक दृष्टिकोण को मूलतः वस्तुवादी कहना चाहते हैं। वे कहते हैं—'विश्वात्मवाद उनके साहित्यशास्त्र की मूलधारा नहीं है। वह एक ओर संसार की भौतिकता पर जोर देते हैं और ज्ञान को भौतिक जीवन से ही उत्पन्न मानते हैं। दूसरी ओर वह विश्व-आत्मा और भौतिक जगत् में व्यक्त होने वाले ब्रह्म की बात कहते हैं—उनके विचारों में यह एक असंगति है।

(iii) तीसरी ओर डॉ० रामचन्द्र तिवारी का मत है कि शुक्ल जी आत्मवाद और भूतवाद दोनों की ओर झुकते हुए भी दोनों की सीमाओं का स्पष्ट उल्लेख करते हैं—फलतः वे बुद्धिवादी हैं। साथ ही, नलिनविलोचन शर्मा का साक्ष्य देते हुए उनके चिन्तन को 'विधेयवादी' भी समझे जाने का प्रस्ताव करते हैं।

(iv) चौथी ओर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी हैं, जिनका निष्कर्ष है कि द्विवेदीयुग के प्रतीक जिस आदर्शात्मक बुद्धिवाद को शुक्ल जी ने पराकाष्ठा पर पहुँचाया है, उसके लिए उन्होंने एक दार्शनिक नींव भी तैयार की है, पर वह कच्ची है। उनके शब्दों में शुक्ल जी का विवेचन या तो प्राचीन दार्शनिक पद्धति का अनुसरण करता है और न वे उस प्रकार के सांस्कृतिक समाजशास्त्री अध्ययन में प्रवृत्त हुए हैं जो आज की आलोचना में आवश्यक है।" वाजपेयी जी ने शुक्ल सम्मत 'प्रवृत्ति' की अवधारणा के पीछे 'स्पिनोजा' की निरन्तर गतिशील प्रवृत्ति का निर्धारण किया है, पर उसके भी आत्यंतिक निर्वाह में असंगति लक्षित की है।

इस प्रकार जहाँ तक शुक्ल जी की मूल दृष्टि का संबंध है, परवर्ती हिन्दी आलोचना में तरह-तरह के मत मिलते हैं। मेरी मान्यता यह है कि शुक्ल जी के जिस व्यक्तित्व का प्रस्फुटन उनका समस्त लेखन है, वह दो प्रकार का है—जन्मजात संस्कारसम्पन्न और अर्जित। पहले रूप में वे एक सच्ची भारतीय ब्रह्मविभूति हैं, जिसका झुकाव आत्मवाद की ओर है और दूसरा स्पष्ट ही बुद्धिवादी है, जो 'व्यक्त' की विकासवादी व्याख्या में औचित्य देखता है—इसके कारण असंगति या अन्तर्विरोध झलक सकता है। जहाँ तक विधेयवाद का संबंध है, नलिन जी ने उसका उल्लेख इतिहास-लेखन की एक प्रणाली विशेष के रूप

में किया है जिसकी अन्तर्व्याप्ति मान्यता उन्हीं के शब्दों में यह है—"साहित्य की व्याख्या भौतिक विज्ञानों की प्रणालियों से, कार्यकारण मीमांसा के द्वारा और बहिर्भूत निर्धारक शक्तियों को ध्यान में रखते हुए होनी चाहिए।" वैसे काण्टे का एक दर्शन भी है—विधेयवादी। इसमें चरमसत्ता को अबुद्धिगम्य माना जाता है, फलतः उधर मूड़ मारना व्यर्थ है। विज्ञान का सत्य ही सत्य है और विज्ञानों में उपयोगी है—समाजविज्ञान। इस स्थिति में मानव की सेवा ही जीवन का चरम लक्ष्य है और इसके लिए विज्ञान के सिद्धान्तों का अनुशीलन ही विचारकों का कर्त्तव्य है। इस प्रकार प्रणाली के अर्थ वाले विधेयवाद का दृष्टि-निर्धारण में कोई रेखाङ्कनीय स्थिति नहीं है, पर एक दर्शन के अर्थ में उसकी ओर शुक्ल जी का झुकाव कथञ्चित् माना जा सकता है, पर इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए कि शुक्ल जी मूलसत्ता को पराविद्या या दर्शन का विषय मानते हैं जबकि विधेयवाद अबुद्धिगम्य होने से स्पष्ट निषेध करता है। फलतः उन्हें पूर्णतया विधेयवादी कहना सुविचारित नहीं। रहा वस्तुवाद! इस संबंध में रामविलास जी का अभिमत है कि भौतिकवाद की ओर झुकाव होने पर भी शुक्ल जी को सुसंगत भौतिकवादी नहीं कहा जा सकता। दार्शनिक दृष्टिकोण से उनका विकासवाद भी कुछ डारविन का और कुछ अपने ढंग का भी है, जिसका प्रमाण धर्म और भक्ति का विकास है। जहाँ तक स्पिनोजा का संबंध रहा है, उसकी मान्यताओं के आलोक में शुक्ल-सम्मत 'प्रवृत्ति' की व्याख्या की बात है—जगत् को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता मानने वाले शुक्ल जी की चिन्तनभूमि स्पष्ट ही भिन्न है। स्पिनोजा का Substance सविशेष है, उसमें गति और बोध दो गुण हैं, जिनसे भौतिक और मानसिक व्यापार निष्पन्न होते हैं। शुक्ल जी अव्यक्त ब्रह्म की व्यक्त प्रवृत्ति को सदसदात्मक या त्रिगुणात्मक मानते हैं। अतः प्रवृत्ति के साथ अवरोधात्मक निवृत्ति संभव है। अतः यह आक्षेप कि जहाँ एक मात्र प्रगति ही, प्रवृत्ति ही तत्त्व हो वहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए स्थान कहाँ? यह संगत भी नहीं है। अव्यक्त की सद् रूप में अभिव्यक्ति असत्-सापेक्ष ही होगी।

निष्कर्ष यह कि इस 'दर्शन' के बिंदु पर तो मैं यहाँ इतना ही कहना चाहता हूँ कि शुक्ल जी के समग्र व्यक्तित्व के घटकों—जन्मजात और अर्जित के कारण संस्कार और चिंतन के स्तरों पर परस्पर अन्तर्विरोध झलक सकता है, परन्तु उन्होंने अपना एक नवीन दर्शन दिया है जिसमें यहाँ-वहाँ के विचारों का रासायनीकरण है यही उनकी स्थापना है। यहाँ-वहाँ में बाँटकर उनके चिन्तक व्यक्तित्व का विभाजन करने की जगह एक नवीन संगतरूप उभारना कहीं संगत होगा, जैसा कि हम आगे देखेंगे। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शुक्ल जी गोस्वामी तुलसीदास के दर्शन के विषय में परमार्थतः अद्वैतवादी और व्यवहारतः द्वैतवादी की बात करते हैं, उसी प्रकार उनके विषय में भी कहा जा सकता है कि वे भी परमार्थतः अव्यक्तवादी और व्यवहारतः व्यक्तवादी हैं। इस स्थिति के पीछे उनका बुद्धिवाद है।

(ख) जीवन-दर्शन—अव्यक्त के पक्षधर होते हुए भी शुक्ल जी 'व्यक्त' को ही व्यवहार-काव्य और भक्ति की भूमि मानते हैं—व्यवहार का सौन्दर्य ही उनका साध्य है। व्यवहार का यह

सौन्दर्य विरुद्धों---सत् तथा असत् का सामञ्जस्य है। विरोध सत् और असत् के बीच है और ये दोनों पक्ष अव्यक्त की व्यक्तावस्था में सहज है, जैसे सदंश की अभिव्यक्ति धर्म है वैसे ही असदंश की अधर्म। 'सत्' की स्थिति 'असत्' के बिना संभव ही नहीं है। वे कहते हैं कि "पारमार्थिक दृष्टि से तो सारा जगत् राममय है, पर व्यावहारिक दृष्टि से उसके राम और रावण दो पक्ष हैं। अपने प्रकाश के लिए मानो राम ने ही रावण का असत् रूप खड़ा किया है।" अपने जीवनदर्शनोपयोगी 'दर्शन' को स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी कहते हैं---"जबकि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् में आदि से अंत तक सत्व, रजस् और तमस् तीनों गुण रहेंगे, तब समष्टिरूप में लोक के बीच मंगल का विधान करने वाली ब्रह्म की आनंदकला की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण---दोनों सत्व गुणों के अधीन रहकर उसके इशारे पर काम करें।" इन पंक्तियों में स्पष्ट भारतीय प्रभाव बोल रहा है। इसी परमार्थ-दर्शन पर उनका 'लोकधर्म' नामक व्यावहारिक जीवन-दर्शन टिका हुआ है।

अव्यक्त की व्यक्तावस्था ही लोक है, उसी की तरह यह भी निःसीम सत्य किन्तु प्रवाह नित्य है। उनकी दृष्टि में जागतिक क्रियाकलाप मात्र की बीजभूता शक्ति अव्यक्त ब्रह्म में ही समवेत है कि वा उसकी भानु-प्रभा की भाँति स्वरूपशक्ति ही है। लोक उसी का रूपान्तरण है। इस लोक को धारण करने वाला तत्व ही 'धर्म' है। वे स्पष्ट कहते हैं---"लोक-व्यवहार और समाज-विकास की दृष्टि से ही धर्म और आचार की व्याख्या की गयी है। परलोक और अध्यात्म की दृष्टि से नहीं। धर्म का विकास धीरे-धीरे समाज की उन्नति के साथ हुआ है। अतः विकासवादियों के अनुसार इहलोक या समाज से परे धर्म कोई नित्य या स्वतः प्रमाण पदार्थ नहीं है।" साथ ही, शुक्ल जी यह भी मानते हैं कि विश्व की ओर और संस्कृतियों में 'सामान्य धर्म' की ही चर्चा हुई है, पर भारत की सरस्वती और दृषद्वती नदियों के तट पर 'विशेषधर्म' के रूप में जिस आर्यशास्त्रानुमोदित 'वर्णाश्रमधर्म' की उद्भावना हुई, वह समाज-धारक थी, उसमें बुद्धि, बल, अर्थ और सेवा सबकी व्यवस्था थी, कर्म के साथ ज्ञान और उपासना का समन्वय था। इस धर्म में लोकमंगल में आत्ममंगल समाविष्ट था। इस साधना में कहीं भी गुह्यता नहीं थी। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, शुक्ल जी व्यवहार की सर्वोत्तम उपलब्धि मानवता या मानव के स्व-भाव की उपलब्धि, इसी गोचर-जगत् में मानते हैं। यह मानव-स्तर पर विकसित चेतना है जिसकी राग और बोधात्मक दोनों शक्तियाँ विश्व को विषय कर चरितार्थ होती हैं। एक ओर बोध 'सर्व' तक प्रसृत और दूसरी ओर राग अपनी सात्विकता में लोक की स्थिति, रक्षण तथा रञ्जन की उपयोगिता के अनुरूप विश्वव्यापी हो जाय। शुक्ल जी का लोकधर्म एकांगी नहीं है, वह प्रकृति-प्रदत्त उग्र और कोमल उभयविध-वृत्तियों से अत्याचार का दमन और सदाचार का संवर्धन करता है।

हिन्दी की परवर्ती समीक्षा में शुक्ल जी के इस 'लोकधर्म' पर भी जमकर प्रहार किया गया। सर्वाधिक तमतमाया हुआ और सांघातिक प्रहार आचार्य वाजपेयी का है।

उन्होंने कहा है कि यह आपात रमणीय जीवनदर्शन विचार करने पर नितान्त आधारहीन, परम्पराविरुद्ध, असंगत और सही कहें तो न घर का है न घाट का—न पूरब का न पश्चिम का, न प्राचीन, न ही अर्वाचीन। प्रगतिवादियों में अनेक विरोधी विद्वानों का उल्लेख डॉ० रामविलास जी ने किया है। इन विद्वानों को शुक्ल-सम्मत लोकधर्म में रूढ़िवाद, ब्राह्मणवाद, एकांगी समाजशास्त्रीयता, मध्यवर्गीय और मध्यकालीन संस्कृति—न जाने क्या-क्या दिखायी पड़ा है। डॉ० शर्मा ने रीतिशास्त्रियों और यशपाल, नामवर सिंह, रांगेयराघव, प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रभृति प्रगतिवादियों तथा शिवनाथ आदि समीक्षकों के आक्षेपों का उत्तर जमकर दिया है—उन्हें केवल शुक्ल जी का सबसे कमजोर पक्ष वह दिखायी पड़ा है जहाँ उन्होंने लोक-धर्मविरोधी कबीर की आलोचना करते-करते रूसी व्यवस्था और लेनिन के प्रति अपनी हिकारत व्यक्त की है।

डॉ० रामविलास शर्मा ने 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' तथा डॉ० नामवर सिंह ने 'दूसरी परम्परा की खोज' में आचार्य द्विवेदी और आचार्य शुक्ल को आमने-सामने रखकर 'लोकधर्म' के संदर्भ में परस्पर विरोधी मान्यताएँ व्यक्त की हैं। जहाँ डॉ० शर्मा द्विवेदी जी की लत-मलामत करते हैं, वहाँ नामवर सिंह शुक्ल जी की। 'लोकधर्म' शब्द का प्रयोग द्विवेदी जी भी करते हैं और शुक्ल जी भी, पर दोनों ने इस शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ दिये हैं। डॉ० नामवर सिंह कहते हैं—"इस प्रकार 'लोकधर्म' साधारणजनों के विद्रोह की विचारधारा है।" ऐसा मानने के मूल में दो कारण दिये गये हैं—पहला यह कि यह उच्च वर्गों के शास्त्र के समान सूक्ष्मातिसूक्ष्म तर्कपद्धति से सम्पन्न तथा व्यापक विश्वदृष्टि के रूप में विकसित कोई सुसंगत और सुव्यवस्थित 'विचार प्रणाली' नहीं है और दूसरा यह कि यह पूँजीवादी समाज के बीच निर्मित किसी एक सुनिश्चित वर्गचेतना की विचारप्रणाली नहीं, बल्कि सामन्ती-युग के असंगठित किसानों और दस्तकारों के विभिन्न वर्गों-उपवर्गों की मिली-जुली भावनाओं के पुञ्ज हैं। उनकी दृष्टि में शास्त्रवंचित विविध दलित जातियों और जनसमूह की मानसिक अभिव्यक्ति होने के कारण इस 'लोकधर्म' का अव्यवस्थित और अनिश्चित होना अनिवार्य है और इसलिए उच्च-वर्गों के शास्त्र की तुलना में वह हीनतर भी प्रतीत हो सकता है; किन्तु सिर्फ इसीलिए वह महत्त्वहीन नहीं हो जाता। वास्तव में द्विवेदी जी साधारण जन द्वारा गृहीत 'शास्त्र-असम्मत' निम्नगामी टोना-टोटका, जादू-मंतर को जब निकृष्ट 'लोकधर्म' कहते हैं, तब ठीक ही कहते हैं। अपकर्ष और उत्कर्ष विरोधी हैं—केवल भिन्न नहीं। द्विवेदी जी जिस 'लोकधर्म' को उत्कृष्ट कहते हैं, वह 'लोक-गृहीत धर्म'—साधारण में छिपी हुई 'असाधारणता का धर्म' है। दोनों (लोक) को एक कहना ठीक नहीं। द्विवेदी जी विद्वैतवादी हैं और मानते हैं कि जब अर्जित शास्त्रीयता यथास्थितिवादियों द्वारा 'समष्टिमानस' के माध्यम से विकसित ऊर्ध्वगामी 'सहज चेतना' का अवरोध बनने लगती है, तब वह उसे तोड़ती है, पर यह काम किसी महाप्राण 'लोक' या 'जन' से होता है, दलित या शोषित 'भीड़' से नहीं। शुक्ल जी भी कभी 'लोक' को तुलसी के शब्दों में 'भेंड़ की धंसनि' कह कर गर्हित भी कहते हैं और

कभी 'लोक' को 'राममय' कहकर अभ्यर्हित भी। दोनों प्रकार के 'साधारणजन' को एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता। द्विवेदी जी पर यह आरोपितमत है। यह अवश्य है कि द्विवेदी जी का यह 'लोकधर्म' शुक्ल जी की 'व्यक्तिसाधना' है, जिसका कभी-कभी उनके 'लोकधर्म' से विरोध भी हो जाता है। इस 'विरोध' को भी स्पष्ट कर लेना चाहिए। 'आर्यशास्त्रानुमोदित धर्म' से हटकर व्यक्तिगत महाप्राणता से अर्जित साधना व्यक्तिमंगल कर सकती है और करती है, पर उसके प्रभाव में दृष्टिहीन लघुमानव अंधानुसरण करता हुआ न 'लोक' बना पाता है और न 'परलोक'। शुक्ल जी इसीलिए कहते हैं कि जब 'व्यक्तिसाधना और 'लोकधर्म' में विरोध हो, तब आर्यशास्त्रानुमोदित विशेषधर्म के अर्थ में प्रचलित 'लोकधर्म' की ही शरण लेनी चाहिए। व्यवहार का सौन्दर्य उसी से निष्पन्न हो सकता है।' व्यक्तिगत साधक' का 'अंधानुसरण' सोशल डिसिप्लिन' के विरुद्ध चला जाता है।

जहाँ तक बाजपेयी जी के आक्षेपों का सम्बन्ध है, उसका निराकरण स्पष्ट है। शुक्ल जी का भारतीय वाङमय के साक्ष्य पर युगानुरूप नयी व्याख्या के आलोक में जब उनका अखण्ड प्रस्थान है, तब उसमें यह-वह खोजना और उसके आधार पर असंगत कहना स्वयम् असंगत है।

(ग) लोकधर्म का हृदय भक्ति है। अपने नूतन प्रस्थान के चौखटे में 'भक्ति' का भारतीय वाङमय के साक्ष्य पर शुक्ल जी ने जो स्वरूप निरूपित किया है, उसके अनुसार 'भक्ति' का प्रसार चरम सत्ता के व्यक्त और सगुण रूप तक ही निहित है। भाव का संचार ज्ञात की परिधि में ही होता है, अज्ञात के प्रति नहीं। कम-से-कम भारतीय भक्ति की प्रकृति में यह नहीं है। साथ ही, शुक्ल जी यह मानते हैं कि हृदय को सगुण और व्यक्त रूप में अनुरक्त रखते हुए सम्यक् दर्शन के लिए उसके निर्गुण और अव्यक्त सत्ता को भी लेना पड़ेगा। भक्त यदि अव्यक्त सत्ता से जुड़ता भी है तो उसके 'अचिन्त्य ऐश्वर्य' की भावना के लिए, ताकि 'महत्त्व' बुद्धि दृढ़ हो न कि उपासना के लिए। उपासना के लिए जिन गुणों से सत्ता को 'व्यक्त' रूप मिलता है, वह आचार्यों के तत्व-चिन्तन से न कि इलहामी तरीके से। इस प्रकार शुक्ल जी की भक्ति और उसका आलम्बन—दोनों सुस्पष्ट हैं, रहस्यमय और अतिप्राकृति नहीं। मनुष्य ने कर्म, ज्ञान और उपासना की जो नवीन साधना पद्धतियाँ विकसित की हैं, उनमें सबसे परिपूर्ण पद्धति उन्हें भक्ति या उपासना की दिखायी पड़ती है।

भक्ति का लोकधर्म—गर्भरूप जिसमें कर्म, ज्ञान संवलित उपासना का मंजुल समन्वय है, शुक्ल जी की रुचि के अनुरूप है। गीता इसी रूप का प्रतिपादन करती है, पर कृष्णाश्रयी भक्ति में शाण्डिल्य और नारद ने उपासना वाले पक्ष को ही महत्व दिया—कर्म और ज्ञान वहाँ गौण या उपेक्षित तक हो गये। गोपियाँ 'आर्यपथ' का अतिक्रमण करती हैं। शुक्ल जी की दृष्टि में इस धारा में 'भक्ति' की चतुष्पादता खण्डित होती है—आलम्बनगत शक्ति और शील नहीं, केवल सौन्दर्य महत्त्व पाता है। भक्त की भक्ति से भी श्रद्धा का अंश घट जाता है और दाम्पत्य पर्यसामी प्रेम 'प्रायवेसी' या रहस्य की सीमा का स्पर्श

करने लगता है। फिर भी शुक्ल जी ने प्रयत्नपूर्वक विदेशी भक्ति की रहस्यमयता से देशी रहस्यमयता का अन्तर बनाये रखा है।

इसी सन्दर्भ में उनकी 'भक्तिरस' से सम्बद्ध उद्भावना की चर्चा भी अपेक्षित है। वे ज्ञानी और भक्त का अपने ढंग से अन्तर करते हुए कहते हैं कि कोरे ज्ञानी को भगवान् के स्वरूप की—व्यक्त और सगुण स्वरूप की—कुछ जानकारी भर रहती है, पर भक्त को उसी कुछ जाने हुए या विज्ञात स्वरूप का 'साक्षात्कार' और 'रसात्मक अनुभूति' होती है। साक्षात्कार भावना या कल्पना द्वारा होता है और रसात्मक अनुभूति भाव द्वारा। साक्षात्कार होने पर ही, कल्पना में पूर्ण बिम्बन होने पर ही रसानुभूति हो सकती है। भक्ति की अनुभूति यही है। काव्य की लीनता या रसप्रक्रिया भी वही सीधी-सादी है। कल्पना या भावना, जिससे विज्ञात का भीतरी साक्षात्कार होता है और भाव या रागात्मिका वृत्ति जिससे आनन्दानुभूति होती है—दोनों मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। बस, इन्हीं दो स्वाभाविक वृत्तियों के सहारे भक्तिरस की निष्पत्ति हो जाती है।

शुक्ल जी की 'भक्ति' सम्बन्धी यह धारणा युगचेतना-निर्धारित लक्ष्य के अनुरूप ही हुई है। यहाँ प्रिय आलम्बन है—शक्ति, शील, सौन्दर्य सम्पन्न लोक-स्थिति, रक्षण, रञ्जन-विधायक व्यक्त या सगुण सत्ता और उपासक श्रद्धा प्रेम संवलित भक्ति से सर्वात्मना तद्रूप होने की साधना करता है, जिससे उसमें निहित मानवीय सम्भावना-ईश्वरत्व पर्यवसायिनी सम्भावना चरितार्थ होती है। मानव-सत्ता की रागात्मक और बोधात्मक उभयविध क्षमताएँ उपलब्धि बन जाती हैं। परम्परा कुछ भी कहती हो, शुक्ल जी की युगीन उद्भावना और नव प्रस्थापना अपनी है। इसलिए यदि कोई आलोचक परम्परा-सम्मत शुकदेव की भक्ति की आविष्टस्थिति से शुक्ल-सम्मत भक्ति में अन्तर देखता है तो कोई गलत नहीं है, पर पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र उसे ही दोष ठहराते हैं। वैसे शुक्ल जी की दृष्टि में सब है—वे स्वयं इस प्रसंग को उठाते हैं—

> कथमालक्षितः पौरैः सम्प्रातः कुरुजाङ्गलान्।
> उन्मत्तमूकजड़वद् विचरन् गजसाह्वयम्॥

शुक्ल जी कहते हैं कि यह दशा दैवोन्माद नहीं है—प्रेम की रसलीनता ही है।

परवर्ती हिन्दी साहित्य में आचार्य वाजपेयी ने स्वयं भी 'महाकवि सूरदास' लिखकर 'भक्ति का विकास' शुक्लसम्मत पद्धति से भिन्न पथ पर प्रतिष्ठापित किया और जो त्रुटियाँ सूर के मूल्यांकन में उद्घाटित की थीं, उनको अपने ढंग से समाहित किया है। वाजपेयी जी कृष्णाश्रयी धारा के प्रेम को ऐकांतिक नहीं, अपितु सामाजिकीकृत माना है। उनका कहना है कि जो प्रेम राधा और कृष्ण के बीच ऐकांतिक था, वह गोपी समष्टि के द्वारा सामाजिकीकृत कर दिया गया है। उनकी दृष्टि में व्यक्तिगत प्रेम का सामाजिक रूप भक्ति है। पर भक्ति की परम्परासम्मत धारणा यही कहाँ है? इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दृष्टिभेद के कारण विरहानलावतार वल्लभाचार्य की दृष्टि से गोपियों के पलकान्तर विरह तथा वनान्तर विरह के सन्दर्भ में प्रवासविप्रलम्भ का जैसा मूल्यांकन होना

चाहिए था, शुक्ल जी के मानदण्ड से वैसा न हो सका। परवर्ती हिन्दी आलोचना में यह बिन्दु अनेक बार आवृत हुआ है।

जहाँ तक निर्गुण भक्ति को विदेशी परम्परा से जोड़ने का सम्बन्ध है अथवा सूफियों से उधार लेने की बात है—शुक्लपरवर्ती प्रायः समस्त चिन्तन एकमत से इसे सामान्य घोषित करता है। वस्तुतः मध्यकालीन समस्त भक्ति आन्दोलन को जिस तन्त्रवादी धारा से जोड़ना था, शुक्ल जी ने उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं किया। उन्होंने न तो साध्यभक्ति की बात करके भी उसका स्वरूप विवेचन किया और न ही उत्तरोत्तर गम्भीर-गम्भीरतर होती गयी रस-साधनापरक-साहित्य पर दृष्टिपात ही किया। यह सब उनके फ्रेम में फिट नहीं हो पाता। यह अवश्य है कि यह प्रवाह प्रेम की उस भूमि पर अधिष्ठित था, जहाँ 'नेम' नहीं पहुँच पाता या उसे कोई खतरा नहीं था। शुक्ल जी का यह भय सही है कि यह भक्ति रागतः प्रवृत्त होने वाले जन-साधारण के लिए उपयोगी नहीं थी। श्री जयशंकर प्रसाद ने शुक्ल जी के विपक्ष में निर्गुण भक्ति की तो बात ही छोड़ दें—सूफी रागसाधना का बीज भी भारत में ही बताया। पं० चन्द्रबली पाण्डेय तक ने भारतीय प्रभाव की बात स्वीकार की है। प्रसाद जी तो उस रहस्यवाद को, जिसे शुक्ल जी ने बेहद अलगाया है—बिन्दु-दर-बिन्दु भारतीय सिद्ध किया है। इन लोगों के 'रहस्यवाद' (काव्य में) संबंधी लेखों को पढ़कर लगता है, जैसे वे परस्पर पक्ष-प्रतिपक्ष बनकर शास्त्रार्थ कर रहे हों। सौ बात की एक बात कि जिस शुक्ल जी ने व्यवहारगत सौन्दर्य को ही साध्य मानकर अपने चिन्तन का व्यूह रचा है। उसे रहस्यवाद में रुचि होगी कैसे? प्रसाद जी समस्त भारतीय चिन्तन को विवेकवादी और आनन्दवादी धारा में बाँटकर शुक्ल जी को विवेकवादी वर्ग में ही बिठाया है।

(घ) चूँकि भक्ति का प्रसंग है, अतः मैं उचित समझता हूँ कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में की गयी 'भक्ति' चर्चा भी यहीं हो जाय। लोगों ने इस विवाद को 'द्विवेदी-शुक्ल' विवाद नाम ही दे दिया है। शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष को केन्द्र में रखकर 'वीरगाथाकाल' और 'भक्तिकाल' का उपस्थापन किया है, जबकि हजारीप्रसाद द्विवेदी जी सवर्ण-असवर्ण संघर्ष के संदर्भ में 'भक्ति' को हिन्दी साहित्य की प्राणधारा निरूपित करना चाहते हैं और उसी साहित्य से हिन्दी साहित्य के सच्चे इतिहास का शुभारम्भ करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि शुक्ल जी जिस 'भक्ति' को इस्लाम का प्रभाव' या 'प्रतिक्रिया' कहना चाहते हैं, वह भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास था। उसे 'प्रभाव' या 'प्रतिक्रिया' नहीं—जातीय स्वभाव का क्रमिक स्फुरण मानना चाहिए। तीसरे लोगों का विचार है कि सवर्ण-असवर्ण संघर्ष की जगह इस 'भक्ति' धारा को वर्ग-संघर्ष के संदर्भ में देखना चाहिए और अपनी बात की पुष्टि के लिए इरविन, डॉ० इरफान और डॉ० हबीब का उद्धरण देते हैं। शुक्ल जी के विपक्ष में द्विवेदी जी का पक्ष लेते हुए डॉ० नामवर सिंह ने शुक्ल जी को साम्राज्यवादी-लेखक डॉ० ग्रियर्सन और हैवेल से प्रभावित बताते हुए काफी गर्हा की है। भक्ति साहित्य को हताश जगति-हतदर्प जगति की प्रवृत्ति बताना एक तरह से साम्राज्यवादियों की मूलचेतना का पक्षधर होना बताया गया है।

वास्तव में शुक्ल जी ने 'प्रतिक्रिया' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया है। हाँ, इस्लामी आक्रमण को बड़ा धक्का अवश्य कहा है और यह कहा है कि उस धक्के के कारण भारतीय स्वभाव में 'दबी' हुई आध्यात्मिक वृत्ति अवश्य उभर आयी। शुक्ल जी ने जब 'भक्ति' की क्षीण प्रकट बहती हुई सरस्वती का विस्तार के साथ आकलन किया है—तब वे 'भक्ति' को महज प्रतिक्रिया कैसे मान सकते हैं? प्रतिक्रिया मानकर ही डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि यदि इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया में ही भक्ति का उदय होना था, तो उसे पहले-पहले सिन्ध और पश्चिमोत्तरांचल में होना था, न कि निरुपद्रुत सुदूर दक्षिण के तमिल प्रान्त में। मेरा प्रस्ताव यह है कि मुस्लिम, वर्ण या वर्गसंघर्ष को केन्द्र में न रखकर नैगमिक और आगमिक चिन्ता धारा के संदर्भ में त्रैवर्णिक और सार्ववर्णिक धाराओं का संघर्ष निरूपित कर इसे लोक के स्तर पर रागमार्गी आगम धारा का प्रभावी प्रस्फुरण मानना चाहिए। लोकचेतना से संवाद खानेवाली आगम-सम्मत राग-मार्गी सहज धारा ही निर्जीव पड़ती शास्त्रीय जड़ता को तोड़कर अपना महाप्राण रूप व्यक्त कर रही थी। मध्यकालीन भक्ति के प्रवाह का उत्स 'आगम' है—इतर संघर्ष सहायक हो सकते हैं, पर उत्स नहीं।

(ङ) मूल लक्ष्य-मानवता की उपलब्धि के अनुरूप व्यवहार, (लोकधर्म) और भक्ति पर विचार कर लेने के अनन्तर सम्प्रति काव्य की ओर से जो प्रस्थान शुक्ल जी ने निर्धारित किया है, उसे भी देख लेना है। 'लोकधर्म' और 'भक्ति' की भाँति काव्य के सम्बन्ध में भी शुक्ल जी परम्परागत लोक से हटकर अपना प्रस्थान निर्धारित करते हैं। जहाँ एक ओर वे लोकधर्म और भक्ति की भाँति काव्य का सम्बन्ध भी गोचर या व्यक्त जगत् से जोड़ते हुए अव्यक्त की अभिव्यक्ति जगत् और जगत् की अभिव्यक्ति को काव्य मानते हैं, वहीं दूसरी ओर भीतर की ओर उसकी अन्तिम भूमि मनोमय कोष को ही मानते हैं, उसके आगे नहीं। इनके 'व्यक्त' या 'गोचर' की परिधि मनोगोचर से लेकर बहिरिन्द्रिय गोचर तक प्रसृत है। उत्तरोत्तर अपने को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—कविता अभिव्यञ्जना है वह अभिव्यक्ति या विकास को लेकर चलती है। इस दृष्टि से हमारे यहाँ के कवियों ने लोक-रक्षा के विधान में करुणा को ही बीजभाव में रखा है। करुणा से रक्षा का विधान होता है और प्रेम से पालन और रञ्जन। पालन रक्षित का होता है और रक्षा आपद्ग्रस्त का। निष्कर्ष यह कि मानवता जिस लोकमंगल-रक्षण, पालन, रञ्जन में चरितार्थ होती है, तदनुरूप प्रवर्तक भाव या वीजभाव दो ही हैं। इसीलिए काव्य में प्रयत्न पक्ष पर बल देने वाला 'करुण' और सिद्धिपक्ष पर बल देने वाला 'शृंगार' को रसराज कहना चाहता है। अपने 'व्यक्त' वाद को समझाते हुए एक और भी सूक्ष्म बात वे कहते हैं। उनका कहना है राग की वासना ही करुणा और प्रेम—दोनों भावों का प्रवर्तन करती है। फिर 'राग' को ही निर्विवाद रूप से रसराज क्यों नहीं कह दिया? नहीं, बात यह है कि वासना और भाव में अन्तर है—वासना का आलम्बन निर्दिष्ट नहीं होता, जबकि 'भाव' का आलम्बन निर्दिष्ट रहता है। राग, वासना के रूप में 'अव्यक्त' है—करुणा और प्रेम-व्यक्त हैं। 'कविता' अव्यक्त मूल को लेकर नहीं चलती, व्यक्त प्रसार को लेकर चलती है।'

शुक्ल जी स्थायी और संचारी से हट कर अपने मूल गन्तव्य के अनुसार बीजभाव का उद्भावन करते हैं।

'लोकमंगल' साध्य है, क्योंकि उसी में मानवता चरितार्थ है, अतः 'काव्य' भी उसी का साधन है। वह अपना काम पाठक को इन्सानियत की भूमि पर आरूढ़ करके सम्पन्न करता है। वे काव्य को 'संविद्-'विश्रान्ति' परक नहीं, कर्तव्य-विश्रान्ति परक मानते हैं। यह कर्तव्य है—लोकमंगल। कर्तव्य में प्रवर्तक है—भाव। अतः भाव को सत्व की भूमि तक उठाना एक अवदात मनोदशा में आना है। यही अवदात मनोदशा रस है और रसात्मक वाक्य ही काव्य है।

काव्य का अन्तस्तत्त्व है रस और रस है भाव की पुष्ट दशा—स्थायीभाव की पुष्टदशा। रस के मूल में निहित 'भाव' का विचार परम्परा आत्मवादी भूमि पर सहृदय के वासना-वासित हृदय से करती है जबकि शुक्ल जी लोकगत पात्र की दृष्टि से करते हैं—इसीलिए मनोविज्ञान की आधुनिक मान्यता, लोकनिरीक्षण तथा काव्य-ग्रन्थों के अनुशीलन के सम्मिलित बोध के आधार पर वे 'भाव' का स्वरूप निर्धारित करते हैं। क्रमागत साहित्य शास्त्र का विभाव, अनुभाव, संचारी तथा स्थायीभाव अलौकिक संज्ञा है—फलतः उसका कार्य भी अलौकिक है शुक्ल जी का विवेचन अधिकांश प्रत्यक्षानुभूति या लोकानुभूति का है। मनोविज्ञान प्रत्यक्ष या लोकानुभूति का ही विवेचन करता है। इसके साथ उनकी दृष्टि लोकमंगल पर टिकी है, फलतः वे भाव को अत्यन्त पवित्र क्षेत्र कहते हैं। वे यह मानते हैं कि भाव की जटिलता का विकास मनुष्य में विश्वात्मा की जिस प्रेरणा से हुआ है, उसमें लोकमंगल की भावना छिपी है।

विचारणीय यह है कि 'रस' पर विचार करने का यह दिशा-भेद कैसे हुआ? इस पर डॉ० रामविलास शर्मा और आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने जम कर विचार किया है। डॉ० शर्मा का कहना है—"साहित्य या कला की गोचरता का सिद्धान्त शुक्ल जी के ज्ञान—ज्ञानशास्त्र का ही परिणाम है। ज्ञान न तो आत्मा का प्रकाश है न इलहाम होने से प्रकट हुआ है, न वह मनुष्य की सहज भावना (Instinct) का परिणाम हैं। इस तरह से ज्ञान शास्त्रों का विरोध करने के बाद शुक्ल जी ने अपना वैज्ञानिक सिद्धान्त रखा है। वह सिद्धान्त यह है कि मनुष्य बौद्धिक चिन्तन का विकास इन्द्रियज ज्ञान के आधार पर ही हुआ है। आरम्भ में मनुष्य जाति की चेतनासत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गयी त्यों-त्यों मनुष्य की ज्ञानसत्ता बुद्धि व्यवसायात्मक होती गयी। ज्ञान की पहली सीढ़ी इन्द्रियबोध है। साहित्य इसी सीढ़ी को पूरी तरह कभी नहीं छोड़ता है। साहित्य की अनुभूति भावों की अनुभूति है। भावों की अनुभूति वास्तविक जगत् की अनुभूति से निराली नहीं है। जिन बातों से संसार में दुःख मिलता है, उनसे साहित्य में भी मिलता है। ट्रेजेडी पर आँसू बहाने में शुद्ध आनन्द का अनुभव होता है—शुक्ल जी यह नहीं मानते। वह पहले आलोचक है जिन्होंने पूर्व और पश्चिम के विचारकों से इस बारे में मतभेद प्रकट किया है। इस सन्दर्भ में एक बात और शुक्ल जी ने कही है—

'कविता केवल वस्तुओं के रूपरंग के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है" अभिप्राय यह कि पश्चिम के उन कतिपय विचारकों की स्थापना की गोचरता तक ही इन्द्रिय बोध और रूप रंग की सुन्दरता तक ही साहित्य सीमित है अमान्य है। इसीलिए शुक्ल जी ने सौन्दर्यशास्त्र के बदले काव्य-शास्त्र का प्रयोग संगत माना है। डॉ० शर्मा कहते हैं कि "सौन्दर्य से इन्द्रिय बोध का सौन्दर्य लेना गलत है। सौन्दर्य का अर्थ केवल इन्द्रियबोध वाला सौन्दर्य नहीं है।" ज्ञान का मूल आधार इन्द्रियबोध मानने के दुष्परिणामों से जहाँ वे साव-धान हैं, वहाँ उसे ही आधार बनाकर रसानुभूति वाली अपनी परम्परा विरुद्ध स्थापना भी रखते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य की अनुभूति भाव की अनुभूति है और भाव का प्रथम अवयव विषय बोध है—इस प्रकार साहित्य की अनुभूति के साथ इन्द्रिय बोध भी जुड़ा रहेगा। विचार से भाव और भाव से इन्द्रिय बोध ज्यादा व्यापक है। वैसे श्रेष्ठ साहित्य सदा ज्ञान प्रसार के भीतर भाव प्रसार के मार्ग पर चलता है। शुक्ल जी भी काव्य में कल्पना को स्थान मानते हैं, पर उसका आधार इन्द्रियबोध ही मानते हैं। वे भाववादियों के निराधार कल्पनावाद से असहमत होते हुए कहते हैं—"जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे, उसे उस भाव का आलम्बन कहना चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्य आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ पैदा करती हैं। फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है।"[१]

वैसे काव्यचिन्तन के सन्दर्भ का शुक्लसम्मत ज्ञानशास्त्र वस्तुवादी है, क्योंकि वे मानते हैं कि मनुष्य का मन बाह्य जगत् का ही प्रतिबिम्ब है। पर 'कविता क्या है' में 'सौन्दर्य-विवेचन'

---

१. निश्चय ही यह या ऐसी ही और मानसिक प्रक्रिया शर्मा जी के अनुसार वस्तु-वादी है। पर इस सन्दर्भ में शुक्ल जी का यह वक्तव्य भी ध्येय है—'पूर्णतत्वावभास केवल कोरी बुद्धि की क्रिया में नहीं हो सकता—यह बात शंकराचार्य ऐसे बुद्धि के दार्शनिक को भी माननी पड़ी थी। पारमार्थिक सत्ता के बोध की सम्भावना उन्होंने बहुत कुछ स्वानुभूति द्वारा कही है, केवल शब्दबोध या तर्क द्वारा नहीं। वर्तमान समय का सबसे आगे बढ़ा हुआ दार्शनिक वर्गसाँ भी कोरी बुद्धि क्रिया को एकांगी, भ्रान्तिजनक और असमर्थ बताकर स्वानुभूति की ओर संकेत कर रहा है। एडवर्ड कारपेण्टर ने अपनी प्रसिद्ध अंग्रेजी पुस्तक (सिविलाइजेशन इट्स काजेज एण्ड क्योर)' में वर्तमान समय की उस वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विरोध किया है जिसमें बुद्धिक्रिया ही सब कुछ मानी गयी है—मनुष्य के हृदयपक्ष तथा स्वानुभूति पक्ष का एकदम तिरस्कार कर दिया गया है। उसने शब्दबोध की प्रणाली को अज्ञान प्रणाली कहा है। वर्तमानकाल के प्रसिद्ध उर्दू शायर अकबर ने भी बुद्धिरोग से छुटकारा पाने पर खुशी जाहिर की है। यही पक्ष तुलसी, सूर आदि भक्तों का भी रहा है—(१) यह निर्गुन निर्मूल गाठरी (२) वाक्य ज्ञान—प्रभु न पावै कोई (सूरदास—पृष्ठ १२६)'।

के सन्दर्भ में वे यह भी कहते हैं—"भीतर-बाहर का भेद व्यर्थ है—जो भीतर है वही बाहर है।" अस्तु, प्रकृत में कहना यह है कि काव्य को साधन मानते हैं और लोकजीवन में उसकी चरितार्थता की बात करते हैं—अतः काव्यानुभूति, भावानुभूति को वे लोकानुभूति से सर्वथा भिन्न नहीं मानते। वह लोक की अन्य अनभूतियों से केवल इस माने में भिन्न है कि वह व्यक्तिगत अर्जन-विसर्जन की राग-द्वेष मय सूत्र से मुक्त है—सामान्य मानवीय भूमि है—व्यक्तिसत्ता की लोकसत्ता में व्यक्तिपरिहारगर्भसात्विक तथा अवदात मनोमय दशा है, इसीलिए यह दुःखकोटि की अनुभूति भी उतनी क्षोभकारिणी नहीं होती। काव्यरस को सर्वथा आनन्द के अर्थ में लेना उन्हें अभीष्ट नहीं।

इस प्रकार के सोचने-विचारने के ढंग से डॉ० शर्मा का निष्कर्ष है—एडीसन के कल्पना सम्बन्धी विवेचन के साथ चलते हुए शुक्ल जी दो तरह का रूपविधान बतलाते हैं—एक तो प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्यों का त्यों प्रतिबिंब होता है। दूसरा इनके आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु-व्यापारविधान होता है। पहला रूपविधान स्मृति है, दूसरा कल्पना। एडीसन ने स्मृति को भी कल्पना का नाम दिया है। शुक्ल जी ने यह स्थापना अमान्य ठहरादी है। इसके सिवा 'प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है'—पर यह स्थापना एडीसन के चिन्तन से बहुत दूर है। बौद्धिक चिन्तन, इन्द्रियबोध और भावन का समन्वय साहित्य की विशेषता है। इस विशेषता के मौलिक व्याख्याकार आचार्य शुक्ल हैं। यह व्याख्या पूर्व और पश्चिम—दोनों के काव्यशास्त्र से ज्यादा संगत है और वैज्ञानिक है। यह हिन्दी का अपना साहित्यशास्त्र है। लाक के वस्तुवाद से प्रभावित होकर एडीसन ने कल्पना का सिद्धान्त निकाला था और काव्य की विशेषता उसका रूपविधान बतलाया था। किस तरह की कल्पना या रूपविधान काव्य के लिए आवश्यक है, कलात्मक है, इसका जवाब एडीसन के यहाँ नहीं है। कारण यह है कि उसके पास रस-सिद्धान्त नहीं था। कल्पना और रूपविधान को काव्यसौन्दर्य का मूल आधार मानकर इस प्रश्न का उत्तर दिया ही नहीं जा सकता। इसका उत्तर कल्पना या रूपविधान का सम्बन्ध भावानुभूति से ही जोड़कर किया जा सकता है। यह काम शुक्ल जी ने किया। शुक्ल जी ने कहा है—"काव्यविधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन और संचार करती हो।" डॉ० नामवर सिंह ने भी चिन्तामणि-तृतीय भाग की भूमिका में इसका विवरण (लाक और एडीसन सम्बन्धी चिन्त्य) दिया है, जिसमें इतना और जुड़ता है कि शुक्ल जी का यह चिन्तन काव्यशास्त्र के लिए ही नहीं, सौन्दर्यशास्त्र के लिए भी नयी देन है। आचार्य शुक्ल के 'समीक्षा-सिद्धान्त' में डॉ० रामलाल सिंह ने किसी के 'अभिभाषण' का सन्दर्भ देते हुए (१९५८ ई०) भी इस उत्स की ओर संकेत किया है।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने कल्पित रूपविधान के साथ प्रत्यक्ष और स्मृत रूपविधान में भी शुक्ल-सम्मत रसात्मक बोध को परम्परा से जोड़ने की कोशिश की है और इसकी पुष्टि में रसतरंगिणीकार को उद्धृत किया है। रसतरंगिणीकार ने कहा है—

'रसो द्विविधा:—लौकिकोऽलौकिकश्च। लौकिकसन्निकर्ष जन्मा रसो लौकिक:। अलौकिक सन्निकर्षजन्मा—अलौकिक:लौकिक सन्निकर्ष: सोढा विषयगत:।' अर्थात् रस दो प्रकार हैं—लौकिक और अलौकिक। लौकिक सन्निकर्षजन्य लौकिक और अलौकिक सन्निकर्षजन्य अलौकिक। फिर उभयविधा रसों में व्याप्त लक्षण भी समान ही दिये हैं। जिस प्रकार शुक्ल जी प्रत्यक्ष विषय का अर्थ अन्य इन्द्रियगोचर को भी माना है, उसी प्रकार रसतरंगिणीकार भी लौकिक रस को विषयगत कहा है। फलत: मिश्र जी का अभिमत है—"इसलिए शुक्ल जी ने निर्विशेष स्थिति, सामाजिक सत्ता और मुक्त स्थिति या लीन होने अथवा रमण करने की पीठिका पर जो प्रत्यक्ष बोध में रसात्मक स्थिति संकेतित की है, वह परम्परा सम्मत ही प्रतीत होती है।' इतना ही नहीं, रसतरंगिणीकार के ही साक्ष्य पर उन्होंने शुक्लसम्मत 'प्रकृतिरस' की भी परम्परासम्मत होने की संभावना व्यक्त की है। यह बात भिन्न है कि इसे लौकिक रस के ही भीतर मानना होगा।

उपर्युक्त परस्पर विरोधी वक्तव्यों के सन्दर्भ में यह प्रश्न सहज ही उठ खड़ा होता है कि शुक्ल जी के इस प्रत्यक्ष तथा स्मृति रूपविधान के पीछे लाक और एडीसन का प्रभाव है या रसतरंगिणीकार का ? यह सही है कि शुक्ल जी रसतरंगिणी से परिचित हैं, पर स्वयं मिश्र जी एकत्र स्वीकार करते हैं कि शुक्ल जी का रस-प्रस्थान परम्परा सम्मत सहृदय के वासना-वासित हृदय से कटकर विषयबद्ध लौकिक पात्र से है, फिर परम्परा से जोड़ने का लोभ निरर्थक है। परम्परा में सहृदय-हृदयनिष्ठ संस्कार-गत भाव की सत्ता को केन्द्र में रखकर विभावादि का स्वरूप परिभाषित होता है—जबकि शुक्ल जी प्रत्यक्षानुभूत या मनोविकार से जोड़कर उसका विचार करते हैं। एक क्षण के लिए मान भी लिया जाय कि 'रसतरंगिणी' के अनुसार उन्होंने लौकिक रस का विचार किया है—तब भी प्रश्न बना ही रहता है। प्रश्न इसलिए बना रहता है कि रसतरंगिणीकार 'अलौकिक रस' की भी तो बात करता है—उसका अनुसरण क्यों नहीं किया ? एडीसन का प्रभाव इसलिए अधिक सम्भाव्य है कि स्वयं शुक्ल जी ने उसका अत्यन्त मनोयोगपूर्वक अनुवाद किया है। साथ ही, डॉ० शर्मा के अनुसार शुक्ल जी ने केवल एडीसन का विचार ज्यों का त्यों ग्राह्य नहीं करते, प्रत्युत उसमें अपनी रुचि के अनुसार उसे नया आधार भी देते हैं। निष्कर्ष यह कि पण्डित जी का पक्ष यहाँ चिन्त्य प्रतीत होता है।

'शुक्ल-प्रसाद' विवाद 'शुक्ल-द्विवेदी' की भाँति तो परवर्ती आलोचना में शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा नहीं चलाया गया, पर 'प्रसाद' जी भारतीय चिन्तनधारा को विवेकवादी और आनन्दवादी—जैसी उपधाराओं में विभाजित किया है और उनके विवेचन से जो ध्वनि निकलती है, उसके अनुसार शुक्ल जी विवेकवादी धारा के ही अन्तर्गत प्रतीत होते हैं। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी ने इस विन्दु पर 'मंजूसा' में विचार करते हुए कहा है कि शुक्ल जी न तो एकान्तत: 'सर्वं दु:खम्' वाले पक्ष के हैं और न ही एकान्तत: 'सर्वं सुखम्' के ही। जगत् में दोनों हैं तो दोनों को व्यवस्थित रखना ही ठीक है, पर करुणा में जैसी सार्वभौम स्थिति है वैसी आनन्दवादी धारा में नहीं। परवर्ती हिन्दी आलोचना

'शुक्ल-प्रसाद' विवाद को अंशतः अवश्य प्रतिबिम्बित करती है, पर उस पर अभी और विचार की अपेक्षा है। प्रसाद जी 'रहस्यवाद' को काव्य की मूलवृत्ति कहते हैं और भारतीय गुह्यसाधनरत मंडलियों को उसका स्रोत—शुक्ल जी विपक्ष में हैं। 'प्रसाद' जी के पक्षधर हैं नंददुलारे बाजपेयी। उन्होंने प्रसाद जी के साथ काव्य संबंधी सर्जन और चिन्तन—उभय अध्यात्म का समर्थन किया है और कहा है कि भारत की जातीय चेतना को इससे काट कर नहीं समझा जा सकता। माना कि इस रास्ते अंधविश्वास प्रवेश करता है, पर प्रकाश की भी सम्भावना का द्वार खुला रहता है।

रस से सम्बद्ध और भी अनेक छोटी-मोटी मान्यताएँ शुक्ल जी की हैं, जहाँ वे परम्परा से पृथक् हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, प्रिय के विप्रयोग से होने वाला दुःख श्रृंगार के अन्तर्गत आता है, पर प्रिय के दुःख से होने वाले दुःख को वे करुण के अन्तर्गत लेते हैं और मानते हैं कि करुण, श्रृंगार की अपेक्षा अपनी परगामितावश श्रृंगार की आत्मपरकता की तुलना में अधिक सामाजिक और सात्विक है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे 'एको रसः करुण' के पक्षधर हैं— वे तो करुण के साथ प्रेम को भी बीजभाव के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐसी ही मान्यता 'प्रलय' नामक सात्विक भाव के साथ भी है। 'प्रलय' को वे शरीर चेष्टा कहते हैं—चेष्टाश्रय शरीर में ही चेष्टानिरोध सम्भव है।

इस प्रकार ऐसी ही उनकी और बहुत-सी मान्यताएँ हैं जिनको लेकर परवर्ती हिन्दी आलोचना में काफी विचार-विमर्श हुआ है। उनकी साधारणीकरण संबंधी मान्यता तथा वाच्यार्थ में ही कवित्व का अधिवास प्रभृति ऐसे अनेक बिन्दु हैं, जिन पर पर्याप्त मंथन हुआ है और तरह-तरह के अभिमत सामने आये हैं। निष्कर्ष यह कि संस्कृत काव्यशास्त्र में जो स्थान अपनी व्यवस्थित और प्रौढ़ मान्यताओं के कारण का वाच्येवतावतार मम्मट की है, वही हिन्दी में आचार्य शुक्ल की है। मम्मट की तरह वे परवर्ती चिन्तकों के खण्डन या मण्डन के विषय बने रहे हैं। खण्डन-मण्डन कहीं संतुलित है और कहीं अतिवादी—एक तरफ आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० रामविलास शर्मा तथा श्री अजितकुमार आदि शुक्ल जी को न केवल भारतीय साहित्य में, अपितु विश्व-साहित्य का प्रातिभ समीक्षक और मौलिक चिन्तक मानते हैं जबकि दूसरी ओर उनको परम्परा विच्छिन्न कच्ची जमीन का आत्मरुचि प्रधान विवेचक—न कि तटस्थ आलोचक। कहने के लिए तो उन्हें साम्राज्यवादियों का पक्षधर पौरोहित्यवादी, अनाधुनिक, सामयिक राजनीति से दूर, कोरा साहित्यिक तथा एकांगी समाजशास्त्री आदि भी कहा गया है। निस्सन्देह शुक्ल जी प्रातिभ व्यक्ति थे और प्रातिभ व्यक्ति अपनी राह बनाता है और तदनुसार चलता है—इससे वह अपनी पहचान बनाता है। शुक्ल जी ने अपने चिन्तन कार्य से अपनी एक विशिष्ट पहचान बनायी है। ज्ञान की जो सांगोपांगता उनमें थी, वह न किसी हिन्दी आलोचक में थी और न है। यह बात अवश्य है कि उनकी मान्यताएँ चिन्तन की सीमाओं से जुड़ी हैं। उनमें 'दृष्टि' है और 'दृष्टि' परम्परा को आत्मसात् करती हुई अपनी है। फलतः 'दृष्टिभेद' अवश्यम्भावी है और यह अवश्यम्भाविता परवर्ती चिन्तकों के लिए उत्प्रेरक है। चिन्तन न किसी का

अन्तिम हुआ है और न हो सकता है। शुक्ल जी भी इसके अपवाद नहीं हैं। यह अवश्य है कि हिन्दी में जिस तरह के चिन्तन, तदनुरूप पद्धति और व्यावहारिक समीक्षा का शुभारम्भ उन्होंने किया था, उसका विकास उस प्रौढ़ि के साथ नहीं हो रहा है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने भी सन् ७५ में उनकी जयन्ती के अवसर पर दिये गये अपने भाषण में यह स्पष्ट स्वीकार किया है। उनका संकल्प था कि शब्द-शक्ति और रस-पद्धति पर भारतीय समीक्षा भवन का उत्तम प्रासाद खड़ा किया जा सकता है और इस संकल्प के अनुसार उनकी प्रायः सभी प्रायोगिक समीक्षाएँ रस-पद्धति पर हुई हैं और शब्द की संप्रेषण शक्ति का यत्र-तत्र अभूतपूर्व उद्घाटन हुआ है। उनकी सैद्धान्तिक समीक्षा संबंधी मान्यताओं पर चाहे विवाद हो, पर अर्थ-दोहन के सन्दर्भ में उन्हें वाग्धेनु का जो वात्सल्य प्राप्त हुआ है, इसकी कोई तुलना नहीं है। काव्य चाहे प्राचीन हो या नवीन-नवीनतर—तत्वार्थदर्शिनी क्षमता का विस्मयावह रूप सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

सन्दर्भ-सूची

१. सूरदास, पृष्ठ ३।
२. मंजूषा—चिन्तामणि, पृष्ठ ६६।
३. सूरदास, पृष्ठ १०।
४. चिन्तामणि—तृतीय भाग, पृष्ठ १६०।
५. वही—पृष्ठ १६१।
६. वही—पृष्ठ १६६।
७. वही—पृष्ठ १८२।
८. चिन्तामणि—भाग १, पृष्ठ १४२।
९. वही—पृष्ठ १४६।
१०. सूरदास, पृष्ठ १६।
११. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना।
१२. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ११०।
१३. वही—पृष्ठ ११४।
१४. वही—पृष्ठ ११६।
१५. साहित्य का इतिहास दर्शन, पृष्ठ ५२।
१६. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, ।
१७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना।
१८. वही—पृष्ठ ७९।
१९. वही—पृष्ठ ८०।
२०. सूरदास, पृष्ठ १८।
२१. सूरदास—पृष्ठ १।

२२. वही।
२३. वही—पृष्ठ ८६।
२४. वही।
२५. वही।
२६. मंजूषा (चिन्तामणि) पृष्ठ ९, १०, ११।
२७. रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृष्ठ २१८।
२८. चिन्तामणि, भाग २।
२९. चिन्तामणि, भाग १।
३०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृष्ठ २१८।
३१. चिन्तामणि, भाग १।
३२. वही—पृष्ठ ११२।
३३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृष्ठ २२०।
३४. चिन्तामणि, भाग २।
३५. मंजूषा, पृष्ठ ६९।
३६. वही—पृष्ठ २९।

डी—४ विश्वविद्यालय आवास गृह,
देवास रोड,
उज्जैन (म० प्र०)

आनन्दानुभूति और आचार्य शुक्ल

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

⊙

काव्य में रस की प्रतिष्ठा माननेवाले भारतीय आचार्यों ने या तो रस को ही उपनिषद् वाक्य––'रसो वै सः, रसं लब्ध्वाऽऽनंदो भवति' अथवा ब्रह्म के सच्चिदानंद स्वरूप का आधार ग्रहण करके आनंदस्वरूप बताया है, 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' को 'ब्रह्मानंद सहोदर' में परिणत कर लिया है या फिर काव्य-प्रयोजनों में यशादि की चर्चा करते हुए मम्मट की तरह आनंद को ही 'सकलप्रयोजनमौलिभूत' सिद्ध किया है। आचार्य शुक्ल भी रसवादी थे, अतः संभावना हो सकती थी कि वे भी रस की और काव्य-प्रयोजन की आनंदवादी धारणा की ही पुष्टि करते। पर शुक्ल जी ने इसके विपरीत मार्ग अपनाया और काव्य के क्षेत्र से इस आनंद-कल्पना को बहिष्कृत करने पर ही तुल गये। न उन्होंने रसात्मकता को आनंदरूप माना, न काव्य के चरम लक्ष्य या प्रयोजन के रूप में ही उसे कोई मान्यता दी। काव्य के विषय में तमाम तरह की दार्शनिक शब्दावली की रचना और उसका उपयोग करते हुए भी उन्होंने काव्य के क्षेत्र में आध्यात्मिक शब्दावली के प्रयोग का विरोध किया। उस विरोध की गाज गिरी इस बेचारे 'आनंद' शब्द पर भी। साथ में 'चमत्कार' और 'अनूठापन' पर भी उनकी अप्रसन्नता व्यक्त हुई। यहाँ विचारणीय है कि शुक्ल जी ने ऐसा क्यों किया और जो किया उसकी ग्राह्यता पर स्वीकृति की मुहर कहाँ तक लग सकती है?

शुक्ल जी प्रत्यक्ष और जीवन को महत्त्व देते हुए 'रागात्मक सत्व' को मनुष्य के प्रकृति स्वभाव के अन्तर्गत मानते हैं। जो मनुष्य की प्रकृति ही है, उसको लेकर काव्य के क्षेत्र में 'अध्यात्म' का प्रवेश कराना उन्हे स्वीकार नहीं है। इसी प्रकार उन्हें यद्यपि ब्रह्म का आनन्दरूप होना स्वीकार्य है और वे यह मानते हैं कि "सत् चित् और आनंद––ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्तिमार्ग 'आनंद' स्वरूप को लेकर चले,"[1] तथा काव्य के विभाग करते हुए वे साधनावस्था तथा सिद्धावस्था, दोनों के प्रसंग में 'आनंद', 'आनंद ज्योति', 'आनंद-मंगल' तथा 'आनंद-कला' की बार-बार चर्चा करते हैं; यहाँ तक कि वे वाल्मीकि की वाणी को 'दिव्य संगीत' की संज्ञा भी देते हैं[2], जिससे प्रतीत होता है

---

१. रस-मीमांसा, प्रथम सं०, पृ० ५५।

२. वही, पृ० ५६ तथा ५९।

कि काव्य के संदर्भ में भी 'आनंद' की चर्चा उन्हें नितान्त अग्राह्य तो नहीं है, तथापि उनके अन्य अनेक कथनों से प्रमाणित होता है कि उन्हें इसकी चर्चा न केवल अस्वीकार्य है, बल्कि वे इससे कुछ चिढ़े हुए भी हैं।

कारण शुक्ल जी के कथनों में ही खोजना होगा। पहला कारण, जिसकी चर्चा शुक्ल जी काव्य का स्वरूप निश्चित करते हुए करते हैं, यह है कि—

"कविता की.....रमानेवाली शक्ति को देखकर जगन्नाथ पंडितराज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा यूरोपीय समीक्षकों ने 'आनंद' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अंतिम गन्तव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ। मनोरंजन या आनंद तो बहुत-सी बातों में हुआ करता है।"[1] अतः "मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनंद पहुँचाना"[2] ही यदि कविता का अंतिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई।

इसीलिए उन्हें लगा कि "आनंद शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है। उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।" जिसके कारण 'रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनंद, शब्द से व्यक्त नहीं होता और 'लोकोत्तर' तथा 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार होता है, न प्रयोग का प्रायश्चित्त।'[3] उलटे यह 'आनंद' शब्द काव्य की नीयत को 'बदनाम"[4] करता है।

यद्यपि दूसरा कारण भी शुक्ल जी के उक्त कथन में ही समाहित है जहाँ कि वे 'रसास्वादन के प्रकृत स्वरूप' की बात कहते हैं, पर उसकी स्पष्ट सूचना उनके निम्नलिखित कथन में दी गयी है—

"क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनंद का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा रहने नहीं देते? क्या 'विभावत्व' उनका स्वरूप हर कर उन्हें एक ही स्वरूप—सुख का—दे देता है? क्या दुःख के भेद सुख के भेद से प्रतीत होने लगते हैं? क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन माँगना देख-सुनकर आँसू नहीं आ जाते, दाँत नहीं निकल पड़ते हैं? क्या महमूद के अत्याचारों का वर्णन पढ़कर यह जी में नहीं आता कि वह सामने आता तो उसे कच्चा खा जाते? क्या कोई दुःखांत कथा पढ़कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती? चित्त का यह द्रुत होना क्या आनंदगत है?"

---

१. रस-मीमांसा, प्रथम सं०, पृ० २७।

२. वही, पृ० २८।

३. वही, पृ० १०१।

४. वही।

शुक्ल जी के उक्त कथनों का सार यह है कि आनंद को निम्नलिखित कारणों से स्वीकार नहीं किया जा सकता—

(१) यूरोपीय समीक्षकों ने आनंद को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया है, जबकि हमारी परम्परा तो रमणीयता को मानती है।

(२) आनंद, काव्य का गंतव्य स्थल नहीं है, भाव मार्ग है।

(३) आनंद से मनोरंजन या सुख की गंध आती है और मनोरंजन का संबंध उक्ति-वैचित्र्य, चमत्कार, तमाशा देखनेवाली कुतूहल या बालवृत्ति से है, काव्य की गम्भीरता से नहीं।

(४) आनंद शब्द से रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप प्रकट नहीं होता। दुःखात्मक दृश्यों से सुख या आनंद की कल्पना नहीं की जा सकती।

यों शुक्ल जी काव्य में, रहस्यवाद के प्रसंग में कहते हैं—"सारा बाह्य जगत् भगवान का व्यक्त स्वरूप है। समष्टि रूप में वह नित्य है, अतः 'सत्' है, अत्यंत रंजनकारी है, अतः 'आनंद' है।" ऐसी स्थिति में 'सदानंद स्वरूप' रस जगत् से संबंध रखनेवाली कविता के प्रसंग में प्रयुज्यमान आनंद शब्द से उन्हें आपत्ति नहीं होनी चाहिए थी, विशेषतः तब तो और भी नहीं जबकि वे मानते हों—'काव्य दृष्टि से यह दृश्य-जगत् ब्रह्म की नित्य और अनंत कल्पना है जिसके साथ उसका नित्य हृदय भी लगा हुआ है।' तथा 'यह अनंत रूपात्मक कल्पना व्यक्त और गोचर है—हमारी आँखों के सामने बिछी हुई है। समष्टि रूप में यह शाश्वत और अनंत है। इसी की भिन्न-भिन्न रूपचेष्टाओं की ओर हृदय से भिन्न-भिन्न भावों को अपने निज के संबंध-प्रभाव से मुक्त करके प्रवृत्त करना ब्रह्म की व्यक्त सत्ता में अपनी व्यक्त सत्ता को लीन करना है।"[१]

जब यह व्यक्त सत्ता ब्रह्म की ही है और साथ ही सदानंद-स्वरूप भी है तथा इसमें संबंध-विरहित रूप में प्रवृत्त होना ब्रह्म की सत्ता में लीन होना ही है, जिससे रस की सिद्धि होती है, तब रसानुभूति के प्रसंग में आनंद की अनुभूति की कल्पना कैसे सामान्य हो सकती है? शुक्ल जी तो स्वयं ही व्यक्त और अव्यक्त में कोई पारमार्थिक भेद नहीं मानते, बल्कि यहाँ तक उदार रहना चाहते हैं कि "किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाश-गंगा में तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलय-सा ताण्डव करने या मुँदे नयन-पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही...कविता न कहकर उसे 'भी' कोई कविता कहे तो उन्हें आपत्ति न होगी।[२]"

काव्यशास्त्र में भी केवल यूरोपीय विद्वानों ने ही नहीं, भारतीय विद्वानों ने भी इस 'आनंद' को, जैसा कि हम आरम्भ में भी कह चुके हैं। 'सकलप्रयोजनमौलिभूत' और रस

---

१. चिंतामणि, दूसरा भाग, वही, पृ० १३९।

२. वही, पृ० ६१-६२।

को 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा है। हमारे यहाँ का उपनिषद् वाक्य ही है—**"आनंदाद्धेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनंदेन जातानि जीवन्ति। जानंदप्रयत्नमिसंविशंतीति।"**[1] अर्थात् दूसरे शब्दों में रचना-कर्म के मूल में भी आनंद ही विद्यमान है और रचना का पर्यवसान भी आनंद में ही होता है। हमारे ही यहाँ सत्वोद्रेक से भी इस आनंद का सीधा संबंध जोड़ा है। कविराज विश्वनाथ ने यह कहकर—

"सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानंदचिन्मयः।
वेद्यांतरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥[2]"

और जिस रमणीयता को शुक्ल जी स्वीकार करते हैं, उसमें भी 'आह्लादजनक ज्ञानगोचरता की सत्ता स्वीकार करके उसकी आह्लाद-स्वरूपता को रेखांकित कर दिया गया है। हमारे ही यहाँ का काव्यनिर्मिति को 'ह्लादैकमयीं अनन्यपरतंत्राम्' भी कहा गया है। ऐसी स्थिति में यूरोपीय विद्वानों का ही नहीं, भारतीय विद्वानों का भी ध्यान रखा जाना चाहिए और निंदा-स्तुति जो भी करनी है, उसका उचित भाग भारतीयों को भी मिलना चाहिए।

भारतीय मनीषा के अनुसार आनंद, मार्ग भी है और चरम लक्ष्य भी। अन्य सारे प्रयोजन उसी मार्ग के व्यवहार हैं। उनका निषेध नहीं, काव्यशास्त्र में स्वीकार ही किया गया है। उन्हें चरम लक्ष्य की उच्चकोटि पर प्रतिष्ठित नहीं किया गया तो इसलिए कि वैसा करने से काव्य अपनी रचना-क्रिया की अपेक्षा वस्तु पक्ष तक सीमित होकर रह जाता है और शास्त्रादि से भिन्न नहीं रहता। अथवा वह जीवन की नितान्त भौतिकवादी दृष्टि अपना लेता है। काव्य से यश और अर्थ की सिद्धि मानें तो वह इसी दूसरी श्रेणी की वस्तु बनकर रह जाता है और व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये आदि की सिद्धि मात्र पर ही ध्यान जमाये रहें तो इतना तो शास्त्रादि से भी हो जाता है, तब काव्य की विशेषता क्या रही? वस्तुतः इन्हीं व्यवहारादि को अपने विशुद्ध रूप में नहीं, काव्य के रूप में ढलकर उपस्थित होना होता है। इन्हें काव्य के रूप में ढालने में ही आनंद का व्यवहार होता है, व्यवहार का आनंद वह नहीं है। दोनों के बीच के अंतर को ध्यान में रखना ही होगा।

ऐसा जान पड़ता है कि शुक्ल जी को आनंद को ही गंतव्य मान लेने से चिढ़ इसलिए भी है कि वे काव्य से लोक-मंगल की सिद्धि को ही श्रेय देते हैं। काव्य का चरम लक्ष्य आनंद प्राप्ति मान लिया जाय तो उन्हें इस क्षेत्र में अनधिकारियों के प्रवेश की शंका प्रतीत होती है। आनंद के नाम पर शायद मंगल और नैतिकता न रह जाय। यही कारण है कि उन्होंने काव्य में आनंद को स्वीकार करते हुए भी उसकी साधनावस्था को तो विशेष महत्त्व दिया है, किन्तु उसकी सिद्धावस्था को वे अपनी प्रशंसा और सहानुभूति का पात्र नहीं बना पाये हैं। शुक्ल जी प्रयत्न-

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद्, ३।६।

२. साहित्यदर्पण, ३।२-३।

पक्ष की तुलना में उपभोग-पक्ष को, करुणा की तुलना में प्रेम को, सात्त्विक क्रोध और रक्षा की तुलना में मृदुता और पालन को अपेक्षाकृत अनुपयोगी मानते और नीचा करके देखते हैं। उन्हें यों लोकरंजन भी उतना ही प्रिय है जितना लोकमंगल, पर वहीं तक जहाँ तक लोक-मंगल के मार्ग और सहयोग से लोकरंजन तक पहुँचा जाता है, एकमात्र लोक-रंजन की उपयोगवादी दृष्टि से उनकी सहमति नहीं है। इस संदर्भ में उनका यह कथन ध्यान देने योग्य है कि "...इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनंदज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमंगल और लोकरंजन के रूप में प्रकाश करती है।"[1] इसीलिए वे उन्हें 'पूर्ण कवि' मानते हैं जो "जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं।"[2] और शक्ति काव्य तथा कलाकाव्य में से शक्तिकाव्य का इसीलिए पक्ष लेते हैं। उनका कथन है कि "वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों में भी यदि कला में चूक हुई तो लोकगति को परिचालित करने-वाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा। यहीं तक नहीं, व्यंजित भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति या साधारणीकरण तक, जो रस की पूर्ण अनुभूति के लिए आवश्यक है, न हो सकेगा। यदि 'कला' का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं में है—अर्थात् मनोरंजन या उपभोग मात्र का विधायक—तो काव्य के संबंध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिए।[3]"

शुक्ल जी सौन्दर्य, धर्म, मंगल और आनंद की एकत्र स्थिति के विश्वासी हैं, पृथकतः और एकांततः आनंद उन्हें प्रिय नहीं है। कुछ विस्तार का संकट सहन करते हुए भी इस प्रसंग में यहाँ उनके इस कथन की ओर ध्यान आकृष्ट करना उपयोगी होगा। "सौन्दर्य का यह उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटाकर होता है। धर्म और मंगल की यह ज्योति अधर्म और अमंगल की घटा को फाड़ती हुई फूटती है। इससे कवि हमारे सामने असौन्दर्य, अमंगल, अत्याचार, क्लेश इत्यादि भी रखता है। रोष, हाहाकार और ध्वंस का दृश्य भी लाता है। पर सारे भाव, सारे रूप और सारे व्यापार भीतर-भीतर आनन्द-कला के विकास में ही योग देते पाये जाते हैं।[4]"

यहाँ दो बातें क्रमशः ध्यान देने योग्य हैं तथा विचारणीय हैं। एक तो यह कि शुक्ल जी धर्म और मंगल का आग्रह रखते हुए भी काव्य के मौलिक स्वरूप की उपेक्षा नहीं करते और कवि को धार्मिक या उपदेशक की श्रेणी में नहीं रखते। उनकी दृष्टि में काव्य में सौन्दर्य का विधान ही महत्त्वपूर्ण है। उसी के बीच के धर्म और मंगल अपनी छटा का विकास

---

१. रस मीमांसा, पृ० ५६।
२. वही, पृ० ५६।
३. वही, पृ० ५७-५८।
४. वही, पृ० ५९।

और प्रकाश करते हैं और इस तरह के काव्य में आनन्द की उपस्थापना के विरुद्ध नहीं हैं। विरुद्ध में आनन्द की टॉलसटॉयी एकदेशीयता के या रीतिकालीन काव्य की-सी ऐकान्तिकता के इसी प्रसंग में यह बात ध्यान देने की है कि आचार्य शुक्ल की यह बात अग्राह्य नहीं रही है। इस बात का प्रभाव है कि विद्वानों ने सूर के या छायावादी काव्य, जिन्हें शुक्ल जी ने सिद्धावस्था की श्रेणी में ही रखा है—में लोक-मंगल के तत्त्वों को खोजने और उन पर बल देने का प्रयत्न किया है।[1]

दूसरे, जो विचारणीय है वह यह कि प्राचीन आचार्यों और आचार्य शुक्ल के बीच इस बात में तो सहमति है कि काव्य में और सदय में सत्त्वगुण की सत्ता आवश्यक है, पर प्राचीन आचार्य जिस तरह सत्त्वोद्रेक से साधारणीकरण और रस तक पहुँचकर आनन्द की बात करते थे, आचार्य शुक्ल वैसा नहीं करते। प्राचीन आचार्यों ने काव्य का इस प्रकार का श्रेणीभेद नहीं किया। परिणामतः उनके लिए सभी प्रकार के काव्य में (से) सत्त्वोद्रेक का होना स्वीकार किया जायगा। पर शुक्ल जी चूँकि आनन्द को उपभोग-वृत्ति के रूप में देखते हैं, इसलिए उनके सिद्धान्त की अनिवार्य परिणति यह है कि वे साधनावस्था वाले काव्य में (से) जैसा सत्त्वोद्रेक मानेंगे, वैसा (उतना) सिद्धावस्था वाले काव्य से नहीं मानेंगे। एक स्थिति यह भी हो सकती है कि ऐसे काव्य से कभी-कभी सत्त्वोद्रेक हो ही नहीं। यानी सत्त्वोद्रेक के बिना भी कोई भावनात्मक काव्य (क्योंकि मात्र अलंकारध्वनि या वस्तुध्वनि वाला काव्य भी हो सकता है और वहाँ सत्त्वोद्रेक की आवश्यकता नहीं भी हो सकती) हो सकता है और वह आनन्द भी दे सकता है। पर वह रसात्मक तुष्टि नहीं दे सकता। पहले प्रकार के अन्तर्गत शुक्ल जी शायद सूर आदि का काव्य रखना चाहेंगे और दूसरे के अन्तर्गत रीतिकाव्य को।[2]

हमारे इस कथन की पुष्टि स्वयं आचार्य शुक्ल के कथनों से होती है। उन्होंने कहा है—(१) रसात्मक तुष्टि का क्षेत्र उपभोग-वृत्ति से और आगे तक है, यह बात साधनावस्था के अन्तर्गत कही जा चुकी है। गोस्वामी तुलसीदास जी का 'रामचरितमानस' मनोरंजन करके या जी बहलाकर ही नहीं रह जाता। वह हृदय के मूल में सत्त्व की ज्योति जगाता है।"[3] अर्थात् सिद्धावस्था या उपभोग-वृत्ति के काव्य से सत्त्व की ज्योति नहीं जागती और उससे रसात्मक तुष्टि भी नहीं होती।

(२) 'जो केवल अपने विलास या शरीर सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूँढ़ा करते हैं, उनमें उस रागात्मक 'सत्त्व' की कमी है जो व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है।" अर्थात् सत्त्व का कार्य है व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देना। यही

---

१. रस-मीमांसा, पृ० ३२ और ६१।

२. वही, पृ० ५८।

३. वही, पृ० ७३।

अन्तःसत्ता की तदाकार परिणति भी कहलायेगी। इसी से शुद्ध स्वार्थमुक्तता और मनुष्यता की उच्चभूमि या विश्व-हृदय की सिद्धि भी होती है जो काव्य का, शुक्ल जी द्वारा कथित, अनिवार्य लक्षण है। पर शुक्ल जी की दृष्टि में कुछ व्यक्तियों (और वैसे ही कुछ काव्यों) में रागात्मक सत्त्व की कमी भी हो सकती है।

'कमी' के दो अर्थ हो सकते हैं—एक, उसका नितांत अभाव और दूसरा, उसकी मात्रात्मक न्यूनता। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति त्रिगुणमय है, अतः पहला अर्थ अर्थात् पूर्णाभाव मानना ठीक न होगा, मात्रा की कमी ही माननी पड़ेगी। मात्रात्मक कमी का परिणाम यह होगा कि वहाँ रज या तम में से कोई एक उभरा होगा। ऐसा होगा तो स्वाभाविक है कि रस की सत्ता भी न होगी। न 'अपनी पृथक् सत्ता से छूटकर हृदय की मुक्तावस्था' ही प्राप्त होगी, न 'ऐसा हृदय स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर' ले जाया जा सकेगा और न 'उसके अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन' करने की नौबत आयेगी। न 'अनुभूति-योग' सिद्ध होगा, न 'भावयोग'। और यदि यह सब नहीं होगा तो बिना इसके 'वाणी जो शब्दविधान करती आयी है उसे 'कविता' भी नहीं कहा जा सकेगा।' कम-से-कम शुक्ल जी द्वारा कथित कविता के लक्षण की व्याप्ति से वह रचना न आ सकेगी। सारतः, जिसे शुक्ल जी सिद्धावस्था का काव्य कहते हैं न उससे सत्त्व जागेगा न सत्त्वाभाव में उक्त स्थितियाँ उत्पन्न होंगी। और चूँकि ये नहीं होंगी तो वह रचना भी, शुक्ल जी की परिभाषा के अनुसार, काव्य न कहला सकेगी। फिर भी यदि शुक्ल जी सिद्धावस्था वाली रचनाओं को काव्य के अन्तर्गत परिगणित करते हैं तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि वे स्वयं अपने ही द्वारा निर्धारित परिधि या लक्ष्मण रेखा को किसी विवशता से लाँघने और इस तरह एक प्रकार से वदतोव्याघात के दोषी हो जाते हैं।

इस वदतोव्याघात और अव्याप्ति दोष से बचने का एक मार्ग यह है कि सत्त्व की कमी को न तो अभावात्मक माना जाय, न अप्रधानता-रूप, बल्कि उसे साधनावस्था के काव्य के तत्त्व की तुलना में मात्रा से कम माना जाय किन्तु उसकी प्रधानता को अस्वीकार न किया जाय। शुक्ल जी इसीलिए उच्चदशा का प्रेम और करुणा दोनों को सत्त्वगुण प्रधान मानते हैं और प्रेम का सम्बन्ध सिद्धावस्था वाले काव्य से बीजभाव के रूप में जोड़ते हैं। प्रेम वास्तव में राग का ही पूर्ण विकसित रूप है। या "सीधी बात यह है कि वासनात्मक अवस्था से भावात्मक अवस्था में आया हुआ राग ही अनुराग या प्रेम है। राग वास्तव में व्यक्तिबद्ध नहीं होता।"[1] इसलिए इस प्रेम से भी वही मुक्तावस्था प्राप्य है और इसलिए इसका निर्वाह करनेवाली रचना भी काव्य है, भले ही अपने प्रभाव में कम सत्त्वोद्रेकशील हो। हाँ, वासना जगाने वाली रचना न काव्य कहलायेगी, न उससे सत्त्वोद्रेक होगा, न हृदय की मुक्तावस्था सम्भव होगी।

शुक्ल जी पूर्ण प्रभविष्णुता के लिए काव्य में सत्त्वगुण की सत्ता आवश्यक मानते हैं,

---

१. रस-मीमांसा, पृ० १३।

पर दोनों रूपों में--(१) दूसरे भावों की तह में अर्थात् अंतस्संज्ञा में स्थित अव्यक्त बीज रूप में भी[१] और (२) प्रकाश रूप में भी। और उच्चदशा वाले प्रेम में भी वह गुण अवश्य विद्यमान होगा। जहाँ-जहाँ वैसा होगा, वहाँ कविता होगी, जहाँ वैसा न होगा वहाँ आनन्द का खिलवाड़ मात्र होगी और रससिद्धि न हो सकेगी।

सत्त्वोद्रेक को स्वीकार कर लेने पर काव्य से आनन्द की निष्कृति संभव ही नहीं है। क्योंकि जिस दर्शन से यह शब्द गृहीत है, वहीं सत्त्व का निर्वचन यह कहकर किया गया है कि सत्त्व लघु और प्रकाशक होता है। लघु अर्थात् चित्त को बोझिल नहीं, उसे हल्का करने की शक्ति से सम्पन्न है और प्रकाशक है अर्थात् चित्त में विशदता लाता है। चित्त का यह प्रकाश संवित् अथवा ज्ञान का बोध कराता है। यह ज्ञान सत्त्वस्थ होने के कारण 'रजस्त-मोभ्यां अस्पृष्टं' है और इसीलिए व्यक्तिगत राग-द्वेष-विरहित अनुभूति मात्र हो जाना इसकी प्रकृति है। चित्त की यह अवस्था निर्मल और शुचि है तथा ऐन्द्रिय ज्ञान से भिन्न दशा है। भिन्न इसलिए कि रज तथा तम के प्रभाव या संस्पर्श से अज्ञान बना रहता है और ऐन्द्रिय स्तर पर मनुष्य अनुभवों को वैयक्तिक करके ग्रहण करता है जिससे उसे कभी सुख और कभी दुःख का बोध होता है।[२] वैयक्तिक बोध की यह वृत्ति चित्त की सत्त्वस्थ अवस्था में नहीं रहती अर्थात् वैयक्तिक राग-द्वेष और तत्परिणामी सुख या दुःख से विरहित वास्तविक ज्ञान दशा की प्राप्ति होती है। इस ज्ञानात्मक दशा में आनन्द का ही अनुभव होता है। इस प्रकाशानन्दमय बोध की परिणति चित्त की विश्रांति में होती है। यह विश्रांति एक प्रकार की तृप्ति की अवस्था है। इसी अवस्था को वे भोग कहते हैं। सत्त्वगुण के प्राधान्य अर्थात् रजोगुण तथा तमोगुण के मिश्रण के रहते सत्त्वगुण की प्रबलता की अवस्था में चित्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं जिन्हें क्रमशः द्रवीभाव या द्रुति, विस्तार और विकास कहा जाता है। इनके मिश्रण रूप सत्त्वगुण के प्राधान्य से प्रकाश तथा आनन्दमय साक्षात्कार में विश्रांति रूप एवं परब्रह्म के आस्वाद के सदृश भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान या साधारणी-कृत रस का भोजकत्व व्यापार के द्वारा अनुभव या भोग किया जाता है।[३]

भट्टनायक के उक्त मत के अनन्तर अभिनवगुप्त ने भी रस को निर्विघ्न प्रतीतिग्राह्य मानकर उसे, और साथ ही, उससे उत्पन्न होनेवाले कम्प और रोमांचोदय आदि अनुभवात्मक विकारों को चमत्कार की संज्ञा से अभिहित किया है। इस अविघ्न संवित् रूप चमत्कार को वे अतृप्ति से भिन्न अर्थात् पूर्ण तृप्ति रूप भोगावेश कहते हैं। और रस का भोग करने-वाले के, अद्भुत भोगात्मक व्यापार या स्पन्द से आविष्ट मन के चमत्कृत होने को चमत्कार का अभिधान देते हुए वे उसे साक्षात्कारात्मक मानस-अध्यवसाय या संकल्प अथवा स्मृति के नाम से भी स्वीकार करते हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि स्मृति से उनका

---

१. रस-मीमांसा, पृ० ७६।

२. वही, पृ० ६९।

३. हिन्दी अभिनव भारती, १९६०, पृ० ४६५।

तात्पर्य न्याय में प्रसिद्ध 'ज्ञानविषयं ज्ञानं स्मृतिः' रूप स्मृति नहीं है अपितु प्रतिभान जिसका दूसरा नाम है, इस प्रकार की साक्षात्कारात्मक स्वभावरूप स्मृति है। इसलिए यह आस्वाद-स्वरूप ऐसी प्रतीति अवश्य होती है जिसमें निर्विघ्न रूप से रति का ही भाव होता है उसी प्रकार भय में सामाजिक की आत्मा न अत्यन्त उपेक्षित होती है, और न विशेष रूप से उल्लिखित ही। इसीलिए अन्य विशेषों या भेदक धर्मों से अनुपहित रहने के कारण, आस्वाद योग्य होते हुए भी वह न लौकिकी, न मिथ्या, न अनिर्वचनीय, न लौकिक के सदृश या उसके आरोपादि रूप कही जा सकती है। बल्कि वह उन सब प्रतीतियों से विलक्षण है और चमत्कार निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रांति आदि शब्दों से कही जाती है।'[1]

हम प्राचीन आचार्यों के कथनों की इतनी लम्बी उद्धरणी के लिए क्षमा चाहते हैं। हमारा लक्ष्य प्राचीनों को प्रस्तुत करना नहीं है, शुक्ल जी के विचारों की सही भूमि और भूमिका की खोज करना या नये सिरे से उन पर विचार करना है। यहाँ दिये गये प्राचीनों के विचारों से हमें जो उपयोगी तत्त्व मिलते हैं और जिनका शुक्ल जी को समझने में लाभ उठाया जा सकता है, वे हैं:—

(१)' प्राचीनों के मतानुसार सत्त्वगुण प्रधान मात्र होता है और रजोगुण तथा तमोगुण का उसमें मिश्रण रहता है। वे तिरोहित होकर अभावरूप नहीं हो जाते। नीबू के रस, पानी, शक्कर और हल्की मात्रा में नमक के मिला देने पर जैसे मीठेपन की प्रधानता के रहते भी नमक का हल्का किन्तु अनुकूल स्वाद बना रहता है और आनन्ददायी होता है, वैसे ही सत्त्वगुण के प्रधान होने से रजोगुण तथा तमोगुण के तत्त्व भावभेद से कभी चित्त को द्रुत करते, कभी दीप्त करते और कभी उसका विस्तार करते हैं पर सत्त्वगुण के स्वरूप से प्रभावित भी रहते हैं। दूसरे शब्दों में, भिन्न भावों के आधार पर भिन्न प्रकार की भावात्मक अनुभूतियाँ तो होती हैं, भय या रति की अभिव्यक्ति की गयी है तो उनका वैसा ही भाव भी होता है अथवा कहें कि सत्त्व के कारण इस ज्ञान का प्रकाश भी होता है कि भय है या रति है या शोक है, किन्तु इस प्रकाश का स्वरूप चूँकि यह है कि वहाँ व्यक्ति-सम्बन्ध-निरपेक्ष भाव-मात्र अनुभूत होता है इसलिए वह वैयक्तिक सुख-दुःख से परे होता है। परिणामतः सहृदय का चित्त द्रवणशीलतादि का अनुभव करता हुआ भी उसी भाव में स्थिर अर्थात् विश्रान्त हो जाता है। स्थिर होना ही अनुद्विग्न या अचंचल होना है। इसी को अभिनवगुप्त ने आत्मा के उपेक्षित या उल्लिखित न होने की बात कहकर समझाया है। यह बात जानी हुई है कि जिस बात, वस्तु, व्यक्ति या घटना को लेकर आप उद्विग्न नहीं हैं, मन को उसमें स्थिर किये हुए हैं, और आपकी इस स्थिर मुद्रा को कोई अंतराय भंग नहीं कर रहा है, उनमें आपको लीन या लय हुआ ही कहा या माना जायगा। यही माना जायगा कि आप उसका भोग कर रहे हैं। इसीलिए उस अवस्था को अभिनवगुप्त या अन्य जैसा चमत्कारादि नामों से पुकारेंगे

---

१. हिन्दी अभिनव भारती, १९६०, पृ० ४७१-४७२।

वैसा ही उस आनन्द नाम से भी अभिहित करेंगे और आस्वाद्य होने से रस भी कहेंगे। तात्पर्य यह कि—

(अ) अनुभव सहृदय को भिन्न भावदशाओं के अनुकूल ही होगा, किन्तु

(ब) भिन्न होने पर भी चित्त की अव्यग्र, अनुद्विग्न और अचल अर्थात् थिर (जड़ नहीं) तथा सत्त्वगुण के कारण एक और भी उदात्त या अवदात दशा होती है, यही रस दशा है जिसकी अनिवार्य परिणति आनन्दमय है। रस है तो आनन्द भी है। दोनों में कोई विरोध नहीं है, अविनाभाव सम्बन्ध अवश्य है।

(स) अविघ्न होने से यह चमत्कार रूप रस पूर्ण तृप्तिदायक होगा।

इस आलोक में देखें तो आनन्द, जैसा कि शुक्ल जी समझते हैं, मात्र उपभोगवृत्ति नहीं है। रस के भिन्न न होने के कारण वह परम लक्ष्य भी है, केवल मार्ग ही नहीं और तृप्ति उत्पन्न करने के कारण वह रसात्मक तुष्टि का वह रूप भी है जिसे शुक्ल जी उपभोग-वृत्ति से आगे मानते हैं। शुक्ल जी रस को ही काव्य का परम प्रयोजन मानते हैं और आनन्द का निषेध करते हैं, पर अभिनवगुप्त आनन्द और रस में अन्तर न मानते हुए रस को परम प्रयोजन भी मानते हैं और इस प्रकार पर्याय से आनन्द को भी परम प्रयोजन सिद्ध करते हैं। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है : "संवेदन नाम से व्यंग्य, (पर-प्रधान) साक्षात्कारात्मक प्रतीति का विषय और आस्वादन रूप अनुभवभूत रस ही काव्य का प्रयोजन कहलाता है।"[1]

उक्त विवेचन से यह बात भी, हम समझते हैं, स्पष्ट हो गयी है कि दुःखात्मक दृश्यों से सुख या आनन्द की कल्पना भारतीय काव्यशास्त्र में इस रूप में नहीं की गयी है कि 'दुःख का अनुभव अथवा क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृतरूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते।' अतः यह भी अब छिपा नहीं है कि दुःख के भेद सुख के भेद नहीं प्रतीत होने लगते और न मृत पुत्र को लिये विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफ़न माँगना देखकर आँसू नहीं आते। चित्त का द्रुत होना भी जिस अर्थ में आनन्दगत है, वह भी स्पष्ट है। और इस तरह शुक्ल जी का यह कहना कि दाँत निकल पड़ते हैं? बेमानी हो जाता है। अब इससे अधिक अभिनवगुप्त की ओर से क्या कहा जाय कि सब रसों की आनन्द-रूपता तो है 'किन्तु उपरंजक विषयों के कारण, वीर रस के समान उनमें भी दुःख का स्पर्श रहता है। क्योंकि वह (वीर रस) क्लेश सहिष्णुतादि प्रधान होता है।'[2]

वस्तुतः शुक्ल जी का विवेचन पश्चिम में आनन्द शब्द से गृहीत 'प्लेजर' या 'एन-जायमेण्ट' जैसे शब्दों के हलके अर्थ के प्रति खीझ से भरा हुआ है। उसी क्रम में यदि वे अपने सात्त्विक क्रोध में कभी अतिरेक की स्थिति में पहुँचकर दाँत निकल पड़ने की भोली कल्पना कर बैठते हैं तो इस व्यतिक्रम को अपवाद ही मानना चाहिए। अन्यथा उनका विवेचन भारतीय

---

१. हिन्दी अभिनव भारती, १९६०, पृ० ४६७।

२. वही, पृ० ४७८।

पद्धति पर ही हुआ है, यह अब तक के हमारे विवेचन से भी स्पष्ट है और उनके इन कथनों से भी उसकी पुष्टि होती है।

(१) "क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा के सम्बन्ध में साहित्य-प्रेमियों को शायद कुछ अड़चन दिखाई पड़े क्योंकि इनकी वास्तविक अनुभूति दुःखात्मक होती है। रसास्वाद आनन्दस्वरूप कहा गया है, अतः दुःखरूप अनुभूति रस के अन्तर्गत कैसे ली जा सकती है, यह प्रश्न कुछ गड़बड़ डालता दिखाई पड़ेगा। पर आनन्द शब्द को व्यक्तिगत सुखभोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। इसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ। इस दशा की प्राप्ति के लिए समय-समय पर प्रवृत्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। करुणरस प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के सम्बन्ध में यह कहना कि "आनन्द से भी तो आँसू आते हैं, केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।"[१]

(२) "वह व्यवस्था या वृत्ति, जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, धर्म है। अतः अधर्म वृत्ति को हटाने में धर्म वृत्ति की तत्परता—चाहे वह उग्र और प्रचण्ड हो, चाहे कोमल और मधुर—भगवान् की आनन्द-कला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है। यह गति यदि सफल हुई तो 'धर्म की जय' कहलाती है। इस गति में भी सुन्दरता है और इसकी सफलता में भी। यह बात नहीं है कि जब यह गति सफल होती है तभी इसमें सुन्दरता आती है। गति में सुन्दरता रहती ही है, आगे चलकर चाहे यह सफल हो, चाहे विफल। विफलता में भी एक निराला ही विषण्ण सौन्दर्य होता है।"[२]

शुक्ल जी जिसे 'निराला विषण्ण सौन्दर्य' कहते हैं वह शोकादि के दृश्यों, वर्णनों से जनित दुःख की रसात्मक चमत्कार या आनन्दपूर्ण स्थिति ही है और उसमें मंगल का भी उतना ही योग है। शुक्ल जी के इस कथन से कि 'दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं' यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि ऐसे स्थलों पर रसात्मक अनुभूति दुःखात्मक होती है। जैसे यहाँ आनन्द को 'व्यक्तिगत सुखभोग' मानकर उसकी उपस्थिति का निषेध किया गया है, वैसे ही व्यक्तिगत दुःखभोग का भी निषेध करना पड़ेगा। दुःखभोग की होकर भी यह अनुभूति व्यक्तिगत दुःखभोग की नहीं होती। व्यक्तिगत सुखभोग या व्यक्तिगत दुःखभोग का न होना ही रसानुभूति की अवस्था का होना है और यही हृदय की मुक्तदशा है। शुक्ल जी को, और हमारी दृष्टि में प्राचीन संस्कृत आचार्यों को भी, इसी मुक्तदशा में रसात्मकता की अनुभूति होती है और चूँकि स्वयं शुक्ल जी की दृष्टि में हृदय का व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही आनन्द अनुभव करना है, अतएव रसानुभूति कैसी भी हो

---

१. रस-मीमांसा, पृ० २७३।

२. वही, पृ० ६०।

नित्य-स्वरूप में आनन्दात्मक ही है, ऐसा मानना स्वयं शुक्ल जी के तर्क के प्रतिकूल नहीं है।

'काव्य में अभिव्यंजनावाद' भाषण में शुक्ल जी क्रोचे के विचारों के प्रसंग में भी इस बात के प्रति अपना असंतोष व्यक्त करते हैं और करुण रस से श्रोताओं या दर्शकों की आँख में आँसू आने का प्रमाण देकर आँसुओं को भावोद्रेक का बाह्य लक्षण (सिम्पटम) मानकर कहते हैं : "मनोविज्ञान की दृष्टि से यह तो साफ प्रकट है कि काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में ही होती है। रहा यह कि वह आनन्दस्वरूप होती है या नहीं, मुझे इस बात का विशेष आग्रह नहीं।"[1]

यहाँ दो बातें लक्षित करने योग्य हैं—(१) शुक्ल जी खुले तौर पर आनन्द शब्द के प्रयोग का विरोध करते हैं पर दबी जबान से उसे स्वीकार भी कर लेते हैं। 'विशेष आग्रह नहीं' और 'कहिये या न कहिये' में निःसन्देह धिक्कार का स्वर प्रबल है पर उसमें स्वीकार का लेश भी नहीं है, यह सत्य नहीं है। शुक्ल जी का विरोध इस बात को लेकर है कि आनन्द कहते ही अलौकिकता की गंध आने लगती है और भावानुभूति के नाम पर वे जो अपने पैर लोक की जमीन पर टिकाये हुए हैं, वे लड़खड़ाने और उखड़ने लगते हैं। (२) यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि जिसे पूर्वोद्‌धृत वाक्य में शुक्ल जी ने हृदय का व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना कहा है, वह कोई और स्थिति नहीं, हृदय की स्वच्छन्द भावात्मिका क्रिया में तत्पर होना ही है, जिसकी चर्चा शुक्ल जी ने ऊपर दिये गये अन्तिम उद्धरण में की है।

हमारा पक्ष इतना ही है कि स्वच्छन्द भावात्मिका क्रिया तो रस की निर्विघ्न प्रतीति-जनित विश्रान्ति दशा के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं, क्योंकि उस विश्रान्ति में उद्विग्नता और तज्जनित शारीरिक सक्रियता का निषेध तो है, भावात्मिका क्रिया का नहीं है, बल्कि उसकी उपस्थिति ही स्वीकार है। अतः इस विषय में भी मतभेद नहीं है। रहा आनन्द की अलौकिकता का प्रश्न ? निवेदन है कि यहाँ अलौकिकता कोई लोक-बाह्य स्वर्गीय वस्तु नहीं है। प्राचीनों ने इस बात को अनेक बार स्पष्ट कर दिया है कि चूँकि रसावस्था में कार्य-कारण और संशयादि में से किसी एक को ही स्थिरता से नहीं बताया जा सकता, सबका मिला-जुला-सा ज्ञान होता है, अतएव यह स्थिति चमत्कारक, विलक्षण या अलौकिक जैसे नामों से ही प्रकट की जाती है। इतना ध्यान रख लेने पर आनन्द की अलौकिकता से घबराने की आवश्यकता नहीं रह जाती। विशेषतः इसलिए भी नहीं कि स्वयं शुक्ल जी भी, जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है, विषण्णता में भी निराला सौन्दर्य देखते हैं। निराला सौन्दर्य कहिये या अलौकिक आनन्द, विलक्षण या अनिर्वचनीय आनन्द कहिये, बात वही है। फेर केवल इस बात का है कि शुक्ल जी आज की शब्दावली इस्तेमाल कर रहे हैं और प्राचीनों ने अपने समय की शब्दावली का प्रयोग किया है। आज वह कुछ अनहोनी या आध्यात्मिक-सी लगती

---

१. चिं० दू०, पृ० २०५।

है। पर यह कहना गलत होगा कि वह एकांततः आध्यात्मिक तत्त्वों से पूर्ण है और लौकिक अभिप्रेत उसका कुछ है ही नहीं। वास्तविकता तो यह है कि कलात्मक पक्ष को ध्यान में रखकर और लोक से गृहीत होकर भी लोक-विलक्षण होने के कारण ही शास्त्रकर्त्ताओं ने लोक-प्रचलित कारण, कार्य आदि शब्दावली का प्रयोग न करके विभाव आदि शब्दों का प्रयोग किया है। शुक्ल जी को वह मान्य है तो आनन्द और अलौकिक आदि भी मान्य होना चाहिए। कुछ लोग यदि आनन्द को पारिभाषिक अर्थ में ग्रहण न करके हल्के तौर पर व्यक्तिगत सुख या मनोरञ्जन के अर्थ में ही उसे ग्रहण करते हैं तो उनके कारण शब्द-त्याग करने की अपेक्षा उसके सही अर्थ और अभिप्राय की ओर ध्यान देना और दूसरों का ध्यान आकर्षित करना उचित होगा। अथवा; बहुत हुआ तो यह ठीक होगा कि नयी शब्दावली का प्रयोग किया जाय पर इस बात का भी संकेत कर दिया जाय कि पुरानी शब्दावली में उसे क्या कहा जायगा और वह कहाँ तक ठीक है। यदि शुक्ल-जी को दार्शनिक शब्दावली की घुसपैठ पर आपत्ति है और उससे उन्हें लोक के भटकाव का अंदेशा है तो यही कहाँ निश्चय है कि वे लोग स्वयं शुक्ल जी द्वारा प्रयुक्त और प्रवर्तित मुक्तदशा आदि दार्शनिक शब्दावली को भी सही ढंग से ग्रहण करते या समझते हैं।

यहाँ इतना कहना और अभीष्ट है कि यदि शुक्ल जी आत्मा आदि शब्दों के प्रयोग से आध्यात्मिकता के प्रवेश से नाराज हैं तो इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि स्वयं श्रीमद्भगवद्गीता में तथा उपनिषदों में आत्मा शब्द का प्रयोग हृदय, मन, अंतःकरण, प्राण आदि के अर्थ में हुआ है और ऐसा मान लिया जाय तो हृदय की मुक्तावस्था जैसी शब्दावली को भी आध्यात्मिकता के आलोक से मुक्त नहीं रखा जा सकता। मनोविज्ञान में भी नवीन खोजों के अन्तर्गत हृदय की अवस्थिति और क्रियाशक्ति के विषय में नयी स्थापनाएँ की गयी हैं। अतएव उनके सहारे स्वयं शुक्ल जी की स्थापनाओं को फिर समझना जरूरी होगा। पुनरावृत्ति न करके हम अन्त में यही कहना चाहेंगे कि एकाध अतिरिक्त भावुकता-पूर्ण अपवाद को छोड़कर शुक्ल जी का मत प्राचीनों के मत के विरुद्ध नहीं जाता, उनकी समकालिक नयी शब्दावली में व्याख्या ही करता है। और गहरे में जाकर देखें तो रसात्मक अनुभूति शुक्ल जी के लिए भी आनन्दानुभूति ही प्रमाणित होती है और काव्य का प्रयोजन भी दोनों के लिए (अलंकारादि पक्ष के विचारकों को छोड़कर) रस ही है।[१]

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
हिन्दी-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-७

---

१. चि० दू०, पृ० २०५।

मध्यकाल : आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी की व्याख्या

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

मध्यकालीन शब्द अपने प्रयोग में धीरे-धीरे कालवाचक के साथ-साथ मूल्यवाचक भी बन गया है। हिन्दी साहित्य के प्रसंग में एक रोचक अन्तर्विरोध यह है कि मध्यकालीन साहित्य जहाँ अपने में उत्कृष्ट माना जाता है वहाँ मध्यकालीन दृष्टि पिछड़ी हुई और प्रतिक्रियावादी समझी जाती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, जिनका मुख्य कृतित्व किसी-न-किसी रूप में मध्यकाल से जुड़ा रहा, अपने कृतित्व में तो वरेण्य हैं ही, अपनी दृष्टि में भी वे प्रगतिशील बने रहे। यों उन्होंने अपने ढंग से उपर्युक्त अन्तर्विरोध का शमन किया। छोटे-बड़े अनेक अन्तर्विरोधों को अपने में समोये और शमित रखना एक असाधारण व्यक्तित्व का लक्षण है। हजारीप्रसाद द्विवेदी इस रूप में पण्डित और प्रोफेसर, नये तथा पुराने कृतिकार तथा शोधक साथ-साथ थे। तब यह स्वाभाविक ही था कि उन्होंने मध्यकालीन बोध को आधुनिक दृष्टि से व्याख्यायित किया।

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४०) जो आचार्य द्विवेदी की आरम्भिक यद्यपि कि सबसे तेजस्वी समीक्षा कृति मानी जाती है, मूलतः हिन्दी साहित्य के मध्यकाल की खोज है। समीक्षक यहाँ दिखाना चाहता है कि मध्यकाल की भक्तिरचनाएँ, विशेषतः सन्त-काव्य, भारतीय चिन्ताधारा का स्वाभाविक विकास है। 'भूमिका' की निश्चित मान्यता है—"बौद्ध तत्ववाद, जो निश्चय ही बौद्ध आचार्यों की चिन्ता की देन था, मध्ययुग के हिन्दी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित पद-चिह्न छोड़ गया है जिसे 'सन्त साहित्य' नाम दिया गया है. . . . मैं जो कहना चाहता था वह यह है कि बौद्धधर्म क्रमशः लोकधर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिह्न हम हिन्दी साहित्य में पाते हैं"—(पृ० ९-१०)। यानी द्विवेदी की धारणा यह है कि बौद्धधर्म क्रमशः लोक-स्तरों में संक्रमित हुआ और धीरे-धीरे निर्गुण तथा सगुण दोनों भक्तिधाराओं का प्रेरक तत्त्व बन गया। इसी सिलसिले में उन्होंने भक्ति-साहित्य के विकास में इस्लाम के विशिष्ट प्रभाव को नकारा। 'भूमिका' का ही अब प्रसिद्ध वाक्य है ". . . . लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का रूप बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।" (पृ० २)।

अपने एक अगले अध्ययन में आचार्य द्विवेदी ने मध्यकालीन भक्तिसाहित्य के विकास के पीछे एक और तत्त्व रेखांकित किया है। उनका मानना है कि प्राकृत-अपभ्रंश की श्रृंगार-प्रधान कविताओं की प्रतिक्रिया में भक्तिपरक रचनाओं को बढ़ावा मिला। 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' (१९७०) के अन्तिम अंश में वे लिखते हैं—"अत्यधिक प्राकृतकेन्द्री कविता की प्रतिक्रिया का अवसान सहज भगवत्प्रेम में हुआ। सन्तों और सगुणमार्गी भक्तों ने नये रस-बोध को बढ़ावा दिया। यद्यपि रीतिकाल में संस्कृत की प्रवृत्तियों को जिलाये रखा गया, पर भक्ति के आदर्श उसे भी चालित करते रहे।"—(पृ० ११९)। उल्लिखित पुस्तक का मूल विषय सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का मध्यकाल है जिसका विस्तार वे ९वीं से १८वीं शती तक मानते हैं। इस काल में समीक्षक परिलक्षित करता है कि भारतीय चिन्ता, विवेक के स्थान पर रूढ़ि का समर्थन करती है। इस अवधि के उत्तरार्द्ध यानी १३वीं शती से द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य का मध्यकाल मानते हैं, जिसकी चर्चा भर छोड़कर वे प्रस्तुत व्याख्यानों का समापन करते हैं। इस तरह भक्ति-काव्य के विकास के पीछे वे दो तत्त्व देख रहे हैं—एक तो बौद्ध-चिन्तनप्रक्रिया का विकास और दूसरे प्राकृत-अपभ्रंशों की श्रृंगारिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया। और इन दोनों तत्त्वों को वे भारतीय लोक-जीवन से जुड़ा हुआ मानते हैं। इस्लाम के सम्बन्ध में उनका मत है कि "हिन्दी साहित्य में भी वह प्रभाव 'प्रभाव' के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रिया के रूप में नहीं।"—(पृ० २९)।

यहाँ स्पष्ट है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाव्य सम्बन्धी अपनी व्याख्या में इस्लाम के प्रति जो प्रतिक्रिया की बात कही थी,[१] वह हजारीप्रसाद द्विवेदी को मान्य नहीं। अब अच्छा तो यह होता कि दो पण्डितों के विवाद को यहीं छोड़ दिया जाता, पर एक बात की ओर ध्यान दिलाये बिना यह प्रसंग अधूरा रह जायेगा। सूरदास पर कार्य करते समय विद्वानों ने प्रायः वल्लभाचार्य की इन पंक्तियों को उद्धृत किया है—"देश म्लेच्छाक्रांत है, गंगादि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहे हैं, अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है, सत्पुरुष पीड़ित तथा ज्ञान विस्मृत हो रहा है, ऐसी स्थिति में एकमात्र कृष्णाश्रय

---

१. "हिन्दुओं के स्वातंत्र्य के साथ ही साथ वीर-गाथाओं की परम्परा भी काल के अँधेरे में जा छिपी। उस हीन दशा के बीच वे अपने पराक्रम के गीत किस मुँह से गाते और किन कानों से सुनते? जनता पर गहरी उदासी छागयी थी....हृदय की अन्य वृत्तियों (उत्साह आदि) के रंजनकारी रूप भी यदि वे चाहते तो कृष्ण में ही मिल जाते, पर उनकी ओर वे न बढ़े। भगवान् का यह व्यक्त स्वरूप यद्यपि एकदेशीय था—केवल प्रेम था, पर उस समय नैराश्य के कारण जनता के हृदय में जीवन की ओर से एक प्रकार की जो अरुचि-सी उत्पन्न हो रही थी, उसे हटाने में उपयोगी हुआ। मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और माधुर्य-पूर्ण पक्ष को दिखा कर इन कृष्णोपासक वैष्णवकवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।"

—(महाकवि सूरदास : 'त्रिवेणी')

में ही जीवन का कल्याण है।" भक्त-कवियों के एक प्रमुख गुरु के सीधे साक्ष्य पर यों प्रतिक्रिया-वाली व्याख्या पुष्ट होती है। अच्छा होगा कि प्रभाव और प्रतिक्रिया, दोनों रूपों में इस्लाम की व्याख्या सहज भाव से और अकुण्ठ मन से की जाये। तब आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के बीच दिखने वाला यह प्रसिद्ध मतभेद अपने-आप शान्त हो जायेगा। भक्तिकाव्य के विकास के पीछे बौद्ध-धर्म का लोकमूलक रूप है और प्राकृतों के शृंगारकाव्य की प्रतिक्रिया है तो इस्लाम के सांस्कृतिक आतंक से बचाव की सजग चेष्टा भी है। इस अन्तिम प्रवृत्ति का बड़ा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण निराला ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'तुलसीदास' के आरम्भिक दस छन्दों में किया है। पहला छन्द है—

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मण्डल,
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान,
है ऊर्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल।

यह वल्लभाचार्य और रामचन्द्र शुक्ल का समर्थन है। हजारीप्रसाद द्विवेदी की विशेषता यह है कि उन्होंने भक्तिसाहित्य के विकास में भारतीय परम्परा के योगदान को सही ढंग से मूल्यांकित और रेखांकित किया है।

पर उससे भी एक बड़ी बात है जहाँ उनके आधुनिक बोध का अच्छा प्रमाण मिलता है। आधुनिक दृष्टि शास्त्र के साथ-साथ और कभी लोकजीवन को उससे अधिक महत्त्व देती है। १९वीं शती से ही आधुनिक चिंतन सामान्य जन को केन्द्र में रखकर चलता है। इतिहास में राज-वंशों के स्थान पर सामाजिक इतिहास का महत्त्व, साहित्य में क्लैसिकल आभिजात्य के स्थान पर रोमाण्टिकों की जनसामान्य में रुचि, दर्शन में मानववादी विचार-धारा का विकास और इन सबकी राजनीति में व्यावहारिक परिणति, जनतंत्र का उदय, ये सभी प्रवृत्तियाँ एक ही दिशा की ओर संकेत करती हैं। इसी समय के आस-पास लोक-साहित्य और लोकवार्त्ता में अध्ययन की निष्ठा जागृत होती है और जर्मनी के पाण्डित्य में उस समय उपहास के विषय 'नव्य वैयाकरण' अतीत को गौरवशाली पर अब मृत भाषाओं के स्थान पर समकालीन जीवित और विकसनशील जनभाषाओं के अध्ययन पर बल देते हैं। 'नव्य वैयाकरणों' का समय १८८० के आस पास है, और फ्रेजर के 'गोल्डन बाउ' का प्रकाशन-काल है १८९०। लोकजीवन और लोकशक्ति में आस्था यों आधुनिक विचार-धारा की एक प्रमुख पहचान है। द्विवेदी अपने पाण्डित्य को बराबर लोकजीवन से जोड़कर रखते हैं। मध्यकाल में प्राकृत अपभ्रंशों के साहित्य से लेकर सन्तों की बानी तक उनकी रुचि और निष्ठा का विशाल क्षेत्र है। भूमिका में एक स्थान पर वे लिखते हैं—"भारतीय पाण्डित्य ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्रों में स्वभावतः ही

लोक की ओर झुक गया था।"—(पृ० १४)। यह टिप्पणी आचार्य द्विवेदी प्रकारान्तर से अपने सम्बन्ध में भी कर रहे हैं और इस स्थिति की तुलना उपर्युक्त १९वीं शती की आधुनिक यूरोपीय विचारधारा से भी की जा सकती है। एक पण्डित के रूप में आगे चलकर सन्त-मत का विश्लेषण करते हुए वे एक और साहसिक बात कहते हैं—"सच पूछा जाय तो शास्त्र-ज्ञान, तत्त्वज्ञान के मार्ग में सब समय सहायक ही नहीं होता और कभी-कभी तो उस युग की तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महापुरुषों का शास्त्रीय तर्कजाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है।"—(पृ० ३६)। इसी रूप में 'भूमिका' में हिन्दी साहित्य के विकास की व्याख्या चलती है। लोकजीवन की चिन्ता की यह पहला उल्लेख है। आचार्य शुक्ल की इस सम्बन्ध में अपने इतिहास की प्रतिज्ञा स्मरणीय है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९२९) का आरम्भिक अंश है—"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का सञ्चित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामञ्जस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।" 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में आचार्य द्विवेदी की प्रस्तावना इस प्रकार है—"मैं इसी रास्ते सोचने का प्रस्ताव करता हूँ। मतों, आचार्यों, सम्प्रदायों और दार्शनिक चिंताओं के मान-दण्ड से लोकचिंता को नहीं मापना चाहता बल्कि लोकचिंता की अपेक्षा में उन्हें देखने की सिफारिश कर रहा हूँ।"—(पृ० ८)। आचार्य शुक्ल की प्रतिज्ञा में केन्द्रीय प्रयोग 'जनता की चित्तवृत्ति' है तथा आचार्य द्विवेदी की प्रस्तावना में ऐसा प्रयोग 'लोक-चिंता' का है। ऊपर से एक-से दिखने पर भी दोनों प्रयोगों में गुणात्मक अन्तर है। ऐसा नहीं कि शुक्ल जी 'लोक' शब्द की छायाओं से परिचित नहीं थे। साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में वे बराबर 'लोकमंगल' की बात कहते हैं। पर यहाँ उन्होंने 'जनता' शब्द चुना है जो समाज के सभी वर्गों और समूचे जनजीवन को समेटता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का प्रिय शब्द 'लोक' है जो जनता के अपेक्षाकृत पिछड़े वर्ग को संकेतित करता है। यों द्विवेदी की चिन्ता समाज के पिछड़े वर्ग की ओर अधिक है। तब यह भी स्वाभाविक है कि आचार्य शुक्ल के मानक कवि जनता में प्रिय कवि तुलसी हैं, जब कि द्विवेदी के मानक कवि लोक में प्रिय कवि कबीर हैं।

यहाँ एक तथ्य की ओर संकेत करना अप्रासंगिक न होगा। आचार्य द्विवेदी का यूरोपीय या अंग्रेजी साहित्य से घनिष्ठ परिचय न था। यह बात उनके व्यक्तिगत जीवन सन्दर्भों से भी समझी जा सकती है और उससे भी अधिक उनकी पूरी समीक्षा-प्रक्रिया में परिलक्षित की जा सकती है। पर जो बात महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि २०वीं शती के भारतीय सन्दर्भों में अंग्रेजी से निकट परिचय न होने पर भी उनका व्यक्तित्व कहीं कुण्ठित नहीं हुआ। यही नहीं, उनके साहित्य या व्यक्तिगत जीवन से भी यह कहीं नहीं झलका कि अंग्रेजी भाषा या साहित्य से अच्छा परिचय न होना भी कोई कुण्ठा का विषय हो सकता है। दूसरी ओर यह दम्भ भी न था कि मेरा अच्छे से अच्छा काम अंग्रेजी के बिना चलता है। अंग्रेजी के

भीषण आतंक के युग में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेजी के प्रति जैसा सहज रुख अपनाया, वह उनके अप्रतिम आत्मविश्वास का द्योतक है। वे ऐसे पण्डित थे जिनका साहित्य-चिन्तन आधुनिक दिशाओं की ओर उन्मुख था और बिना अंग्रेजी का सहारा लिये हुए। भारतीय या हिन्दी पाण्डित्य का यह आत्मविश्वास भाव एक पूरी-की-पूरी पीढ़ी के लिए प्रेरक रहा है। और इस आत्मविश्वास का यदि आप विश्लेषण करें तो पायेंगे कि यहाँ संस्कृत के पाण्डित्य और लोकजीवन में निष्ठा, इन दोनों तत्त्वों ने मिलकर बड़े विनम्र भाव से अंग्रेजी के ज्ञान को हिन्दी साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में अप्रासंगिक कर दिया है। यह जानना रोचक है कि आचार्य द्विवेदी के यहाँ पण्डित शब्द का प्रयोग बहुत बार कबीर की मुद्रा में अवमानना से युक्त तो नहीं पर हल्के व्यंग्य को लिये हुए है। कुल मिलाकर पण्डित और लोक के बीच उनका पक्ष बराबर लोक का है और यही आत्मविश्वास का मूल स्रोत है। संस्कृत के प्रति आदर, अंग्रेजी के प्रति शालीन तटस्थता और लोक के प्रति निष्ठा तथा आत्मीयता, हजारीप्रसाद द्विवेदी का रचनात्मक व्यक्तित्व कुछ ऐसे अनुपात में बनता है।

लोकजीवन के सन्दर्भों को उभारते हुए समीक्षक ने हिन्दी साहित्य के परम्परागत संश्लिष्ट रूप की बड़ी सटीक व्याख्या की है। भाषाविज्ञान के बहुचर्चित अन्तरंग-बहिरंग भाषाओं के विभाजन को वे साहित्य के प्रसंग में एक नयी दृष्टि के साथ प्रस्तुत करते हैं। भूमिका में वे लिखते हैं—"समग्र भारतीय साहित्य में हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जिसमें पश्चिमी आर्यों की रूढ़िप्रियता, कर्मनिष्ठा के साथ ही साथ पूर्वी आर्यों की भाव-प्रवणता, विद्रोही वृत्ति और प्रेम-निष्ठा का मणि-काञ्चन योग हुआ है।"—(पृ० २९)। यहाँ भी ध्यान देना होगा कि स्वयं हजारीप्रसाद द्विवेदी का कृतित्व इस मणि-काञ्चन योग का एक प्रतिनिधि उदाहरण प्रस्तुत करता है। वे एक ओर कबीर के विद्रोही-मूर्तिभंजक व्यक्तित्व के प्रखर प्रशंसक थे, पर अपनी शैली में 'लिये लुकाठी हाथ' वाली मुद्रा उन्होंने कभी नहीं अपनायी। अपने निज मत को भी वे बड़ी विनम्रता के साथ कुछ अन्य पुरुष वाली भंगिमा में कहते हैं, जैसे किसी जनश्रुति का उल्लेख कर रहे हों। पण्डित जी के अनेक युवा मित्रों को उनसे बराबर यह शिकायत रही कि वे उनकी अपेक्षाओं के अनुरूप विद्रोही क्यों नहीं हैं! पर हजारीप्रसाद द्विवेदी को ऐसा विद्रोह कभी रास नहीं आया और उसका पाखण्ड तो और भी नहीं। "सूरदास सुधारक नहीं थे, ज्ञानमार्गी भी नहीं थे, किसी को कुछ सिखाने का भान उन्होंने कभी किया ही नहीं। वे कहीं भी किसी भी सम्प्रदाय, मतवाद या व्यक्ति-विशेष के प्रति कटु नहीं हुए...वे तुलसीदास की भाँति दृढ़चेता सेनानायक नहीं थे जो समाज की कुरीतियों से कुशलतापूर्वक बाहर निकलकर उस पर गोलाबारी आरम्भ कर दें। नन्ददास की तरह पर-पक्ष की युवतियों को तर्कबल पर निराश करना भी वे नहीं जानते थे। वे केवल श्रद्धालु और विश्वासी भक्त थे जो झगड़ों में पड़ने के ही नहीं।"—(पृ० १०१)। यहाँ कवि सूरदास के व्यक्तित्व-विश्लेषण के साथ-साथ समीक्षक मानो एक असजग स्तर पर अपने व्यक्तित्व का भी विश्लेषण कर रहा है। कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रिय कवि

थे तो सूरदास भी कम नहीं। इन दो ही हिन्दी कवियों पर उनके स्वतंत्र अध्ययन हैं। कबीर का विद्रोही रूप यदि उनके विचारों के निकट था तो सूर का श्रद्धालु व्यक्तित्व उनके संस्कारों के। यहाँ भी एक तरह से पश्चिम (सूर) और पूर्व (कबीर) के आर्यों का संश्लिष्ट रूप हम देखते हैं जो हिन्दी का अपना मिजाज है।

मध्यकालीन बोध हजारीप्रसाद द्विवेदी की रचना और चिन्ता-दृष्टि का केन्द्र-विन्दु है। चाहे उनके उपन्यास हों या समीक्षा या इतिहास चर्चा, वे समूचे भारतीय और हिन्दी मध्यकालीन कृतित्व को उसके श्रेष्ठ सर्जनात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं। पश्चिमी और पूर्वी आर्यों के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए वे बताते हैं कि पश्चिमी आर्यों ने वीरगाथाएँ रचीं और पूर्वी आर्यों ने प्रेमगाथाएँ। फिर उनका निष्कर्ष यों है—"बिना किसी प्रकार के प्रतिवाद की आशंका के जोर देकर कहा जा सकता है कि मध्यकाल के आरम्भ के अन्धकारयुगीन भारतीय जीवन को इतनी सजीवता से अभिव्यक्त कर सकने का कोई दूसरा साधन नहीं है। नाना प्रकार की लोकचिन्ताओं के सम्मिश्रण का जो अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें इस वीरगाथा और प्रेमगाथा के साहित्य का अध्ययन करने को निमन्त्रित करता हूँ। इससे अधिक सरस, अधिक स्फूर्तिदायक और लोकजीवन को समझने में अधिक सहायक साहित्य को मैं नहीं जानता।"—(भूमिका, पृष्ठ ११६)। कहा जा सकता है कि मध्यकालीन साहित्य के प्रति ऐसी सतर्क पर अकुण्ठ सहानुभूति कम ही मिलेगी।

और यह सहानुभूति मध्यकाल में केवल भक्तिकाव्य को मिली हो, ऐसा नहीं है। रीतिकाव्य को भी समीक्षक एक उचित परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है और यहाँ भी विश्लेषण का आधार लोक-चिन्ता ही है। रीतिकाव्य की श्रृंगारिकता को इतिहासकार प्राकृतों की परम्परा से जोड़ता हुआ कहता है—"नायिका-भेद की संकीर्ण सीमा में जितना लोक-चित्र आ सकता था, इस काल का उतना चित्र निश्चय ही विश्वसनीय और मनोरम है। इतना दोष जरूर है कि यह चित्र असम्पूर्ण और विच्छिन्न है।"—(पृष्ठ १२५)। और जब लोक-चिंता में कमी होकर शास्त्रमत की प्रधानता हो गयी तो 'स्वाधीन-चिंता के प्रति एक अवज्ञा का भाव आगया।' यहीं वह 'स्तब्ध मनोवृत्ति' आ जाती है जो मध्यकाल के लाक्षणिक अर्थ को विकसित करती है। यों मध्यकाल की शक्ति और सीमा दोनों को सही रूप में पहचाना गया है।

'भूमिका' के उपसंहार में आधुनिक दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए पण्डितों पर अपने सहज कटाक्ष की मुद्रा में आचार्य द्विवेदी लिखते हैं—"और जैसा कि इस विषय के पण्डितों ने बताया है, विश्व को व्यक्तिगत आसक्तभाव से न देखकर अनासक्त और तद्गतभाव से देखना ही आधुनिक दृष्टिकोण है।"—(पृ० १३७)। यहाँ लेखक स्वयं आसक्त भाव से इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर रहा है या अनासक्त भाव से, यह कह सकना कठिन है। वाक्य-विन्यास के हिसाब से 'पण्डितों' के प्रति कुछ सम्मान भी झलकता है और एक हल्की मुस्कान का रूप भी। बहरहाल प्रश्न यह बनता है कि आधुनिकता विषयगत दृष्टिकोण में

बनती है या कि विषयी के दृष्टिकोण में, अनासक्त भाव में या आसक्त भाव में? जाहिर है कि लेखक की कुशलता और क्षमता इसमें है कि वह कैसे और कितनी दूर तक अपने आसक्त विवेचन को दूसरों के बीच अनासक्त बना पाता है। मध्यकाल के सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की व्याख्या इस प्रक्रिया का एक अच्छा उदाहरण है।[1]

प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद।

●

१ 'इतिहास और आलोचक दृष्टि'—रामस्वरूप चतुर्वेदी, (लोकभारती प्रकाशन)।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

स्व० राजाराम शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा'

⊙

(१)

कुटिल कराल काल कौतुली के कौशलों से,
नागरी के लाल यों सदैव ही छले गये।
'भारतेन्दु', 'प्रेमचंद', 'महावीर', श्री 'प्रसाद',
कोमलप्रसून से अकाल ही दले गये।
हम असमर्थ हो बहाते रहे अश्रुधार,
खोकर अमूल्य रत्न हाथ ही मले गये।
आज उसी क्रूर की कठोर क्रूरता से हाय,
'रामचन्द्र शुक्ल' हमें छोड़ के चले गये।

(२)

बिलख उठेगी विकला हो महाकाव्यकला,
लेखनकला को भी पड़ेगा सदा सोचना।
शोकाकुल होगा शिष्यवृन्द, मित्रवर्ग सब,
प्यारे परिवार को भी अश्रुधार मोचना।
आहत हृदय सहृदयता व्यथित होगी,
किसके ललाट को रचेगी रच रोचना।
जिसकी कृपा से हुई गौरवमयी मैं महा,
'हाय वे कहाँ हैं?' यों कहेगी समालोचना।

(३)

परम सतर्कता से देखो प्रति पृष्ठ खोल,
ऐसी प्रतिभा का चमत्कार कहाँ अन्य है?
'शुक्ल रामचन्द्र' में कलंक देखता हो जो कि,
पक्षपातपूर्ण वह अज्ञ अहंमन्य है।
मरण नहीं है, यह लीला संवरणमात्र,
विषम विषादवश व्यर्थ शोकजन्य है।

लिख नागरी का इतिहास हुए धन्य आप,
आज आप ही से इतिहास हुआ धन्य है।

(४)

शब्दावली जिसकी निराली अलबेली महा,
सुन्दरी सलोनी सुकुमारी शशिबाला-से।
झूम-झूम जाती है सुधा का मधु स्वादमूल,
सोमरस वाले पद रूपी पद प्याला-से।
वाक्यावली मृदुल मधुर मनोहारिणी है,
मुक्तामणि मंडित मनोज्ञ छवि शाला-से।
देवनागरी से देव नागरी लगाती होड़,
सज्जित हो आप की निबन्ध मंजु माला-से।

(५)

त्रेतायुग-जीवन में आदि कवि पुंगव ने,
संस्कृत में राम के गुणानुवाद गाये थे।
सीता सती सुहृद् सहोदर के साथ-साथ,
दर्शन इसी से निज आश्रम में पाये थे।
इस कलिकाल में तथैव देवनागरी के,
मानस के मोती भव्य-भाव मन भाये थे।
होने को उऋण तुलसी के ऋण-भार से भी,
'रामचन्द्र', रामचन्द्र शुक्ल बन आये थे।

(६)

रामचन्द्र शुक्ल सचमुच पूर्ण रामचन्द्र ही थे,
चारों ओर चारु चन्द्रिका-सी कीर्ति फैली थी।
पक्षपात से जो देखता हो उनमें कलंक
दिव्य दृष्टिहीन हो उसी की दृष्टि मैली थी।
सुमधुर सरस स्वाध्याय सुधा-सार सनी
सरल सुकोमल सशक्त स्वच्छ शैली थी।
देवनागरी की नव निधि भरने के लिये,
रत्नराशि-पूरित कुबेर की-सी थैली थी।

●

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और परवर्ती हिन्दी आलोचना साहित्यालोचन के सन्दर्भ में

डॉ० रामलाल सिंह

⊙

अर्थ-परिवर्तन के विशिष्टीकरण की प्रक्रिया से आचार्य शब्द का पारिभाषिक या शास्त्रीय अर्थ है ज्ञान के क्षेत्र में किसी नये सिद्धान्त की उद्‌भावना करने वाला विद्वान् व्यक्ति। इसी अर्थ में हमारे यहाँ भारतीय साहित्य-शास्त्र में भरत, भामह, दण्डी, वामन, कुन्तक, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि को आचार्य की उपाधि मिली है। इस दृष्टि से जब हम हिन्दी-समीक्षा में शुक्ल जी के आचार्यत्व पर विचार करते हैं तब हमें यह विदित होता है कि उन्होंने साहित्य-समीक्षा में किसी अभूतपूर्व नये साहित्य-सिद्धान्त की उद्‌भावना नहीं की है; किन्तु इससे उनके आचार्यत्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती; क्योंकि जिस जाति या देश के पास दो सहस्र से भी अधिक वर्षों का साहित्य-चिन्तन भरा पड़ा हो, जिसमें एक से एक उदात्त सिद्धान्त आविष्कृत हो चुके हों, उस देश के साहित्य-चिन्तक के लिए सर्वथारूपेण किसी मौलिक, किसी नये सिद्धान्त की उद्‌भावना का अवसर ही कम रहता है। ऐसी स्थिति में उसके आचार्यत्व की परीक्षा सर्वप्रथम मूल तथा व्यापक सिद्धान्त के ग्रहण से होती है, तदनन्तर उस सिद्धान्त की व्याख्या में प्रयुक्त उसकी मौलिक सामग्री, मौलिक उद्‌भावनाओं तथा मौलिक विवेचन शैली से होती है। हमारे यहाँ वेद-मंत्रों की स्वतन्त्र व्याख्या करने वालों को भी आचार्य कहा गया है। आचार्यत्व का परिचय आचार्य द्वारा व्याख्या के लिए गृहीत उस मूल सिद्धान्त की युगानुरूप नवीन व्याख्या, उसके नवीन महत्त्व-प्रतिपादन, नवीन सम्बन्ध-स्थापन, नूतन संश्लेषण, नवीन बल, उसकी त्रुटियों के दूरीकरण के प्रयत्न तथा उसके अन्तर्गत की गयी नवीन उद्‌भावनाओं से मिलता है।

उपर्युक्त दृष्टियों से जब हम शुक्ल जी के आचार्यत्व पर विचार करते हैं तो यह विदित होता है कि वे भारतीय समीक्षा के मूल सिद्धान्त, रस-सिद्धान्त के व्यापक स्वरूप को ग्रहण करने में, युगानुरूप उसकी नवीन व्याख्या करने में तथा काव्य में उसको उचित स्थान देने में समर्थ हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'रस-मीमांसा' तथा चिन्तामणि भाग १ में रस-तत्त्व को इतना व्यापक स्वरूप दिया है कि उसमें भारतीय काव्यशास्त्र के सभी तत्त्व—अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि वक्रोक्ति, औचित्य, छन्द आदि तथा पश्चिमी दृष्टि से निरूपित काव्य के नाना तत्त्व—कल्पनातत्त्व, रागतत्त्व, अनुभूति-तत्त्व, सौन्दर्य-तत्त्व, वर्ण्य-तत्त्व, शीलनिरूपण-तत्त्व, जीवन-

सन्देश, अभिव्यंजनातत्त्व आदि एवं जीवन के नानापक्ष मनोवैज्ञानिक, नैतिक, सांस्कृतिक, युग-चेतना सम्बन्धी दार्शनिक तथ्य आदि समाहित हो जाते हैं। इसमें पूर्व तथा पश्चिम, प्राचीन तथा नवीन, सभी प्रकार के काव्यों की सम्पूर्ण सम्पदाएँ तथा विशेषताएँ समन्वित होकर काव्य-समीक्षा का इतना व्यापक प्रतिमान तैयार करती हैं कि इसके द्वारा संसार के सभी प्रकार के सर्जनात्मक साहित्यों की परीक्षा हो सकती है। जीवन की दृष्टि से शुक्ल जी इसमें लोक-जीवन तथा व्यक्ति-जीवन दोनों के सन्निहित होने की क्षमता सिद्ध करते हैं। इसमें जीवन के आदर्श तथा यथार्थ दोनों पक्षों का समावेश करते हैं। इसमें आधुनिक जीवन के नये मूल्यों, नयी संवेदनाओं, नये विचारों की सन्निहिति प्रतिपादित करते हैं तथा अन्ततोगत्वा इसमें मनुष्य जीवन की सामान्य दशाओं का रूप निरूपित कर इसमें राष्ट्रीय जीवन की ही नहीं, वरन् विश्व जीवन की आन्तरिक एकता की अनुभूति सिद्ध करते हैं।

रस-सिद्धान्त सम्बन्धी उनकी अनेक नवीन उद्भावनाएँ उनके आचार्यत्व को प्रमाणित करने में पूर्ण समर्थ हैं। जैसे लोकहृदय में सहृदय के लीन होने की दशा अथवा हृदय की मुक्तावस्था के रूप में शुक्ल जी की रस-परिभाषा मौलिक है। रसमीमांसा तथा चिन्तामणि में विवेचित प्रत्येक भाव के विभिन्न निर्माणकारी तत्त्वों, लक्षणों, विशेषताओं, भेदोपभेदों, विभिन्न स्वरूपों का पृथक्करण, वर्गीकरण तथा उनका सूक्ष्म सोदाहरण विश्लेषण, उनकी विस्तृत व्याप्ति का निरूपण, उनके उद्भव, गति-विधि तथा विकास की प्रक्रिया, जीवन तथा साहित्य में प्रत्येक भाव के महत्त्व एवं उपयोगिता का विवेचन, भावों की विभिन्न दशाओं—क्षणिक दशा, शीलदशा और स्थायी दशा का पृथक्करण तथा महत्त्व सहित उनका विवेचन जैसा शुक्ल जी ने कर दिया है, वैसा भारतीय वाङ्मय में कहीं देखने को नहीं मिलता।

भाव का एक वृत्ति-चक्र या मानसिक-शारीरिक विधान-व्यवस्था के रूप में निरूपण तथा स्थायीभाव का एक भावकोश या भाव-प्रणाली के रूप में प्रतिपादन एवं उसमें प्राथमिक भाव, साश्रित भाव, वासना, मनोवेग, इंद्रिय वेग, प्रवृत्ति, अन्तःकरण-वृत्ति, विवेकात्मक बुद्धि-व्यापार, इच्छा तथा शरीर-व्यापार का मूल भाव के शासन के भीतर नियोजन हिन्दी-समीक्षा में नितान्त मौलिक वस्तु है।

रस के स्थायी भाव, मानव जीवन में किस प्रकार से मानव व्यक्तित्व एवं शील के आदि संस्थापक तत्त्व हैं एवं शक्ति के केन्द्र-बिन्दु हैं तथा मानव को कार्य में अग्रसर करने वाले प्रेरक तत्त्व हैं; साहित्य में वे किस प्रकार रस रूप में परिणत होकर उसके प्राणतत्त्व का निर्माण करते हैं—आदि तत्त्वों का तार्किक विवेचन रस-मीमांसा के 'भाव' नामक अध्याय में किया गया है। शुक्ल जी की दृष्टि में रस, मानव चेतना की मूलवृत्ति-राग तथा मूल साध्य-आनन्द तत्व को धुरी बना कर चलता है। अतः मानव जीवन के सभी प्रमुख कार्यों, रूपों, वस्तुओं, तत्त्वों, प्रमुख प्रवृत्तियों तथा सभी प्रमुख भावों को अपने भीतर समेटने की सामर्थ्य रखता है। जीवन के समस्त रूपों, समस्त मूल्यों के साथ इसका सामञ्जस्य है। इसमें विभिन्न वादों को समाहित करने की शक्ति है; क्योंकि यह अखण्ड मानवता की लौकिक भाव-भूमि पर खड़ा है। रस हमें एक अभेद, अखण्ड आनन्द तत्त्व, शिव तत्त्व एवं सौन्दर्य-

तत्त्व की अनुभूति में सहायता पहुँचाता है। मनुष्य और उसकी मनुष्यता की रक्षा तथा उसका सतत विकास रस का शाश्वत सत्य है और वह सत्य शुक्ल जी द्वारा लौकिक जीवन की ठोस धरती पर प्रतिष्ठित किया गया है। उनकी दृष्टि में रसात्मक चेतना, साहित्य का अथ और इति है। रस का स्वरूप अपने में सौन्दर्यपरक, आनन्दपरक, कल्याणपरक तथा व्यष्टि एवं समष्टि का योगफल है। जीवन के लिए सबसे अधिक उपयोगी शक्ति आनन्द है और वह रस में निहित है। इस प्रकार शुक्ल जी द्वारा रस, सार्वभौमिक, सार्वकालिक और मानवतावादी भूमि पर प्रतिष्ठित किया गया है। रस जीवन के स्वस्थ नैतिक दृष्टिकोण का पोषण करता है; क्योंकि नीति-विरोधी तत्त्व रसाभास तथा भावाभास के भीतर आते हैं। रस-भंग का कारण सदा औचित्य-भंग होता है। रस में संस्कृति के तत्त्व भी आ जाते हैं। वस्तुतः संस्कृति के तत्त्व जीवन की कल्याण-साधना (भौतिक-आत्मिक विकास) तथा सौन्दर्य-चेतना के तत्त्व से सम्बन्धित हैं और रस लोककल्याण तथा सौन्दर्य तत्त्वों को अपना कर चलता है। कलात्मक मूल्य भी रस सिद्धि के माध्यम हैं। अतः शिल्प या कला का मूल्य भी रस ही है। रस में मानव जीवन के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के मूल्य समाहित हैं। इसलिए शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य का चरम मानदण्ड रस है।

शुक्ल जी ने भावों तथा रसों के विवेचन में भावों तथा रसों की ऐसी अवस्थाओं का उल्लेख किया है जो शास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं मिलतीं। जैसे, रौद्र रस के विवेचन में राज-कोप, धर्मकोप, लोककोप का विवेचन। साहित्य-मीमांसकों द्वारा विवेचित वीररस के चार भेदों—दानवीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्धवीर के अतिरिक्त कर्मवीर, बुद्धिवीर तथा वाग्वीर की मौलिक उद्भावना शुक्ल जी के निजी चिन्तन का फल है। स्थायी भाव की विशेष-ताओं का निरूपण तथा उसकी जीवन सम्बन्धी साहित्यिक एवं सामाजिक व्याख्या शुक्ल जी के पूर्व किसी हिन्दी अथवा संस्कृत—साहित्य के शास्त्रीय ग्रन्थ में नहीं मिलती। प्रमुख सात स्थायी भावों—उत्साह, करुणा, प्रीति, घृणा, भय, क्रोध और श्रद्धा, भक्ति एवं प्रमुख तीन संचारी भावों—लज्जा, ग्लानि तथा ईर्ष्या में से प्रत्येक की परिभाषा, उनकी उत्पत्ति, विकास, स्वरूप तथा उनके निर्माणकारी तत्त्वों एवं व्यावहारिक जीवन में पाये जाने वाले उनके भेदोपभेदों एवं उनकी गीतविधि आदि की जैसी मौलिक सामग्री शुक्ल जी ने दी है, वैसी हिन्दी अथवा संस्कृत के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलती। उपर्युक्त भावों का विवेचन करते समय शुक्ल जी ने अपने युग की प्रायः सभी प्रमुख समस्याओं का उद्घाटन तथा उनका समाधान जिस व्यंजनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है तथा इनके द्वारा रस-तत्त्व के भीतर युग-चेतना तत्त्व, राष्ट्रीय विषमताओं के तत्त्वों, सांस्कृतिक, नैतिक तत्त्वों, राष्ट्रीय समस्याओं आदि का समावेश जिस कलात्मक ढंग से किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

रस के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आधार की जितनी विस्तृत सामग्री शुक्ल जी ने रस-मीमांसा तथा चिन्तामणि भाग १ में दी है, उतनी अन्यत्र नहीं मिलती। जीवन तथा साहित्य में प्रत्येक भाव तथा रस ही नहीं, उनके विभिन्न स्वरूपों के महत्त्व तथा उपयोगिता का विवेचन बिलकुल नया है। रस-सिद्धान्त को शुक्ल जी ने साहित्य शास्त्रीय सामग्री से

ही नहीं, वरन् जीवन सामग्री से भी समझाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार शुक्ल जी ने रस द्वारा जीवन तथा साहित्य दोनों को एक सूत्र में बाँधने तथा व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने साहित्य के चश्मे से जीवन को तथा जीवन की दृष्टि से साहित्य को देखा है। अतः रस-व्याख्या के समय विवेचित शुक्ल जी का काव्य-दर्शन एवं जीवन-दर्शन हिन्दी समीक्षा-संसार में नवीन ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। जगत् की जनवादी साहित्य चेतना के सच्चे प्रतिनिधि बनने के लिए स्थायीभावों के सामाजिक रूप को अपनाने की सामग्री शुक्ल जी की जनवादी साहित्यचेतना की नवीन उपज है।

विभाव के भीतर मनुष्य से लेकर कीट-पतंग, वृक्ष, नदी-पर्वत आदि सृष्टि के सभी साधारण-असाधारण पदार्थ की योजना शुक्ल जी के व्यापक तथा मौलिक चिन्तन का फल है। अनुभाव को शारीरिक ही मानने वाले उनके मत का मनोवैज्ञानिक पक्ष बिलकुल मौलिक ढंग का है। भावों को अधिकांश मात्रा में विभाव के भीतर रखने के औचित्य का प्रतिपादन हिन्दी-समीक्षा के लिए मौलिक सामग्री है। संचारियों का वर्गीकरण तथा प्रत्येक वर्ग की विशेषताओं का निरूपण जैसा शुक्ल जी ने रस-मीमांसा में किया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। तैंतीस संचारियों को उपलक्षण मानकर उनसे अधिक संचारियों की संख्या मानने वाले मत का प्रतिपादन तथा विस्मृति, चकपकाहट आदि नये संचारियों का आविष्कार देव के विवेचन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। वे रस को केवल नौ रसों के भीतर सीमित नहीं करते, उनकी संख्या बढ़ाने की सम्भावना पर बल देकर वात्सल्य भावना में रस, भक्ति में रस, प्रकृति में रस, अतीत के स्मारकों-खण्डहरों के दर्शन तथा वर्णन में रस, प्रत्यक्ष रूप विधान तथा स्मृति रूप-विधान में रस मानते हैं।

साधारणीकरण के विवेचन द्वारा रस-प्रक्रिया का जैसा मनोवैज्ञानिक विवेचन शुक्ल जी ने किया है, वैसा मनोवैज्ञानिक विवेचन हिन्दी अथवा संस्कृत के किसी साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थ में नहीं मिलता। साधारणीकरण के तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख, उसकी प्रक्रियाओं की विभिन्न अवस्थाओं का स्पष्टीकरण, उसकी उच्च तथा मध्यम कोटियों की उद्भावना एवं उनका स्पष्ट निरूपण, शृंगार, वीर, रौद्र के अतिरिक्त अन्य रसों के साथ साधारणीकरण-प्रक्रिया की प्रयोग-विधि तथा काव्य, नाटक के अतिरिक्त अन्य साहित्य-रूपों के साथ उसका प्रयोग शुक्ल जी के अतिरिक्त अन्यत्र किसी दूसरे भारतीय आचार्य के ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलता। साधारणीकरण में आलम्बन के लोकधर्मी स्वरूप पर बल उनकी लोकवादी चेतना का द्योतक है।

रस की समग्र जीवनमयी तथा साहित्यमयी व्याप्ति का विवेचन रस-सिद्धान्त के क्षेत्र में शुक्ल जी की बहुत बड़ी देन है। रस-व्याप्ति में उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष की विवृति, उसमें युग तत्त्व, नैतिक तत्त्व तथा सांस्कृतिक तत्त्व का समावेश, दार्शनिक पक्ष का संकेत, उसके भीतर चरित्रचित्रण तत्त्व का समावेश, उसके अन्तर्गत काव्य के अन्य तत्त्वों—अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, औचित्य, छन्द आदि का समावेश करके शुक्ल जी ने रस-व्याप्ति सम्बन्धी सामग्री को नितान्त मौलिक बना दिया है।

शुक्ल जी की रसस्वरूप सम्बन्धी सामग्री हिन्दी-समीक्षा के लिए ही नहीं, वरन् संस्कृत-समीक्षा के लिए भी नितान्त नूतन वस्तु है। रस की उत्तम, मध्यम तथा अधम दशाओं की उद्भावना शुक्ल जी के अतिरिक्त किसी दूसरे भारतीय आचार्य के विवेचन में नहीं मिलती। कल्पित रूप-विधान के अतिरिक्त प्रत्यक्ष रूप-विधान तथा स्मृतिरूप-विधानजन्य अनुभूति में रसानुभूति का दर्शन करना शुक्ल जी की मौलिक सूझ है; क्योंकि उन्होंने जहाँ से इसका संकेत प्राप्त किया था, वहाँ इसका प्रयोग कल्पनानन्द के लिए किया गया था। रसानुभूति की विशेषताओं का विवेचन भी शुक्ल जी ने नवीन ढंग से किया है। रस के लौकिक स्वरूप पर इतना अधिक बल हिन्दी समीक्षा में ही नहीं, संस्कृत समीक्षा में भी किसी आचार्य ने नहीं दिया। लौकिक जीवन के वैयक्तिक सुख-दुःख से भिन्न रस में निर्वैयक्तिक सुख-दुःखात्मक स्वरूप का समर्थन शुक्ल जी का मौलिक विचार है। इस प्रकार उनका रस-सिद्धान्त लोक-जीवन तथा लोक-धर्म की ठोस धरती पर खड़ा है तथा जनवादी चेतना का पोषक है।

शुक्ल जी ने अपने युग के अनुरूप रस को नवीन व्याख्या की। उनके युग में जीवन की सबवे बड़ी आवश्यकता, सबसे अधिक माँग सामाजिकता, राष्ट्रीयता में हृदय के लीन होने की दशा के रूप में थी जिसे शुक्ल जी ने रस दशा की कसौटी बनायी है। शुक्ल जी द्वारा निर्मित रसादर्श, आवश्यक संशोधनों के साथ युग का प्रतिनिधि साहित्यादर्श स्वीकार किया गया और उसी के आधार पर समाजोन्मुखी अथवा लोकमंगलोन्मुखी समीक्षा की एक नयी परम्परा प्रतिष्ठित हुई जो आज तक चलती आ रही है। उनके द्वारा निर्मित समीक्षा का जो प्रतिमान रस तथा लोकमंगल रूप में रूपायित हुआ है, वह अनेक झोंके-झँकोरे खाने के बावजूद भी आज तक अटूट बना है तथा भारत के कोने-कोने में हिन्दी विभागों के अध्यापक, समीक्षक तथा सम्पादक एवं लेखक के रूप में फैले हुए उनके शिष्य-प्रशिष्य उनकी लोकमंगलोन्मुखी रसवादी समीक्षा के मार्ग पर चल रहे हैं। इससे यह विदित है कि आचार्य शुक्ल अपने समीक्षा सम्बन्धी आचरण की अमिट छाप अपने परवर्ती समीक्षकों पर लगाने में समर्थ हुए। आचार्य शब्द की व्युत्पत्तिमूलक अर्थ-दृष्टि से उनके आचार्यत्व का यह दूसरा सबसे बड़ा प्रमाण है---**आचारेण ग्राहयति आचारम् इति आचार्यः।**

शुक्ल जी द्वारा रस-सिद्धान्त में विश्व समीक्षा-सिद्धान्त बनने की सम्भावना की खोज तथा उसके प्रतिपादन का प्रयत्न, हिन्दी-समीक्षा में उसके नवीन महत्त्व का प्रतीक है। शुक्ल जी ने हिन्दी-समीक्षा में काव्य के सभी तत्त्वों का सम्बन्ध रस में नये सिरे से स्थापित किया है। सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षा में काव्य के विभिन्न तत्त्वों की क्या स्थिति होनी चाहिए, किस प्रकार अंग सिद्धान्त अनुभूतिजन्य होने के कारण रस से सम्बन्धित हो जाते हैं, इसे सर्वप्रथम हिन्दी-समीक्षा में बलपूर्वक शुक्ल जी ने ही कहा। हिन्दी-समीक्षा में शुक्ल जी के पूर्व रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, औचित्य आदि के विवेचन बिखरे-बिखरे रहते थे, वे अतीत को उद्धरणी मात्र होते थे, पूर्वी एवं पश्चिमी समीक्षा के सिद्धान्त अलग-अलग दिखायी पड़ते थे। इनमें संश्लेषण लाने का कार्य सर्वप्रथम शुक्ल जी द्वारा रस के माध्यम से सम्पादित हुआ।

शुक्ल जी ने सर्वप्रथम रस के दार्शनिक पक्ष से बल, सामाजिक पक्ष पर, आध्यात्मिक

पक्ष से लोकपक्ष पर तथा शास्त्रीय पक्ष से व्यावहारिक पक्ष पर अवतरित किया। उन्होंने अपने रस-विवेचन में रस के मनोवैज्ञानिक स्वरूप तथा सांस्कृतिक, सामाजिक आधार, नैतिक पक्ष, रस के त्रिकालवर्ती विश्वात्मक स्वरूप तथा साधारणीकरण में आलम्बन के लोकधर्मी स्वरूप पर सर्वाधिक बल दिया है। इससे एक ओर तो उन्होंने रसानुभूति को लौकिक अनुभूति सिद्ध किया तथा दूसरी ओर अलौकिकता, आध्यात्मिकता को रस-क्षेत्र से सदा के लिए अलग करने का प्रयत्न किया। इन प्रयोगों के फलस्वरूप वे साहित्य को जीवन के निकट लाने में तथा उसे सामाजिक बनाने में एवं उसे लोकजीवन की ठोस धरती पर खड़ा करने में सर्वाधिक मात्रा में सफल हुए।

शुक्ल जी के अंग-सिद्धान्तों का विवेचन भी उनके अंगी-सिद्धान्त—रस-सिद्धान्त के समान ही प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र का आधार लेने पर भी नवीनता रखता है। अलंकार-विवेचन में कल्पना का प्रयोग, उसके प्रयोग के मनोवैज्ञानिक कारणों का विचार, रूप, गुण, क्रिया तथा प्रभाव के आधार पर उसका वर्गीकरण, जीवन सौन्दर्य के पर्याय रूप में उसकी स्वीकृति, शुक्ल जी ने सर्वप्रथम भारतीय समीक्षा में की। वे काव्य में अलंकार के वर्णन की विशिष्ट प्रणाली मानकर उसका स्थान सम्मानपूर्ण मानते हैं। पर उनके मत में अलंकार या वक्रोक्ति के अभाव में भी कविता हो सकती है। अलंकार सम्बन्धी उनका उपर्युक्त मत हिन्दी के परवर्ती समीक्षकों में निर्विवाद रूप से मान्य हो गया है। हिन्दी के अलंकार ग्रन्थों में संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों को देखा-देखी स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति, हेतु, लेश आदि वर्ण्य से सम्बन्ध रखने वाले अलंकार, अलंकार की श्रेणी में रखे जाते थे। पर इनका सम्बन्ध वर्ण्य से होने के कारण शुक्ल जी ने इनके अलंकारत्व का निषेध किया है। यह धारणा उनके परवर्ती समीक्षकों को भी मान्य-सी हो गयी है। अलंकारों की संख्या के विषय में शुक्ल जी का विचार बहुत ही प्रगतिशील ढंग का है, क्योंकि वे उनकी इयत्ता नहीं मानते। उनकी दृष्टि में नये अलंकारों के आविष्कार की सम्भावना प्रत्येक कवि तथा कृति में है। इस प्रकार शुक्ल जी की प्रगतिशील अलंकार-धारणा हिन्दी के अलंकार सम्बन्धी मत को उसकी संकुचित यंत्रगतिक श्रृंखला से उन्मुक्त कर उसे विस्तृत रूप देती है।

शुक्ल जी की रीति सम्बन्धी व्याख्या आज हिन्दी-समीक्षकों के बीच रीति सम्बन्धी मान्य धारणा के रूप में प्रचलित है। रीतिवादियों के समान आज हिन्दी का कोई समीक्षक रीति को काव्यात्मा नहीं मानता। शुक्ल जी ने रीति का सम्बन्ध भाषा से, पद-संघटना से मानते हुए उसका सम्बन्ध काव्य के बहिरंग-पक्ष से स्थापित किया है। रीति के सम्बन्ध में यही धारणा हिन्दी-समीक्षा में आज भी प्रचलित है।

शुक्ल जी की गुण सम्बन्धी धारणा रस-धर्म के रूप में अन्तरंग कोटि की है। गुण की यही धारणा हिन्दी-समीक्षकों को आज मान्य है। शुक्ल जी रस के सहायक सिद्धान्त के रूप में औचित्य-सिद्धान्त की सार्थकता स्वीकार करते हैं। वह भारतीय संस्कृति तथा वातावरण में पले किसी हिन्दी-समीक्षक को अमान्य नहीं हो सकती।

अन्य सिद्धान्तों के समान वक्रोक्ति-सिद्धान्त की वास्तविकता को भी शुक्ल जी ने

स्वीकार किया है। हिन्दी में शुक्ल जी के पूर्ववर्ती आचार्यों ने एकाध को छोड़कर प्रायः सभी ने वक्रोक्ति को अलंकार-विशेष के रूप में ही स्वीकार किया है। जिन आचार्यों ने वक्रोक्ति को सिद्धान्त-रुप में ग्रहण किया, उनमें पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। वे दण्डी, भामह आदि के वक्रोक्ति के अतिशयोक्ति सम्बन्धी प्राचीन मत को ज्यों का त्यों रखते हैं। रत्नाकर जी उसे रमणीयता के उत्पादन में सहायक मानकर रस के समक्ष रखते हैं। ये आचार्य-द्वय उसके सापेक्ष महत्त्व तथा वास्तविकता को अलग करने में असमर्थ हुए हैं। शुक्लजी को उसकी सार्थकता, मार्मिक अनुभूति से उत्पन्न होकर रसोद्रेक में सहायता पहुँचाने में मान्य है, इसके आगे नहीं। अर्थात् कुंतक की वक्रोक्ति जहाँ तक अनुभूतिजन्य होकर भावसमन्वित चमत्कार को लेकर चलती है, वहाँ तक शुक्ल जी को मान्य है, जहाँ केवल चमत्कार की प्रतिष्ठा करती है, वहाँ मान्य नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी का वक्रोक्ति सम्बन्धी उक्त मत हिन्दी-समीक्षा के लिए नवीन वस्तु है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त-विषयक इस प्रकार की संतुलित धारणा शुक्ल जी के पूर्व किसी आचार्य ने प्रतिपादित नहीं की थी। वे औचित्य तत्त्व को रस के परिपाक तथा विभिन्न काव्य-तत्वों के समानुपातिक सम्बन्ध की रक्षा के लिए आवश्यक मानते हैं। लोकधर्म, लोकमर्यादा, लोकमंगल की रक्षा के लिए औचित्य की रक्षा पर बल देते हैं। औचित्य-रक्षा पर बल देने से ही वे काव्य में नैतिक तथा सांस्कृतिक तत्त्वों के समावेश में सफल होते हैं।

शब्द-शक्ति के विषय में आचार्य शुक्ल की हिन्दी-समीक्षा को, सबसे बड़ी मौलिक देन यह है कि वे रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया व्यंजना-प्रक्रिया से मानते हुए भी वाच्यार्थ में काव्य की रमणीयता मानते हैं। अर्थात् वे व्यञ्जना को मानते हुए भी अभिधावादी हैं, वे अभिधा में काव्य का चमत्कार मानते हैं। इस प्रकार वे अनुभूति तथा सौन्दर्य पक्ष में समन्वय स्थापित करते हैं। काव्य की अनुभूति तथा चमत्कार पक्ष का यह सुन्दर समन्वय हिन्दी-साहित्य तथा समीक्षा के लिए बहुत बड़ी देन है। शुक्ल जी द्वारा निरूपित संलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का सूक्ष्म स्पष्ट अन्तर्भारतीय समीक्षा में अन्यत्र नहीं मिलता। यह शुक्ल जी के सूक्ष्म मौलिक चिन्तन का फल है। युक्ति-युक्त ढंग से शुक्ल जी द्वारा व्यञ्जना की स्थापना, असंलक्ष्यक्रम की विशेषता का पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण तथा लक्षणा, व्यञ्जना के भीतर अभिधा की व्यापकता का निरूपण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि उनकी दृष्टि कभी एकपक्षीय अथवा एकांगी नहीं होती थी। वे किसी एक मत या वाद को मानने के कारण दूसरे मत के मूल्य की अवमानना नहीं करते थे, वरन् उसके सत्पक्ष को ग्रहण करने के लिए वे सदैव तैयार रहते थे। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य सम्प्रदाय की आधारभूत वास्तविकताओं को ग्रहण कर काव्य में सबके यथोचित मूल्य तथा स्थान का निरूपण कर भारतीय सैद्धान्तिक समीक्षा को उसके सभी विकसित अंगों सहित हिन्दी समीक्षा में प्रस्तुत किया।

जिस प्रकार शुक्ल जी ने भारतीय समीक्षा के सभी सिद्धान्तों का मौलिक मनोवैज्ञानिक विवेचन कर सैद्धान्तिक समीक्षा का सर्वांगीण विकसित रूप उपस्थित करते हुए हिन्दी

के अनुशीलन-कार्य को नयी चेतना दी, तद्वत उन्होंने साहित्य की सर्वांगीण व्याख्या और मूल्यांकन करने वाला काव्य-दर्शन देकर हिन्दी समीक्षा को नयी दृष्टि दी। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-समीक्षा का स्वतंत्र तथा नव्यदर्शन उपस्थित कर अपने आचार्यत्व को अपने कार्यों तथा आचारों द्वारा प्रमाणित किया। उन्होंने काव्यांग, काव्यात्मा, काव्य-लक्षण, काव्यहेतु, काव्यतत्व, काव्यप्रक्रिया, काव्य-प्रयोजन, काव्य-स्वरूप, काव्यवर्गीकरण, काव्य की आवश्यकता, महत्ता तथा कार्य, कवि-व्यक्तित्व, काव्याधिकारी, कविकर्म, काव्य-कसौटी आदि काव्य-दर्शन सम्बन्धी सभी आवश्यक प्रश्नों पर अधुनातन ढंग से विचार किया है। उनके काव्यदर्शन के विवेच्य अंगों की पदावली अधिकांश मात्रा में पुरानी है, पर उनमें निहित सामग्री-विवेचन की पदावली नवीन तथा वैज्ञानिक है। फलस्वरूप पुराना काव्य-दर्शन सजीव तथा समयोपयोगी हो गया है, निर्जीव परम्परा सजीव हो उठी है।

भारतीय काव्य-शास्त्र के सभी प्रतिनिधि लक्षणों में काव्य, शब्दार्थरूप माना गया है। शुक्ल जी भी अपने काव्य लक्षण-निरूपण में दोनों को रखते हैं, किन्तु हृदय की मुक्ति-साधना को काव्य का व्यावर्तक धर्म मान कर उसमें नवीनता ला देते हैं। काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी शुक्ल जी की दृष्टि शास्त्रसम्मत होते हुए भी युगानुकूलता के तत्त्व को अपनाने के कारण, उसकी व्याख्या में नवीनता वैज्ञानिक पदावली के प्रयोग के कारण नवीन कोटि की होगयी है। उन्होंने कविता के उदात्त से उदात्ततर प्रयोजनों को अपनी काव्य प्रयोजन-व्याख्या में समाहित कर काव्य को भावयोग कहकर दर्शन की कोटि में तथा कवि को योगी की श्रेणी में ले जाकर कवि तथा काव्य दोनों को वह प्राचीन गौरव तथा महत्त्व फिर एक बार दिलाने का प्रयत्न किया है जब कवि ऋषि, क्रान्तदर्शी, मनीषी आदि की श्रेणी में रखा जाता था तथा कविता दर्शन के समान उदात्त तथा मंत्र के समान प्रभावशाली मानी जाती थी।

काव्य-हेतुओं का विवेचन शुक्ल जी द्वारा प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा के मेल में होते हुए भी प्रतिभा के मनोवैज्ञानिक विवेचन के कारण नवीनता रखता है। उन्होंने प्रतिभा के विवेचन में उसकी अलौकिक, अतिप्राकृत दैवी धारणाओं का खण्डन करते हुए बौद्धिक ढंग से नवीन पदावली में उसका विवेचन किया है। प्रतिभा का ऐसा मनोवैज्ञानिक विवेचन शुक्ल जी के पूर्व किसी हिन्दी-समीक्षक ने नहीं किया था।

शुक्ल जी ने भारतीय काव्य-तत्वों—रस, अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य तथा ध्वनि एवं पश्चिमी काव्य-तत्वों—अनुभूति, कल्पना, सौन्दर्य, राग, बुद्धि, अभिव्यंजना-तत्त्व, आदर्श तथा यथार्थ पर विचार करते हुए सबका समन्वय रस के माध्यम से सफलतापूर्वक करके काव्य का बहुत ही विस्तृत स्वरूप खड़ा किया है। वह कविता जो चुने हुए नायक-नायिकाओं, बँधी हुई जीवनधाराओं, कुछ सीमित भावनाओं तथा कुछ सीमित विषयों में बँध गयी थी, उसको, उसके संकुचित स्वरूप से मुक्त कर, जगत् और जीवन के विस्तार के समान उसे विस्तृत कर, उसको इतना व्यापक स्वरूप शुक्ल जी ने प्रदान किया है कि उससे अधिक की कल्पना करना असम्भव है। उनके पूर्ववर्ती किसी भी हिन्दी-समीक्षक ने कविता को इतना व्यापक स्वरूप नहीं दिया था।

शुक्ल जी ने कवि-कर्म का निरूपण भारतीय काव्य-पक्ष—विभाव एवं भाव-पक्ष तथा पश्चिमी काव्य पक्ष—अनुभूति, कल्पना, चिन्तन तथा प्रेषणीयता के माध्यम से किया है। इसलिये उसमें मौलिकता तथा आधुनिकता का पुट आगया है। उन्होंने काव्य-प्रक्रिया का सम्बन्ध भावना-प्रक्रिया अथवा कल्पना-प्रक्रिया से जोड़कर तथा रस के माध्यम से काव्य के सब तत्वों को संश्लिष्ट कर उसकी अधुनातन व्याख्या की है।

शुक्ल जी द्वारा निरूपित काव्योद्देश्य विश्व से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने अथवा विश्व-व्यापिनी त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करने में साहित्य तथा जीवन के ऊँचे-से-ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इतना व्यापक काव्योद्देश्य हिन्दी-समीक्षा में पहली बार शुक्ल जी द्वारा निरूपित हुआ। उनके द्वारा वर्ण्य तथा रस के आधार पर किया हुआ काव्य का वर्गीकरण अपने ढंग का नवीन प्रकार का काव्य-वर्गीकरण है जो भारतीय समीक्षा में कहीं नहीं मिलता।

शुक्ल जी ने काव्य के सभी वादों तथा तत्त्वों को रस की कसौटी पर कस कर देखा है। जो खरे उतरे हैं, उनको उन्होंने देशी और विदेशी के भेद-भाव से मुक्त होकर ग्रहण किया है। आवश्यकतानुसार संस्कार-सुधार भी किया है। इस प्रकार उन्होंने अपनी रस-कसौटी द्वारा हिन्दी-समीक्षा को तत्वाभिनिवेशी, सारग्रहिणी तथा सामञ्जस्यपूर्ण दृष्टि प्रदान की है।

शुक्ल जी ने काव्य की महत्ता, आवश्यकता तथा कार्य का निरूपण जितने उच्च स्तर तथा उदात्त दृष्टि से किया है, उतनी उदात्तता किसी दूसरे हिन्दी-समीक्षक में नहीं मिलती। उन्होंने काव्य का सम्बन्ध संस्कृत प्रवृत्तियों तथा निवृत्तियों से स्थापित कर उसमें नीति तथा मंगल की जैसी प्रतिष्ठा की है, वैसी प्रतिष्ठा हिन्दी का कोई समीक्षक नहीं कर सका। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने काव्य में कलात्मक ढंग की नीति-प्रतिष्ठा का समर्थन किया है, उपदेशात्मक ढंग की नीति प्रतिष्ठा का नहीं। उन्हें काव्य-कला के विभिन्न तत्त्व रस व्यञ्जना के सहायक रूप में मान्य हैं, बाधक रूप में नहीं। इसीलिए केशव की काव्यकला तथा कबीर की अटपटी बानी उन्हें नहीं रुचती।

कवि के व्यक्तित्व तथा प्रवृत्ति पर विचार करने वाले भी शुक्ल जी ही हिन्दी के पहले आलोचक हैं। यह दूसरी बात है कि उनके व्यक्तित्व-विवेचन में मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म तत्त्वों का निदर्शन बहुत गम्भीर कोटि का नहीं है। उनके द्वारा निरूपित काव्याधिकारी अथवा सहृदय का लक्षण बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग का है। ऐसा मनोवैज्ञानिक निरूपण अन्यत्र पूर्ववर्ती हिन्दी-समीक्षा में नहीं मिलता।

जिस प्रकार आचार्यत्व की अभिव्यक्ति पुराने सिद्धान्तों में नवीन सामग्री की उद्भावना, युगानुरूप उसकी नवीन व्याख्या तथा नवीन महत्त्व-प्रतिपादन से होती है, उसी प्रकार और उसी मात्रा में उसकी अभिव्यक्ति उसकी त्रुटियों के दूरीकरण के प्रयत्न में होती है। इस दृष्टि से शुक्ल जी ने प्राचीन रस-विवेचन सम्बन्धी त्रुटियों के दूरीकरण के प्रयत्न में अपने आचार्यत्व की सच्ची अभिव्यक्ति की है।

भरत मुनि की रस-परिभाषा की कमी बतलाते हुए शुक्ल जी ने यह कहा कि—"वह

दृश्य काव्य के लिए ही अधिक उपयुक्त है और उस अभाव को उन्होंने अपनी मौलिक परिभाषा हृदय की मुक्तावस्था लोकहृदय में लीन होने की दशा रस दशा द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया है। आचार्यों द्वारा निरूपित स्थायी भाव के प्राचीन लक्षण में अतिव्याप्ति दोष दिखाकर शुक्ल जी ने उसे दूर करने का उपाय बताया। प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में भावों का विवेचन प्राय: यन्त्रगतिक ढंग का था, उनके विभिन्न निर्माणकारी तत्त्वों का स्पष्ट रूप से पृथक्करण भी नहीं हुआ था, संचारियों का तो प्राय: नाम ही गिना दिया जाता था, पर शुक्ल जी ने अपने मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों के द्वारा इस अभाव को दूर किया।

शृंगार का मूल संस्थापक भाव, रति या प्रीति न मानकर शुक्ल जी ने राग माना है। इसी प्रकार रौद्र का स्थायीभाव क्रोध न मानकर वे वैर बताते हैं। अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए समाज में क्रोध की आवश्यकता पर बल देते हैं। अनुभाव के प्राचीन चार भेदों को शुक्ल जी अनावश्यक समझ कर उसे शारीरिक ही मानना अधिक उचित समझते हैं। प्राचीन आचार्यों ने उत्साह का आलम्बन विजेतव्य माना था, शुक्ल जी उत्साह का जीवन-व्यापी स्वरूप दिखाकर उसका आलम्बन विकट कर्म मानते हैं। संस्कृत के प्राचीन आचार्यों तथा हिन्दी के एकाध को छोड़कर प्राय: सभी आचार्यों ने प्रकृति-वर्णन को उद्दीपन के भीतर ही रखा था, शुक्ल जी इस मत को भी त्रुटिपूर्ण समझते हुए प्रकृति-वर्णन को आलम्बन के भीतर ही रखने का आदेश देते हैं। वे वात्सल्य, भक्ति आदि को अलग रस मानने वाले आचार्यों का खण्डन करते हुए उनको शृंगार रस के भीतर रखना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। प्रकृति-प्रेम, पुत्र-प्रेम, अतीत-प्रेम, देश-प्रेम, मित्र-प्रेम आदि के वर्णन से उत्पन्न अनुभूति को आचार्यों ने भाव-कोटि का ही माना था, किन्तु शुक्ल जी ने इस मत को अनुपयुक्त समझते हुए उन्हें रस कोटि के भीतर ही रखा है। प्राचीन आचार्यों के रस-प्रक्रिया-विवेचन में दार्शनिक रंग अधिक चढ़ जाता है। इसलिए उनके द्वारा विवेचित रस का स्वरूप कभी-कभी मनोमय कोश के बाहर चला जाता है। शुक्ल जी ने रस-प्रक्रिया को मनोमय कोश के भीतर की वस्तु समझते हुए उसका मनोवैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया है। रस के आध्यात्मिक स्वरूप को सामाजिक जीवन के लिए अनुपयुक्त समझने के कारण उन्होंने उसके लौकिक स्वरूप का ही समर्थन किया है। रस-विशेष की अभिव्यञ्जना कितनी शक्तिपूर्ण अथवा नि:शक्त प्रणाली से हुई है, किसी रस की सामाजिक भूमि क्या है, वह किन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया है और वह सामाजिक जीवन पर क्या असर डालेगी आदि बातों को जानने की सामग्री हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों में नहीं मिलती थी। इस अभाव को शुक्ल जी ने रस के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक विवेचन द्वारा एवं अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में भाव-व्यञ्जना के विश्लेषण द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया। रस-विवेचन में लोकोत्तर, अलौकिक, ब्रह्मानन्द सहोदर आदि शब्द प्राण रहित हो रहे थे, शुक्ल जी ने इनमें युगानुसार नया अर्थ, सामाजिकता, व्यक्तित्व का परिहार आदि भरकर उन्हें नयी सजीवता प्रदान की है।

रस-सिद्धान्त की त्रुटियों के निराकरण के उपर्युक्त प्रयत्नों से यह विदित होता है कि शुक्ल जी उसे सर्वोपरि सिद्धान्त मानते हुए भी उसे परम्परा से आगे ले जाना चाहते

थे, उसमें युग के अनुसार संस्कार तथा परिष्कार आवश्यक समझते थे। मनोविज्ञान विस्तृत कर समाज-विज्ञान, दर्शन आदि नवीन विषयों की सहायता से उसका स्वरूप, उसका देश-विदेश में खूब प्रसार करना चाहते थे। इससे विदित होता है कि वे प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों में आस्था रखते हुए भी उनमें युग के अनुसार संस्कार, परिष्कार तथा प्रसार आवश्यक समझते थे। वे पश्चिम के सिद्धान्तों को भी उदारता की दृष्टि से देखते थे। यदि उनमें जीवन की मंगल-साधना में योग देने की कोई तात्विक वस्तु मिलती थी तो, उसका सामञ्जस्य अपनी समीक्षा धारणा में करने के लिए वे सदैव तैयार रहते थे। इस प्रकार के विचारों से शुक्ल जी ने हिन्दी-समीक्षा को परम्परा से आगे बढ़ने के लिए विकासवादी दृष्टि प्रदान की है।

शुक्ल जी की काव्य-दर्शन सम्बन्धी उपर्युक्त नवीनताओं तथा मौलिक विचारों से स्पष्ट है कि उनके सैद्धान्तिक काव्य-दर्शन का आधार या साँचा भारतीय काव्य-दर्शन है जो बहुत ही व्यापक कोटि का है, जिसमें शाश्वत तत्वों का आधिक्य है किन्तु साथ ही, उसमें युग के व्यापक साहित्य-दर्शन के आधार तत्त्व भी वर्तमान हैं। इसलिए इनका साहित्य-दर्शन केवल शाश्वत तत्वों का निर्माता ही नहीं है, इनकी वैयक्तिक मान्यता का परिचायक ही नहीं है, वरन् अपने युग की आवश्यकता, आशा, आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करने में भी समर्थ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी के काव्य-दर्शन की नवीनता भी उनके आचार्यत्व की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने में पूर्ण समर्थ है।

अमर-कोश में मन्त्रव्याख्याता को भी आचार्य कहा गया है। हिन्दी-समीक्षा में शुक्ल जी के लिए इस अर्थ का प्रयोग करने पर आचार्य शब्द का अर्थ हुआ जिसमें कठिन एवं सूक्ष्म तत्वों के विश्लेषण की आसाधारण क्षमता हो। आचार्य शब्द की इस अर्थ-दृष्टि से भी शुक्ल जी में अद्वितीय कोटि का आचार्यत्व था; क्योंकि उन्होंने अपने निबन्धों में मनोविकारों का जैसा सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन किया है, कविता का जैसा निरूपण प्रस्तुत कर दिया है, इतिहास में प्राचीन तथा नवीन कवियों का जैसा विश्लेषण उपस्थित किया है, साहित्य की विभिन्न विधाओं का जैसा स्वरूप निश्चित कर दिया है, उपन्यास, कहानी, नाटक, निवन्ध का जैसा वर्गीकरण कर दिया है, प्रत्येक युग की साहित्यिक धाराओं, प्रवृत्तियों तथा आधुनिक युग की समस्याओं का जैसा निरूपण उपस्थित कर दिया है, अपने इन्दौर के अभि-भाषण में विदेशी अन्धानुकरण तथा पश्चिम के विभिन्न काव्य-वादों का जैसा तार्किक खण्डन कर दिया है तथा अपनी व्यावहारिक समीक्षा-कृतियों में तीन प्रसिद्ध कवियों—जायसी, सूर तथा तुलसी का जैसा सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत कर दिया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता।

शतपथ ब्राह्मण में 'आचार्य आप्त वचसा' से प्रमाणित होता है कि आचार्य होने का अधिकारी वही है जिसकी वाणी आप्त बचन सदृश गृहीत हो। इस कसौटी पर शुक्ल जी का आचार्यत्व हिन्दी-समीक्षा में अनन्य कोटि का सिद्ध होता है, क्योंकि आधुनिक हिन्दी के प्रायः सभी लब्धप्रतिष्ठ समीक्षक शुक्ल जी के समीक्षादर्श पर चल रहे हैं। अपने मतों की प्रामाणिकता में वे आज शुक्ल जी को ही सर्वाधिक मात्रा में उद्धृत कर रहे हैं। उनकी

समीक्षा आधुनिक समीक्षकों तथा साहित्यकारों के लिए अजस्र प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हो रही है। उनकी इतिहास-लेखन की प्रणाली ही अद्यावधि इतिहास लेखन की आदर्श तथा प्रामाणिक प्रणाली मानी जा रही है तथा वह हिन्दी-साहित्य के अन्य इतिहास-ग्रन्थों में अपने मूल रूप में कायम है। शुक्ल जी की समीक्षाशैली के अनुकरण के फलस्वरूप सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षाओं में हिन्दी समीक्षक साहित्य-मीमांसा के साथ-साथ जीवन-मीमांसा को लेकर चलने लगे हैं। उनके साहित्यगत जीवन मूल्यों के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी-आलोचना में साहित्य से जनजीवन का क्रमशः घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता जा रहा है, समीक्षा में सामाजिक सम्पर्क का आह्वान प्रबलतर रूप में किया जा रहा है, कला तथा साहित्य की समीक्षा में जीवन की उपयोगिता को, लोकमंगल को, जनकल्याण को स्थायी स्थान तथा मान प्राप्त हो रहा है।

रस तथा लोकमंगल का शुक्ल जी ने अपने साहित्यिक मानों में सर्वाधिक उपयोग किया है। उनके सभी मानों में परवर्ती समीक्षकों की उनकी जैसी आस्था नहीं रही, किन्तु उनके साहित्यिक मानों ने परवर्ती आलोचकों में नवीन सामाजिक मूल्यों तथा मानों को खोजने की प्रेरणा उत्पन्न कर दी है। जीवन में सदाचार के प्रेरणा देने वाले, लोक-मंगल की स्थापना में योग देने वाले, राष्ट्रीय समस्याओं तथा प्रश्नों के सुलझाव में सहायता पहुँचाने वाले साहित्य की उत्कृष्टता आज सभी लब्धप्रतिष्ठ आलोचकों को मान्य है। यह शुक्ल जी की मूल्यवादी समीक्षा का ही प्रभाव है। उनकी वैधानिक आलोचना को तो परवर्ती आलोचकों ने बहुत अधिक अपनाया है; किन्तु शुक्ल जी जैसी गम्भीरता, सूक्ष्मता, उदात्तता तथा व्यापकता का उनमें अभाव है। उक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि शुक्ल जी ने अपने रस-सिद्धान्त लोकमंगल तथा लोक-धर्म के आधार पर लोकवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा करने वाली जिस रसवादी समीक्षा की उद्भावना की, उसमें वर्तमान तथा भविष्य की प्रगति की अक्षय निधि वर्तमान है। वह इस युग की स्थायी सम्पत्ति है, इसी कारण उसका आश्रय लेकर परवर्ती हिन्दी-समीक्षा आगे बढ़ रही है।

आचार्य शुक्ल का प्रभाव परवर्ती हिन्दी समीक्षकों पर इतना व्यापक है, जितना तुलसीदास का उत्तर भारत की हिन्दू जनता पर तथा गान्धी जी का समूचे भारत पर।

बीमा कालोनी,
टैगोर नगर,
इलाहाबाद

दो निबंधकार—फ्रांसिस बेकन और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डॉ० मोहन अवस्थी

⊙

वर्त्तमान काल में निबन्ध ने साहित्य के अन्तर्गत एक विशिष्ट विधा के रूप में बहुत प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया है। लेकिन उसके स्वरूप से सामान्यतः परिचित होने पर भी आलोचक अभी तक उसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं दे सके हैं। फिर भी यह तथ्य सभी को स्वीकार है कि निबन्ध की आधुनिक धारणा भारतीय नहीं है। जिस अर्थ में हम आज निबन्ध शब्द का प्रयोग करते हैं, वह अर्थ यूरोपीय साहित्य की दो सहस्राब्दियों में विकसित हुआ है। प्लेटो (४२७ ई० पू०-३४७ ई० पू०) के निबन्ध तथ्यप्रकाशक एवं बाह्यार्थनिरूपक लेख हैं, लेकिन अरस्तू (३८४ ई० पू०-३२२ ई० पू०) के चरित्र-चित्रों में आधुनिक निबंध के कुछ बीज मिल जाते हैं। परन्तु आत्मपरक संवादमयी शैली, जो कि आधुनिक निबंध की सर्व स्वीकृत शर्त है, इन रचनाओं के लगभग डेढ़ हजार वर्ष बाद प्रकाश में आ सकी। निबन्ध का वास्तविक प्रारंभ फ्रांसीसी लेखक मोतेन (सन्१५३३-१५९२) की रचनाओं से हुआ। मोतेन सच्चे अर्थों में सबसे पहला निबंधकार है। उसने न केवल विषय-वस्तु प्रस्तुत की, अपितु इस विधा के नाम-सूचक शब्द का प्रयोग भी सर्वप्रथम किया। उसका कथन था कि वह निबंध क्या लिखता है, अपने आपको विषय बनाकर प्रकट करता है—

"I speak unto paper as unto the first man."

मोतेन के निबन्ध सन् १५८० तक प्रकाश में आ चुके थे और सन् १५९३ में उनके अनुवाद अँग्रेजी भाषा में भी छप गये थे; फिर भी मोतेन की शैली का उस समय अनुसरण नहीं हुआ। अँग्रेजी भाषा में निबंध-लेखन-परम्परा वस्तुतः फ्रान्सिस बेकन (सन् १५६१-१६२६) ने शुरू की। लेकिन उसकी शैली मोतेन से एकदम पृथक् है।

निबंध के लिए अँग्रेज़ी में 'एसे' (Essay) शब्द प्रयुक्त होता है। परन्तु इस शब्द को मोतेन तथा बेकन ने भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया। फ्रेंच भाषा में एक शब्द है 'एसाई (Essai), जिसका अर्थ होता है 'प्रयास'। प्रयास के भीतर अपूर्णता, अवैज्ञानिकता, अक्रम एवं अव्यवस्था का होना स्वाभाविक है। शायद इसी अर्थ-व्याप्ति को ध्यान में रखकर डॉ० जानसन (सन् १७०९-१७८४) ने 'निबंध' को इस प्रकार परिभाषित

किया था—"Essay is a loose sally of mind, an irregular undigested pieece, not a regular and orderly Composition."

बेकन के निबन्धों में चिन्तन, गुण-दोष-विवेचन आदि की ओर ही झुकाव अधिक है। वह प्लेटो और अरस्तू की निर्वैयक्तिक विचार-सरणि से पर्याप्त प्रभावित था, इसलिए उसका 'एसे' शब्द लैटिन शब्द (Exagium) से व्युत्पन्न है। (Exagium) का अर्थ है 'तौलना'। बेकन के निबंधों में यह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। वह निर्दिष्ट विषय को तौल-कर मूल्यांकन करता है। ऐसी स्थिति में गुण-दोष-विवेचन प्रधान हो जाता है। गुण-दोष-विवेचन में व्यवस्था, क्रम तथा चिन्तन की स्थिति आवश्यक हो जाती है।

संस्कृत में 'निबंध' शब्द पद्य या गद्य किसी भी रचना के लिए आता था और विशेष-रूप से अमुक्तक पद्यकाव्य ही निबंध की संज्ञा से अभिहित होता था। निबंध का अर्थ है अच्छी तरह बँधा हुआ। तुलसीदास ने भी रामचरित मानस को 'भाषानिबंधम्' कहा है और उस निबंध का कारण 'स्वान्तः सुखाय' बताया है—अर्थात् निबंध में वर्णन किसी का भी हो, लेकिन लेखक का मन उसमें सुख प्राप्त करे। अँग्रेजी आलोचकों ने निबंध की अनेक परिभाषाएँ दी हैं। आर्ली विलियम्स की दृष्टि में निबंध विचारों का सर्वाधिक आनन्दपूर्ण एक ऐसा वायवीय ढाँचा है जो प्रत्येक साहित्यिक उदात्तता एवं मस्तिष्क के प्रत्येक उच्च गुण को परिमाण की लघु सीमा में समाविष्ट करता है। और जे० बी० प्रीस्टले के अनुसार निबंध एक कलात्मक सुसह्य ढंग की बातचीत है। इस प्रकार ये परिभाषाएँ भी रमणीयता को रेखांकित करती हैं। एक बात अब सुनिश्चित हो गयी है कि निबंध गद्य की एक विधा है, पद्य की नहीं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सन् (१८९५-१९४०) निबंध को गद्य की कसौटी मानते हैं और उसका चरम उत्कर्ष वहाँ स्वीकार करते हैं जहाँ—"एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर ठूँसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खंड के लिए हो।"

स्पष्ट है कि शुक्ल जी विचारों की सघनता तथा भाषा की सामासिकता को तरजीह देते हैं; साथ ही निबंध में निबंधन-तत्त्व की अनिवार्यता भी स्वीकार करते हैं।

विचारों के दबाव का अर्थ है निर्वैयक्तिता का प्राधान्य। बेकन के निबंध भी चिन्तनपरक होने से विचारप्रधान हैं। बस अन्तर है तो इतना कि शुक्ल जी के निबंधों में जो वाक्यगत सम्बद्धता है, वह बेकन के निबंधों में नहीं मिलती। उसके निबंधों में क्रमबद्ध चिन्तन न होकर बिखरी विचार-टिप्पणियाँ मिलती हैं। परन्तु इन दोनों निबंधकारों की रचनाओं में एक गुण समानरूप से गृहीत है और वह गुण है एक-एक पैराग्राफ में विचारों को दबा-दबाकर ठूँसना। यदि सही समीक्षण करें तो प्रतीत होगा कि विचारों का समाहार और बोझ बेकन में शुक्ल जी से कहीं अधिक है। विचार एवं चिन्तन की दृष्टि से बेकन और आचार्य शुक्ल एक ही प्रकार के निबंधकार हैं, अतः दोनों की तुलना करना उचित होगा।

लेकिन वर्तमान काल में मात्र विचारों के संग्रह को निबन्ध नहीं कहा जाता। उप-

र्युक्त विवेचन से भी पता चलता है कि विचारों की संगति एवं रोचकता निबन्ध के आवश्यक तत्त्व हैं। संगति मस्तिष्क का कार्य है और रोचकता हृदय की माँग है। संगतिविहीन वार्त्तालाप पागलपन है और केवल चिन्तन-विवेचन भार तथा बोरियत का पर्याय है।

अतएव निबन्ध की परिभाषा में इन दोनों का समन्वय होना चाहिए। हृदय को कोई चीज़ बहुत देर तक नहीं रुच सकती। इसलिए रचना का बड़ा होना रोचकता में घातक सिद्ध होता है। यही कारण है कि निबन्ध के लिए छोटा होना आवश्यक समझा जाता है। अस्तु, मेरी समझ में—"निबंध वह छोटी ललित गद्य रचना है जिसमें विषय-प्रतिपन्नता के साथ हृदय का निर्बन्ध विचरण हो।"

बेकन तथा शुक्ल जी के निबंधों के विषय अलग-अलग हैं। इसलिए तुलना करना कठिन है, फिर भी दो विषय ऐसे हैं, जिन पर इन दोनों रचनाकारों ने लिखा है—ये विषय हैं 'प्रेम' तथा 'ईर्ष्या'। ये मनोविकार हैं, अतः मन से भी इनका सम्बन्ध है और उनकी व्याख्या करने तथा प्रकार आदि देकर विश्लेषण के आधार पर स्वरूप-निरूपण में मस्तिष्क भी क्रियाशील होता है। इसलिए हृदय तथा मस्तिष्क दोनों की संस्थिति होने से यदि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'लोभ और प्रीति' तथा 'ईर्ष्या' नामक निबंधों के साथ बेकन के 'Love' एवं 'Envy' निबंध रखकर अध्ययन-परीक्षण से कुछ परिणाम निकालें तो वह उपलब्धि कम महत्त्वपूर्ण नहीं कही जायेगी।

किसी भी विषय पर निबन्ध लिखते समय शुक्ल जी प्रथम पंक्ति में ही सूत्ररूप में उस विषय का सार रख देते हैं। यह वाक्य उस मनोभाव या विषय की परिभाषा होता है। उदाहरण के लिए 'ईर्ष्या' नामक निबंध के प्रारम्भ का यह वाक्य—"जैसे दूसरे के दुःख को देखकर दुःख होता है वैसे ही दूसरे के सुख या भलाई को देखकर भी एक प्रकार का दुःख होता है, जिसे ईर्ष्या कहते हैं।"

बेकन अपने 'ईर्ष्या' नामक निबन्ध में लिखता है—"कोई भी मनोविकार इतना आकर्षक और मनोहारी नहीं होता, जितना प्रेम और ईर्ष्या।"[१] बेकन अपने निबन्ध को एकदम प्रारम्भ करता है और जिस विषय पर वह लिखना चाहता है, उस विषय से संबंधित विचारों को पाठक के समक्ष रखने लगता है। जिसके विषय में कुछ कहता है, उसकी परिभाषा नहीं देता। लेकिन शुक्ल जी सर्वप्रथम उसकी परिभाषा देकर पाठक के मस्तिष्क में यह बात जमा देना चाहते हैं, कि आखिर वह वस्तु क्या है, जिसके विषय में हम लिखने जा रहे हैं? सरल परिभाषा देने के पश्चात् भी, वह उस बात को समझाते हैं और तब कहते हैं कि'—'ईर्ष्या एक संकर भाव है जिसकी सम्प्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होता है।" यहाँ पर आलस्य-शब्द विचारणीय है। शुक्ल जी का कथन है कि—"ईर्ष्या"

---

१ There be none of the affections which have been noted fascinate or bewitch, but Love and Envy.

प्राप्ति की उत्तेजित इच्छा नहीं है। एक के पास कोई वस्तु है और दूसरे के पास नहीं है तो दूसरा व्यक्ति इस बात के लिए तीन प्रकार से दुःख प्रकट कर सकता है—

(१) क्या कहें हमारे पास भी वह वस्तु होती!

(२) हाय वह वस्तु उसके पास न होकर हमारे पास होती!

(३) और वह वस्तु किसी प्रकार उसके हाथ से निकल जाती, चाहे जहाँ जाती।

इन तीनों वाक्यों में पहले वाक्य में जो भाव झलकता है वह ईर्ष्या नहीं है, साधारण स्पर्द्धा अर्थात् लाभ की उत्तेजित इच्छा का एक अच्छा रूप है। दूसरे वाक्य में ईर्ष्या का कुछ और तीसरे में पूरा आभास है। स्पर्द्धा में किसी सुख, ऐश्वर्य गुण या मान से किसी व्यक्ति-विशेष को सम्पन्न देख अपनी त्रुटि पर दुःख होता है, फिर प्राप्ति का एक प्रकार की उद्वेगपूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है।" लेकिन बेकन ने लिखा है कि "उन (प्रेम और ईर्ष्या) दोनों में उद्वेगपूर्ण इच्छाएँ होती हैं।"[1]

यह तो ठीक है कि प्रेम में उद्वेगपूर्ण इच्छा होती है, किन्तु ईर्ष्या में उद्वेगपूर्ण इच्छा कैसे हो सकती है? उद्वेगपूर्ण इच्छा यदि होगी तो मनुष्य उसे प्राप्त करने का उद्योग करेगा और जब मनुष्य दूसरे आदमी से आगे बढ़ने का प्रयास करता है तब उसे हम स्पर्द्धा कहते हैं। ईर्ष्या तो तभी होती है जब हम किसी मनुष्य से बाजी मारने में अपने को असमर्थ पाते हैं और मन में कुढ़कर उसके प्रति अकल्याणकारी भावना रखने लगते हैं। इसलिए शुक्ल जी का आलस्य शब्द बड़े महत्त्व का है।

बेकन का प्रेम और ईर्ष्या को एक ही साथ बाँधना उचित नहीं। यदि 'ईर्ष्या' में उद्वेग-पूर्ण इच्छा होती भी है तो अहित करने की। लेकिन इसके लिए उस पद को स्पष्ट करना चाहिए था और तब प्रेम 'ईर्ष्या' के साथ नहीं आ सकता था, क्योंकि प्रेम में हित करने की उद्वेगपूर्ण इच्छा नहीं होती है। लेकिन यह भी पर्याप्त नहीं। ईर्ष्या में अहित करने की भी उद्वेगपूर्ण इच्छा नहीं होती, क्योंकि अहितकर भावना जब अधिक उद्वेगपूर्ण हो जाती है तब हम उसे द्वेष कहने लगते हैं। अतएव आलस्य शब्द का रहना अनिवार्य है।

इसके पश्चात् बेकन कहता है—"किन्तु इन उत्सुकतापूर्ण बातों को छोड़कर अब हम बताएँगे कि किन लोगों की प्रवृत्ति दूसरों से ईर्ष्या करने की होती है, कौन लोग ईर्ष्या के सर्वोत्तम पात्र हैं तथा व्यक्तिगत और सामाजिक ईर्ष्या में क्या भेद है?" वह स्पष्ट करता है—"जिस मनुष्य में कोई गुण नहीं होता वह सदैव दूसरे के गुणों से ईर्ष्या करता है, क्योंकि मानव-मस्तिष्क को या तो अपनी भलाई से खाद्य प्राप्त होता है या दूसरों की बुराई से और जिसे दूसरों के गुण प्राप्त करने की आशा नहीं रहती वह दूसरों के भाग्य को अवनत करने में सन्तोष प्राप्त करता है।"[2]

---

1. They both have vehement wishes.

2. A man that hath no virtue in himself ever envieth virtue in others. For men's minds will either feed upon their own good or upon others' evil; and who wanteth the one will prey upon the other;—and whoso is out of hope to attain another's fortune.

यहाँ पर बेकन ने निराशा पर बल दिया है जिसे शुक्ल जी ने पहले ही स्पष्ट कर दिया है। निराशावाली बात तो सोलह आने सही है, किन्तु जिस मनुष्य में कोई गुण नहीं होता, वह सदैव दूसरों के गुणों से ईर्ष्या रखता है, यह बात नितान्त सत्य नहीं। इस प्रकार तो एक आदमी संसार भर से ईर्ष्या कर सकता है। शुक्ल जी का विचार इससे भिन्न है। उनका कथन है कि—"ईर्ष्या व्यक्ति-विशेष से होती है, यह नहीं कि जिस किसी को ऐश्वर्य गुण या मान से सम्पन्न देखा उसी से ईर्ष्या हो गयी। ईर्ष्या उन्हीं से होती है जिनके विषय में यह धारणा होती है कि लोगों की दृष्टि हमारे साथ इन पर भी पड़ेगी या पड़ती होगी।"

बेकन आगे लिखता है—"विरूप व्यक्ति, नपुंसक, गोलक तथा वृद्ध लोग ईर्ष्यालु होते हैं, क्योंकि सम्भवतः जो अपनी स्थिति में सुधार नहीं कर सकता वह दूसरे की स्थिति बिगाड़ने का प्रयत्न करेगा।"[१]

शुक्ल जी का भी मत इससे मिलता-जुलता है—"सम्पन्न व्यक्ति की ओर जो स्पर्द्धावान् का बार-बार ध्यान जाता है, वह उसकी स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन करने के लिए नहीं, बल्कि अपनी स्थिति में परिवर्तन करने के लिए। स्पर्द्धा में दुःख का विषय होता है 'मैंने उन्नति क्यों नहीं की?' और ईर्ष्या में दुःख का विषय होता है उसने उन्नति क्यों की?"

बेकन ईर्ष्या का कारण शारीरिक मानता है, क्योंकि वह विरूप व्यक्ति को ईर्ष्यालु कहता है, लेकिन यह आवश्यक नहीं। ईर्ष्या मानसिक व्यापार है, उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं। यदि विरूप पुरुष ईर्ष्यालु होते हैं तो क्या सभी रूपवानों को फरिश्ता मानना चाहिए।

बेकन का कथन है—"निकट सम्बन्धी, कार्यालय के साथी और एक साथ पोषित हुए व्यक्ति अपने बराबर के साथियों से जब वह पद में बढ़ जाते हैं, ईर्ष्या करने लगते हैं।"[२] इसी को शुक्ल जी इस प्रकार कहते हैं—"सम्बन्धियों, बालसखाओं, सहपाठियों और पड़ोसियों के बीच ईर्ष्या का विकास अधिक देखा जाता है। लड़कपन से जो आदमी एक साथ उठते-बैठते देखे गये हैं उन्हीं में से कोई एक-दूसरे की बढ़ती से जलता हुआ भी पाया जाता है।"

बेकन इसे और भी स्पष्ट कर देता है—"प्रसिद्ध गुणों के मनुष्य जब और अधिक उत्कर्ष प्राप्त कर लेते हैं तब उनसे लोग कम ईर्ष्या करते हैं, क्योंकि उनका भाग्य उनका अर्जित फल है और ऋण चुकाने पर कोई भी ईर्ष्या नहीं करता, ईर्ष्या तो पारितोषिक तथा अनुदान पर ही की जाती है। जहाँ होड़ नहीं, वहाँ ईर्ष्या नहीं, इसलिए राजाओं से राजाओं

---

1. Deformed persons, and eunuchs, and old men, and bastards, are envious. For he, cannot mend his own case, will do what he can impair another's.

2. Near kinsfolk and fellows in office, and those that are bred together, are more apt to envy their equals when they are raised.

के अतिरिक्त कोई दूसरा ईर्ष्या नहीं करता।"[1] शुक्ल जी ने इस बात को लगभग छोड़ दिया है अथवा इतने सुन्दर ढंग से नहीं स्पष्ट किया।

बेकन अपने प्रेम नामक निबन्ध में प्रेम की परिभाषा इत्यादि नम्बर देकर कहता है कि—"रंगमंच पर प्रेम सुखान्त और दुःखान्त दोनों प्रकार के नाटकों का विषय होता है पर जीवन में वह अधिकतर शरारत ही करता है, कभी एक आकर्षक सुन्दरी की भाँति और कभी क्रोधोन्मत्त राक्षसी की तरह।"[2] शुक्ल जी लोभ और प्रीति की परिभाषा देते हैं—किसी प्रकार का सुख या आनन्द देनेवाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को, जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं—विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख।"

बेकन के निबन्धों में विषय का विस्तृत विवेचन नहीं है। उनके भीतर विचारक, लेखक का वैदग्ध्य अधिक मिलता है। किसी बात को वह चमत्कारपूर्ण भाषा में कहने का अधिक ध्यान रखता है। शुक्ल जी विषय में प्रवेश करके उसकी विस्तृत विवेचना करते हैं और सीधीसादी भाषा में रखकर पाठक के लिए अधिक ग्राह्य बनाने का प्रयत्न करते हैं।

शुक्ल जी विस्तृत व्याख्या के बाद सूत्ररूप में कुछ बातें कह देते हैं, किन्तु बेकन सर्वत्र ही समास-शैली का प्रयोग करता है। उसकी भाषा में लाघव है, चुस्ती है, गंभीरता है। शुक्ल जी में भावों की गम्भीरता के साथ भाषा की रमणीयता भी है।

बेकन के पाठक को सिर ऊपर उठ कर देखने का अवकाश नहीं मिलता। अर्थात् चाहे विषय गम्भीर हो चाहे न हो (जैसे उसके Gardens और Travel आदि निबन्ध) बेकन की शैली उसे इतना गम्भीर बना देती है कि पाठक उसमें उलझा रहता है। शुक्ल जी में इसके विपरीत, गंभीर विषय को, यथासम्भव सरल बनाने का प्रयत्न लक्षित होता है।

बेकन अपने पाठकों को हँसने का अवसर बिल्कुल ही प्रदान नहीं करता। किन्तु शुक्ल जी से बिना हँसाए नहीं रहा जाता। यही शुक्ल जी की विशेषता है। इसी कारण उनके निबन्धों में पाठक से उनका पूरा तादात्म्य हो जाता है। उनके गम्भीर से गंभीर लेखों में भी हास्य कहीं न कहीं छिटक ही जाता है। लज्जा और ग्लानि जैसे गम्भीर विवेचनात्मक निबन्ध में संकोच-मनोविकार को स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं—"सामान्य से सामान्य व्यवहार में भी संकोच देखा जाता है। लोग अपना रुपया माँगने में संकोच करते हैं, साफ-साफ

---

1. Persons of eminent virtue, when they are advanced, are less envied. For their fortune seemeth but due unto them; and no man envieth the payment of a debt, but rewards and liberality rather.... kings are not envied but by kings.

2. For, as to the stage, love is ever matter of comedies, and now and then of tragedies; but in life it doth much mischief, Sometimes like a Siren, sometimes like a Fury.

बात कहने में संकोच करते हैं, लेटने में संकोच करते हैं, यहाँ तक कि एक सभा के सहायक मंत्री हैं जो कार्यविवरण पढ़नें में संकोच करते हैं।"

बेकन के लेखों में काव्य-तत्त्व नहीं मिलता। यद्यपि कुछ लोगों ने 'हैमलेट' और 'ऑथेलो' से दो-चार उद्धरण देकर नाम मात्र के लिए सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, लेकिन तथ्य यही है कि उसके निबन्ध मस्तिष्क की शुद्ध उपज हैं। शुक्ल जी के निबन्धों में बुद्धि-तत्त्व के साथ हृदय का भी अनूठा सामञ्जस्य है।

बेकन के निबन्धों में उसके व्यक्तित्व की झलक तो अवश्य मिलती है, किन्तु उसकी बहुत कुछ दृष्टि निरपेक्ष है। उसकी दृष्टि एक तटस्थ द्रष्टा की दृष्टि है। शुक्ल जी बिलकुल निरपेक्ष नहीं। मनोवेगों का विवेचन करते समय वह अपने मनोवेगों को पूर्णतः नहीं रोक पाते और उनके मुँह से निकल ही पड़ता है —"मोटे आदमियो! तुम जरा-सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।"

बेकन भाषा की व्यञ्जना-शक्ति से उतना काम नहीं लेता जितना शुक्ल जी। इसीलिए शुक्ल जी के निबन्धों में रस अधिक मिलता है। उदाहरणार्थ—"लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी भी प्रकार कम नहीं होता।...न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है न रक्त चूसने में दया। लोभियो! तुम्हारा अक्रोध तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान समता, तुम्हारा तप, अनुकरणीय है। तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो। तुम्हें धिक्कार है?" इसका कारण यह है कि शुक्ल जी एक कवि थे, जो विषय के प्रभाव से अपने को निर्लिप्त नहीं रख सकते और बेकन एक न्यायाधीश था, जो वादी-प्रतिवादी से अपने को अलग ही रखता था।

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

साहित्य में अप्रस्तुत-विधान और आचार्य शुक्ल का सन्दर्भ

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

⊙

'शब्द' की अवधारणा दो रूपों में पायी जाती है—(१) ध्वनिरूप शब्द अर्थात् शुद्धनाद, (२) वर्णरूप शब्द अर्थात् वर्णात्मक नाद, जिसका कुछ अर्थ हो। तात्पर्य यह है कि साहित्य में 'शब्द' वह ध्वनि है, जो प्रतीति को उत्पन्न करती है। वैयाकरण शब्द को स्फोटरूप और मीमांसक वर्णरूप मानता है। शब्द को सुनकर जो भाव, विचार या बिम्ब हमारे मानस-पटल पर आता है, वही उस शब्द का अर्थ है। भोज ने 'शृंगार प्रकाश' में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को 'साहित्य' कहा है—'यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः साहित्यमुच्यते।' मात्र अनुभूति साहित्य नहीं है, अनुभूति की भाषामयी कलात्मक अभिव्यक्ति 'साहित्य' है।

'शब्द' का सम्बन्ध नाभि-चक्र और हृदय-चक्र से और अर्थ का सम्बन्ध आज्ञाचक्र तथा सहसारचक्र से है। साहित्य में शब्द का अर्थ ही शिवत्वमूलक है। इसीलिए आगमों में शिव को सहस्रार में बताया गया है।

यद्यपि शब्द और अर्थ अभिन्न हैं, किन्तु अव्यक्त 'अर्थ' 'शब्द'-द्वारा ही व्यक्त होता है। अर्थ में भाव को समाविष्ट समझना चाहिए। अर्थ का सौन्दर्य एक प्रकार से शब्द का ही सौन्दर्य है। अर्थ को शृंगार-समन्वित करने के लिए भाषा को भी शृंगार समन्वित होना पड़ता है। अप्रस्तुत-विधान नाम रूप में से 'नाम' का शृंगार-विधान है। 'नाम' शृंगार रूप का ही शृंगार है। अप्रस्तुत को सूचित करने वाला वस्तु-परक नाम अप्रस्तुत के रूप के साथ प्रस्तुत के रूप को भी संकेतित किया करता है।

भाषा सामान्यतः दो प्रकार की होती है—(१) बोल-चाल की भाषा, (२) लिखित भाषा।

बोल-चाल की भाषा के भी दो रूप प्रचलित हैं—(१) बोल-चाल की सामान्य भाषा, (२) बोल-चाल की शिष्टाचारगत भाषा। सपाटबयानी बोल-चाल की सामान्य भाषा में होती है। सपाटबयानी में साहित्य कितना है, यह बात अभी प्रश्नचिह्न रहती है।

बोलचाल की शिष्टाचारगत भाषा में कृत्रिमता अधिक होती है। उसमें लगभग सत्तर प्रतिशत झूठ समाविष्ट रहता है।

भाषा तो एक प्रकार से वनस्पति, कीट, पक्षी, पशु तथा मनुष्य सभी के पास होती है। किसी के पास मौन होती है और किसी के पास शब्दात्मक। शब्दात्मक भाषा के दो

प्रकार होते हैं---(१) नादात्मक भाषा, (२) वर्णात्मक भाषा। वर्णात्मक भाषा अर्थप्रधान होती है। मनुष्य के पास वर्णात्मक भाषा का होना एक चमत्कारिणी उपलब्धि है। जिस मनुष्य के पास जितनी अधिक सबल, व्यापक तथा प्रभावी वर्णात्मक भाषा होगी, वह उतना ही उच्च साहित्यस्रष्टा होगा। साहित्यकार सबल एवं प्रभावी वर्णात्मक भाषा के कारण मनुष्यों में उच्च, सम्मान्य एवं वन्दनीय माना जाता है।

वर्णात्मक भाषा में आस्वाद, संस्पर्श आदि अनुभूतियों को संप्रेषित करने की सामर्थ्य नहीं होती। गुड़ की मिठास या अग्नि की तपन को व्यक्त करने के लिए साहित्यकार वास्तव में असमर्थ होता है। फिर भी उस असमर्थता में वह अपना प्रयास करता है। उस प्रयास में ही चमत्कार तथा सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है।

योगी समाधि-अवस्था में अपनी अनुभूति को भाषा का सहारा लिए बिना ही समान-धर्मा दूसरे साधक को संप्रेषित कर देता है। तब योगी की भाषा समाधि-भाषा कही जाती है। एक योगी की समाधि भाषा के अर्थों को दूसरा योगी ही समझ सकता है।

लिखित भाषा परिनिष्ठित अधिक होती है। उसमें साहित्यिकता का अंश अधिक होता है। उसके भी दो भेद हैं---(१) सामान्य लिखित परिनिष्ठित भाषा, (२) विशिष्ट रूपेण लिखित परिनिष्ठित भाषा---इस द्वितीय भेद को ही पूर्णतः साहित्यिक भाषा कहा जा सकता है। कानूनी अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से साहित्यिक भाषा को असत्य भाषा कहा जा सकता है; परन्तु साहित्य में घटना सत्य न होकर भावना-सत्य हुआ करता है। उसी भावना सत्य की ऊँचाई को साहित्यकार ऊँचे-से-ऊँचे शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया करता है। गीता (१७।१५) प्रिय और हितकारी वचन को सत्य कहती है। वेद सत्यवाणी को हंसपदी वाक् (हंसपदी ऋचा) कहता है। हंस का शरीर श्वेत और पंजे-चोंच अनुराग-रंजित मजीठी रंग के होते हैं। सत्य वस्तुतः अनुरागमय है, निर्मल है। ऋषियों को मंत्र-द्रष्टा इसीलिए कहा जाता है कि उन्होंने सत्यवाणी के अर्थ के दर्शन किये थे।

महाभारत सत्य और यथार्थ में अन्तर मानता है। जिससे अधिकतम कल्याण हो, वही 'सत्य' है---'यद्भूतहितं अत्यन्तं, तत् सत्यम्।' महाभारतकार 'सत्य' को भावना-सत्य के रूप में और 'यथार्थ' को घटनासत्य के रूप में व्यक्त करता है। रोगी के कल्याण के लिए उसका चेहरा देखकर कहना कि अब तो आपके चेहरे पर रौनक आती जा रही है, भावना सत्य है; भले ही रोगी का चेहरा पीला हो। 'पीलापन' घटना सत्य है। भावना-सत्य के उद्घाटन के कारण साहित्य का आसन दर्शन और विज्ञान से सदैव ऊँचा रहा है। सत्य की भूमि हृदय और ऋत की भूमि आत्मा है। साहित्य में सदैव सत्-असत् का संघर्ष दिखाकर सत् की ही स्थापना की गयी है। समाज के हृदय को सत् से आप्लावित करने के लिए साहित्य भावना-सत्य का पक्षधर बनता है। पुराणों में वर्णित देवासुर-संग्राम सत्-असत् का संघर्ष है। सत्-असत् के द्वन्द्व को हर्जल ने विचारद्वन्द्व और मार्क्स ने भौतिकद्वन्द्व नाम दिया है। साहित्य न वित्त का पक्षधर है, न चित्त का। वह तो मानव-जीवन के लिए मानवत्व का प्रतिष्ठापक है।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित है कि "रावण के जन्म के समय आकाश से रुधिर बरसा था और विभीषण के जन्म के समय देवों ने आकाश से फूल बरसाये थे।" महावीर स्वामी के जन्म के समय रत्नों की वर्षा हुई थी। यह सब भावना-सत्य है, जो सत् की स्थापना करता है। धर्म में विकृति आने पर साहित्य ही उसे सद् रूप प्रदान करता है। साहित्य धर्म को संकुचित होने से बचाता भी है।

जैनतीर्थंकर महावीर स्वामी का जन्म ईसा के ५९९ वर्ष पूर्व हुआ था। उस समय भारत में लगभग २००० छोटे-छोटे राज्य थे और कुल जनसंख्या २ करोड़ थी। महावीर स्वामी का राज्य आज के एक ज़िले के बराबर था, लेकिन उल्लेख मिलता है कि उनके राज्य में हजारों रथ, हाथी और घोड़े थे। यह सब भावना-सत्य है।

कभी-कभी तो सत्यमयी भावना इतनी उच्च, उदात्त और विशाल होती है कि भाषा उसके लिए बहुत छोटी सिद्ध होती है। मानसोद्भूत उच्चतम भावना को वाणी प्रायः पूर्णतया व्यक्त नहीं कर पाती। इसलिए वेद कहता है—"वाग्वैमनसो ह्रसीयसी।"—(शतपथ, १।४।४।७)।

साहित्यगत सौन्दर्य के लिए स्रष्टासाहित्यकार को अपनी रचना में भाषा-वैशिष्ट्य हेतु शब्द-चयन में निपुणता लानी पड़ती है। तभी लोक, व्यवहार तथा मानवीय भावों को प्रभावशाली बनाया जा सकता है। तभी रचना में सौन्दर्य अर्थात् नूतनता आती है। ध्वनिकार आनंदवर्धन ने कहा भी है:—

"पूर्वं दृष्टा ऽपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥" —ध्वन्यालोक

साहित्यिक भाषा अलंकृत अर्थात् सौन्दर्यमय होती है। भाषा में सौन्दर्य लाने के लिए साहित्यकार अप्रस्तुत-विधान की सृष्टि किया करता है, जिसकी बीजशक्ति कल्पना है। यह चिन्त्य विषय है कि आज हिन्दी का नया लेखक भाषा के प्रति उदासीन है।

अनुभूति और संवेदना जब अलंकृत साहित्यिक भाषा के माध्यम से व्यक्त होती है, तब बिम्ब-सृष्टि भी होने लगती है। साहित्यकार की अहंता जब व्यष्टि के वृत्त से निकलकर राष्ट्र या विश्व के वृत्त में विचरण करती है, तब समष्टिमूलक बिम्ब बनाती है।

अप्रस्तुत-विधान के माध्यम से जब स्रष्टा साहित्यकार अपनी भाषागत अभिव्यञ्जना की रञ्जना को प्रभावशालिनी बनाने लगता है, तब ललित साहित्यिक भाषा में अर्थात् अलंकृत भाषा में प्रतीकों या उपमानों की सृष्टि होने लगती है। जिन प्रतीकों अथवा उपमानों का सम्बन्ध सर्वानुभूति सार्वजनीन भावों से होता है, वे शीघ्रता से हमें बोधगम्य हो जाते हैं और अधिक प्रभावी होते हैं। लोक-हृदय की पहचानवाला साहित्यकार सार्वजनीन भावद्योतक प्रतीकों या उपमानों को अच्छी तरह सुन्दर शैली में प्रस्तुत कर सकता है। काडवेल जिसे 'कलैक्टिव इमोशन' कहता है, उसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'साधारणीकरण' नाम दिया है। सारांश यह कि सर्वानुभूति, सामूहिक भाव और साधारणीकरण एक ही बात है।

उच्च साहित्य में अप्रस्तुत-विधान के श्रृंगार की छटाएँ उपमान और प्रतीक के अन्तर्गत अच्छी तरह दृष्टिगोचर होती हैं।

साहित्य में उपमामूलक अभिव्यक्तियों में पूर्णोपमामूलक अभिव्यक्ति सर्वाधिक स्पष्ट होती है। उसमें उपमान, उपमेय, वाचक और धर्म प्रत्यक्ष होते हैं। इन चारों में से जब एक या अधिक लुप्त हो जाते हैं, तब भावार्थ के बोध में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। यहाँ तक कि वाचकधर्म लुप्तोपमा अलंकार और रूपकालंकार समान-से प्रतीत होते हैं। ऐसी ही बात रूपकातिशयोक्ति अलंकार और प्रतीक के समय भी हो जाती है।

पश्चिम के साहित्यशास्त्र ने हमें मैटाफर, सिमली और प्रतीक की अवधारणाएँ प्रदान की हैं। भारतीय काव्यशास्त्र ने रूपक, उपमा, अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति आदि की भूमि में उपमान की संकल्पना प्रस्तुत की है। शैलीमीमांसा (आधुनिक शैलीविज्ञान या साहित्य-शास्त्र) के विद्यार्थी के समक्ष मुख्य कठिनाई तब उपस्थित होती है, जब किसी कविता में अप्रस्तुत-विधान की भूमि पर उपमान ही होता है, उपमेय नहीं। ऐसी स्थिति जब सामने आती है, उस समय वह विद्यार्थी यह नहीं समझपाता कि वहाँ अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति या अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार का उपमान है या पाश्चात्य-काव्यशास्त्र का प्रतीक है?

रचनाकार की सर्जन-प्रक्रिया में तीन स्थितियाँ आती हैं—प्रथम स्थिति वह है, जब रचनाकार के अचेतन-उपचेतन में अनुभूति का आवेग उद्वेलित होता है। द्वितीय स्थिति वह है, जब रचनाकार अपनी वेगवती अनुभूति को भाषिक अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए शब्दों के सम्यक् चयन में लग जाता है। तब रचनाकार कभी-कभी विचलन की पद्धति भी अपनाता है। इस प्रक्रिया को शब्द-निर्धारण की पद्धति समझना चाहिए। तृतीय स्थिति वह है, जब रचना स्पष्टतः भाषिक रूप ग्रहण करती है अर्थात् रचनाकार की अनुभूति तृतीय स्थिति में भाषा के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। अनुभूति की कलामयी भाषिक अभिव्यक्ति ही 'साहित्य' है। उस साहित्य में जब भाव-भावना का आधिक्य हो जाता है, तब उसी का नाम 'कविता' हो जाता है।

जैसे ऊर्जा का आधार द्रव्य है, उसी प्रकार साहित्य का आधार भाषा है। भाषा से अलग होकर साहित्य के अस्तित्व का भान नहीं हो सकता। सभ्यता-संस्कृति की सबसे बड़ी पूँजी भाषा है। समाज की असली सम्पत्ति भाषा है। भाषा से युग बनता है, युग की पहि-चान बनती है। समाज या व्यक्ति अपने अनुभवों को दूसरों तक भाषा के माध्यम से ही पहुँचा सकता है। भाषा ही व्यक्ति से व्यक्ति का, समाज से समाज का और राष्ट्र से राष्ट्र का सम्बन्ध स्थापित करती है।

पश्चिम में प्रतीकवाद का आरम्भ जेरॉल्ड, डी० नर्वल की कृतियों में हुआ था। रोजेटी और सिल्वी ने अंग्रेजी में उसका अनुवाद किया। फ्रांस में बोदलेया, वर्ले और मेलार्मे प्रतीक-वादी आन्दोलन के प्रारम्भी माने जाते हैं। मेलार्मे का कथन है कि वही कविता श्रेष्ठ है, जो अनुभूति का संकेत भर करती है। अनुभूति की स्पष्टतः अभिव्यक्ति से कविता का तीन-चौथाई सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

विटगेन्स्टीन अपनी पुस्तक 'टेक्टेटस' में कहता है कि 'जो कहा नहीं जा सकता, उसे अवश्य कहना चाहिए।' ऐसी स्थिति में जो अपूर्ण या संकेतात्मक कहा जायगा, वह प्रभाव अवश्य डालेगा। रचनाकार के वे चयन किये हुए शब्द तब झीने पर्दे में अर्थ की झलक दिखाते हैं। वे शब्द अनुभूति के आवेग को सौन्दर्यमयी भाषिक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। एक कवि ने काव्य के कथ्य के विषय में ठीक ही कहा है—"सब कुछ कह देने पर भी कुछ रह जाता है, जो केवल मन से महसूस किया जाता है।"

मेलार्मे ने अनुभूति की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति को कविता का सौन्दर्य बताया है। अतः प्रस्तुत को अप्रस्तुत के माध्यम से संकेतित करना साहित्य का सौन्दर्यमय अभिव्यक्तीकरण माना गया। प्रस्तुतों को संकेतित करनेवाले अप्रस्तुत कवियों के द्वारा उनकी भावनाओं के अनुसार कविता में प्रयुक्त किये जाते थे। वे अप्रस्तुत ही प्रतीक (सिम्बल) कहे गये। वे अप्रस्तुत काव्यस्रष्टा कवि की अनुभूति को गोपनीयता की छाया के साथ अभिव्यञ्जित किया करते थे। हिन्दी के छायावादी कवियों में वही अभिव्यञ्जना शैली अधिकांश में दृष्टिगोचर होती है। जो प्रतीक शैली छायावादी कवियों ने अपनायी थी, उसकी छवि से मिलती-जुलती छवि को हिन्दी के भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन कवि भी अपनी अलंकार विधायिनी रचनाओं के अन्तर्गत अन्योक्ति, समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारों के माध्यम से प्रस्तुत किया करते थे। इस तरह प्रतीक और उपमान समान कोटि में आ गये। साहित्य की गोपनीयतामयी सौन्दर्याभिव्यक्ति में प्रतीक तथा उपमान ने लगभग समान-से कार्य किये। अतः भारतीय प्राचीन काव्यशास्त्र के उपमान और पश्चिम से आगत पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रतीक, हिन्दी काव्यशास्त्र के विद्यार्थी के लिए अपनी बोधभूमि में एक समस्या बन गये हैं। शैलीविज्ञान अथवा काव्यशास्त्र का जो विद्यार्थी प्रतीकविधान का अध्ययन करता है, वह भारतीय काव्यशास्त्र के उपमान विधान का अध्ययन नहीं करता। जो विद्यार्थी उपमान का अध्ययन करता है, वह पाश्चात्य-काव्यशास्त्र के प्रतीकविधान का अध्ययन नहीं करता। अपनी-अपनी धारा के एकाङ्गी अध्ययन के कारण आज भी यह एक प्रश्नचिह्नीय समस्या बनी हुई है कि प्रतीक और उपमान वस्तुतः एक ही वस्तु के दो पृथक् नाम हैं अथवा ये दोनों पृथक्-पृथक् दो वस्तुएँ हैं? जिस कविता में अप्रस्तुत सूचक शब्द ही सांकेतिक प्रतिनिधि होता है, वहाँ शैलीविज्ञान या काव्यशास्त्र का विद्यार्थी यह निर्णय नहीं ले सकता कि वह शब्द प्रतीकसूचक है अथवा उपमानसूचक? यह समस्या प्रमुख रूप से रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति अथवा अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार की भूमि में उपस्थित हो जाती है। रूपक, सांगरूपक अथवा पूर्णोपमा अलंकार में उपमान-उपमेय साथ-साथ रहते हैं। अतः वहाँ पर यह समस्या नहीं उठती।

प्रतीक की पहचान या लक्षण के सम्बन्ध में प्रायः यह कह दिया जाता है कि रूढ़ि अर्थात् अधिक प्रसिद्धि के कारण उपमान ही प्रतीक बन जाता है। काव्यशास्त्रीय विवेचना के आँगन में यह प्रश्न विचारणीय है और महत्त्वपूर्ण भी।

डॉ० नामवर सिंह अपनी पुस्तक 'छायावाद' (द्वितीय संस्करण, १९६८ ई० पृ०;

१०१ से १०४ तक)' में लिखते हैं—"हर युग की कविता में कुछ-न-कुछ उपमान रूढ़ होकर प्रतीक बन जाते हैं। जैसे मध्ययुग की कविता में खञ्जन अथवा मीन का नाम लेते ही आँख का बोध होने लगता है। उपमानों की इसी रूढ़ि के आधार पर कवियों ने रूपकातिशयोक्ति का भवन खड़ा किया।"

श्रीराम, सीता जी के सिर में सिंदूर दे रहे हैं। उसके लिए तुलसी 'रामचरित मानस' (बाल० ३२५।९) में लिखते हैं—"अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहिं भूष अहि लोभ अमी के।" —मानस, बाल० ३२५।९

इस उपर्युक्त अर्धाली में श्रीराम के हाथ को कमल की, सिंदूर को पराग की, श्रीराम की भुजा को साँप की और सीता जी के मुख को चन्द्र की उपमा दी गयी है।

यहाँ उक्त अर्धाली में उपमान तो हैं, लेकिन उनके उपमेय नहीं हैं। इसलिए भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। हाथ के लिए कमल और मुख के लिए चंद्रमा प्रसिद्ध उपमान हैं भी। इसलिए डॉ० नामवर सिंह के मतानुसार यहाँ कमल और चंद्रमा को प्रतीक माना जा सकता है। डॉ० सिंह ने अपनी पुस्तक—'छायावाद' में इसका उल्लेख भी किया है।

एक कविता के दो चरण इस प्रकार हैं—

"जा दिन यह पंछी उड़ि जइहै।
पिंजरा तब सूनौ ह्वै जइहै।"

इन उपर्युक्त पंक्तियों में आये हुए 'पंछी' और 'पिंजरा' को डॉ० नामवर सिंह रूपकातिशयोक्ति के अन्तर्गत उपमान मानते हैं और पाश्चात्य—काव्यशास्त्र के अनुसार प्रतीक भी। सारांश यह कि डॉ० नामवर सिंह के मतानुसार भारतीय काव्यशास्त्र का उपमान ही पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रतीक बन जाता है—अर्थात् रूढ़ उपमान=प्रतीक और प्रतीक=रूढ़ उपमान।

इन्हीं उपर्युक्त दोनों पंक्तियों पर विचार करते हुए डॉ० नगेन्द्र का मत है—

"प्रतीक और उपमान की भेदक-रेखा सूक्ष्म और तरल है। सामान्यतः उपमान ही अपनी अति प्रसिद्धि के कारण प्रतीक बन जाता है। उपर्युक्त उदाहरण के पिंजरा को तो इस तर्क से प्रतीक माना जा सकता है; क्योंकि निर्गुण संतकाव्य में इसका शरीर के सम्बन्ध में बार-बार प्रयोग हुआ है; लेकिन पंछी को प्रतीक मानना शायद कठिन होगा। उपर्युक्त लक्षण सामान्य प्रतीकों पर ही लागू होता है। अचेतन के प्रतीकों या अनुष्ठान आदि से सम्बद्ध प्रतीकों की स्थिति सर्वथा भिन्न है।"

डॉ० नामवरसिंह इन्हीं दोनों पंक्तियों पर अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

" 'पंछी' और 'पिंजरा' शब्दों पर यदि पाश्चात्य आलोचना की दृष्टि से विचार किया जाय तो वे प्रतीक माने जा सकते हैं। दूसरी ओर संस्कृत-अलंकारशास्त्र की दृष्टि से मन-पंछी में से मन का लोप और तन-पिंजरा में से तन का लोप होने के कारण इसे रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। कठिनाई सिर्फ यह है कि इस उदाहरण

में अतिशयोक्ति कितनी है! काव्यमर्मज्ञ शायद इसे रूपकातिशयोक्ति का अच्छा उदाहरण मानने में हिचकें। वैसे अन्यत्र रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण प्रतीक हो सकते हैं और बिम्ब भी। इनमें कोई तात्त्विक भेद अनिवार्य नहीं है।"

प्रो० जगन्नाथ तिवारी का मत 'पंछी' और 'पिंजरा' के सम्बन्ध में इस प्रकार है—

"पाश्चात्य साहित्यशास्त्र रूपकातिशयोक्ति तथा अन्योक्ति—दोनों को अपने में समाविष्ट करते हुए और अधिक विस्तार ग्रहण कर लेता है। इसमें किसी भी प्रकार के अप्रस्तुत से प्रस्तुत का बोध कराया जाता है। वह अप्रस्तुत कहीं-कहीं प्रस्तुत के सदृश भी रहता है और कहीं-कहीं बिना सादृश्य के भी हठात् प्रस्तुत पर थोप दिया जाता है। छायावादी काव्य में ऐसे अनेक प्रतीक हैं, जिनका प्रस्तुत से कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं है; किन्तु हठात् उनके द्वारा प्रस्तुत का बोध कराने का प्रयास किया गया है। इसी कारण छायावादी काव्य में क्लिष्टता भी आ गयी है। 'जा दिन यह पंछी उड़ि जइहै' आदि में अन्योक्ति अलंकार ही स्पष्ट है और पाश्चात्य दृष्टि से पंछी और पिंजरा प्रतीक है।"

डॉ० नगेन्द्र, डॉ० नामवर सिंह और प्रो० जगन्नाथ तिवारी के मतों पर दृष्टि डालने के उपरांत यह कहा जा सकता है कि डॉ० नामवर सिंह और प्रो० जगन्नाथ तिवारी प्रतीक और उपमान में स्पष्टतः कोई भेद नहीं मानते; किन्तु डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार प्रतीक और उपमान में कुछ सूक्ष्म और तरल अन्तर अवश्य है। दोनों में वह सूक्ष्म-तरल अन्तर क्या है? कितना है? उसे ही देखना और पकड़ना चाहिए। प्रो० तिवारी के मत में प्रतीक का आयाम बड़ा है।

उपमान की एक सत्तात्मक प्रमुखता रूपकातिशयोक्ति में ही नहीं, अन्योक्ति तथा अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में भी रहती है। एक वाक्य है—

'पक्षियों में एक चातक ही कृतार्थ है, जो इंद्र के अतिरिक्त अन्य किसी से याचना नहीं करता।'—इसमें अप्रस्तुत चातक द्वारा स्वाभिमानी याचक की प्रशंसात्मक व्यञ्जना हो रही है। स्वाभिमानी याचक उपमेय और चातक उपमान है। अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की प्रशंसा के कारण यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है। डॉ० नामवर सिंह के मतानुसार यहाँ चातक को प्रतीक भी माना जा सकता है। इसका प्रतीयमान स्वाभिमानी याचक माना जायगा।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या प्रसिद्ध उपमान ही प्रतीक है या उपमान और प्रतीक में कुछ अन्तर भी है? यदि अन्तर है तो कैसा और किस सन्दर्भ में? उपमान और प्रतीक के क्षेत्र और आयाम क्या-क्या है?

निम्नांकित कविता-उद्धरणों को दृष्टिपथ में रखकर प्रस्तुत प्रश्न पर विचार करना चाहिए—

"हर सड़क पर हर गली में,
आज आतिशी शीशे बहुत पाये जाते हैं,

जो किसी क्षण, किसी जगह,
आग लगाने से नहीं चूकते।"

इन उपर्युक्त पंक्तियों में प्रतीक है 'आतिशी शीशा' और लुप्त प्रतीयमान है प्राण-घातक ईर्ष्यालु व्यक्ति। यह साम्य व्यष्टिगत सारूप्य पर आधृत नहीं है।

"आज मैं देखता हूँ मौन,
युगान्तर से मानवता त्रस्त !
द्रौपदी-सी लुटती असहाय" —रांगेय राघव

यहाँ द्रौपदी प्रतीक है। द्रौपदी में व्यक्तिगत रूपसाम्य नहीं है। 'द्रौपदी' उस दीन-हीन परिस्थिति, विवशता, पाण्डव-पतियों की असमर्थता, सभान्तर्गत महान् व्यक्तियों की कर्तव्यहीनता आदि की समष्टिमयी व्यञ्जना है। एक 'द्रौपदी' शब्द ने महाभारतकालीन उस पूरी सामाजिक स्थिति को चित्रित कर दिया है। 'द्रौपदी' शब्द में समष्टिगत भाव-पुञ्ज की व्यञ्जना निहित है। इसी कारण 'द्रौपदी' उपमान न होकर प्रतीक ही है। इन उक्त पंक्तियों में द्रौपदी-मानवता प्रतीक और प्रतीयमान हैं और रहेंगे। द्रौपदी इसलिए प्रतीक नहीं है कि यह रूढ़ उपमान है। 'द्रौपदी' कभी रूढ़ उपमान नहीं थी।

"उठो, उठो मेरे शिव, ताण्डव करो, कुहराम मचा दो।
कंकालों की अस्थि-नींव पर खड़े विश्व साम्राज्यवाद की,
आज ईंट से ईंट बजा दो।" —शिवमंगलसिंह 'सुमन'

इन उक्त पक्तियों में 'शिव' प्रतीक है और 'मजदूर-किसान' प्रतीयमान हैं। इनमें सादृश्य-साधर्म्य नहीं है, अतः इन्हें उपमान-उपमेय नहीं माना जा सकता। 'मजदूर-किसान' के लिए 'शिव' रूढ़ उपमान भी नहीं है। मजदूर-किसान एक समष्टि है, जो शिव से संकेतित है।

"यह दीप अकेला स्नेह भरा,
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।" —अज्ञेय

यहाँ 'दीप' प्रतीक और 'व्यक्ति' प्रतीयमान है। 'पंक्ति' प्रतीक है और 'समाज' प्रतीयमान है। दीप और पंक्ति पहले कभी रूढ़ उपमान नहीं थे।

'फूल, लाया हूँ कमल के,
क्या करूँ इनका ?
पसारें आप अंचल, छोड़ दूँ,
हो जाय जी हलका।" —भवानीप्रसाद मिश्र

यहाँ 'कमल के फूल' प्रतीक और 'कवि के गीत' प्रतीयमान हैं। इनमें व्यष्टिगत सादृश्य-साधर्म्य नहीं, इसलिए इन्हें उपमान-उपमेय नहीं माना जा सकता।

"क्या करूँ जो शंभुधनु टूटा तुम्हारा,
तोड़ने को मैं विवश हूँ।" —गिरिजाकुमार माथुर

'टूटा शंभुधनु' प्रतीक है और टूटी हुई तथा विगलित परम्परागत रूढ़ियाँ प्रतीयमान हैं।

महाप्राण निराला की एक कविता है—

"टूटें सकल बंध,
कलिके! दिशा-ज्ञानगत हो, बहे गंध।"

—सं० रामविलास शर्मा, रागविराग से

उपर्युक्त शब्द-संयोजन में निराला ने क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए प्रतीक रूप में 'कली का खिलना' व्यक्त किया है।

सुकवि राकेश की कविता की दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"गली-गली में पनप रहे हैं, अनगिन रावण भ्रष्टाचारी।
सब लक्ष्मण-रेखाएँ टूटीं, शोकनिमग्ना जनकदुलारी।।"

आज समाज में अगणित गुण्डे, दुराचारी, अत्याचारी बढ़ते जा रहे हैं और वे आचार-संहिताएँ तोड़ रहे हैं। सती-साध्वी महिलाएँ बहुत दुःखी हैं। यहाँ 'रावण', 'लक्ष्मण-रेखा' और 'जनकदुलारी' प्रतीक हैं; क्योंकि समष्टिसूचक हैं।

एक उर्दू के कवि ने लिखा है—

"बहुत गौर से सुन रहा था ज़माना।
तुम्हीं सो गये दास्ताँ कहते-कहते।।"

यहाँ 'सोना' मृत्यु हो जाने का प्रतीक है। लक्षणा के आधार पर क्रिया-साम्य माना जा सकता है।

रूपकातिशयोक्ति का अप्रस्तुत केवल सीमित प्रस्तुत को व्यष्टिगत रूप में संकेतित किया करता है। जब कमल व्यष्टिगत रूप में केवल हाथ या चंद्र केवल मुख को सूचित करेगा, तब कमल या चंद्र उपमान होगा। जब कमल से निर्लिप्त आत्मा की अनेक भावमयी व्यञ्जनाएँ अभिव्यक्त होंगी और जल से निराकार -निर्गुण ब्रह्म को अगाधता की व्यञ्जना होगी, तब कमल प्रतीक बनेगा। उस समय कमल से स्वच्छता , शुद्धता, निर्लेपता, दिव्यता, शाश्वत विकासशीलता आदि भावों की समष्टि का संकेत मिलेगा। ऐसी स्थिति में कमल प्रतीक ही कहलायेगा, उपमान नहीं।

"काहे री नलिनी तू कुम्हलानी।
तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में वास,
जल में नलिनी तोर निवास।।"

—कबीर

इन उपर्युक्त पंक्तियों में नलिनी (कमलिनी) प्रतीक और आत्मा प्रतीयमान है। यहाँ जल और ब्रह्म में व्यष्टिगत बाह्य सादृश्य-साधर्म्य नहीं है। इसलिए इन्हें उपमान-उपमेय नहीं माना जा सकता।

श्री सुमेरसिंह ने शिक्षा और शिक्षक के सम्बन्ध में एक कविता लिखी है-

"रथ जर्जर है गति मंद है।
ठोको, पीटो, ठीक करो।
बढ़िया कराओ, सरपट दौड़ाओ;
पर लोग न जाने क्यों?
स्वार्थ या भय से,
देखकर भी अनदेखा कर रहे हैं।"
मरियल घोड़े पर नहीं, दोष रथ पर मढ़ रहे हैं।

इन पंक्तियों में 'रथ' प्रतीक है और 'शिक्षा' लुप्त प्रतीयमान है। 'मरियल घोड़ा' प्रतीक है और 'शिक्षक' लुप्त प्रतीयमान। 'मरियल घोड़ा' गन्तव्य पर नहीं पहुँच सकता, मरियल घोड़े पर मक्खियाँ भी भिनकती हैं। मरियल घोड़ा थोड़ी बहुत घास और दाना खाकर ही थोड़ा-सा चल सकता है। मरियल घोड़ा डंडे की मार से कुछ चल सकता है और फिर चलना बन्द कर देता है। मरियल घोड़ा चलते-चलते गिर जाता है या बैठ जाता है। मरियल घोड़े की चाल दोषपूर्ण होती है।

इस मरियल घोड़ा प्रतीक के माध्यम से कवि आज के शिक्षक के सम्पूर्ण दोषों को समष्टि रूप में व्यक्त कर रहा है। प्रतीक में उपमान से बढ़कर यही विशेषता है। इसीलिए कहा जाता है कि प्रतीक समष्टिगत प्रभावसाम्य को लेकर काव्य में व्यञ्जना किया करता है। उसमें सादृश्य-साधर्म्य के अतिरिक्त अन्य साम्य भी हो सकते हैं। प्रो० जगन्नाथ तिवारी के कथन में ऐसा संकेत मिलता है।

एक बार तपोनिधि विदुर जी से महाराज धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया था कि—"मनुष्य जीवन क्या है?"

इसके उत्तर में विदुरजी ने एक कथा सुनायी। विदुरजी बोले—"राजन्! एक यात्री जंगल में जा रहा था। उसके पीछे एक हाथी दौड़ा। वह यात्री भागा और कुएँ में कूद पड़ा। उस कुएँ में बरगद का पेड़ था। वह यात्री उस पेड़ की शाखा पर जा पड़ा। फिर उस शाखा पर ही बैठ गया। यात्री ने नीचे कुएँ में झाँका तो पानी में काला नाग देखा। भयाक्रांत आदमी उसी शाखा पर बैठा रहा। ऊपर देखा तो मालूम पड़ा कि मधुमक्खियों का मधु टपक रहा है। यात्री उसे चाटने लगा। जिस शाखा पर यात्री बैठा हुआ था, उसे एक काला-सफेद चूहा कुतर रहा था। यात्री मधु चाटता रहा और चूहा शाखा कुतरता रहा।"

इस कथा में काला नाग काल का प्रतीक है। काला-सफेद चूहा दिन-रात का प्रतीक है। मधु जीवन का भोग-विलास रस है। इस तरह उस यात्री का जीवन ही सांसारिक मनुष्य का जीवन है। कथा के इन प्रतीकों को उपमान नहीं कहा जा सकता। प्रतीक कथानुस्यूत होता है।

महावीर स्वामी के जीवन में एक प्रसंग मिलता है कि—"एक बार महावीर स्वामी के पाँव में साँप ने काट लिया, तो उनके पाँव से दूध की धार निकली।" यह प्रती-

कात्मक भाषा है। इसका अर्थ यह कि यदि कोई दुष्ट महावीर स्वामी पर अपमान की चोट करता था, तो महावीर के हृदय से उसके प्रति प्रेम-करुणा की धारा बहती थी। साँप प्रतीक है, दुष्ट प्रतीयमान; दूध प्रतीक है, प्रेम प्रतीयमान। यहाँ प्रभावसाम्य सन्निविष्ट है।

इस लेख में पहले वाल्मीकि रामायण के इस कथन का उल्लेख किया जा चुका है कि रावण के जन्म के समय आकाश से रुधिर बरसा था और विभीषण के जन्म के समय देवताओं ने फूल बरसाये थे। **रुधिर-वर्षण** और **पुष्प-वर्षण** प्रतीक हैं। इन प्रतीकों की व्यञ्जना यह है कि रावण के शासनकाल में घृणा, दुःख और अत्याचार का वातावरण रहेगा और विभीषण के शासनकाल में प्रजा में सुख, शांति और आनन्द रहेगा। घृणा, दुःख, अत्याचार का समष्टिगत रूप प्रतीयमान है और रुधिर-वर्षण प्रतीक है। इसी प्रकार सुख, शांति और आनन्द का समष्टिगत रूप प्रतीयमान है और पुष्पवर्षण प्रतीक।

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के अयोध्याकांड के कथानक को पढ़ने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि मंथरा लोभ की, कैकेयी ईर्ष्या-कलह की और राजा दशरथ काम के प्रतीक हैं। ये प्रतीक रूढ़ उपमान तो क्या, सामान्य उपमान भी नहीं माने जा सकते। प्रतीक जिस प्रकार सम्पूर्ण कथा-प्रसंग में धारावत् व्याप्त रहता है, उस प्रकार उपमान नहीं रहता। उपमान तो व्यष्टिगत उपमेय की सौन्दर्यवृद्धि के लिए आ सकता है। अधिक से अधिक सांगरूपक अलंकार में विभिन्न उपमेयों के साथ विभिन्न उपमानों की शृंखला आ सकती है। इस दृष्टि से निश्चितरूपेण प्रतीक का आयाम उपमान से बड़ा है। उपमान व्यष्टि-मूलक है, तो प्रतीक समष्टिमूलक।

कविवर सोहनलाल द्विवेदी की एक कविता-पुस्तक प्रकाशित हुई है, 'संजीवनी'। 'संजीवनी' का कथानक पौराणिक है, कच और देवयानी से सम्बद्ध। कवि ने कथानक को प्रासंगिक तथा समसामयिक रूप प्रदान किया है। संपूर्ण खंडकाव्य 'संजीवनी' एक प्रकार से प्रतीक-खंडकाव्य है।

सारांश यह कि प्रतीक लक्षणा निरपेक्ष भी हो सकता है। प्रसंग, पात्र, घटना, कथानक आदि भी प्रतीक के रूप में आ सकते हैं। प्रतीक के भेद भी हैं—(१) प्राकृतिक प्रतीक (२) सांस्कृतिक प्रतीक (३) ऐतिहासिक प्रतीक (४) सैद्धान्तिक प्रतीक।

एक कविता है—

"खूब हँसो और बाँसो उछलो,
अपनी विजयश्री पर,
क्योंकि तुमने उस निहत्थे अभिमन्यु को मारा है,
उस समय
जब वह अपने रथ का पहिया निकाल रहा था।"

इस कविता में 'अभिमन्यु' प्रतीक है और व्यञ्जनागर्भी ऐतिहासिक प्रतीक है। यह ऐतिहासिक मिथक भी कहा जा सकता है।

प्रतीक के तीन विकसित सोपान हैं।—(१) फैन्सी अर्थात् बुद्धिमयी कल्पना-शक्ति (२) कल्पना (३) प्रतीक।

'फैन्सी' 'फैन्टेसी' (स्वैर-कल्पना) का संक्षिप्त रूप है। यह कल्पना की मूल कारणरूपावृत्ति है। फैन्सी कारण है और कल्पना कार्य है। 'प्रतीक' कल्पना द्वारा सृष्ट एक रूप है। वह रूप काव्य में अप्रस्तुत बनकर आता है और प्रस्तुत का संकेत देता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'चिन्तामणि' में स्पष्ट लिखा है कि—"प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जाग्रत् करने की निहित शक्ति है।"

इसका समर्थन आचार्य शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के कथन से भी हो जाता है—

"छायावाद बड़ी सहृदयता के साथ प्रभाव-साम्य पर ही विशेष लक्ष्य रखकर चला है। कहीं-कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यंत अल्प या न रहने पर भी आभ्यंतर प्रभावसाम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप में या प्रतीकवत् (सिंबालिक) होते हैं—जैसे **सुख, आनंद, प्रफुल्लता, यौवन-काल** इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक **उषा, प्रभात, मधुकाल, प्रिया** के स्थान पर **मुकुल, प्रेमी** के स्थान पर **मधुप**।"—रामचद्र शुक्ल; हिन्दी सा० का इति०, पृ० ६३९

आनन्द के लिए '**उषा**' तब भी प्रतीक थी और आज भी; क्योंकि आनन्द और उषा में आभ्यंतर प्रभावसाम्य है। प्रतीक के लिए उपमान का रूढ़ होना अनिवार्य नहीं। प्रभाव-साम्यवाला अरूढ़ उपमान भी प्रतीक बन सकता है। कठोपनिषद् (अ० २। ब० १।म० ८) में काष्ठाग्नि को परमेश का प्रतीक माना गया है।

सादृश्य का अर्थ है रंग, आकार आदि का साम्य, साधर्म्य का अर्थ है गुणसाम्य, क्रिया का अर्थ है गतिशीलता।

उपमान में रूप, रंग, आकार और गुण का व्यष्टिमूलक बाह्य साम्य रहता है।

(१) रंग-साम्य = वह चद्रमा-सा श्वेत है।
(२) आकार-साम्य = वह ऊँट-सा लम्बा है।
(३) गुण-साम्य = वह स्वभाव से साँप है।
(४) क्रिया-साम्य = वह चोर-सा भागा।

जब कहा जाय कि "मेरे जीवन की चन्द्रिका आ गयी।"—इसमें 'चन्द्रिका' उस प्रेमिका के लिए है, जो प्रेमी के जीवन में शीतलता, शांति, सुख, आनन्द, उल्लास आदि प्रदान करती है। यहाँ 'चंद्रिका' अनेक भाव-पुन्ज को संकेतित कर रही है। अतः 'चंद्रिका' आभ्यंतर प्रभावसाम्य के कारण प्रतीक ही मानी जायगी।

वेदना की भीषण आग के लिए एक उर्दू-शायर ने 'तूर' को प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है। हज़रत मूसा ने तूर पहाड़ को आग से जलते देखा था। वह जलकर राख हो गया था। उर्दू शायर कहता है—"हम अपने दिल में तूर छिपाये हुए तो हैं।"

उमाकांत मालवीय के एक गीत के निम्नांकित चरण में दुःख, संताप, कष्ट, वेदना, चिन्ता, निराशा आदि प्रतीयमानपुञ्ज के लिए लक्ष्मण की मूर्च्छा और आशा, सुख, हर्ष, उल्लास, आनन्द आदि प्रतीयमान पुञ्ज के लिए वैद्य सुषेण को प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है—

"हम को है लक्ष्मण की मूर्च्छा, बैद सुखेन तुम्हारे खाते।"

—उमाकांत मालवीय

बिम्ब प्रतीक में समाविष्ट रहते हैं। 'अंधकार' निराशा का प्रतीक है। अंधकार को व्यक्त करनेवाले बिम्ब निम्नांकित हो सकते हैं—

(१) संध्या (२) रात्रि (३) मेघमाला (४) पावस ऋतु आदि। इन बिम्बों का आधार कवि-कल्पना है। कल्पना वक्रोक्ति की जननी है। वक्र शब्द और वक्र अर्थ का संयोग ही 'साहित्य' है। कल्पनालोक का सर्वोच्च प्राणी कवि बिम्बों के द्वारा ही अपने काव्य को प्रभावी बनाता है। स्वयंभू कवि परमेश ने भी सूर्यचन्द्र को बनाने से पहले उन्हें कल्पना में ही देखा था—

"सूर्यचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"—वेद

वस्तुतः पाश्चात्य शास्त्रीय समालोचना के पाँच तत्त्वों—प्रतीक, बिम्ब, उदात्त, अस्तित्व और अभिव्यक्ति में प्रतीकतत्त्व और बिम्बतत्त्व का बहुत महत्त्व है।

बहुत से साहित्यस्रष्टा ऐसे होते हैं, जिनमें खिले फूल से बच्चों की खिलखिलाहट का बिम्ब बनता है। अतः खिला फूल उनके लिए प्रतीक बन जाता है, बच्चे की हँसी का। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि प्रतीक बिम्ब सृष्टि भी किया करते हैं। हिन्दी-साहित्य में कुछ भाववाचक संज्ञाएँ ऐसी हैं, जिनमें कवियों ने रंगों को आरोपित कर लिया है। 'यश' का रंग सफेद, 'अनुराग' का लाल और 'पाप' का काला माना गया है। रंगों के कारण ये शब्द भी बिम्बों की अर्थात् चाक्षुष-बिम्बों की सृष्टि करते हैं। बिम्ब रसानुभूति में सहायक सिद्ध होते हैं।

हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार यह कहा जा सकता है कि गीत की श्रुतिपेशल शब्दार्थमयी संगीतपरक पद रचना द्वारा बिम्बविधान चरम उत्कर्ष प्राप्त करता है।

चित्रकूट पर राजा जनक ने पुत्री सीता को देखा और देखकर जनकराज का मन प्रयाग बन गया। राजा जनक का मन सीता को देखकर प्रयाग कैसे बन गया?

प्रयागराज में त्रिवेणी-संगम है, अर्थात् गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम है। गंगा की धारा सफेद है, यमुना की काली और सरस्वती की लाल है। सीता जी को देखकर राजा जनक के मन की भूमि पर तीन सरिताओं का संगम समुपस्थित हो गया। कैसे?

चित्रकूट पर सीता अपनी विधवा सास कौशल्या के पास बैठी हुई थीं, तब राजा जनक वहाँ पहुँचे थे। गौरवर्ण कौशल्या गंगा के समान, है, दशरथ की मृत्यु काली यमुना के समान है और पुत्री सीता के प्रति पिता राजा जनक का अनुराग लाल सरस्वती के समान है। तीनों का संगम प्रयागराज है। तुलसी लिखते हैं—

"भयउ भूप मन मनहु पयागू।"—मानस, अयो०, २८६।५

उपमान और प्रतीक के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का प्रतीक भारतीय काव्य-शास्त्र के उत्प्रेक्षागत उपमान का संकेतात्मक एवं संक्षिप्त रूप है—ऐसी उत्प्रेक्षा जहाँ उपमेय न हो।

प्रतीक और प्रतीयमान युगानुसारी भी होते हैं। वैदिक काल में अन्धकार अज्ञान का प्रतीक था। हिन्दी के छायावादी काल में अन्धकार दुःख का प्रतीक बन गया—

"आरोह ः तमसो ज्योतिः"—अथर्व० ।८।१।८

—अर्थात् अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ो।

"मेरे जीवन में अन्धकार"—छायावादी हिन्दी कविता

—अर्थात् मेरे जीवन में दुःख-ही-दुःख हैं।

प्रतीक और प्रतीयमान सूक्ष्म-सूक्ष्म, स्थूल-सूक्ष्म, स्थूल-स्थूल, सूक्ष्म-स्थूल भी हो सकते हैं। स्थूल प्रतीक जो सूक्ष्म प्रतीयमान के लिए आता है, वह प्रतीयमान को अच्छी तरह बोध-गम्य बना देता है। स्थूल प्रतीक बिम्बात्मक भी होते हैं। बिम्बात्मक प्रतीक अधिक प्रभावी होते हैं और पाठक को रसानुभूति करने में सहायक सिद्ध होते हैं। बिम्बात्मक प्रतीकों में भी चाक्षुष-बिम्बात्मक प्रतीक सर्वोपरि हैं। चाक्षुषबिम्ब सर्वाधिक स्पष्टता रखते हैं। ज्ञान-प्राप्ति में नेत्रेन्द्रिय ही सर्वाग्रणी हैं।

तिरंगा झंडा हमारा राष्ट्रीय ध्वज है। इसमें तीन रंग क्या संकेत करते हैं, इसे कोई सुगमता से नहीं जान सकता।

तिरंगे झंडे के तीनों रंगों का एक इतिहास है। इसके तीन रंग प्रतीकमात्र हैं। कवि जिस प्रकार प्रतीयमान को संकेतित करने के लिए उसके रूप, गुण, प्रभाव आदि के साम्य पर प्रतीक निश्चित करता है, उसी प्रकार रंगों के प्रतीक भी आरोपित हैं।

सन् १९२९ ई० में महात्मा गाँधी के द्वारा निम्नांकित तीन रंग प्रतीक रूप में निश्चित किये गये थे। ये प्रतीक कभी रूढ़ उपमान नहीं थे।

प्रतीक		**प्रतीयमान**
(१) लाल रंग	=	हिन्दू जाति
(२) हरा रंग	=	मुस्लिम जाति
(३) सफेद रंग	=	अन्य संप्रदाय और जातियाँ

फिर सन् १९३९ ई० में सरदार बल्लभ भाई पटेल ने तीनों रंगों में कुछ परिवर्तन किया और निम्नरूप में प्रतीक निश्चित किये—

प्रतीक		**प्रतीकमान**
(१) केसरिया रंग	=	साहस और त्याग
(२) हरा रंग	=	निष्ठा और शौर्य
(३) सफेद रंग पर चर्खा	=	सत्य

उपर्युक्त ये प्रतीक स्वतः आरोपित किये गये थे। इनमें रूप, गुण, क्रिया, प्रभाव आदि

का साम्य न था। बाद में भावना के सातत्य से प्रभाव-साम्य उत्पन्न हुआ। वह साम्य परिवर्तित भी होता रहा। फिर सन् १९४७ ई० में संविधान-सभा में जो निर्णय लिया गया, वह इस प्रकार था—

सफेद रंग पर चर्खे का स्थान अशोक-चक्र ने ले लिया। उस अशोक-चक्र में २४ अरे थे। सारनाथ के सिंहस्तम्भ पर जो अशोक-चक्र है, उसे ही ग्रहण किया गया। तब पं० जवाहरलाल नेहरू ने उस तिरंगे झंडे को भारत की संस्कृति का प्रतीक बताया। अब तिरंगा झंडा हमारी शान, हमारी संस्कृति, हमारी प्रतिष्ठा और हमारे गौरव का प्रतीक माना जाता है।

शैवागमों के अध्ययन से पता लगता है कि शिव के तीन नेत्रों के प्रतीक हैं—सूर्य, चन्द्र और अग्नि। आकाश चेतन का प्रतीक है और अंधकार अचेतन का। चेतन-अचेतन के सन्तुलन का नाम ही 'शिव' है। अशुद्ध नीलारक्त शिराओं में और शुद्ध लालरक्त धमनियों में बहता है। जो ऊर्जा शिराओं में व्याप्त नीलरक्त को पीकर शुद्ध बनाती है, वही शंकर है—यही क्रिया विष-पान है।

राष्ट्रीय कवि दिनकर ने जिस समय निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी थीं, तब उनकी दृष्टि में कोई भी प्रतीयमान रहा होगा। वह भी ठीक है, लेकिन वर्तमान में जो लोग अराष्ट्रीय भावनाओं को फैलाकर भारत को शक्तिहीन और खंडित करना चाहते हैं, वे भी प्रतीयमान माने गये।

"रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष,
उसकी शिराएँ तोड़ो, डालियाँ कतर दो।"—दिनकर

अतः सिद्ध है कि प्रतीक देश-काल और प्रसंग के अनुसार अपना संकेत किया करते हैं। तिरंगे झंडे के रंग भी इस तथ्य का समर्थन करते हैं। वैदिक-साहित्य में भी 'सोम' को कभी ज्ञान, कभी प्रकाश, कभी आनन्द, कभी रस का प्रतीक माना गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्यस्रष्टा जिस शब्द को प्रतीक रूप में ग्रहण करता है उसमें वह अपनी सर्जन क्षमता से अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच, अर्थ-विपर्यय, अर्थोत्कर्ष या अर्थापकर्ष भर देता है।

स्वस्तिक चिह्न भी भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। वेद-मंत्रों में ॐ सृष्टि, संस्कृति और नाद-ब्रह्म का प्रतीक है। एक ॐ प्रतीक के तीन प्रतीयमान हैं—सृष्टि, संस्कृति और नादब्रह्म।

प्रतिमा और प्रतीक में अन्तर है। प्रतिमा का क्षेत्र प्रतीक के क्षेत्र से बड़ा है। एक प्रतिमा में अनेक प्रतीक समाविष्ट हो सकते हैं। विष्णु की एक प्रतिमा में निम्नांकित प्रतीक समाविष्ट हैं—

एक प्रतिमा में प्रतीक		प्रतीयमान
(१) हृदय की कौस्तुभमणि	=	निर्मल-निर्लेप आत्मा
(२) हाथ की गदा	=	शक्ति

(३) शंख = निर्भयता प्रदाता घोष
(४) चक्र = संसार, गति, चक्र

प्रतीक यदि समष्टिमूलक है, तो प्रतिमा की समष्टिमूलकता का आयाम प्रतीक से पर्याप्त बड़ा होता है। अतः हम कह सकते हैं कि भाव-व्यञ्जना की दृष्टि से उपमान से बड़ा प्रतीक और प्रतीक से बड़ी प्रतिमा होती है।

प्रसादकृत 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग में एक छंद इस प्रकार है—

"और उस मुख पर वह मुसक्यान।
रक्त किसलय पर ले विश्राम॥
अरुण की एक किरण अम्लान।
अधिक अलसाई हो अभिराम॥"

—प्रसाद, कामायनी

इसमें समष्टिगत तीन भावों की व्यञ्जना है—सौन्दर्य, थकान, ताजगी। यहाँ प्रतीयमान संश्लिष्ट-बिम्बमूलक है और भावोद्बोधन कर रहा है।

प्रारम्भ में छायावादी कविता के प्रतीक पाठकों के लिए भाव-बोध नहीं कराते थे, क्योंकि वे कवियों के अपने निजी भाव के साम्यसूचक थे। उनमें सादृश्य और साधर्म्य से पृथक् साम्य भी स्थापित किये गये थे। आज की नयी कविता में संप्रेषणीयता का अभाव इसलिए पाया जाता है कि उसके प्रतीक अभी सार्वभौमिक नहीं बने हैं। रूढ़ अथवा सार्वभौमिक न बनने पर भी वे प्रतीक तो हैं ही।

मैंने अपने जीवन के भूतकाल में एक मासिकपत्र में एक कविता पढ़ी थी, जिसकी प्रथम पंक्ति थी—

"आज युगों के बाद हिमालय हिलकी भर कर रोया।"

तब वह कविता मेरी समझ में नहीं आयी थी। मासिकपत्र में पाद-टिप्पणी के रूप में लिखा गया था—'कस्तूरबा के निधन पर'। इस पाद-टिप्पणी को पढ़ने पर कविता का भाव समझ में आया था। प्रतीक से कथन में अस्पष्टता रहती है, तो रचनाकार सादृश्यविधान का आश्रय लेता है। जैसे—"आज हिमालय जैसा गाँधी हिलकी भरकर रोया।"

उपर्युक्त पंक्ति में आया हुआ 'हिमालय' प्रतीक है और अनेक धीर, वीर, साहसी, दृढ़ विचारों की समष्टि का व्यक्तित्व महात्मा गाँधी प्रतीयमान। कविता में कवि ने हिमालय में गाँधी के व्यक्तित्व को आरोपित किया है। हिमालय अनेक भावों के पुञ्ज को संकेतित करता है। उन भाव-पुञ्जों का साकार जीवन्त-प्राणवन्त व्यक्तित्व महात्मा गाँधी हैं। हिमालय के रोने की बात कहकर कवि ने महात्मा गाँधी की उस महाघनीभूत वेदना को साकार कर दिया है, जो कस्तूरबा के निधन से उत्पन्न हुई थी। कविता का मुख्य गुण यही है कि वह वस्तुबोध नहीं, अपितु भावबोध कराती है।

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में कहा गया है कि उस पुरुष के मन से चन्द्रमा और नेत्रों से सूर्य हुआ है।

"चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत"—यहाँ चन्द्रमा शान्ति और सूर्य ऊर्जा का प्रतीक है। शान्ति और ऊर्जा के लिए चन्द्रमा और सूर्य रूढ़ उपमान कभी नहीं रहे।

मुण्डकोपनिषद् (३।१।१) में एक मंत्र है, जिसमें कहा गया है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें एक पक्षी फल खाता है, दूसरा नहीं खाता—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवन्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाक शीति।।"

—मुण्डक, ३।१।१

इस मंत्र में फल खानेवाला पक्षी जीव है और फल न खानेवाला पक्षी ब्रह्म है। अर्थात् जीव भोक्ता है, ब्रह्म अभोक्ता है, द्रष्टा है। ये दोनों पक्षी प्रतीक रूप में हैं। साधर्म्य के कारण उपमान भी हैं।

प्रतीक		लुप्त प्रतीयमान
(१) फल खानेवाला पक्षी	=	जीव
(२) फल न खानेवाला	=	ब्रह्म

भारतीय काव्यशास्त्र के आधार पर साधर्म्य से दोनों पक्षियों को उपमान भी माना जा सकता है—

उपमान		लुप्त उपमेय		साम्य
(१) फल खानेवाला पक्षी	=	जीव	=	साधर्म्य
(२) फल न खानेवाला पक्षी	=	ब्रह्म	=	साधर्म्य

भारतीय अलंकारशास्त्र के आलोक में लुप्त उपमेय के कारण रूपकातिशयोक्ति अलंकार भी माना जा सकता है और व्यष्टिमूलक गुणसाम्य भी।

प्रसिद्ध उपमान हो या अप्रसिद्ध उपमान हो, उपमेय की लुप्तावस्था में व्यष्टि-गत स्थिति में रूपकातिशयोक्ति अलंकार भी माना जायेगा। तुलसी ने हृदय के लिए '**मुकुर**' उपमान का और ज्ञान के लिए **नयन** उपमान का प्रयोग किया है। उसी तरह सूर ने हृदय के लिए **घट** और ब्रह्म के लिए **सिंधु** उपमान दिया है—

"मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना।।"

—मानस, बाल०, ११५।४

"कहा करौं मन प्रेमपूरन घट न सिंधु समाइ"

—सूरसागर, १०।३७३२

ऐसी स्थिति में भारतीय अलंकारशास्त्र के रूपकातिशयोक्ति के उपमान को प्रतीक कहा जा सकता है, किन्तु पाश्चात्य-काव्यशास्त्र के सब प्रतीकों को उपमान नहीं कहा जा सकता। प्रतीक का आयाम उपमान से बड़ा होता है। प्रतीक में उपमान अन्तर्भुक्त हो सकता है। रूपकातिशयोक्ति में उपमेय लुप्त रहता है—अर्थात्

साध्य का अवसान भी होता है। अतः रूपकातिशयोक्ति में साध्यावसाना लक्षणा भी रहती है।

बिम्बात्मकता तो उपमान और प्रतीक दोनों में ही पायी जाती है। तुलसीदास 'मानस' के अयोध्याकांड में चित्रकूट पर कौशल्या के पास बैठी हुई सीता जी और राजा जनक के सम्बन्ध में कहते हैं कि चित्रकूट पर पुत्री सीता को देखकर राजा जनक का मन 'प्रयाग' बन गया—

"उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयउ भूप मनु मनहुँ पयागू।"

—अयोध्या०—२८६।५

यहाँ उपमान 'प्रयाग' में तीन रंगों का चाक्षुष-बिम्ब है। सफेद वस्त्रों में विधवा कौशल्या गंगा है। दशरथ-मृत्यु-शोक काली यमुना है और सीता के प्रति जनक का अनुराग लाल सरस्वती है।

व्यष्टिमूलक रूप-गुण-साम्य के आधार पर भारतीय अलंकारशास्त्र का उपमान आज भी उपमान ही कहलायेगा। महाकवि शंकर ने अपनी एक कविता में आँख के लिए उपमानों का उल्लेख करते हुए भावाभिव्यक्ति इस प्रकार की है—

"तेज न रहेगा तेजधारियों के नाम को भी,
मंगल मयंक मन्द-मन्द पड़ जाएँगे।
मीन बिन मारे मर जाएँगे सरोवर में,
डूब-डूब 'शंकर' सरोज सड़ जाएँगे।।
चौंक-चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जाएँगे।
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जाएँगे।।"—शंकर

भारतीय अलंकारशास्त्र तो इन्हें सदा 'उपमान' ही कहेगा। व्यष्टिमूलक स्थिति में पाश्चात्य-काव्यशास्त्र लुप्त प्रतीयमान के समय इन्हें 'प्रतीक' नाम दे सकता है।

एक कवि ने लिखा है—"श्रद्धा ऋतु वसंत-सी आयी।" साधर्म्य के आधार पर व्यष्टि-मूलक साम्य होने के कारण 'वसंत' उपमान और श्रद्धा उपमेय है। दूसरा कवि लिखता है—"सखि, जीवन में आया वसंत।" यहाँ **वसन्त** प्रतीक है, क्योंकि बसंत जीवन के सुख, वैभव, विलास, आनन्द, आमोद-प्रमोद, मादकता आदि अनेक भाव-पुञ्ज को समष्टिरूप से संकेतित करता है। रूपकातिशयोक्ति का व्यष्टिमूलक उपमान ऐसा नहीं करता। उस स्थिति में प्रतीक उपमान से भिन्न माना जायेगा। उपर्युक्त उदाहरण में 'जीवन में बसंत' समष्टिमूलक प्रभावसाम्य को लेकर प्रयुक्त हुआ है; अतः प्रतीक है, उपमान नहीं है।

प्रसाद जी ने 'आँसू' काव्य में लिखा है—

"पतझड़ था, झाड़ खड़े थे सूखे से फुलवारी में।
किसलय दल कुसुम बिछाकर आये तुम इस क्यारी में।।"

अनुभूति के प्रभाव-साम्य के कारण **पतझड़, झाड़, किसलयदल, कुसुम, फुलवारी की क्यारी** आदि प्रतीक हैं। **उदासी, परेशानियाँ, सरसता, प्रफुल्लतामय जीवन** आदि प्रतीयमान हैं। आचार्य शुक्ल ने पतझड़, झाड़ आदि को प्रतीक ही माना है, यद्यपि ये हिन्दी-साहित्य में रूढ़ उपमान के रूप में प्रयुक्त नहीं हुए।

साहित्य में साम्य तीन प्रकार का मिलता है—

(१) शब्द-साम्य, जैसे यमक आदि अलंकारों में।

(२) रूप-गुण-साम्य, जो भारतीय अलंकारशास्त्र के उपमान उपमेय से सम्बद्ध है।

(३) आंतरिक प्रभावादि अन्य साम्य—जो प्रतीक विधान के अन्तर्गत माना जाता है।

निष्कर्ष—ज्यामिति में एक 'आयत चतुर्भुज' होता है, जिसकी आमने-सामने की भुजाएँ समानान्तर होती हैं और प्रत्येक कोण समकोण होता है। एक समानान्तर चतुर्भुज होता है, जिसकी आमने-सामने की भुजाएँ समानान्तर होती हैं, किन्तु प्रत्येक कोण समकोण नहीं होता, अतः वह आयत नहीं है। समानान्तर चतुर्भुज आयत में अन्तर्भुक्त माना जा सकता है; क्योंकि आयत की आमने-सामने की भुजाएँ समानान्तर होती हैं।

इसी प्रकार प्रतीक में वे सभी लक्षण हैं, जो उपमान में पाये जाते हैं, किन्तु उपमना में वे सभी लक्षण नहीं हैं, जो प्रतीक में पाये जाते हैं। इस आधार पर प्रतीक एक आयत है और उपमान एक समानान्तर चतुर्भुज है। प्रो० तिवारी का मत बहुत कुछ ऐसा ही है।

प्रतीक में उपमान से भिन्नता यह कि प्रतीक सादृश्य और साधर्म्य के अतिरिक्त अन्य साम्यों को भी लेकर चलता है। प्रतीक का अप्रस्तुत समष्टिरूप में अनेक भाव-पुञ्ज को भी संकेतित करता है। वह आभ्यंतर प्रभावसाम्य का भी पक्षधर है। उपमान-विधान यदि एक वस्तुविधान है, तो प्रतीकविधान एक भावविधान है। प्रतीक सदा अकेला आता है, लेकिन उपमान अकेला भी आता है और उपमेयसहित भी।

हम प्रतीक को तो उपमान कह सकते हैं, लेकिन उपमान को प्रतीक नहीं कह सकते। पाश्चात्य-काव्यशास्त्र के प्रतीक की संकल्पना में भारतीय अलंकारशास्त्र के उपमान को समाविष्ट किया जा सकता है; किन्तु उपमान में प्रतीक को नहीं। प्रतीक का आयाम उपमान के आयाम से बड़ा होता है। प्रतीक पूरे कथानक या घटना-सन्दर्भ में भी संपृक्त या समाविष्ट रहता है। ऐसी स्थिति उपमान की नहीं होती। प्रतीक में व्यञ्जना की शक्ति अधिक होती है। मूर्धन्य आलोचक डॉ० नगेन्द्र ने प्रतीक और उपमान में जो सूक्ष्म-तरल अन्तर बताया है, उसे इसी प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

—डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' डी०-लिट्०,
ए-८७, विवेकनगर, दिल्लीरोड,
सहारनपुर- २४७००१ (उ० प्र०)

●

संस्कृतिपरक समीक्षा के प्रवर्त्तक आचार्य शुक्ल

डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव

⊙

भारतीय समीक्षा के इतिहास में संस्कृतिपरक मानदण्डों के सुदृढ़ प्रतिष्ठापक के रूप में हिन्दी के मूर्द्धन्य आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का योगदान अप्रतिम है। मात्र गुण-दोष-चयन, अलंकार-निरूपण, रीति-विवेचन तथा वक्रोक्ति-विश्लेषण के वाह्य परिवेश-प्रेक्षण की रूढ़िबद्ध पद्धतियों से परे उठ कर उन्होंने रस-व्यञ्जना एवं प्रतीयमान सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति के आन्तर-स्वरूप के उद्घाटन पर बल दिया। साथ ही, भारतीय संस्कृत-काव्यशास्त्र की स्वस्थ परम्पराओं के साथ पाश्चात्य अंग्रेजी आलोचना-पद्धति की उपयोगी मान्यताओं को आत्मसात् करते हुए उन्होंने हिन्दी साहित्य में एक सुव्यवस्थित प्रतिपादन-प्रणाली और मूल्यांकन-शैली का प्रवर्तन किया। मात्र प्राचीन संस्कृत-काव्यशास्त्र में परिगणित लक्षणों, सम्प्रदायों और सिद्धान्तों का अनुकरण एवं पिष्ट-पेषण न करके, उन्होंने वर्तमान सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के सन्दर्भ में अनेक आधुनिक पाश्चात्य परिप्रेक्ष्यों का प्रामाणिक परिचय प्राप्त किया और अपनी विशिष्ट सीमाओं में स्वयं हिन्दी की मूल आकार कृतियों तथा प्रतिनिधि साहित्यकारों की निजी उपलब्धियों के आधार पर नवीन समीक्षामानों का निर्धारण किया। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल आधुनिक भारतीय आलोचना के क्षेत्र में सैद्धान्तिक-समीक्षा के उन्नायकों में अग्रणी हैं।

हिन्दी साहित्य में समालोचना का सूत्रपात आचार्य महावीरप्रसाद दिवेदी ने किया पर उसे एक परिनिष्ठित स्वरूप प्रदान करने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल थे। द्विवेदी जी मूलतः भाषा के संस्कारक रहे तो, आचार्य शुक्ल भाव एवं विषय के संस्कारक। उनके व्यक्तित्व में एक अद्भुत विशिष्ट प्रकार का मर्यादावादी संस्कार और एक विवेकमयी भावनशक्ति थी। प्रकृति-प्रेमी, भावुक-भक्त, सहृदय-कवि, रसज्ञ-समीक्षक और चुटीले व्यंग्यकार के रूप में उन्होंने जिस बहुमुखी दायित्व का निर्वाह किया है, उसके पीछे उनके प्रबुद्ध संस्कार विद्यमान हैं। इन्हीं संस्कारों के बल पर वे अनेक मौलिक साहित्यिक मान्यताओं की कसौटी पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशिष्ट प्रतिभाओं के योगदान का सापेक्षिक मूल्यांकन करने में समर्थ हुए हैं। संस्कृति और समीक्षा का गहरा सम्बन्ध है। वस्तुतः प्रबुद्ध सांस्कृतिक अभिरुचि के अभाव में वास्तविक समीक्षक के दायित्व का निर्वाह सम्भव ही नहीं। प्राचीन यूनानी समीक्षकों तथा भारतीय आचार्यों की शास्त्रीय मान्यताओं के मूल में उनकी

विशिष्ट सांस्कृतिक अभिरुचियाँ ही विद्यमान रही हैं। प्लेटो का अनुकृति-सिद्धान्त, अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त, लाँजिनस का औदात्य-तत्त्व, भरत का रस-विवेचन, आचार्य आनन्दवर्धन का ध्वनिसिद्धान्त, अभिनवगुप्त का रससिद्धान्त, क्षेमेन्द्र का औचित्यसिद्धान्त आदि देशगत, कालगत, व्यक्तिगत, जातिगत संस्कारों के ही परिचायक हैं। यहाँ तक कि अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति आदि बहिरंग निरूपक काव्य सम्प्रदाय भी सुरुचिपूर्ण सौन्दर्यबोध के ही द्योतक हैं।

आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व में संस्कार-बोध बड़ा प्रबल था। भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों का समुचित व्यावहारिक समन्वय करते हुए भी इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं कि आचार्य शुक्ल की समीक्षा की अन्तरंग आत्मा भारतीय थी और बहिरंग परिवेश यूरोपीय। एक ओर उन्होंने भारतीय रसवादी दृष्टिकोण को अपनाया है, साधारणीकरण के सिद्धान्त का विशद विवेचन किया है और दूसरी ओर यूरोप की प्रभाववादी समीक्षा तथा व्यक्तिवैचित्र्यवाद की ओर भी आकृष्ट हुए हैं। कुंतक के वक्रोक्ति और क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद में साम्य देखने का प्रयत्न इसी समन्वयकारिणी आलोचनात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है। काव्य की स्वरूप-धारणा के सम्बन्ध में उन्होंने उन प्राचीन भारतीय आचार्यों का अनुसरण किया है जो काव्य को मात्र लोकरञ्जनकारी न मान कर, लोकमंगल-कारी मानते थे पर विवेचन-पद्धति में गुण-दोष-परिगणन अथवा स्थूल रस-अलंकार-ध्वनि-भेदों के प्रपंच-विस्तार में अधिक न पड़ कर पाश्चात्य-समीक्षकों में प्रचलित कवि की अन्तः-प्रवृति के अनुसंधान की प्रवृत्ति को अधिक महत्त्व दिया है। उनका सैद्धान्तिक आधार भार-तीय रहा है पर व्यावहारिक विवेचन-पद्धति यूरोपीय आलोचना-प्रणाली से अधिक प्रभावित रही है।

आचार्य शुक्ल के संस्कृतिपरक समीक्षा-मान वस्तुतः समाज और भारतीय साहित्य के गौरवमय अतीत के प्रति गहरी श्रद्धा, उसके वर्तमान की ऐतिहासिक आवश्यकताओं के प्रति सुदृढ़ जागरूकता तथा युगानुकूल विकसनशील पाश्चात्य मनीषा के प्रति संतुलित विवेकशीलता के सहज परिणाम थे। कतिपय भारतीय एवं यूरोपीय कवियों एवं आचार्यों को उन्होंने सांस्कृतिक दृष्टि से लोककल्याण के प्रति सचेत होने के कारण आदर्श प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया और उन्हीं की कृतियों के अनुशीलन तथा विशिष्ट सामाजिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भों में उनकी उपयोगिता के अध्ययन द्वारा कुछ निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचे थे। अपनी सूक्ष्मग्राहिणी दृष्टि और प्रतिपादन-क्षमता के बल पर उन्होंने सीमित प्रामाणिक सामग्री के आधार पर संस्कृतिपरक साहित्यिक समीक्षा का मार्ग प्रशस्त किया।

स्वाभाविक है कि कवि अथवा कलाकार की व्यक्तिगत स्वच्छंदता और निरंकुशता को प्रश्रय देकर संस्कृतिपरक समीक्षा नहीं चल सकती; क्योंकि संस्कृति का सम्बन्ध व्यक्ति-मात्र से न होकर समाज की व्यापक अभिरुचियों के साथ उसकी औचित्यपूर्ण संगति से जुड़ा हुआ है।

आचार्य शुक्ल की भी संस्कृतिपरक समीक्षा इसीलिए निरंकुशता और स्वच्छं-दता के स्थान पर स्वयं मर्यादा के निर्वाह से अनुप्राणित रही है। समीक्षक आचार्य शुक्ल

की सौन्दर्यदृष्टि में भी एक प्रकार का संस्कृतिबोध विद्यमान है। इसीलिए नग्न अथवा शिष्टता की सीमाओं का अतिक्रमण करनेवाला सौन्दर्यचित्रण उन्हें रुचिकर नहीं, भले ही वह श्रोता अथवा पाठक के मन और चित्त को गुदगुदाता हो अथवा उसकी बुद्धि को चमत्कार से अभिभूत करता हो। भाव-व्यञ्जना और भाषा-कौशल दोनों ही क्षेत्रों में एक विशिष्ट मर्यादा-व्यवस्था और परिमार्जन के प्रति वे सचेत हैं। सर्वत्र प्रतिपाद्य विषय और प्रतिपादित पद्धति के भीतर प्रामाणिकता के प्रति उनका आग्रह रहा है। आधुनिकताबोध के विचार से वे आलोचना-क्षेत्र में विदेशी प्रभाव के पोषक होते हुए भी वे विदेशी संस्कार के प्रेरक कभी नहीं रहे। अपने साहित्य के सांस्कृतिक परिवेश की सुरक्षा के प्रति उनका महत्व अक्षुण्ण था। नैतिक मूल्यों पर बल देने में प्लेटो, मैथ्यू आर्नल्ड और रस्किन जैसे विचारक समीक्षकों की कोटि में आते हैं जिनकी दृष्टि में काव्य लक्ष्यमात्र आनन्द का संचार करना नहीं, वरन् कल्याण का संदेश उजागर करना है। इसीलिए कला कला के लिए, नायक पाश्चात्य साहित्यिक आन्दोलन से उन्हें चिढ़ थी। उनकी दृष्टि में कला जीवन के लिए ही है। जहाँ कला अपने ऐकान्तिक मनोरञ्जन के आवेग में लोककल्याण की भावना का तिरस्कार करती हो, वहाँ वे उसे अनभिनंदनीय समझते थे। इसका अभिप्राय यह भी नहीं कि वे काव्य में कोरी उपदेशात्मकता को महत्व देते थे, प्राचीन आचार्यों की भाँति कान्तासम्मित उपदेश की ही योजना को वे काव्य में उचित समझते थे। इसीलिये उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में अनेक आदिकालीन रचनाओं को 'धार्मिक' कह कर विशुद्ध काव्य की कोटि में स्थान देना उचित नहीं समझा।

आचार्य शुक्ल में लोकसंग्रह की दृष्टि प्रबल थी। वे जनोपयोगी सुबोधभाव-व्यञ्जना के प्रशंसक थे। काव्य में दृष्टकूटपद्धति, भारी भरकम अलंकार-योजना, गूढ़ एवं अटपटी शब्दावली, प्रत्यक्ष रमणीय तथ्यों के स्थान पर परोक्ष अलक्ष्य रहस्यों के घटाटोप में उलझाने और भटकाने वाली अथवा सातवें आसमान के मादन सम्मोहन के चकाचौंध में भुलाने वाली रोमानी अभिव्यक्ति-शैली के प्रति उनकी विशेष आस्था नहीं थी। निर्गुनिया संतों की उलटवासियों की सधुक्कड़ी भाषा और छायावादी कवियों की परम्परामुक्त स्वच्छंद विपथनशील शैली उन्हें खटकती थीं। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' तथा 'काव्य में रहस्यवाद' जैसी कृतियों में उनके चुटीले व्यंग्य इस धारणा के द्योतक हैं। जीवन की प्रकृत वास्तविकता की भूमि को छोड़कर चलने वाली कवि-परिपाटी में उन्हें अस्वाभाविकता की, कर्म-क्षेत्र के संघर्ष से हटा कर मात्र कल्पनालोक में बहलानेवाली उक्ति-माधुरी में उन्हें पलायनवृत्ति की गंध आती थी। अपेक्षित स्वाध्याय एवं अभ्यास-साधना के बिना कवि-कर्म में प्रवृत्त होने की आतुरता को वे बालोचित दुस्साहस समझते थे। प्रकृति-प्रेम आचार्य शुक्ल की दृष्टि में कवि-हृदय की रागात्मिका वृत्ति का परिचायक है और जिसके भीतर भी वे इसकी उपेक्षा देखते, उसे वे हृदयहीन समझते थे। शृंगाररस के सिद्ध कवि केशवदास को हृदयहीन कहना उनकी इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। स्थूल परिस्थितिगत सन्दर्भों को वे काव्य में विशेष महत्त्व देते थे, सूक्ष्म व्यक्तिगत संवेदनों को कम। इसीलिए सूरसागर में

गोकुल से दो ढ़ाई मील दूर मथुरा में गये हुए श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की भावाकुल विरह-वेदना की अतिशयता का चित्रण उन्हें बालकों का खिलवाड़ लगा और कोसों दूर रावण की अशोकवाटिका में बैठी हुई सीता के लिए वियोगी राम की कर्त्तव्यनिष्ठ संघर्षचर्य्या उन्हें परिस्थितिगत गाम्भीर्य की द्योतक प्रतीत हुई। कहने का आशय यह कि आचार्य शुक्ल की समीक्षा-पद्धति में उनकी व्यक्तिगत सांस्कृतिक अभिरुचि का प्रबल आग्रह विद्यमान था जिसके कारण अनेक स्थलों पर प्रबुद्ध होते हुए भी कतिपय स्थलों पर कुछ कवियों के प्रति वे अनुदार भी हो गये हैं। इसके मूल में उनके संस्कृतिपरक समीक्षा मूल्य ही प्रबल रहे हैं।

आचार्य शुक्ल के आग्रहपूर्ण विशिष्ट संस्कृतिपरक समीक्षा-मान के प्रेरणास्रोत प्राचीन भारतीय आचार्य अथवा यूरोपीय समीक्षक नहीं, वरन् उनके कतिपय प्रिय कवि रहे हैं जिनको उन्होंने प्रौढ़ आदर्शस्रष्टा के रूप में ग्रहण किया है और उन्हीं के आधार पर अपनी संस्कृतिपरक मान्यताएँ निर्धारित की हैं। लोकनायक गोस्वामी तुलसीदास इस दृष्टि से उनके प्रमुख प्रेरणास्रोत रहे हैं। संस्कृत कवियों में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और भवभूति जैसे कवियों को उन्होंने आदर्श माना है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रकृति-प्रेमी श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त जैसे सांस्कृतिकचेतना से समृद्ध कवि उन्हें अधिक प्रिय रहे हैं। स्पष्ट है कि समीक्षक आचार्य शुक्ल के सांस्कृतिक मानदण्डों की कसौटी पर मात्र कलात्मक प्रतिभा से सम्पन्न कवि नहीं, वरन् लोकजीवन के निकट रहने वाले साहित्यकार अधिक खरे उतरे हैं। यही कारण है कि काव्यशास्त्र-निष्णात आचार्य कवि केशवदास की अपेक्षा अवधी प्रेमाख्यानकार जायसी उन्हें अधिक प्रभावित कर सके।

आचार्य शुक्ल ने काव्य-साधना को भावयोग कहा है और उसे कर्मयोग और ज्ञान-योग के समकक्ष माना है। उनकी काव्य-सम्बन्धी स्वरूपधारणा सांस्कृतिक परिवेश पर बल देती रही है। वे कविता को शेष सृष्टि के साथ हमारे रचनात्मक सम्बन्ध की रक्षा एवं निर्वाह का माध्यम मानते हैं। लोकसत्ता में अपनी सत्ता को लीन करने की अनुभूति जिस भावभूमि पर संभव है, वही उनके विचार से काव्य की प्रकृत भूमि है। उनके इन वाक्यों में साहित्य के सांस्कृतिक मूल्य का स्पष्टतः संकेत है—"कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से उठा कर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है।" जहाँ रस लोक-सामान्य भावभूमि की उपेक्षा होगी वहाँ शुक्ल जी की दृष्टि में प्रकृत कविता का स्वरूप क्षीण माना जायगा। काव्य मात्र 'कल्पना की क्रीड़ा' और कला की विविधता न होकर भावुक हृदय की सहज रागात्मक अभिव्यक्ति है। शुक्ल जी की यह धारणा सस्कृतिपरक ही कही जायगी। कालिदास के 'मेघदूत' के संबंध में उनकी ये पंक्तियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय है—"मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी सादी प्रेमदृष्टि।"

आचार्य शुक्ल प्रकृति-प्रेम को सच्चे कवि की संस्कारगत विशेषता मानते हैं। और साथ ही, उनकी यह भी धारणा है कि प्रकृति के अनन्त विस्तार में उसकी सुकुमार-उग्र सभी छवियों की ओर कवि की दृष्टि आकृष्ट होनी चाहिए अन्यथा यह उसके भावप्रसार क्षेत्र की अपूर्णता कही जायगी। वे कहते हैं—"अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूप में, कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में। कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कहीं उग्र कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, जो केवल प्रफुल्ल प्रसून प्रसार के सौरभ-संचार, मकरन्द-लोलुप मधुप-गुँज, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिय विन्दुमण्डित मरकताभ शाद्वल जाल, अत्यन्त विशाल गिरि शिखर से गिरते हुए जल-प्रपात के गम्भीर गर्त्त से उठी हुई सीकर-विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।" उनके मत से केवल असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। उनका स्पष्ट कथन है कि जो केवल अपने विलास या शरीर-सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूँढा करते हैं, उनमें उस रागात्मक सत्त्व की कमी है जो व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्याप-कत्व का आभास देता है।" आचार्य शुक्ल मनोरंजन को कविता का अंतिम लक्ष्य नहीं मानते, यद्यपि वह भी कविता पढ़ते समय होता है। वे उसका एक गम्भीर उद्देश्य मानते हैं और वह है जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य-स्थापन। यह कार्य जो कविता नहीं करती वह आचार्य शुक्ल के सांस्कृतिक मानदण्ड पर तुच्छ सिद्ध होगी।

उन्हीं के शब्दों में—"कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है पर उसके उप-रान्त कुछ और भी होता है और वही सब कुछ है—मन को अनुरंजित करना उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अंतिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समझकर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जायगा? क्या इससे गम्भीर कोई उद्देश्य उनका न था?"

काव्य के इसी गम्भीर उद्देश्य के स्पष्टीकरण-क्रम में आचार्य शुक्ल की प्रबल सांस्कृ-तिक समीक्षा-दृष्टि रीतिकालीन कवियों की हलकी वासनापरक रचनाओं की संस्कारहीनता पर खीझ उठती है—

"हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओं-महाराजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कवि राजाओं, रईसों के मुँह में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे।"

सौन्दर्य के विषय में आचार्य शुक्ल की धारणा बड़ी व्यापक है जो केवल अन्तरंग और

मधुर सुकुमार रूपों तक ही सीमित नहीं। सौन्दर्य मन के भीतर की वस्तु है, बाहर की कोई वस्तु नहीं—"यूरोपीय कला-समीक्षा भी इस उड़ान या दूर की कोड़ी को वे भाषा के गड़बड़ झाले के सिवा कुछ नहीं समझते। उनकी दृष्टि में कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक हृदय सामने रखती है, जिन मनोशक्तियों का अधिकतर बुरा रूप हम संसार में देखा करते हैं—उनका भी सुन्दर रूप कविता ढूँढ़ कर दिखाती है। दशवदननिधनकारी राम के क्रोध के सौन्दर्य पर कौन मोहित न होगा?"

चमत्कारवाद को आचार्य शुक्ल की समीक्षा दृष्टि मनोरञ्जन की सामग्री जानती है। वे चमत्कार मात्र को काव्य मानने को तैयार नहीं। इसीलिए काव्य में अलंकारों की भद्दी भरती को चमत्कार को वे अशोभन मानते हैं। केशव की रामचन्द्रिका के 'पताका' और 'पंचवटी' के वर्णनों में प्रयुक्त अलंकारों की भरमार की उन्होंने तीव्र आलोचना की है। वे वहीं तक उक्ति की वक्रता या वचनभंगी के पक्ष में है जहाँ तक वह किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो।

आचार्य शुक्ल काव्यसृजन में 'स्वान्तःसुखाय' प्रवृत्त कवि को ही वास्तविक कवि मानते हैं। अपात्रों की मात्र धन-वैभव के कारण की हुई अतिरंजित स्तुति एवं प्रशस्ति की प्रवृत्ति को उन्होंने कविता पर अत्याचार कहा है। उनकी दृष्टि में—'श्रीमानों के शुभागमन पर पद्य बनाना, बात-बात में उनको बधाई देना, कवि का काम नहीं।' स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल की संस्कृतिपरक समीक्षा की कसौटी पर प्राकृत जनों का अतिरंजनापूर्णस्तुति प्रशस्तिपरक काव्य ही उच्च कोटि का है। गोस्वामी तुलसीदास की उक्ति 'कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना' का संस्कार आचार्य शुक्ल की इस धारणा पर प्रत्यक्ष है।

रीतिकालीन कवियों की अत्यधिक शृंगारप्रियता पर आचार्य शुक्ल के व्यंग्यपूर्ण छींटे उनकी संस्कृति-बोध के ही परिचायक हैं। बाह्यप्रकृति तथा मनुष्य की अन्तःप्रकृति दोनों के ही सौन्दर्य से दूर हट कर मात्र कामक्रीड़ा और नायिकाभेद के चमत्कारपूर्ण वर्णन के प्रपंच में पड़ने वाले 'राजाश्रय लोलुप मँगते कवियों' पर उनकी खीझ निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

"सूर और तुलसी आदि स्वच्छन्द कवियों ने हिन्दी कविता को उठा कर खड़ा ही किया था कि रीतिकाल के शृंगारी कवियों ने उसके पैर छान कर उसे गन्दी गलियों में भटकने के लिए छोड़ दिया।" भारतेन्दु के काव्य में भी विशुद्ध प्रकृति वर्णनों का अभाव देख कर उन्हें खीझ हुई है।

आचार्य शुक्ल की लोकमंगलपरक दृष्टि में अनन्त शक्ति, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त शील का साक्षात्कार करके गोस्वामी तुलसीदास जैसे लोकमंगलकारी कवि ने अद्भुत महिमामय कवि का दायित्व निभाया है। शुक्ल जी की संस्कृतिपरक-समीक्षा में इसी प्रकार के निर्वाह में समर्थ कवि सच्चे अर्थों में उदात्त हैं। भक्तिकाव्य के इस तत्त्व के प्रति वे कितने सचेत हैं, इसका आभास निर्गुनियाँ सन्तों के अपेक्षाकृत लोकसंग्रह-निरपेक्ष ऐकान्तिक

काव्य की सांस्कृतिक अपूर्णता पर काव्य करने वाली इन पंक्तियों में प्रबलता से मिलता है—"प्राचीन भक्ति के इस तत्त्व की ओर ध्यान न देकर जो लोग भगवान् की लोकमंगल विभूति के द्रष्टा तुलसी को कबीर, दादू आदि की श्रेणी में रखकर देखते हैं, वे बड़ी भारी भूल करते हैं।"

काव्य में लोकमंगल के लक्ष्य की स्वीकृति आचार्य शुक्ल की संस्कृतिपरक समीक्षा की व्यापक आधारशिला रही है। उनकी दृष्टि में वही कवि पूर्ण है जो अपनी कृति द्वारा लोकरंजन और लोकमंगल का समन्वित संदेश दे सके। लोक के आनन्द-मंगल की दृष्टि से उन्होंने काव्य के दो विभाग किये हैं।—

(१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले।

(२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपयोग-पक्ष को लेकर चलने वाले।

प्रथम के भीतर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण तथा दूसरे के भीतर सुरा-सौन्दर्य, माधुर्य-उल्लास, प्रेमव्यापार आदि की रमणीयता विशेष रूप से अभिव्यक्त होती है। जीवन की अनेक परिस्थितियों में लोकमंगल के सौन्दर्य का साक्षात्कार शुक्ल जी की दृष्टि से एक पूर्ण कवि का वैशिष्ट्य है जो वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और तुलसी जैसे कवियों में प्राप्त होता है। लोकमंगल के सम्बन्ध में उनकी धारणा बड़ी व्यापक है जो कर्मक्षेत्र में परस्पर विरोधी अवस्थाओं को समन्वय करती चलती है। उनके शब्दों में—"भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता का सामञ्जस्य ही लोकधर्म का सौन्दर्य है। आदि कवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौन्दर्य के उद्घाटन-महोत्सव का दिव्य संगीत है। धर्म और मंगल की यह ज्योति अधर्म और अमंगल की घटा को फाड़ती हुई फूटती है। दूसरे कवि हमारे सामने असौन्दर्य, अमंगल, अत्याचार, क्लेश आदि भी रखता है, रोष, हाहाकार और ध्वंस का दृश्य भी लाता है; पर सारे भाव, सारे रूप और सारे व्यापार भीतर-भीतर आनन्द-कला के विकास में ही योग देते पाये जाते हैं। व्यास ने भी अपने वय-काव्य में अधर्म के पराभव और धर्म की जय का सौन्दर्य प्रत्यक्ष किया था।" स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल की संस्कृतिपरक-समीक्षा लोकमंगल के विधायक काव्य को मात्र लोकरंजक काव्य की अपेक्षा उच्चतर महत्त्व प्रदान करती है। यही नहीं, उनकी निश्चित धारणा है कि कवि कर्म-सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा अमंगल-मंगल के द्वन्द्व में अन्ततः मंगल शक्ति की सफलता का जो चित्रण करते हैं, वह भी काव्य के उत्कृष्टता का एक मापदण्ड है। उसमें अस्वाभाविकता देखनेवालों की उन्होंने भर्त्सना की है—'मंगल-अमंगल' के द्वन्द्व में कवि लोग अन्त में मंगल-शक्ति की जो सफलता देखा किया करते हैं, उसमें सदा शिक्षावाद (didactism) या अस्वाभाविकता की गन्ध समझकर नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं।—कवि कर्म-सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्तःप्रकृति में उत्पन्न करता है।"

आचार्य शुक्ल काव्य में कोरे उपदेश के समर्थक नहीं हैं, पर वे कोरे लोकरंजन के

पक्ष में भी नहीं हैं। कलात्मक लोकरंजक शब्द-विधान के भीतर लोकमंगल के संदेश की प्रतिष्ठा ही उनकी दृष्टि में उदात्त काव्य का सांस्कृतिक आदर्श है।

यूरोपीय व्यक्तिवैचित्र्यवाद और भारतीय साधारणीकरण-सिद्धान्त का तुलनात्मक विवेचन करते हुए 'साधारणीकरण' के प्रति उन्होंने जो विशिष्ट आस्था व्यक्त की है और उसे जिस प्रकार उन्होंने काव्य की लोकप्रियता और व्यापक प्रभावात्मकता का प्रमुख कारण माना है, उससे उनके संस्कृतिमूलक समीक्षामूल्यों का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उद्घाटित होता है। उनके अनुसार 'साधारणीकरण का सिद्धान्त यह घोषित करता है कि—"सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।" खीझ में वे यहाँ तक कहते हैं कि "विकृत रूप में यह व्यक्तिवाद यदि पूर्ण रूप से स्वीकार किया जाय तो कविता लिखना व्यर्थ ही समझिये। और हृदयों से अपने हृदय की भिन्नता और विचित्रता दिखाने के लिए बहुत से लोग एक-एक काल्पनिक हृदय निर्मित करके दिखाने लगे। काव्य-क्षेत्र नकली हृदयों का एक कारखाना हो गया।"

भारतीय काव्य में विशेष के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की जो प्रवृत्ति रही है और एक विशिष्ट युग के यूरोपीय काव्य में विरल विशेष के विधान की जो प्रवृत्ति मिलती है, उनके विषय में आचार्य शुक्ल की निर्भ्रान्त दृष्टि उनके सांस्कृतिक समीक्षा-मूल्यों की द्योतक है। पाश्चात्य-समीक्षाक्षेत्र में 'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' के प्रति अत्यधिक आग्रह और इन पर एक देशीय दृष्टि रखकर अनेक वादों की इमारतें खड़ी करने की प्रवृत्ति आचार्य शुक्ल के विचार से कृत्रिम एवं अस्वाभाविक है। काव्य के सम्बन्ध में उनकी उदात्त धारणा का सांस्कृतिक धरातल उक्त प्रवृत्ति का पोषक नहीं है। उनका स्पष्ट मत है कि "पश्चिम में कल्पना की पुकार के सामने धीरे धीरे समीक्षकों का ध्यान भावपक्ष से हट गया और बोध-पक्ष पर ही भिड़ गया। काव्य की रमणीयता उस हल्के आनन्द के रूप में मानी जाने लगी, जिस आनन्द के लिए हम नयी-नयी सुन्दर भड़कीली और विलक्षण वस्तुओं को देखने जाते हैं। इस प्रकार कवि तमाशा दिखाने वाले के रूप में और श्रोता या पाठक तटस्थ तमाशबीन के रूप में समझे जाने लगे।"

अपने गंभीर सांस्कृतिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप ही आचार्य शुक्ल साहित्यचर्चा में यूरोपीय प्रभाव के अनुकरण में प्रचलित 'कला' शब्द को शास्त्रीय मान्यता देने के पक्ष में नहीं थे। वे भारतीय वाङ्मय की शब्दमर्यादा के अनुरूप काव्य को कला से बहुत ऊँचे स्तर की वस्तु समझते थे—"कला शब्द के प्रभाव से कविता का स्वरूप तो हुआ सजावट या तमाशा और उद्देश्य मनोरंजन या मनबहलाव। यह कला शब्द आजकल हमारे यहाँ की साहित्य चर्चा में बहुत जरूरी-सा हो रहा है। इससे न जाने कब पीछा छूटेगा। हमारे यहाँ के पुराने लोगों ने काव्य को ६४ कलाओं में गिनना ठीक नहीं समझा था।"

आचार्य शुक्ल काव्य को जीवन की वास्तविकता से सम्बद्ध मानते हैं, कल्पना के सहारे भाव-व्यञ्जना का उत्कर्ष और उसका अतिरंजित चित्रण उनकी दृष्टि में वहीं तक उचित

है जहाँ तक कि वह जीवन की यथार्थ अनुभूति के मेल में ही सच्चे कवियों की मूल प्रवृत्ति वे इसी 'वास्तविकता' को मानते हैं और इसे मूल्यांकन के एक सांस्कृतिक मानदण्ड के रूप में स्वीकार करते हैं।"

सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा-चढ़ा और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यञ्जना अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं; पर वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते। उनके द्वारा अंकित वस्तु-व्यापार-योजना इसी जगत् की होती है। उनके द्वारा भाव उसी रूप में व्यंजित होते हैं जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन में होती है या हो सकती है। भारतीय कवियों की मूल प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर ही रही है। यहाँ काव्य, जीवन-क्षेत्र से अलग खड़ा किया गया केवल तमाशा ही नहीं रहा है।

रसवादी समीक्षक होने के नाते आचार्य शुक्ल मात्र उक्ति के भावुकता रहित चमत्कार या वैलक्षण्य में प्रकृतकाव्य की स्थिति न मानकर उसे मात्र काव्याभास की कोटि में रखते हैं। स्पष्ट ही उनकी उदात्त संस्कृतिपरक धारणा 'सूक्ति' मात्र को 'काव्य' कहने में हिचकती है। भावुकता का जहाँ किंचित् निर्वाह हो सका हो, वहाँ वे चमत्कार-प्रधान काव्य की स्थिति स्वीकार कर लेते हैं, यद्यपि उसे रस-प्रधान काव्य-आदर्श काव्य के स्तर का मानने को तैयार नहीं। इसी दृष्टि से 'अलंकार' को भी उन्होंने एक विशिष्ट परिभाषा देते हुए कहा है कि 'भावों' का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने वाली युक्ति ही अलंकार है। केवल वस्तुत्व या प्रमेयत्व जिसमें हो वह अलंकार नहीं। अलंकार में रमणीयता होनी चाहिए—यदि किसी वर्णन में उनसे इस प्रकार की कोई सहायता नहीं मिली।

हिन्दी-भवन
विश्वभारती, शान्तिनिकेतन,
प० बं०-७३१२३५

⊙

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—कवि

डॉ० किशोरीलाल गुप्त

⊙

१९२० ई० में पं० रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित हिन्दी के सुप्रसिद्ध काव्य-संग्रह 'कविता-कौमुदी' द्वितीय खण्ड का प्रकाशन हुआ था। इसमें आधुनिक हिन्दी काव्य का संकलन हुआ है। १९२० के पूर्व शुक्ल जी की कुल १९ कविताएँ विभिन्न पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं। रामनरेश जी ने इनके आधार पर शुक्ल जी की गणना उस युग के प्रमुख कवियों में नहीं की। उन्होंने इनकी एक रचना 'शिशिर पथिक' (सरस्वती मार्च १९०५)[१] को कौमुदी-कुञ्ज में स्थान दिया।

१९२२ ई० में एडविन आर्नल्ड के 'लाइट आफ एशिया' का ब्रजभाषा में शुक्ल जी कृत पद्यानुवाद 'बुद्धचरित' नाम से काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ और १९२४-२९ के बीच शुक्ल जी की आठ प्रौढ़ कविताएँ 'माधुरी' एवं 'सुधा' में प्रकाशित हुईं और शुक्ल जी की गणना कवियों में होने लगी। फलस्वरूप दिसंबर १९३९ में जब 'कविता-कौमुदी' द्वितीय भाग का परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ, तब शुक्ल जी को 'कौमुदी-कुञ्ज' से हटाकर प्रमुख कवियों में स्थान दे दिया गया। इसमें 'शिशिर पथिक' को पूर्ववत् बना रहने दिया गया; बुद्धचरित से चार अंश और 'हृदय का मधुर भार' का एक अंश तथा आमंत्रण समग्रतः सन्निविष्ट कर लिये गये। शुक्ल जी का विशद परिचय भी दे दिया गया। इस संग्रह में प्रमुख कवि पूर्ण परिचय के साथ संकलित होते रहे हैं और कौमुदी-कुञ्ज में संकलित कवियों का कोई परिचय नहीं दिया जाता था।

कविता-कौमुदी वाले परिचय में शुक्ल जी के १६ ग्रंथों का विवरण है। इनमें से पाँचवाँ ग्रंथ है—(५) प्रवाहगामिनी माला (काव्य, असमाप्त)[१]। इस काव्यग्रंथ का पता हमें नहीं है।

मैं १९३६-३८ में क्वीन्स कालेज, काशी में इंटर का विद्यार्थी था। उस समय १९३७-३८ में किसी समय 'श्रीवर' पं० श्रीनारायण जी चतुर्वेदी के सम्मान में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रशाल में एक काव्य-गोष्ठी हुई थी। पं० रामबहोरी जी शुक्ल उस समय क्वीन्स कालेज में हिन्दी के हमारे अध्यापक थे। उनकी कृपा से इस गोष्ठी में मैंने भी अपनी एक चतुर्दशपदी पढ़ी थी। इसी कविगोष्ठी में मैंने आचार्य शुक्ल को कवि रूप में देखा था। उन्होंने भी आग्रह किये जाने पर एक कवित्त पढ़ा था। यह कवित्त संभवतः हृदय का मधुर भार का था।

शुक्ल जी की सर्वाधिक ख्याति आचार्य, समीक्षक, हिन्दी साहित्य के इतिहासकार एवं निबन्ध-लेखक के रूप में रही है, कविरूप में नहीं। इसके दो कारण हैं—एक तो बुद्धचरित अनूदित काव्य है, दूसरे उनकी मौलिक कविताएँ एक तो कम हैं, दूसरे जो हैं भी वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी हुई रही हैं और पुस्तक रूप में एकत्र नहीं हो सकी थीं।

१. मधु-स्रोत

इधर उनकी समस्त प्राप्त सत्ताईस कविताओं का संकलन 'मधु-स्रोत' नाम से नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् २०२७ वि०, वर्ष ७४ अंक २ में प्रकाशित हुआ है। यह संकलन ९६ पृष्ठों का (१८७ से २८२ तक) है। इसके प्रारम्भ में कोई भी प्राक्कथन या भूमिका नहीं है।

'मधुस्रोत' शुक्ल जी की अंतिम प्रकाशित फुटकर कविता है इसी के आधार पर संकलन का नाम रखा गया है। 'मधु' काव्य का सूचक है। मधु-स्रोत का अर्थ हुआ काव्य के विभाव। शुक्ल जी के अनुसार समस्त प्रकृति ही काव्य का आलंबन बन सकती है, क्योंकि हमारा उससे साहचर्य-जन्य रागात्मक सम्बन्ध है। मधुस्रोत में प्रकृति के विविध संश्लिष्ट चित्र हैं, अतः यह नाम सार्थक है। पर इससे अच्छा नाम होता 'हृदय का मधुर भार'। यह इस संग्रह की सर्वाधिक लम्बी कविता है, जो समस्त संकलन के चौथाई से अधिक कुल २५ पृष्ठ घेरे हुए है और शुक्ल जी का सब प्रकार से प्रतिनिधित्व करने में सक्षम है।

२. रचनाओं का काल-क्रम

'मधुस्रोत' का सबसे बड़ा दोष संकलन-क्रम का है। रचनाएँ न तो प्रकाशन-क्रम या रचना-क्रम से संकलित हैं, न विषय-क्रम से और न भाषा-क्रम से ही। विकास-क्रम समझने के लिए काल-क्रम आवश्यक था और आस्वाद की दृष्टि से विषय-क्रम। यह संकलन बिना अनुक्रम के है।

रचनाएँ क्रमशः निम्नांकित पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं—

१. आनन्द कादंबिनी १. भारत और वसंत—१८९७ ई०
२. देशद्रोही को दुतकार—जेठ-आषाढ़, १९६४ (जुलाई १९०७ ई०)
३. फूट—पूस-माघ १९६४ (दिसंबर १९०७ ई०)

२. सरस्वती १—मनहर छटा, अक्टूबर १९०१
२—रानी दुर्गावती, जून १९०३
३—वसंत, मार्च १९०४
४—शिशिर पथिक, मार्च १९०५

३. बाल प्रभाकर १. बालविनय—फरवरी १९१०

४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका १. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—अगस्त १९१२

	२. हमारी हिन्दी--सितंबर-दिसंबर १९१७
	३. याचना--अप्रैल १९१९
५. लक्ष्मी	१. आशा और उद्योग--नवम्बर १९१२
	२. विरह सप्तक, ३. अन्योक्तियाँ, ४. प्रेम प्रताप } जनवरी १९१३
६. इंदु	१. श्रीयुत बाबू देवकीनंदन खत्री का वियोग--अगस्त १९१३
	२. भारतेन्दु जयन्ती--सितंबर १९१३
७. बाल हितैषी	१. वंदना--जनवरी १९१५
८. माधुरी	१. प्रकृति प्रबोध--अप्रैल १९२४
	२. आमन्त्रण--अक्टूबर १९२५
	३. हर्षोद्‌गार--नवम्बर १९२५
	४. हृदय का मधुर भार--प्रथम झलक--मार्च १९२५
	द्वितीय झलक--अप्रैल १९२७
	तृतीय झलक--अगस्त-सितंबर १९२९
	५. गोस्वामी जी और हिन्दू जाति--अगस्त १९२७
	६. रूपमय हृदय-- मई १९२८
९. सुधा	१. पाखंड प्रतिषेध--फरवरी १९२८
	२. मधु स्रोत--अक्टूबर १९२९

'मधु-स्रोत' में प्रत्येक रचना का प्रकाशन-स्रोत एवं काल दे दिया गया है। केवल तीन रचनाओं का स्रोत एवं काल नहीं दिया गया है--१. वसंत पथिक, २. रूपमय हृदय, ३ भारत और वसंत। इनमें से 'रूपमय हृदय' माधुरी, मई १९२८ में प्रकाशित है। 'बसंतपथिक' के लिए संकेत है--'कविता मञ्जरी' ग्रंथ से। यह कविता-मञ्जरी ग्रंथ कौन-सा है, पता नहीं। 'बसंत पथिक', 'शिशिर पथिक' के ही समान मधुर प्रेमकथा है। 'शिशिर ,पथिक' ब्रजभाषा में है। इसका प्रकाशन मार्च १९०५ की सरस्वती में हुआ था। 'बसंत पथिक' खड़ीबोली में है और 'शिशिर पथिक' के किञ्चित् बाद की रचना है। पहली खड़ी-बोली की रचना 'देशद्रोही को दुतकार' है जो जुलाई १९०७ में आनंदकादंबिनी में छपी थी। 'बसंत पथिक' का रचनाकाल भी १९०७ के आस-पास ही समझना चाहिए।

'भारत बसन्त' देश-प्रेम सम्बन्धी कविता है, जिस पर भारतेन्दु की 'भारत दुर्दशा' का प्रेरक प्रभाव है। इसकी रचना १३ वर्ष की वय में १८९७ ई० में हुई थी और यह रचना आनंदकादंबिनी में प्रकाशित हुई थी।

इन रचनाओं को दो कालखंडों में विभाजित किया जा सकता है--१८९७ ई० से १९१९ ई० तक १९ रचनाएँ--ये द्विवेदीयुगीन काव्यादर्श को लिए हुए हैं। १९२४-

२९ में माधुरी और सुधा में प्रकाशित आठ रचनाएँ। ये द्विवेदीयुग के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर हैं। इनमें शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धांत सन्निहित हैं, ये सिद्धांत हैं—लोकमंगल, प्राकृतिक दृश्यों का आलम्बनत्व, रहस्यवाद की कटु आलोचना।

३: काव्य-विधा

शुक्ल जी का 'बुद्ध चरित' महाकाव्य है। मधुस्रोत की कविताएँ निम्नांकित काव्य-विधाओं में विभाजित की जा सकती हैं—

१. गीतिनाट्य—भारत और बसंत

२. कथा काव्य —१. रानी दुर्गावती
२. शिशिर पथिक
३. वसंत पथिक

३. निबंध काव्य—अधिकांश रचनाएँ भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखित काव्यनिबंध हैं। यथा—१. गोस्वामी जी और हिन्दू जाति, २. पाखण्ड प्रतिषेध, ३. हृदय का मधुर भार, ४. प्रेम प्रताप, ५. बसंत आदि।

४. मुक्तक—'अन्योक्तियाँ' शीर्षक कविता ही एकमात्र रचना है जिसमें मुक्तक काव्य है। इसमें कुल ६ मुक्तक हैं।

४. भाषा

द्विवेदी युग के अधिकांश कवि ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में समान रूप से कविता करते थे। ब्रजभाषा तो उनको परंपरा से प्राप्त हुई थी और वे पहले ब्रजभाषा में ही कविता करते थे। द्विवेदी जी के प्रभाव से जब खड़ीबोली पद्य के लिए भी स्वीकृत होने लगी, तब ये ब्रजभाषा के कवि भी खड़ीबोली में कविता करने लगे। शुक्ल जी की भी यही स्थिति है। १८९७ ई० में वे ब्रजभाषा' के कविरूप में हिन्दी साहित्य-जगत् में प्रविष्ट हुए। उनकी पहली रचना 'भारत और बसंत' है, जो आनंदकादंबिनी १८९७ में प्रकाशित हुई थी। उनकी अधिकांश ब्रजभाषा रचनाएँ १८९७ से १९१३ के बीच रची गयीं। 'बुद्धचरित' काव्य १९२२ ई० की रचना है और 'हर्षोद्गार' शीर्षक एक लघुरचना नवंबर १९२५ की है। ब्रजभाषा में शुक्ल जी की निम्नांकित कविताएँ हैं—

१. भारत और वसंत—आनंदकादंबिनी १८९७ ई०
२. मनोहर छटा—सरस्वती, अक्टूबर १९०१
३. रानी दुर्गावती—सरस्वती, जून १९०३
४. बसंत—सरस्वती, मार्च १९०४
५. शिशिर पथिक—सरस्वती, मार्च १९०५
६. बाल विनय—बाल प्रभाकर, फरवरी १९१०
७. विरह सप्तक—लक्ष्मी, जनवरी १९१३
८. अन्योक्तियाँ (२, ३)—लक्ष्मी, जनवरी १९१३

९. हर्षोद्गार—माधुरी, नवंबर १९२५

शुक्ल जी की ब्रजभाषा बहुत साफ-सुथरी है। उसमें पुराने अप्रचलित शब्द-प्रयोग परित्यक्त हो गये हैं। उसे सर्वमान्य बनाने के लिए उन्होंने संस्कृत तत्सम शब्दों का तद्वत् प्रयोग किया है, बिना किसी प्रकार का तोड़-मरोड़ किये हुए।

१९०६ ई० से शुक्ल जी ने खड़ीबोली में भी पद्य रचना प्रारम्भ की। 'बसंत-पथिक' संभवत: उनकी पहली खड़ीबोली कविता है। उनकी कुल खड़ीबोली रचनाएँ निम्नांकित हैं—

१. बसंत पथिक—१९०६ ई०
२. देशद्रोही को दुतकार—आनंदकादंबिनी, १ जुलाई १९०७
३. फूट—आनंदकादंबिनी, दिसंबर १९०७
४. भारतेंदु हरिश्चन्द्र—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अगस्त १९१२
५. आशा और उद्योग—लक्ष्मी, नवंबर १९१२
६. अन्योक्तियाँ (१, ४, ५, ६) लक्ष्मी, जनवरी १९१३
७. प्रेम-प्रताप—लक्ष्मी, जनवरी १९१३
८. श्रीयुत देवकीनंदन खत्री का वियोग—इंदु, अगस्त १९१३
९. भारतेंदु जयंती—इंदु, सितंबर १९१३
१०. बंदना— बालहितैषी, जनवरी १९१५
११. हमारी हिन्दी—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सितंबर-दिसंबर १९१७
१२. याचना—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अप्रैल १९१९
१३. प्रकृति प्रबोधु—माधुरी, अप्रैल १९२४
१४. आमंत्रण—माधुरी, अक्टूबर १९२५
१५. हृदय का मधुर भार (१) माधुरी, मार्च १९२५
(२) माधुरी, अप्रैल १९२७
(३) माधुरी, सितंबर १९२८
१६. गोस्वामी जी और हिन्दू जाति—माधुरी, अगस्त १९२७
१७. पाखंड प्रतिषेध—सुधा, फरवरी १९२८
१८. रूपमय हृदय—माधुरी, मई १९२८
१९. मधु स्रोत—सुधा, अक्टूबर १९२८

इनमें से महत्त्वपूर्ण रचनाएँ १३-१९ हैं जो 'माधुरी' और 'सुधा' में १९२४ से १९२९ तक प्रकाशित हैं। ये परम प्रौढ़ रचनाएँ हैं और शुक्ल जी का कवि-यश इन्हीं पर विशेष रूप से निर्भर करता है।

५. देश-प्रेम

चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' मीरजापुर के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी थे। वे भारतेन्दु के प्रतिरूप थे। शुक्ल जी ने उनसे साहित्य-प्रेम पाया। उनकी ही गोष्ठी में यह विरवा पनपा,

तेरह वर्ष की वय में १८९७ ई० की आनंदकादंबिनी में उनकी 'भारत और बसंत' नामक प्रथम रचना प्रकाशित हुई। यह उनकी देशप्रेम सम्बन्धी प्रथम रचना है। यह संवादात्मक रचना है और विधा की दृष्टि से इसे गीतिकाव्य कहा जा सकता है। इसके तीन पात्र हैं—१. भारत, २. बसंत ३. भारत महिषी। यह भारतेन्दु कृत 'भारत-दुर्दशा' से अनुप्राणित एवं प्रेरित है। इसमें सार, हरिगीतिका, रूपमाला, मालती, वंशस्थ, बसंततिलका, रोला, स्रग्धरा, पद्धरि और द्रुतविलंबित कुल १० प्रकार के छंद प्रयुक्त हैं। यह अत्यन्त भावुकता-पूर्ण रचना है। संभवतः यह हिन्दी की पहली रचना है, जिसमें 'देश-प्रेम', 'वंदेमातरम्' का प्रथम बार शंखनाद हुआ है। भारत अपने गत-गौरव की चर्चा करते हुए अन्त में बात को मोड़ देने के लिए कहता है—

पर अब सब छोड़े पूर्व की ये कहानी
नहिं कछु सरि जैहै, गीत गाये पुरानी
अब कहहु कहाँ ते आवते डारि फेरी
कहहु कछु नयी तो बात संसार केरी

इस पर बसंत सूचना देता है कि लघु देश जापान ने विशाल देशखण्ड को हरा दिया है—

प्रवीर जापान प्रचंड रूस ही
परास्त कीनो, तुमने सुन्यो नहीं ?

उस समय की यह ऐसी घटना है जिसने भारत की राष्ट्रीयता को बल दिया। भारत-वासी भी सोचने लगे, जब छोटा देश जापान बड़े देश रूस को हरा सकता है, तब भारत भी अँग्रेजों को भारत से बाहर निकाल सकता है।

इसी साल भारतमहिषी का प्रवेश होता है और बसंत उसे प्रणाम करता है—माता, प्रणाम तुवा पायन में हमारो—तब भारतमहिषी आशीः देती है—

"बाढ़ै प्रताप नित भूतल में तिहारो"

इसी समय नेपथ्य से 'बंदेमातरम्' की ध्वनि सुनाई देती है।

इस कविता से स्पष्ट होता है कि उस समय भारत की जनसंख्या बीस करोड़ थी—बसंतबाली और जंबकद्वीप, द्वीपवासियों की ओर से कहता है—

बीस कोटि सम हमहुँ लेइ के हैं अधिकारी
कबहुँ-कबहुँ तो चहिए लेनी खोज हमारी

भारत-महिषी को दुःख है कि हमारा ही कच्चा माल विदेशों में सस्ता जाता है, वही पक्काभाव बनकर पुनः हमारे ही हाथ बिकता है। हमारे गँवार बच्चे समझाने पर भी नहीं समझते और विदेशी पर लट्टू रहते हैं—स्वयं स्वदेशी नहीं तैयार करते। इस पर नेपथ्य से यह ध्वनि आती है—

सहि चुके जननी! बहु यातना
बचन ना कबहूँ अब टारिहैं

प्रण करैं—"पर-आस किए बिना
अवसि आपुहि आय उबारिहैं।"

इसके बाद 'वंदेमातरम्' की भीषण ध्वनि पुनः सुनाई देती है और पटाक्षेप हो जाता है।

यह खोज का विषय है कि क्या इसके पहले भी कभी हिन्दी में 'वंदेमातरम्' की यह भीषण ध्वनि सुनाई पड़ी थी ?

शुक्ल जी में देशप्रेम का अंकुर लड़कपन में ही फूट निकला था। इसीलिए उन्होंने सरकारी नौकरी नहीं पसन्द की और मिर्जापुर के कलक्टर विंढम द्वारा नायब तहसीलदारी में नामजद हो जाने पर भी उसे लात मार दिया। इस कारण घर में विवाद हो गया और शुक्ल जी थोड़े दिनों के लिए मिर्जापुर छोड़कर अगौना, जिला बस्ती अपने घर चले गये। यह १९०३ ई० की बात है। उस समय इनकी वय १९ वर्ष की थी। वहीं रहकर इन्होंने 'ह्वाट इंडिया हैज टू डू' नामक लेख अंग्रेजी में लिखकर हिन्दुस्तान रिव्यू में प्रकाशनार्थ भेज दिया, जिसे देखकर मिर्जापुर के कलक्टर ने इनके पिता श्री चंद्रबली शुक्ल सुपरवाइजर कानूनगो को बुलाकर कहा था—"आपका लड़का क्रांतिकारी हो गया है, सँभालिए। पर लड़के को न सँभलना था, न सँभला। उसने हिन्दी में भी देशप्रेमपूर्ण कविताएँ लिखनी शुरू कर दीं। १९०३ में ही अगौना में रहते समय उन्होंने 'रानी दुर्गावती' नामक कविता लिखी, जो 'सरस्वती' में जून १९०३ में प्रकाशित हुई। यह उनकी दूसरी देशभक्तिपूर्ण कविता है। यह ५० चरणों की रोला छंदों में रचित अत्यन्त ललित एवं सुगठित रचना है। इसमें देशभक्तिपूर्ण पंक्तियाँ हैं—

शेष रुधिर की बूँद एकइ जब लगि तन महँ
को समर्थ पगधरन हेतु यह रुधिर भूमि महँ ?

वाण लगने से दुर्गावती की ग्रीवा से रक्त-स्राव होने लगा, उसका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

श्रवत रुधिर इमि लसत कनक से रुचिर गात पर
छुटत प्रबल परकास मनहुँ कोमल पराग पर

यह है वीभत्स में सौन्दर्य-सृष्टि। रानी ने कटार मारकर प्राणत्याग कर दिया और सोती जाति को अपने आदर्श से नवजीवन प्रदान कर गयी।

तीसरी देशभक्ति की कविता 'बसंत' है जो सरस्वती में मार्च १९०४ में प्रकाशित हुई। शीर्षक से तो यह प्रकृति सम्बन्धी कविता लगती है, पर है यह देश-भक्तिपूर्ण रचना। बसंत के आगमन पर कवि कह उठता है—

कुसुमित लतिका ललित तरुन बसि क्यों छबि छावत ?
हे रसलयन! बौरि व्यर्थ क्यों सोच बढ़ावत ?
मथुरा दिल्ली कुरु कनौज के विस्तृत खँडहर
करत प्रतिध्वनि, आज दिवसहू निज कंपित स्वर
हे हे विराग सरोज, अजहुँ विकसत लखि मनहिं
देश-दुर्दशा-जनित दुःख, चित्त नेकु न अनहिं

विगत-दिवस प्रतिबिंब हाय सम्मुख तुम लावत
भारत संतति केर विरह चौगुनो बढ़ावत
अहो विधाता वाम दया इतनी चित लावहु
देश काल ते ऋतु वसंत को नाम मिटावहु

अंत में क्षुब्ध होकर कवि कह उठता है—

नहिं यह सब दरकार, हमें, चाहिए केवल अब
उदर भरन हित अन्न, और किन हरन होहि सब
नहिं कछु चिंता हमें, कीन्ह-गौरव रखिबे की
नहीं कामना हमें, 'आपनो' यह कहिबे की

'देहद्रोही को दुतकार' और 'फूट' १९०७ की रचनाएँ हैं। देशद्रोही को दुतकार में १०२ बसंततिलका छंद हैं।

रे दुष्ट पामर पिशाच कृतघ्न नीच
क्यों तू गिरा उदर से इस भूमि बीच?
क्यों देश ने अधम, स्वागत हेतु तेरे
आनंद उत्सव उपाय रचे घनेरे?

× × ×

जा दूर हो अधम, सन्मुख से हमारे
है पापपुंज तुम, पूरित अंग सारे
जो देश से न हट, तो हृद-देश से ही
देते निकाल हम, आज तुझे भले ही

'फूट' कविता में तत्कालीन कई राष्ट्र नेताओं का नाम आया है—

दादाभाई और अयोध्यानाथ सुरेन्द्र सयाने
देश दशा को खोल-खोल तब सबको लगे सुझाने
मेहता, माधव, दत्त, घोस का घोस देश में छाया
आँख खोल हम लगे चेतने अपना और पराया

अखिल भारतीय कांग्रेस २२ वर्ष की होगयी थी। काशी कांग्रेस में फूट की पहली धौंस पड़ी थी। दूसरा चपेट कलकत्ते में पड़ा और उसमें दो दल हो गये। सूरत में तो उसकी हालत ही खस्ता हो गयी। इसी फूट से दुःखी होकर शुक्ल जी ने यह 'फूट' कविता लिखी थी, जो फूट को ही संबोधित है। यह १५ सार छंदों में लिखित है।

बाल विनय (१९१०), आशा और उद्योग (१९१२) भी देशभक्तिपूर्ण रचनाएँ हैं। 'आशा और उद्योग' में कवि कहता है—

देश-दुःख अपमान जाति का, बदला मैं अवश्य लूँगा
अन्यायी के घोर पाप का दंड उसे अवश्य दूँगा

'वन्दना' (१९१५)' में देश-प्रेम जगत्-प्रेम में विवर्द्धित हो गया है। कवि प्रभु से कहता है—

प्रकृति की यदि चाल नहीं कहीं
जगत् के शुभ के हित बाँधता
विकट आनन खोल अभी यहीं
उदर बीच हमें धरती धरा

हर्षोद्गार (१९२५) साकेत-महिमा सम्बन्धी कविता है। यह भारत-भूमि के एक परम पुनीत स्थल का गुणानुवाद है। इसे भी देशभक्ति सम्बन्धी रचना कहा जा सकता है।

६. शृंगारी-काव्य

यद्यपि शृंगार रसराज है और युवकों की प्रवृत्ति इसी में विशेष रूप से रमती है, फिर भी यह अत्यंत आश्चर्यजनक है कि शुक्ल जी शृंगार से बहुत दूर रहे हैं। उनकी चार ही शृंगारी रचनाएँ हैं। इनमें से दो तो प्रेम कहानियाँ हैं—१. शिशिर पथिक (१९०५) और २. बसन्त पथिक। तीसरी रचना है विरह सप्तक (१९१३) और चौथी है प्रेम प्रताप (१९१३)।

'शिशिर पथिक' ३४ द्रुतविलम्बित छंदों और अंत में एक मंदाक्रांता में रचित अत्यंत ललित रचना है। इसमें यद्यपि तुक नहीं मिलाये गये हैं, फिर भी इसका नाद सौन्दर्य अपूर्व है। एक पथिक शिशिर की संध्या में ठिठुरता हुआ, दूर-दूर देशों में सैनिक जीवन बिताकर, स्वदेश लौट रहा है। एक मेजर के बहकाने से वह सेना में भरती होकर विदेशी-युद्ध-भूमि पर चला गया था, अपनी नवपरिणीता बहू को अकेली ही घर पर छोड़कर।

शिशिर संध्या में कोई पथिक रात्रि-वास के लिए आश्रय की खोज में भटकता हुआ एक गाँव में जा पहुँचा। वह एक घर के द्वार पर खड़ा हो गया। कपाट बन्द थे। फिर भी गृह-वासी को पता चल गया कि द्वार पर कोई खड़ा है। उसने पूछा—कौन? द्वार पर खड़े पथिक ने कहा—'आश्रयाकांक्षी एक पथिक।' गृहवासी एक तरुणी थी। उसने द्वार खोल दिया। भीतर शील-प्रताप-विधातिनी आग जल रही थी। पथिक ने देखा एक कोने में एक बुड्ढा बाप पड़ा हुआ है और उसकी तरुणी बेटी उसकी सेवा में तत्पर है। तरुणी ने पथिक को बैठने के लिए एक आसन की ओर संकेत किया और पथिक ने उसे आशीष दिया—'फलवती सिगरी तुव आये हो।' इस पर तरुणी ने कहा—'मुरुझि बेणि कहूँ फल लावई?' जब से विधाता मुझसे वाम हो गया है, तब से मैं पिता के विदेश पालन और अतिथि सेवा का व्रत लेकर यहाँ रहती हूँ। अब तुम अपनी कहो, कौन हो और कहाँ से आ रहे हो? तब पथिक ने अपना परिचय दिया—मेजर के बहकावे में आकर मैं सैनिक होकर विदेश चला गया। धरो, मारो, काटो, करता रहा। अफगान-युद्ध में लड़ता रहा। अपनी वियोगिनी प्रिया से मिलने की आशा में अपने गाँव लौट रहा हूँ। यहीं कहीं मन्मथ-गाँव है, जहाँ चन्द्रवंशी ठाकुर विक्रम सिंह रहते थे। मैं उन्हीं का बेटा रनवीर हूँ।

यह सुनते ही जो नाटकीय दृश्य उपस्थित हुआ, उसे कवि के ही शब्दों में सुनें—

कहत ही इन बैनन के तहाँ
मचि गयो कछु औरहि रंग ही
वदन अंचल-बीच छिपावती
मुरि परी गिरि भूतल भामिनी ।।३३।।
अगम साहस वृद्ध कियो तबै,
उठि धर्‌यो महि में पग, खाट तें
'पुनि कहो' कहि बारहिबार ही
पथिक को फिरि फेरि निहारई ।।३४।।

वियोगिनी बाला को अपना खोया पति मिला और बूढ़े को अपना बिछुड़ा दामाद। दोनों को नवजीवन मिला। पथिक को क्या मिला, कुशल कवि ने इसका उल्लेख नहीं किया। उसने कथा इस मंदाक्रांता से समाप्त कर दी--

आशा त्यागी बहु दिनन की, नेकु ही में पुरावै
लीला ऐसी जगत् प्रभु की, भेद को कौन पावै
देखो, नारी सुकृत फल को बीच ही माँहि पायो
भूलो प्यारो भटकि पथ तें प्रेम कै फेरि आयो

'वसन्त पथिक' भी इसी प्रकार की दूसरी प्रेम-कथा है। इसमें २८ हरिगीतिका छंद हैं। रचना खड़ीबोली में है। इसे 'कविता-मञ्जरी' ग्रंथ से अवतरित किया गया है।

वसन्त-ऋतु है। एक पथिक पहाड़ी से उतर रहा है। प्रकृति-सौन्दर्य देखता हुआ वह आगे बढ़ता है। किसी ने हँसकर पथिक को छेड़ा—'उधर कहाँ जाते हो? वह राह टेढ़ी है।' पथिक ने कहा—'कोई चिन्ता नहीं।' वह और आगे बढ़ा। फिर किसी ने मधुर कण्ठ से पूछा—'आते कहो किस लोक से?' पथिक स्वर-माधुरी में डूब गया, पर उसे कोई दिखाई नहीं दिया। वह और आगे बढ़ा। उसने देखा, एक विमल सरोवर, चारों ओर भीटे, जिन पर आम-जामुन के पेड़ खड़े हैं और उनसे घिरा हुआ एक श्वेत शिवालय। पथिक का मन उस मनोरम स्थान की ओर विश्राम के लिए ललक उठा। तभी उसे पुनः सुनाई पड़ा—'तुम अकेले ही विश्राम-सुख क्यों लेना चाहते हो?' पथिक को लगा यह भूमि मायामयी है। उसे स्वर सुनाई पड़ते थे, पर स्वरकर्ता दिखाई नहीं पड़ता था। वह मन्दिर पर पहुँच गया और सरोवर में हाथ-मुँह धोकर शिला पर आ बैठा। उसका तन तो मन्दिर के प्रांगण में था, पर मन न जाने कहाँ था। इसी बीच पथिक ने सरोवर के जल में किसी कामिनी की छाया देखी, जो पास ही में, उसके पीछे खड़ी थी। उसे देखकर पथिक चकित हो उठा। वह पूछ उठा—'प्रिये, तुम यहाँ कहाँ? मोहिनी ने उत्तर दिया—'तुम हो जहाँ'। दोनों वहीं बैठ गये, तब कामिनी ने कहा—'मुझे यहाँ देखकर तुम्हें आश्चर्य हो रहा है। यहीं बगल के गाँव में मेरी ननिहाल है और मैं माँ के साथ यहाँ आयी हुई हूँ। मैं शिव-दर्शन के लिए यहाँ नित्य आती हूँ। जब से तुम घर से गये, तब से मेरी तुमने कोई खोज-खबर नहीं ली। मैंने तो समझ लिया था कि तुम बड़े-बूढ़े होकर फिरोगे?

इसके आगे कवि सहसा कथा समाप्त कर देता है—

छोड़ो इन्हें ये प्रेम से जी खोलकर बोलें मिलें
पाठक, यहाँ क्या काम अब ? हम आप अपनी राह लें

इस कथा में नारी-सौन्दर्य का भी एक मनोरम चित्र है—

चंचल नवेली कामिनी जो पास थी पीछे खड़ी
आभा अधर पर मंद-सी मुसकान की अब रह गई
पलकें ढली पड़तीं, मधुरता ढालती मुख पर नई
पीले वदन पर लहर-सी अलकें कपोलों से छुई
उस कुसुम कोमल अंग से छवि छूटकर पड़ती भुई।

इसका प्रभाव पथिक पर क्या पड़ा ?—

जाने नहीं किस धार में, सुध-बुध पथिक की बह गई
बीते अचल दृग-से उसे तो ताकते ही छन कई

दोनों प्रेम कहानियों में कई सादृश्य हैं—

१. दोनों के प्रारम्भ में प्रकृति के परम मनोरम चित्र हैं।

२. दोनों कथाएँ नाटकीय-तत्त्व से परिपूर्ण हैं।

३. दोनों कथाएँ प्रेम की हैं। दोनों में बिछुड़े हुए पति-पत्नी (नायक-नायिका या प्रेमी-प्रेमिका नहीं)' कालांतर में अकस्मात् मिले हैं। कवि मर्यादावादी है।

४. कवि ने दोनों में मिलनोपरांत तत्काल कथा समाप्त कर दी है, स्थूल संयोग शृंगार की ओर नहीं बढ़ा है।

५. दोनों कथाएँ उत्पाद्य हैं।

६. दोनों में विप्रलंभ शृंगार प्रधान है।

७. अंग्रेज कवि गोलडस्मिथ ने ऐसी ही एक प्रेम कहानी 'द हरमिट' में लिखा था, जिसका हिन्दी अनुवाद श्रीधर पाठक ने किया था—'एकांतवासी योगी' नाम से। इस अनुवाद से हिन्दी में स्वच्छंदतावाद का युग प्रारम्भ होता है। उसी दिशा में आचार्य शुक्ल की ये दोनों प्रेम कहानियाँ हैं। इसी दिशा में बाद में जयशंकर प्रसाद ने 'प्रेम-पथिक' की रचना की। और भी बाद में रामनरेश त्रिपाठी ने मिलन, पथिक और स्वप्न नामक तीन प्रेम-कहानियों द्वारा इस दिशा में अपना विशिष्ट योगदान किया।

'विरह सप्तक' (१९१३ ई०) बरवै छंदों में है। दो-दो बरवों का एक छंद है। 'महा-कठिन दुःख विरह, सह्यो नहिं जाय' सातों छंद-युग्मों में हैं। यह विरह-वर्णन अत्युक्ति और अतिशयोक्ति से रहित साधारण और स्वाभाविक रचना है—

निसि नहिं आवत नींद, न दिन में चैन
अश्रु सबै व्यय भए, सूखि गे नैन
प्रीतम निश्चय हमको गये विहाय
महा कठिन दुःख विरह, सह्यो नहिं जाय

'प्रेम-प्रताप' (१९१३) सात रोला छंदों की रचना है। प्रेम को संबोधित करते हुए इसमें प्रेम का प्रताप प्रदर्शित है—

सागर में सब नदी जाय जग में मिलती हैं
होते ही शशि उदय, कुमुदिनी भी खिलती हैं
आ-आ देते प्राण कीट दीपक के ऊपर
है पूरा अधिकार, प्रेम ! तेरा जग ऊपर।

रचना खड़ीबोली में है, पर खड़ीबोली की दृष्टि से इसकी भाषा यत्र-तत्र सदोष है। जैसे ऊपर उद्धृत पद्य के प्रथम चरण में 'जाय' (=जाकर) ठीक नहीं है।

'विरह-सप्तक' और 'प्रेम-प्रताप' सामान्य रचनाएँ हैं। दोनों प्रेम कहानियाँ ही सरस हैं।

७. प्रकृति-प्रेम

शुक्ल जी ने 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नामक अपने सुप्रसिद्ध निबंध में प्रकृति के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। अभी तक पुराने काव्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति उद्दीपन का ही काम करती थी। शुक्ल जी ने उसे आलंबन रूप में स्वीकार किया और सहृदय पाठक और कवि को ही आश्रय माना। शुक्ल जी के अनुसार विभाव के अन्तर्गत आलंबन तो "मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है।" शुक्ल जी वस्तुओं का नाम गिना देने वाली परिगणन प्रणाली को हेय दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि इससे अर्थ-ग्रहण भले ही हो जाय, बिम्ब-ग्रहण नहीं ही हो पाता और शुक्ल जी बिम्ब-ग्रहण के पक्षपाती हैं। प्रकृति का चित्रण वही बिम्बमय होता है, जो संश्लिष्ट हो। प्रकृति-चित्रण के प्रति शुक्ल जी की यह दृष्टि प्रारम्भ से ही रही है।

'मनोहर छटा' शुक्ल जी की प्रकृति सम्बन्धी प्रथम रचना है जो अक्टूबर १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। उनकी प्रकृति सम्बन्धी यह दृष्टि इस रचना में भी देखी जा सकती है। यह रचना १७ वर्ष की वय में लिखी गयी थी। इसके पहले वे 'भारत और वसन्त' नामक देश-प्रेम सम्बन्धी कविता लिख चुके थे। शुक्ल जी का यह लड़कपन ही था और यह लड़कपन मीरजापुर में विन्ध्य की पहाड़ियों और जंगलों के सैर-सपाटों में बीता था। प्रस्तुत कविता भी इसी विन्ध्य क्षेत्र की बरसाती नैश छटा का चित्र है।

कवि पहाड़ के ऊपर है और पर्वत-स्थली उसके पैरों के नीचे। और निर्मल चन्द्रमा मेघों के बीच छिपता-दुरता है। कभी अंधकार छा जाता है, कभी प्रकाश। हवा भी सो रही है, प्रकृति में सन्नाटा छाया हुआ है, पशु-पक्षी भी चुप हैं, मानो इस वन्य-जगत् से कहीं दूर चले गये हैं। केवल झींगुर और झिल्ली की झंकार सुनाई दे रही है। झरने के झरने की भी ध्वनि सुनाई दे रही है। कहीं काली चट्टान है, कहीं हरियाली है, कहीं पत्थर-सूखी जमीन है। झरने की प्रवाहित धारा को कहीं विशाल शिला रोक देती है, पर वह उमगकर, उच्छलित होकर दौड़ चलती है और नदी में मिल जाती है। किनारे पर झाड़ियाँ लगी हैं, बीच-बीच में

एक-दो बड़े वृक्ष भी हैं। उनका प्रतिबिम्ब धारा के जल में दिखाई पड़ रहा है। वृक्षों के पत्र-जाल-रन्ध्र से शशि-किरनें पृथ्वी पर छन-छन कर आ रही हैं। जहाँ तक दृष्टि जाती है शैल, नदी, नव और अटपटी ऊबड़-खाबड़ भूमि ही दिखाई दे रही है।

वर्षा का यह दृश्य अन्यत्र पूर्व-साहित्य में सुलभ नहीं है। इसी प्रकार 'शिशिर पथिक' (१९०५) के प्रारंभ में शिशिर-संध्या का यह वर्णन है—

विकल पीड़ित पीय-पयान ते
चहुँ रह्यो नलिनी-दल घेरि जो
भुजन भेंटि तिन्हें अनुराग सों
गमन-उद्यत भानु लखात है॥१
तजि तुरंत चले, मुख फेरि के,
शिशिर-शीत सशंकित जीव हीं
विहग आरत-बैन पुकारते
रहि गए, पर ताहि सुनी नहीं॥२
तनि गए सित ओस-वितान हू
अनिल झार बहार धरा परी
लुकन लोग लगे घर बीच हैं
विवर भीतर कीट पतंग से॥३
युग भुजा उर बीच समेटि के
लखहु आवत गैयन फेरि के
कँपत कंबल-बीच अहीरहू
भरमि भूलि गई सब तान है॥४
तम भयंकर कारिख फेरि के
प्रकृति दृश्य कियो धुँधलो सबै
बनि गए अब सीत-प्रताप ते,
निपट निर्जन घाट रु बाट हू॥५

शिशिर की संध्या है। सूर्यास्त होना चाहता है। सारे जीव-जंतु, पशु-पक्षी शिशिर-शीत से सशंक हो उठे हैं। चिड़ियाँ चहचहा रही हैं। श्वेत-वर्ण-ओस-वितान तन गया—कुहासा पड़ने लगा। सभी प्राणी घरों में छिपने लगे। अहीर गायें चराने गया था। वन में वह विरहा गाता रहा है। अब शाम को गायों को लौटाता हुआ वह घर लौट रहा है। उसने कम्बल ओढ़ रखा है। फिर भी उसका शरीर काँप रहा है। शीताधिक्य के कारण वह बिरहे की सारी तानें भूल गया है और जल्दी-जल्दी घर पहुँचना चाहता है। अँधेरा बढ़ता जा रहा है। प्रकृति के सारे दृश्य तमसावृत होते जा रहे हैं। शीत के प्रताप से घाट-बाट सभी निपट निर्जन बन गये हैं।

इसी युग की रचना 'वसन्त-पथिक' है। इसके भी आदि के १० हरिगीतिका छंदों में वसन्त का वर्णन हुआ है।

कोई पथिक पहाड़ी से नीचे उतर रहा है। वह कभी टहनियों के बीच से झुकता हुआ निकलता है, कभी झाड़ियों में उलझकर रुक जाता है। जब वह पहाड़ी से नीचे उतर आया, तब उसे दूर-दूर तक वन की घनी रम्यस्थली दिखाई पड़ी——

कचनार कलियों से लदे, फूले समाते हैं नहीं
नंगे पलासों पर पड़ी हैं, राग की छीटें कहीं
ऊँची कँटीली झाड़ियाँ भी, पत्तियों से हैं मढ़ीं
हलकी हरी, अब तक न जिन पर, श्यामता कुछ भी चढ़ी
सुंदर दलों के बीच में, काँटे दिये हैं, थामना
जैसे भलों के संग में, खोटे जनों की कामना
पौधे जिन्हें पशु नोचकर, सब ओर ठूठे कर गये
वे भी सँभलकर फेंकते हैं, फिर हरे कल्ले नये
वे पेड़ जिन पर बैठते, कौवे लजाते थे कभी
कैसे चहकते आज हैं, उन पर जमे पक्षी सभी
कटते हुए अब खेत भूरे, सामने आने लगे
जिनमें गिरे कुछ भाग से ही, भाग चिड़ियों के जगे

ये तो कवि की प्रारंभिक रचनाएँ हैं। प्रकृति सम्बन्धी इनकी अत्यन्त प्रौढ़ रचनाएँ निम्नांकित हैं जो १९२४-२९ ई० के बीच प्रकाशित हुईं——

१. प्रकृति प्रबोध——माधुरी, अप्रैल १९२४
२. आमंत्रण——माधुरी, अक्टूबर १९२५
३. हृदय का मधुर भार——माधुरी——मार्च, २५ अप्रैल २७; अगस्त-सितंबर १९२८
४. रूपमय हृदय——माधुरी, मई १९२८
५. मधु स्रोत——सुधा, अक्टूबर १९२९

'आमंत्रण' में कवि ने प्राकृतिक दृश्यों की ओर से कवियों को आमंत्रण दिलवाया है कि कवि लोगों, हमें कहाँ भूले हो, हमें भी अपनी रचना का विषय बनाओ। यह पाँच सवैयों की एक वाक्य की रचना है, पाँचवें सवैये का चतुर्थ चरण ही मुख्य उपवाक्य है, शेष सभी चरण स्थानवाचक क्रियाविशेषण उपवाक्य हैं। अंतिम सवैया लें——

दल-राशि उठी खरे आतप में हिल, चंचल चौंध मचाती जहाँ
उस एक हरे रंग में हलकी, गहरी लहरी पड़ जाती जहाँ
कल कर्बुरता नभ की प्रतिबिम्बित, खंजन में मन भाती जहाँ
कविता वहाँ हाथ उठाए हुए, चलिए कविबृन्द ! बुलाती वहाँ

'हृदय का मधुर भार' बाल्यावस्था के विन्ध्य-वन-विहार की स्मृतियों का प्रतिविम्ब है।

भूरी हरी घास आसपास, फूली सरसों है,
पीली पीली बिन्दियों का चारों ओर है पसार
कुछ दूर विरल, सघन फिर, और आगे
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार
गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग राशि-रेखा घनी
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर घार
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभमंडल से
धुँधली-सी नीली नभमाला उठी धुआँधार।

इसी के पीछे कवि को पुरंदर-लोक का आभास मिलता है। यही कवि का प्रकृतिगत रहस्यवाद है—

लगती हैं चोटियाँ वे अति ही रहस्यमयी,
पास ही में होगा बस यहीं कहीं देवलोक
बार-बार दौड़ती है दृष्टि उस धुँधली-सी
छाया बीच, ढूँढने को अमर-विलास-ओक
ओट में अखाड़े वहीं होंगे वे पुरंदर के,
अप्सराएँ नाच रही होंगी जहाँ ताली ठोंक
सुनने को सुंदर संगीत वह मंद-मंद
बुद्धि की नहीं है अभी कहीं कोई रोक टोक।

यद्यपि हम गाँव की धरती छोड़ शहरों के हो गये हैं, पर कवि एक बार पुनः उसी प्रकृति-प्रांगण में बसने की कामना करता है—

ए हो बन बंजर कछार हरे-भरे खेत,
विटप विहंग, सुनो अपनी सुनावें हम
छूटे तुम, तो भी चाह चित्त से न छूटी यह,
बसने तुम्हारे बीच फिर कभी आवें हम
सड़े चले जा रहे हैं, गड़े अपने ही बीच,
जो कुछ बचा है, उसे बचा कहाँ पावें हम
मूल रस-स्रोत से हमारे वही, छोड़ तुम्हें,
सूखते हृदय सरसाने कहाँ जावें हम।

प्रकृति का एक रम्य चित्र देखें—

देखते हैं जिधर उधर ही रसाल पुंज
मंजु मंजरी से मढ़े फूले न समाते हैं
कहीं अरुणाभ, कहीं पीत पुष्पराग प्रभा,
उमड़ रही है, मन मग्न हुए जाते हैं
कोयल उसी में कहीं छिपी कूक उठी, जहाँ—
नीचे बाल वृन्द उसी बोल से चिढ़ाते हैं

छलक रही है रंग माधुरी छकाती हुई,
सौरभ से पवन झकोरे भरे आते हैं।

यह तो रहा वसन्त का सरस चित्र, अब ग्रीष्म का भी एक कठोर चित्र लें।—

प्रखर-प्रणय-पूर्ण दृष्टि से प्रभाकर की,
लचक लपट-भरी भूमि भभराई है
पीवर पवन लोट-लोट धूल धूसरित
झपट रहा है, बड़ी धूम के बधाई है
सूखे तृण-पत्र लिये कहीं रेणु-चक्र उठा,
घूर्णित प्रमत्त देता नाचता दिखाई है
झाड़ औ झपेट झेप झूमते खड़े हैं पेड़,
मर्मर-मिलित हू-हू दे रहा सुनाई है।

ऐसे ग्रीष्मकाल में एक पेड़ और उसके नीचे आँख मूँदे जुगाली करती गाय को देखें—

मीठी मटियाली अंतरिक्ष की प्रभा में रमा
एक है अकेला पेड़, ताने हरे पत्रजाल
जीव धर्म-पालन में अचल खड़ा है वह,
आये गये प्राणियों के हेतु घनी छाया डाल
पीवर गँठीली ऐंठी जड़ों के समीप बैठी
करती जुगाली आँख मूँदे एक गाय लाल
भेद-भाव-हीन यह आश्रय पुनीत, यहीं
बैठ क्यों न काटें हम लोग कुछ क्लांति-काल।

यहीं एक श्वान भी आश्रय लेना चाहता है—

देखते हैं श्वान एक धूप में खड़ा है आगे
आश्रय के हेतु जिसे वृक्ष ने बुलाया है
साहस न होता उसे छाया में बढ़ाए पैर,
जहाँ क्रूर आसन मनुष्य ने जमाया है
पूँछ में विनीत वीज्यमान प्रेम-व्यंजना है,
लगी दीन दृष्टि, लटी लोभमयी काया है
एक दुतकार को दबाती चुचकारें बढ़ीं—
यहाँ जगी प्रीति, वहाँ भगी भीति छाया है।

अंततः कवि उस वृक्ष को सम्बोधित करते हुए कहता है—

काया की न छाया यह केवल तुम्हारी द्रुम,
अंतस् के मर्म का प्रकाश यह छाया है
भरी है इसी में वह स्वर्ग-स्वप्न-धारा कभी
जिसमें न पूरा पूरा नर बह पाया है

शांति सार शीतल प्रसार यह छाया धवल
प्रीति सा पसारे इसे, कैसी हरी काया है
हे नर, तू प्यारा इस तरु का स्वरूप देख,
देख फिर घोर रूप तूने जो कमाया है।

कुत्ता उसी पेड़ के नीचे आकर बैठ गया—

पूँछ को हिलाता चुपचाप वह आया थका,
बैठ गया सारा डील डाल वहीं हार के
हाँफता है खोले मुँह, विरल धवल दंत—
बीच, लंबी लाल जीभ बाहर पसार के
ऊपर को मुँह किए ताकता है हमें कभी
नीचे दबा भाषा-हीन भावना के भार के
'क्रूरता न करें, बड़ी कृपा क्या हमारी यही ?
हम तुम दोनों हैं भिखारी एक द्वार के।

इसी प्रकार कविता में पपीहा और बानर पर भी कवित्त है। कवि ने अपने सिद्धान्त के अनुसार शैल, नदी, वृक्ष, कीट, पतंग, पशु-पक्षी सभी को अपने काव्य का आलंबन दिया है। वह मनोरम दृश्यों का तमाशबीन मात्र नहीं है, कठोर भी उसे समान रूप से प्रिय है।

८. रहस्यवाद

शुक्ल जी रहस्यवाद को लड़कों का खेलवाड़ नहीं समझते थे। यह साधना की वस्तु है। आधुनिक कविता में जब नौसिखिए कवि रहस्यवादी रचनाएँ प्रस्तुत करने लगे, तब उन्होंने इसे पाखण्ड कहा और इस रहस्यवाद के विरुद्ध 'काव्य में रहस्यवाद' नामक एक अत्यंत विद्वत्ता-पूर्ण ग्रंथ ही लिख दिया। अपने उन विचारों को उन्होंने कविता में भी व्यक्त किया है। 'पाखंड-प्रतिषेध' ऐसी ही १० कवित्तों की एक रम्य रचना है—

काव्य में 'रहस्य' कोई 'वाद' है न ऐसी, जिसे
लेकर निराला कोई पंथ ही खड़ा करे।
वह तो परोक्ष रुचि-रंग की ही झाईं है, जो
पड़ती है व्यक्त में, अव्यक्त बिंबता धरे।।
दृष्टि जो हमारी कर देती है विलीन, किसी—
धुँधली-सी माधुरी में, लोक-काल से परे।
किन्तु जो इसी के सदा झूठे स्वाँग रचे, उसे
हाँक दो, न घूम घूम खेती काव्य की चरे।।५।।

चिढ़कर वे आगे कहते हैं—

पूरब में शुद्ध रूप में था यह यहाँ, वहाँ—
पच्छिम में पहुँचा पखंड के प्रमाद तक।

अंगरा की भूमि बीच लोक ने जो ढोंग रचा,
देखते हैं आज यहाँ उसी की चढ़ी है झक ।।
जूठा और पुराना यह पश्चिमी पखंड ले के,
होती है नवीनता की डींग-भरी बक-बक ।
योरप के किसी किसी कोने में रहे तो रहे,
रोकना है किन्तु यहाँ इसे आज भरसक ।।६।।

इन रहस्यवादी कवियों पर वे चिढ़कर कटाक्ष करते हैं—

भाषा है न भाव है न भूति भाँपने को आँख
शिक्षा की सुभिक्षा भी न पाई कभी एक कन
गाँथते हैं गर्व-भरी गुरु ज्ञान-गूदड़ी वे,
चुने हुए चीथड़ों से, किए ब्रह्म-लीन मन ।।
कहीं नंग-भंग-पद चकती चमक रही,
कहीं अंगरेजी अनुवाद का अनाड़ीपन ।
ऐसे सिद्ध साइयों की माँग मतवालों में है,
काव्य में न झूठे स्वाँग खींचते कभी हैं मन ।।९।।

'हृदय का मधुर भार' में भी वे रहस्यवाद की खिल्ली उड़ाते हुए कहते हैं—

प्रकृति के शुद्ध रूप देखने को आँखें नहीं—
जिन्हें, वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं ।
झूठे-झूठे भावों के आरोप से आछन्न उसे
करके पाखंड-कला अपनी दिखाते हैं ।।
अपने कलेवर की मैली औ कुचैली वृत्ति
छोप के निराली छटा उसकी छिपाते हैं ।
अश्रु, हास, ज्वर, ज्वाला, नीरव रुदन, नृत्य
देख अपना ही तंत्री तार वे बजाते हैं ।।

—झपका, छंद ६,

९. परिहास-वृत्ति

शुक्ल जी अत्यन्त गम्भीर व्यक्ति थे। उनकी मुसकान भी उनकी मूँछों में छिपी रहती थी और मात्र अधरों को किंचित् रंग जाती थी। जिस प्रकार गम्भीर समीक्षाओं में वे यत्र-तत्र परिहास कर उठते हैं, उसी प्रकार कविता में भी उन्हें 'हृदय का मधुर भार' के अन्तर्गत मुसकुराने का थोड़ा अवसर मिल गया है। यह हास्य भी 'स्मित' ही है।

कुछ लोग किसी वस्तु-विशेष का नाम लेने से चिढ़ उठते हैं। ऐसे लोगों को बालक-गण बहुत तंग करते हैं। ऐसे ही एक भगत जी 'सीताराम-सीताराम' कहने से चिढ़ जाते हैं। उनका चित्र देखिए—

इतने में बकते और झकते से बूढ़े बूढ़े
भगत जी एक इसी ओर बढ़े आते हैं।
पीछे-पीछे लगे कुछ बालक चपल, उन्हें—
'सीताराम-सीताराम' कहके चिढ़ाते हैं।
चिढ़ने से उनके, चिढ़ाने को चहक और—
दल को वे अपने बढ़ाते चले जाते हैं।
कई एक कुक्कुर भी मुँह को उठाए, साथ—
लगे-लगे, कंठस्वर अपना मिलाते हैं।।

उन बच्चों को भगत जी को चिढ़ाता देखकर कुछ ललनाएँ ऊपर से तो भगत जी से सहानुभूति प्रकट करती हुई कहती हैं—'कैसे दुष्ट लड़के हैं?' पर आँखों से इशारा करती जाती हैं कि और भी चिढ़ाओ—

कई ललनाएँ औ कुमारियाँ कुतूहल से,
ठमक गई हैं उसी पथ के किनारे पर।
मंदिर के सुथरे चबूतरे के पास बढ़,
सिर से उतार घट कलश हैं देती धर,
हावमयी लीला यह देख के भगत जी की,
भीतर ही भीतर विनोद से रही हैं भर।
मुख से तो कहती हैं, "कैसे दुष्ट बालक हैं,"
लोचनों से और ही संकेत वे रही हैं कर।

तब तक एक बालक ने कहा 'राधेश्याम-राधेश्याम'। भगत जी उस पर खुश हो ही रहे थे कि वह बालक पुनः कह उठा—'सीताराम-सीताराम'। भगत जी लाठी तान कर मारने दौड़े—

सामने हमारे जब आया वह दल, तब—
भगत के पास जाके एक बोला—"राधेश्याम"
कृपा-दृष्टि अभी पूरी होने भी न पाई थी कि
चट फिर बोल उठा, "सीताराम-सीताराम"
लाठी तान सिर को झुलाते हुए झुक पड़े
गालियों के साथ झोंक दादा औ पिता के नाम
कंधे से दुपट्टा छूट पड़ा लहराता बढ़े—
कुत्तो जो लपक, लिया लोगों ने झपट थाम।

घूमता-घामता शुक्ल जी का शैलानी दल एक गाँव में पहुँच गया। एक भले-मानस के द्वार पर सब लोग बैठ गये। ईख के रस से उन सबका भरपूर स्वागत हुआ। इसी बीच एक व्यक्ति ने शुक्ल जी के दल के एक व्यक्ति प्रमोद जी को पहचान लिया। उनसे नाम-ग्राम

पूछा और जाकर घर के भीतर देवियों से कह दिया कि यह पड़ोसी गाँव भँडसर के अमुक व्यक्ति के दामाद हैं। फिर क्या था—पड़ोसी-गाँव का नाता मानकर महिलाओं ने उनसे अपना रिश्ता जोड़ लिया और रंग में बोर दिया—

बैठे हुए मुदित 'प्रमोद जी' को बार बार
देख देख एक कुछ सोचता सा जाता है
नाम धाम पूछ फिर धीरे से खिसक गया,
बोले हम, 'देखो, यह कौन रंग लाता है ।।३९।।
कानाफूसी करती नवेली कई देख पड़ीं,
मंद-मंद हंसी न दबाई दब पाती है
ज्यों ही बातचीत में हमारा ध्यान बँटा, त्योंही—
पास ही हमारे झनकार कुछ आती है
साथ ही उसी के चट ऊपर हमारे छूट
झोंक भरी पीत-रंग-धारा ढल जाती है
उठ पड़े रंजित बदन झटकार, हम,
हास की तरंग उठ रस में डुबाती है।।४०।।
पास ही श्वसुर-ग्राम 'महशर' नाम यहीं
कहीं है प्रमोद जी का, जानते थे हम यह
पूछने से एक ने उठा के हाथ चट उन
पर्वतों के अंचल की ओर कहा "देखो वह"
नाता एक ग्राम से जो होता है किसी का, उसे
आसपास मानते हैं ममता के साथ वह
देश के पुराने उस जीवन की धारा अभी
सूखी नहीं यहाँ, क्षीण होकर रही है वह।।४१।।

रस रंग की यह रंग-रस-धारा स्मित के भीतर आयेगी। इसी के आगे मर्कट कथा भी है। कपीश जी खाने की पोटली ही उठा ले गये। यह प्रसंग भी स्मित कर ही है।

१०. गीतिकाव्य

शुक्ल जी की एक रचना 'अन्योक्तियाँ' शीर्षक है, जो जनवरी १९१३ की 'लक्ष्मी' में प्रकाशित है। यही एक मात्र रचना मुक्तकों की है। इसमें छह मुक्तक हैं। इनमें केवल एक अन्योक्ति है, जो भर्तृहरि के एक श्लोक का अनुवाद है। यह अन्योक्ति चातक पर है और शार्दूल विक्रीडित छंद में है।

हे हे चातक सावधान मन से, बातें हमारी सुनो,
आवें बादल जो अनेक नभ में, होवें न सो एक से।

कोई तो जल दान देत जग को, कोई वृथा गर्जते,
प्यारे हाथ पसार आप सबसे, भिक्षा न माँगा करें।।

विपत्ति के दिनों में सुख भी दुःख हो जाता है—

मधुर कोकिल शब्द सुना रही
पवन आ मलयाचल से रहा,
विरह में यह भी दुःख दे रहे
विपति के दिन में सुख दुःख हो।

चाह, विचार, प्रसन्नता सभी मन को चंचल बनाने वाले हैं। ये सभी प्रेम के सेवक हैं और प्रेमाग्नि को प्रज्वलित करते रहते हैं—

विविध चाह विचार प्रसन्नता
चलित जो करते मन राज को,
सब सुसेवक हैं इक प्रेम के
ज्वलित ही करते उस अग्नि को।

धैर्य की महत्ता सूचित करते हुए यह छंद है—

हा धैर्य ! धैर्य ! ! हे हृदय धैर्य धरि लीजै
करिके जल्दी शुभ काज नाश नहिं कीजै,
जग में जिन जिन ने महत्कार्य कीन्हें हैं
सबने धैर्यहि हिय में आसन दीन्हें हैं।

कर्मवीरता की ओर प्रेरित करता हुआ कवि कहता है—

उठिए ! उठिए ! ! अब कर्मवीर बनना है
होवे कोई प्रतिकूल, नहीं डरना है,
जब तक है तन में प्राण, कर्म करना है
'कर्तव्यपूर्ण' कहलाकर फिर मरना है।

लक्ष्य सदा ऊँचा रखना चाहिए—

उद्देश्य एक अपना ऊँचा बनाओ
कर्तव्य पूर्ण करने में चित्त लाओ,
विश्वास कर्म फल में करते रहोगे
होंगे अवश्य संतुष्ट, सुखी रहोगे।

ये सारे नीतिमय उपदेश द्विवेदीयुग की काव्यधारा के पूर्ण अनुकूल हैं।

११. हिन्दी-प्रेम

हिन्दी के प्रति शुक्ल जी का अनुराग लड़कपन ही में हो गया था। इसी हिन्दी के अनुराग के कारण वे 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' (१९१२), 'भारतेंदु जयंती' (१९१३) 'श्रीयुत बाबू

देवकीनंदन खत्री का वियोग' (१९१३), 'हमारी हिन्दी' (१९१७ ई०) और 'गोस्वामी जी और हिन्दू जाति' (१९२७) जैसी कविताएँ लिख गये।

शुक्ल जी मानते हैं कि जो कुछ भी हिन्दी में है, वही हमारा है, वही हमारे काम का है, वही हमारा गौरव है—

उसमें जो कुछ रहेगा, वही हमारे काम का
उससे ही होगा हमें गौरव, अपने नाम का।

हम हिन्दी के ही बल से उठ सकते हैं, आगे बढ़ सकते हैं, अंग्रेजी के बल से नहीं।

उसे छोड़कर और के बल उठ सकते हैं नहीं,
पड़े रहेंगे, पता भी नहीं लगेगा फिर कहीं।

अंग्रेजी पढ़ने वाले अपने को स्वदेश बन्धुओं से अलग किसिम का जीव समझने लगते हैं। यह बिलगाव की भाषा है—

भोले भाले देश भाइयों से जरा—
भिन्न लगें, यह भाव अभी जिसमें भरा।
जकड़ मोह से गए, अकड़ कर जो तने
बनी बना बदल बहुत बिगड़े बने,
बरते नाना रूप जो, बोली अद्भुत बोलते
कभी न कपट-कपाट को, कठिन कंठ के खोलते।।४।।

जो अपने को नहीं अपना सकते, उन अंग्रेजी पढ़े-लिखों से क्या आशा की जा सकती है—

अपनों से हो और, जिधर वे जा बहे
सिर ऊँचे निज नहीं, पैर पर पा रहे,
इतने पर भी बने चले जाते बड़े
उनसे जो हैं आस पास उनके पड़े।
अपने को भी जो भला, अपना सकते हैं नहीं
उनसे आशा कौन सी, की जा सकती हैं कहीं ५।।

यह छह छंदों की सशक्त रचना है।

१२. छन्द

शुक्ल जी ने 'मधु स्रोत' में मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छंद प्रयुक्त किये हैं। मात्रिक छंदों का हिन्दी के प्रवृत्ति के अनुसार अधिक प्रयोग हुआ है और वर्णिक छंदों का कम।

मात्रिक-सम छंद

१. **पद्धरि**—१६ मात्रा, अंत में जगण। 'भारत' और वसंत' में १० पद्धरि छंद अंत में हैं।

२. **चौपाई**—१६ मात्रा, अंत में एक लघु न पड़ना चाहिए, दो लघु मात्राएँ पड़ सकती हैं। 'रूपमय हृदय' और 'मधु स्रोत' में इसका प्रयोग हुआ है।

३. **राधिका**––१३, ९ के विराम से २२ मात्राएँ। 'अन्योक्तियाँ' में दो छंद हैं।

४. **कुंडल**––१२, १० के विराम से २२ मात्राएँ, अंत में दो ग. ल। 'प्रकृति प्रबोध' के अंतिम ४ छंद कुंडल हैं।

५. **रोला**––११, १३ के विराम से २४ मात्राएँ। मनोहर छटा, रानी दुर्गावती, वसंत, प्रेम प्रताप रोला छंदों में विरचित हैं। 'प्रकृति प्रबोध' तथा 'भारत और वसंत' में भी आंशिक प्रयोग हुआ है।

६. **रूपमाला**––१४, १० के विराम से २४ मात्राएँ। अंत में गुरु। 'बाला विनय' और 'हर्षोद्गार' इसी छंद में विरचित हैं। 'भारत और वसंत' में भी छः रूपमाला हैं।

७. **सरसी**––प्रत्येक चरण में १६, ११ के विराम से ३० मात्राएँ। अंत में गुरु लघु। 'भारतेंदु जयंती' सरसी में रचित। 'हृदय का मधुरभार' का प्रारम्भ भी इसी से होता है।

८. **सार**––१६, १२ के विराम से २८ मात्राएँ। अंत में दो गुरु। 'फूट' और 'गोस्वामी जी और हिन्दू जाति' में पूर्णतः तथा 'भारत और वसंत' में अंशतः प्रयोग हुआ है।

९. **हरिगीतिका**––१६, १२ के विराम से प्रत्येक चरण में २८मात्राएँ। ५वीं,१२वीं, १९वीं और २६वीं मात्राएँ सदा लघु। 'वसंत पथिक' इसी में रचित। 'भारत और वसंत' में भी दो हरिगीतिका छंद हैं।

१०. **वीर**––१६, १५ के विराम से प्रत्येक चरण में ३१ मात्राएँ। अंत में ग. ल। 'आशा और उद्योग' में प्रयोग हुआ है।

मात्रिक अर्द्धसम छंद

१. **बरवै**––विषम चरणों में १२-१२ और सम चरणों में ७-७ मात्राएँ। सम चरणों के अंत में ग. ल। 'विरहसप्तक' और 'याचना' में प्रयोग।

मात्रिक विषम छंद

शुक्ल जी ने प्राचीनकाल के सर्वमान्य मात्रिक छंद छप्पय और कुंडलिया की रचना नहीं की है। पर उन्होंने छप्पय की पद्धति पर तिलोकी और उल्लाला छंदों के मेल से एक नया छंद रचा है। तिलोकी ८, १३ या ११, १० के विराम से २१ मात्राओं का छंद है। यह छंद 'हमारी हिन्दी' में प्रयुक्त है। इसी प्रकार 'याचना' और 'श्रीयुत बाबू देवकीनंदन खत्री का वियोग' शीर्षक कविताएँ भी विषम छंदों में हैं।

वर्णिक गण वृत्त

१. **द्रुतविलंबित**––न भ भ र। 'शिशिर पथिक', 'वंदना' में प्रयुक्त। दोनों रचनाएँ अतुकांत।

२. **वंशस्थविलम्**––ज त ज र। 'भारत और वसंत' में १ छंद।

३. **वसंततिलका**––त भ ज ज ग ग। 'भारत और बसंत' में १ छंद तथा 'देशद्रोही को दुतकार' के सभी छंद।

४. **मालिनी**––न न म य य। 'भारत और वसंत' में ४ छंद।

५. **मंदक्रांता**––म भ न त त ग ग। 'शिशिर पथिक' का अंतिम छंद।

६. **शार्दूल विक्रीडित**—म स ज स त त ग। १२, ७ पर मति। एक अन्योक्ति।

७. **स्रग्धरा**—म र भ न य य य। ७, ७, ७ पर यति। 'भारत और वसंत' में १ छंद।

इन ७ गणवृत्तों में मुख्य दो ही हैं—१. द्रुत विलंबित २. वसंततिलका। शेष तो एकाध ही हैं।

सवैया

१. **मदिरा**—७ भ ग। 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र' में तीन सवैये।

२. **सुंदरी**—८ स। आमंत्रण में ५ सवैये।

कवित्त

१. **घनाक्षरी**—१६, १५ के विराम से ३१ वर्ण। अंतिम वर्ण मुक्त। 'हृदय का मधुर भार' में ५९ एवं 'पाखंड प्रतिषेध' में ३ घनाक्षरी हैं।

२. **रूपघनाक्षरी**—१६, १६ के विराम से ३२ वर्ण। अंतिम वर्ण लघु। 'हृदय का मधुर भार' में २२ एवं 'पाखंड प्रतिषेध' में ७ रूपघनाक्षरियां हैं।

२७ रचनाओं में से २५ में एक ही एक छंद प्रयुक्त हैं। 'भारत और वसंत' में कुल १० छंद प्रयुक्त हैं—

(क) सार, हरिगीतिका, रूपमाला, रोला, पद्धरि—५ मात्रिक छंद।

(ख) मालिनी, वंशस्थविलम्, वसंततिलका, स्रग्धरा और द्रुतविलंबित—कुल ५ वर्णिक गण वृत्त गीतिनाट्य होने से छंद परिवर्तन असमीचीन नहीं है। 'शिशिर पथिक' में ३४ द्रुतविलंबित हैं। अंतिम छंद पैंतीसवाँ मंदाक्रांता है। यह उपसंहारात्मक छंद है और बहुत अच्छा लगता है। केवल 'प्रकृति प्रबोध' एक ऐसी रचना है जिसके प्रारम्भ में १४।। छंद रोला के हैं और अंत में ४ छंद कुंडल के। यहाँ छंदपरिवर्तन सौष्ठवपूर्ण नहीं है और अकारण है।

१३. रस और अलंकार

शुक्ल जी रसवादी हैं, अलंकारवादी नहीं। इसलिए कृत्रिम और चमत्कारपूर्ण अलंकारों को उन्होंने स्थान नहीं दिया है। अनुप्रास सहज रूप में आये हैं। श्लेष, परिसंख्या, यमक आदि से वे दूर ही रहे हैं। अन्य अलंकार भी कम ही हैं।

रस की दृष्टि से 'शिशिर पथिक' और 'वसंत पथिक' में श्रृंगार रस 'रानी दुर्गावती' में वीर रस, 'देशद्रोही को दुतकार' में रौद्र-रस, 'भारत और वसंत' में करुण आदि रस देखे जा सकते हैं। 'हृदय का मधुर भार' में हास्य रस भी है। 'प्रकृति-बोध' में अद्भुत रस है।

१४. दोष-दर्शन

(१) 'पवन' शब्द का स्त्रीलिंग और पुल्लिग दोनों रूपों में प्रयोग। यह वस्तुतः पुल्लिग ही है।

स्त्रीलिंग रूप—

"भई प्रकृति हू मौन, **पौन हू सोवन लागी**"

—मनोहर छटा, पंक्ति ९

पुल्लिंग रूप—

"पवन आ मलयाचल से रहा"

—अन्योक्तियाँ १, पंक्ति २

(२) कोकिल शब्द पुल्लिंग है, कोकिला और कोयल स्त्रीलिंग। शुक्ल जी ने कोकिल का प्रयोग स्त्रीलिंग में किया है—

"मधुर कोकिल शब्द सुना रही"

—अन्योक्तियाँ १, पंक्ति १

(३) खड़ीबोली में मेटि (मेटकर), जाय (जाकर), जाउँ (जाऊँ) जैसे प्रयोग—'प्रेमप्रताप' से उद्धरण—

(क) द्वेषराग को मेटि, सभी में ऐक्य बढ़ाया।

(ख) दम्भ आदि को मेटि, हृदय को कोमल करना

(ग) सागर में सब भरी जाय जग की मिलती हैं

(घ) प्रेम! प्रेम!! हे प्रेम!!! जाउँ तेरी बलिहारी।

निम्नांकित चरण में—

(४) 'स्थान' शब्द का उच्चारण 'अस्थान' करने पर ही छंद-प्रवाह ठीक होता है—

"उस भाषा में जो है इस स्थान की"

—हमारी हिन्दी, छंद १

(५) 'हर्षोद्‌गार' में अयोध्या की महिमा वर्णित है। इसमें एक पंक्ति है—

"आदि कवि कल कंठ ते प्रगटी गिरा जहँ आय"

आदि कवि वाल्मीकि की कवि-वाणी गंगा और तमसा के संगमस्थल पर फूटी थी, न कि अयोध्या में। अयोध्या में एक अन्य वाल्मीकि अवश्य हुए थे, जो लोकगायक थे, गुप्तकाल में हुए थे और जो सुपर्ण वाल्मीकि के नाम से जाने जाते थे। यह हरिजन थे और इंद्रप्रस्थ से पाटलिपुत्र तक रामकथा लोकवाणी में गाते फिरते थे। 'एकदा नैमिषारण्ये' में अमृतलाल नागर ने अयोध्या में जिन वाल्मीकि का उल्लेख किया है, वे यही हैं।

उपसंहार

जैसा कि पहले प्रारम्भ में ही कहा गया है, शुक्ल जी का समीक्षक, आचार्य, निबन्ध-लेखक और इतिहासकार का स्थान इतना ऊँचा है कि उनकी छाया भी दूसरे के लिए छू पाना कठिन है। कवि तो अनेक हुए हैं और उनसे बड़े-बड़े हुए हैं। इसीलिए उनके कवि रूप को महत्ता नहीं प्राप्त हो सकी। फिर भी प्रकृति सम्बन्धी उनकी जो रचनाएँ हैं और प्रकृति के सम्बन्ध में उनका जो दृष्टिकोण है, हिन्दी कविता के इतिहास में वे उन्हें एक विशिष्ट

स्थान का अधिकारी बनाते हैं, इसमें सन्देह नहीं। उनकी कविता और आलोचना का दूसरा उच्च-स्वर लोकमंगल है—

बोल रे पपीहे! तेरे कंठ में हमारी प्यास,
लोक-याचना है तेरी गूँजती पुकार में।
—हृदय का मधुर भार, भाषा २३, छंद १३

यह लोक-याचना (लोक के लिए याचना) भी लोक-मंगल ही है। शुक्ल जी की कविता में कवि और आलोचक, भावुक और भावक एक हो गये हैं—एक दूसरे में अंतःलीन।

सुधवै,
वाराणसी

रामचन्द्र शुक्ल जी की कविताएँ : एक संक्षिप्त चर्चा

डॉ० एन० रवीन्द्रनाथ

⊙

रामचन्द्र शुक्ल जी की सबसे पहली प्रकाशित रचना एक कविता है, जो सन् १९०२ की 'सरस्वती' में 'मनोहर छटा' शीर्षक से निकली थी। किन्तु यह केवल आकस्मिक नहीं है कि शुक्ल जी के साहित्यिक जीवन का सूत्रपात कविता से हुआ। उनकी सम्पूर्ण व्यावहारिक आलोचना में प्रायः सर्वत्र ही कवि-सुलभ भाव-मग्नता और तरलता का रहना यह सिद्ध करता है कि विवेचन-विश्लेषण की निबिड़ता में भी उनका कवि-रूप प्रच्छन्न नहीं रह सका है।

शुक्ल जी के काव्य-साहित्य के दो वर्ग हैं––पहला मौलिक और दूसरा अनूदित। उनकी मौलिक कविताओं का एक संकलन 'मधु स्रोत' शीर्षक से 'नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने प्रकाशित किया है। इस संकलन में कुल मिलाकर २७ कविताएँ हैं। ये सारी कविताएँ 'सरस्वती', 'माधवी', 'इन्दु', 'सुधा', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'बाल हितैषी', 'लक्ष्मी', 'आनन्द कादम्बिनी', 'बाल प्रभाकर' जैसी तत्कालीन पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी थीं। संकलित कविताओं की रचना का अवधि-विस्तार सन् १९०२ से सन् १९२९ तक माना गया है।

शुक्ल जी की मौलिक कविताओं को प्रतिपादित विषय की दृष्टि से दो कोटियों में विभक्त कर सकते हैं। पहली देश-जाति-प्रेम सम्बन्धी कविताओं की है और दूसरी प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कविताओं की। शुक्ल जी का भावुक कवि-हृदय देश-प्रेम की महत्त्वपूर्ण भावना से ओतप्रोत था। अपने समय में जन्म-भूमि को अवनति की ओर ले जाने वाली परिस्थितियों का मौन होकर सहन वे कर नहीं सकते थे। आपसी फूट, ईर्ष्या, द्वेष तथा कलह की भावना को छोड़कर एकता के साथ आगे बढ़ने का अनुरोध देशवासियों को उन्होंने अपनी 'फूट' में किया है। प्रस्तुत-कविता का सन्दर्भ सूरत कांग्रेस की फूट और कलह है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं––

'किन्तु आज बाईस वर्ष तक कितने झोंके खाती।
अन्यायी को लज्जित करती न्याय छटा छहराती॥
यह जातीय सभा हम सबकी न्याय ठेलती आयी।
हाय फूट तेरे आनन में वह भी आज समायी॥
यही समझते थे दोनों दल पृथक पंथ अनुयायी।
होकर भी उद्देश्य हानि को सह न सकेंगे भाई॥

किन्तु देख सूरत की सूरत भगे भाव यह सारे।
आशंका तब तरह-तरह की मन में उठी हमारे॥
अब तो कर कुछ कृपा कि जिससे एक सभी फिर होवें।
अपने मन की मैल देश की अश्रु-धार से धोवें॥
जो-जो सिर पर बीत रही उसको वेगि भुलावें।
मौन मार निज मातृभूमि की सेवा में लग जावें॥

'भारत और बसन्त' देश-भक्ति विषयक शुक्ल जी की एक सारगर्भित नाटकीय कविता है। प्रस्तुत-कविता में बसन्त के सम्मुख भारत अपनी दीनहीन दशा का वर्णन करता है, जिसे सुनकर बसन्त भारत को विगत गौरव का स्मरण दिलाता है। शुक्लजी के मतानुसार अतीत की स्मृति में मनुष्य के लिए जो स्वाभाविक आकर्षण है, वही मुक्तिलोक है, जहाँ मानव अनेक प्रकार के बन्धनों से छूटकर अपने विशुद्ध रूप में विचरता है। 'भारत और बसन्त' का पाठक एक ऐसे मुक्ति-लोक में अवश्य विचरण करेगा। कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

बसन्त से भारत कहता है—

कौन आस धरि, हे बसन्त अब आजु फेरि तुम आये।
हरे हरे द्रुमतल बहु लीने सुमन भार लदवाये?
वे दिन सपने भये हाय! अब आवहु तुम यहि द्वारे।
सुख संपत्ति से भरे हमारे सुत उमंग के मारे॥
शीतल सिंचित उद्यानन मुँह तुम कहँ जाइ टिकावे।
नर नारी जहँ विविध भाँति तुहि सखा पूजि सुख पावें॥
गये दिनन की बात पुरानी क्यों सन्मुख तुम लावत।
क्यों हतभागे दुःखी प्रान को आइ आइ कलपावत?
बिचरहु जाइ और देशन में पड़ी मही है सारी।
मोकहँ मृतक मानि मन से निज, सब सुधि देहु बिसारी॥
समुझि लेहु सागर जल भीतर भारत गयो समाई।
अथवा रज ह्वै के भूतल से मिल्यौ पवन में जाई॥

इसका उत्तर बसन्त यों देता है—

"विविध विद्या कला कौशल जगत् में फैलाय।
कियो अपने जान तो उपकार ही इन हाय।
चीन औ, तातार, तिब्बत, मलय, सिंह, स्याम,
धर्म दीक्षा पाप सादर लेंइ इनको नाम॥
हा कृतघ्न प्रतीचि जन सब सीखि इन ते ज्ञान।
विभव मत में चूर सकुचत करत अब सम्मान॥
हे दयामय! द्रवहु अब तो कहत नाथ पुकारि।
बेगि भारत को उबारो दुसह दुःख सब टारि॥

इन पंक्तियों से यह भी स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष स्मृति रूप-विधान में भी रसात्मक बोध की शक्ति है, जो समीक्षक शुक्ल जी की मौलिक मान्यता है।

देशप्रेमी शुक्ल जी देश-द्रोहियों की प्रवृत्तियों का सहन नहीं कर सकते थे। देश-द्रोहियों को दुत्कार देते हुए उनका भावुक हृदय कठोर बन जाता था। 'देश-द्रोही-को दुत्कार' शीर्षक कविता से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

रे, दुष्ट, पामर, पिशाच कृतघ्न नीच।
क्यों तू गिरा उदर से इस भूमि बीच?
जा दूर हो अधम सम्मुख से हमारे।
है पाप पुँज तुव पूरित अंग सारे॥
जो देश से न हट तो हृद-देश से ही।
देते निकाल हम आज तुझे भले ही॥

शुक्ल जी को हिन्दू जाति और संस्कृति का पतन देखकर बड़ा दुःख होता था। प्रतीत होता है कि जाति और संस्कृति के उद्धान को लक्ष्य में रखकर ही उन्होंने 'गोस्वामी जी और हिन्दू-जाति' नामक कविता लिखी थी। इस कविता में उन्होंने तुलसीदास जी द्वारा गठित शील-शक्ति एवं सौन्दर्य से समन्वित राम के चरित्र को पहचानने का आह्वान दिया है। मध्यकालीन भारतीय नव-जागरण की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करके तुलसीदास जी के महान् कार्य से नवीन प्रेरणा प्राप्त करने का आदेश प्रस्तुत कविता देती है—

बल वैभव विक्रम विहीन यह जाति हुई जब सारी;
जीवन रुचि घट- चली, हट चली जग से दृष्टि हमारी;
प्रभु की ओर देखने जब हम लगे हृदय में हारे
नये पंथ कुछ चले चिढ़ाने वह तो जग से न्यारे।
उस नैराश्य गिरा से आहत मन गिर गया हमारा।
अंधकारमय लगा जगत् यह, रहा न कहीं सहारा।
× × × ×
इतने में सुन पड़ी अतुल तुलसी की वर बानी।
जिसने भगवत्कला लोक के भीतर भी पहिचानी॥
शोभा शक्ति शीलमय प्रभु का रूप मनोहर प्यारा।
दिखा लोक-जीवन के भीतर जिसने दिया सहारा॥
शक्ति बीज शुभ भव्य भक्ति वह पाकर मंगलकारी।
मिटी खिन्नता जीने की रुचि फिर कुछ जगी हमारी॥

प्रेम की अद्भुत शक्ति पर शुक्ल जी का पूरा विश्वास था और वे मानते थे कि प्रेम ही इस जगत् को स्वर्ग बना सकता है—

जग के सबही काज प्रेम ने सहज बनाये,
जीवन सुखमय किया शांति के स्रोत बहाये।

द्वेष राग को मेटि सभी में ऐक्य बढ़ाया
धन्य प्रेम तव शक्ति जगत को स्वर्ग बनाया।।

उनका यह भी विचार था कि विश्व बन्धुत्व की भावना प्रेम के द्वारा ही सत्य सिद्ध होगी। अतः उन्होंने लिखा—

मेरा तेरा छोड़ विश्व को बन्धु बनाना,
प्रेम! तुम्हीं में शक्ति सीख इतनी सिखलाना।।

देश-प्रेमी साहित्यकार प्रकृति का देश से अलग अस्तित्व मान ही नहीं सकते हैं। शुक्ल जी तो प्रकृति के सच्चे उपासक थे। यह बात कुछ दृढ़ता के साथ भी कही जा सकती है कि उनके समान प्रकृति-प्रेमी साहित्यिक बहुत कम ही हुए हैं। प्रकृति की अनुपम क्रीड़ास्थली मिर्जापुर में ही शुक्लजी के आरंभिक जीवन का अधिक भाग व्यतीत हुआ था। "जितनी गहरी सुखानुभूति उनकी उत्कृष्ट कल्पना को मिर्जापुर की सघन-वन्य वृक्षों से लदी पर्वतमालाओं, ऊँची-नीची पर्वत-स्थलियों के बीच क्रीड़ा करते हुए टेढ़े-मेढ़े नालों, सुदूर तक फैले हुए हरे-भरे लहलहाते कछारों, बड़ी-बड़ी चट्टानों के मध्य से हरहराते हुए निर्झरों, रंग-विरंगे शिला-खण्डों पर बहती हुई नदियों की निर्मल धाराओं तथा फूली-फली अमराइयों के समीप बसी हुई ग्राम्य-बस्तियों के साहचर्य से प्राप्त हुई, उतनी और कहीं से नहीं मिली थी।" शुक्लजी तन-मन से मिर्जापुर के प्राकृतिक सौन्दर्य से इतने प्रभावित थे कि उनका अपना विचार था कि—"यद्यपि मैं काशी में रहता हूँ और लोगों का यह विश्वास है कि वहाँ मरने से मुक्ति मिलती है तथापि मेरी हार्दिक इच्छा तो यही है कि जब मेरे प्राण निकलें तब मेरे सामने मिर्जापुर का यही भूखण्ड रहे।" प्राकृतिक सुषमा से इस प्रकार प्रभावित शुक्लजी की प्रकृति-सम्बन्धी कविताएँ अन्य फुटकर कविताओं की अपेक्षा अधिक आकर्षक, मोहक एवं रसयुक्त हैं।

शुक्लजी की प्रकृति-विषयक कविताओं की सबसे पहली विशेषता प्रकृति का यथातथ्य चित्रण है। समीक्षक शुक्ल जी ने प्रकृति के आलम्बन रूप के चित्रण को काफी महत्त्व दिया है। आलोचकों का यह मत था कि साहित्य-शास्त्र में प्रकृति उद्दीपन के रूप में ही गृहीत है, आलम्बन रूप में नहीं। और आलम्बन का सजीव तथा चेतनायुक्त होना आवश्यक है, जिससे वह आश्रय के भावों को ग्रहण कर सके। लेकिन प्रकृति जड़ है, ऐसी स्थिति में रसानुभूति सम्भव नहीं। शुक्लजी ने इस मत का खण्डन यह कहके किया कि बीभत्स रस में घृणा का आलम्बन जड़ भी होता है और उसके द्वारा रस-प्रतीति होती भी है, इसलिए आलम्बन के जड़त्व को लेकर विवाद उपस्थित करना ठीक नहीं है। प्रकृति के यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण में जड़ समझी जानेवाली प्रकृति ही जिसमें पेड़, पौधे आदि भी आते हैं, उपयोग में नहीं आतीं, उसमें उसके सजीव प्राणियों का भी चित्रण मिश्रित रहता है। काव्य के क्षेत्र में वस्तुतः जड़ मानी जानेवाली प्रकृति भी प्रायः जड़ के रूप में नहीं गृहीत होती है। प्रकृति पर भावनाओं का आरोप करके कविगण उसे सजीव बना देते हैं। लक्षण-ग्रन्थों में उद्दीपन के रूप में गृहीत प्रकृति भी सर्वत्र जड़ के रूप में ही चित्रित नहीं होती है। वह

हँसती, बोलती, सुनती, रूठती नृत्य करती-सी भी वर्णित होती है। कवि शुक्लजी ने इस दृष्टिकोण को अपनी कविताओं में निभाने का और सार्थक बनाने का प्रयत्न किया है। 'मनोहर छटा' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ उदाहरण के लिए प्रस्तुत हैं—

जाय मिलत निज प्रिय सरिता सों कोटि यतन करि।
प्रेमिन के पथ शोधन को दरसावत दुस्तर॥

× × ×

तरु मण्डप के रन्ध्रन बिच सों छनि-छनि आवत।
शशि किरनन को पुन्ज सरस सोभा सरसावत॥
करत अलौकिक नृत्य आय निर्मल जल माहीं।
निरखि ताहि मन मुग्ध होय थिर रहत तहाँही॥

शुक्लजी का यह विश्वास था कि प्रकृति का सहज स्वरूप ही मानव हृदय के सुषुप्त भावों को जागृत करने में समर्थ हो सकता है। अतः उन्होंने क्षुद्र एवं झूठे भावों का प्रकृति में आरोप करके उसके व्यापक और आनन्दमयी सच्चे स्वरूप एवं रूप-माधुर्य को आच्छन्न करके 'हाय-हाय' करनेवाले कवियों का विरोध किया। उन्होंने लिखा—

प्रकृति के शुद्ध रूप देखने को आँखें नहीं
जिन्हें वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं।
झूठे-झूठे भावों के आरोप से आच्छन्न उसे,
करके पाखण्ड-कला अपनी दिखाते हैं।
अपने कलेवर की मैली औ कुचैली वृत्ति
छोपके निराली छटा उसकी छिपाते हैं।
अश्रु-श्वास-ज्वार-ज्वाला नीरव रुदन, नृत्य
देख अपना ही तंत्री तार वे बजाते हैं।
नर भव-शक्ति की अनन्त रूपता है बिछी,
तुझे अन्धकूपता से बाहर बढ़ाने को।
चारों ओर फैले महामानस की ओर देख,
गर्त्त में न गड़ा गड़ा हंस कुछ पाने को।
अपनी क्षुद्र छाया के पीछे दौड़ मारने से,
सच्चा भाव विश्व का न एक हाथ आने को।
रूप जो आभास मुझे सत्य-सत्य देंगे बस,
उन्हीं को समर्थ जान अन्तस् जगाने को॥

× × ×

शुक्लजी को इस बात का बड़ा खेद था कि मनुष्य प्रकृति के सुन्दर उपादानों को नष्ट करके और अपने जीवन को उनसे दूर-सभ्यता के आवरण में बन्दी बनाकर बिनाश के मार्ग पर बढ़ रहा है। वह आज प्रकृति की हत्या कर रहा है। कहीं वृक्षों को काटता है,

तो कहीं पशु-पक्षियों को मारता है। ऐसे कार्यों की निन्दा करते हुए 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है—

कर से कराल निज काननों को काटकर
शैलों को सपाटकर, सृष्टि को संहार ले
नाना रूप-रंग धरे, जीवन-उमंग-भरे,
जीव जहाँ तक बने मारते, तू भार ले।
माता धरती की भरी गोद यह सूनी कर
प्रेत-सा अकेला पाँव अपना पसार ले।
विश्व बीच नर के विकास हेतु नरता ही,
होगी किन्तु अलम् न, मानव विचार ले।।

मनुष्य के कठोर कर्मों से व्यथित शुक्लजी का कवि-हृदय इसीलिए कोयल, पलाश, कदम्ब, कमल, भ्रमर, चमेली, समीर आदि को सम्बोधित करके इस भूमि को छोड़ने का अनुरोध देता है, जहाँ के निवासी सौन्दर्य बोध और रसानुभूति को सर्वथा भूल बैठते हैं—

हे कोकिल तजि भूमि नहिं क्यों अनत सिधारी ?
कोमल कूक सुनाव बैठि अजहूँ तरु डारी।
मथुरा, दिल्ली अरु कनौज के विस्तृत खंडहर
करत प्रतिध्वनि आज दिवसहू निज कम्पित स्वर।
जहँ गोरी, महमूद केर पदचिह्न धूरि पर,
दिखरावत भरि नैन नीर इतिहास-विज्ञ नर।
और विगत अभिलाष सकल केवल इक कारन,
जन्मभूमि अनुराग बाँधि राख्यो तोहिं डारन।

× × ×

हे हे अरुण पलाश ! छटा बन काहि दिखावत ?
कोउ दृग नहिं अन्वेषमान अब तुव दिसि धावत।
करि सिर उच्च कदम्ब रह्यो तू व्यर्थ निहारी,
नहीं गोपिका कृष्ण कहीं तुव छाँह बिहारी।
रे, रे, निलज सरोज अजहुँ विकसत लखि भानुहि,
देश दुर्दशा जनित दुःख चित नेकु न आनहि।
ऐ हो मधुकर वृन्द मोहिं नहिं कछु आवत कहि,
कौन मधुरता-लोभ रहयो बसि दीन देश महि।

× × ×

चपल चमेली अंग खेत-अभरन क्यों धारो ?
मुग्ध होने की क्रिया भूलिगो चित्त हमारी।
दीन कलिन सों हे समीर ! बरबस क्यों छीनत,

मधुर महक हित नाक हीन हम हतभागी नत।
एक एक चलि देहु नाहिं क्यों यह भुव तजि के ?
हम हतभागे लोग योग नहिं तुव संगति के।

शुक्ल जी की कविताओं में प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण खूब मिलता है। उनकी धारणा थी कि प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन की भाँति यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण भी रसात्मक-बोध की क्षमता रखता है। ऐसे प्रसंगों में वातावरण को मूर्तिमान करने की उनकी प्रतिभा अनुपम बन गयी है। विन्ध्य के समीपवर्ती लहलहाते बसन्तकालीन खेतों की मनमोहक मनोहारिता का जो चित्रण उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह इस तथ्य को साबित करता है। कवि ने उस सौन्दर्य को यों पंक्तिबद्ध किया है—

भूरी, हरी घास आसपास, फूली सरसों है,
पीली-पीली बिंदियों के चारों ओर है पसार ?
कुछ दूर विरल, सघन फिर और आगे
एक रंग मिला चला गया पीत-पारावार॥
गाढ़ी हरी श्यामलता की तंग राशि-रेखा घनी
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर-घार;
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ-मण्डल से
धुँधली-सी नीली नगमाला उठी धुआँधार॥
लगती है चोटियाँ वे अति ही रहस्यमयी,
पास ही में होगा बस यहीं कहीं देवलोक
बार-बार दौड़ती है दृष्टि उस धुँधली-सी
छाया बीच ढूँढने को अमर-विलास-ओक॥

शुक्ल जी प्रकृति-प्रेमी मात्र नहीं रह गये हैं, बल्कि और आगे बढ़कर उसके प्रचारक हो गये हैं। प्रकृति को वे जिस रूप में देखते हैं, उसकी यथार्थता का उन्हें इतना दृढ़ विश्वास हो गया है कि इस सम्बन्ध में केवल कवि बने रहने में उन्हें संतोष नहीं है, अब वे उसकी विशिष्टता सिद्ध करने के लिए आलोचक का बाना भी धारण करने के लिए तैयार हो गये हैं। 'आमंत्रण' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों में वे आलोचक के रूप में ही अन्य कवियों को भी वही धर्म ग्रहण करने के लिए आमंत्रित करते हैं, जिसे उन्होंने स्वयं अपनाया है—

निधि खोल किसानों के धूलि सने
श्रम का फटा भूमि बिछाती जहाँ।
चुन के कुछ चोंच चला करके
चिड़ियाँ निज भाग बढ़ाती जहाँ।
कगरों पर कास की फैली हुई
धवली अवली लहराती जहाँ।

कविता वह हाथ उठाये हुए
चलिए कविवृन्द बुलाती जहाँ।

प्रकृति-चित्रण के सन्दर्भ में समीक्षक शुक्लजी का यह भी विचार था कि वही कवि प्रकृति का सफल चितेरा हो सकता है जो प्रकृति के सुन्दर और विकल, दोनों रूपों का चित्रण कर सके। उनका अपना विचार है—"अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर सुसज्जित या सुन्दर रूप में, कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में। कहीं भव्य विशाल या विचित्र रूप में, कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में।" कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण उसका अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिर साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल प्रसून प्रसार के सौरभ संचार मकरन्द लोलुप मधु-गुन्जार, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल सुख स्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमविन्दुमण्डित रक्ताभ शाद्वलजाल अत्यन्त विशाल गिरि-प्रपात से गिरते हुए जल प्रान्त के गंभीर गर्त से उठी सीकर नीहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।" शुक्ल जी के इस मत का पोषण उनकी अपनी कविता करती है। उपरोक्त वसन्त के नयनाभिराम दृश्यों के साथ ग्रीष्म की भीषणता और संतप्तता निम्नलिखित पंक्तियों में सजीव हो उठी है—

प्रखर प्रणय पूर्णदृष्टि से प्रभाकर की,
ललक लपट भरी भूमि भभराई है।
पीवर पवन लोट-लोट धूल-धूसरित,
झपट रहा है बड़ी धूम की बधाई है।।
सूखे तृण-पत्र लिये कहीं रेणुचक्र उठा,
घूर्णित प्रमत्त देता नाचता दिखाई है।
झाड़ और झपेट झेल झूमते खड़े हैं पेड़,
मर्मर-मिलित हू हू दे रहा सुनाई है।।
बढ़ती चली आ रही है मण्डली हमारी,
वही धुन में हो चूर-भरपूर पैर धुनती।
आस-पास चौकड़ी न भरते कहीं हैं पैर,
डोलते न पंख कोई चोंच भी न चुनती।।
उभरे किसी ढेले की छाया में बटोही कीट,
लेता है विराम वहीं लता-जाल बुनती।
सिर को निकाल तरु-कोटर से मैना एक,
चुपचाप आहट हमारी बैठ सुनती।।

शुक्ल जी ने काव्य के क्षेत्र में अस्वाभाविक रूप से, अव्यक्त और रहस्यमयी अनुभूति

से व्याकुल रहनेवाले कवियों को काव्य से हटकर किसी धर्म-साधना या दार्शनिक क्षेत्र में जाने का उपदेश दिया है; लेकिन उनकी कविताओं में यत्र-तत्र स्थूल अथवा स्वाभाविक रहस्य भावना का संकेत अवश्य मिल जाता है—

धुँधले दिगन्त में विलीन हरिताभ रेखा
किसी दूर-की-सी झलक दिखाती है।
जहाँ स्वर्ग भूतल का अन्तर मिटा है, चिर
पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है।
भूत और भविष्यत् की भव्यता भी सारी छिपी
दिव्य भावना-सी वहीं भासती भुलाती है।
दूरता के गर्भ में जो रूपता भरी है वही
माधुरी ही जीवन की कटुता मिटाती है।

शुक्ल जी ने अपने इस प्रकृति-चित्रण में कालिदास, वाल्मीकि तथा भवभूति के प्रकृति-चित्रण का आदर्श प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उन्होंने इस क्षेत्र में संस्कृत तथा हिन्दी की परम्परा में मेल स्थापित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध को बनाये रखना ही शुक्ल जी ने काव्य-धर्म माना है। प्रकृति मानव की सहचरी है। मानवजीवन के विकास में आदिकाल से इसने अमित योग दिया है। काव्यरचना में तो प्राकृतिक दृश्यों की महत्ता विश्व के सभी कवियों ने स्वीकार की है। शुक्ल जी की कविताओं में भी अधिकांश ऐसी हैं जो मनुष्य को प्राकृतिक परिवेश में रखकर देखने का आग्रह करती हैं।

नगरों की अपेक्षा ग्रामों में ही शुक्लजी ने प्रकृति-रानी का अधिक मोहक वैभव देखा। ग्रामीण सौन्दर्य पर वे मुग्ध हो जाते थे। 'मधुस्रोत' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है—

तुम भी ग्राम! खुले सपने हो,
रूप रंग में वही बने हो।
कटी-बँटी हरियाली में तुम
वैसे ही तो जड़े हुए हो,
उठे तरल-श्यामल-दल गुँफित
अंचल में ही पड़े हुए हो।
धरती माता की मटियाली।
भरी गोद यह रहे निराली।

'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता में भी ग्रामीण-सौन्दर्य का खुला चित्रण मिलता है—

ग्राम के सीमान्त का सुहावना स्वरूप अब
भासता है भूमि कुछ और रंग लाती है।

कहीं-कहीं किंचित् हेमाभ हरे खेतों पर,
रह-रह श्वेत शुक आभा लहराती है।।
उमड़ी-सी पीली भूरी हरी द्रुम-पुञ्ज-घटा,
घेरती है दृष्टि दूर दौड़ती ही जाती है।
उसी में विलीन एक ओर धरती ही मानो,
घरों के स्वरूप में उठी-सी दृष्टि जाती है।

× × ×

देखते हैं जिधर उधर ही रसाल पुञ्ज
मञ्जु मञ्जरी से मढ़े फूले न समाते हैं।
कहीं अरुणाभ, कहीं पीत पुष्पराग प्रभा
उमड़ रही है, मन मग्न हुए जाते हैं।
कोयल उसी में कहीं छिपी कूक उठी जहाँ,
नीचे बालवृन्द उसी बोल से चिढ़ाते हैं।
छलक रही है रसमाधुरी छकाती हुई.
सौरभ से पवन झकोरे भरे आते हैं।

शुक्ल जी विषय-प्रतिपादन के सन्दर्भ में विषय के प्रति सूक्ष्मदृष्टि रखते थे। ग्राम-वर्णन से सम्बन्धित निम्नलिखित छन्द में ग्राम के पथ तथा वहाँ होनेवाले विविध कार्य-कलापों का पूर्ण चित्र ही प्रस्तुत है—

गया उसी देवल के पास से है ग्राम-पथ,
श्वेतधारियों में नई घास को विभक्त कर।
थूहरों से सटे हुए पेड़ और झाड़ हरे,
गो-रज से घूम ले जो खड़े हैं किनारे पर।।
उन्हें कई गायें पैर अगले चढ़ाए हुए,
कंठ को उठाए चुपचाप ही रही हैं चर।
जा रही हैं घाट-ओर ग्राम-वनिताएँ कई,
लौटती हैं कई एक घट औ, कलश भर।।

यह रही शुक्ल जी की मौलिक कविताओं की संक्षिप्त चर्चा। अब शेष रहती है, शुक्ल जी के अनूदित काव्य साहित्य की चर्चा। शुक्ल जी के युग में अनुवादकार्य काफी मात्रा में हो रहा था। काव्य के क्षेत्र में भी संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी की श्रेष्ठ कृतियों का अनुवाद हो रहा था। शुक्लजी ने सर एडविन आर्नोल्ड द्वारा रचित 'द लाइट आफ एशिया' का 'बुद्ध-चरित' नाम से ब्रजभाषा में अनुवाद किया। शुक्लजी के मन में महात्मा बुद्धदेव के प्रति बहुत बड़ी श्रद्धा थी। 'बुद्धचरित' की अन्तिम पंक्तियों में यह तथ्य स्पष्ट है—

चरित भयो यह पूर्ण कह्यो मैं जो कछु गाई।
सो यह साहस मात्र भक्तिवश जानौ भाई।

जानत थोरी बात ताहु पै कहन न जानत।
यातें अपनी चूक आप ही में अनुमानत।
कहौ तथागत चरित कहाँ लघुमति यह मेरी।
चाहौं यातें क्षमा दया मैं प्रभु की हेरी।

वस्तुतः 'बुद्धचरित' की रचना करके शुक्ल जी ने न केवल हमारे सामने एक काव्य प्रस्तुत किया है, वरन् अपने देश के महात्माओं का आदर और सम्मान करने की कला भी हमें सिखायी है।

'बुद्धचरित' में आठ सर्ग हैं। बुद्धदेव का जन्म, महाभिनिष्क्रमण, धर्मचक्र-प्रवर्तन, निर्वाण-प्राप्ति आदि से सम्बन्धित कथासूत्र को लेकर प्रकृति और मनुष्य के अनेक मोहक चित्र उसमें चित्रित हैं।

'दि लाइट-आफ एशिया' का अनुवाद करते समय मूललेखक के भावों की परिरक्षा करने का पूर्ण प्रयास शुक्ल जी ने किया है। लेकिन कई स्थानों पर मौलिक उद्भावनाओं को भी स्थान दिया है। प्रकृति के उपासक शुक्ल जी के भावुक हृदय को मूलकृति के प्राकृतिक दृश्य वर्णनों ने आन्दोलित किया और ऐसे प्रसंगों के अनुवाद में वे अपनी भावुकता को रोक नहीं सके। इसलिए अनूदित कृति के दृश्यवर्णनों में कुछ फेर-फार आगया है। लेकिन आदि से अन्त तक शुक्ल जी ने एक अनुवादक की मर्यादा का पालन मूल लेखक के भावों की रक्षा करते हुए किया है। दो-एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। आर्नोल्ड महोदय ने लिखा है—

But, when the days were numbered, then befell—
The parting of our Lord—which was to be—
Where by came wailing in the Golden Home,
Woe to the king and Sorrow O'er the land,
But for all flesh deliverance, and that Law
Which whose hears—the same shall make him free.

इन पंक्तियों का शुक्ल जी द्वारा अनुवाद यों है—

जब दिन पूरे भए बुद्ध भगवान् हमारे,
तजि अपनो घर-बार घोर-बन ओर सिधारे।
जासो पर्यो खँभार राज-मन्दिर में भारी,
शोक-विकल अति भूप, प्रजा सब भई दुखारी।
पै निकस्यो निस्तार पंथ प्राणिन हित नूतन;
प्रगट्यो शास्त्रपुनीत कटैं जासों भव-बन्धन।

आर्नोल्ड महोदय की निम्नलिखित पंक्तियों का भी शुक्लजी के द्वारा अनुवाद देखिए—

Softly the Indian night sinks on the plains
At full moon, in the month of Chaitra Shud,

When mangoes redden and the asoka buds
Sweeten the breeze, and Rama's birthday comes,
And all the fields are glad and all the towns.

"निखरी रैन चैत पूनो की अति निर्मल उजियारी।
चारुहासिनी खिली चाँदनी पट पर पै अति प्यारी॥
अमराइन में धँसि अमियन को दरसावति बिलगाई।
सींकन में गुछि झूल रहीं जो मन्द झकोरन पाई॥
चुवत मधूक परसि भू जौ लौ 'टप-टप' शब्द सुनावैं।
ताके प्रथम पलक भारत भरमें निज झलक दिखावैं॥
महकति कतहुँ अशोक-मंजरी, कतहुँ-कतहुँ पुर माँही।
राम-जन्म उत्सव के अबलौं साज हटे हैं नाहीं॥

चैत्र पूर्णिमा के उक्त चित्र को पूर्ण करने के लिए शुक्लजी ने दो बातें जोड़ी हैं। पहली तो यह कि अमराइयों में प्रवेश करके चाँदनी 'अमियों' को झलका देती हैं और दूसरी यह कि महुए के फूल 'टप-टप' करके चू रहे हैं और ज़मीन पर गिरने के पहले ही एक क्षण को झलक जाते हैं। पहली का परिणाम यह हुआ कि अमराइयोंका चाँदनी के साथ संश्लिष्ट सम्बन्ध जुट गया है और दूसरी बात के जोड़ देने से चैत्र ऋतु का चित्र पूरा हो गया।

सर एड्विन आरनोल्ड ने बुद्धदेव के राजगृह-प्रवेश का वर्णन अपने काव्य में इस प्रकार किया है—

"So entered they the city side by side
The herdsman and the prince what time the sun
Gilded slow Sona's distant stream and threw
Long shadows down the street and throug the gate
Where the King's men kept watch but when these saw
Our Lord bearing the lamb, the Guards stood back
The market people drew their wains aside
In the bazar buyers and sellers stayed
The war of tongues to gaze on that mild face;
The smith with lifted hammer in his hand
Forgot to strike, the weaver left his web,
The scribe his scroll, the moneychanger lost
His count of cowries; from the unwatched rice
Shiva's white Bull fed free; the wasted milk
Ran over the Lota while the milkman watched
The passage of our Lord moving so meek,

With yet so beautiful a majesty."

अब शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत इन पंक्तियों का रूपान्तर देखिए——

पशुपालन संग प्रवेश कियो पुर,
  में प्रभु देखत देखत जाय।
ढरि कंचन-सी किरनें रवि की जहं
  सोन को नीर रहीं झलकाय।
सब बीथिन में पुर की परि के पर—
  छाई रहीं अति दीरघ नाय।
पुर-द्वार के पार जहाँ प्रतिहार
  खड़े वहु दीरघ दंड उठाय।
पशु लै प्रभु को तिन आवत देखि
  दयो पथ सादर मौनहिं धारि।
सब हाट की बाट में बैठनहार
  लई बगरी निज वस्तुन टारि।
झगरो निज रोकि कै गाहक औ
  बनियाहु रहे मृदु रूप निहारि।
कर बीच हथौड़ो उठाय लुहार
  गयो रहि नाहिं सक्यो घन मारि।
तनिवो तजि ताकि जुलाह रहे
  बहु लेखक लेखनि हाथ उठाय।
गनिवो निज पैसन को चकराय
  गयो सुधि खोय सराफ भुलाय।
नहिं अन्न की राशि पै काहु की आंखि
  रहे सुख सों मिलि साँड़ चबाय।
मटकी पर धार चली पय की बहि
  ग्वाल रहे प्रभु पै टक लाय।

अंग्रेजी की मूल पंक्तियों से हिन्दी की पंक्तियों की तुलना करने पर हम देखेंगे कि शुक्ल जी सर एडविन आरनोल्ड के भावों को तो पूर्णतया व्यक्त ही कर सके हैं, साथ ही, अपनी सुन्दर अभिव्यक्ति द्वारा, उन्होंने मूल को भी चमका दिया है। Cowries के स्थान में 'पैसन, 'लोटा' के स्थान में 'मटकी, Watched के स्थान में 'रहे टकलाय' आदि प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

शुक्ल जी अनुवाद ही को सुन्दर बनाकर सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने अनुवाद को एक नवीन मूल के स्तर पर पहुँचाने के लिए उसके किनारों पर मनोहर गोटे भी लगा दिए हैं। उदाहरण के लिए उक्त प्रसंग में निम्नलिखित पंक्तियों की नियोजना देखिए——

पुर नारि जुरी बहु बूझति हैं—
"बलि हेतु लिये पशु को यह जात ?
शुचि शान्ति भरी मृदुता मुख पै
अति कोमल मंजु मनोहर गात।
कहु जाति कहा इनकी ? इन पाये
कहाँ अति सुन्दर नैन लजात ?
तन धारि अनंग किधौ मघवा
यह जात चलो गति मंद लखात।

'बुद्धचरित' के भावान्तर-स्वरूप के सम्बन्ध में इस संक्षिप्त कथन के अनन्तर हम थोड़ी देर के लिए इस बात को भुला दें कि वह अनुवाद हैं; वास्तव में तभी हम इस काव्य का पूरा स्वाद पा सकेंगे। काव्य के भीतर संश्लिष्ट वर्णन और चित्रण के प्रति शुक्ल जी सदैव आग्रहशील रहे हैं—'बुद्धचरित' में इस विशेषता के दर्शन हमें कई स्थलों पर होते हैं। उदाहरण-स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

कहत यों प्रभु शैल तटपथ धरे गे कछु दूरि।
खुरन के आघात सों तहँ उठति देखी धूरि।
झुंड भारी भेड़ छेरिन को रह्यो है आय।
ठमकि पाछे दूब पै कोउ देति मुखै चलाय।
जितै झलकत नीर, गूलर लसी लटकति डार।
लपकि ताकी ओर धावें छाँड़ि पथ द्वै चार।
जिन्हें बहकत लखि गड़रियो उठत है चिल्लाय।
लकुट सों निज हाँकि पथ पै फेरि लावत जाय।
लखी प्रभु इक भेड़ आवति युगल बच्चन संग।
एक जिनमें ह्वै रह्यो है चोट सों अति पंग।
छूटि पाछे जात रहि रहि चलत है लंगरात।
थके नान्हें पांव सों है रक्त वहत चुचात।
ठमकि हेरति ताहि फिरि फिरि तासु जननि अधीर।
बढ़त आगे बनत है नहिं देखि शिशु की पीर।
देखि यह प्रभु लियो बढ़ि लँगरात पसुहिं उठाय।
लादि लीनो कन्ध पै निज करन सों सहराय।

इन पंक्तियों में चाँदनी के प्रकाश में आम्रमंजरियों के गुच्छों का झूलना, कभी दूब पर मुँह चला देनेवाली, कभी गूलर लसी लटकती डार की ओर लपकनेवाली भेड़ों और बकरियों का बहकना, उन्हें इस प्रकार राह छोड़ते देखकर गड़रिये का चिल्ला उठना तथा अपनी लाठियों से उन्हें राह पर लाना, मेमने का लंगड़ाना, उसकी माँ का अधीर होना तथा इस करुण दृश्य से प्रभावित होकर करुणानिधान बुद्धदेव का उसे अपने करकमलों से

सहला कर कंधे पर लाद लेना—यह सब स्वाभाविक मार्मिकता के साथ बहुत ही सजीव हो उठा है।

'बुद्धचरित' के प्रथम सर्ग में प्रकृति के नग्न सौन्दर्य के बीच श्रम-मग्न किसानों के जीवन का एक मनोहर चित्र अंकित हुआ है—

"कहूँ नव किंशुक जाल सों लाल लखात घने बनखंड के छोर,
परै जहँ खेत सुनात तहाँ श्रम-लीन किसानन को कलरोर।
लिये खरिहानन में सुथरे पथ पार पयार के ढूह लखात।
मढ़े नव मंजुल मौरन सों सहकार न अंगन माहिं समात।
भरी छवि सों छलकाय रहे मृदु सौरभ ले बगरावत बात।
चरैं बहु ढोर कछारन में जहँ गावत ग्वाल नचावत गात।
लदे कलियान औ फूलन सों कचनार रहे कहूँ डार नवाय।
भरो जहँ नीर धरा रस भीजि के दीनी है दूब को गोट चढ़ाय।
रह्यो कलगान विहंगन को अति मोद भरो चहुँ ओर सों आय।
कढ़ै लघु जंतु अनेक, भगैं पुनि पास की झाड़िन को झहराय।
डोलत है बहु भृंग पतंग सरीसृप मंगल मोद मनाय।
भागत झाड़िन सों कढ़ि तीतर पास कहूँ कछु आहट पाय।
बागन के फल पै कहुँ कीर है भागत चोंच चलाय चलाय।
धावत है धरिबे हित कीटन चाल धनी चितचाह चढ़ाय।
कूकि उठै कबहूँ कल कंठ सों कोकिल कानन में रव नाय।
गीध गिरै छिति पै कछु देखत, चील रही नभ में मँडराय।
श्यामल रेख धरे तन पै इत सों उत दौरि कै जाति गिलाय।
निर्मल ताल के तीर कहूँ बक बैठे हैं मीन पै ध्यान लगाय।
चित्रित मन्दिर पै चढ़ि मोर रह्यो निज चित्रित पंख दिखाय।
ब्याह के बाजन बाजन की धुनि दूर के गाँव में देति सुनाय।"

'बुद्धचरित' के चौथे सर्ग में बुद्धदेव के महाभिनिष्क्रमण का वर्णन आया है। यशोधरा की सहेलियाँ दिन भर के आमोद-प्रमोद और हास-विलास के अनन्तर थककर सो गयी हैं, यशोधरा और वे यह नहीं जानतीं कि उनके जीवन में क्रान्ति कर देनेवाली कितनी महती घटना उसी रात को संघटित हो रही है। नीचे की पंक्तियों में सोयी हुई सखियों के चित्रण के प्रसंग में शुक्ल जी का काव्यगत कोमल और मधुर पद-विन्यास, सुन्दर और सरस प्रवाह तथा अनुपम प्रकृति-निरीक्षण-कौशल देखने-योग्य है—

"सोवतीं सँभार बिनु सोभा सरसाय गात
आधे खुले गोरे सुकुमार मृदु ओपधर।
चीकने चिकुर कहूँ बँधे हैं कुसुमदाम
कारे सटकारे कहूँ लहरत लङ्क पर।

सोवै थकि हास औ विलास सों पसारि पायँ
जैसे, कलकंठ रस गीत गाय दिन भर।
पंख बीच नाये सिर आपनो लखाति तौलौं
जौं लौं न प्रभात आय खोलन कहत स्वर।
सखियाँ द्वै आपस में जोरि गर गयीं सोय
गुहत गुहत गुच्छ मोगरे को महँकत।
प्रेम पाश-रूप रह्यो बाँधि अंग अंगन जो
अंतस् सो अंतस् मिलावत न सरकत।
सोयबे के प्रथम पिरोवत रही है कोउ
कंठहार हेतु मोती मानिक औ मरकत।
सूत में पिरोये रहे अरुझि कलाई बीच
रङ्ग रङ्ग को प्रकाश तिनसों है झलकत।
ह्वै कै परी लांबी कोऊ बीना लै कपोल तर
आँगुरी अरुझि रहीं अब ताँइ तार पर।
वाही रूप जैसे जब कढ़ति सो तान रही
भूमि रस जाके झँपे लोचन विशालवर।
लै कै परी कोउ मृगशावक हिये तें लाय
सोय गयो टूँगत कुसुम पाय तासु कर।
कुतरो कुसुम लसै कामिनी के कर बीच
पाती लपटानी हरी हरिन अधर तर।"

इन पंक्तियों में भाषा की तरंगित प्रगति, सजीव शब्दों का प्रयोग, भावों की मार्मिकता प्रभावमयी है। चित्रों की योजना तो ऐसी है मानों ढाई हजार वर्षों पूर्व की घटना आज आँखों के सामने हो रही है।

अनुवाद करते हुए शुक्ल जी ने मूलकृति के हर शब्द और घटना पर विशेष ध्यान रखा है। सर आर्नोल्ड ने राजकुमार गौतम के रंगमहल में 'रजतदीपों' का वर्णन किया है, जबकि शुक्लजी ने उसके स्थान पर 'कंचनदीपों' का। क्योंकि भारतीय साहित्य में रजत दीपों का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। भारतीय इतिहास और संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर दृष्टि रखकर अनुवाद में शुक्ल जी ने कई नयी घटनाओं का समावेश किया है और पुरानी घटनाओं में रूपपरिवर्तन भी। उदाहरण के लिए सर आर्नोल्ड ने राजमहल के भीतर ही किसी शालवृक्ष के नीचे गौतम का जन्म दिखाया है तो शुक्लजी ने बौद्धजातकों के साक्ष्य पर लुम्बिनी में दिखाया है। जहाँ कहीं भी सर आर्नोल्ड के वर्णनों में शिष्टाचार की परम्परा में शिथिलता दिखाई पड़ी, शुक्ल जी ने उन स्थलों को भारतीयता के रंग में रँग दिया है। वस्तुतः 'दि लाइट आफ एशिया' का शुक्लजी के द्वारा अनुवाद इतना सफल हुआ है कि वह अनुवाद नहीं, वरन् एक स्वतंत्र मौलिक ग्रन्थ ही प्रतीत होता है। शुक्लजी के भावुक

कवि-हृदय और कल्पना शक्ति ने अनुवाद को मूलकृति की अपेक्षा सरस और सुन्दर बना दिया है।

शुक्ल जी ने ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में कविताएँ लिखी हैं। उनकी अधिकांश फुटकल कविताएँ खड़ीबोली में प्रणीत हैं तो 'बुद्धचरित' में ब्रजभाषा का परिष्कृत रूप प्राप्त होता है। स्वच्छता और प्रवाह की दृष्टि से उनकी काव्यभाषा दोषहीन है और विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से उनकी भाषा सदैव सजीव, सरस, आकर्षक और अर्थगर्भित रहती है। छन्दों का प्रयोग शुक्ल जी ने विविधता को ध्यान में रखकर ही किया है। खड़ीबोली में मुख्यतया कवित्तों का और ब्रजभाषा में रोला, हरिगीतिका, दण्डक, सवैया आदि का प्रयोग उन्होंने अधिक किया है।

शुक्ल जी के काव्यसाहित्य की इस संक्षिप्त चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर आ सकते हैं कि उनके साहित्यिक जीवन की विचारधारा का मूलस्रोत उनकी अपनी कविता में उमड़ता है। उनकी कविता में अपने जीवन की झलक पायी जाती है; उनमें उनकी आन्तरिक भावना के दर्शन होते हैं। उनकी समालोचना के आदर्श की कुंजी भी उनकी कविता में धरी है। उनकी कविता उनके जीवन, व्यक्तित्व और विचार का मंत्र है। उनकी कविता का भाव आगे चलकर विविध क्षेत्रों में नानारूप से पुष्ट हुआ है। उनकी कविता में उनके हृदय का सच्चा उद्‌गार है। फिर भी शुक्लजी ने अपनी कविताओं को हृदय का उद्‌गार न कहकर 'हृदय का मधुर भार' कहा है, क्योंकि इनके सहारे वे 'संसार के इन रूखे रूपों के कड़वेपन की झार' सहते चल रहे थे। वे जानते थे कि इन्हीं कविताओं के बीच 'प्रथम उमड़ी थी जीवन की यह धार' इसलिए वे समझते हैं—

'लगी रहेगी ताक झाँक यह सब दिन इसी प्रकार'।

रीडर, हिन्दी-विभाग,
कालिकट -विश्वविद्यालय,
कालिकट (केरल)

आचार्य-प्रवर रामचन्द्र शुक्ल—'स्मृति-शती'

श्री सिद्धिनाथ मिश्र

⊙

आङ्ल वंग वाङ्मयाप्तशोधन-यशोधनाय
बुद्ध-चरिता कर 'शशांक' सुधा-से गये।
'जायसी की पद्मावती' सुछवि अतुल-सी तोल
तुलसी के 'मानस' में 'रामचन्द्र' ले गये॥
सारावली 'लहरी' 'भँवरगीत' भाव से यों
समालोचना की नाव 'सागर' में खे गये।
अनवद्य मेध्य अभिनव लोचनाधिकार
धन्य हुआ—एक अन्य 'ध्वन्यालोक' दे गये॥

इधर उधर 'ज्ञानलवदुर्विदग्धता' में
अवरोध अर्गला-सी धाक है धमक है।
तत्त्वचिन्तनोन्मुख सभी तो ताकते हैं मुख
'तीसमार खाँ' हैं त्रस्त, त्योरी में तमक है॥
हिन्दी की जमीन बीज वल्लरी हुई है हरी
फूली फली स्फीत समामोद की गमक है।
आज भी तो शुक्ल 'रामचन्द्र' के परस से ही
समालोचना की 'चन्द्रमणि' में चमक है॥

'चन्द्र' बली तात ताते शोध सुधी 'रामफल'
कल्पना कला में वृत्ति प्रथम प्रथम की।
'प्रकृति'-प्रकृष्ट ले 'हृदय का मधुर भार'
काव्य में उतार स्वानुभूति-भूमि सम की॥
उखड़ी पड़ी थी, 'खड़ी बोली' की दिखाई राह
इतिहास, शोध, समालोचना-नियम की।
रस मीमांसकीय 'वीथिकाविचार' वीचि
''केशव'—प्रसाद'' मयी 'चिन्तामणि' चमकी॥

चेतनावकाश में सुरुचि चन्द्रिका-सी चारु,
चिदाकाश बीच स्वप्रकाश रश्मि रवि-सी।
मंजुल मनोज की मनोरमा प्रभासी गूढ़–
पौरुष की प्रेरणा गढ़ी है प्रौढ़ पवि-सी।।
सहृदय समुदाय को समाधि समुदित,
मुदित मनोज्ञ महाभाव योग छबि-सी।
पक्ष निरपेक्ष स्वच्छ सुछवि समीक्षा-कला
भला, ऐसी कहाँ शुक्ल 'रामचंद्र' कवि-सी।।

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
हर्ष नगर, कानपुर

आचार्य शुक्ल और डॉ० रिचर्ड्स का काव्य-चिन्तन

डॉ० रमाशंकर तिवारी

⊙

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० आई० ए० रिचर्ड्स के काव्यचिन्तन का तुलनात्मक परीक्षण आहूत प्रतीत होता है। कारण यह है कि दोनों प्रायः समसामयिक प्रख्यात समालोचक रहे हैं और शुक्ल जी ने लगभग एक दर्जन प्रसंगों में अपनी मान्यताओं के परिपोष में रिचर्ड्स का उल्लेख किया है। प्रस्तुत-निबन्ध में हम इन दोनों महारथियों के काव्य-विवेचन के दो-तीन पहलुओं पर विचार करेंगे--

(क) **कविता की परिभाषा**--आचार्य शुक्ल की परिचित परिभाषा यह है--"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है, उसे 'कविता' कहते हैं।" हृदय-मुक्ति का यों लक्षण किया गया है--"(जगत् के) इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह (मनुष्य) अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर, अपने-आप को बिल्कुल भूलकर, विशुद्ध अनुभूति-मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है।"[1]

आचार्य शुक्ल की वर्तमान परिभाषा में भारतीय दर्शन की स्पष्ट छाप है। रसवाद से वे बँधे हुए हैं। 'विशुद्ध अनुभूति-मात्र' के कथन में रस-शास्त्र के 'वेद्यान्तरस्पर्श-शून्यता' का ही प्रतिध्वनन है और पाठक के पृथक् सत्ता की धारणा से छूटने में प्रमाता के 'साधारणीकरण' को स्वीकृति मिली है। 'शब्दविधान' का कथन हमें अनायास भारतीय काव्यशास्त्र के प्रारंभिक युगों में प्रचलित उस विवाद का स्मरण कराता है जो इस बिन्दु पर केन्द्रित था कि काव्य 'शब्द' है अथवा 'अर्थ'। भामह ने समन्वित दृष्टि अपना कर "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" का निरूपण किया जो परवर्ती युगों में बहुधा सर्वमान्य बना रहा। आचार्य शुक्ल जब "शब्द-विधान" की बात करते हैं, तब वे निश्चयमेव भामह का समर्थन करते हैं। लेकिन, 'रसदशा' को जब वे महत्त्व प्रदान करते हैं, तब वे भामह, दण्डी प्रभृति अलंकार-वादियों से पृथक् होकर "वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्" के परिपोषक आचार्य बन गये हैं।

---

१. 'चिन्तामणि', पहला भाग, (१९७१), पृष्ठ ११३।

डॉ० रिचर्ड्स ने, 'मूर्त्ति-भंजन' के पूर्वाग्रह से आक्रान्त होकर कविता की स्नायवी परिभाषा की है, जिसमें विशुद्ध मनस्तत्त्व को अतिरेकित प्रधानता मिली है। उनका कथन है कि कविता 'केवल' कवि का अनुभव मानकर परिभाषित नहीं की जा सकती। कविता में प्रयुक्त शब्दयोजना से पाठक को भी कुछ अपना अनुभव होता है, जो कुछ निश्चित सीमाओं में कवि के मूल अनुभव से भिन्न नहीं होता। अतएव कविता 'अनुभवों का एक वर्ग' है जो किसी अंग या अंश में—"मानक अनुभव से एक निश्चित परिणाम से अधिक भिन्न नहीं होता।" यह मानक (स्टैण्डर्ड) अनुभव कवि का अनुभव है। अर्थात्, कविता कवि के मूल अनुभव तथा पाठक के तत्त्वतः उसके समान अनुभवों का संयोग है जिसमें 'श्रवणात्मक', 'उच्चारणात्मक' तथा 'पदयोजना' से शृंखलित बिम्बों का समाहार होता है।[1]

प्रस्तुत—परिभाषा में रिचर्ड्स ने कवि के मूल अनुभव को 'मानक' मानते हुए भी, उसे पाठक के निजी अनुभव से 'डायल्यूट' कर, कविता को एक अनुभव-सम्मिश्रण बना दिया है। पाठक को काव्य-पाठ के दौरान कुछ अनुभव होते हैं जो कवि के मूल अनुभव से बहुत भिन्न नहीं होते—इस उपपत्ति को सद्यः स्वीकारा जा सकता है। लेकिन, कविता कवि की 'सृष्टि' होती है, और इस कारण उसके परिभाषण में पाठक के निजी अनुभवों को मिला देना वैज्ञानिक नहीं समझा जायेगा। रिचर्ड्स को स्वयं इस निरूपण में 'पेडैण्ट्री' (पांडित्य-प्रदर्शन) की गंध मिली है, किन्तु यतः वे अपने मौलिक सिद्धान्त—'अन्तर्वृत्तियों के समंजन', से प्रतिबद्ध हैं, अतः कवि के मूल अनुभव और पाठक के पठन-जन्य अनुभव को एक में मिला देने की उनकी तर्कप्रेरित बाध्यता थी। आचार्य शुक्ल की 'हृदयमुक्ति वाली उपपत्ति' में कवि तथा पाठक के अनुभवों के द्वैताद्वैत अथवा समंजन-सम्मिश्रण का बिन्दु उत्थापित ही नहीं हुआ है। यह सही है, जैसा कतिपय आलोचकों ने कहा है, कि शुक्ल जी की परिभाषा में कविता की 'परिभाषा' नहीं, उसका 'शील-निरूपण' किया गया है। किन्तु, 'शब्द-विधान' के कथन में मूल परिभाषा उपलब्ध है और हृदय की मुक्ति अथवा 'रसदशा' के उल्लेख में उस शब्दविधान की सार्थकता अथवा सोद्देश्यता की व्यञ्जना है। इस प्रकार शुक्लजी का प्रस्तुत कविता-लक्षण 'पूर्ण परिभाषा' बन गया है। इसके विपरीत, रिचर्ड्स कविता को 'अनुभवों का एक वर्ग' बताकर, उसे सम्यक् निरूपण की परिधि में आयत्त नहीं कर सके हैं।

'अनुभवों का एक वर्ग' किसी भी सार्थक पद-योजना या शब्द-समूह से उत्पन्न हो सकता है और श्रवण, उच्चारण इत्यादि से शृंखलित बिम्ब भी उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु वह सभी शब्द-योजना कविता नहीं कहला सकती। सुतराम्, रिचर्ड्स की तुलना में आचार्य शुक्ल की काव्य-परिभाषा अधिक सुगठित है।

(ख) काव्य का लक्ष्य या प्रयोजन—आचार्य शुक्ल के अनुसार, कविता का लक्ष्य मनुष्य के हृदय को 'स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल' से उठाकर, 'लोकसामान्य भावभूमि'

१. 'Principles of Literary Criticism' (१९५०), पृ० २२६-२७।

पर ले जाना है जहाँ उसकी व्यक्तिगत सत्ता 'लोकसत्ता' में लीन हो जाती है और उस 'अनुभूति-योग' के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"[1] व्यक्ति-सत्ता का लोक-सत्ता में विलीनीकरण रसदशा का ही अपर स्वरूप है और शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध का परिपोष, शुक्ल जी की नैतिक मनोभंगिमा का प्रक्षेपण है—रसदशा की अतिशय व्यक्तिबद्धता अथवा अन्तरंगता को बहिर्मुख प्रयोजन से जोड़ने का प्रयत्न है। यहाँ वे भारतीय रसवाद के नवसंस्कार के अभिलाषी बन गये हैं। यहीं रिचर्डस से उनका स्पष्ट पार्थक्य परिलक्षित होता है।

रिचर्ड्स की मान्यता है कि कविता का लक्ष्य आवेगों अथवा अन्तस्प्रेरणाओं में सामञ्जस्य स्थापित करना है। इस सन्दर्भ में उन्होंने अपना प्रसिद्ध 'मूल्य का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त'— साइकोलौजिकल थ्यौरी आफ वैल्यू—निरूपित किया है जिसने उनकी समग्र आलोचन-दृष्टि का नियमन किया है। मानव-मस्तिष्क में—रिचर्डस मानते हैं—प्रेरणाओं अथवा आवेगों एवम् आकांक्षाओं के अनेक छोटे-बड़े संघटन वा उप-संघटन वर्तमान होते हैं और प्रत्येक नवीन अनुभव उन्हें प्रभावित करता है। इस प्रभाव की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के अनुरूप उन अनुभवों के मूल्य का मापन या निर्धारण होता है। बाह्य उत्तेजना से प्राप्त अनुभव यदि मानसी संघटन को परिपुष्ट करता है, तो वह मूल्यवान् है और यदि वह उसे व्याघात पहुँचाता है, अथवा किसी प्रकार उसमें कोई अव्यवस्था उत्पन्न करता है, तो वह गर्हणीय है। रिचर्डस कतिपय आवेगीय संघटनों को अन्यों की तुलना में बलवान या महत्त्वपूर्ण समझते हैं और जो अनुभव, इन संघटनों को क्षतिग्रस्त किये बिना, अन्तर्व्यवस्था में समंजित हो जाते हैं, वही वाञ्छनीय हैं। प्रेरणाओं तथा स्पृहाओं का न्यूनतम व्याघात और अधिकतम संतुष्टि 'मानसी विकास का सिद्धान्त' है, और इस अन्तरणि संतुलन तथा सामञ्जस्य में सहयोग देना, कविता का उद्देश्य है। यहाँ ध्यातव्य है कि रिचर्ड्स' 'अ-व्याघात' (नॉन-फ्रस्ट्रेशन') और 'संतुष्टि' (सैटिस्फैक्शन) को प्रायः पर्याय मान लेते हैं।[2]

रिचर्ड्स ने वर्तमान संदर्भ में बहुधा 'इक्विलिब्रियमे', 'बैलेंस', 'प्वायज़' तथा 'आर्गनाइजेशन' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनका तात्पर्य हिन्दी में 'संतुलन', 'समीकरण', 'व्यवस्थापन' अथवा 'सामञ्जस्य' जैसे शब्दों से व्यक्त हो सकता है। हिन्दी के पंडितों के मध्य 'सामञ्जस्य' शब्द अधिक प्रचलन प्राप्त कर गया है। आचार्य शुक्ल ने कई स्थलों पर 'सामञ्जस्य' का प्रयोग किया है—हृदय की 'अनेकभावात्मकता' की चर्चा करते समय। वे कहते हैं—इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी हो सकता है जबकि उनका प्रकृत 'सामञ्जस्य' जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों और व्यापारों के साथ हो जाय। जहाँ व्यक्ति-जीवन का लोक-जीवन में लय हो जाता है, वहीं भाव की पवित्र भूमि है। वहीं विश्व-हृदय का आभास मिलता है।

---

१. 'चिन्तामणि', पहला भाग, पृ० ११३।

२. 'Principles of Literary Criticism' छठा अध्याय।

जहाँ जगत् के साथ हृदय का पूर्ण सामञ्जस्य घटित हो जाता है, वहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति भी स्वतः मंगलोन्मुखी हो जाती है।"[1] यहाँ जागतिक रूप-व्यापारों के साथ हृदय के पूर्ण सामञ्जस्य, अर्थात्, तादात्म्य का कथन हुआ है जिसकी विशेषता है, व्यक्ति-सत्ता का परिहार और लोक-सत्ता में उसका विलीनीकरण। स्मरणीय है कि शुक्ल जी की 'रसदशा' भी यही है।

इसी प्रसंग में, उन्होंने, आगे चलकर अन्तःप्रकृति में निहित अनेक भावों या वृत्तियों और बाह्य प्रकृति में उपलब्ध अनेक रूपों तथा व्यापारों का उल्लेख करते हुए, 'दोनों विधानों' की 'घोर जटिलता' का कथन किया है; लेकिन उसके तनिक बाद ही, वे कहते हैं—"इन्हीं परस्पर संबद्ध विविध वृत्तियों का 'सामञ्जस्य' काव्य का परम उत्कर्ष और सबसे बड़ा 'मूल्य' 'सामञ्जस्य' काव्य और जीवंत दोनों की सफलता का मूल मंत्र है।"[2]

हम यहाँ रेखांकित यह करना चाहते हैं कि 'विविध वृत्तियों' के साथ 'सामञ्जस्य' शब्द का प्रयोग यहाँ शुक्ल जी ने अनवधानता से किया है, क्योंकि ये वृत्तियाँ अन्तःप्रकृति की हैं, 'भीतरी विधान' की हैं, बाह्य प्रकृति अथवा 'बाहरी विधान' की नहीं क्योंकि वहाँ 'वृत्तियाँ' नहीं, 'रूप' या 'व्यापार' होते हैं। किन्तु, उसी अनुक्रम में, शुक्ल जी ने तमसा-तट वाली क्रौंच-वध की घटना का उल्लेख करते हुए, "मा निषाद" वाले प्रसिद्ध छन्द में अवतीर्ण काव्य के 'स्वरूप' की प्रशंसा की है और अपने समर्थन में रिचर्ड्स को उद्धृत किया है। लगता है, आचार्यप्रवर अपने पाश्चात्य सहयोगी के, जिन्हें वे 'इङ्गलैण्ड का अत्यन्त निर्मलदृष्टि समालोचक' मानते हैं,[3] 'अनावश्यक प्रभाव में आ गये हैं और अपनी-ही 'निर्मल' काव्य-दृष्टि को तनिक आविल कर दिया है।[4] रिचर्ड्स ने बाह्य प्रकृति के साथ आन्तर प्रकृति के सामञ्जस्य की बात कहीं नहीं कही है। उनका सम्पूर्ण प्रतिपादन अन्तःप्रकृति के सामञ्जस्य अथवा सुव्यवस्थापन पर केन्द्रित है—वह भी हमारी जानी-पहचानी अन्तःप्रकृति नहीं, अपितु 'स्नायु-मंडल' ('नर्वस सिस्टम') है जिसकी गुह्य गतिविधियों की पूर्ण जानकारी, रिचर्ड्स के ही कथनानुसार, अद्यापि प्राप्त नहीं है।

उल्लेखनीय है कि आचार्य शुक्ल ने बारंबार शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध को महत्त्व प्रदान किया है जिससे व्यक्ति-हृदय 'लोक-हृदय' अथवा 'विश्व-हृदय' में लीन हो जाता है और रसदशा की उपलब्धि होती है। रिचर्ड्स के लिए 'विश्व हृदय' के साथ सामञ्जस्य का कोई प्रश्न नहीं है, कारण कि वे केवल व्यक्ति के आभ्यन्तर एषणाओं के संतुलनपूर्ण व्यवस्थापन को निखिल महत्त्व प्रदान करते हैं। 'मा निषाद' के निर्वचन में शुक्ल जी ने, निश्चिततया कवि-हृदय के शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध-स्थापन के माध्यम से विश्व-हृदय में विलीन हो जाने का बिन्दु विवृत किया है जिसके साथ रिचर्ड्स के अनुभववादी मूल्य-सिद्धान्त की संगति, द्राविड़ प्राणायाम के बिना, कथमपि नहीं बिठायी जा सकती।

---

१. 'चिन्तामणि', दूसरा भाग (सं० २००२), पृ० ५०-५१।

२. वही, पृ० ६०-६१।

३. वही, पृ० २०२,।

४. वही, पृ० ६१।

उपर्युक्त उद्धरण में 'सबसे बड़ा मूल्य' का उल्लेख रिचर्ड्स के अचेतन प्रभाव की व्यञ्जना करता है। कतिपय विद्वानों ने 'सामञ्जस्य' शब्द के आधार पर उन दोनों समालोचकों में साम्य-संवाद स्थापित करने का प्रयत्न किया है जो तर्क-प्रतिष्ठित नहीं माना जा सकता।

आचार्य शुक्ल को रिचर्ड्स से पृथक् करने वाला सबसे महत्त्वशाली तथ्य है उनकी भक्ति-प्रेरित मनोदृष्टि। उनका काव्य-प्रयोजन, अन्ततः विश्व-हृदय को भगवान् के हृदय को पर्याय-रूप में ग्रहण करता है। 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' वाले निबंध में, शुक्लजी ने कहा है—"हमारे यहाँ काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकाल कर, उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे-से-ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य की साधना से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय, भगवान् के लोकरक्षक और लोक-रंजक हृदय से जा मिलता है, तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है। भक्ति, धर्म और ज्ञान, दोनों की रसात्मक अनुभूति है।"[1]

'विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति' में 'लोकसामान्य भावभूमि' का तत्त्व सन्निहित है जहाँ मनुष्य शेष सृष्टि के साथ रागात्मक, सम्बन्ध की प्रतीति-अनुभूति करता है। स्पष्ट है कि आचार्य ने उसे 'विश्व-हृदय' से, जिसे उन्होंने अन्यत्र 'परमहृदय' भी कहा है, जोड़कर, तत्काल भगवान् के हृदय के साथ उसका समीकरण कर दिया है। परिणामतः उनका काव्य-लक्ष्य अन्ततः भक्तिभाव में पर्यवसित हो गया है जिसमें धर्म, कर्म और ज्ञान-तीनों समंजस होकर पाठक को रसदशा की उपलब्धि कराते हैं। शुक्ल जी की विचारणा में शेष सृष्टि के साथ मानव-हृदय के रागात्मक तादात्म्य-स्थापन की यह स्वाभाविक परिणति है। विशुद्ध काव्य-विमर्श से प्रस्थान कर, वे ऐसी भावदशा तक पहुँच गये हैं जहाँ बुद्धि तथा हृदय में सामञ्जस्य स्थापित करने वाला भक्ति-काव्य सर्वश्रेष्ठ बन गया है। हृदय की ऐसी भावदशा कभी-कभी होती है जिसका न धर्म से विरोध होता है, न ज्ञान से और न किसी दूसरी भावदशा से। यही 'सामञ्जस्य' हमारे यहाँ का मूल मंत्र है। जिस काव्य में यह सामञ्जस्य न होगा, उसका मूल्य गिरा हुआ होगा।[2]

अतएव, यह स्पष्ट है कि जहाँ रिचर्ड्स कठोर मनस्तत्त्वीय प्रतिबद्धता में, अन्तर्वृत्तियों के संतुलन की संकीर्ण कक्षा से बाहर नहीं निकल सके, वहाँ आचार्य शुक्ल का अभीष्ट 'सामञ्जस्य' व्यक्त विश्व और अव्यक्त विश्वोत्तीर्ण सत्ता की सगुण विभूतियों के साथ रागमूलक सामरस्य का व्यञ्जक बन गया है। अतएव, 'सामञ्जस्य' जैसे प्रयोगों के आधार पर शुक्लजी और रिचर्ड्स के काव्यसिद्धान्तों में संवाद-स्थापन का प्रयत्न अपूर्ण अध्ययन का परिचायक है—यह भिन्न बात है कि आचार्य प्रवर स्वयमेव इस प्रमाद-जनन के लिए उत्तरदायी हैं।

---

१. 'चिन्तामणि', दूसरा भाग, पृ० २१२-१३।

२. वही, पृ० २१४।

(ग) काव्यानुभव की सामान्यता—काव्यानुभूति की सामान्यता के विषय में आचार्य शुक्ल और रिचर्ड्स की मान्यताएँ समान हैं। दोनों ने 'कला के लिए कला' जैसे जीवन-निरपेक्ष सिद्धान्तों का अपलाप किया है। शुक्ल जी साफ-साफ कहते हैं कि "रसानुभूति, अर्थात् काव्यानुभूति, वास्तव में 'जीवन के भीतर की-ही अनुभूति है, आसमान से उतरी हुई कोई वस्तु नहीं है।"[1] वे इस अनुभूति को 'प्रत्यक्ष या असली अनुभूति से कटी हुई नहीं मानते।' अपने इस प्रमेय के अनुमोदन में उन्होंने पुनः रिचर्ड्स को उद्धृत किया है।[2]

उल्लेखनीय है कि आचार्य शुक्ल ने 'रसात्मक बोध के विविध स्वरूपों' का निरूपण करते हुए यह प्रदर्शित किया है कि व्यक्त-जगत् के कतिपय रूपों तथा व्यापारों के प्रत्यक्ष अवलोकन से सहृदयों को वैसी ही रसानुभूति होती है जैसी कविता के अनुशीलन से। इस अनुभूति की विशेषताएँ व्यक्ति की पृथक् सत्ता के परिहार तथा लोकहृदय में उसके तल्लीन हो जाने के रूप में पहचानी गयी हैं।[3] तथापि, शुक्ल जी का प्रस्तुत निरूपण कुछ 'रिजर्वेशन' से रंजित है। उनका कथन है—"यदि दोनों बातों को प्रत्यक्ष आलंबनों के प्रति जगने वाले भावों की अनुभूति पर घटा कर देखते हैं, तो पता चलता है कि कुछ भावों में तो ये बातें कुछ ही दशाओं में या कुछ अंशों तक घटित होती है और कुछ में बहुत दूर तक या बराबर।"[4] उदाहरण देकर उन्होंने अपनी बात की पुष्टि की है।. अन्त में उनका प्रसिद्ध निष्कर्ष है—"रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।"[5]

रसात्मक अनुभूति को वास्तविक अनुभूति से पृथक् आभासित कराने वाले तत्त्व की खोज आचार्य शुक्ल ने 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया में की है जिसका अभिप्राय यह है कि "किसी काव्य में वर्णित आलंबन केवल भाव की व्यञ्जना करने वाले पात्र (आश्रय) का ही आलंबन नहीं रहता, बल्कि पाठक या श्रोता का भी—एक-ही नहीं, अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी—आलंबन हो जाता है।" अतएव 'पृथक् सत्ता की भावना का परिहार' रसदशा का आवश्यक अंग है और शुक्लजी के कथनानुसार (जो सर्वथा मान्य है), पाश्चात्य-समीक्षा में उसे ही 'अहं का विसर्जन और निःसंगता' कहा गया है। उनकी टिप्पणी है कि इसे ही रस का 'लोकोत्तरत्व' अथवा 'ब्रह्मानंद सहोदरत्व' भी कहा गया है—कहा जा सकता है।[6]

अब रिचर्ड्स की स्थिति द्रष्टव्य है। इन्होंने क्लाइव बेल तथा ब्रैडले जैसे कलावादी समालोचकों की आलोचना करते हुए, सौन्दर्यानुभव या काव्यानुभव से परम्परा या लिपटी

---

१. 'चिन्तामणि', दूसरा भाग पृ० ११५।
२. वही, पृ० ५६।
३. वही, पहला भाग, पृ० १९५-२००।
४. वही, पृ० २००।
५. वही, पृ० २०१-०२।
६. वही, पृ० १९९।

हुई निःसंगता, निर्वैयक्तिकता, विषयनिष्ठता प्रभृति धारणाओं का प्रत्याख्यान किया है और कला की तथोक्त रहस्यमयी अकथनीयता को इसी सौन्दर्यवादी मनःस्थिति की 'समीपी संबंधिनी' बताया है जिसे वे कविता के लिए अनिष्टकार समझते हैं। उनका कथन है कि कला-विवेचन में गंभीर त्रुटि यह हुई है कि उसमें 'मूल्य' काव्यानुभव के मूल्य की उपेक्षा की गयी है। उनका निष्कर्ष है कि काव्यानुभूति कोई निराली एवम् सामान्य विलक्षण वस्तु ('सुई जेनरिस')' नहीं है।[१]

यहाँ विचार्यमाण तथ्य यह है कि इस आपातिक समानता के बावजूद इन दोनों समालोचकों ने काव्यानुभव की अविलक्षणता की सिद्धि के लिए जो तर्क-सरणी अपनायी है, वह भिन्न-भिन्न है। यह भिन्नता इनके मौलिक विभेद को उत्कीर्ण कर देती है। शुक्लजी रसानुभूति अथवा काव्यानुभूति की निःसंगता एवम् सार्वभौमता को स्वीकार कर, यह प्रदर्शित करते हैं कि प्रत्यक्ष अनुभवों में भी, कभी-कभी, पूर्णतः या अंशतः, ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो काव्यवाली रसदशा के व्यवच्छेदक गुण हैं, अर्थात्, उनमें भी कभी-कभी हमारी व्यक्तिगत सत्ता का परिहार और लोकसत्ता में उसका विलीनीकरण घटित हो जाता है और काव्यानुभव, इस प्रकार सामान्य अनुभव से, विलक्षण नहीं होता। रिचर्ड्स स्मर्तव्य है, इसे साफ-साफ इनकार करते हैं कि काव्यानुभव में निःसंगता अथवा निर्वैयक्तिकता जैसे तत्त्व वर्तमान होते हैं। उन्होंने प्रतिपादित किया है कि बाह्य उत्तेजनों से मानसिक, अधिक सही अभिधा में, स्नायवी संघटन में, जैसी अनुक्रियाएँ ('रेस्पांसेज़')' घटित होती हैं, वैसी ही कला या कविता के अनुशीलन में भी—अर्थात्, न तो कविता में और न जीवन में हमें ऐसी निःस्वार्थ एवम् ताटस्थ्यपूर्ण मनोदशा उपलब्ध होती है या हो सकती है। यह विचित्र संयोग है कि रिचर्ड्स के इस निर्व्याज उपपादन के बावजूद जिसमें काव्यानुभव, जीवनानुभव की भाँति, कभी सार्वभौम स्वभाव का नहीं हो सकता, अपितु वह मूलतः हमारे स्नायु-मंडल से शृंखलित होता है—आचार्य शुक्ल ने अपने समर्थन में रिचर्ड्स के अन्य ग्रन्थ 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' से उद्धरण लिया है और यह टिप्पणी की है कि रिचर्ड्स को भी 'कुछ दशाओं में वास्तविक अनुभूति के 'रसात्मक होने का आभास' मिला है।[२] कहाँ स्नायु-मंडल से प्रतिबद्ध रिचर्ड्स और कहाँ हृदय-तत्त्व से प्रतिबद्ध रसवाद! आचार्य शुक्ल ने प्रस्तुत निष्कर्ष क्योंकर निकाल लिया, समझ में नहीं आता। रिचर्ड्स के निरूपण में कहीं भी रसात्मकता के लिए अवकाश नहीं है। आचार्य शुक्ल द्वारा प्रयुक्त दो विशेषण—'उदात्त' और 'भवदात', रसदशा की उपर्युक्त विशेषताओं, निःसंगता एवम् व्यक्ति-सत्ता के लोक-सत्ता में विलीनीकरण को रेखांकित करते हैं जबकि रिचर्ड्स के लिए कोई भी अनुभव इन विशेषताओं से उपेत नहीं है।

लेकिन, ऐसी बात नहीं कि रिचर्ड्स सामान्य अनुभव और कलाजन्य अनुभव में कोई भेद बिल्कुल नहीं मानते। स्थिति उल्टी है। उनके मतानुसार यह भेद आवेगों की विरलता

---

१. 'Principles of Literary Criticism' पृ० १७-१८।

२. 'चिन्तामणि', पहला भाग, पृ० २०१-२०२ (पादटिप्पणी)।

और सघनता पर आधारित है। वास्तविक वस्तु के प्रत्यक्ष से कुछ आवेग जगते हैं जो हमारे बाह्य आचरण को प्रभावित करते हैं, किन्तु जब हम कला में उस वस्तु का चित्र देखते हैं, तब हमारा यह ज्ञान कि वह 'चित्र' है, वास्तविक वस्तु नहीं, हमारे भीतर नये आवेग उत्पन्न करता है। अतः कला अथवा कविता में हमारा अनुभव संशोधित हो जाता है और आवेगों की प्रचुरता अथवा संकुलता से जटिल एवम् समृद्ध बन जाता है। इस प्रकार, सामान्य अनुभव और कलाजन्य अनुभव का भेद, अन्ततोगत्वा विभिन्न अनुभवों के मिश्रण, समायोजन तथा समन्वयन से उत्पन्न होता है।

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि रसानुभूति की व्याख्या में प्रकृत वस्तु और उसके चित्र को, 'चित्र तुरंग न्याय' के समाश्रयण से आचार्य शुक्ल द्वारा दृष्टान्वित किया गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि रसानुभूति अथवा रसानंद में प्रकृत वस्तु तथा उसके अनुकरण में वर्तमान भेद विलुप्त हो जाता है, जिसमें उस चित्र के मिथ्यात्व इत्यादि से विलक्षण ज्ञान उत्पन्न होता है जो दर्शक में 'चमत्कार' का जनन करता है। विवक्षा यह है कि चित्रजन्य अनुभव से मूल अनुभव के जटिलीकरण का जो तथ्य रिचर्ड्स द्वारा रेखांकित किया गया है वह उनकी स्नायु-मंडलीय अवधारणा से लिपटा हुआ है जबकि इसी 'चित्र-न्याय' की योजना से भारतीय आचार्य ने रसानुभव का रहस्य उन्मीलित किया है। हम नहीं कहते कि आचार्य शुक्ल 'चित्र तुरंग न्याय' के अनुसर्ता हैं। हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि रिचर्ड्स और रसवादी परम्परा में मूलभूत अन्तर है, अथ च, यतः आचार्य शुक्ल रसवाद के पोषक हैं, अतः रिचर्ड्स के साथ उनका मौलिक आधारभूत विसंवाद है। यह विचित्र बात है कि शुक्ल जी बार-बार अपनी स्थापनाओं के परिपोष में रिचर्ड्स को उद्धृत करते हैं, जिसे अपनी विलक्षण वैपश्चिती प्रतिभा के साथ उनके अपने-ही द्वारा किया गया अन्याय समझा जायेगा।

—७९९, अंगूरीबाग,
फैजाबाद (उ० प्र०)

---

१. 'Princiles of Iierary Criticsm' पृ० २१०-११।

प्राचीन काव्य के नदीष्ण विद्वान् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डॉ० किशोरीलाल

⊙

हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की जैसी दिशा आचार्य शुक्ल जी और लाला भगवानदीन जी ने दी, वह सम्प्रति अनन्वय अलंकार की अभिधा से ही मण्डित की जा सकती है, क्योंकि वैसी दृष्टि और मेधा आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र और पं० कृष्णशंकर शुक्ल तक सीमित रह गयी——उसका सम्यक् स्फुरण और विकास शुक्लोत्तर पीढ़ी के विद्वानों द्वारा न हो सका।

वस्तुतः पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) और उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) साहित्यिक समृद्धि और उत्कर्ष की दृष्टि से अपने आप में अतिशय बेजोड़ और अप्रतिम काल माना जाता है। अतः ऐसे युग के पुष्कल साहित्य-भाण्डार में हाथ लगाना बहुत आसान नहीं है और यदि किसी ने बिना सम्यक् बोध, अनुभव और अभिनिवेश के ऐसे दुर्गम कान्तार में घुसने का प्रयास किया तो उसे बुरी तरह असफलता भी मिली। इस साक्ष्य के लिए आचार्य शुक्ल और पं० सुधाकर द्विवेदी द्वारा सम्पादित पद्मावत को देखा जा सकता है। उसमें शुक्ल जी ने सुधाकर टीका और पाठ की जैसी बखिया उधेड़ी है, सचमुच उसे पढ़कर और देखकर दृष्टि चौंधिया जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रबुद्ध आलोचक होने के साथ ही प्राचीनकाल की बहुविध गुत्थियों को भलीभाँति समझते थे और अपने जीवन-काल में जिन कवियों की रचना में हाथ लगाया, उसे अपनी प्रतिभा के पारस से कञ्चन बना दिया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ाते समय आचार्य शुक्ल जी की दृष्टि सर्वप्रथम उपेक्षित कवि मलिक मुहम्मद जायसी की ओर गयी। उस समय अन्यान्य ग्रन्थों के साथ एम० ए० के पाठ्यक्रम में जायसीकृत पद्मावत भी निर्धारित था, परन्तु इस काव्य का कोई अच्छा संस्करण उपलब्ध नहीं था, अतः अनेक पारसी और नागरी लिपि में लिखित पाण्डुलिपियों को प्राप्त करके शुक्ल जी ने पद्मावत के साथ ही, जायसी के अन्य ग्रन्थों का एक सुसंगठित संस्करण अन्ततः प्रस्तुत कर ही दिया। इस ग्रन्थावली में संलग्न विद्वत्तापूर्ण भूमिका से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि शुक्ल जी में प्राचीन काव्यों को पढ़ने-पढ़ाने और उन्हें

प्राचीन परम्परा और नवीन संदर्भों से जोड़ कर विवेचित करने की कितनी बड़ी क्षमता मौजूद थी। इसी प्रकार सूरदास की रचनाओं का भी उस समय कोई अच्छा संस्करण प्राप्त न था और सूरदास जी बी० ए० और एम्० ए० दोनों ही परीक्षाओं में पढ़ाये जाते थे। एक अध्यापक के रूप में शुक्ल जी ने इन कठिनाइयों का भलीभाँति अनुभव किया और वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई वाले मुद्रित सूरसागर से भ्रमरगीत विषयक पदों को संकलित करके उन्होंने सूर की काव्य-गरिमा के चाकचिक्य से एकबारगी ही हिन्दी-जगत् को आश्चर्य में डाल दिया। सत्य तो यह है कि उन्होंने उक्त बम्बई वाले संस्करण के पाठ को ही ठीक नहीं किया, अपितु कितने अप्रचलित और कठिन शब्दों की टिप्पणियाँ भी जोड़ी जो आज भी अध्येता ही नहीं, अपितु अध्यापकों की भी बहुत महत्त्वपूर्ण सम्पदा है।

तुलसी-ग्रन्थावली के सम्पादन के लिए जब नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने शारदा भगवानदीन को आहूत किया तो उनकी सबसे बड़ी शर्त यह थी कि उसमें राय बहादुर डॉ० श्यामसुन्दर दास को प्रधान सम्पादक न वनाया जाय, क्योंकि लालाजी को यह विश्वास था कि उनकी तुलना में शुक्ल जी को संपादक के रूप में नियुक्त करना अधिक उचित और उपयुक्त है। लालाजी की उक्त शर्त मान ली गयी और तुलसी-ग्रन्थावली के संपादन के लिए लालाजी ने आचार्य शुक्ल के साथ ही बाबू ब्रजरत्नदास जी को भी रखा। पाठ-संपादन में लालाजी का साथ दिया ब्रजरत्नदास ने और तुलसीदास के साहित्यिक व्यक्तित्व को उद्-घाटित करने वाली भूमिका के लेखक के रूप में आचार्य शुक्ल जी ही अवसर पर काम आये। उस भूमिका में तुलसी की बाह्य एवं आभ्यन्तरिक प्रकृति की जैसी सूक्ष्म-विवेचना आचार्य शुक्ल ने की है, वैसी अद्यावधि देखने को नहीं मिली और यही नहीं, उस भूमिका के कारण हमने तुलसी के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उत्कर्ष को उजागर करने वाली शृंखला के नये आयामों से अभिज्ञता प्राप्त की। दूसरे शब्दों में उस भूमिका के ही कारण हमने तुलसीदास को समझा और शुक्ल जी की प्राचीन काव्यविषयक पैठ का प्रकृत लोहा माना।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी विभाग के अध्यक्ष स्व० आचार्य केशवप्रसाद मिश्र ने एक भेंट के अवसर पर बताया कि "आचार्य शुक्ल बहुश्रुत और बहुपठित विद्वान् थे। उन्होंने अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त फारसी, उर्दू, संस्कृत, अपभ्रंश आदि के साथ ही अवधी, ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी और भोजपुरी आदि भाषाओं को भी खूब समझा था और यही नहीं, अनेक लौकिक शास्त्रीय एवं पौराणिक ज्ञान का उनके पास अतुल भाण्डार था। ऐसे ज्ञान का यथावसर उपयोग एवं विनियोग करके वे लोगों को चकित कर देते थे।" आचार्य शुक्ल जी के प्राचीन काव्यविषयक ज्ञान की श्लाघा स्व० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने कई अवसरों पर की थी और बताया था कि "शुक्ल जी का क्षेत्र बहुत व्यापक था, अतः किसी भी प्राचीन काव्य-ग्रन्थ को पढ़ते समय वे अधिक गम्भीरतापूर्वक प्रत्येक छन्द पर विचार नहीं कर पाते थे, परन्तु उनकी पैनी दृष्टि अच्छे छन्दों के चयन में चूकती नहीं थी और जिन छन्दों पर एक दृष्टि उनकी पड़ जाती थी तो, उन्हें समझने में शुक्ल जी को देर नहीं लगती थी और तत्काल उसकी शल्य-क्रिया कर देते थे, यथा मतिराम कवि की भाषागत

प्राञ्जलता , सरलता और भाव-व्यञ्जना के माधुर्य के वे बड़े प्रशंसक थे और जब पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने मतिराम-ग्रन्थावली प्रकाशित की तो शुक्ल जी बहुत ही गद्गद हुए, किन्तु उसकी लम्बी भूमिका की दाद वे न दे सके और असमर्थ होकर उन्हें कहना ही पड़ा कि मूल-ग्रन्थ से अधिक तो इसकी भूमिका ही हो गयी।

यद्यपि मध्ययुगीन काव्यों की परम्परा में वे जायसी, तुलसी और सूर के अधिक प्रशंसक थे और उनके काव्योत्कर्ष के समक्ष दूसरे कवियों को अधिक महत्त्व नहीं देते थे, पर स्वास्थ्य की दृष्टि से उन्होंने रीतिकाल के देव, मतिराम, पद्माकर, घनानन्द और ठाकुर को यथेष्ठ उत्तम ठहराया। इनमें भी पद्माकर को तुलसी के पश्चात् एक महान् रससिद्ध कवि स्वीकार किया है। भाषा की लाक्षणिकता, वक्रता एवं काव्य की नूतन अभिव्यञ्जना की विविध बीथियों में विचरण करने वाले घनानन्द के सम्बन्ध में स्वकीय इतिहास में शुक्ल जी ने कई पृष्ठ रंग डाले। यही नहीं, घनानन्द के मनोविज्ञान विषयक अनेक गूढ़ सरणियों को उनकी मर्म भरी पैनी दृष्टि ने जितनी दौड़ लगायी है, वह आज के बहुत-से सुधी आलोचकों के लिए सुलभ नहीं है।

प्राचीन काव्यों को समझने में उनमें कितनी लगन, निष्ठा और अनुराग था, इसका एक मधुर संस्मरण मेरे स्व० गुरु पं० उमाशंकर शुक्ल ने प्रस्तुत किया था। एम० ए० कक्षा में सेनापतिकृत 'कवित्त रत्नाकर' पढ़ाते समय उन्होंने श्लेषतरंग के एक ऐसे छन्द का उल्लेख किया था जिसमें शुक्ल जी की गहरी काव्य-निष्ठाओं और उनकी प्रतिभा का ज्वलंत प्रमाण उपलब्ध होता है। उन्होंने बताया कि "सन् १९३५ में जब डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के आदेश से मैंने 'कवित्त रत्नाकर' के सम्पादन का कार्य हाथ में लिया तो पाठ-निर्धारण के साथ शुद्ध शब्दार्थ छन्दों के अर्थ समझने में कुछ स्थलों पर भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, अतः इसके लिए महाकवि अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पं० देवीप्रसाद शुक्ल एवं डॉ० राम-शंकर शुक्ल 'रसाल' से भी सहायता ली गयी, पर उनसे काम चलते न देखकर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को एक पत्र लिखकर तद्विषयक कार्य में सहायता देने कीं प्रार्थना की। समयाभाव के कारण आचार्य शुक्ल जी ने अपना अमूल्य समय ग्रीष्मावकाश में देना स्वीकार किया। ग्रीष्मावकाश में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने ज्येष्ठ पुत्र पं० केशवचन्द्र शुक्ल जो उस समय आजमगढ़ में डिप्टी कलेक्टर थे, के यहाँ ठहरते थे।

ग्रीष्मावकाश में किसी दिन सुविधानुसार पं० उमाशंकर शुक्ल आचार्य शुक्लजी के पास आजमगढ़ पहुँच गये। आजमगढ़ में कई दिनों तक पं० उमाशंकर शुक्ल और आचार्य शुक्ल की सेनापति की गूढ़ पंक्तियों को सुलझाने के लिए बैठकें चलती रहीं। एक दिन सेनापति की श्लेषतरंग के एक छन्द की जटिलता को लेकर काफी देर तक विचार-विमर्श होता रहा, परन्तु कोई मार्ग सुलझ नहीं सका। इसी बीच आचार्य शुक्ल जी के घर के किसी नौकर ने सूचना दी कि बहूजी (आचार्य शुक्ल जी की पत्नी) को किसी विषैले कीड़े ने काट लिया है। शुक्ल जी ने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया और अन्यमनस्कभाव से कहा, 'किसी डॉक्टर को बुला लो।' धीरे-धीरे बहू जी की दशा गम्भीर हो गयी और वह नौकर पुनः आया और

बताया कि वहू जी की दशा बिगड़ती जा रही है—इस पर शुक्ल जी ने अपने पुत्र केशवचन्द्र को बुलाया और कहा कि "इन्हें किसी झाड़ने-फूँकने वाले को भी दिखला दो।" वहाँ झाड़ने वाले एक बाबाजी आ गये। उनके झाड़ने-फूँकने से उन्हें आराम मिल गया। इधर आचार्य शुक्ल जी भाँग की तरंग में बुत होकर बड़ी पैनी दृष्टि से उक्त छन्द पर विचार करते रहे। छन्द इस प्रकार है—

केसो अति बड़े जहाँ अरजुन पति काज
अति गति भली विधि बाजी की सुधारी है।

मनी सौं करन बार संग दुरजोधन के,
संतनु तनै निहारि सुरत्यौ बिसारी है॥

सोहत सदा नकुल को है सील सेनापति
देखियै सुभीमसैन अंग दुति भारी है।

जाके कहै आदि-सभा परबस परति सो
भारत की ऊनी किधौं बनी बरनारी है॥

इस छन्द की अंतिम पंक्ति में प्रयुक्त 'परबस परति' का अर्थ स्पष्ट नहीं था। इसी बीच झाड़ने-फूँकने वाले बाबा जी ने आत्मश्लाघा करते हुए कहा कि 'हमारे बड़े-बड़े रिश्तेदार्स' हैं। की 'एस' (बहुवचन के अर्थ में) उर्दू शब्द के साथ जुड़ा देखकर एक मंद स्थिति के साथ आचार्य शुक्ल जी ने कहा कि उमाशंकर जी, बाबा जी का 'एस' को क्यों नहीं अपने 'परब' के साथ जोड़कर पषर्जकर देते ऐसा करने से आपका अर्थ खुल जायगा"—अर्थात् अंतिम पंक्ति का खुलासा महाभारत की सेना के अर्थ में यों होगा जिस (महाभारत की सेना) के गुण 'आदि' (तथा 'सभा पर्व' (आदि सभा परब) कहते हैं, वह तैयार हो रही है (सो सपरति)।' ऐसा करने से सचमुच अर्थ लग गया। उमाशंकर जी गद्गद् हो गये और शुक्ल जी की ऐसी पैठ की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। पर आज ये ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो देव के एक प्रसिद्ध छन्द में प्रयुक्त 'अलीन' (कुंजन में सुनियत सुगुँजन अलीन की) का अर्थ सखियाँ लगाते हैं। लगता है, उनकी दृष्टि आधी व्यञ्जना पर भी नहीं गयी।

हिन्दी-विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

●

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विज्ञान और धर्म सम्बन्धी चिन्तन

डॉ० ब्रजमोहन सिंह

⊙

पृष्ठभूमि एवं आरम्भिक चिन्तन के बीज

हिन्दी आलोचना और इतिहासलेखन को व्यवस्थित नींव देने वालों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सबसे महत्त्वपूर्ण आलोचक हैं और हमारी परम्परा की अमूल्य धरोहर हैं। आचार्य शुक्ल का युग नवजागरण या समाज-सुधार का युग है, जहाँ पुरानी, धार्मिक, नैतिक मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन होता है और पुनः परीक्षा भी। धार्मिक रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों से मुक्ति की लहर चलती है। सामाजिक विद्वेष, जाति-पाँति, छुआ-छूत, स्त्री-सुधार सम्बन्धी विचार मिलते हैं। नैतिक आदर्शों की स्थापना के लिए उपर्युक्त चितायें प्रमुख थीं। १९वीं शताब्दी के प्रायः सभी बौद्धिकों की मान्यता थी कि उस शताब्दी में प्रचलित सामाजिक प्रथाओं और धार्मिक विश्वासों ने प्रगति के रास्ते में रोड़े अटकाये। इसका कारण आम जनता के अज्ञान में खोजा गया। फलतः ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार की जरूरत समझी गयी। ब्रिटिश सरकार को वैज्ञानिक ज्ञान के आम प्रचार में कोई रुचि न थी। इस तरह उस पूरे युग में वैज्ञानिक ज्ञान की जरूरत को महसूस किया गया और देशी भाषाओं में उसकी शिक्षा पर जोर दिया गया। आचार्य शुक्ल के समय यह विवाद और तीव्र हुआ और उस दिशा में प्रयास भी। अगर उस वक्त का 'सरस्वती' की फाइलों को देखा जाय तो पता लगेगा कि भारतीय दर्शन एवं विज्ञान से सम्बन्धित तमाम लेख छपे हैं। आचार्य शुक्ल जिस विकासवाद हैकेल, परमाणु, ईश्वर के विवाद की चर्चा करते हैं तो वैसी चर्चाएँ उस पूरे नवजागरण के दौरान मिल रही थीं। शुक्ल जी पर ऐतिहासिक काम करने वाले डॉ० रामविलास शर्मा ने इसे बताया भी है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी हैकेल की जीवनी और चित्र भी 'सरस्वती' में छापे हैं।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य शुक्ल विज्ञान पर चिंतन करने वाले अकेले साहित्यकार नहीं थे, वरन् वह युग-प्रवृत्ति थी जिसकी एक कड़ी शुक्ल जी भी थे। विज्ञान के आलोक ने उस युग को धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों को पहचानने का मौका दिया और शुक्ल

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ० १२९ ।

जी ने भी उस युग के साथ पहचानने की कोशिश की। शुक्ल जी ने लिखा है कि—'अब हमें चाहिए कि राजनीति, विज्ञान, दर्शन, कला आदि के जो भाव हम अपनी संसार-यात्रा में प्राप्त करते जायँ, उन्हें इस अपनी मातृभाषा हिन्दी को बराबर सौंपते जायँ क्योंकि यही उन्हें हमारी भावी संतति के लिए संचित रखेगी।"[1]

इधर नामवर सिंह द्वारा आचार्य शुक्ल के अप्रकाशित लेखों की खोज से पता चलता है कि १९०४ की 'सरस्वती' में प्रकाशित न्यूमन के 'द आइडिया आफ ए यूनिवर्सिटी' के अनुवाद साहित्य वाले लेख में विज्ञान की छिटपुट चर्चा है। दूसरा अनुवाद 'कल्पना का आनंद' है जो एडिसन के 'प्लेजर्स आफ इमैजिनेशन' का अनुवाद है। एडिसन के कल्पना वाले लेखों के द्वारा शुक्ल जी ने हिन्दी में विज्ञान सम्मत भौतिकवादी दृष्टि का सूत्रपात किया, जिसका अगला कदम हैकेल की पुस्तक 'दि रिडिल आफ यूनिवर्स' का अनुवाद 'विश्वप्रपंच' है। नामवर जी ने ये विचार चिंतामणि-३ में व्यक्त किये हैं।

विज्ञान सम्बन्धी व्यवस्थित चिंतन

शुक्ल जी का विज्ञान सम्बन्धी व्यवस्थित चिंतन 'विश्वप्रपंच' की भूमिका में मिलता है, जो उस युग को ही नहीं, बल्कि आज के युग को देखते हुए भी दार्शनिक विवेचन का अप्रतिम निबंध है। चाहे विकासवाद की वैज्ञानिक खोजों का साफ सुथरा निरूपण हो, चाहे उसकी सूक्ष्म समीक्षा, चाहे यूरोपीय और भारतीय दर्शन के विकास का तुलनात्मक विवेचन, चाहे विज्ञान की नयी खोजों के आलोक में विभिन्न धर्मों की आलोचना—सर्वत्र एक गंभीर मेधा तथा स्वच्छ दृष्टि के दर्शन होते हैं।[2] आखिर यह पुस्तक इतनी महत्त्वपूर्ण क्यों है? 'विश्वप्रपंच' के 'प्रथम संस्करण का वक्तव्य' में कहा गया है कि आज जर्मनी के जगद्विख्यात प्राणितत्त्ववेत्ता हैकेल की परम प्रसिद्ध पुस्तक 'रिडल् आव् द यूनिवर्स' हिन्दी पढ़ने वालों के सामने रखी जाती है। यह अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धांत-ग्रंथ है। इसमें नाना विज्ञानों से प्राप्त उन सब तथ्यों का संग्रह है जिन्हें भूतवादी अपने पक्ष के प्रमाण में उपस्थित करते हैं। जिस समय यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ, यूरोप में इसकी धूम सी मच गयी...अंगरेजी की तो लाखों कापियाँ एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक पहुँच गयीं। इस पुस्तक ने सबसे अधिक खलबली पादरियों के बीच डाली जिनकी गालियों से भरी हुई सैकड़ों पुस्तकें प्रतिवाद में निकलीं।[3] शुक्ल जी को यह अहसास है कि विज्ञान की पुस्तक धार्मिक क्षेत्र में खलबली मचाती है। यहाँ धर्म की प्रतिगामी भूमिका स्पष्ट है कि उसने हमेशा विज्ञान से वैर रखा है। वैज्ञानिक विश्वदर्शन से धर्म की कभी पट ही नहीं सकती। पोप और पादरियों ने हमेशा विज्ञान का विरोध और वैज्ञानिकों का दमन किया है। पश्चिम में मध्यकालीन मूल्यों से वैज्ञानिकों और विचारकों को लंबा संघर्ष

१. चिंतामणि-३, पृ० १०९।

२. चिंतामणि-३, भूमिका, पृ० ९।

३. विश्वप्रपंच।

करना पड़ा है जिसके साक्षी गैलिलियो, ब्रूनो, कोपरनिम्स और डार्विन तक रहे हैं। इस संघर्ष की अनुगूँज शुक्ल जी के मन के भीतर कहीं-न-कहीं रही होगी। 'विश्वप्रपंच' वह पुस्तक है जिसके अंतर्गत उस समय डार्विन के विकास के सिद्धांत से होकर सशक्त भौतिकवाद को सामान्यरूप देकर प्रस्तुत किया गया है। डार्विन के विकासवादी सिद्धांत से इस धारणा की नींव हिलने लगी कि प्रत्येक प्रजाति की सृष्टि का ईश्वर निर्मित एक निश्चित क्रियाविधान होता है। इसलिए हैकेल की इस पुस्तक से धार्मिक अंधविश्वासों को चोट पहुँची होगी और पादरियों ने उसे आवेश में आकर जलाया भी। आचार्य शुक्ल ने 'अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धांत ग्रंथ' का अनुवाद (१९२०) हिन्दी पाठकों के सामने रखा जो एक ऐतिहासिक कार्य था। इसके साथ ही, जो हमारे काम की सबसे महत्त्वपूर्ण चीज है, वह है 'विश्वप्रपंच' की लम्बी भूमिका जो पूरी पुस्तक के लगभग आधी है। इस पुस्तक की भूमिका के अन्तर्वस्तु को परखने के बाद शुक्ल जी के विज्ञान एवं धर्म सम्बन्धी निष्कर्ष काफी स्पष्टरूप में सामने आते हैं जो अंत तक बने रहते हैं। पर 'विश्वप्रपंच' की भूमिका को ही संपूर्ण मानकर शुक्ल जी के विज्ञान एवं धर्म सम्बन्धी विवेचन पर निष्कर्ष निकालना अधूरी टिप्पणी ही होगी।

'विश्वप्रपंच' की भूमिका का आरम्भ इन पंक्तियों से होता है—"गत शताब्दी में योरप में ज्यों-ज्यों भौतिकविज्ञान, रसायन, भूगर्भविद्या, प्राणिविज्ञान, शरीरविज्ञान इत्यादि के अंतर्गत नयी-नयी बातों का पता लगने लगा और नये-नये सिद्धांत स्थिर होने लगे, त्यों-त्यों जगत् के सम्बन्ध में लोगों की जो भावनाएँ थीं, वे बदलने लगीं। जहाँ पहले लोग छोटी से छोटी बात के कारण को न पाकर उसे ईश्वर की कृति मान संतोष कर लेते थे, वहाँ चारों ओर नाना विज्ञानों के द्वारा कार्य-कारण की ऐसी शृंखला उपस्थित कर दी गयी कि किसी को बीच ही में ठिठकने की आवश्यकता न रह गयी। ज्ञानदृष्टि को बहुत दूर तक बढ़ाने के लिए मार्ग खुल गया। दूरदर्शक, सूक्ष्मदर्शक, रश्मिविश्लेषक आदि यंत्रों की सहायता से हमारी दृष्टि अत्यन्त विस्तृत एवं सूक्ष्म हो गयी।"[१] आचार्य शुक्ल उन्नीसवीं शती के वैज्ञानिक प्रगति एवं प्रभाव की चर्चा कर रहे हैं और इन विभिन्न क्षेत्रों का विवेचन अपनी भूमिका में करते भी हैं। १९वीं शती के संपूर्ण वैज्ञानिक विवेचन को छोड़ भी दें, तब भी ऊर्जा का संरक्षण एवं रूपान्तरण तथा डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत ने जीवनजगत् के सम्बन्ध में क्रांतिकारी परिवर्तन लाये। दैवी एवं अलौकिक सम्बन्धों के मायाजाल ढहने लगे। इसलिए आचार्य शुक्ल का सोचना सही है कि गत शताब्दी के वैज्ञानिक विकास ने जगत् के सम्बन्ध में लोगों की धारणाएँ बदली और छोटी-छोटी बातों का कारण ईश्वर नहीं रह गया था। यह विज्ञान का ही प्रभाव है कि आचार्य शुक्ल 'ज्ञानप्रसार के भीतर भावप्रसार'[२] मानते हैं। विज्ञान बौद्धिक ज्ञान है। बौद्धिक विकास से ज्ञान के क्षेत्र खुलते हैं और ज्ञान के क्षेत्र खुलकर ही उसमें भावप्रसार होता है। अगर हम किसी चीज को नहीं जानते तो उसे महसूस भी नहीं कर सकते।

---

१. विश्वप्रपंच, भूमिका, पृ० १-२।

२. चिंतामणि-२, पृ० १०३।

विज्ञान और कविता

आचार्य शुक्ल ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से सूक्ष्म-से सूक्ष्म एवं बृहद् क्षेत्रों के भीतर रमणीय एवं अद्भुत रूप व्यापारों को काव्य में लाने के पक्षपाती हैं बशर्ते कि वे गोचररूप में सामने लाये जायँ एवं अंग, आभूषण आदि उपमा के लिए ही केवल न हों।[1] इस तरह विज्ञान द्वारा उद्घाटित क्षेत्र को साहित्य के भीतर लाने से उन्हें परहेज नहीं है। उनकी यह धारणा है कि ज्ञानक्षेत्र के विस्तार के साथ हृदय का विस्तार भी होना चाहिए। आचार्य शुक्ल को यह अहसास है कि हम जितने ही व्यापक परिवेश में जीवन जीते हैं, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ अधिक रूपों से जीवन प्राप्त करती हैं और उन रूपों से हमारा रागात्मक सम्बन्ध बनता चला जाता है। इन बातों के पीछे यह तथ्य भी है कि विज्ञान के प्रसार से कविता का ह्रास होगा।

पदार्थ एवं परमाणु सम्बन्धी चिन्तन

आचार्य शुक्ल जब विज्ञान की पदार्थ सम्बन्धी धारणा की चर्चा करते हैं तो उससे जाहिर होता है कि विज्ञान को समझने की कोशिश वे कर रहे हैं। आचार्य शुक्ल वैज्ञानिक अन्वेषणों के आलोक में अनन्त लोकपिंडों के बीच स्थिति-क्रम का आभास पाते हैं एवं यह भी देखते हैं कि जिन मूलभूतों या द्रव्यों से हमारी पृथ्वी बनी है उन्हीं द्रव्यों से सब लोकपिंड बने हैं। निष्कर्ष रूप में वे कहते हैं कि—"भौतिक विज्ञान ने समस्त जड़ जगत् को द्रव्य और गतिशक्ति का कार्य सिद्ध कर दिया है।"[2] इसके साथ ही वे कहते हैं कि—"द्रव्य और शक्ति (गति) का नित्य सम्बन्ध है। एक की भावना दूसरे के बिना नहीं हो सकती।"[3] इससे स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल समस्त जड़जगत् को द्रव्य एवं गतिशक्ति का ही कार्य मान रहे हैं एवं द्रव्य तथा गति के नित्य सम्बन्ध को रेखांकित कर रहे हैं। उनका मानना है कि संसार में जितना द्रव्य है, उतना ही सदा से है और रहेगा। उनके लिए यह दार्शनिक अनुमान नहीं, परीक्षासिद्ध सत्य है।[4] उनके लिए पदार्थ किसी परम चेतन तत्व की उत्पत्ति नहीं है। वे यह नहीं मानते कि पदार्थ हमारी कल्पना का ही प्रतिरूप है। इसलिए पदार्थ सम्बन्धी उनका चिंतन धार्मिक कल्पना को भी ध्वस्त करता है।

आचार्य शुक्ल का परमाणु सम्बन्धी चिंतन भी काफी महत्त्वपूर्ण है। वे परमाणु सम्बन्धी पारम्परिक चिंतन से परिचित हैं और विज्ञान की नयी परमाणु के खोजों से भी। विज्ञान की खोजों से जो नये चिंतन सामने आये, उसे समझने की कोशिश शुक्ल जी ने की। शुक्ल जी को लगा कि जिस परमाणु को एक लम्बे अरसे से विश्व की चरम और अखण्ड इकाई समझा जाता है वह एक जटिल और विलक्षण व्यापार है। शुक्ल जी परमाणुओं और अणुओं की सूक्ष्मता

---

१. सूरदास, पृ० ११२।
२. भूमिका, वि० प्र०, पृ० २।
३. वही, पृ० ९।
४. वही, पृ० १०।

की चर्चा करके जगत् की सूक्ष्मता का रहस्योद्घाटन करते हैं जहाँ समस्त प्रकृति जड़, अचेतन नहीं, वरन् गतिशील है जो अलौकिक सत्ता के नहीं वरन् भौतिक तत्वमात्र हैं। विज्ञान के परमाणु सम्बन्धी चिंतन को आत्मसात् करने के बाद भी वैशेषिक के परमाणु चिंतन से शुक्ल जी आस्था रखते हैं।[१]

जगत् एवं पृथ्वी की उत्पत्ति का वर्णन

जगत् की उत्पत्ति का वैज्ञानिक सिद्धांत शुक्ल जी को यह दृष्टि देता है कि वे पौराणिक सृष्टिकथा के कपोल सिद्धांतों को पहचान सकें और उसे खारिज करें। आचार्य शुक्ल हैकेल द्वारा विवेचित प्रकृति की साम्यावस्था किस प्रकार भंग हुई, उससे सहमत नहीं है। यह समस्या बराबर उठती रही कि विश्व के आरंभ में जो मूल ज्योतिष्क द्रव्य था, उसमें गति कहाँ से आयी ? इस समस्या के समाधान के लिए कुछ लोग सृष्टिकर्ता की कल्पना करते हैं। पर आचार्य शुक्ल ऐसी कल्पना नहीं करते। किस प्रकार प्रकृति की साम्यावस्था भंग होती है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता[२]—ऐसा शुक्ल जी मानते हैं। आचार्य शुक्ल के लिए यह औरों के काम की चीज है। फिर भी विज्ञान की दृष्टि से जगत् का निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि "अपनी साम्यावस्था भंग होने के पीछे द्रव्य अत्यंत सूक्ष्म नीहारिका के रूप में बहुत दूर तक फैला रहा।"[३] आचार्य शुक्ल दिखलाते हैं कि चक्कर काटते हुए नीहारिकावत् पुञ्ज से नक्षत्र, ग्रहों, उपग्रहों आदि की व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। इस तरह सौर-जगत् की उत्पत्ति का विधान हुआ। इसी विधान को शुक्ल जी अपने सौर जगत् पर घटाकर देखते हुए नीहारिका-मण्डल से सूर्य और नाना उपग्रहों तथा पृथ्वी की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। वे बतलाते हैं कि "ज्योतिष्क नीहारिका मंडल पहले अत्यंत वेग से घूमता हुआ गोला था। अणुओं के केन्द्र की ओर आकर्षित होने से वह क्रमशः भीतर की ओर सिमटकर जमने लगा जिसमें उसके किनारे घूमते हुए नीहारिका के वलय या छल्ले रह गये। केन्द्र की ओर सिमटा हुआ द्रव्य हमारा सूर्य हुआ। नीहारिकावलय भी क्रमशः जमकर गोलों के रूप में हुए और केंद्रस्थद्रव्य सूर्य से अलग होकर उसके चारों ओर वेग से घूमने लगे। ये ही पृथ्वी, मंगल, बुध आदि ग्रह हुए।[४] आचार्य शुक्ल भूगर्भ-विज्ञान की खोजों की भी चर्चा करते हैं। आचार्य शुक्ल यह देखते हैं कि भूकंप, ज्वालामुखी, पर्वतों के स्फोट पृथ्वी के गर्भस्थ प्रचंड ताप के प्रभाव से निर्धारित होते हैं।[५] अगर १९३४ के 'भूकंप' के 'मिथ' को याद करें तो पता लग जायेगा कि आचार्य शुक्ल विज्ञान के प्रभाव में दैवी कल्पनाओं और अंधविश्वासों को छोड़ते हुए नजर आयेंगे।

---

१. भूमिका, वि० प्र० पृ० ७।
२. वही, पृ० १३।
३. वही, पृ० १३।
४. वही, पृ० १४।
५. वही, पृ० १६।

विज्ञान द्वारा जगत् एवं पृथ्वी की उत्पत्ति का सिद्धांत आचार्य शुक्ल में वह परिवर्तन लाता है जहाँ वे बेतुकी सृष्टिसिद्धांत के प्रति आक्रामक रवैया अपनाते हैं। सौर-जगत् की उत्पत्ति का सिद्धांत ही आचार्य शुक्ल से यह कहलाता है कि—"विश्व के भीतर असंख्य खंड प्रलय होते रहते हैं—न जाने कितने लोक नष्ट होते रहते हैं—पर सृष्टि रूप में विश्व या जगत् बराबर चला चलता है।"[1] यह अलग बात है कि ऐसी बातों को वे धर्म से, ब्रह्म से जोड़ देते हैं—अपने विवेचन के क्रम में। विज्ञान के आलोक में वे देखते हैं कि विभिन्न लोकपिंड बनते-बिगड़ते रहते हैं। नये-नये लोकपिंडों का भी पता लगता रहता है; पर समष्टि रूप में यह विश्व सदा चलता आया है और चलता रहेगा। पृथ्वी तो इसका एक छोटा अंश है और मानव तो उस रूपाकार के सामने कीट, पतंग। इस कारण आचार्य शुक्ल मानव को विश्व-विधान का क्षुद्र चेतन अंश कहते हैं। विज्ञान के तथ्य आचार्य शुक्ल के समस्त चिंतन में छिटपुट फैले हुए हैं, मगर धर्म का आवरण उसे ढँके हुए है। अगर आचार्य शुक्ल की भाषा का विश्लेषण किया जाय तो विज्ञान एवं धर्म का विलक्षण संयोग मिलेगा। अगर उनके शब्द-विधान को देखें—"भक्ति के सामाजिक महत्व को, इसकी लोकहितकारिणी शक्ति को स्वीकार करने में किसी को आगा-पीछा नहीं हो सकता। सामाजिक महत्व के लिए आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित हो। जैसे इस आकर्षण विधान के बिना अणुओं द्वारा व्यक्त पिण्डों का आविर्भाव नहीं हो सकता, वैसे ही मानव जीवन की विशद अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती।"[2] राम-कृष्ण की चर्चा करते हुए शुक्ल जी कहेंगे कि "हिन्दू जाति इन्हीं की भक्ति बल से, इन्हीं की अद्भुत आकर्षण शक्ति से वह इधर-उधर ढलने नहीं पायी है।"[3]

विकासवाद की निर्णायक भूमिका

आचार्य शुक्ल के विज्ञान सम्बन्धी चिंतन के क्रम में विकासवाद की निर्णायक भूमिका है। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि कुल मिलाकर शुक्ल जी विकासवाद के समर्थक सिद्ध होते हैं।"[4] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जीवन-जगत् को समझने में विकासवाद ने शुक्ल जी के सन्दर्भ में काफी निर्णायक भूमिका निभायी है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि—"दार्शनिक अनुमान के रूप में तो विकाससिद्धांत बहुत प्राचीन काल से पूर्व और पश्चिम दोनों ओर चला आ रहा है। एक अव्यक्त मूल प्रकृति से किस प्रकार क्रमशः जगत् का विकास हुआ है, सांख्य में इसका प्रतिपादन किया गया है। यूनानी तत्त्ववेत्ता भी जगत् का विकास इसी प्रकार मानते हैं। पर वैज्ञानिक निश्चय और दार्शनिक अनुमान में बड़ा भेद होता है।

१, सूरदास, पृ० ५।
२. चिंतामणि-१, पृ० ३४।
३. वही, पृ० ४१।
४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० १९।

दार्शनिक संकेत मात्र देते हैं और वैज्ञानिक ब्यौरे की छानबीन करते हैं।[1] विज्ञान की नयी खोजों के आलोक में दार्शनिक चिंतन की अपनी सीमा है। कई पुनरुत्थानवादी और रूढ़िवादी भारतीय चिंतक अपनी दार्शनिक परम्परा की दुहाई देते हुए नित्य नये हो रहे वैज्ञानिक अनुसंधानों को यह कहकर खारिज कर देते हैं कि हमारे यहाँ तो यह बहुत पहले से था। आज उन लोगों की कमी नहीं है जो राकेट विमान की कल्पना रामायणकालीन युगों में करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि उस वक्त के समाज में ऐसे विकसित टेकनीक उपलब्ध न होंगे। शुक्ल जी सांख्य के साथ यूनानी तत्त्ववेत्ताओं की चर्चा करते हैं। विकास-सिद्धांत से मिलती-जुलती चीजें वहाँ भी दिखायी पड़ती हैं। पर यह दार्शनिक अनुमान है चाहे वह पूर्व का हो या पश्चिम का। भारतीय दर्शन में आस्था होने के बावजूद शुक्ल जी में यह साहस है कि वे पूर्व या पश्चिम के चिंतन के आतंक से बच सकें। दरअसल शुक्ल जी में भारतीय दार्शनिक अन्तर्दृष्टि के लिए सराहना का भाव होते हुए भी यह विवेक है कि वैज्ञानिक निश्चय के सामने दार्शनिक अनुमान से ज्यादा कुछ कर ही नहीं सकते। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि—"जीव-धारियों के सम्बन्ध में पहले यह धारणा थी कि सब जीव एक ही साथ सृष्टि में उत्पन्न हुए हैं और बिना किसी परिवर्तन के जीवों के ढाँचे जो शुरू में थे, वे अब तक आ रहे हैं। फिर वे कहते हैं कि डारविन ने इस विश्वास का खंडन किया और विकास सिद्धांत की स्थापना करके यह सिद्ध कर दिया कि ये अनेक प्रकार के ढाँचों के जो इतने जीव दिखायी पड़ते हैं, सब एक ही प्रकार के अत्यंत सादे ढाँचे के क्षुद्र आदिम जीवों से, क्रमशः करोड़ों वर्ष की वंश-परम्परा के बीच, स्थिति के अनुसार अपने अवयवों में भिन्न-भिन्न परिवर्तन प्राप्त करते हुए और उत्तरोत्तर भेदानुसार अनेक शाखाओं में विभक्त होते हुए उत्पन्न हुए हैं। इसी विकास-क्रम के अनुसार मनुष्य जाति भी पूर्व युग के उन जीवों से उत्पन्न हुई जिनसे बंदर, बनमानुष आदि उत्पन्न हुए—अर्थात् बनमानुष एवं मनुष्यों के पूर्वज एक ही थे।"[2] आचार्य शुक्ल 'जात्यंतर परिणाम' एवं 'प्राकृतिक ग्रहण' सिद्धांत के अनुसार डार्विन के विकासवाद का विस्तृत विवेचन करते हैं जिसकी सम्पूर्ण चर्चा यहाँ अभीष्ट नहीं है। डार्विन के सिद्धांत ने इस धारणा को ध्वस्त किया कि विश्व किसी अलौकिक नियंता की शक्ति से उत्पन्न हुआ है। इस सिद्धांत ने इस धारणा को भी ध्वस्त किया कि प्रकृति में अन्तर्निहित कर्म के लिए आध्यात्मिक दृष्टि का सहारा चाहिए, क्योंकि वातावरण में मनुष्य की शारीरिक क्षमता इस बात पर अव-लम्बित रहती है कि उसमें एकाएक उत्पन्न हो जाने वाली भिन्न स्थितियों तक बदली हुई परिस्थितियों के साथ अपने आप ढालने की गुँजाइश होती है—तो फिर इसकी इस क्षमता को किसी भी तरह से दैवीशक्ति का प्रमाण नहीं माना जा सकता। आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि—"इस विकासवाद से बड़ी खलबली मची। इसकी बात जनसाधारण के विश्वास और धर्मपुस्तकों की पौराणिक सृष्टिकथा के विरुद्ध थी। हमारे यहाँ भी पुराणों में योनियाँ स्थिर

---

१. भूमिका, वि० प्र०, पृ० २३।

२. वही, वि० प्र०, पृ० २०।

कही गयी हैं. . .डारविन ने यह अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दिया. . .योनियाँ स्थिर नहीं हैं, स्थितिभेद के अनुसार असंख्य पीढ़ियों के बीच उनके अवयवों आदि में परिवर्तन होते आये हैं जिसमें एक योनि के जीवों से दूसरे योनि के जीवों की शाखा चली है।"[१] विकास-वाद से प्रभावित होकर शुक्ल जी जीवन-जगत् सम्बन्धी चिंतन में पौराणिक अंधविश्वासों, रहस्यात्मक लोकों एवं दैवी रहस्योद्घाटन तथा चमत्कारों का विरोध करते हैं। धर्म अंध-विश्वासों की सृष्टि करता है। अचार्य शुक्ल धर्म का नहीं, अंधविश्वासों का विरोध करते हैं। इस क्रम में गरुड़पुराण के योनि-सिद्धांत का भी खंडन करते हैं। आचार्य शुक्ल को यह अहसास है कि पौराणिक कथा किसी तथ्य के काल्पनिक रूप हैं, अलौकिक चमत्कार प्रकृति के नियम को तोड़कर नकली तथ्य प्रस्तुत करते हैं। डार्विन के सिद्धांतों द्वारा विभिन्न समाजों में जो प्रभाव पड़ा एवं प्रतिक्रिया हुई—उसकी जानकारी शुक्ल जी को है। वे लिखते हैं कि "नाना मतों और सम्प्रदायों की पौराणिक सृष्टिकथाओं का इस सिद्धांत से सर्वथा विरोध है। वे इस विकासवाद के अनुसार असंगत ठहरती हैं, क्योंकि वे संपूर्ण चराचर सृष्टि का एक ही समय में ईश्वर द्वारा उसी प्रकार रचित बतलायी जाती हैं जिस प्रकार कोई कारीगर नाना प्रकार की वस्तुएँ बनाकर सजाता है। . . .जिसका विरोध पौराणिक कथाओं तक ही नहीं रह जाताबल्कि सारे ईश्वरवादी या आत्मवादी दर्शनों तक पहुँचता है।"[२] आचार्य शुक्ल को समस्त वैज्ञानिक विवेचनों से पता है कि संपूर्ण जगत् एक ही मूलरूप द्रव्य से उत्पन्न हुआ है। आचार्य शुक्ल जैसा चिंतक यह मानने के लिए कभी तैयार नहीं होगा कि ईश्वर ने अमुक तरीके से कुछ ही क्षणों या दिनों में सारी सृष्टि उत्पन्न कर दी। विकासवाद के संदर्भ में किये गये सारे विवेचनों से शुक्ल जी की दृष्टि में परिवर्तन आता है जहाँ वे पौराणिक अंधविश्वास एवं कल्पनाओं का विरोध करते नजर आते हैं। आचार्य शुक्ल मनुष्य की प्राकृतिक बुद्धि के बाहर जगत्-जीवन के सम्बन्ध में दिव्य दृष्टि, परोक्ष शक्ति, दैवी आभास देने वाली बातों का विरोध करते हैं। यह अकारण नहीं है कि शुक्ल जी रहस्यवाद का, तंत्र-मंत्र का, निर्गुण साधकों का विरोध करते हैं। निश्चित रूप से विज्ञानसम्मत दृष्टि का प्रभाव काम कर रहा होगा। विज्ञान के आलोक में ही शुक्ल जी इस बात का विरोध करते हैं कि आँख मूँदकर ध्यान या समाधि लगाने से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों की बात सूझने लगती है।"[३]

भारतीय दर्शन परम्परा के प्रति झुकाव

अपने वैज्ञानिक चिंतन में विज्ञान से प्रभाव ग्रहण करने के बाद भी शुक्ल जी अपनी दार्शनिक परम्परा की ओर का सहारा लेते हैं जो धार्मिक, आध्यात्मिक ही था। जगह-जगह पौराणिक चार्वाक, सांख्य के सूत्रों को समर्थन देते हैं और यह प्रवृत्ति अन्यत्र भी मिलती है

१. वि० प्र०, भूमिका, पृ० २०-२१।

२. वही, पृ० ५९।

३. वही, पृ० ६०।

जहाँ गीता, मनुस्मृति का भी उल्लेख करते हैं। विकासवाद को स्वीकार करने के बाद भी पूरी तौर पर नहीं अपनाते। जगत् की मूलसत्ता किस प्रकार की है, इसकी व्याख्या के लिए भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के तरफ जाते हैं। आचार्य शुक्ल में यह दृढ़ धारणा रहती है कि जगत् समस्त भूतद्रव्यों से बना है और वही यथार्थ है, तो वे भौतिक जगत् के पार, जहाँ कुछ नहीं है, जिससे प्रत्येक परिचित हैं---की खोज नहीं करते। पर विज्ञान के साथ-साथ दर्शन, ईश्वर में आस्था बनी हुई है। एक विशिष्ट बात उनके भीतर है कि विज्ञान को लेकर प्रश्न, जिज्ञासाएँ हैं पर संशय नहीं है।

धर्मसम्बन्धी चिन्तन पर विज्ञान का प्रभाव

आचार्य शुक्ल के धर्मसम्बन्धी चिंतन पर विकासवाद एवं अन्य वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि---"विकासवाद की व्याख्या के अनुसार धर्म कोई अलौकिक, नित्य और स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। समाज के आश्रय से ही क्रमशः उसका विकास हुआ है। धर्म का कोई ऐसा सामान्य लक्षण नहीं बताया जा सकता जो सर्वत्र और सब काल में---मनुष्य जाति की जब से उत्पत्ति हुई तब से अब तक बराबर मान्य रहा हो। समाज की ज्यों-ज्यों वृद्धि होती गयी, त्यों-त्यों धर्म की भावना में भी देशकालानुसार फेरफार होता गया।"[१] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल धर्म की अलौकिक सत्ता नहीं मानते और न उसे परम नियन्ता की उपज मानते हैं। वे उसे समाज के बदलाव के साथ जोड़कर देखते हैं। इसलिए रूढ़वादियों की तरह सार्वलौकिक सामान्य लक्षण बनाने की जिद नहीं करते। इन पंक्तियों को देखते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि "यह धर्म की निरन्तर विकासशील मानवसमाज के---अर्थात् ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने की दृष्टि है जो आधुनिक है।"[२] इस तरह विज्ञानसम्बन्धी चिंतन शुक्ल जी में आधुनिक दृष्टि उत्पन्न करने में सहायक होता है। आचार्य शुक्ल के सामने यह स्पष्ट है कि भारतीय समाज में धर्म का विकास कैसे हुआ। आदिमयुग में यह धर्म स्वरक्षार्थ था और लोग मनमानी व्यवस्था न करें, इसलिए समाज को बद्ध रखने के लिए धर्म की व्यवस्था आवश्यक थी। इससे यह निष्कर्ष निकालते है कि लोक या समाज को धारण करनेवाला धर्म था। शुरू में कुलधर्म की स्थापना हुई। शुक्ल जी यह देखते हैं कि राक्षस-विवाह, नियोग, असभ्यकाल के स्मारक हैं। पहले दूसरे जनपदों को लूटना, दूसरे कुल की स्त्रियों को छीनना अधर्म नहीं समझा जाता था, पर सभ्य दशा में ये चीजें बुरी समझी जाने लगीं। शुक्ल जी यह देखते हैं कि हमारी आदिम धार्मिक चेतना प्राकृतिक शक्तियों से जुड़कर चलती है और उसे न समझ पाने के कारण उन प्राकृतिक शक्तियों में विभिन्न देवताओं की परिकल्पना कर लेती है। कालान्तर में धार्मिक उपासना एवं बलि, प्रार्थना आदि रिवाजों का प्रचलन बढ़ा एवं अनेक धार्मिक सम्प्रदाय

---

१. भूमिका, विश्वप्रपंच, पृ० ७६।

२. हिन्दी आलोचना, पृ० ६०।

जन्म लिये। वे धर्म का विवेचन समाज से जोड़कर करते हैं और पाते हैं कि सभ्यता के विकास के साथ ईश्वर एवं अन्य कल्पनाओं तथा सम्प्रदायों का निर्माण हुआ है। इसलिए इस बात पर जोर देकर कहते हैं कि--"लोकव्यवहार एवं समाज विकास की दृष्टि से ही धर्म और आचार की व्याख्या की गयी है, लोक और अध्यात्म की दृष्टि से नहीं।"[१] धर्म के साथ समाज को जोड़कर देखने के बावजूद भी धर्म की सामाजिक जड़ों में शुक्ल जी निगाह डालने में असमर्थ रहे हैं। जब मनुष्य प्रकृति की दासता के विरुद्ध संघर्ष करते आगे बढ़ा तो उसके साथ ही मानव और भगवान् के बीच मध्यस्थता करने वाले सम्प्रदाय, पंडित, मुल्ला, पुरोहित पैदा हुए। शुरू में मनुष्य अति प्राकृतिक शक्तियों को तुष्ट करने के क्रम में विभिन्न विधियों से उसकी प्रार्थना की, पर बाद में मनुष्य सामाजिक शक्तियों के अधीन होता गया और शोषक वर्ग ने अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए अनेक हथकंडे गढ़े। आचार्य शुक्ल समाज और जीवन के विकास में धर्म की प्रतिगामी भूमिका को नहीं पहचान पाते हैं। उनके मन में यह बात सही है कि धर्म मानवीय व्यवहार को नियंत्रित करता है और समाज को बद्ध रखता है। पर इस व्यवस्था का दुरूपयोग कर तमाम धार्मिक सम्प्रदाय जिस परिणति की ओर ले जाते हैं, उसे शुक्ल जी नहीं देख पाते। शुक्ल जी यह नहीं देख पाते कि धर्म विश्व का विकृत तथा काल्पनिक ढंग से प्रतिबिंबन करता है। धर्म का केवल विश्व दृष्टिकोण सम्बन्धी पक्ष ही नहीं है, वरन् यह मानव चेतना को भी विकृत करता है। इस कारण आचार्य शुक्ल के धर्म सम्बन्धी चिंतन में एक विशेष रुख मिलेगा जहाँ वे हिन्दू धर्म की अपेक्षा शामी मतों की आलोचना कट्टरता से करते हैं। धर्म को माननेवाला कहीं-न-कहीं साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से संचालित होगा ही और शुक्ल जी में भी ये छाया देख सकते हैं। शुक्ल जी की विशिष्टता इस बात में है कि धर्म की उत्पत्ति वे किसी अलौकिक शक्ति से नहीं मानते। वे यह भी नहीं मानते कि धर्म या कर्तव्य के सिद्धांतों को भगवान् ने जन्म दिया है और ये भगवान् की इच्छा को व्यक्त करते हैं। वे धर्मशास्त्रीय धारणाओं की कट्टरता से वकालत नहीं करते। धर्म के विवेचन में विज्ञान से आलोक ग्रहण करने के बावजूद वे भाववादी दृष्टि से मुक्त नहीं हो सके हैं। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि शुक्ल जी के पास एक धार्मिक दृष्टि है और उनका संपूर्ण लेखन इसका प्रमाण है।

आचार्य शुक्ल अपनी आस्तिकता को किसी तर्कप्रणाली पर नहीं कसते। उनके मन में यह बराबर बना रहता है कि "धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्वस्थिति में मिलता है। इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार परिवार और समाज ऐसे छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भूमंडल और अखिल विश्व तक के बीच में किया जा सकता है।"[२] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि शुक्ल जी धर्म का विकास विकासवादी दृष्टि से देखने और समाज से जोड़ने के बावजूद भी धर्म को ब्रह्म के सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति मानते

१. भूमिका, वि० प्र०, पृ० ७५।

२. 'मानस की धर्मभूमि', चिंतामणि-१, पृ० २०७।

हैं और इस दृष्टि का उपयोग प्रायः हर जगह करते हैं। ईश्वर है, इस पर शुक्ल जी को कोई सन्देह नहीं है। डॉ० जयचन्द्र राय ने लिखा है कि शुक्ल जी आस्तिक व्यक्ति थे। ईश्वर के अस्तित्व को उन्होंने कभी विवाद का विषय नहीं बनाया। ब्रह्म की या 'चैतन्य' की स्थिति तो वे मानकर चले।[१] विकासवाद और विज्ञान सम्बन्धी चिंतन आचार्य शुक्ल में मूलतः मर्म ये लाता है कि वे धर्म के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रांतियों, अंधविश्वासों एवं पौराणिक कल्पनाओं से मुक्त होते हैं। आचार्य शुक्ल विज्ञान के आलोक में ईश्वर सम्बन्धी विवादों को उपहासास्पद समझते हैं। वे लिखते हैं—"अब तक जो कुछ लिखा गया उससे शिक्षित जगत् के ज्ञान की वर्तमान स्थिति का कुछ आभास मिला होगा और यह स्पष्ट हो गया होगा कि नाना मतों और मजहबों की विशेष स्थूल बातों को लेकर झगड़ा-टंटा करने का समय अब नहीं है। सब मतों और सम्प्रदायों में ईश्वर की जो सामान्य भावना है, उसी का पक्ष अब शिक्षित पक्ष के अन्तर्गत आ सकता है।"[२] आचार्य शुक्ल को अहसास है कि दर्शन एवं विज्ञान के अध्ययन के प्रभाव से ईश्वर सम्बन्धी धारणा में फेरफार होता है। इस तरह बदलते युग-परिवेश में पौराणिक अंध-विश्वासों एवं नाना मतों, मजहबों की स्थूल बातों पर झगड़ा करना सही नहीं है। आदमी अपने कुछ संस्कारों को छोड़ता है, कुछ ग्रहण करता है। इस तरह शुक्ल जी एक तरह से मिश्र भावना या परस्पर विरोधी भावना का सामञ्जस्य करने की बात करते हैं और विरोधों में सामंजस्य की बात करते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा को लगता है कि "इस वाक्यद्वार से अध्यात्मवाद विज्ञान शिविर में प्रवेश कर सकता है।"[३] पर यह स्वीकार करने में उन्हें हिचक होती है कि ये पंक्तियाँ शुक्ल जी के मूल अध्यात्मवादी चिंतन से जुड़ी हैं। शुक्ल जी ज्ञान की वर्तमान स्थिति का आभास पाकर सब मतों और सम्प्रदायों की ईश्वर सम्बन्धी सामान्य भावना को न नकारते हैं और न खंडन करते हैं। वे तो, हर मत में कुछ-न-कुछ सत्य का अंश पाते हैं।[४] संसार का हर वाद संसार का मूल अज्ञेय और अप्रमेय समझता है और वर्णन करने की कोशिश करता है, पर पूरी तरह नहीं कर पाता। किन्तु आचार्य शुक्ल का जोर इस बात पर है कि "मत या सिद्धांत विशेष का आग्रह कि ईश्वर ऐसा ही है, भ्रम है।"[५] इसी कारण वे कहते हैं कि "ईश्वर साकार है या निराकार, लम्बी दाढ़ीवाला है कि चार हाथवाला, अरबी बोलता है कि संस्कृत, मूर्ति पूजनेवालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ओर हाथ उठानेवालों से—इन बातों पर विचार करने वाले अब उपहास के पात्र होंगे।"[६] इस तरह शुक्ल जी सब मतों और सम्प्रदायों में प्रचलित ईश्वर सम्बन्धी अवैज्ञानिक एवं भ्रान्त धारणाओं का खंडन करते

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० १५४।
२. भूमिका, विश्वप्रपंच, पृ० ११९।
३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० १९।
४. भूमिका, वि० प्र०, पृ० ११९।
५. जायसी, पृ० १२१।
६. भूमिका, वि० प्र०, पृ० ११९।

हैं। उनके मन में विज्ञान अविरोधी तर्कसम्मत ईश्वर की प्रतिष्ठा का सवाल ही रहता है। आचार्य शुक्ल पुरातन मूल्यों से जुड़े रहकर भी पौराणिकता के स्थान पर नवीन मूल्यों को तर्कसंगत एवं उचित मानते हैं। वे लिखते हैं—"सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है, उनके सम्बन्ध में जो पौराणिक कथाएँ और कल्पनाएँ (छः दिन में सृष्टि की उत्पत्ति, आदम हौवा का जोड़ा, चौरासी लाख योनि इत्यादि) हैं, वे अब ढाल तलवार का काम नहीं दे सकतीं।"[1] नामवर जी ने लिखा है कि—"विज्ञान की नयी खोजों के आलोक में विभिन्न धर्मों की आलोचना—सर्वत्र एक गम्भीर मेधा तथा स्वच्छ दृष्टि के दर्शन होते हैं।"[2] यह अच्छी बात है कि रामविलास जी की तरह नामवर जी का कोई अतिवादी आग्रह नहीं है। इस तरह शुक्लजी पुरातनपंथी धार्मिकों एवं कट्टर साम्प्रदायिकों से अलग हैं, जहाँ वे सृष्टि सम्बन्धी किसी भी धार्मिक धारणा को स्वीकार नहीं कर पाते हैं। ये धार्मिक धारणाएँ विज्ञान के आलोक में अब ढाल तलवार का काम नहीं कर सकतीं। विवेकानंद भी अपने धार्मिक विचारों का विज्ञान से सामञ्जस्य स्थापित करने की कोशिश करते रहते थे। उन्होंने लिखा है कि "विज्ञान जैसे-जैसे प्रगति कर रहा है, उसने प्राकृतिक घटनाक्रमों की व्याख्या को रूहों और देवदूतों के हाथ से अपने हाथ में ले लिया है।"[3] आचार्य शुक्ल को यह अहसास है कि विज्ञान की खोजों के सामने धर्म की अधिकांश मान्यताएँ ध्वस्त हो जायेंगी।

धर्म और विज्ञान : एक ही विन्दु पर

आचार्य शुक्ल धर्म या विज्ञान में किसी का पक्ष अपने विवेचन के क्रम में नहीं लेते हैं। वे साफ कहते हैं कि "अब जिन्हें मैदान में जाना हो वे नाना विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके सीधे उस सीमा पर जायँ जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं—एक ओर आत्मवादी, दूसरी ओर अनात्मवादी, एक ओर जड़वादी, दूसरी ओर नित्य चैतन्यवादी।"[4] दोनों पक्षों को सामने रखते हुए आचार्य शुक्ल ने यह घोषणा नहीं की है कि मैं भौतिकवादी हूँ या अध्यात्मवादी। विज्ञान के बँट रहे दो वर्गों में क्या शुक्ल जी बीच का रास्ता अपनाते हैं? आचार्य शुक्ल यह नहीं कहते कि ईश्वर को एक तरफ रखकर विज्ञान के अनुसंधान द्वारा संसार के नियमों की छानबीन की जाय। दरअसल शुक्ल जी में भाववाद और भौतिकवाद दोनों का संयोग है। शुक्ल जी कहते हैं कि 'यदि चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गयी तो फिर सब मतों की भावना का समर्थन हुआ ही समझिए क्योंकि चैतन्य सर्व-स्वरूप है।"[5]—इस सर्वस्वरूप चैतन्य की व्याख्या विज्ञान नहीं कर पाया है, ऐसा शुक्ल जी मानते हैं।[6]

---

१. भूमिका, विश्वप्रपंच, पृ० ११९।
२. चिंतामणि-३, पृ० २१।
३. भारतीय चिंतन-परम्परा, पृ० १७६।
४. भूमिका, विश्वप्रपंच, पृ० ११९।
५. वही, पृ० १२०।
६. वही, पृ० १०९।

पर चैतन्य की नित्य सत्ता है---ऐसा वे नहीं मानते, पर शुक्ल जी को विश्वास है कि अगर चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गयी तो सब मतों का परिहार हो जायेगा। शुक्ल जी समझते हैं कि एक अखंड सत्ता की स्थापना से विज्ञान एवं धर्म---सब मतों की भावना का परिहार हो जायेगा। उन्हें लगता है कि विज्ञान द्वारा पदार्थ की मूल सत्ता की प्रामाणिक व्याख्या से वह तलाश पूरी होगी जिसका प्रतिपादन भारतीय धर्म और दर्शन करता रहा है। वे लिखते हैं कि "प्रकृति के नाना व्यापारों के अनुसंधान द्वारा ही वैज्ञानिकों को 'भेद में अभेद' इस गूढ़ तत्व की उपलब्धि हुई है जो सत्ता सम्बन्धी ज्ञान का मूल है।"[१] इसके साथ ही वे यह भी कहते हैं कि "जगत् के बदलते हुए नाना रूपों की तह में कोई एक नित्य, अपरिच्छिन्न और अपरिणामशील सत्ता है, मनुष्य की सोचने वाली बुद्धि, ज्ञान विकास की उन्नत दशा में अवश्य इस बात तक पहुँचती है। दर्शनशास्त्र का यही मुख्य विषय है। यह कोई इलहामी बात नहीं है।"[२] दार्शनिक अनुमान की सीमा को जानते हुए भी शुक्ल जी का आस्थावादी मन विज्ञान और दर्शन को एक ही विन्दु पर ला देता है। पूरे वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा जीवन-जगत् के खुलते रहस्यों में शुक्ल जी को लगता है कि जगत् के नाना रूपों और भेदों के बीच में अभेद की स्थापना होती जा रही है। इसलिए वे पूरी निश्चितता के साथ कहते हैं कि "नाना भेदों में अभेद दृष्टि ही सच्ची तत्त्वदृष्टि है।" इस तरह शुक्ल जी दार्शनिक अभेदवाद को विज्ञान की खोजों में भी पाते हैं जहाँ उनका वैज्ञानिक चिंतन विज्ञान और धर्म को एक विन्दु पर ला देता है। दरअसल शुक्ल जी के मन में कहीं-न-कहीं यह रहा होगा कि पश्चिम के विज्ञान, दर्शन के सामने भारतीय संस्कृति हीन नहीं है। इसलिए भारतीय दार्शनिक अन्तर्दृष्टि की सराहना की तरफ शुक्ल जी बार-बार झुकते हैं। तिलक के 'गीता रहस्य' में आये विचारों को देखा जाय तो उस युग की छाया आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर भी दिखायी पड़ेगी। तिलक ने लिखा है कि "जगत् के विभिन्न पदार्थों पर बार बार प्रयोग करना, अथवा विभिन्न उपायों से उसका विश्लेषण करके उनके गुणों को निर्धारित करना, अथवा जैव-जगत् के अनेकानेक नये और पुराने जीवों के शारीरिक अवयवों की भली-भाँति तुलना करना तथा प्राकृतिक विज्ञान के अन्य आधुनिक उपकरणों का इस्तेमाल कर पाना कणाद अथवा कपिल के लिए सम्भव नहीं था। उनके नेत्रों के सामने जो कुछ भी सामग्री मौजूद थी, उसी के आधार पर उन्होंने अपने निष्कर्ष निकाले. . .और सांख्य प्रणाली के दार्शनिकों ने ब्रह्मांड के विकास या निर्माण के सम्बन्ध में जो सिद्धांत प्रस्तुत किये, वे उन वैज्ञानिक सिद्धांतों से बहुत अधिक भिन्न नहीं हैं जो आधुनिक प्रकृति-विज्ञानवेत्ताओं ने प्रस्तुत किये हैं। प्राणिशास्त्र और प्राकृतिक-विज्ञानों के ज्ञान में वृद्धि के साथ अब उनके विचारों के अधिक तर्कसंगत भौतिक सबूत पेश किये जा सकते हैं।"[३] आचार्य शुक्ल के मन में विज्ञान एवं धर्म के बीच सहयोग का भाव है।

---

१. विश्वप्रपंच, भूमिका, पृ० १०९।

२. सूरदास, पृ० ३०।

३. भारतीय चिंतन-परम्परा, पृ० १५२।

इसलिए वे भेदों में अभेद दृष्टि से सत्ता का आभास मिलने की बात करते हैं और कहते हैं कि "यही अभेद ज्ञान और धर्म दोनों का लक्ष्य है। विज्ञान इसी अभेद की खोज में है, धर्म इसी की ओर दिखा रहा है।"[1] क्या यह आचार्य शुक्ल की लोकवादी दृष्टि है जो विज्ञान और धर्म को साथ लेकर चल रही है? दरअसल आचार्य शुक्ल दोनों का मूल उद्देश्य एक ही सत्य की प्राप्ति मानते हैं। पर शुक्ल जी को विज्ञान वह दिशा देता है जहाँ धर्म की रूढ़िवादिता से वे मुक्त होते हैं। यह विचार 'विश्वप्रपंच' में परिपक्व होता है जो आगे भी बना रहता है। आचार्य शुक्ल कभी भी इस बात पर जोर नहीं देते कि जहाँ विज्ञान रुक जाता है, वहाँ से धर्म की यात्रा शुरू होती है। उनके लिए धर्म का महत्त्व अधिकाधिक वैज्ञानिक होने में है, न कि सृष्टि सम्बन्धी सूत्रों को उलझाने में। शुक्ल जी को यह भी लग रहा है कि विज्ञान एवं धर्म परस्पर विरोधी चीजें नहीं हैं, वरन् धर्म के सूक्ष्मतम तत्त्व उसी ओर इशारा कर रहे हैं जिधर कि विज्ञान। आचार्य शुक्ल अपने वैज्ञानिक चिंतन में धर्म के भाववादी जाल से मुक्त नहीं हो पाये हैं, विज्ञान और धर्म को एक बिन्दु पर लाने की कोशिश की है। यह धर्म उनके विश्व सम्बन्धी दृष्टिकोण पर ही नहीं, वरन् सामाजिक, राजनीतिक एवं अन्य विचारों पर भी प्रभाव डालता है।

विज्ञान और प्रकृति

आचार्य शुक्ल विज्ञान के आलोक में यह पाते हैं कि समस्त प्रकृति एक ही मूल द्रव्यों से बनी है। विज्ञान ने अपने अनुसंधानों द्वारा प्रकृति के विराट् फलक को खोला है और शुक्ल जी ने उसका साक्षात्कार भी किया है। मनुष्य ने प्रकृति से प्रेम किया और उसके बन्धन से मुक्त हुआ तथा बदला भी। मानव और प्रकृति का रागात्मक सम्बन्ध बराबर चलता रहा। विज्ञान ने चर-अचर का भेद समाप्त किया और समस्त प्राणियों में एक ही मूल सत्ता को माना। प्रकृति के रहस्यों को समझने के कारण ही, उसकी सूक्ष्मता और विराटता को देखने के कारण शुक्ल जी में भी प्रकृति के प्रति अनन्य आकर्षण पाया जाता है। इस कारण जो मत या सम्प्रदाय प्रकृति के प्रेम से दूर रहता है, इसकी आलोचना शुक्ल जी करते हैं। तथ्य यह है कि शुक्ल जी प्रकृति को ब्रह्म से मुक्त नहीं कर सके हैं, फिर भी प्रकृति के स्वीकार का भाव उनमें है। मनुष्य एवं प्रकृति के अन्तःसम्बन्धों को देखते हुए भी शुक्ल जी अन्तः संघर्षों को नहीं देख पाते। आचार्य शुक्ल प्रकृति के आदिम रूपों—वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, चट्टान, वृक्ष, लता...आदि में भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति पाते हैं। अतः इनके द्वारा जो रस परिपाक संभव है वैसा कल, कारखाने, गोदाम, स्टेशन, इंजन, हवाई जहाज ऐसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्व हरण के जाली दस्तावेज बनाना, मोटर का चरखी घुमाना या इंजन में कोयला झोंकना आदि व्यापारों द्वारा नहीं।[2]

---

१. भूमिका, विश्वप्रपंच, पृ० १२६।

२. चिंतामणि-१, पृ० १४२।

आचार्य शुक्ल यह भूल जाते हैं कि प्रकृति को पराजित कर, उससे संघर्ष कर, मानव ने उससे प्रेम किया। कल, कारखाने, गोदाम. . .ये सारी चीजें प्रकृति से संघर्षरत मानव विजय के ही सूचक है। इनमें भी कर्म-सौन्दर्य का दर्शन किया जा सकता है। इस तरह शुक्ल जी प्रकृति का सौन्दर्य बखानते हुए भी मानव के ऐतिहासिक, वैज्ञानिक सौन्दर्य को नजरअंदाज करते हैं और कोयला झोंकने तथा जाली दस्तावेज बनाने को एक ही श्रेणी में रखते हैं। मनुष्य तथा प्रकृति के संघर्ष का सम्यक् विवेचन शुक्ल जी के यहाँ उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि वे अपने इतिहास में 'कामायनी' की चर्चा करते, वर्तमान जगत् की विषमता के लिए विज्ञान का और मशीन का विरोध करते हैं। ये सारी चीजें तत्कालीन युगचेतना में खोजी जा सकती हैं। आचार्य शुक्ल वर्तमान जगत् की विषमता की खोज तत्कालीन व्यवस्था में नहीं करते। वे विज्ञान का उपयोग पूर्णतः स्वीकार नहीं कर पाते।

विज्ञान और धर्मसम्बन्धी चिन्तन : मूल्यांकन

यह एक विचित्र बिडंबना है कि वैज्ञानिक विचारधारा की ओर झुके आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक को 'मध्यकालीन मर्यादावादी दृष्टिसम्पन्न आलोचक' माना गया है।[1] इसी तरह उन्हें ब्राह्मणवादी भी कहा जाता है। इसके विपरीत रामविलास शर्मा जैसे मार्क्स-वादी उन्हें भौतिकवादी सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। ये दोनों अतिवादी स्थापनाएँ हैं। मेरे समस्त विवेचन से यह साफ हो जाता है कि धर्म की तरफ झुकाव होने पर भी शुक्ल जी विज्ञान का बहुत दूर उपयोग करते हैं और वे धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों, रहस्यवाद आदि का विरोध करते हैं। आज ऐसे आलोचकों की बात सुनने के लिए कोई भी तैयार नहीं है कि शुक्ल जी ब्राह्मणवादी आलोचक थे। डॉ० रामविलास शर्मा के आचार्य शुक्ल सम्बन्धी चिंतन ने यह भ्रम फैलाया है कि वे भौतिकवादी आलोचक थे। दरअसल रामविलास जी शुक्ल जी पर परस्पर विरोधी टिप्पणियाँ देते हैं। वे शुक्ल जी में 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रमुख सिद्धांत' को पाते हैं।[2] उनमें भौतिक जगत् के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण पाते हैं।[3] वे कहते हैं कि द्वन्द्वात्मक पद्धति शुक्ल जी के अध्ययन की विशेषता है।[4] फिर कहते हैं कि भौतिकवाद की ओर बहुत झुकाव होने पर भी शुक्ल जी को सुसंगत भौतिकवादी नहीं कहा जा सकता।[5] शुक्ल जी के कुछ उद्धरणों को लेकर वे कहेंगे कि—"इस वाक्यद्वार से अध्यात्मवाद विज्ञान शिविर में प्रवेश कर सकता है।"[6] फिर कहेंगे कि "इस तरह के स्वतः प्रमाण का दावा

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास—१३वाँ भाग, पृ० २५५।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० १५।

३. वही, १५।

४. वही, १७।

५. वहो १९।

६. वही १९।

भाववादी कर सकते हैं, भौतिकवादी नही।"[1] ये सारी टिप्पणी शुक्ल जी के सन्दर्भ में हैं और किसी बात का जवाब देने के लिए रामविलास जी उसके विपरीत एक टिप्पणी उठाकर रख देंगे। अगर कोई उन्हें अध्यात्मवादी कहे तो रामविलास जी कहेंगे कि वे सुसंगत भौतिकवादी नहीं हैं और अध्यात्मवाद उनकी मूलधारा नहीं है। शुक्लजी जब पदार्थ एवं गति की एकता और अविनाशिता की चर्चा करते हैं तो रामविलास जी भौतिकवादी मान लेते हैं पर शुक्ल जी जब यह कहते हैं कि "सारा बाह्य जगत् भगवान् का व्यक्त स्वरूप है"[2] या "संपूर्ण सत्ता, क्या भौतिक, क्या आध्यात्मिक एक ही परमसत्ता या परमभाव के अन्तर्गत है"[3] या "धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है" तब रामविलास जी कहेंगे कि "वह एक ओर संसार की भौतिकता पर जोर देते हैं और ज्ञान को भौतिक जीवन से ही उत्पन्न मानते हैं, दूसरी ओर वह विश्व आत्मा और भौतिक जगत् में व्यक्त होने वाले ब्रह्म की बात करते हैं। उनके विचारों में यह एक असंगति है। फिर भी विश्व आत्मवाद उनके साहित्य-शास्त्र की मूल धारा नहीं है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। इसलिए उनके दार्शनिक दृष्टिकोण को मूलतः वस्तुवादी कहना अनुचित है।"[4] जब शुक्ल जी नाना भेदों में अभेद की खोज की बात विज्ञान एवं धर्म दोनों के लिए करते हैं तो रामविलास जी चुप हो जाते हैं। जब शुक्ल जी सब मतों और सम्प्रदायों की सामान्य भावना को अपनाने की बात करते हैं तब रामविलास जी अध्यात्मवाद के प्रवेश का जिक्र करके भी सुसंगत दृष्टिकोण नहीं अपनाते। जब शुक्ल जी धर्म की रसात्मक अनुभूति भक्ति को मानते हैं तो यह तय है कि भक्ति बिना ईश्वर के न होगी और ईश्वर को माननेवाला ईश्वरवादी होगा। चूंकि शुक्ल जी ईश्वरवादी हैं, इसलिए वे अध्यात्मवादी भी हैं। दरअसल रामविलास जी आचार्य शुक्ल का एकतरफा विश्लेषण करते हैं जहाँ शुक्ल जी के चेहरे की निजी विशिष्टता खो जाती है। आलोचना की संपादकीय टिप्पणी 'प्रासंगिकता के प्रमाद' में लिखा गया है कि "अतीत के लेखकों को प्रासंगिक सिद्ध करने की चिंता में या तो वर्तमान से उनके पार्थक्य को कम करके बताया जाता है या फिर इस अन्तर को एकदम भुला ही दिया जाता है। इस प्रक्रिया में होता यह है कि प्रगतिशील परम्परा की एक अटूट अविच्छिन्न धारा तो बन जाती है किन्तु कुछ समान प्रगतिशील तत्वों के कारण अतीत के प्रायः सभी महान् लेखक एक रूप में दिखाय पड़ते हैं—यहाँ तक कि उनके चेहरे की निजी विशिष्टता भी खो जाती है।"[5] शुक्ल जी को प्रासंगिक और अपने समय से ज्यादा वैज्ञानिक सिद्ध करने के चक्कर में रामविलास जी इसी 'प्रासंगिकता के प्रमाद' के शिकार बनते नजर आते हैं।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० १९।

२. काव्य में रहस्यवाद, चिंतामणि-२ पृ० १२७।

३. चिंतामणि-२, पृ० ११।

४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ४५-४६।

५. आलोचना, अंक ६७, पृ० ६।

सुसंगत भौतिकवाद को अपनाने में आचार्य शुक्ल ने चाहे जो गलतियाँ की हों, पर इस बात के लिए वे हमारी परम्परा की महत्त्वपूर्ण विरासत है जो विज्ञान की महान् तथा बहुमूल्य परम्परा की कद्र करते हैं। सुसंगत भौतिकवाद को न अपनाने के बावजूद विज्ञान के आलोक में आचार्य शुक्ल धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों एवं रहस्यवादी प्रवृत्तियों के खिलाफ अपने को खड़ा करते हैं। शुक्ल जी द्वारा इस भौतिकवाद को न अपनाना क्या उस युग की सीमा नहीं थी ? कम से कम १९२० तक भारतीय क्षितिज पर वैसा कोई भी नहीं मिलता जो भौतिकवादी दर्शन विकसित करने की कोशिश कर रहा हो। राजाराम मोहनराय, गोखले, तिलक, पाल, अरविंद घोष, टैगोर, गाँधी, इकबाल, जगदीशचंद्र बोस में से किसी ने भी धर्म या ईश्वरत्व की भावना या सत्ता को चुनौती नहीं दी और न उसे नकारा। अगर शुक्ल जी भौतिकवादी दर्शन नहीं अपनाते तो कोई गुनाह नहीं करते। वह युग सीमा थी। पर अपने समय में शुक्ल जी विज्ञानसम्मतरूप की जो वकालत करते हैं, विज्ञान की परंपरा से सीखते हैं, ग्रहण करते हैं, वह उनकी प्रगतिशीलता ही है। नामवर सिंह ने संतुलित टिप्पणी करते हुए कहा है कि "भूमिका से स्पष्ट है कि विश्वप्रपंच का अनुवाद करने के क्रम में स्वयं आचार्य शुक्ल की दृष्टि में भी परिवर्तन हुआ और वह धर्म से उत्पन्न होने वाले अनेक प्रचलित अंधविश्वासों तथा संस्कारों से मुक्त होकर एक वैज्ञानिक दृष्टि की ओर अग्रसर हुई। इस निबंध को पढ़ने पर यह समझने में दिक्कत नहीं होती कि हिन्दी काव्य में रहस्यवाद के प्रसार का विरोध करना शुक्ल जी ने जरूरी क्यों समझा।"[१] शुक्ल जी विज्ञान से आलोक ग्रहण करने के बाद भी भाववाद से मुक्त नहीं होते। वे एक तरफ संसार को सत्य मानते हैं तो, दूसरी तरफ ब्रह्म की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं। आत्मनिष्ठ भाववादियों से अलग वस्तुनिष्ठ भाववादियों की कोटि में उनकी गिनती होगी। उनका भाववादी दृष्टिकोण ही है जो 'भक्ति के विकास' से लेकर अन्य निबंधों में अनात्मवादी भावना को आने नहीं देता। यह भाववादी दृष्टिकोण विज्ञान-चिंतन में बाधक भी बन रहा है, पर इसके बावजूद वैज्ञानिक-चिंतन के लिए आचार्य शुक्ल हमारे अमूल्य धरोहर हैं।

संदर्भ-पुस्तक

विश्व प्रपंच—(१) रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१९ वि०
सूरदास—रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० २०३९ वि०
जायसी—रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् २०३१ वि०
चिंतामणि—१—रामचन्द्र शुक्ल, इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, १९५० ई०
चिंतामणि—२—रामचन्द्र शुक्ल, सरस्वती मंदिर, जतनवर, काशी, २००६ वि०
चिंतामणि—३—रामचन्द्र शुक्ल सं०—नामवर सिंह
महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण—रामविलास शर्मा

---

१. चिंतामणि-३, पृ० २०।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना---रामविलास शर्मा
हिन्दी आलोचना---विश्वनाथ त्रिपाठी
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धांत और साहित्य---जयचन्द्र राय
भारतीय चिंतन परम्परा---के० दामोदरन
हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास---१३वाँ भाग---नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
आलोचना, अंक---६७, सं०---नामवर सिंह

२७७ कावेरी हॉस्टल,
जे० एन० यू०,
नई दिल्ली---६७

●

आचार्य शुक्ल की अप्रस्तुत रूपविधान विषयक मान्यता : एक प्रत्यालोचन

डॉ० योगेन्द्रप्रताप सिंह

⊙

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अप्रस्तुतरूपविधान विषयक मान्यता का प्रारम्भिक अंश उसके स्वरूप तथा सीमा से सम्बन्धित हैं। वे 'अप्रस्तुतरूपविधान' शब्द का प्रयोग मात्र उपमान विधान के ही अर्थ में नहीं करते। वे इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"जब काव्य में कोई प्रस्तुत अवयव होना आवश्यक ठहरा तो उसके अतिरिक्त और जो कुछ रूप-विधान होगा, वह अप्रस्तुत होगा।"[१]

आचार्य शुक्ल प्रस्तुत को वर्ण्यविषय स्वीकार करते हैं और उनके अनुसार काव्य में इस वर्ण्य-विषय के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण रूप-विधान अप्रस्तुत हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र के अन्तर्गत अलंकार-विवेचन के अन्तर्गत 'प्रस्तुत' तथा 'अप्रस्तुत' दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है। सामान्यतया समस्त अलंकारों के सन्दर्भ में वस्तु या अलंकार व्यापार को प्रस्तुत के नाम से पुकारा गया है। दूसरी ओर, अलंकृति या अलंकार व्यापार को अप्रस्तुत के नाम सेअभि-हित किया गया है। सामान्य अर्थ में, अप्रस्तुत का अर्थ उपमानविधान भी है। इस प्रकार, आचार्य शुक्ल ने प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत शब्दों को अर्थविस्तार देते हुए इसे (अप्रस्तुत रूपविधान को) काव्य के वर्ण्यविषयेतर शेष रूपविधायक तत्त्वों के रूप में स्वीकार करते हैं। वे इस प्रकार अप्रस्तुतविधान के अन्तर्गत परम्परा के अलंकारविधान को सन्निविष्ट करते हुए अन्य 'विधायक तत्त्वों की ओर' संकेत करते हैं—

"हमें यहाँ अप्रस्तुत रूपविधान पर कुछ विचार करना है, जो काव्य में किसी-न-किसी वेश में चाहे अलंकार रूप में, चाहे लक्षण रूप में, प्रायः रहता है।"[२]

आचार्य शुक्ल अप्रस्तुत रूपविधान के दो रूपों की ओर संकेत करते हैं—

१. अलंकार रूप अप्रस्तुतविधान

२. लक्षण या उपलक्षण रूप अप्रस्तुतविधान

---

१. रसमीमांसा, पृष्ठ ३३८ (द्वितीय संस्करण)।

२. वही, ३३९।

वे आगे संकेत करते हुए कहते हैं—"कहीं-कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी आभ्यन्तर प्रभावसाम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप में या प्रतीकवत् (Symbolic) होते हैं।"[१]

आचार्य शुक्ल की अप्रस्तुत विषयक मान्यता का एक और भी पक्ष है, वह आज की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। उनकी दृष्टि में, काव्य के लिए अप्रस्तुत विधान अनिवार्य नहीं है—"कोरे वस्तु व्यापार वर्णन तथा स्वभावोक्ति में अप्रस्तुतविधान नहीं रहता, पर रसात्मकता रहती है। यदि प्रस्तुत तथ्य अर्थात् उसके अन्तर्भूत वस्तुव्यापार मार्मिक हैं तो उनका ज्यों-का-त्यों चित्रण मात्र भी भावमग्न करनेवाला काल होता है।"[२] आचार्य शुक्ल के अप्रस्तुतविवेचन का आधार साम्य, सादृश्य तथा साधर्म्य है। वे साम्य शब्द का प्रयोग सादृश्य के पर्याय के रूप में करते हैं। यही नहीं, वे सादृश्य तथा साधर्म्य को समानार्थी नहीं मानते। उनके बीच अन्तर स्थापित करते हुए वे बताते हैं—

१. सादृश्य का अर्थ है, विम्ब प्रतिविम्ब भाव,

२. साधर्म्य का अर्थ है, वस्तु प्रतिवस्तु भाव।

उनके अनुसार, 'वर्ण्य तथा अप्रस्तुत' के बीच विम्ब-प्रतिविम्ब भाव (सादृश्य) अधिक मर्म-व्यञ्जक तथा भावोद्दीपक है, वस्तु प्रतिवस्तुभाव (साधर्म्य) मात्र संसूचनात्मक। अतः अप्रस्तुत विधान के लिए आदर्श स्थिति सादृश्य की है। साम्य एवं सादृश्य के बीच व्याव-हारिक रूप से कोई भेद नहीं है। इनके अप्रस्तुत रुपविधान के विवेचन का मूल आधार यही 'सादृश्य व्यापार' ही है। उनके अनुसार यह सादृश्यविधान दो दृष्टियों से किया जाता है—

१. वस्तुओं के स्वरूप बोध के लिए,

२. भाव को तीव्र बनाने के लिए।

शुक्ल जी की इस धारणा के अनुसार प्रस्तुतरूपविधान के भी इसी प्रकार दो पक्ष हो जाते हैं—

१. प्रस्तुत के स्वरूप का स्पष्ट चित्रण।

२. चित्रण से उत्पन्न भावोत्तेजन की शक्ति।

ये दोनों भिन्न कार्य न होकर एक ही व्यापार के दो पक्ष हैं। प्रस्तुत पक्ष का यह वैशिष्टय अप्रस्तुत या सादृश्य का धर्म है। वे इसकी ओर संकेत करते हुए कहते हैं—"इन सदृश वस्तुओं की योजना से केवल स्वल्पबोध ही नहीं होता, भावोत्तेजना भी प्राप्त होती है। बल्कि, यों कहना चाहिए कि उत्तेजित भाव ही उन सदृश वस्तुओं की कल्पना कराते हैं।" आचार्य शुक्ल मानव-चेतना पर मनोभावों तथा विकारों के उत्तेजक तथा संवेदनापरक प्रभाव को निर्दिष्ट स्वरूपबोध के लिए आधार मानते हैं। यह आधार आधुनिक मनोवैज्ञानिक मान्यता के अधिक समीप तथा भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित रससिद्धान्त के अनकूल भी है। मानव

---

१. रसमीमांसा, पृष्ठ ३४०।

२. वही, पृष्ठ ३३९।

मन, भय, त्रास, निर्वेदादि के क्षणों में सम्पूर्ण वस्तु की प्रतीति को प्रभावित करता है। अतः सादृश्यविधान द्वारा निर्मित वस्तु का प्रतिबिम्बात्मक स्वरूप भावानुक्रम में ही बोध-व्यापार का विषय बनता है और इसीलिए ये सादृश्य विविध रूपों में भय, आतंक, प्रीति, निर्वेदादि भावों से पाठकों के मन को प्रभावित करते हैं। यह विवेचन आधुनिक मनोवैज्ञानिक मान्यता के अधिक समीप तथा भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित रससिद्धान्त के भी अनुकूल है। मानव मन, भय, त्रास, आतंक, हर्ष, निर्वेद आदि के क्षणों में सम्पूर्ण वस्तु की प्रतीति इन्हीं से प्रभावित होकर करता है। शुक्ल जी रस के सन्दर्भ में केवल नैतिकता की बात नहीं करते, उसे प्रकृत जीवनानुभूति से भी अभिन्न मानते हैं। काव्य में वर्णित सुख-दुःख, जीवनगत सुख-दुःखादि से भिन्न नहीं है। इस प्रकार, काव्य के अन्तर्गत जीवन की सुख-दुःखात्मक परिस्थितियों के वर्णन के अनुक्रम में अलंकार-रचना का स्वरूप भी उसी सुख-दुःखात्मकता के परिवेश से प्रभावित होकर निर्मित होता है। पाठक अध्ययन के स्तर पर इन अलंकारों या अप्रस्तुतविधानों से उन भावात्मक परिवेशों को स्पष्टतापूर्वक समझने में सहायता प्राप्त करता है। इस प्रकार, रचनाकार तथा पाठक दोनों पक्षों के संलग्न मनोविज्ञान को वे इसके द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं।

आचार्य शुक्ल के अप्रस्तुतरूपविधान का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व रस एवं अप्रस्तुत का सम्बन्ध है। इसकी व्याख्या वे कई रूपों में करते हैं। भावव्यापार की दृष्टि से स्थायी या क्षणिक आलम्बनों में स्थायी ही ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। रस या भाव दशा से जुड़े होने के कारण ये स्थायी आलम्बन रचना को अधिक सार्थकता प्रदान करते हैं। उनकी धारणा को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

आचार्य शुक्ल ने इन दोनों सन्दर्भों में अनेक उदाहरणों द्वारा यह समझाया है कि स्थायी रूपविधान (अप्रस्तुत रूप) इस सत्ता से प्रत्यक्षतः जुड़े रहते हैं, जबकि द्वितीय श्रेणी के अलंकार प्रयोग मात्र वस्तु की सूचना देने वाले परिश्रम विधायक ही कहे जा सकते हैं। काव्य में इनकी संज्ञा संदिग्ध है, क्योंकि भावों को आस्वाद दशा तक पहुँचाने की सामर्थ्य इनमें नहीं होती। सादृश्य के लिए, उनके अनुसार सर्वोच्च आधार है, भावन-क्षमता। अप्रस्तुतविधान के इस धर्म की चर्चा करते हुए वे कहते हैं—"किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप को गढ़कर या काट-छाँट कर सामने रखने लगती है, तब हम उसे सच्ची कविकल्पना कह सकते हैं।" अप्रस्तुतविधान के अन्तर्गत अकल्पनाशीलता को वे काव्य में निन्द्य मानते हैं और इसीलिए केशवदास जैसे आलंकारिक प्रवृत्ति के कवि उनकी अलंकार विधान की कसौटी पर खरे नहीं उतरे। यही नहीं, कोरी भावुकता प्रदर्शित करने वाली अतिशय कल्पनाशीलता भी उन्हें ग्राह्य नहीं है। पन्त आदि छायावादी कवियों के अप्रस्तुतों की झड़ी को भी शुक्ल जी केवल मौसमी कविता तक सीमित रखते हैं। उनके अनुसार कल्पनाधिक्य को सूचित करने के लिए अप्रस्तुतविधान की ऊहात्मक वस्तुव्यंजक शैली का विधान कवियों में तीन प्रकार का देखा जाता है—

१. ऊहा की आधारभूत वस्तु असत्य अर्थात् कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्धि, २. ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य या स्वतः सम्भवी, ३. ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य है पर उसके हेतु की कल्पना की गयी है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि मूलतः ध्वनि सिद्धान्त के 'कविनिबद्धमान पात्र प्रौढोक्तिकसिद्ध' की ओर है, किन्तु नामोल्लेख नहीं करते।

सादृश्य विवेचन के सन्दर्भ में शुक्ल जी अलंकार के स्वरूप एवं उसके कार्यविस्तार पर गम्भीरतापूर्वक चर्चा करते हैं। वे अलंकार को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

"भावों का उत्कर्ष दिलाने और वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया का तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।"[१] आचार्य शुक्ल पद्मावत में अप्रस्तुतविधान की व्याख्या में भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। इस मीमांसा में भी कहते हैं—"रूप, गुण, क्रिया तीनों का अनुभव तीव्र करने के लिए अधिकतर सादृश्यमूलक उपमा आदि अलंकारों का ही प्रयोग होता है।"[२]

इन तीनों में वे रूपतत्त्व पर अधिक बल देते हैं। उनके अनुसार रूप का अनुभव प्रधानतः चार प्रकार का होता है—

१. अनुरंजक
२. भयावह
३. आश्चर्यकारक
४. घृणोत्पादक

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ १२७।
२. रस मीमांसा, पृष्ठ ३६१।

'गोस्वामी तुलसीदास' के अन्तर्गत वस्तुओं के रूप के अन्तर्गत सौन्दर्य, भीषणत्व, कोमलता आदि का तीव्र अनुभव करने के प्रेरक धर्मरूप अलंकार विधान की वे चर्चा करते हैं। 'जायसी ग्रंथावली' का भी विवेचन इसी सरणि में है। गुण तथा क्रिया के सन्दर्भ में वे बताते हैं कि इनका अनुभव तीव्र बनाने के लिए कविगण वस्तु तथा अप्रस्तुत के बीच या तो अनुगामी धर्म स्थापित करते हैं, या वस्तु, प्रतिवस्तु या फिर, उपचरित।

उनके अनुसार अप्रस्तुत की भाषा के दो तत्त्व हैं—

१. सांकेतिक (Symbolic)

२. विम्बाधायक (Presentative)

"एक में नियत संकेत द्वारा अर्थबोध मात्र हो जाता है और दूसरे में वस्तु का विम्ब या चित्र अन्तःकरण में उपस्थित होता है। वर्णनों के सच्चे कवि द्वितीय पक्ष का आलम्बन ग्रहण करते हैं।"

इस विम्बग्रहण में भी वे रसात्मकता पर अधिक बल देते हैं—"वे (सच्चे कवि) वर्णन इस ढंग से करते हैं कि विम्ब ग्रहण हो, अतः रसात्मक वर्णनों में यह आवश्यक है कि एसी वस्तुओं का विम्ब ग्रहण किया जाय, जो प्रस्तुत रस के अनुकूल हों, उनकी प्रतीति में बाधक न हो।"

वे लक्षण या उपलक्षण रूप अप्रस्तुतों की चर्चा करते हुए बताते हैं कि प्रतीक इसी कोटि में आते हैं। इनका निर्माण प्रस्तुत के आभ्यन्तर प्रभावसाम्य के आधार पर किया जाता है, जैसे—

उनके अनुसार इस प्रकार के अप्रस्तुत 'एकदेशीय, सूक्ष्म, धुँधले पर मर्मव्यञ्जक साम्य का धुँधलासा आधार लेकर खड़े हो जाते हैं।"

आचार्य शुक्ल उपलक्षणरूप अप्रस्तुतविधान के लिए जिन दो उदाहरणों को रखा है, उनमें से एक विम्बात्मक रूपविधान का है। इसी दृष्टि से वे प्राचीन शैली (विशेष रूप से कालिदास के मेघदूत के प्रकृति-चित्रण का उल्लेख करते हैं) एवं आधुनिक (छायावादी) काव्यशैली की चर्चा करते हुए दोनों के बीच निहित अन्तराल को निम्नलिखित शब्दों में व्यञ्जित करते हैं—

"हिन्दी की नयी काव्यधारा में साम्य पहले उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक ऐसे अलंकारों के बड़े-बड़े साँचों के भीतर ही फैलाकर दिखाया जाता था। अब वह प्रायः थोड़े में या तो लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा झलका दिया जाता है अथवा कुछ प्रच्छन्न रूपकों में प्रतीयमान रहता है। इसी प्रकार किसी तथ्य या पूरे प्रसंग के लिए दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि का सहारा न लेकर अब अन्योक्ति पद्धति ही अधिक चलती है। यह बहुत ही परिष्कृत पद्धति है।"

बिम्बविधान को शुक्ल जी इसी श्रेणी में रखते हैं। सादृश्यविधान के पश्चात् वे साधर्म्य अर्थात् वस्तु से वस्तु का चित्रण या प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के बीच वस्तु-प्रतिवस्तु भाव का चित्रण करते हैं। उनके अनुसार सांगरूपक विधान इसी श्रेणी में आता है।

अन्त में, शुक्ल जी कतिपय अलंकारों के विषय में सावधानी (विश्लेषण एवं प्रतीति के स्तर पर) बरतने का आग्रह भी करते हैं। विकल्प, स्मरण, सन्देह, भ्रम आदि के अलंकारत्व के निर्धारण में यदि सावधानी न बरती जाय तो भाव एवं अलंकार प्रतीति में विभ्रम उठ सकता है।

आचार्य शुक्ल जी के विवेचन का सारांश इतना ही है। संक्षेप में, इस अभिमत के औचित्य पर विवेचन यहाँ अभीष्ट है।

(२)

अप्रस्तुत रूपविधान सम्बन्धी आचार्य शुक्ल का यह विवेचन सम्पूर्णतः व्यवस्थित नहीं है। जैसा कि निर्दिष्ट है, अप्रस्तुतरूपविधान पर आचार्य शुक्ल जी ने लगभग समानान्तर भाव से जायसी ग्रंथावली, गोस्वामी तुलसीदास एवं रस-मीमांसा के अन्तर्गत विवेचन प्रस्तुत किया है। रस-मीमांसा की सामग्री इसमें अधिक प्रौढ़ है, फिर भी सर्वथा संगति के अभाव में उसे व्यवस्थित नहीं कहा जा सकता। सम्पादक श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी के शब्दों में (रस-मीमांसा की) "सारी सामग्री इतस्ततः होकर अस्तव्यस्त हो गयी। कुछ अंश अधूरे ही रह गये।...हस्तलिखित और मुद्रित निबन्ध राशि का आलोडन करके किसी प्रकार अखण्डता की स्थापना की गयी....।"[1] फिर भी, शुक्ल जी के विचारों की सम्पूर्ण सरणि स्पष्ट या सांकेतिक रूप में 'रसमीमांसा' के इस अंश में आ गयी है।

आचार्य शुक्ल का अप्रस्तुत रूपविधानविषयक यह दृष्टिकोण परम्परा से पर्याप्त रूपेण मुक्त है। उन्होंने अप्रस्तुत को अलंकार विवेचन की संकीर्ण सीमा से पृथक् करके काव्य के सम्पूर्ण विधानात्मक कलेवर के रूप में इसे विवेचित किया। इसके बावजूद भी उनकी इस मान्यता में अभी भी स्पष्टता की पर्याप्त सम्भावना है।

अप्रस्तुतरूपविधान काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है, आचार्य शुक्ल जी ने इसे इस अंश द्वारा एवं अन्यत्र भी स्वीकार किया है; किन्तु इस अप्रस्तुतरूपविधान को रचना से हटाकर उसकी इस आवश्यकता को कैसे पूरा किया जाये, यह एक बहुत ही गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण समस्या है। कारण कि अप्रस्तुतरूप कुछ वस्तुओं एवं व्यापारों तक ही सीमित नहीं है। उसकी व्याप्ति रचनाकार के सम्पूर्ण अनुभव, रचना-संस्कार, सोचना-विचारना, भाषिक अभिव्यक्ति तथा सम्प्रेषण कला तक है। एक प्रकार से, यह रचनात्मक अभिव्यक्ति की भाषिक सामर्थ्य का अनिवार्य धर्म है। रचनाकार के लिए सादृश्य एक रचनात्मक आवश्यकता के अतिरिक्त भाषिक मजबूरी भी है, क्योंकि अभी भाषा (हिन्दी काव्यभाषा)

---

1. रस-मीमांसा, भूमिका, पृष्ठ ४।

के संकेतग्रहों का इतना अधिक विकास नहीं हो सका है कि भावसम्प्रेषण को सादृश्य मूलकता के बिना भी सहज बनाया जा सके, इसीलिए हिन्दी कविता को काफी समय तक (काव्य भाषा के पर्याप्त विकसित होने तक) अप्रस्तुतरूपविधान की आवश्यकता पड़ेगी। सादृश्य, रूपकविधान, प्रतीक, बिम्ब एवं मिथकीय सादृश्य ही नहीं, अप्रस्तुत अर्थविधान भी इसी में अन्तर्भुक्त है। इन सबके बिना कविता की रचना निश्चित ही काव्यभाषा में संकेतग्रहों के विकास के साथ-साथ रचनाकार के सर्वथा भिन्न सामाजिक परिवेश, संस्कार, अनुभवादि का नयापन, अभिव्यक्तिकौशल की नवीनता आदि की समृद्ध परिस्थिति की उपज होगी। नया कविता में इसके कुछ उदाहरण अवश्य मिलेंगे, किन्तु अप्रस्तुतविधान की मानसिकता से मुक्ति नहीं मिलेगी। भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के साहित्य को रचना की संज्ञा दी गया है। किन्तु, एक वर्ग इस सौहित्न को नहीं स्वीकार करता। उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। आचार्य कुन्तक अलंकार्य (वस्तु, वर्ण्य-विषय) एवं अलंकृति या अलंकार (अप्रस्तुत) के सौहित्न को ही काव्य मानते हैं। उनके अनुसार केवल अलंकार या केवल वस्तुविषय कविता नहीं है, इसीलिए उनकी दृष्टि में न तो चित्र कोई काव्य है और न स्वभावोक्ति। 'चित्र' तभी काव्य हो सकता है जब उसमें वर्ण्य हो। दूसरी ओर आचार्य दण्डी मात्र भाषिक लालित्य से (अप्रस्तुत रूपविधान के अभाव में भी) मार्मिक तथा व्यञ्जक काव्यसृष्टि को स्वीकार करते हैं। 'ललित लवंग लता परिशीलन शीतल मलय समीरे'—जयदेव की इस पंक्ति में कोई अप्रस्तुतरूप नहीं है, फिर भी यह पंक्ति समर्थ काव्यपंक्ति है। आचार्य भामह 'विशेषण की भाषा' या अनुप्रास से बोझिल वक्रोक्तिशून्य शब्दार्थ को काव्य नहीं मानते। आचार्य दण्डी के समर्थक वामन, भोज, अग्नि-पुराणकार आदि के अनुसार शब्दार्थ के लेशसुष्ठुता रचनाभंगिमा को प्रकट करती है और उससे काव्य का जन्म होता है। आचार्य शुक्ल इस अभिमत को स्वीकार करते हैं—

"कोरे वस्तु-व्यापार वर्णन तथा स्वभावोक्ति में अप्रस्तुतविधान नहीं रहता, पर रसात्मकता रहती है। यदि प्रस्तुत तथ्य अर्थात् इसके अन्तर्भूत वस्तु-व्यापार मार्मिक हैं तो उनका ज्यों-का-त्यों चित्रण भी भावमग्न करनेवाला होता है।"

आचार्य शुक्ल का यह कथन गुणवादी आचार्यों की संगति में है। वे सिद्धान्त से अभिधावादी थे, अतः अप्रस्तुत को काव्य की निरवकाश आवश्यकता नहीं मानते। इन्हीं आचार्यों की भाँति स्वभावोक्ति इनके अनुसार भी अलंकार है। काव्य में लाक्षणिकता महत्त्वपूर्ण है या अभिधेयार्थ, प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण है या अप्रस्तुतरूपविधान, रस महत्त्वपूर्ण है या अलंकार-विधान, शुक्ल जी स्थल-स्थल पर इस विवाद को उठाकर रस, अभिधा एवं प्रस्तुतरूपविधान को बलपूर्वक वरीयता के साथ स्वीकार करते हैं। शुक्ल-युग में छायावादी शैली के प्राधान्य के कारण लाक्षणिक प्रयोगों का बाहुल्य दिखायी पड़ता है। जैसा कि इसके पूर्व निर्देश किया जा चुका है, शुक्ल जी मानवीकरण, बिम्बविधान तथा प्रतीकबद्धता सबके लिए 'अन्योक्ति-पद्धति' शब्द का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं—"हिन्दी की नयी काव्यधारा में साम्य, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक ऐसे अलंकारों के बड़े-बड़े ढाँचे के भीतर ही फैलाकर दिखाया जाता था, अब

वह प्राय: थोड़े में लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा झलका दिया जाता है अथवा प्रच्छन्न रूपकों में प्रतीयमान रहता है। इसी प्रकार किसी तथ्य या पूरे प्रसंग के लिए दृष्टान्त अर्थान्तरन्यास का सहारा न लेकर अब अन्योक्ति पद्धति ही अधिक चलती है।"

वस्तुत: छायावाद-युग की शैलीगत लाक्षणिकता उस युग के वैचारिक अभिव्यक्ति की एक आवश्यकता थी। परम्परा से हटकर सर्वथा जिस नवीन वैज्ञानिक दृष्टि के विकास ने उस युग के मानव मन को छूने लगा था, उस नवीन स्वानुभूत अर्थव्याप्ति को पारम्परिक अप्रस्तुत रूपविधान शैली से व्यक्त करना सम्भव नहीं था। इन कवियों ने इसके लिए परम्परा का बहुत थोड़ा-सा उपयोग किया, अधिकांशतया उससे हटकर प्रतीक, बिम्ब, मानवीकरण, मिथकीय सादृश्य आदि से उस कमी को पूरी की। यह सत्य है कि इन सबको शुक्ल जी ने आँख मूँदकर 'अन्योक्ति शैली' या लाक्षणिकता के नाम से पुकारा, जो संगत नहीं है, फिर भी उन्होंने काव्य में घटित अप्रस्तुत रूपविधानविषयक इस परिवर्तन का समर्थन मुक्त-कंठ से स्वीकार किया है।

मानव-चिंतन एवं सामाजिक संस्करणबद्धताओं की विच्छिन्नता के कारण आज जितनी तेजी से मूल्यों एवं अर्थों में बदलाव घटित हो रहा है, मानव भाषा के लिए विशेष उलझनों का कारण है। अर्थ, शब्द, मूल्य, समझने-समझाने की शैली, सृष्टि के अज्ञेय सन्दर्भों के लिए नवीन रहस्योद्घाटन आदि कितने ऐसे तत्त्व हैं जो मानव अनुभवों एवं संस्कारों का विखण्डन कर रहे हैं। इसी के कारण आज मनुष्य की भाषिक सम्प्रेषण शैली में जितनी त्वरा से परिवर्तन घटित हो रहा है, एक शती पूर्व तो वह नितान्त कम था। आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में विविध घात-प्रतिघात इसी बदलाव के उदाहरण हैं—भारतेन्दु-युग के मध्य में ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली काव्य, छायावाद के प्रारम्भ में खड़ीबोली बनाम छायावाद का विवाद, प्रयोगवाद-युग में छायावाद बनाम प्रयोगवाद का संघर्ष, प्रयोगवाद की समाप्ति के बाद प्रयोगवाद तथा नयी कविता एवं आज नयी कविता तथा सामयिक कविता का विवाद मूल्यों तथा अर्थों के बदलाव में परम्परा के विखण्डन के प्रश्न से जुड़ा है। मूल्य, अर्थ के साथ मनुष्य का अनुभव एवं फिर भाषा अनिवार्यत: बदलेगी, ऐसी स्थिति में परम्परागत अप्रस्तुतरूपविधान स्थिर कैसे रह सकेगा, इसकी कल्पना ही नहीं करनी चाहिए और न परम्परागत मूल्यों के अंग के रूप में नवीन अप्रस्तुतों की व्याख्या ही की जा सकती है। अत: छायावादी लाक्षणिक शैली के लिए 'अन्योक्ति शैली' या लाक्षणिक शैली का अप्रस्तुतपरक नाम देना अपने आप में संगत प्रतीत नहीं होता। शुक्ल जी रस-सिद्धान्त को एक-एक सार्वभौम सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं विशेषकर, अलंकारों को वे उसी अनुक्रम में देखते हैं। 'रस-सिद्धान्त' से काव्यभाषा में अप्रस्तुत रूपविधान के प्रयोग की सही स्थिति का आकलन नहीं किया जा सकता है। अप्रस्तुत रूप विधान अनेक भाषिक सर्जनात्मक समस्याओं को अपने में संवलित किये रहते हैं, किन्तु शुक्ल के इस अप्रस्तुत रूपविवेचन में कहीं-भी उनकी ओर संकेत नहीं किया गया है। अप्रस्तुत रूपविधान के सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण परम्परावादियों जैसा ही अन्ततया दृष्टिगत होता है।

चैत्र-मार्गशीर्ष : शक १९०६]

आचार्य शुक्ल अप्रस्तुतरूपविधान के मूल में सादृश्य तथा साधर्म्य को केन्द्रीय तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार साम्य सादृश्य का पर्याय है। वे दोनों में पार्थक्य स्थापित करते हुए प्रथम को बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से संयुक्त तथा द्वितीय को वस्तु-प्रतिवस्तु भाव से युक्त बताते हैं। सादृश्य और साधर्म्य को लेकर एक विवाद संस्कृत-काव्यशास्त्र में 'उपमा के प्रसंग में' मिलता है। शुक्ल जी इन दोनों का समन्वय-जैसा करते हैं उनकी दृष्टि में सादृश्य, साधर्म्य से उत्कृष्ट है और साधर्म्य की सत्ता उन्होंने वस्तु-प्रतिवस्तु रूप निर्देशक सांगरूपकादि में ही मानी है। आचार्य शुक्ल ने 'साधर्म्य' शब्द पर सावधानी से विचार नहीं किया है, साधर्म्य का अर्थ वस्तु-प्रतिवस्तु न होकर 'धर्म-प्रतिधर्म' है और प्रस्तुत एवं अप्रस्तुतरूपविधान में निहित सादृश्य के लिए यह 'धर्मप्रतिधर्मिता' ही मूल मेरुदण्ड है।

उनके अनुसार सादृश्यमूलक एवं लाक्षणिक प्रस्तुत रूपविधान—ये काव्यभाषा की दो कोटियाँ हैं। सादृश्य के माध्यम से वे भारतीय आलंकारिक दृष्टि के रूप में विवेचित उपलक्षण रूप या आभ्यन्तर रूपसादृश्य का भी विवेचन करते हैं। उपलक्षण के अन्तर्गत प्रतीक, बिम्ब एवं कल्पनामूलक सादृश्यों की चर्चा करते हैं। सादृश्य विधान की बाह्य तथा आभ्यन्तर, स्पष्ट एवं सांकेतिक, साधारण और उपलक्षित—इन सभी की रचना का कारण है। उपमा, रूपक, प्रतीक, बिम्ब एवं मिथकीय प्रयोग सभी-के-सभी सादृश्यगर्भित हैं। इनमें उत्तरोत्तर बुद्धि तथा कल्पना का संयोग एवं विस्तार दोनों की वृद्धि दिखायी देती है। आचार्य शुक्ल प्रतीक का प्रतीकात्मक सादृश्य एवं बिम्बविधान को सांकेतिक सादृश्य से सम्बद्ध करते हैं। मूलतः दोनों में आभ्यन्तर सादृश्य वर्तमान है।

आचार्य शुक्ल 'वाह्य तथा आभ्यन्तर सादृश्य' की चर्चा करके प्राचीन भारतीय तथा सामयिक सादृश्यरचना के रूपों पर प्रकाश तो अवश्य डालते हैं, किन्तु अलंकाररचना के उन अप्रस्तुत रूप हेतुओं को उपेक्षित कर देते हैं जो सादृश्य से भिन्न होकर भी अप्रस्तुत-विधान के सहायक तत्त्व के रूप में हैं। ये तत्त्व वक्रता, अतिशयता, औचिति, स्वभावोक्ति आदि हैं। काव्य के कलात्मक आस्वाद की रचना में इन सबका अपना विशिष्ट योगदान है। अप्रस्तुत रूपविधान को मात्र रूप, क्रिया, गुण से सम्बन्धित सादृश्य तक सीमित रखना उचित नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र में अप्रस्तुत रूप की तीन श्रेणियाँ मिलती है—

१. वस्तु के रूप, गुण, क्रिया एवं द्रव्य के लिए वस्तु के रुप, गुण, क्रिया, द्रव्य का सादृश्य या साधर्म्य प्रस्तुत करना।

२. प्रस्तुत वाक्य के लिए अप्रस्तुत वाक्य का सादृश्य या साधर्म्य प्रस्तुत करना।

३. प्रस्तुत अर्थ के लिए अप्रस्तुत अर्थ की रचना।

सम्पूर्ण अलंकाररचना व्यापार को इन व्याप्तियों में न विवेचित करने का अर्थ है, उन्हें सीमित बनाना।

अप्रस्तुत रूपविधान शब्दगत न होकर वाक्यगत भी है। उसमें रूप, गुण, क्रियादि की व्याप्ति-धर्म न होकर सादृश्येतर अन्यधर्म वर्तमान मिलते हैं, जिनकी ओर आचार्यों ने

शुद्धा लक्षणा के प्रकरण का संकेत किया है। उदाहरण के लिए कार्य-कारण, आधेय-आधार, तात्कर्म्य, सामीप्य, धर्मधारकादि। ये काव्य में रसात्मक भूमि का भी निर्णय करते हैं तथा अपनी अर्थशक्ति द्वारा काव्य के कलात्मक स्वभाव की भी रक्षा में योगदान देते हैं। इस प्रकार के उदाहरण प्रतीक, उपमा, रूपकादि से सर्वथा भिन्न है। यथा—

दृग उरझत टूटत कुटुँब, जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाँठ दुरजन हिए, दई नयी यह रीति॥

असंगति अलंकार के इस प्रसिद्ध उदाहरण में पदगत सादृश्य नहीं है। वाक्यगत सांकेतिक सादृश्य 'तागे में ग्रंथि पड़ने, उसके टूटने, जुड़ने एवं गाँठ पड़ने' के माध्यम से तात्कर्म व्यापार को आधार बनाकर समग्र रचनारूप को खड़ा किया गया है। इसी प्रकार शुद्धा लक्षणा से बनने वाले अनेक अप्रस्तुतरूप वाक्यों में सादृश्यनियामक तत्त्व नहीं होता. फिर भी, अप्रस्तुत-रूपपदों का विधान अधिक रमणीक एवं हृदयावर्जक रूप में सामने आता है। इन रूपों की चर्चा आचार्य शुक्ल ने नहीं की है।

इसी प्रकार प्रस्तुत अर्थ के लिए अप्रस्तुत अर्थविधान व्यापार भी इसी अप्रस्तुत रूप-विधान की एक सफल तथा उत्कृष्ट काव्यरूप है जो शुक्ल जी की रसात्मक दृष्टि के कारण छूट गया। अलंकार-व्यापार के अन्तर्गत व्यञ्जना व्यापार के समाहार से इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हुई है। पर्यायोक्ति, समासोक्ति, अन्योक्ति, व्याजोक्ति, आक्षेप आदि की पद्धति सादृश्य, प्रतीक तथा बिम्ब-व्यापार से भिन्न है। इनके लिए सादृश्य का उपयोग विशेष अर्थ-वान् नहीं है। व्यञ्जना-व्यापार के अन्तर्गत केवल लक्षणामूला व्यञ्जना ही सादृश्यगर्भित है, शेष अभिधा एवं व्यंग्यार्थ की कोटियाँ इनसे भिन्न हैं। व्यञ्जना अर्थरचना का व्यापक तथा विस्तृत फलक है। इसके माध्यम से काव्य को सादृश्यमूलक अलंकार विधान से सर्वथा मुक्त करने का प्रयास किया गया था। आगे चलकर शास्त्रवादियों ने इसे भी शास्त्रबद्ध करके इसकी ऊर्जाशक्ति को सीमित रेखांकन में निबद्ध कर दिया। बहरहाल, प्रस्तुत-विषय के अन्तर्गत इसकी इतनी ही चर्चा अभीष्ट है कि प्रस्तुत अर्थ की पुष्टि के लिए अप्रस्तुत अर्थ जैसी कल्पना (यहाँ प्रस्तुत का अर्थ उपमेय वाक्य (अर्थ) एवं अप्रस्तुत का अर्थ उपमान वाक्य (अर्थ)—भारतीय आचार्यों ने की है। यहाँ प्रस्तुत का अर्थ वाच्यार्थ से है तथा अप्रस्तुत का अर्थ प्रस्तुत वाक्य के मर्म को उद्घाटित करने के लिए प्रयुक्त व्यञ्जक अर्थ से है। इसे एकाध उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

चारु चरन नख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर कवि बरनी।
मनहुँ प्रेमबस बिनती करहीं। हमहिं सीय जनि पद परिहरहीं।

"नूपुर मानो प्रेमवश विनय कर रहे हैं कि हे राम! आप हमें सीता के चरणों से विमुक्त न होने दें।"

यहाँ प्रस्तुत या वाच्यार्थ है—'हे राम! आप सीता को अपने साथ अवश्य लिवा जाएँ तथा उसे अकेले अयोध्या में न छोड़ें।"

इस प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि के लिए नूपुरोक्ति एक बहाना है। "यदि आप सीता को

अयोध्या में छोड़कर चले जायेंगे तो मुझे अनिवार्यतः उनके चरणों से अलग होना पड़ेगा क्योंकि विरहिणी नायिकाएँ अलंकरण सज्जादि को पति-प्रवास में लगा देती हैं। मुझे सीता के चरण अत्यधिक प्रिय हैं और मेरा आपसे इतना ही निवेदन है कि आप मुझे सीता के चरणों से अलग न होने दें।" मूलवाच्यार्थ 'सीता को साथ में ले जाना' तथा व्यञ्जक अप्रस्तुत नूपुरों का कथन कि 'आप हमें सीता के चरणों से विमुक्त न होने दें' निश्चित ही प्रतीयमान अप्रस्तुत रूपविधान की कोटि में रखा जाना चाहिए।

आचार्य शुक्ल ने सादृश्य के सम्बन्ध में कल्पनाविधान की भी चर्चा की है तथा इसके अन्तर्गत आभ्यन्तर तथा सांकेतिक, इन दो रूपों को स्वीकार किया है। सांकेतिक को बिम्बाधायक (भाषा के स्तर पर) मानकर उसे आभ्यन्तर से अधिक कल्पनासंगत माना है। अप्रस्तुतरूपविधान प्रत्यक्षतः भाषा-धर्म नहीं हैं, फिर भी खींचतान कर उन्हें इस सीमा तक लाया जा सकता है। व्याख्या के स्तर पर अप्रस्तुतरूपविधान के जिन काल्पनिक रूपों की वे चर्चा करते हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. कवि प्रौढोक्ति

२. स्वतः सम्भवी

३. तीसरे के लिए नाम नहीं दिया है, लक्षण निर्देश मात्र हैं, जो 'कवि-निबद्धमान पात्र प्रौढोसिद्ध' के लिए है।

भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनिसिद्धान्त कवि के सम्पूर्ण कल्पनाविलास को इन रूपों में विवेचित करता है। शुक्ल जी की पैनी दृष्टि से यह छूट नहीं सका, किन्तु उन्होंने इस विवेचन में अधिक संयम से काम नहीं लिया। उन्होंने रीतिकालीन कवियों के ऊहात्मक कल्पना चित्रों की ही व्याख्या इसके अन्तर्गत की है—विशेषरूप से बिहारी प्रसंग उन्हें स्मरण आये। मूलतः ऐसी बात नहीं है। भारतीय काव्य में ललित कल्पना-विलक्षणता के अतिशय मुग्धकारी चित्र इन तत्त्वों द्वारा निर्मित किये गये हैं। यह कवि की कला तथा कल्पना विलास की एक अक्षय सम्पत्ति है, जो वैचित्र्य, विस्मय एवं अनुरञ्जन का भाव उत्पन्न करके पाठक को मुग्ध करती रही है। यथा—

अस कहि पुनि चितये तिहिं ओरा। सिय मुख-ससि भये नयन चकोरा।
भये विलोचन चारु अचंचल। मनहु सकुचि निमि तजे दृगंचल।

'निमि' का निवास सभी नेत्रधारियों की पलकों पर बताया गया है। परम्परा के अनुसार ये जनक के पितामह थे। प्रणयाभिभूत 'राम और सीता' परस्पर एक-दूसरे को एकटक देख रहे हैं, पलकें गिर नहीं रही हैं, कवि कल्पना करता है कि जानकी के पूर्वपुरुष अपनी संतति के इस प्रणय-व्यापार को देखकर संकोच का अनुभव करते हुए दोनों के पलकों से अपना निवास छोड़ देते हैं, इसलिए पलकों का गिरना अर्थात् पलकनिमेष एकक्षण के लिए समाप्त हो उठता है। प्रणयाभिभूत निर्निमेष दर्शन को कविकल्पना के आधार पर निमि का संकोचवश 'पलक वास-त्याग' बताता है। इस प्रकार की अनेक सुन्दर काव्यात्मक कल्पनाविधानों को मात्र ऊहा की श्रेणी में ही रखना उचित नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत कल्पनामण्डित सम्पूर्ण

'कविसमय-व्यापार' इसी के अन्तर्गत हैं। स्वतः सम्भवीरूप अप्रस्तुतरूपविधानगत कवि कल्पना व्यापार है। यह लोक यथार्थ से भी संयुक्त होने के कारण अधिक रञ्जक तथा मोहक बनकर काव्य में अवतरित होता है। सबसे महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ 'कवि निबद्धमान पात्र प्रौढोक्ति-सिद्ध' की है। इसके अन्तर्गत अपनी मनोहारी कल्पना सृष्टि के बल पर कवि सम्पूर्ण काव्य-प्रसंग की सृष्टि कर लेता है। उदाहरण के लिए, 'कालिदास' कृत मेघदूत का सम्पूर्ण 'यक्ष प्रसंग' कविकल्पनाविलास-मात्र है। रामचरितमानस में तापस-प्रसंग, लंकाकाण्ड के प्रारम्भ में चन्द्रदर्शन, इसके अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। विनयपत्रिका के अन्तर्गत पत्रप्रसंग की परि-कल्पना भी यही है। पन्त-कृत 'बादल' या इसी स्वभाव की अन्य कविताएँ, इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं।

मूलतः सम्पूर्ण अप्रस्तुतरूपविधान कवि के कल्पना-व्यापार के अंग के रूप में ही हैं। इसकी रचना इसी शक्ति के द्वारा होती है। इस कल्पना-विधान को मात्र ध्वनिसिद्धान्त के अन्तर्गत 'अर्थान्तर संक्रमित' के रूप में देखना उचित नहीं है। रचनाकार इस अप्रस्तुतविधान की कल्पना के माध्यम से प्रस्तुत को सुकर, प्रभावशाली तथा सम्प्रेषण का विषय बनाता है। आई० ए० रिचर्ड्स इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"People who naturally employ metaphor and simile, especially when it is of an unusal kind, are said to have imagination. ....It (Metaphor) is the supreme agent by which disparate and hitter to un-connected things are brought together in poetry for the sake of effects upon attitude and impulse which spring from their collocation and from the combinations which the mind then establishes between them."[१]

संस्कृत-साहित्य में भी अलंकारविधान का सम्बन्ध कल्पनाविधान से माना गया है। विविध प्रस्तुतों की सम्प्रेषणधर्मिता की सिद्धि के लिए सादृश्य, कारण, न्याय, शृंखला, अतिशयता, आरोप, विरोध आदि वर्ग की कल्पनाओं द्वारा इसकी सृष्टि की जाती है। सम्पूर्ण अलंकारविधान मूलतः कवि के कल्पना-व्यापार से सम्बन्धित हैं।

आचार्य शुक्ल के अप्रस्तुतरूपविधान के सन्दर्भ में अन्तिम विचारणीय समस्या अलंकार की परिभाषा से सम्बन्धित है। उनकी यह परिभाषा इस प्रकार है—

"भावों का उत्कर्ष दिखाने एवं वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।"

शुक्ल जी की इस परिभाषा को सर्वथा मौलिक एवं निर्दोष माना जाता रहा है। उन्होंने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक परम्परा के आचार्यों के कथनों पर युक्तिसंगत ढंग से विचार करते हुए, अलंकारविषयक इस परिभाषा को स्थापित किया। वस्तुतः भारतीय साहित्य-शास्त्र में अलंकारों को इतने व्यापक ढंग से विवेचित किया गया है कि उन सम्पूर्ण मतों को

---

१. Principles of Literary Criticism, P. 240.।

सार-समास रूप में रख पाना थोड़ा-सा मुश्किल प्रतीत होता है। 'भावों का उत्कर्ष दिखाना' यह पद ध्वनिवादियों की मान्यताओं से सम्बन्धित है। आचार्य आनन्दवर्धन ने अलंकार प्रयोग के रसात्मक औचित्य का अनेक रूपों में विवेचन किया है। वे अपने सम्पूर्ण निष्कर्षों को एक वाक्य में बताते हैं—"तत् (रस) प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलंकाराः॥" आगे चलकर इसी सन्दर्भ में मम्मट—"उपकुर्वन्ति तं (रसं) सन्तं' तथा कविराज विश्वनाथ—"रसादीनु-प्रकुर्वन्तो" पदों का प्रयोग करते हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा प्रयुक्त उपवाक्य—'भावों का उत्कर्ष दिखाने' का सम्बन्ध इसी परम्परा से है। 'वस्तु के रूप, गुण, क्रिया का तीव्र अनुभव कराने' का उपपद परम्परा के विविध अलंकारों की परिभाषाओं एवं प्रयोगों पर चिन्तन करके गढ़ा गया है। जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है, शुक्ल जी इसमें 'द्रव्य' तत्त्व को छोड़ देते हैं। आचार्य दण्डी से लेकर विश्वनाथ तक सभी रूप, गुण, क्रिया के साथ 'द्रव्य' तत्त्व का उल्लेख करते हैं—

१. दण्डी 'दीपक' का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना ।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपकं यथा ॥

२. विरोध अलंकार के लक्षण तथा भेद का उल्लेख करते हुए मम्मट कहते हैं—

विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।
जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैः अविरुद्धास्याद् गुणस्त्रिभिः।
क्रियाद्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश॥

३. उत्प्रेक्षा अलंकार का विवेचन करते हुए विश्वनाथ रूप, गुण, क्रिया के साथ द्रव्य-तत्त्व का उल्लेख करते हैं—

भवेत्वसंभावनोत्प्रेक्षाप्रकृतस्य परात्मना। वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधामता।
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः। जातिर्गुणक्रियाद्रव्यं तदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि।

इस प्रकार जाति, गुण, क्रिया के साथ द्रव्य का उल्लेख एक विचारणीय स्थिति है। न्याय-सिद्धान्त के अन्तर्गत द्रव्य को परिभाषित करते हुए बताया गया है—'गुणाश्रयि द्रव्यम्' अर्थात् गुण का आश्रय ही द्रव्य है। दूसरे शब्दों में, वह वस्तु जिस पर गुण आश्रित हो, द्रव्य है। प्रस्तुत स्वयं द्रव्य हो तो नहीं है! शायद इसीलिए आचार्य शुक्ल ने द्रव्य का 'रूप, गुण, क्रिया' के साथ उल्लेख नहीं किया है। यह सत्य है कि वस्तु ही द्रव्य है, किन्तु कविकल्पना के सम्पर्क में आकर प्रस्तुत तथा वस्तु, दोनों का स्वभाव कुछ भिन्नकोटि का हो जाता है जैसा कि दण्डी, मम्मट एवं कविराज विश्वनाथ के संकेतों से स्पष्ट है। शुक्ल जी ने अपनी परिभाषा में द्रव्य-तत्त्व का परित्याग क्यों किया, इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं मिलता।

गोस्वामी तुलसीदास के अन्तर्गत शुक्ल जी—१. भावों की उत्कर्ष व्यञ्जना में सहायक, २. वस्तु के रूप का अनुभव तीव्र करने में सहायक, ३. क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक—इन तीन रूपों में अलंकार की कार्यधर्मिता का विवेचन किया है, किन्तु अलंकारविधान

का प्रभाव मात्र इतना ही नहीं है। भारतीय अलंकारशास्त्रियों के मतों को संकलित करके पाठक के मन पर पड़ने वाले उसके प्रभावों का विवेचन किया जाय तो उसकी व्याप्ति का फलक अत्यधिक विस्तृत दिखायी पड़ेगा। यह स्थिति लगभग इस प्रकार होगी—
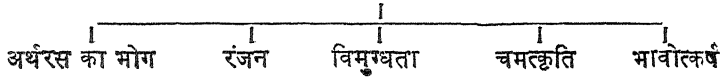
अलंकारविधान भाषिक सर्जना से सम्बद्ध कवि के अनुभव विस्तार का एक अनिवार्य रूप है। आचार्य शुक्ल अलंकारविधान को एक 'युक्ति=उपाय=सचेष्ट प्रयास' मात्र मानते हैं। अलंकारविधान को मात्र 'युक्ति' के रूप में ही स्वीकार करना उसी प्रकार का अभिमत है, जैसा कि संस्कृतकाव्यशास्त्र के परवर्ती युगों में इसे 'आहार्य' रूप माना गया। 'आहार्य' का अर्थ है, शरीर पर धारण किये जाने वाले अलंकारों की भाँति जब चाहें, इन्हें धारण कर सकते हैं या शरीर से उतार कर पृथक् भी रख सकते हैं। इन आलंकारिकों के ही स्वर में शुक्ल जी अलंकारविधान को एक युक्ति मात्र मानते हैं। इनके अनुसार ये काव्य के साथ उत्पन्न होने वाले उसके नैसर्गिक धर्मों से भिन्न हैं।

अलंकार-विधान की जब चर्चा की जाती है तो उसका अर्थ अप्रस्तुत रूपविधान के एक अंग के रूप में ग्रहण करना चाहिए। एक युग-विशेष में वह रूढ़ आलंकारिक रूप में स्वीकार किया गया, किन्तु है वह अप्रस्तुत रूप ही। जैसा कि निर्दिष्ट किया जा चुका है, अलंकारादि अप्रस्तुत रूपविधानों का सम्बन्ध कवि के अनुभव से है। समाज, परिस्थिति, वातावरण के सम्पर्क में आकर रचनाकार आन्तरिक मूल्यों के रूप में उन सभी वाह्य मूल्यों का अन्तर्मन्थन करता हुआ, अपने अनुभवों को विस्तार देता है। सृजन के क्षणों में उसका सम्पूर्ण अनुभवविस्तार भाषा बनकर पाठक के सामने उपस्थित होता है। 'अनुभव तथा भाषा' की भिन्न सत्ता नहीं है, मूलतया दोनों अभिन्न हैं। यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि लिपि के रूप में भाषिक चिह्न (शब्द-अर्थादि) अनुभव संकेत-मात्र हैं। सृजित भाषिक सौन्दर्य जो मूलतः कवि के अनुभव का अपर अभिव्यक्ति रूप है—विगलित तथा रूढ़ अनुभवों को तोड़ता , छोड़ता, काटता, तराशता, कुछ नया बनाता चलता है और इस प्रकार काव्यानुभव या काव्यभाषा के रूप में ये अलंकार या अप्रस्तुतरूपविधान उसकी आवश्यकता बनकर साथ-साथ जुड़े रहते हैं। ये कवि के अनुभव के अभिन्न अंग हैं। शुक्ल जी के शब्दों में ये "युक्तिपूर्वक काव्य में लाये जाते हैं।" परन्तु इनके सायास लाये जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि ये कवि के अनुभव के साथ भाषा से जुड़े रहते हैं। इनका सम्बन्ध कवि के सर्जनात्मक अनुभव की आवश्यकता से है। इस प्रकार सर्जनात्मक अनुभव को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए उसकी भाषिक आवश्यकता के रूप में अप्रस्तुत रूपविधानों को स्वीकृति मिलनी चाहिए। यही स्थिति अलंकार-विधान की भी है।

निदेशक, पत्राचार पाठ्य-क्रम,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

आचार्य शुक्ल की चिन्तन-धारा के मूलाधार

डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा

⊙

शुक्ल जी मस्तिष्क से परीक्षक और तार्किक, हृदय से काव्यरसज्ञ और आस्तिक तथा आदर्शों की दृष्टि से समाजशास्त्री और लोककल्याणवादी थे। उनमें सूक्ष्म निरीक्षण एवं वैज्ञानिक वर्गीकरण करने वाली तीक्ष्ण बुद्धि, मार्मिक स्थलों में रमने वाली प्रवृत्तिशील रागात्मकता, काव्य में अंकित भाव, रूप, ध्वनि, रस, गन्ध और स्पर्श आदि के संश्लिष्ट बिम्बों की बारीक से बारीक रेखाओं को ग्रहण करने वाली अद्भुत ग्राहिका-प्रतिभा तथा परम्परागत शास्त्रीय मानदण्डों को व्यावहारिक रूप देने वाली विधायिका शक्ति का अद्भुत संयोग था। इन्हीं बहुमुखी क्षमताओं के कारण वे भारतीय शास्त्रीय समालोचना और पाश्चात्य व्यावहारिक समीक्षा-पद्धति का समन्वय स्थापित करके हिन्दी में नवीन आलोचना-प्रणाली का सूत्रपात कर सके थे। बौद्धिकता और भावुकता, सिद्धान्त और व्यवहार, आचार्यत्व और रसज्ञता, वैयक्तिक अनुभूति और लोकसामान्य भाव-भूमि का आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व में अद्भुत संयोग था।

द्विवेदीकालीन समाज-सापेक्ष नैतिक आदर्श अथवा मूल्य ही शुक्ल जी की सम्पूर्ण चिन्ताधारा के मूल में अनुस्यूत हैं। अपने मन में प्रतिष्ठित सभी सामाजिक आदर्शों का व्यावहारिक रूप उन्हें तुलसी के रामचरित मानस में दिखलाया पड़ा। तुलसी के राम शील, शक्ति और सौन्दर्य के, विशेषतः समाजोपयोगी और लोक-संग्रही रूपों से ओतप्रोत हैं। उनका शील जन-जन को सहानुभूति और सौजन्य से सींच देता है, शक्ति दुष्टों के दमन और सुजनों के संरक्षण एवं पोषण में सक्रिय रहती है तथा उनके रूप-सौन्दर्य के दर्शन से कल्मष और मलिन भाव धुल जाते हैं और हृदय पवित्र हो जाता है। इस प्रकार 'लोक-नायक' 'मर्यादा पुरुषोत्तम' राम ही शुक्ल जी के आदर्शों से साकार रूप होने के कारण कविता के आलम्बनों की कसौटी उन्होंने राम को ही माना है। कवि के रूप में तुलसी, कविता के रूप में 'रामचरितमानस' और काव्य-नायक के रूप में 'राम' ही शुक्ल जी की समीक्षा के प्रमुख आदर्श रहे हैं।

शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति का मूल आधार लोक-कल्याण की व्यापक भावना है, जो उनके व्यक्तित्व में इतनी गहराई से गुंफित है कि धर्म, कर्म, भक्ति, ज्ञान, कविता, संगीत तथा अन्य सभी कलाओं के मूल में वे इसी आधारभूत प्रेरणा को क्रियाशील देखने के अभिलाषी हैं। उनकी समालोचना-प्रणाली के अन्य सभी तत्त्वों का स्वरूप-निर्धारण भी इसी मूल तत्त्व

द्वारा होता है। धर्म, कर्म, भक्ति, ज्ञान, कविता कला आदि सभी के मूल में स्थित रागात्मिका वृत्ति का, उक्त समाजवादी अथवा समष्टिवादी दृष्टिकोण के आधार पर ही, वे समस्त चराचर-जगत् में विस्तार देखना चाहते हैं। कवि अथवा कलाकार की वह रागात्मिका वृत्ति, जो उसी के व्यक्तित्व की सीमाओं में सिमट गयी है, श्रेष्ठ कविता या कला को जन्म नहीं दे सकती; अटपटी सूझ और बे-सिर-पैर की कल्पनाओं के आधार पर व्यक्ति-वैचित्र्य का ही सर्जन कर सकती है। सहृदयता अथवा रागात्मिका वृत्ति के समाज-सापेक्ष स्वरूप को ही उन्होंने "लोक-सामान्य भावभूमि" कहा है। इस प्रकार शुक्ल जी के विचार से, जहाँ एक ओर, कवि की व्यापक एवं उदात्त रागात्मिका वृत्ति से ही श्रेष्ठ कविता का जन्म होता है, वहाँ दूसरी ओर जन-साधारण की रागात्मिका वृत्ति का संस्कार और परिष्कार करना कविता का मुख्य लक्ष्य है। लोक-रुचि के परिष्कार पर आधारित धर्म, शील-सौन्दर्य, कर्म-सौन्दर्य और लोकहित को ही वे कविता और भक्ति का उद्देश्य मानते हैं। भक्ति, धर्म अथवा शील-सौन्दर्य की रसात्मक अनुभूति है, तो कविता उसकी रसात्मक अभिव्यक्ति है।

शुक्ल जी भावों या मनोवेगों के विषय में पूर्णतः प्रजातन्त्रवादी हैं। भावों के विषय में उनका प्रजातान्त्रिक दृष्टिकोण भी मूलतः लोक-संग्रह की भावना पर ही आधारित है। लोक-संग्रह की भावना से अनुप्रेरित घृणा, क्रोध, ईर्ष्या आदि भावों की सहज प्रवृत्ति का दमन करना अनुचित ही नहीं, व्यक्ति और समाज के प्रति घोर अन्याय है। वे अनाचार और अधर्म के समक्ष घुटने टेक देने के स्थान पर उनके सक्रिय प्रतिरोध में आस्था रखते हैं। इसीलिए उनकी दृष्टि में आततायी के प्रति किया गया क्रोध और द्वेष भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना महान् उद्देश्यों की पूर्ति में किया गया त्याग, उद्योग और उत्साह।

सामाजिक हित की भावना से प्रेरित होने के कारण ही शुक्ल जी व्यक्तिवादी की अपेक्षा समष्टिवादी और अन्तर्मुखी की अपेक्षा बहिर्मुखी अधिक हैं। उनकी समाजवादी और बहिमुखी दृष्टि ही उनकी समीक्षा-पद्धति के अन्य प्रमुख आधारों को जन्म देती हैं। अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण के कारण ही वे अव्यक्त से व्यक्त को, निर्गुण की अपेक्षा सगुण को, आध्यात्मिक की अपेक्षा भौतिक और लौकिक को, ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को, रहस्यानुभूति की अपेक्षा सामान्य अनुभूति को, वैयक्तिक अनुभूतियों पर आधारित गीत-काव्य की अपेक्षा जीवन और जगत् की बहुविध मर्म छवियों से पूर्ण प्रबन्धकाव्य को कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी मानते हैं। इन्हीं आधारों पर वे सूर की अपेक्षा तुलसी को और छायावादी तथा रहस्यवादियों की अपेक्षा स्वच्छन्दतावादियों को अधिक महत्त्व देते हैं।

मानव-समाज के अतिरिक्त मानवेत्तर सृष्टि को भी शुक्ल जी ने अपनी समीक्षा का प्रमुख आधार माना है। प्रकृति के सुकुमार, मनोरम एवं मधुर दृश्यों के साथ ही वे कविता में प्रकृति के बेडौल, रूखे, भयावह और विराट् रूपों के समावेश पर भी बल देते हैं। प्रकृति के नैसर्गिक दृश्यों को भी, जो कवि वैयक्तिक अटपटी एवं विचित्र अनुभूतियों से आवृत्त करके मनमाने ढंग से प्रस्तुत करते हैं, ऐसे घोर व्यक्तिवादी एवं चमत्कारवादी कवियों की आचार्य शुक्ल ने कटु आलोचना की है। अनुभूति की स्वच्छन्दता एवं स्वाभाविकता के आधार

पर प्रकृति के सहज सौन्दर्य का आलम्बन रूप में चित्रण ही शुक्ल जी को विशेष प्रिय है। भावों की स्वाभाविक भंगिमा के आधार पर प्रकृति में गूढ़ तथ्यों एवं मार्मिक प्रसंगों की योजना पर भी उन्होंने बल दिया है। जायसी द्वारा रचित, नागमती की विरहानुभूति पर आधारित बारहमासे की उन्होंने उपर्युक्त आधार पर ही भूरि-भूरि प्रशंसा की है। प्रकृति के स्वच्छन्द एवं संश्लिष्ट चित्रों की मनोहारी योजना की दृष्टि से शुक्ल जी ने संस्कृत के बाल्मीकि, कालिदास आदि कवियों को अनुकरणीय माना है। हिन्दी में उन्होंने इस दृष्टि से ठाकुर जगमोहन सिंह, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी और पन्त की सराहना की है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र को सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिकपीठिका प्रदान करना शुक्ल जी का महत्त्वपूर्ण कार्य है। रसानुभूति की सामाजिक आधार पर व्याख्या प्रस्तुत करने के मूल में भी उनका सामाजिक दृष्टिकोण ही सक्रिय रहा है। 'चिन्तामणि' के मनोवेगों से सम्बन्धित निबन्धों में उन्होंने प्रेम, श्रद्धा, ईर्ष्या, उत्साह, ग्लानि आदि भावों के काव्यात्मक अथवा रसात्मक रूप को विशद सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर अंकित किया है। मनोवेगों पर लिखे गये उनके ये निबन्ध वास्तव में उनकी सैद्धान्तिक समीक्षा के आदर्शों को ही व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करते हैं। सभी प्राचीन आचार्यों ने किसी न किसी दार्शनिक मत के प्रकाश में ही रस-सिद्धान्त का निरूपण किया है। दार्शनिक मतों के आग्रह के कारण ही उन्होंने रसानुभूति को अलौकिक माना है। शुक्ल जी ने साहित्य-शास्त्र के इतिहास में पहली बार रसानुभूति की विशुद्ध सामाजिक आधार पर व्याख्या की है। शुक्ल जी ने रस को अलौकिक न मान कर लौकिक अनुभूति ही माना है। कवि के भाव का साधारणीकरण मानते हुए भी उन्होंने अपने बहिर्मुखी एवं वस्तुपरक (objevtice) दृष्टिकोण के आधार पर आलम्बन के साधारणीकरण पर विशेष बल दिया है। यह साधारणीकरण व्यक्ति या वस्तु-विशेष का ही हो सकता है, सामान्य या जाति का नहीं। आलम्बन का साधारणीकरण मानकर उन्होंने भावों की अपेक्षा भावों को उद्भूत एवं उद्दीप्त करने वाले वस्तु-व्यापारों एवं व्यक्तियों का रसानुभूति में अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व स्वीकार किया है। मानवहृदय सगुण और साकार का पुजारी होने के कारण ही निराकार एवं सूक्ष्म भावों को भी आलम्बनों के सहारे मूर्त्तरूप में अनुभव करना चाहता है। इसी कारण शुक्ल जी ने कविता में बिम्ब-विधान या मूर्त्त-विधान को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है। बिम्ब-विधान उनकी समीक्षा-पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। बिम्ब-विधान के लिए उन्होंने ऐन्द्रिक विषय-बोध के आधार पर रूप, रस, गन्ध, ध्वनि, स्पर्श आदि की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को ग्रहण करने वाली ग्राहिका कल्पना तथा इन विविध अनुभूतियों का चयन और संशोधन के आधार पर संश्लिष्ट रूप में चित्रण करने वाली समाहार-शक्ति से युक्त विधायिकाकल्पना की सक्रियता को आवश्यक माना है। वास्तविक अनुभूतियों पर आधारित कल्पना-सृष्टियों अथवा बिम्बों को ही वे काव्योपयोगी समझते हैं। कल्पना की वैयक्तिक, वस्तुनिरपेक्ष, अटपटी उड़ान की उन्होंने अनेक स्थानों पर निन्दा की है।

व्यक्ति-वैचित्र्यवाद के प्रबल विरोधी शुक्ल जी अपने समाज-सापेक्ष मानसिक गठन के कारण ही अति वैयक्तिकता एवं काल्पनिकता से पूर्ण छायावादी कविता एवं वस्तु-निरपेक्ष रहस्यवादी कविता के साथ समझौता नहीं कर सके थे। यद्यपि कई उद्भट आलोचकों ने उनके इस दृष्टि-कोण की कटु आलोचना की है, तथापि यदि तनिक तटस्थता के साथ विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि तत्कालीन परिस्थितियों में शुक्ल जी का दृष्टिकोण सही और साथ ही उपयोगी था। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से पाश्चात्य रोमाण्टिक कवियों से सम्पर्क स्थापित हो जाने के कारण तथा कवीन्द्र-रवीन्द्र "गीताञ्जलि" पर 'नोबल पुरस्कार' मिल जाने से व्यक्तिपरक गीतियों की धूम मच जाना स्वाभाविक ही था। परिणाम यह हुआ कि अनेक अधकचरे और प्रतिभाहीन नवयुवक, कवि बनने की धुन में मतवाले होकर असीम और अव्यक्त प्रियतम को प्रणय-पाती लिखने लगे। 'छायावाद' नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यञ्जना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता, चित्र-मयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मान कर चले[१]। इस भावना-शून्य, अनर्गल, कृत्रिम काव्य-रचना की बाढ़ को रोकने के लिए आचार्य शुक्ल जैसे सुदृढ़ व्यक्तित्व की ही आवश्यकता थी।

यद्यपि यह ठीक है कि रहस्यवाद और छायावाद के प्रति शुक्ल जी का प्रतिक्रिया-वादी दृष्टिकोण होने के कारण इन काव्य-प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि कवियों के प्रति भी पूर्ण न्याय नहीं हो सका है, तथापि शुक्ल जी वास्तविक अनुभूतियों पर आधारित छायावाद और रहस्यवाद के विरोधी नहीं थे। उन्होंने अनेक स्थानों पर छायावादी अभिव्यञ्जना-शैली की सराहना की है और स्वाभाविक रहस्य-भावना का उचित मूल्यांकन किया है। वे भावशून्य, वस्तु-निरपेक्ष अभिव्यक्ति के कट्टर विरोधी अवश्य रहे हैं, किन्तु स्वाभाविक छायावाद और रहस्यवाद के नहीं। इसीलिये उन्हें अनेक स्थानों पर 'प्रकृत स्वच्छन्दतावाद (True Romanticism[२]) और 'सच्ची या स्वाभाविक रहस्यानुभूति'[३] शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है। निम्नलिखित उद्धरण से उनका दृष्टिकोण पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है—

पल्लव, में रहस्यात्मक रचनाएँ हैं, 'स्वप्न' और 'मौन निमन्त्रण'। पर जैसा कह आये हैं, पन्त जी की रहस्य-भावना स्वाभाविक है, साम्प्रदायिक (Dogmatic) नहीं। ऐसी रहस्य-भावना इस रहस्यमय जगत् के नाना रूपों को देखकर प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन में कभी-कभी उठा करती है।[४] जिस अस्वाभाविक और अटपटी रहस्य-भावना का वे विरोध करते हैं, उसका स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है—

"जीवन के प्रेम-विलासमय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, (सातवाँ संस्करण)', पृ० ६५१।

२. वही, पृ० ६५८।

३. वही, पृ० ६७९, ६९४, ६९९।

४. वही, पृ० ६९९।

वे (प्रसाद जी) 'उस प्रियतम' के संयोग-वियोग वाली रहस्यभावना में, जिसे स्वाभाविक रहस्य-भावना से अलग समझना चाहिए—रमते प्रायः पाये जाते हैं।"[१]

छायावादी और रहस्यवादी कवियों के प्रति उनके अस्वस्थ दृष्टिकोण को लेकर उनकी कटु आलोचना करने वाले आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने भी दबे स्वर से स्वीकार किया है—"नयी काव्य-प्रगति को 'ब्लैंक चैक' न देकर शुक्ल जी ने उसके परिष्कार के कार्य में और उसके बल-संचय में प्रकारान्तर से सहायता ही पहुँचायी।[२]" डॉ० नगेन्द्र ने भी—"शुक्ल जी ने इस अतिचार के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण किया"[३] कहकर शुक्ल जी के दृष्टिकोण के वास्तविक महत्त्व एवं सामयिक उपयोग की ओर संकेत किया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शुक्ल जी कला, साहित्य और जीवन के क्षेत्र में अतिचार, उच्छृंखलता आदि के कठोर विरोधी हैं, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वे शुष्क सामाजिक आदर्शों की निर्जीव अभिव्यक्तियों के पोषक हैं। उनका दृष्टिकोण वास्तव में सच्चे सहृदय अथवा सामाजिक का दृष्टिकोण है। तभी तो वे आदर्शात्मक विचारधारा के समर्थ पोषक होते हुए भी सूक्ति तथा उपदेशात्मक कविता और अर्थबोध मात्र को काव्य के अन्तर्गत नहीं मानते। इस प्रकार वे कविता और कला को सोद्देश्य मानने से भी पहले उसकी सरसता को उसकी मूल संजीवनी शक्ति मानते हैं, जिसके अभाव में वह अपनी सत्ता ही खो बैठती है। वास्तव में, उन्होंने सोद्देश्यता और सरसता की अभिन्नता को ही कविता और कला का मूल आधार माना है। सरसता में रच-पच कर ही सोद्देश्यता सहृदय-सापेक्ष और संप्रेषणीय अथवा ग्राह्य बन जाती है। सरसता से रहित सोद्देश्यता मात्र को उन्होंने सूक्ति या उपदेश कह कर टाल दिया है, किन्तु सोद्देश्यता के अभाव में भी अनुभूतियों की सजीवता पर आधारित सरसता की उन्होंने कहीं उपेक्षा नहीं की है। ठाकुर, घनानन्द, मतिराम, बिहारी आदि पर लिखी हुई उनकी प्रशंसात्मक टिप्पणियाँ उपर्युक्त कथन की पुष्टि करती हैं। वास्तव में, शुक्ल जी छायावाद, रहस्यवाद, कलावाद, आध्यात्मिकता आदि के वहीं तक विरोधी थे, जहाँ तक वे लोक-सामान्य भाव-भूमि से दूर हैं और काल्पनिक अनुभूतियों और व्यक्ति-वैचित्र्य पर आधारित हैं।

संक्षेप में, शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति का मूल आधार लोक-संग्रह और लोक सामान्य भाव-भूमि ही है। उन्होंने कविता में व्यक्त चराचर-जगत् की मर्म-छवियों का मूल्याङ्कन लोक-कल्याण और रसात्मकता के संयुक्त आधार पर किया है। प्रबन्ध-काव्य के विस्तृत कलेवर में जीवन और जगत् के अनेकानेक सरस एवं मर्मस्पर्शी प्रसंगों की योजना

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (सातवाँ संस्करण), पृ० ६७९।

२. शचीरानी गुर्टू द्वारा सम्पादित—'हिन्दी के आलोचक' नामक ग्रन्थ से संकलित 'आचार्य शुक्ल का काव्यालोचन' लेख, पृ० ६३।

३. 'विचार और अनुभूति', पृ० ८५।

सम्भव होने के कारण उन्होंने वैयक्तिक अनुभूतियों पर आधारित गीत-काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य को अधिक महत्ता दी है। वे जीवन और साहित्य के किसी भी क्षेत्र में व्यक्ति-वैचित्र्यवाद और समाज-निरपेक्ष वैयक्तिकता के प्रकाशन को अनर्गल और मिथ्या प्रलाप ही मानते हैं। अतः सर्वत्र उसका जमकर विरोध करते हैं। सोद्देश्यता और सरसता का सम्पृक्त रूप ही संक्षेप में, उनकी चिन्तन-पद्धति का मूल मादण्ड है।

रीडर, हिन्दी-विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,
रोहतक (हरियाणा)

●

आचार्य शुक्ल : भाषिक औदात्य

डॉ० त्रिभुवननाथ शुक्ल

⊙

१०. आचार्य अथवा पण्डित 'विरुद' के साथ 'शुक्ल' संबोधन से जिस महिमामंडित व्यक्तित्व का बोध होता है, वह व्यक्तित्व है—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग के प्राक्तन आचार्य एवं अध्यक्ष पं० रामचन्द्र शुक्ल का। संस्कृत के विश्व-प्रतिष्ठ गद्यकार बाण और सुबंधु के समतुल्य हिन्दी में दो महान् गद्य-शैलीकार हुए हैं, जिनमें प्रथम हैं आचार्य शुक्ल और द्वितीय आचार्य द्विवेदी[१]। आचार्य शुक्ल को गद्य-संरचना में भाषा के सभी उदात्त तत्त्वों का प्रयोग मिलता है। भाषिक औदात्य से तात्पर्य भाषागत सम्बद्धता से है। प्रस्तुत-निबन्ध का उद्देश्य 'चिन्तामणि' में प्रयुक्त समस्त भाषिक रूपों का विवेचन है। इन्हीं भाषिक रूपों के यथायथ प्रयोग के कारण चिन्तामणि सही अर्थ में 'चिंतामणि' बन पड़ी है। यहाँ इस प्रकार के विवेच्य-तत्वों में अनुवाद-युग्मों विपर्यायों, पुनरुक्तियों, क्रियारूपों, शब्दगत वैशिष्ट्य प्रयोगों, वर्तनीगत भिन्न लिप्यन्तरित शब्दरूपों का विवेचन किया जा रहा है।

११. अनुवाद-युग्म

अनुवाद-युग्म से तात्पर्य परस्पर समानार्थी प्रतीत होने वाले शब्दों से है। ऐसे शब्दयुग्मों का प्रयोग प्रायः गद्यलेखन और साहित्यिक भाषणों में होता है। इनका प्रयोजन-किसी विचार अथवा कथ्य की सम्यक् अभिव्यति के निमित्त होता है। वैसे तो अनुवाद-युग्म में आगत शब्दों को, जो कि एक-दूसरे के समानार्थी होते हैं, पर्याय के रूप में जाना जाता है। किन्तु इस कोटि के शब्दों और पर्याय शब्दों में यत्किंचित् अभिव्यक्तिगत अन्तर है। अन्तर यह है कि एक ही वस्तु अथवा क्रिया आदि के सभी वाचक शब्द पर्याय है और एक ही वस्तु क्रिया आदि को पूरे परिवेश में एक साथ अभिव्यक्ति देने वाले शब्दयुग्म अनुवाद-युग्म हैं। इस प्रकार मूल अन्तर दोनों की कार्यकारिता में है। आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि, भाग एक में अनुवाद-युग्मों का प्रयोग कर हिन्दी को नयी दिशा दी है जबकि अधिकांश

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पर—'आचार्य द्विवेदी : भाषिक औदात्य' शीर्षक से पूर्व में लिखा जा चुका है।—लेखक

लेखक अनुवाद युग्म (जिसका प्रयोग कठिन होता है) का प्रयोग न कर, प्रायः वाचक (पर्याय) शब्द का कम सटीक अथवा सटीक अथवा बहुत सटीक प्रयोग करते हैं।' किन्तु शुक्ल जी ने अनुवाद-युग्म द्वारा वाचक वस्तु का यथायथ प्रयोग किया है। यह उनकी अपनी शैलीगत निजता है। इसके कुछ उदाहरणों को दिया जा रहा है।[1]

अनिर्दृष्टि, अज्ञात (१३), आनंद, सुख (१४), अन्याय, अत्याचार (२५), कृपा, अनुग्रह (३१), अनन्य, सच्चा (५२), दीन, अकिंचन (५२), लुटेरे, डाकू (५२), पुत्र, कलत्र (६३), भाई, बंधु (६३), विरक्ति, उदासीनता (६४), तुष्टि, संतोष (६५), दुखी, त्रस्त (८८), ज्ञान, विवेक (११०), उपासना, ध्यान (११०), भावना, कल्पना (११०), शिथिल, अशक्त (११२), सुख, आनंद (११३), उपासना, ध्यान (११४), कैवल्य, मुक्ति (११४), अद्भुत, वैलक्षण्य (११५), मारना, पीटना (१२१), डाटना, डपटना (१२१), ब्रत, उपवास (१३७), उग्र, प्रचंड (१३८), कोमल, मधुर (१४८)।

शुक्ल जी द्वारा ये प्रयुक्त अनुवादयुग्म परस्पर सम्बद्ध होकर समवेत रूप में कथ्याभिव्यक्ति करते हैं। उपर्युक्त उदाहरण के कुछ वाक्यखण्डों को यहाँ दिया जा रहा है—

१.१.१ प्रेम का कारण बहुत कुछ **अनिर्दिष्ट** और **अज्ञात** होता है।

१.१.२ ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह **अपराध** या **अत्याचार** आ जाता है।

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रयुक्त अनुवाद-युग्मों में से किसी एक को निकाल देने से अभिव्यक्ति की अखण्डता बाधित होती है। जैसा कि स्पष्ट है जो अनिर्दिष्ट होगा वह अज्ञात होगा ही। इस प्रकार दोनों का सार्थक अनुक्रमण हुआ है। ये दोनों सहप्रयुक्त होकर पूर्ण कथ्याभिव्यक्ति करते हैं। इसी प्रकार से अपराध एवं अत्याचार तथा अन्य सभी उदाहृत अनुवादयुग्म अपनी सार्थकता प्रमाणित करते हैं।

१.२ विपर्याय

विपर्याय से तात्पर्य विलोम शब्दों से है। इन्हें विपर्याय अथवा विलोम के अतिरिक्त प्रतिलोम अथवा विपरीतार्थक शब्दों के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस कोटि के शब्दों का महत्त्व दो दृष्टियों से है—एक, अन्य पक्ष के भाव (सत्ता) और दूसरा, उस भाव के महत्त्वांकन की दृष्टि से। जैसे पाप-पुण्य दोनों परस्पर विपरीतार्थक शब्द हैं, किन्तु पाप से पुण्य की सत्ता अथवा भाव का बोध अथवा अभिज्ञान होता है। साथ ही, दूसरे पक्ष में उसका महत्त्व भी स्थापित होता है। कारण कि यदि पाप ही न हो, तो पुण्य का क्या महत्व? पुण्य इसीलिए सराहनीय है, क्योंकि पाप निंदनीय है। शुक्ल जी ने इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति करने वाले विपर्यायों का चिन्तामणि में बहुत प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

सुख-दुख (१), भरा-खावी (१), निंदा-स्तुति (६), मान-अपमान (६), हंसना-रोना (१), शुभ-अशुभ (६), निंदा-स्तुति (६), मान-अपमान (६), तीव्रता-मंदता (९), प्रसार-

---

१. अनुवाद-युग्म शब्दों के आगे कोष्टक में दी गयी संख्यायें, चिन्तामणि भाग १, की पृष्ठसंख्या की सूचक हैं।

संकोच (२३), आगा-पीछा (२३), निश्चय-अनिश्चय (३३), सदोषता-निर्दोषता (५०), शीत-ताप (५७), भाई-बहिन (६३), माता-पिता (६३), सुखद-दुखद (८८), शुभ-अशुभ (८८), भीतर-बाहर (११३), रोता-गाता (११३), भला-बुरा (११४), सुन्दर-कुरूप (११४), शुभ-अशुभ (११४), पाप-पुण्य (११४), मंगल-अमंगल (११४), अनुपयोगी-उपयोगी (११४), संत-असंत (११५), धर्म-अधर्म (११५), ऊँची-नीची (१४७), भीषणता-सरसता (१४८), कोमलता-कठोरता (१४८), कटुता-मधुरता (१४८), प्रचंडता-मृदुता (१४८)।

शुक्ल जी द्वारा विपर्ययों का प्रयोग दो दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है। प्रथम, एक ही कथन में दो भावों अथवा मनोविकारों के सार्थक प्रयोग की दृष्टि से और द्वितीय—दोनों भावों अथवा मनोविकारों का संदर्भानुसार आनुपातिक अर्थाव्यक्ति की दृष्टि से। पूर्व में उदाहरणार्थ प्रस्तुत विपर्यय शब्द-रूपों के कुछ प्रयोगों को यहाँ विश्लेषित किया जा रहा है।

१.२.१ बच्चे के छोटे से हृदय में पहले सुख और दुःख की सामान्य अनुभूति भरने के लिए जगह होती है।

१.२.२ पेट का **भरा** या **खाली** रहना ही ऐसी अनुभूति के लिये पर्याप्त होता है।

१.२.३ जीवन के आरम्भ में दोनों के चिह्न **हँसना** और **रोना** देखे जाते हैं।

उपर्युक्त तीनों वाक्य या भाव या मनोविकार शीर्षक के प्रथम परिच्छेद में ही प्रयुक्त हैं। इन तीनों वाक्यों में विपर्ययों—सुख-दुख, भरा-खाली और हँसना-रोना का अपने निजी संदर्भ में महत्त्व तो है ही, साथ ही कथ्य की दृष्टि से तीनों परस्पर सुसम्बद्ध भी हैं। शुक्ल जी ने इनके माध्यम से जीवनानुभव सम्बन्धी बहुत बड़े तथ्य का संकेत किया है। जैसा कि उन्होंने पूर्व में उल्लेख किया है कि 'उच्च प्राणी मनुष्य एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है।' यह एक जोड़ी अनुभूति है—सुख और दुःख। सुख का सम्बन्ध पेट के भरे रहने अर्थात् अभीष्ट पदार्थ अथवा वस्तु के भाव से और दुःख का पेट के खाली रहने अर्थात् अभीष्ट पदार्थ अथवा वस्तु के अभाव से है। पेट का भरा रहना ही सुख अथवा हँसना है और पेट का खाली रहना दुःख अथवा रोना है। यह हँसना और रोना जीवन का शाश्वतिक सत्य है, जो कि आवश्यक वस्तुओं के भाव अथवा अभाव से संबद्ध है। यहाँ भाव जीवन है और अभाव मरण। इसी धरातल पर 'चिंतामणि' में आगत अन्य विपर्ययों का भी विवेचन हुआ है। यह गद्यकार की वैशारदी प्रज्ञा का परिचायक है।

१.३ पुनरुक्तियाँ—

पुनरुक्तियों का प्रयोग हिन्दी की अपनी रचनागत विशेषता है। हिन्दी में पुनरुक्त शब्दों का प्रयोग गद्य और पद्य दोनों विधाओं में खूब होता है। इनका प्रयोग प्रायः पुनर्कथन, नैरंतर्यता, समानता अथवा अनुरूपता, कथ्यगत प्रभावोत्पादकता, वर्ग अथवा समूह आदि के द्योतनार्थ, आधिक्य सूचनार्थ, अल्पत्व द्योतनार्थ और कथ्यारम्भ आदि के निमित्त होता है। एक सशक्त गद्यकृति होने के कारण चिन्तामणि में पुनरुक्तियों के सभी संभाव्य

प्रयोग मिलते हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

विशेष-विशेष (१), भिन्न-भिन्न (२), कभी-कभी (५), साथ-साथ (१३-२४), बड़ी-बड़ी (८), जब-जब (९), तब-तब (९), रहते-रहते (१३), वाह-वाह (१४), धन्य-धन्य (१६), एक-एक (१६), अलग-अलग (१६), आ-आ (१७), दिन-दिन (१७), बड़े-बड़े (२०, ३६), किसी-किसी (३२), मुँडे-मुँडे (३५), बार-बार (३७), दे-दे (३८), पड़े-पड़े (४०), जो-जो (४६), दूर-दूर (४६), बात-बात (४६), बैठे-बैठे (३७), धीरे-धीरे (३७), रात-रात (११२), कभी-कभी (११२), ठीक-ठीक (१२०), करते-करते (१४१), भीतर-भीतर (१४८), मनुष्य-मनुष्य (१५३), यहाँ इन उदाहरणों में से पुनरुक्त शब्द 'बार-बार' के तीन प्रयोग दिये जा रहे हैं।

१.३.१ बार-बार—(११२, १३९)

१.३.१.१ पुनर्कथन द्योतक—

"कविता सुनने वाला किसी भाव में मग्न रहता है और कभी-कभी बार-बार एक ही पद सुनना चाहता है।"

१.३.१.२ अनेक बार द्योतक—"......जिसके सामने धर्म की शक्ति बार-बार उठ कर व्यर्थ होती रहती है।" पुनरुक्त शब्द—"बार-बार" के उपर्युक्त दोनों की ओर संदर्भानुसार पृथक्-पृथक् अर्थविच्छित्तियों का द्योतन करते हैं। यद्यपि दोनों संदर्भानुसार अपने मूलार्थ में ही प्रयुक्त हैं, फिर भी दोनों में अर्थच्छायागत अत्यल्प भिन्नता भी है। इसी प्रकार से अन्य पुनरुक्त शब्दों को भी विश्लेषित किया जा सकता है।

१.४ क्रियारूपों का यथायथ प्रयोग

'क्रिया' भाषा की रीढ़ होती है। यही कारण है कि अन्य भाषा से शब्दों अथवा शब्दरूपों के अदान के बाद भी क्रिया ज्यों की त्यों रहती है अर्थात् क्रिया में कोई परिवर्तन नहीं होता। क्रियापद के इस भाषिक महत्त्व के साथ उसके समुचित प्रयोग का भी बहुत महत्त्व है। इसके समुचित रूप के प्रयोग से कथ्य अधिक प्रभावपूर्ण हो जाता है। आचार्य शुक्ल इस ओर पर्याप्त सचेष्ट दिखते हैं। यहाँ चिन्तामणि के कुछ क्रियारूपों को दिया जा रहा है—

१.४.१ लपकना

"इसी से कर्म की ओर यह उसी झोक से लपकता है, जैसे साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं।"—चिन्तामणि पृ० ९

पूरे मनोयोग से फलाकांक्षाविवर्जित कर्म में प्रवृत्त होने के लिये 'लपकता' क्रिया का प्रयोग पूर्णतः उपयुक्त है। लपकता की जगह उसकी वाचक अन्य क्रियायें —झुकना, प्रवृत्त

होना और बढ़ना आदि में वह त्वरा नहीं है, जो लपकना में है। इस दृष्टि से यहाँ लपकना क्रिया का बहुत सार्थक प्रयोग हुआ है।
१.४.२ प्रयोगौचित्य की दृष्टि से इसी प्रकार के अन्य क्रियारूप आते-जाते (७)', उठते-बैठते (४७)', हिलते-डोलते उलेख्य हैं।

१.५ शब्दगत वैशिष्ट्य प्रयोग

आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द को पद, वाक्य एवं उपवाक्य के साथ पूरे परिवेश में रखकर प्रयोग करने का बहुत सार्थक प्रयास किया है। उनके किसी भी कथन में शब्द, पद और वाक्य में एक तारतम्यता देखी जा सकती है। यहाँ इस प्रकार के प्रसंगों का विवेचन किया जा रहा है।

१.५.१ अभावमय, आनन्दशून्य और निर्जीव शब्द का प्रयोग

"फल की इच्छा मात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जायेगा, वह अभावमय है और आनन्द शून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।"—चिन्तामणि पृष्ठ-९

कर्म में यथावश्यक प्रवृत्ति न होने से (मात्र फलाकांक्षा से) जो प्रयत्न होगा, वह अभावमय अर्थात् सत्वहीन होगा। चूंकि अभावमय (सत्वहीन) है, इसलिये वह आनन्द (चैतन्य) रहित है और आनन्द (चैतन्य) रहित है इसीलिये निर्जीव (जीवनी शक्ति रहित) है। उपर्युक्त विवेचन के आलोक में उदाहृत पंक्ति को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि तीनों शब्दों (अभावमय, आनन्द शून्य और निर्जीव) का बहुत उपयुक्त अनुक्रमण हुआ है। यही अनुक्रमण गद्यकार का सार्थक आचार्यत्व है।

चिन्तामणि में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द अपनी प्रयोगगत सार्थकता को इसी प्रकार से प्रमाणित करते हैं। विस्तारातिशय के भय से यहाँ सभी का विस्तृत विवेचन न करके मात्र उनका संकेत किया जा रहा है।

१.५.२ स्तब्धता और श्रद्धान्धता—

"इसी प्रकार की मानसिक स्तब्धता को श्रद्धान्धता कह सकते हैं।"—वही, पृ० १८

श्रद्धेय के प्रति श्रद्धालु का बिलकुल अतार्किक होकर उसके महत्त्व को अंगीकार करना ही मानसिकता स्तब्धता है। मानसिक रूप से उसके प्रति स्तब्ध (अतार्किक होने के कारण) श्रद्धालु, श्रद्धान्ध कहलाने की अर्हता प्राप्त करता है। इस रूप में यहाँ स्तब्धता और श्रद्धान्धता का बहुत सार्थक प्रयोग हुआ है।

१.५.३ अत्याचारी, आपद्ग्रस्त और भिखारी

"अत्याचार से पीड़ित होकर मनुष्य उसके कोप का आह्वान करता है, आपद्ग्रस्त होकर उसकी दया का भिखारी होता है।"—वही, पृ० २६

मनुष्य का अत्याचारी के अत्याचार से पीड़ित होना ही उसकी आपद्-ग्रस्तता है। यह आपद्ग्रस्तता ही मनुष्य को अत्याचारी के सामने भिखारी के रूप में प्रस्तुत करती है और मनुष्य बाध्य होकर अत्याचारी से दया की याचना करता है। यहाँ अत्याचारी के भाव—अत्याचार, आपद्ग्रस्तता और भिखारी शब्द का अर्थपूर्ण तारतम्य है।

१.५.४ सौन्दर्य, शील और उदारता

"....उसके हृदय में जो सौन्दर्य का भाव है, जो शील का भाव है, जो उदारता का भाव है, जो शक्ति का अभाव है, उसे वह अत्यन्त पूर्णरूप में परमात्मा में देखता है...।"

—वही, पृ० २७

सन्दर्भ है...परमात्मा (पूर्ण पुरुष) के जानने का। इस सन्दर्भ में चारों रेखांकित शब्दों पर दृष्टिपात करना होगा। सौन्दर्य प्रतीक है—अनुरक्ति (भक्ति के संदर्भ में) का, उसका परिणाम है—शील। शील का सुफल है—औदार्य (उदार होने का भाव अथवा गुण)। इन्हीं का समन्वित रूप है शक्ति, जो साधना है—परमतत्त्व के अभिज्ञान का।

१.५.५ 'कर्म सौन्दर्य' का शब्दांकन

शुक्ल जी ने 'कर्म सौन्दर्य' के उपादानों का रूपायन शब्दों में अंकित कर हिन्दी को प्रयोगगत नव दृष्टि दी है। संदर्भ है चिन्तामणि, पृ० २९ का—'शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ माधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुख-भोग के साथ परदुखकातरता, प्रताप के साथ कठिन धर्मपथ का आलम्बन इत्यादि।'—वही पृ० २९

यहाँ निबन्धकार का संकेत है—परस्पर शोभा पाने वाले भावों का संयोजन, जो बहुधा उक्त रूप में नहीं घटते। यदि ऐसा संयोग हो, तो इससे बढ़कर शिव और कुछ नहीं हो सकता।

१.५.६ 'सहानुभूति' शब्द की सामाजिक भूमिका

समाज भाषावैज्ञानिकों के अनुसार भाषा समाज द्वारा केन्द्रित होती है। इसका एक उदाहरण है—चिन्तामणि में प्रयुक्त 'सहानुभूति' शब्द का प्रयोग।

'शिष्टाचार में इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा-सा हो गया है। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा करते हैं। यह छद्म शिष्टता मनुष्य के व्यवहार-क्षेत्र से सच्चाई के अंश को क्रमशः चरती जा रही है।'—वही, पृ० ३५

उपर्युक्त वाक्यों में 'सहानुभूति' शब्द का वर्तमान सामाजिक स्थिति में सार्थक विवेचन हुआ है। यह शब्द अब अपना मान (मूल्य) खो चुका है। अतः इसके लिये निबंधकार द्वारा 'निकम्मा' शब्द का प्रयोग करना औचित्यपूर्ण है।

१.५.७ लोभ का सर्वमान्य एवं पूज्य रूप में प्रयोग

"वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक-दूसरे का लोभी बनाये रहती वह भी परमपूज्य है।"—वही, पृ० ५५

'लोभ' जो एक भाव अथवा मनोविकार है—के विषय में प्रायः यह कहा जाता है कि लोभ अथवा लालच करना अच्छी चीज नहीं है। किन्तु, निबन्धकार ने उक्त शब्द का प्रयोग इस सर्वमान्य धारणा से हटकर 'स्तुत्य' अर्थ में किया है। यह उसकी मेधा का परिचायक है।

१.५.८ कविता का संदर्भ और स्रष्टा की भूमिका

"बिम्ब ग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उसके आसपास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है।"—वही, पृ० १०१

उपर्युक्त कथन में निबन्धकार ने यह प्रतिपादित किया है कि कविता द्वारा वस्तु अथवा प्रतिपाद्य का सही भावन तभी होता है, जब कवि स्रष्टा की भूमिका में होता है। यह स्रष्ट की भूमिका है—अनुब्याहरण की। अनुब्याहरण का अर्थ है—अनु–पश्चात्, व्यवहरतीति अनुव्याहरणम् अर्थात् किसी वस्तु को पूरे परिवेश में आत्मसात् करना। अथवा यों कहें कि वस्तु का हस्तामलकवत् स्पष्ट दर्शन अथवा बोध होना। सही अर्थों में देखा जाय तो अनुब्याहरण—आदि कवि वाल्मीकि, कालिदास एवं तुलसीदास ने किया था। इसीलिये तीनों कालजयी हुए।

१.६ वर्तनीगत, भिन्न लिप्यन्तरित शब्दरूप

आचार्य ने चिन्तामणि भाग एक में कई शब्दों को भिन्न रूप में लिपिबद्ध किया है। वहाँ ऐसे शब्दों के कुछ उदाहरण एवं कोष्ठक में उनके प्रचलित रूप दिये जा रहे हैं—

रक्खा—पृष्ठ ३१ (रखा), कर्म्म—पृष्ठ ३१ (कर्म), रक्खेगा—पृष्ठ ७२ (रखेगा)। इसी प्रकार और कई रूप मिलते हैं।

१.७ अरबी-फ़ारसी के शब्द

सलाम (११), हाकिम (११), अर्दली (११), मिजाज (११), कवायद (१७), तमीज (२४), हर्ज (३७), मातहत (३७), बेवकूफ (४५), मुस्तैदी (५०), सुबीते (६७), शोहदापन (७०), नौबत (७१), मसल (७६), जुदे-जुदे (७७), नामाकुल (८२), इरादे (८२), आफत (८६)।

१.८ देशज शब्द

मिहनत (१६), चोंगा (१९), फालतू (२६), चटपट (२९), मुरावेत (३३),

पुरखा (३५), आसरा (४०), दीया (४१), भलमनसाहत (४५), ताकना (४६), खालिस (७२), अलबत्ता (७३), लत (८३), कुढ़ना (८३), फुसलाना (८८), गड़बड़ाहट (११२), अचरज (११९), ढब (१५२)।

उपर्युक्त देशज शब्दों में अधिकतर शब्द पूर्वी अवधी के हैं।

१.९ इस विवेचन के आलोक में हम कहेंगे कि शुक्ल जी के प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक संकेत एवं नव प्रयोग, हिन्दी के सजग अध्येताओं के अन्तर्मन में प्रेरणास्पद स्फूर्ति पैदा करने में समर्थ हैं। उनको पाकर हिन्दी का गद्य-साहित्य अन्य भाषाओं के गद्य-साहित्य में गण्य हो सका है। हम उन्हें स्मरण करते हुए गौरवान्वित होते हैं।

प्राध्यापक, हिन्दी एवं भाषाविज्ञान,
जबलपुर विश्वविद्यालय,
जबलपुर

●

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : व्यक्ति, आलोचक, निबन्धकार

डॉ० रामप्रसाद मिश्र

⊙

आचार्य शुक्ल : व्यक्ति

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (१९४०-९८ वि० सं०) का जन्म बस्ती (उत्तरप्रदेश) जिले के अगोना नामक ग्राम में हुआ था। उनकी स्फीत प्रतिभा को उनके भारत की आत्मा के निवासस्थल ग्राम में जन्म से पर्याप्त लाभ प्राप्त हुआ है—उनकी आलोचना और उनके निबंध दोनों में ही भारत की प्यारी-प्यारी माटी की सोंधी-सोंधी सुगन्ध मिलती है। उनकी आलोचना में अमराइयों की बहार और कोयल की कूक इत्यादि तत्त्व विवेचनात्मक साहित्य (स्थूल और कठोर शब्दों में 'साहित्य का साहित्य') को सृजनात्मक साहित्य के स्पर्श से पुलकित कर देते हैं। यदि आलोचक शुक्ल गाँव में न जन्मे होते, तो पद्मावत के महाकवि जायसी की नागमती के "पुष्प नखत सिर ऊपर आवा। हौ बिनु नाह, मंदिर को छावा ?" की प्रशस्ति में, उसके रानीपन को भूलकर, (जायसी-ग्रंथावली की भूमिका में) आत्मविभोर न हो पाते अथवा पाठकों को आत्मविभोर न कर पाते। 'साकेत : एक अध्ययन' में विशुद्ध-नागर समीक्षक डॉ० नगेन्द्र ने 'आचार्य' की 'मनोवैज्ञानिक भूल' का संकेत किया है, किन्तु उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ सका। यदि आलोचक शुक्ल गाँव में न जन्मे होते, तो 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका में यह शब्दावली आ पाती या नहीं, कौन कह सकता है?—"जयदेव की देववाणी-स्निग्ध पीयूष-धारा, जो काल की कठोरता में दब गयी थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल-कंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करील-कुंजों के बीच फैल मुरझाए मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ बीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।" यदि निबन्धकार शुक्ल गाँव में न जन्मे होते तो 'लोभ और प्रीति, की यह आत्मपरक महुए की खुशबू कहाँ मिल पाती?—"...साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा-सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं।...सवेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। बसंत का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुंह से निकला—'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही

है!' निबंधकार शुक्ल की इन मनोहारी पंक्तियों (कविता क्या है?...में) की पृष्ठभूमि खेतों, खलिहानों और मैदानों में साफ-साफ दिखायी दे जाती है, 'कोसों तक फैले कड़ी धूप में तपते मैदान के बीच एक अकेला वह वृक्ष दूर तक छाया फैलाए खड़ा है। हवा के झोकों से उसकी टहनियाँ और पत्ते हिलहिलकर मानों बुला रहे हैं। हम धूप से व्याकुल होकर उसकी ओर बढ़ते हैं। देखते हैं, उसकी जड़ के पास एक गाय बैठी आँख मूंदे जुगाली कर रही है।" ग्राम के प्रति साहित्य का आकर्षण सनातन है, क्योंकि वहाँ जीवन प्रकृति से ओतप्रोत रहता है और प्रकृति कविता की सखी है। जहाँ तक आर्य-संस्कृति का सम्बन्ध है, वह आदिकाल से ही ग्रामप्रधान रही है, जिसका अजर-अमर स्मारक मानवजाति का आदिग्रंथ ऋग्वेद है। ऋग्वेद में घनदेवता इंद्र को सर्वोपरि स्थान प्राप्त ह। ऋग्वेद में नदी, वन, गो, अश्व इत्यादि देवता है।

आधुनिक काल का साहित्य नागर-तत्त्वों से ओतप्रोत है। उसका ऐसा होना भारत में तीव्र नागर-विकास के तथ्यों पर आधृत है। फिर भी महान् प्रतिभाओं में अधिकतर ग्रामजन्मा हैं—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, हरिऔध, प्रेमचन्द, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पंत, दिनकर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इत्यादि। नगरजन्मा महान् प्रतिमाओं में से अधिकतर ने भी ग्राम में मन रमाया है—रत्नाकर, प्रसाद, बच्चन इत्यादि ने। 'आधुनिक कविता में ग्राम-बोध', 'आधुनिक उपन्यास में ग्राम-बोध', 'आधुनिक निबन्ध में ग्राम-बोध' इत्यादि शोध के सुन्दर विषय हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना में ग्राम-बोध का स्तर अतीव उच्चकोटि का है। इसके कारण उनकी आलोचना में एक अनूठे लालित्य का समावेश हो गया है, जो मिश्रबंधु, नंददुलारे, हजारीप्रसाद और नगेन्द्र जैसे अन्य स्तरीय आलोचकों की कृतियों में दुर्लभ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों में ग्राम-बोध का स्तर उच्चतम कोटि का है। निबन्ध की सृजनात्मक विधा में उनका निजीपन अधिक व्यापक रूप लेकर प्रकट हो सका है, जो स्वाभाविक भी है। सौभाग्यवश हिन्दी-निबन्ध में ग्राम-बोध हिन्दी के मॉन्तेन अथवा हिन्दी के लैम्ब प्रतापनारायण मिश्र (आचार्य श्याम-सुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' में मिश्र को मॉन्तेन और लैम्ब के साथ पंक्तिबद्ध किया है) से अधुनातन निबंध के प्रथम प्रतीक विद्यानिवास मिश्र तक प्रसारित है। शुक्ल का स्थान इस दिशा में भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विकास में युगनिर्माता एवं युगसम्राट् आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी का बहुत बड़ा हाथ रहा। शुक्ल पर द्विवेदी-युग अथवा आदर्शवादी युग (मैंने अपने 'हिन्दी-साहित्य का नवीन इतिहास' तथा 'हिस्ट्री ऑफ हिंदी लिटरेचर' में द्विवेदी-युग को आदर्शवादी युग माना है तथा हरिऔध, प्रेमचन्द, शुक्ल, मैथिलीशरण इत्यादि के साहित्य का विवेचन इसी एक युग के अन्तर्गत किया है)' का प्रभूत प्रभाव पड़ा है। १९०३-१८ ई० के युग में 'सरस्वती' के सम्पादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने विराट् हिन्दी-साहित्य को जितना और जैसा प्रभावित, प्रेरित और अनुप्राणित किया था, संसार-साहित्य के इतिहास में किसी भी साहित्य को उतना और वैसा प्रभावित, प्रेरित और अनुप्राणित करने

वाला कोई अन्य साहित्यकार नहीं हुआ। आचार्य द्विवेदी का इतना अधिक प्रताप था कि यदि किसी कहानी का अनुवाद 'सरस्वती' में प्रकाशित होता था तो विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक हर्षित हो उठते थे। किसी की एक कविता भी 'सरस्वती' में प्रकाशित हो जाती थी तो वह कवि मान लिया जाता था, किसी की एक कहानी प्रकाशित हो जाती थी तो कहानीकार, किसी का एक निबंध तो निबंधकार। चंद्रधर शर्मा गुलेरी आचार्य के स्पर्श-मात्र से अमर कहानीकार बन गये, पूर्णसिंह अमर निबंधकार। इन्हीं महान् आचार्य द्विवेदी ने शुक्ल के स्फीत निबन्धों को 'सरस्वती' में प्रकाशित करके उन्हें अमर निबन्धकार बना दिया।

महान् गुणग्राहक एवं महान् साहित्यसेवक आचार्य श्यामसुन्दरदास ने रामचन्द्र शुक्ल की प्रतिभा को ठीक-ठीक आँका और उन्हें काशी बुलाकर नागरी-प्रचारिणी सभा के अमर एवं ऐतिहासिक शब्दसागर के सम्पादक-मण्डल में सम्मिलित कर लिया। शब्दसागर के प्रधान सम्पादक स्वयं आचार्य श्यामसुन्दरदास थे। शब्दसागर के एक सम्पादक के रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने महान् श्रम किया। शब्द की आत्मा में प्रवेश करते-करते वे शब्द-ब्रह्म के साक्षात्कर्ता बन गये। अक्षर में प्रवेश करते-करते वे अक्षर के अंग बन गये। शब्दों के मनन ने उन्हें विराट् हिन्दी की प्रमुख विभाषाओं (अवधी और ब्रज) का आचार्य बना दिया। जायसी-ग्रंथावली की भूमिका में अवधी और बुद्धचरित के अनुवाद की भूमिका में ब्रज विभाषाओं पर उन्होंने गम्भीर प्रकाश डाला है। उनके कार्य से प्रसन्न होकर श्यामसुन्दरदास जी ने उन्हें विराट् शब्दसागर की विराट् भूमिका लिखने का आदेश दिया, जिसका ऐतिहासिक एवं अतुलनीय परिणाम 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' के रूप में प्रकट हुआ। श्यामसुन्दरदास जी महान् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के जब प्रथम अध्यक्ष बने तब उन्होंने शुक्ल जी को प्राध्यापक बना लिया। यद्यपि शुक्ल जी प्राध्यापक थे, तथापि वे निबन्धकार और आलोचक प्रमुखतः पहले थे। उनका प्राध्यापक और कवि होना गौण है। आचार्य शुक्ल के उत्कर्ष में आचार्य श्यामसुन्दरदास का योगदान बहुत अधिक रहा है। यह एक अमर एवं आनंदप्रद संयोग था कि हिन्दी-आचार्यों की बृहत्त्रयी (द्विवेदी-श्यामसुन्दरदास-शुक्ल) एक ही युग में हुई और उसने पारस्परिक सम्बन्ध से ऐतिहासिक महत्त्व के अनेक कार्य सम्पादित किये।

हिन्दी के प्रथम महान् आलोचक मिश्रबन्धु (गणेशबिहारी, श्यामबिहारी, शुकदेवबिहारी) का भी शुक्ल जी पर अपार ऋण है। शुक्ल जी के 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' की कम-से-कम एक तिहाई सामग्री मिश्रबंधु के 'विनोद' से ली गयी है। शुक्ल जी का रीतिकाल तो मिश्रबन्धु के अलंकृतकाल पर आधृत-सा ही है, उनके वीरगाथाकाल पर भी मिश्रबंधु के रासोकाल की गहरी छाप है। शुक्ल जी का भक्तिकाल भी 'विनोद' के प्रभाव से मुक्त नहीं है। हाँ, उनका गद्यकाल (आधुनिक-काल) लगभग उनका अपना ही है।

इस प्रकार व्यक्ति शुक्ल के निर्माण में ग्राम-जन्म, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य श्यामसुन्दरदास एवं मिश्रबन्धु की भूमिकाएँ निर्णायक रहीं। व्यक्ति शुक्ल की सहृदयता एवं प्रकृतिप्रेम ने उन्हें कविता की ओर भी आकृष्ट किया, यद्यपि मूलतः वे कवि न

थे। 'सरस्वती' के सहयोग से वे निबन्धकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए, सभा के कारण आलोचक के रूप में प्रख्यात हुए तथा 'विनोद' के कारण साहित्येतिहास के नूतन आयामों के प्रतिष्ठापक बने। निस्सन्देह उनकी अपनी प्रतिभा एवं उनका अपना अध्यवसाय उनके निर्माण के दो आधारभूत तत्त्व थे, किन्तु उनके 'समग्र' का निर्माण इन इतर तत्त्वों के कारण ही हुआ।

आलोचक

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-आलोचना के केन्द्र-पुरुष हैं—ठीक वैसे ही जैसे प्रेमचंद हिन्दी-उपन्यास के केन्द्र-पुरुष हैं और प्रसाद हिन्दी-नाटक के केन्द्र-पुरुष हैं। अपनी असाधारण प्रतिभा, अपनी स्फीततर ग्रहणशक्ति, अपने अगाध अध्ययन एवं अपनी अचूक स्थापना-प्रणाली के कारण अब तक वे ही हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक बने हुए हैं। हिन्दी के अधिकांश परवर्ती आलोचक शुक्लोपजीवी ही सिद्ध हुए हैं। पूर्ववर्ती आलोचकों में केवल मिश्रबन्धु से उनकी समता की जा सकती है। मिश्रबन्धु में परिश्रम अधिक है तो शुक्ल में प्रतिभा अधिक। मिश्रबन्धु में लगन अधिक है, शुक्ल जी में शक्ति अधिक है। मिश्रबन्धु प्रतिपादित करते हैं, शुक्ल स्थापित करते हैं। प्रमुखतः जनता के आलोचक होने के कारण मिश्रबन्धु सरलता का आदर करते हैं, प्रमुखतः अध्येताओं के आलोचक होने के कारण शुक्ल जी 'गूढ़-गुम्फित विचार-सरणि' का आदर करते हैं। मिश्रबन्धु विशेषतः रसवाद-अलंकारवाद में केन्द्रित हैं, शुक्ल जी अन्य भारतीय तथा अनेक पाश्चात्य-सिद्धान्तों का ऊहापोह भी करते हैं। निस्सन्देह शुक्ल जी का आलोचना-साहित्य, विद्वत्ता, स्थापना-शक्ति, भाषा एवं शैली के गाम्भीर्य तथा प्रवाह में मिश्रबन्धु के आलोचना-साहित्य से श्रेष्ठतर है। शुक्ल जी मिश्रबंधु से श्रेष्ठतर आलोचक हैं, यद्यपि उन पर मिश्रबन्धु का अपार ऋण है। परवर्ती आलोचकों में श्री नन्ददुलारे, हजारीप्रसाद और नगेन्द्र प्रमुख हैं, किन्तु इनमें से कोई भी गौरवशाली प्रस्थान-ग्रंथ नहीं रच सका, इनमें से किसी के आलोचना-साहित्य के आयाम मिश्रबन्धु या शुक्ल के आयामों के सदृश स्फीत नहीं है, इनमें से किसी का जनजीवन पर कोई व्यापक प्रभाव नहीं पड़ सका क्योंकि ये वस्तुतः परिसर-आलोचक हैं—अर्थात् विश्वविद्यालयों अथवा महाविद्यालयों के सीमित क्षेत्रों में ही पढ़े-पढ़ाये जाते हैं। श्री नंददुलारे, हजारीप्रसाद और नगेन्द्र शुक्लोपजीवी आलोचक हैं—जो बिंदु शुक्ल जी ने उपेक्षित किये या जिन बिन्दुओं पर शुक्ल जी ने प्रहार किये या जिन कवियों से शुक्ल जी ने अन्याय किया, उनको लेकर ही ये आगे बढ़े। निस्सन्देह, श्री नंददुलारे, हजारीप्रसाद जी और नगेन्द्र महत्त्वपूर्ण आलोचक हैं, किन्तु मिश्रबन्धु और शुक्ल जी के सदृश प्रस्थान-ग्रंथकार, प्रेरक और नियामक नहीं।

'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के महान् आलोचक-रूप का अजर-अमर स्मारक है। किन्तु 'गोस्वामी तुलसीदास' और 'जायसी-ग्रंथावली' की भूमिका, जो एक अच्छे-खासे ग्रंथ जैसी ही है—में भी वे प्रथम श्रेणी के आलोचक ही दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी सूर की आलोचना भी विद्वत्तापूर्ण है। भ्रमरगीतसार की भूमिका आज तक आदर प्राप्त करती आ रही है।

'गोस्वामी तुलसीदास' शीर्षक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ में आचार्य शुक्ल ने तुलसी-काव्य के अनुभूति एवं अभिव्यक्ति पक्षों के प्रायः सभी प्रमुख विन्दुओं पर प्रशस्य एवं स्तरीय प्रकाश डाला है। इस स्मरणीय ग्रंथ-रत्न में छोटे-बड़े अठारह निबन्ध हैं। 'चिंतामणि' (पहला भाग) के सत्रह निबंधों में भी तुलसी पर दो निबन्ध प्राप्त होते हैं—'तुलसी का भक्तिमार्ग' और 'मानस की धर्मभूमि' जिनमें से दूसरा 'गोस्वामी तुलसीदास' में भी विद्यमान है। तुलसी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, उन्हें प्राप्त सांस्कृतिक परम्परा, उनके समय की धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति, उसमें उनका योगदान, उनकी भक्ति-पद्धति, उनका शीलनिरूपण एवं मर्यादावाद, उनकी लोक-मंगलसाधना, उनकी भाषा-शैली, उनका अलंकार-विधान, हिन्दी-साहित्य में उनका स्थान इत्यादि आचार्य शुक्ल द्वारा सर्वोच्च स्तर पर विवेचित-विश्लेषित किये गये हैं। ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु इत्यादि के सदृश शुक्ल जी ने भी हिन्दी-साहित्य में तुलसी की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है, जो रस, भाषा, छंदविधान, लोकप्रभाव इत्यादि सभी दृष्टियों से युक्तियुक्त है।

'जायसी-ग्रंथावली' की स्फीत भूमिका में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूफी-दर्शन, उस पर भारतीय अद्वैतवाद के प्रभाव, सूफी-रहस्यवाद, जायसी के प्रबंध-कौशल, उनके अद्वितीय विरह-वर्णन, उनकी ठेठ अवधी इत्यादि पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। जायसी की उदारता पर शुक्ल जी की प्रशस्ति वस्तुपरक न होकर आत्मपरक है। जायसी ने राम, लक्ष्मण, पाण्डव, कौरव, नारद, इंद्र इत्यादि पर निराधार अपमानसूचक शब्द लिखे हैं और इस्लाम को सर्वोपरि धर्म घोषित किया है। अतएव, शुक्ल जी द्वारा जायसी की उदारता की प्रशस्ति निराधार है।

'सूरदास' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की छोटी-सी किन्तु उल्लेखनीय आलोचना-कृति है। वस्तुतः यह 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका ही है। इसमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, युगस्थिति, वात्सल्य-वर्णन, श्रृंगारवर्णन तथा भ्रमरगीत इत्यादि पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का महान् रूप 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', 'गोस्वामी तुलसीदास' और 'जायसी-ग्रंथावली' की भूमिका में ही विवृत हुआ है, क्योंकि 'सूरदास' ग्रंथ अपेक्षाकृत साधारण है और लघु भी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शास्त्रवादी-लोकमंगलवादी आलोचक हैं। शास्त्रवाद से अभिप्राय उनके रसवादी होने से तो है ही, अलंकार-निरूपण, गुण-दोष-निरूपण, लक्षणा-व्यञ्जना-प्रशस्ति इत्यादि से भी है। यहाँ तक वे मिश्रबन्धु की परम्परा के विकासक-मात्र सिद्ध होते हैं। किन्तु तब उनका शास्त्रवाद सैद्धांतिक शास्त्रवाद का स्वरूप ग्रहण करता हुआ मिश्रबन्धु के पारम्परिक शास्त्रवाद से भिन्न हो जाता है जब वे साधारणीकरण को महत्त्व प्रदान करते हैं, व्यक्तिवैचित्रवाद की विगर्हणा करते हैं। शुक्ल जी ने व्यक्तिवादमूलक क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद का प्रत्याख्यान किया है। इसी दृष्टि से उन्होंने ब्रैडले की भी आलोचना की है। रिचर्ड्स ने उन्हें अवश्य प्रभावित किया है। रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और

औचित्य में शुक्ल जी रस एवं ध्वनि को विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं, यद्यपि अलंकार एवं वक्रोक्ति का भी सम्मान करते हैं।

निबन्धकार

प्रायः सर्वमान्य रूप से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को हिन्दी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार माना जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उन्हें भरतीय साहित्य का प्रमुख निबन्धकार माना है। वस्तुतः शुक्ल विश्व-स्तर के महान् निबन्धकार हैं। शुक्ल जी औपचारिक निबन्ध के वैसे ही सम्राट् हैं जैसे मिश्र अनौपचारिक निबन्ध के। उनके विचारात्मक निबन्ध अपने उपमान आप ही हैं। उनकी गूढ़-गुम्फित विचार-सरणि और गहन-गम्भीर भाषा-शैली का योग एक समग्र प्रभाव छोड़ जाता है।

विश्व के निबन्ध-साहित्य की एक सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि 'चिन्तामणि' के प्रणेता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तीन प्रकार के निबन्ध लिखे हैं—

१. भावपरक निबंध, जिनमें प्रमुख रसों के स्थायीभावों पर विशद, गम्भीर और मौलिक विवेचन-विश्लेषण प्राप्त होता है—उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लोभ, प्रीति, घृणा, भय, क्रोध इत्यादि इसी प्रकार के निबन्ध हैं। संख्या की दृष्टि से शुक्ल ने इस वर्ग के निबन्ध अधिक लिखे हैं।

२. सैद्धान्तिक निबन्ध, जिनमें भावबोध, रसबोध, काव्य के स्वरूप, काव्य में लोक-मंगल, साधारणीकरण, व्यक्तिवैचित्र्यवाद, रहस्यवाद जैसे गम्भीर विषयों पर उच्चतम स्तर का वैचारिक ऊहापोह किया गया है, वैयक्तिक स्पर्श से ऊर्जस्वित् स्थापनाएँ की गयी हैं—भाव या मनोविकार, कविता क्या है?, रसात्मक बोध के विविध रूप, काव्य में रहस्यवाद इत्यादि इसी प्रकार के निबन्ध हैं। संख्या की दृष्टि से अपेक्षाकृत अल्प होने पर भी इस वर्ग के निबन्ध सम्भवतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'कविता क्या है?' निबन्ध को शुक्ल का सर्वश्रेष्ठ निबंध माना जा सकता है। इस स्फीत निबन्ध में लोकोत्तर आनंद अथवा रस समेत कविता के प्रायः समग्र महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का सर्वोच्चस्तरीय विवेचन किया गया है।

३. व्यक्तिपरक निबन्ध केवल तीन हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्ति-मार्ग, मानस की धर्मभूमि—और इन तीन में से भी एक 'मानस की धर्मभूमि' के दर्शन 'गोस्वामी तुलसीदास' ग्रंथ के अंतिम निबन्ध के रूप में होते हैं। ये तीनों निबंध उत्कृष्ट हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर जितने उत्कृष्ट और गम्भीर विचार शुक्ल ने व्यक्त किये हैं, उतने डॉ० राम-विलास शर्मा समेत किसी आलोचक ने नहीं।

शुक्ल जी के प्रायः सभी निबन्धों में उच्चकोटि की विचारशक्ति, स्थापनाशक्ति, संवेदनशीलता एवम् आदर्शप्रवणता के दर्शन अनायास ही किये जा सकते हैं। उनके निबन्धों में बुद्धि और हृदय तथा विषय और व्यक्ति का अद्वितीय समन्वय प्राप्त होता है। विचारात्मक निबन्धकार की दृष्टि से शुक्ल जी हिन्दी या भारत के ही नहीं, प्रत्युत समग्र विश्व के एक अग्रणी साहित्यस्रष्टा हैं। इस विश्वस्तरीय महान् निबन्धकार के निबन्धों की प्रधान विषेषताएँ हैं—

१. परिभाषावाद,
२. वर्गीकरणवाद,
३. विश्लेषणवाद,
४. आत्माभिव्यक्ति,
५. हास, परिहास एवं व्यंग्य का सफल प्रयोग,
६. प्राणवान् भाषा,
७. समास एवं व्यासशैली का समन्वय।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का व्यक्ति-रूप अच्छा, आलोचकरूप महान् और निबन्धकार-रूप महानतर है। उनका कवि-रूप बस इतना महत्त्व रखता है कि वे कविता भी लिख गये हैं। उनका प्राध्यापक रूप बस ठीक-ठाक था। उनका व्यक्तित्व अपने-आप में केन्द्रित किन्तु लोकमंगल का सम्मान करनेवाला व्यक्तित्व था। वे एक विशुद्ध साहित्यकार थे, जो राजनीतिज्ञों की स्तुति, पद-प्राप्ति की तिकड़मबाज़ी और शैक्षिक भ्रष्टाचार से मुक्त रहे। आलोचक के रूप में शुक्ल जी का स्थान अब तक सर्वश्रेष्ठ बना हुआ है। यद्यपि उनकी अनेक स्थापनाएँ कालातीत एवं अमान्य हो चुकी हैं तथापि पूर्ववर्त्ती मिश्रबन्धु और परवर्त्ती श्री नंददुलारे हजारीप्रसाद जी और नगेन्द्र जी मौलिकता, सैद्धान्तिकता, स्थापना-शक्ति, आत्मबल, प्रात्ययिकता, व्यापकता इत्यादि गुणों में उनकी समता नहीं कर सकते। विचारात्मक निबन्धकार के रूप में शुक्ल जो का स्थान अब तक सर्वश्रेष्ठ बना हुआ है और इस दिशा में उनकी समता करनेवाला कोई है ही नहीं।

हिन्दी के समग्र गद्य-साहित्य में शुक्ल जी की समता केवल प्रेमचंद जी कर सकते हैं, यद्यपि उनमें भी तेजस्विता, वैचारिकता, स्थापनाशक्ति, प्रभावान्विति इत्यादि विभूतियाँ अपेक्षाकृत अल्प ही हैं। आचार्य शुक्ल हिन्दी-गद्य के सुमेरु हैं और हमारे सम्पूर्ण साहित्य में उनका स्थान तुलसी, सूर, कबीर, जायसी, केशव, भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, प्रसाद इत्यादि मूर्द्धन्य स्रष्टाओं के अपने-अपने स्थान के सदृश एक अजर-अमर पुराण-पुरुष का है।

३५ बी, एल० आई० जी० फ्लैट्स,
बस टर्मिनल के पास,
राजौरी गार्डन एक्स्टेंशन,
नई दिल्ली-११००२७

कवि रामचन्द्र शुक्ल : एक मूल्यांकन

डॉ० मिथिलेशकुमारी मिश्र

⊙

सामान्यतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्यजगत् में गम्भीर आलोचक एवं विचारशील निबन्ध-लेखक के रूप में जाने जाते हैं। किन्तु इनका सम्पूर्ण साहित्य ठीक से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वस्तुतः ये गम्भीर चिन्तक के साथ ही सहृदय कवि भी थे। यहाँ तक कि उनके निबन्धों में भी उनका काव्यमय व्यक्तित्व फूट पड़ता है—चाहे आलोचना हो या मौलिक निबन्ध, आपकी गद्यमय शैली काव्यमयी ही है।

काव्य के क्षेत्र में अपेक्षाकृत कार्य तो कम है, किन्तु जो भी है वह उनकी काव्यसर्जनात्मक प्रतिभा का अच्छा-खासा प्रमाण है, जो सहृदय को विमुग्ध किये बिना नहीं रहता। इनकी मौलिक कविताएँ एक ओर देश-जाति तथा प्रेम भावनाओं को सँजोये हुए है तो दूसरी ओर वे प्रकृति की मनोरम रंग-बिरंगी झाँकियों का दिग्दर्शन कराती हैं। प्रारम्भिक कविताएँ द्विवेदी-युग के आदर्शवाद से प्रभावित रही हैं—'गोस्वामी जी और हिन्दू जाति', 'भारतेन्दु-जयन्ती', 'हमारी हिन्दी', 'आशा और उद्योग', 'प्रेम-प्रताप', तथा 'अन्योक्तियाँ' इत्यादि। ये सभी रचनाएं खड़ीबोली तथा सरल शब्दावली में हैं। फलतः इनमें रस-सम्प्रेषणीयता की बहुतायत है।

शुक्ल जी की 'भारत और वसन्त' नामक कविता देशप्रेम से ओत-प्रोत है। वसन्त के आगमन पर भारत द्वारा अपनी दीनदशा का वर्णन तथा बाद में वसन्त के द्वारा भारत के अतीत के गौरव की याद दिलाना अत्यन्त हृदयग्राही एवं मनोरम बन पड़ा है। इसी प्रकार 'गोस्वामी जी और हिन्दू जाति' नामक कविता के माध्यम से उन्होंने उत्थान का सन्देश दिया। यही नहीं, सूरत-कांग्रेस की फूट वे सह न सके। उस समय उन्होंने देशवासियों से कहा—

किन्तु आज बाईस वर्ष तक कितने झोंके खाती।
अन्यायी को लज्जित करती न्याय छटा छहराती॥
यह जातीय सभा हम सबकी न्याय ठेलती आई।
हाय फूट तेरे आनन में वह भी आज समाई॥
यही समझते थे दोनों दल पृथक् पंथ अनुयायी।
होकर भी उद्देश्य-हानि को सह न सकेंगे भाई॥
किन्तु देख सूरत की सूरत भगे भाव यह सारे।
आशंका तब तरह-तरह की मन में उठी हमारे॥

अब तो कर कुछ कृपा कि जिससे एक सभी फिर होवें।
अपने मन का मैल देश की अश्रु-धार से धोवें।।
जो-जो सिर पर बीत रही, उसको जो वेगि भुलावें।
मौन भार निज मातृभूमि की सेवा में लग जावें।।

इसी प्रकार की भाव-राशियाँ सँजोये अनेक कविताएँ प्राप्त होती हैं। शुक्ल जी का प्रकृति-चित्रण तो हिन्दी-काव्यक्षेत्र की अमूल्य निधि है। हिन्दी-कवियों में प्रकृति का ऐसा अनन्य उपासक एवं चितेरा दूसरा कवि नहीं मिलता। यहाँ तक कि काव्य-सिद्धान्तों के निर्धारण में उन्होंने प्रकृति के उपयोग की चर्चा की है। उन्हें प्रकृति से अगाध प्रेम था। प्रकृति के चित्रण में उन्होंने आत्मचित्रण भी किया है। वस्तुतः प्रकृति के नैसर्गिक रूप ही मानव-हृदय के सोये हुए भावों को जागृत करने में समर्थ होते हैं। इसीलिए शुक्ल जी प्रकृति के संश्लिष्ट -चित्रण में विश्वास करते हैं।. 'हृदय का मधुर भार' नामक कविता में लिखते हैं—

"प्रकृति के शुद्ध रूप देखने को आँखें नहीं,
जिन्हें वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं।
झूठे-झूठे भावों के आरोप से आच्छन्न उसे,
करके पाषण्ड कला अपनी दिखाते हैं।।
अपने कलेवर की मैली औ' कुचैली वृत्ति,
छोप के निराली छटा उसकी छिपाते हैं।
अश्रु-श्वास-ज्वार-ज्वाला नीरव रुदन नृत्य,
देख अपना ही तंत्री तार वे बजाते हैं।।"

आचार्य शुक्ल की पहली कविता 'मनोहर छटा' कही जाती है, जो अक्टूबर सन् १९०१ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। यह इस तथ्य का प्रमाण है कि प्रकृति के यथार्थ एवं संश्लिष्ट चित्रण का प्रारम्भ उनके काव्य-प्रारम्भ के साथ ही हो गया था।

शुक्ल जी द्वारा किये गये विन्ध्य के समीपवर्ती लहलहे खेतों की बसन्तकालीन सौन्दर्य का वर्णन कैसा अनोखा बन पड़ा है—

"भूरी हरी घास आस-पास फूली सरसों है,
पीली-पीली बिन्दियों के चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार।।
गाढ़ी हरी श्यामता की तुङ्ग शशि-रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर घार।

जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ-मण्डल से,
धुँधली-सी नीली नग-माला उठी धुआँधार॥"

इसी प्रकार उन्होंने ग्रीष्म आदि ऋतुओं का वर्णन भी पर्याप्त सूक्ष्मता से किया है। आपकी प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में यत्र-तत्र रहस्य-भावना के स्थल भी दृष्टिगोचर होते हैं। इस सन्दर्भ में 'हृदय का मधुर भार' कविता का निम्न छन्द द्रष्टव्य है—

"धुँधले दिगंत में विलीन हरिदाभ रेखा,
किसी दूर देश की-सी झलक दिखाती है।
जहाँ स्वर्ग भूतल का अन्तर मिला है, चिर
पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है।
भूत औ भविष्यत् की भव्यता भी सारी छिपी,
दिव्य भावना-सी वहीं भासती भुलाती है।
दूरता के गर्भ में जो रूपता भरी है वही,
माधुरी ही जीवन की कटुता मिटाती है॥"

प्रकृति के वर्तमान दुरुपयोग को देखकर शुक्ल जी जैसे प्रकृति-पुजारी से रहा न गया और वे कह उठे—

"कर से कराल निज काननों को काटकर,
शैलों को सपाट कर, सृष्टि को संहार ले।
नाना रूप रंग धरे, जीवन-उमंग-भरे,
जीव को जहाँ तक बनें मारते, तू मार ले॥
माता धरती की भरी गोद यह सूनी कर,
प्रेत-सा अकेला पाँव अपना पसार ले॥
विश्व बीच नर के विकास हेतु नरता ही,
होगी किन्तु अलम् न, मानव विचार ले॥"

आचार्य शुक्ल प्रकृति के सभी रूपों पर मुग्ध थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति के अनुरूप ग्रामों का चित्रण भी बहुत सुन्दर किया है, लेकिन वहाँ भी माध्यम प्रकृति ही है—

"गया उसी देवल के पास से है ग्राम-पथ,
श्वेतधारियों में नई घास को विभक्त कर।
थूहरों से सटे हुए पेड़ और झाड़ हरे,
गो-रज से धूम ले जो खड़े हैं किनारे पर॥
उन्हें कई गायें पैर अगले चढ़ाये हुए,
कंठ को उठाए चुपचाप ही रही हैं चर।
जा रही हैं घाट-ओर ग्राम-बनितायें कई
लौटती हैं कई एक घट औ' कलश भर॥"

आचार्य शुक्ल की मौलिक कविताओं के अतिरिक्त अनुवाद के क्षेत्र में भी इनका हिन्दी

साहित्य में विशिष्ट योगदान रहा है। इनकी काव्य-प्रभिभा का यह ज्वलन्त उदाहरण है। इनकी काव्यकला की सही जानकारी के लिए The light of Asia का अनुवाद 'बुद्ध-चरित' का उल्लेख अति आवश्यक जान पड़ता है। यह अनुवाद होते हुए भी शुक्ल जी का स्वतन्त्र ग्रन्थ-सा लगता है। इसकी भाषा ब्रज है। अन्यत्र अपनी मौलिक रचनाओं में भी शुक्ल जी ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। बुद्ध-चरित के प्रारम्भ में उन्होंने अपने विचार को व्यक्त करते हुए लिखा है—"यद्यपि उसका ढंग ऐसा रखा गया है कि एक स्वतन्त्र हिन्दी-काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो, पर साथ ही मूल पुस्तक के भावों को स्पष्ट करने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया है। दृश्य-वर्णन जहाँ अयुक्त या अपर्याप्त प्रतीत हुए, वहाँ बहुत कुछ फेर-फार करना या बढ़ाना भी पड़ा है।" यह ग्रन्थ मूल से भी अधिक ग्राह्य एवं सुन्दर बन पड़ा है। लेखक के मूल भाव को सुरक्षित रखते हुए भी किस प्रकार शुक्ल जी ने अपने भावों की अभिव्यञ्जना देते हुए सफल अनुवाद किया है, इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"Softly the Indian night sinks on the plains at full moon, in the month of chaitra shud, when mangoes redden and the asoka buds, sweeten the breeze, and Rama's birthday comes, and all the fields are glad aud all the towns."

"निखरी रैन चैत पूनो की अति निर्मल उजियारी।
चारुहासिनी खिली चाँदनी पट परपै अति प्यारी॥
अमराइन में धँसि अभियन को दरसावति बिलगाई।
सींकन में गुछि झूल रहीं जो मन्द झकोरन पाई॥
चुवत मधूक परसि भू जौ लौं 'टप-टप' शब्द सुनावैं।
ताके प्रथम पलक भारत भर में निज झलक दिखावैं॥
महकति कतहुँ अशोक-मंजरी, कतहुँ-कतहुँ पुर माँहीं।
राम-जन्म-उत्सव के अब लौं साज हटे हैं नाहीं।"

भाषा का यह शिष्ट और मधुर रूप सम्पूर्ण अनुवाद पर छाया है जो पाठक का मन मोह लेता है। उनका काव्य उनके हृदय का सच्चा उद्गार है। उसमें, उनके जीवन-दर्शन की स्पष्ट झलक तो है ही, साथ ही उनके सभी काव्य-सिद्धान्तों का पालन भी हुआ है। भाषा एवं छन्दों का वैविध्य तथा उसकी सहजता उनके आचार्यत्व की पुष्टि करती है। उनका प्रकृति-चित्रण कालिदास, भवभूति या अन्य संस्कृत-कवियों से कम नहीं है। इस प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कवि के रूप में आलोचक के सदृश ही महत्त्व रखते हैं जिसके लिए हिन्दी-साहित्य उनका चिर-ऋणी रहेगा।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्,
पटना-४

शुक्लोत्तर आलोचना के प्रतिमान

डॉ० रमेश तिवारी

⊙

मेरी समझ से 'आलोचना के प्रतिमान' वह होते हैं जिनके आधार पर कला-कृति का मूल्यांकन किया जाता है और उसके सुन्दर-असुन्दर, अच्छे-बुरे, महत्त्वपूर्ण-महत्त्वहीन और मूल्यवान् तथा मूल्यहीन होने का निर्णय किया जाता है। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि 'आलोचना के प्रतिमान' का तात्पर्य क्या है? इसलिए मैंने प्रारम्भ में ही अपनी स्थिति साफ कर ली है। अन्यथा ऐसा भी हो सकता था कि कुछ लोग 'आलोचना के प्रतिमान' को स्वयं आलोचना को ही जांचने-परखने की कसौटी समझ लेते और इस प्रकार सारी बहस आसानी से एक दूसरी ही दिशा में मुड़ जाती।

वस्तुतः इस भ्रम की गुन्जाइश इस लेख के शीर्षक में ही मौजूद है और 'शुक्लोत्तर आलोचना के प्रतिमान' कहने से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि इसका मतलब शुक्लोत्तर आलोचना की कसौटी से है अथवा शुक्लोत्तर साहित्य की कसौटी से। बहरहाल, मैंने इस लेख में इसका मतलब शुक्लोत्तर साहित्य की कसौटी ही ग्रहण किया है और इसी दृष्टि से इन प्रतिमानों का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। यद्यपि दूसरी तरफ आलोचना-शास्त्र और साहित्य के प्रतिमानों को अलग-अलग करके देखना भी मैं असम्भव मानता हूँ, क्योंकि आलोचना के प्रतिमान भी अंततः कला तथा साहित्य से ही लिए जाते हैं। अतः स्वाभाविक है कि दोनों में बहुत कुछ समानता लक्षित होगी ही।

मैंने कहा है, 'आलोचना के प्रतिमान' वह होते हैं जिनके आधार पर कला-कृति का मूल्यांकन किया जाता है। लेकिन प्रश्न उठ सकता है कि कला-कृति का मूल्यांकन क्यों? क्या वह कोई व्यावसायिक वस्तु है या कलाकार की अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति। फिर इस सहजता को मूल्यों के चौखटे में बन्द करना कहाँ तक उचित है? इस प्रश्न के उत्तर में मैं यहाँ विस्तार में न जाकर बस यही कहना चाहूँगा कि चाहे कला तथा साहित्य अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति हो अथवा कलाकार की आत्माभिव्यक्ति, किन्तु वह अपने निर्माण के पश्चात् सम्पूर्ण समाज की धरोहर बन जाता है और उस पर सम्पूर्ण समाज की प्रतिक्रिया अनिवार्यतः होती है। इन प्रतिक्रियाओं को ही साहित्य की आलोचना के नाम से हम जानते आये हैं और यह भी जानते हैं कि इन प्रतिक्रियाओं में मूल्य-निर्धारण

का भाव अनिवार्यतः मिला रहता है, जैसे संसार की अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में। और यह ठीक भी है, क्योंकि इससे श्रेष्ठतर और निम्नतर कला-प्रयत्नों का अलगाव शीघ्र ही समझ में आ जाता है और समाज बहुत सारी निम्नतम कला-सृष्टियों से अपने को बचा ले जाता है। अतः साहित्यालोचन की मूल्य-निर्धारण-पद्धति न केवल सामाजिकों तथा पाठकों की दृष्टि से ही, बल्कि स्वयं कलाकारों की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी मानी जा सकती है, क्योंकि इसके द्वारा कलाकारों को न केवल अपना यथोचित मूल्य और महत्त्व प्राप्त होता है, बल्कि उन्हें अपना वास्तविक स्तर भी मालूम हो जाता है। सामाजिकों अथवा पाठकों को न केवल श्रेष्ठ साहित्य पढ़ने को मिलता है, बल्कि उनकी कला-रुचि में भी महत्त्वपूर्ण विकास होता है और—

कला तथा साहित्य का विश्लेषण परम्परा से ही भाव और कला, विषय और अभिव्यञ्जना अथवा वस्तु और रूप—इन दो वर्गों में विभाजित करके किया जाता रहा है। स्पष्ट है कि कला तथा साहित्य के दो मोटे विभाग किये जा सकते हैं—एक वस्तु-पक्ष और दूसरा अभिव्यक्ति-पक्ष। एक का सम्बन्ध इससे है कि कलाकार अपनी कलाकृति में क्या करना चाहता है और दूसरे का इससे कि उसने अपनी बात किस रूप में और कैसे कही है? इस क्या और कैसे में ही सारे कला-प्रयत्नों की व्याख्या अन्तर्निहित होती है। अतः जाहिर है कि आलोचना के प्रतिमान भी स्वतः दुहरे होंगे—एक उसके विषय से सम्बन्धित तो दूसरा उसकी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित।

यहाँ एक प्रश्न और विचारणीय है कि आलोचना के इन प्रतिमानों का निर्माण कैसे और कहाँ से होता है? इनके निर्माण में प्रमुख आधार किसे बनाया जाता है? और यह भी कि इसका उत्स क्या है? इस सम्बन्ध में आज आलोचकों में मतैक्य नहीं है और कुछ लोग इन प्रतिमानों के लिए तमाम ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों को अनिवार्य बताते हैं तो कुछ की राय है कि इसके लिए मात्र कलाकृति को ही आधार बनाना उचित है। वस्तुतः इन दोनों ही दृष्टियों में सत्य का अंश मौजूद है और आलोचना के प्रतिमानों के निर्धारण में न तो तमाम साहित्येतर विषयों को ही जरूरत से ज्यादा महत्त्व देना उचित है और न स्वयं कला-कृति को ही एकमात्र इसका आधार बनाया जाना। बल्कि कलाकृति तथा तमाम ज्ञान-विज्ञान के साहित्येतर क्षेत्रों—राजनीति, दर्शन, समाजशास्त्र, इतिहास, धर्म, विज्ञान, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के समवेत अध्ययन-मनन तथा विश्लेषण और आकलन से ही साहित्य तथा कला के इन प्रतिमानों का निर्माण सम्भव है। उदाहरण के लिए 'रस-सिद्धान्त' के निर्माण में केवल संस्कृत-साहित्य का ही योगदान नहीं रहा है, बल्कि भारतीय दर्शन तथा धर्म ने भी उसकी पूर्वपीठिका को मजबूत बनाया है। आज भी रस की व्याख्या मनोविज्ञान के आधार पर जैसी की जा सकती है, वैसी केवल साहित्य के आधार पर नहीं की जा सकती। लेकिन हमें यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि रस की व्याख्या एक अलग कार्य-व्यापार है और सैद्धान्तिक चर्चा का विषय है, जबकि निर्धारित कृति में रस की अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तरों का अन्वेषण अलग कार्य-व्यापार और व्यावहारिक चर्चा का विषय है।

अतः इस सम्बन्ध में अपनी सोच को निर्धारित करते समय हमें इन दोनों बातों को ध्यान में रखना निहायत ज़रूरी जान पड़ता है।

स्पष्ट है कि आलोचना के प्रतिमानों का प्रमुख आधार कलाकृति को ही बनाया जा सकता है—उसके निर्माण में तमाम साहित्येत्तर शास्त्रों का महत्त्व स्वीकार करने के बावजूद भी। क्योंकि आलोचना अन्ततः कलाकृति को ही अपने केन्द्र में रखती है। साहित्येत्तर-शास्त्र से लिये गये प्रतिमानों का आरोपण करके हम रचना के प्रति न्याय नहीं कर सकते और न उसके सौन्दर्य का ही सही-सही उद्घाटन कर सकते हैं। यह ठीक है कि आलोचना के लिए आज यह आवश्यक हो गया है कि वह साहित्य से इतर शास्त्रों का भी ज्ञान रखे और अपने युगीन चिन्तन तथा वैचारिक सन्दर्भों को पहचाने, किन्तु अपनी इन जानकारियों का वह हू-ब-हू साहित्य के विश्लेषण तथा मूल्यांकन में उपयोग नहीं कर सकता, केवल कुछ सहायता ही ले सकता है। साहित्य के विश्लेषण या मूल्यांकन के लिए तो उसे प्रधान रूप से साहित्य की ही छानबीन करनी पड़ेगी और उसी के आधार पर अपने लिए प्रतिमानों की सृष्टि भी वह करेगा। इस प्रकार आलोचना का प्रतिमान साहित्य ही होगा, बल्कि कहना चाहिए कि है भी। संस्कृत-आलोचना के लिए 'अभिज्ञान शाकुन्तल' से अच्छे प्रतिमान की कल्पना नहीं की जा सकती और न हिन्दी-आलोचना के लिए 'मानस' से अच्छे प्रतिमान की।

इस प्रकार आलोचना की सर्वोत्तम पद्धति अभी तक यही मानी जाती है कि साहित्य तथा कला के अन्दर से ही उसके लिए प्रतिमानों की सृष्टि की जाय और उन्हीं के आधार पर कला-कृति का मूल्यांकन किया जाय। इन्द्रनाथ मदान इसे ही 'कृति की राह से गुजरना' तथा नागेश्वरलाल 'कृति को जानना' (ट्रनो) कहते हैं। ऐसी आलोचना रचना के अन्तर्संगठन तथा उसकी संरचनात्मक अन्विति पर विचार करते हुए रचना में व्यंजित सत्य का साक्षात्कार करती है न कि अपने सैद्धान्तिक सत्य का रचना पर आरोपण। लेकिन यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि कहीं आलोचना के सम्बन्ध में ऐसा मानकर हम साहित्यिक अराजकता को तो प्रोत्साहन नहीं दे रहे हैं, क्योंकि, फिर तो सभी कृतियाँ अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् होंगी और यह कत्तई सम्भव नहीं रह जायगा कि राजकमल के 'मुक्ति प्रसंग' की मूल्यवत्ता में और मुक्तिबोध के 'चांद का मुँह टेढ़ा है' की मूल्यवत्ता में कोई फर्क किया जा सके। जबकि आप भी इस बात से सहमत नहीं होंगे कि 'मुक्तिप्रसंग' और 'चांद का मुँह टेढ़ा है' में कोई गुणात्मक अंतर नहीं है। अतः इस गुणात्मक अन्तर को द्योतित करने तथा कला-कृतियों के मूल्यजनित विभिन्न स्तरों को निर्धारित करने की दृष्टि से यह निहायत जरूरी जान पड़ता है कि आलोचना का एक सामान्य मानदण्ड या प्रतिमान होना चाहिए, जिसके आधार पर संपूर्ण साहित्य का मूल्यांकन किया जा सके और उनका स्तर निर्धारित किया जा सके।

इधर हाल के कुछ स्वतंत्रमना कवियों तथा आलोचकों ने विभिन्न युगों की कलाओं के लिए विभिन्न प्रतिमानों की ज़ोरदार सिफारिश की है और आलोचना के प्रतिमानों की

शाश्वतता तथा सार्वभौमिकता पर प्रश्नचिह्न लगाने का प्रयत्न किया है। लक्ष्मीकांत वर्मा अपनी पुस्तक 'नये प्रतिमान : पुराने निकष' में इसका विस्तृत उल्लेख करते हैं और इसे स्थापित करने का ऐतिहासिक दायित्व भी निबाहते हैं। लेकिन प्रश्न है कि क्या इस तरह से हम कलाकृति को निहायत समसामयिकता में सीमित और संकुचित नहीं कर लेते हैं? जब कि कला तथा साहित्य निश्चित रूप से समय के दायरे में बँध कर नहीं रहता। श्रेष्ठ कला सार्वभौम होती है और उसमें प्रत्येक आने वाली पीढ़ी अपना उपजीव्य ढूँढ़ लेती है। अगर लक्ष्मीकांत को मान लिया जाय तो सन् ६० के बाद के नये लेखकों को भक्तियुगीन अथवा रीतियुगीन साहित्य पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसके प्रतिमान उनके पास नहीं है। उसका अध्ययन तो केवल विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरों को ही करना चाहिए, क्योंकि उनके पास उसके प्रतिमान अब भी मौजूद हैं। लेकिन इस सम्बन्ध में जो सच्चाई है वह किसी से छिपी नहीं रही है और 'मुक्तिबोध' को पढ़ते-पढ़ते जगह-जगह नामवर सिंह को कबीर की याद आ ही जाती है और 'निराला' को पढ़ते-पढ़ते रामविलास को तुलसीदास की ।

स्पष्ट है कि साहित्य तथा कला की आलोचना के लिए शाश्वत सार्वभौम तथा युग-निरपेक्ष प्रतिमानों को ही स्वीकार करना समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि विजयदेव नारायण साही के अनुसार तुलसीदास को पढ़ते वक्त किन्हीं दूसरे प्रतिमानों को लागू करना और लक्ष्मीकांत वर्मा को पढ़ते वक्त किन्हीं प्रतिमानों को लागू करना एक प्रकार से साहित्यिक अवसरवाद के अन्तर्गत हीं आ सकता है, साहित्यिक आलोचना के अन्तर्गत नहीं। इस सम्बन्ध में अब तक परम्परा और प्रयोग को लेकर जितनी भी बहसें हुई हैं उनमें इसी प्रश्न पर बार-बार विचार किया जाता रहा है और वादी तथा विवादी की शक्ल में एक वर्ग दूसरे वर्ग के लोगों को रूढ़िवादी तथा परम्पराभक्त और पुराणपन्थी कहकर अपने को अपनी साहित्यिक परम्पराओं से काटकर अलग खड़ा करता रहा है तो दूसरा वर्ग पहले वर्ग के इन समस्त प्रयत्नों को 'ऐयाश प्रेतों का विद्रोह' तथा दिशाहीन अप्रौढ़ और बचकानी 'हरकत' कहकर उसका मजाक उड़ाता रहा है। ऐसी दशा में सत्य की परख बड़ी मुश्किल हो जाती है और सत्यान्वेषक का कार्य अत्यधिक जटिल। वस्तुतः ये दोनों ही दृष्टियाँ अतिवादी दृष्टियाँ हैं और इनमें से किसी में भी पूर्ण सच्चाई नहीं है। श्रेष्ठ कला न तो अपनी परम्परा से एकदम अलग होती है और न अपनी परम्परा की लीक पीटने वाली लकीर की फकीर। इसीलिए साहित्य में मौलिकता का प्रश्न अधिकतर अभिव्यक्ति की मौलिकता से ही जुड़ता है, विषय की मौलिकता से बहुत कम। क्योंकि विषय की शाश्वतता ही कलाकृति को शाश्वत और सार्वभौम बनाती है। 'भारत भारती' के निहायत समसामयिक होने का कारण उसका विषय ही है और अभिज्ञान शाकुन्तल के शाश्वत होने का कारण भी उसका विषय ही है। तुलसीदास जब—'एहि मह रघुपति नाम उदारा' कहते हैं तो विषय की शाश्वतता तथा महत्ता पर ही प्रकाश पड़ता है। इस सम्बन्ध में डॉ० देवराज ने बहुत ही ठीक लिखा है कि राम के चरित्र पर जैसा काव्य लिखा जा सकता है वैसा स्टीम

इन्जन पर नहीं लिखा जा सकता और मैथिलीशरण जी तो यहाँ तक कह देते हैं कि—"राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।"

स्पष्ट है कि साहित्य की नवीनता का सम्बन्ध बहुत कुछ उसकी अभिव्यक्ति की नवीनता तथा साहित्यकार के अपने अनुभवों की नवीनता से ही जोड़ा जा सकता है। गालिब का 'अंदाजेबयाँ' और भी इसी बात की पुष्टि करता है। जब कि इस बात से भी एकदम इनकार नहीं किया जा सकता कि युगजीवन में परिवर्तन के साथ साहित्य तथा कला में कुछ नये-नये विषय भी जुड़ते जाते हैं और कुछ पुराने विषय छूटते जाते हैं। फिर भी यह जुड़ना और छूटना एकदम से अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिए एक युग की कला को दूसरे युग की कला से भी एकदम अलग नहीं किया जा सकता। द्विवेदी-युग कहाँ समाप्त होता है और छायावाद कहाँ से प्रारम्भ होता है अथवा छायावाद कहाँ समाप्त होता है और प्रगतिवाद कहाँ से प्रारम्भ होता है, यह स्पष्टरूप से निर्धारित कर सकना होता है और प्रगतिवाद कहाँ से प्रारम्भ होता है, यह स्पष्टरूप से निर्धारित कर सकना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। प्रत्येक नये युग की कला अपने पिछले युग की कला से परम्परा के रूप में कुछ-न-कुछ निश्चय ही ग्रहण करती है, विशेषकर भाषा की दृष्टि से तो एकदम मौलिक और नवीन होना किसी भी युग के कलाकार के लिए सम्भव नहीं हो पाता और उसे अनिवार्यतः अपनी परम्परित भाषा में ही अपनी अभिव्यक्ति करनी पड़ती है।

आलोचना के प्रतिमानों की मौलिकता तथा नवीनता पर कुछ सोचने से पहले साहित्य की मौलिकता तथा नवीनता पर भी सोचना आवश्यक समझ कर ऊपर मैंने इस विषय को थोड़ा विस्तार दिया है जो लेख के कलेवर को एक तरफ बढ़ाता है तो दूसरी तरफ विषय को अधिकाधिक स्पष्ट भी करता है। वस्तुतः साहित्य की मौलिकता और नवीनता के साथ ही आलोचना के प्रतिमानों की भी मौलिकता और नवीनता जुड़ी हुई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य में जिस स्तर की मौलिकता तथा नवीनता अपेक्षित है, उसी स्तर की मौलिकता तथा नवीनता आलोचना के प्रतिमानों में भी अपेक्षित है। तात्पर्य यह कि साहित्य की तरह ही आलोचना के भी कुछ शाश्वत प्रतिमान होते हैं जो सार्वभौम तथा युग-निरपेक्ष होते हैं तथा जिनमें इतनी क्षमता होती है कि अपने से पूर्व की तथा आगे आने वाले युगों की भी समस्त कला-कृतियों का मूल्यांकन उनके आधार पर किया जा सके। रस-सिद्धान्त एक ऐसा ही सार्वभौम और शाश्वत प्रतिमान है, जिसको नकारने में जमीन-आसमान एक कर देने के बावजूद भी आज के आलोचक अनुभूति के रूप में उसी की व्याख्या करते जा रहे हैं। ऐसे आलोचकों के लिए आचार्य शुक्ल ने कभी ठीक ही कहा था कि—"भले मानुष इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में 'रस' और 'भाव' कहलाती है।"[1] अगर आप आचार्य शुक्ल के इस कथन को पुराना मानते हैं क्योंकि

---

१. आचार्य शुक्ल : १९३४ के इन्दौर साहित्य-सम्मेलन के भाषण का अंश।

उन्होंने यह बात सन ३४ के इन्दौर -साहित्य सम्मेलन के अपने भाषण में कही थी तो इसका नया उदाहरण आप नामवर सिंह की नयी आलोचना पुस्तक 'कविता' के 'नये प्रतिमान' में देखें। नामवर सिंह रस के प्रतिमान की प्रसंगानुकूलता पर विचार करते हुए लिखते हैं— "यह छायावादकालीन चर्चा है (यानी कि ऊपर का आचार्य शुक्ल का कथन) लेकिन आज भी स्थिति बहुत भिन्न नहीं है। आज भले हृदय की अनुभूति न हो पर अनुभूति की प्रामाणिकता तो है—अनुभूति पर बल तो दिया ही जा सकता है फिर रस से इस प्रकार दामन बचाने से क्या फायदा?"[१] स्पष्ट है कि आलोचना के प्रतिमान भी शाश्वत और सार्वभौम होते हैं और उनके मौलिक स्वरूप में कोई आमूल परिवर्तन नहीं होता। फिर भी यह अवश्य ध्यातव्य है कि युगीन जीवन तथा परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ उसके नये अर्थसंदर्भों में भी वृद्धि होती जाती है और उसकी व्याख्याएँ भी बदलती जाती हैं। क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि साहित्य के मूल विषय जड़ नहीं होते और न आलोचना के मौलिक प्रतिमान ही जड़ होते हैं। इसलिए प्रत्येक युग अपने अनुसार उसकी नवीन व्याख्या करता है और उनकी अधिक-से-अधिक अपनी युगीन परिस्थितियों तथा युगीन सन्दर्भों के साथ ताल-मेल बिठाने की कोशिश करता है। इस दृष्टि से आलोचना में शास्त्र-चर्चा तथा सैद्धान्तिक चर्चा का अपना एक अलग ही वर्ग है जो उसकी परम्परागत प्रासंगिकता का परिचायक है तो व्यावहारिक आलोचना का अपना एक अलग वर्ग जो आलोचना के प्रतिमानों की नवीन व्याख्या और युगीन संदर्भों से संदर्भित करने का परिचायक है।

इस दृष्टि से जिस प्रकार कोई भी श्रेष्ठ कृति न तो अपनी साहित्यिक परम्परा से एकदम अलग होती है और न अपनी परम्परा की लीक पीटनेवाली, उसी प्रकार कोई श्रेष्ठ आलोचक भी न तो पूर्णतः अपनी परम्परा से अलग होता है और न ही वह अपने परम्परित प्रतिमानों को ही ज्यों-का-त्यों दुहराता है। उदाहरण के लिए श्रेष्ठ कृति के रूप में 'रामचरितमानस' को लिया जा सकता है तो श्रेष्ठ आलोचक के रूप में आचार्य शुक्ल को। मानस में परम्परित सामग्री संचयन को स्वयं तुलसीदास 'नानापुराण निगमागम संमत यद' यह कहकर स्वीकार करते हैं तो आचार्य शुक्ल अपने पूर्व के आचार्यों के साहित्यिक प्रतिमानों के प्रति अपनी निष्ठा और आदर-भावना की अभिव्यक्ति के माध्यम से परम्परा की सार्थकता को स्वीकार करते हैं। रसवाद के प्रति आचार्य शुक्ल की निष्ठा बहुत कुछ इसी कोटि की है और उसकी तात्विक शास्त्रीयता के प्रति उनमें कहीं भी अपेक्षा भाव नहीं है। इस प्रकार परम्परा के प्रति आदर-भाव न केवल श्रेष्ठ कृतिकारों का ही, बल्कि श्रेष्ठ आलोचकों का भी लक्षण है।

फिर भी, आचार्य शुक्ल ने अपने इन परम्परित प्रतिमानों को जिस रूप में ग्रहण किया है, वह अभूतपूर्व है और ग्रहण करने की उनकी दृष्टि निःसन्देह अपनी और मौलिक है। इस प्रकार शुक्ल जी का महत्त्व इस माने में है कि उन्होंने अपनी आलोचना की परम्परा को

---

१. डॉ० नामवरसिंह : कविता के नये प्रतिमान।

बहुत कुछ आगे बढ़ाया है और उसमें बहुत कुछ नवीन अंश जोड़े हैं। रस के अन्तर्गत भावों का उनके द्वारा नवीन वर्गीकरण उनकी मौलिक उद्भावनाओं का ही उदाहरण है। 'रस-सिद्धान्त' को भी उन्होंने उस रूप में कत्तई स्वीकार नहीं किया जिस रूप में संस्कृत के आचार्यों ने उसे स्वीकार किया था, बल्कि 'रस-सिद्धान्त' की जगह 'रस-पद्धति' शब्द का प्रयोग उन्हें ज्यादा प्रिय और उचित जान पड़ता था। इसके साथ ही, उन्होंने रस के प्रसंग में लिखते हुए साधारणीकरण रस-निष्पत्ति आदि के सम्बन्ध में भी परम्परित आचार्यों से भिन्न अपनी मान्यताएँ रखीं और उन्हें नये स्तर पर व्याख्यायित करके लोगों को अपनी अद्भुत क्षमता से चकित कर दिया।

इसी प्रकार अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं के लिए भी आचार्य शुक्ल ने परम्परा से मान्य श्रेष्ठसाहित्य को ही अपना आधार बनाया और उसकी अभिनव व्याख्या प्रस्तुत की। व्यावहारिक आलोचना सम्बन्धी उनका प्रसिद्ध प्रतिमान 'लोकमंगल की भावना' रामचरित मानस के गम्भीर अध्ययन का ही परिणाम है, जो एक तरफ तो प्रभाववादी तथा कृति की राह से गुजरने वाले आलोचकों की भाँति कृति के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है तो दूसरी तरफ अपनी व्यापक कल्याणभावना के कारण 'शिवत्व' तथा सहित के भाव के परंपरित प्रतिमान को भी स्वीकृति प्रदान करता है। यही कारण है कि शुक्ल जी अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में जगह-जगह महान् लगने लगते हैं। तुलसीदास की भावुकता की व्यापकता का प्रसंग हो या चित्रकूट की सभा का, जायसी का प्रबन्धत्व हो या नागमती का विरह-प्रसंग अथवा सूर का श्रृंगार-वर्णन—इन सभी प्रसंगों में उनका आलोचक रूप एक मौलिक सर्जक से कम महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाता। यहां तक कि जाते-जाते उन्होंने छायावाद के संबंध में और विशेषकर 'प्रसाद' तथा पंत के सम्बन्ध में भी जो निर्णय व्यक्त किये उन्हें कालान्तर में भी इन्कार करना संभव नहीं हो सका।

आज जब कि शुक्ल जी काफी पीछे छूट गये हैं और हिन्दी आलोचना उन्हें 'आउट आफ डेट'[१] तथा दुराग्रही, अनपेक्षित पाण्डित्य-प्रदर्शनप्रिय, तथा पिष्टपेषण से युक्त[२] घोषित करके अपने को अधिक गौरव सम्पन्न तथा आधुनिक दृष्टि सम्पन्न बताने का प्रयास करने लगी है, लेकिन व्यक्तिगत रूप से मुझे आज भी हिन्दी आलोचना का कोई ऐसा रूप दिखायी नहीं देता जिसका बीज रूप शुक्ल जी में न रहा हो। यह बात आज के स्वनामधन्य आलोचकों को कुछ कड़ी लग सकती है और वे सहसा इस तथ्य को स्वीकार भी शायद न करें किन्तु वास्तव में यथार्थ स्थिति यही है। आज हिन्दी में जिस भी तरह की आलोचना की जाती है, उसका थोड़ा-बहुत संकेत तो आचार्य शुक्ल में मिल ही जायगा। तात्पर्य यह कि आज भी हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का कोई जवाब नही है और किसी भी एक आलोचक को उनकी समकक्षता में रखना संभव नहीं है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी को भी नहीं, यद्यपि

१. डॉ० नगेन्द्र : विचार और अनुभूति, पृ० ९२।

२. शिवदानसिंह चौहान : 'साहित्य की परख'।

शुक्लोत्तर-आलोचना में निश्चय ही आचार्य बाजपेयी सर्वश्रेष्ठ स्थान रखते हैं। यही कारण है कि हिन्दी आलोचना आचार्य शुक्ल से प्रारम्भ होकर आचार्य शुक्ल में ही समाप्त हो जाती है।

आचार्य शुक्ल की इस महत्ता का कारण वस्तुतः उनकी ईमानदारी है और उनकी समझ भी जो श्रेष्ठ आलोचक की सर्वमान्य विशेषताएँ हैं। पक्षपातरहित, रागद्वेष रहित आलोचना का जो स्वच्छरूप शुक्ल जी में प्राप्त होता है वह हिन्दी के किसी भी परवर्ती आलोचक में नहीं प्राप्त होता। यहाँ डॉ० हजारीप्रसाद जी का नाम लिया जा सकता है, किन्तु हजारीप्रसाद जी ने व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखी ही कितनी है? मुझे हजारीप्रसाद जी की ईमानदारी तथा समझ में संदेह नहीं है और शुक्ल जी के पश्चात् मैं उन्हीं को सर्वाधिक ईमानदार और समझ-सम्पन्न भी मानता हूँ, लेकिन मुझे यह कहने में ज़रा भी हिचक नहीं है कि उनका कार्यक्षेत्र व्यावहारिक आलोचना का प्रायः नहीं रहा है और उन्होंने इतिहास और अनुसंधान तथा सैद्धांतिक स्तर पर काव्य की सांस्कृतिक गरिमा के उद्घाटन में ही अपने को अधिक लगाया है।

स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल की निष्पक्ष दृष्टि को फिर कोई आलोचक प्राप्त नहीं कर सका है। इसके बावजूद भी शुक्ल जी द्वारा कबीरदास या मुक्तक के कवि अथवा कुछ हद तक छायावाद भी अगर न्याय नहीं पा सके तो यह उनकी ईमानदारी या निष्पक्षता में खोट के कारण नहीं बल्कि उनकी दृष्टि की सीमाओं के कारण और अपने प्रतिमान निष्ठा के कारण जो निश्चय ही किसी के साथ भी हो सकता है—बड़े-से-बड़े लेखक के साथ भी और बड़े-से-बड़े आलोचक के साथ भी। लेकिन इन सीमाओं को लेकर उनकी महत्ता को चुनौती नहीं दी जा सकती। उनकी महत्ता तो इसी बात से प्रमाणित है कि आचार्य शुक्ल ने जिस भी लेखक को महत्त्वपूर्ण माना वह हमेशा-हमेशा के लिए महत्वपूर्ण बन गया और उनके समय में लोग लालायित रहे कि उनके ऊपर शुक्ल जी थोड़ा-बहुत भी लिखें। किसी श्रेष्ठ आलोचक की महत्ता का इससे बड़ा प्रमाण नहीं हो सकता। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी यद्यपि शुक्लोत्तर-आलोचना में सबसे अधिक तटस्थ, वस्तुवादी और ईमानदार आलोचक के रूप में प्रसिद्ध हैं, पर आपको अगर 'अंचल' जी पर लिखा उनका वह प्रारम्भिक लेख स्मरण हो तो आप आसानी से उनकी निष्पक्षता के विषय में अपनी धारणा कायम कर सकते हैं। उक्त लेख को पढ़कर बहुतों को लगा था कि 'प्रसाद' के बाद बस अब 'अंचल' जी ही रह गये हैं, लेकिन अंचल जी वाजपेयी जी के देखते-देखते ही कहाँ रह गये, इसे बताना मैं जरूरी नहीं समझता।

शुक्लोत्तर-आलोचना का विकास मुख्यतः चार धाराओं में हुआ है जो इस प्रकार है—(१) सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक आलोचना, (२) समाजशास्त्रीय या प्रगतिवादी आलोचना, (३) शास्त्रीय आलोचना एवं (४) स्वच्छन्दतावादी प्रभाववादी तथा सौष्ठव-वादी साहित्यिक आलोचना। इस चौथी धारा में ही मनोवैज्ञानिक तथा मनोविश्लेषणवादी और व्यक्तिवादी आलोचना को भी मैंने स्वीकार किया है। निश्चय ही इन सभी आलोचना-पद्धतियों के बीज हमें शुक्ल जी में प्राप्त हो जाते हैं। रामकाव्य की सांस्कृतिक व्याख्या में

सांस्कृतिक आलोचना के, तो लोकमंगल तथा व्यापक कल्याण के प्रतिमान में प्रगतिवादी आलोचना के बीज देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार उनके सिद्धान्त-विवेचन में शास्त्रीय आलोचना का, तो उनके द्वारा राम तथा कृष्ण काव्य के मार्मिक उद्घाटन में स्वच्छन्दतावादी, प्रभाववादी, सौष्ठववादी और साहित्यिक आलोचना का व्यापक आख्यान हुआ है। यहाँ तक कि आलोचना की आधुनिकतम पद्धति मनोविश्लेषण की पद्धति से भी शुक्ल जी एकदम अछूते नहीं रहे हैं और विभिन्न चरित्रों की मानसिकता का विश्लेषण करते हुए वे थोड़ा-बहुत मनोविज्ञान का सहारा अवश्य ग्रहण करते हैं।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि शुक्लोत्तर-काल में विकसित होने वाली ये विविध आलोचना-दृष्टियों से अपना महत्त्व नहीं रखतीं और केवल शुक्ल जी के कृतित्व को ही दुहराती हैं। शुक्लोत्तर-काल में इन विभिन्न आलोचना दृष्टियों ने अपना अलग अस्तित्व बनाया है और अपनी अलग पहचान कायम की है। शुक्ल जी के कृतित्व को इन आलोचकों ने परम्परा के रूप में ही ग्रहण किया है और उसका भरपूर उपयोग भी किया है, किन्तु अपने विवेचनों में ये सर्वथा मौलिक और नवीन भी हैं। शुक्ल जी के कार्यों को इन आलोचकों ने बहुत कुछ आगे बढ़ाया है और उसे एक सुनिश्चित विकास तक पहुँचाया है। रस-सिद्धान्त को जिस व्यापक भावभूमि पर स्थापित करना आचार्य शुक्ल चाहकर ही रह गये, डॉ० नगेन्द्र ने पूरा किया और काव्य की स्वतन्त्रसत्ता को, चाहकर भी अपने कुछ व्यक्तिगत आग्रहों के कारण शुक्ल जी को महत्त्व नहीं दे सके, उसे आचार्य वाजपेयी ने प्रदान किया। इसी प्रकार शुक्ल जी काव्य की सांस्कृतिक गरिमा में निष्ठा रखते हुए भी उसका विस्तृत सांस्कृतिक आख्यान करने का अवकाश नहीं निकाल सके जिसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया और न ही वे साहित्य को समाजवादी परिवेश में रखकर विवेचित कर पाये—अपनी व्यापक लोक-कल्याण भावना के बावजूद भी, जिसे आगे आने वाली समाजवादी आलोचना ने किया। इसी प्रकार शुक्ल जी में यद्यपि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, लेकिन उन्होंने मनोविश्लेषण की पद्धति को साहित्य के प्रतिमान का महत्त्वपूर्ण दर्जा नहीं दिया—बल्कि उन्होंने तो सोचा भी नहीं होगा कि मनोविश्लेषण की पद्धति से भी साहित्य का विश्लेषण किया जा सकता है जिसे कालान्तर में श्री अज्ञेय, इलाचन्द्र जी जोशी आदि ने कर दिखाया।

स्पष्ट है कि शुक्लोत्तर हिन्दी-आलोचना ने अपना पर्याप्त विकास किया है, अपने लिए कुछ विशिष्ट प्रतिमानों की भी सृष्टि की है जो एकदम नये भले न हों किन्तु आज के परिवेश के सन्दर्भ में जिनकी सार्थकता, मूल्यवत्ता तथा नवीनता में संदेह नहीं किया जा सकता। कम-से-कम इन प्रतिमानों की व्याख्या और इनका विश्लेषण तो इन आलोचकों ने निश्चय ही सर्वथा मौलिक और नवीन ढंग से किया है और तत्सम्बन्धी अपनी प्रखर बुद्धि और तेज समझ का परिचय दिया है।

शुक्लोत्तर आलोचना में पहली धारा सांस्कृतिक और ऐतिहासिक आलोचना की है जिसमें आचार्य हजारीप्रसाद का कृतित्व निश्चय ही सर्वाधिक महत्त्व का है। यद्यपि यह

भी सच है कि इस दिशा में डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल जैसे खोजियों ने उनका कुछ काम आसान अवश्य किया किन्तु उनके पास मानवतावादी वह उदार दृष्टि नहीं थी जो परम्परा एवं शास्त्र की विवेचना और निष्कर्षों को वर्तमान जीवन में संयोजित करती और इस प्रकार आलोचक को साहित्य का ही नहीं, मानव-समाज का भी पथ-प्रदर्शक बनाती। लेकिन हजारीप्रसाद जी के पास वह दृष्टि है और उन्होंने आदिकालीन जैनमुनियों तथा सिद्ध-कवियों की रचनाओं का जिस सहानुभूति के साथ आख्यान किया है, वह आचार्य शुक्ल से भी सम्भव न था। द्विवेदी जी ने कबीर के सम्बन्ध में तथा नाथपंथी योगियों के सम्बन्ध में जिस प्रकार गंभीर ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक तथ्यों का अन्वेषण किया है, वह हिन्दी आलोचना की अमूल्य निधि और सांस्कृतिक ऐतिहासिक आलोचना का महत्त्वपूर्ण प्रतिमान माना जा सकता है।

शुक्लोत्तर-आलोचना की दूसरी धारा समाजवादी या प्रगतिवादी आलोचना की है, जिसका विकास शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक घटना है। लेकिन इसमें सबसे विवादग्रस्त पद्धति वह है जिसमें वर्ग-संघर्ष और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों को साहित्य पर ज्यों-का-त्यों लागू करने का प्रयत्न किया जाता रहा है। डॉ० रामविलास शर्मा मार्क्सवादी सिद्धान्तों को सबसे अधिक समझने और बिलकुल सही घटित करने के सबसे बड़े दावेदार हैं, परन्तु जितनी राग-द्वेष निरपेक्ष दृष्टि वस्तुवादी-समीक्षा में अनिवार्यतः आवश्यक होती है, वही उनमें नहीं है। फिर भी भारतेन्दु-युग और 'निराला' के सम्बन्ध में उनके जो विचार हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं, साथ ही प्रगतिवादी मान्यताओं के सम्बन्ध में भी उनका विवेचन एकदम खरा है। वे कहते हैं कि "साहित्य की प्रगतिशीलता का प्रश्न वास्तव में समाज पर साहित्य के शुभ और अशुभ प्रभाव का प्रश्न है, प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है तथा श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील होता है।"[१] लेकिन कहने की आवश्यकता नहीं कि ऊपर से यह धारणाएँ जितनी व्यापक हैं, शर्मा जी ने उतनी ही संकीर्णता से उनका प्रयोग अपनी समीक्षाओं में किया है। शिवदान सिंह चौहान इस वर्ग के अधिक उदारमना तथा व्यापक दृष्टि-सम्पन्न आलोचक हैं, फलतः उनका अपने वर्ग के आलोचकों से ही मतभेद बना रहा। 'साहित्य की परख' तथा 'प्रगतिवाद' के रचयिता के रूप में वे सदा स्मरणीय रहेंगे। इस वर्ग के अन्य समीक्षकों में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, विमल वर्मा, सुरेन्द्र चौधरी, अवधनारायण, सकलदेव सिंह, मार्कण्डेय, भैरवप्रसाद गुप्त, शिवप्रसाद सिंह, नामवर सिंह आदि का नाम उल्लेखनीय है। नामवर सिंह ने अपनी नयी पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान' में लगभग आज के सभी प्रचलित प्रतिमानों पर गहराई के साथ विचार किया है जो उनकी सैद्धान्तिक आलोचनादृष्टि को काफी कुछ पुष्ट बनाता है। लेकिन इस आलोचना ने अभी तक उद्बुद्ध भारतीय साहित्यिक चेतना से संस्कारगत सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया है, जिसके कई

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : 'प्रगति और परम्परा', पृ० ४९-५०।

कारण हैं, जिनमें आलोचकों का भौतिकवादी जीवनदर्शन के प्रति पक्षपात, भारतीय विचारसंपदा की उपेक्षा, अभारतीय विचारकों के प्रति बेहद आस्था, राजनीतिक-साम्प्रदायिक उद्देश्य के आगे साहित्यिक मूल्यों का बलिदान, रसानुभूति की कमी तथा उद्भावना-शक्ति को कुंठित करने वाली नियामक मनोवृत्ति प्रधान हैं। इन दोषों का श्रेय मार्क्सवादी विचारधारा को नहीं है, बल्कि उसके व्याख्याता उक्त आलोचक ही इसके जिम्मेदार हैं, क्योंकि आप सभी जानते हैं कि यूरोप में इस पद्धति से आलोचना ने अपना पर्याप्त विकास कर लिया है और साहित्यिक तत्त्व-चिन्तन को इससे गहरी शक्ति प्राप्त हुई है।

फिर भी इन त्रुटियों के बावजूद समाजवादी आलोचना ने साहित्य के मौलिक प्रश्नों के सम्बन्ध में नवीन जिज्ञासा को जन्म दिया है और वस्तुवादी दृष्टिकोण से सामाजिक यथार्थ को सम्मुख रखकर जो समाधान प्रस्तुत किए हैं, उनके द्वारा सामान्य विचार-स्तर उन्नत एवं समृद्ध हुआ है। शुक्ल जी के 'लोकमंगल' के प्रतिमान को इसमें सर्वथा भिन्न दृष्टि से प्रस्थापित किया गया है। समाजवादी चिन्ताधारा में 'लोक' और उसके 'मंगल' की भावना—दोनों ही एक निश्चित वैज्ञानिक अर्थ के द्योतक हैं, जिसमें आध्यात्मिक अभ्युत्थान और आनन्दवाद को कोई स्थान नहीं है। इनका अभिप्रेत भौतिक एवं आर्थिक उत्थान ही है।

शुक्लोत्तर-काल की तीसरी आलोचना-धारा शास्त्रीय आलोचना की रही है, जिसमें शास्त्रों की सैद्धान्तिक चर्चा को ही प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है। डॉ० नगेन्द्र इस वर्ग के सर्व प्रमुख आलोचक के रूप में विख्यात हैं, जिन्होंने शुक्ल जी से प्रेरणा ग्रहण करके एक ओर प्राचीन भारतीय आलोचना-शास्त्र का अभिनव और व्यापक आख्यान किया है तो दूसरी ओर आधुनिक मनोविज्ञान तथा पश्चिमी काव्यशास्त्र के सम्पर्क से नये काव्य-प्रतिमानों को स्थापित करने की दिशा में भी पर्याप्त प्रयास किया है।

डॉ० नगेन्द्र में भारतीय तथा पाश्चात्य—दोनों आलोचना दृष्टियों को गंभीरता से समझने और उनके मूल तक पहुँचने की क्षमता विद्यमान है तथा दोनों दृष्टियों के समन्वय से वास्तविक तत्त्व को ग्रहण करने की पर्याप्त शक्ति भी। इसमें संदेह नहीं कि आचार्य शुक्ल में प्रातिभ अन्तर्दृष्टि की सम्पन्नता अधिक थी, किन्तु उनमें एक पूर्वग्रह युक्त कट्टरता भी थी जिसका शिकार क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद को बनना पड़ा। लेकिन डॉ० नगेन्द्र ऐसी पवित्रतावादी, मर्यादावादी या नैतिक कट्टरता से जुड़े हुए नहीं हैं। उनमें भारतीयता का अतिशय आग्रह भी नहीं है, इसीलिए वे योरोपीय काव्य-सिद्धान्तों को भी पर्याप्त महत्त्व देते हैं।

रस-सिद्धान्त को काव्य का शाश्वत प्रतिमान स्वीकार करने के बावजूद भी डॉ० नगेन्द्र उसकी प्राचीन व्याख्याओं से सन्तुष्ट नहीं हो पाते। उन्होंने मनोविश्लेषणवाद, उपयोगितावाद, प्रभाववाद और वर्गवाद के विचार-दर्शनों के आधार पर रसवाद का एक उदात्त, विशद और अभिनव रूप खड़ा किया है और आनन्द को काव्य का शाश्वत प्रतिमान घोषित किया है। स्पष्ट है कि रस-सिद्धान्त के आख्यान में सबसे पहले इन्होंने ही आधुनिक

मनोविज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है और इस प्रकार रसवाद की मनोवैज्ञानिक स्थापना की है।

इस वर्ग के अन्य आलोचकों में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, कृष्णशंकर शुक्ल, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' तथा भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' का नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने अपनी आलोचनाओं से शास्त्रीय तत्त्व-चिन्तन की परम्परा को गतिशील और समृद्ध बनाया है।

और अंत में, शुक्लोत्तर आलोचना की चौथी और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धारा है स्वच्छन्दतावादी, प्रभाववादी, सौष्ठववादी और साहित्यिक आलोचना की जिसने प्रधानरूप से शुक्लोत्तर साहित्य को ही अपना उपजीव्य बनाया है और उसी को अपना प्रेरणा-स्रोत भी मानती रही है। इसके अन्तर्गत शास्त्रीय नियमों से स्वतंत्र कला-कृति की आलोचना और उन्हीं से अन्वेषित नये प्रतिमानों के आधार पर कलाकृति का मूल्यांकन किया जाता है। इस पद्धति में छायावादी कविता की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति मूल प्रेरणा के रूप में कार्य करती रही है। यही कारण है कि इस वर्ग के सर्वाधिक चर्चित और शुक्लोत्तर आलोचना के सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक आलोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावादी कविता को प्रतिष्ठित करने का सर्वाधिक प्रयास किया और शुक्लोत्तर-काल में पहली बार तटस्थ और काफी कुछ निष्पक्ष आलोचना-पद्धति की नींव डाली। वाजपेयी जी की आलोचना में पहली बार रचनात्मक जीवन-चेतना तथा संवेदना की मनोवैज्ञानिक प्राञ्जलता, पुष्टता और गहराई साहित्यिक प्रतिमान के स्तर पर लक्षित हुई। उनकी आलोचना में आह्लाद-मूलक तीव्र मार्मिक अनुभूति की कलापूर्ण सुष्ठु अभिव्यक्ति के कारण ही इसे सौष्ठववादी आलोचना से अभिहित किया गया।

इस आलोचना का प्रमुख प्रतिमान है काव्यगत अनुभूति। वाजपेयी जी लिखते हैं—"साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति है।"[१] स्पष्ट है कि वाजपेयी जी साहित्य-सृजन में आत्मानुभूति की ही प्रेरणा स्वीकार करते हैं। अपनी आलोचनाओं में इसीलिए उन्होंने काव्यगत अनुभूति की प्रामाणिकता तथा स्पष्टता की पड़ताल ही मुख्यरूप से की है। उनकी मान्यता है कि अनुभूति की स्पष्टता के अभाव में ही कविता गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र-काव्य के अन्तर्गत परिगणित की जाती है। इस प्रकार प्राचीन साहित्यशास्त्र में जो दर्जा रस को प्राप्त है वही दर्जा वाजपेयी जी यहाँ अनुभूति को देते हैं और उसे साहित्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हैं। जाहिर है कि वाजपेयी जी काव्य के विषय पर अधिक बल देते हैं उसके रूप तथा शिल्प पर कम। वे लिखते हैं—"अभिव्यञ्जना काव्य नहीं है। काव्य अभिव्यञ्जना से उच्चतर तत्त्व है। उसका सीधा संबंध मानवजगत् से है और मानसवृत्तियों से है, जब कि अभिव्यञ्जना का संबंध केवल सौन्दर्यपूर्ण प्रकाशन से है।"[२] इसी प्रकार वाजपेयी जी को यद्यपि भारतीय रसवाद का सिद्धान्त अमान्य नहीं है, फिर भी वे काव्य में हृदयस्पर्शिता

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—साहित्य का प्रयोजन : आत्मानुभूति।
२. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी—हिन्दी साहित्य २०वीं शताब्दी, पृ० ५९।

और आह्लाद को ही प्रधान मानते हैं। उन्हें रस की ब्रह्मानन्द सहोदर वाली व्याख्या भी मान्य नहीं है और वे भी रस-सिद्धान्त को आधुनिक मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में ही देखना समीचीन समझते हैं। इसी प्रकार काव्यशास्त्र के तत्त्वों से ऊपर उठकर सौन्दर्य का उद्-घाटन ही उनकी दृष्टि में आलोचना का प्रधान कार्य है। इस आलोचना में इसीलिए 'भावना का उद्रेक, उच्छ्वास, परिष्कृति और प्रेरकता' ही प्रतिमान के रूप में स्वीकृत हैं। वाजपेयी जी के काव्यगत आदर्श या प्रतिमान निश्चय ही जयशंकर 'प्रसाद' को माना जा सकता है, जो हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कविता के एक स्थायी प्रतिमान भी है, फलतः उनकी आलो-चना में भी वही समरसता, वही सौन्दर्यवादी संतुलन और वही सामञ्जस्य तथा समन्वय लक्षित किया जा सकता है। उनकी आलोचना विशाल और बहुमुखी काव्यानुभूतियों का स्वाभाविक संश्लेषण है।

इस वर्ग के अन्य आलोचकों में डॉ० देवराज, स्व० नलिनविलोचन शर्मा, पं० शांति-प्रिय द्विवेदी, जानकीवल्लभ शास्त्री तथा लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' आदि का नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० देवराज में आलोचना-संबंधी मौलिक प्रश्नों को उठाने की अद्भुत क्षमता है। 'छायावाद का पतन' में छायावाद के संबंध में उनके मौलिक विचार महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार प्रगति-शील साहित्य और आलोचना-पद्धति के संबंध में भी उनके विचार उल्लेखनीय हैं। 'साहित्य-चिन्ता' के निबन्धों में उन्होंने अपनी मूल्यदृष्टि को बहुत कुछ स्पष्ट किया है और निर्णयात्मक आलोचना-पद्धति में अपना विश्वास प्रकट किया है। इस प्रसंग में स्व० नलिनविलोचन शर्मा का स्मरण हो आना स्वाभाविक है जिन्होंने अपनी आलोचना के माध्यम से एक प्रखर और जीवन्त आलोचक की संभावनाओं से अपने को आलोकित कर दिया था। किन्तु तभी ईश्वर ने उन्हें हमसे छीन लिया। नलिन जी में पाश्चात्य साहित्य तथा शास्त्र की गंभीर और जागरूक चेतना थी और उनका दृष्टिकोण व्यापक था। उन्होंने अपने आलो-चनात्मक निबन्धों में बहुत कुछ मौलिक और निर्भीक विचार व्यक्त किये। हिन्दी में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' इस दृष्टि से एक बेजोड़ चीज़ है, जिसका मुकाबला किसी से भी नहीं किया जा सकता। नलिन जी ने न केवल सैद्धान्तिक आलोचना में ही बल्कि व्यावहारिक आलोचना में भी अपनी प्रखर बुद्धि का परिचय दिया है और हिन्दी आलोचना की मूल्य-चेतना को सबल बनाया है। इसी प्रकार पं० शांतिप्रिय द्विवेदी ने भी छायावाद का जो मार्मिक उद्घाटन किया है, वह प्रभाववादी आलोचना का प्रतिमान माना जा सकता है। जानकीवल्लभ शास्त्री में भी काव्य की व्याख्या का वही रोमानी और आह्लादकारी दृष्टिकोण प्रधान है जबकि 'सुधांशु' जी में सैद्धान्तिक चिन्तन का विशेष आग्रह व्यक्त हुआ है और उन्होंने काव्य के अभिव्यञ्जनापक्ष को लेकर तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत किया है।

इस वर्ग के अन्तर्गत ही, पर स्वतंत्र भाव-भूमि के स्तर पर कुछ ऐसे आलोचकों का भी प्रादुर्भाव हिन्दी में हुआ है जो साहित्य तथा कला को नितांत वैयक्तिक अभिव्यक्ति मानते हैं। ऐसे आलोचकों में श्री अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी तथा जैनेन्द्र का नाम उल्लेखनीय

हैं। इन आलोचकों ने मनोविश्लेषण शास्त्र की मान्यताओं के आधार पर अपने साहित्यिक प्रतिमान निश्चित किये हैं और पहली बार ये आलोचक-लेखक की रचना प्रक्रिया की आंतरिक जटिलता को उद्घाटित करने का जोखिम उठाते हैं। लेकिन इनकी त्रुटि यही है कि ये निरी वैयक्तिक अनुभूति को ही काव्य का प्रतिमान मान लेते हैं और साहित्य के मूलवर्ती सामाजिक-सांस्कृतिक अस्तित्व को इन्कार कर देते हैं। स्पष्ट है कि मनोवृत्तियों और अनुभूतियों का ऐसा प्रकाशन, जो सामाजिक संवेदना का विषय न हो, साहित्य के प्रतिमान के रूप में नहीं ग्रहण किया जा सकता।

फिर भी, अपनी इन सब त्रुटियों के बावजूद भी इस स्वच्छन्दतावादी तथा साहित्यिक आलोचना ने इधर पिछले दो दशकों में अपना पर्याप्त विकास किया है और आज भी आलोचना के क्षेत्र में सर्वाधिक मान्यता इसी को प्राप्त है। इस क्षेत्र में निरन्तर नये-नये प्रयोग और नयी-नयी उद्भावनाएँ होती जा रही हैं, जिनसे इन आलोचकों की मौलिक सृजन-क्षमता पर प्रकाश पड़ता है। इसके मुकाबले में केवल आज प्रगतिवादी आलोचना ही टिकती है, क्योंकि उसका विकास भी रुका नहीं है। अतः आज की आलोचना मुख्यतः इन दो गुटों में ही विभाजित है, जिसमें से एक का संबंध काव्य के रूप-शिल्प से अधिक है तो दूसरे का काव्य के विषय से। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी संतुलित और निष्पक्ष अवस्था में ये दोनों ही दृष्टियाँ कोई बहुत पृथक् नहीं हैं, बल्कि एक ही सिक्के के दो पहलू प्रतीत होती हैं, लेकिन अपनी अतिवादिता और पक्षधरता की अवस्था में दोनों ही एक-दूसरे पर आक्रमण करने लगती हैं और एक को एक में पूँजीवादी ह्रासशील संस्कृति तथा अमेरिकी विदेशी सहायता नजर आती है तो दूसरे को दूसरी में मार्क्सवादी दर्शन की परतंत्रता तथा रूस के प्रति अतिरिक्त भक्ति। जब कि यह एक निश्चित सत्य है कि इन दोनों दृष्टियों के उचित सामञ्जस्य तथा संतुलन के आधार पर ही एक नये, संतुलित, निष्पक्ष और अभिनव आलोचना-पद्धति का निर्माण किया जा सकता है।

स्वच्छन्दतावादी साहित्यिक आलोचकों में इधर जो नये नाम आये हैं, उनमें अज्ञेय, लक्ष्मीकान्त वर्मा, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, जगदीश गुप्त, नागेश्वरलाल, स्व० विजयदेव नारायण साही, स्व० विश्वंभर 'मानव', रघुवीरसहाय, गंगाप्रसाद विमल, सर्वेश्वर-दयाल सक्सेना, देवीशंकर अवस्थी, अजितकुमार आदि का नाम उल्लेखनीय माना जा सकता है जो आलोचना के सर्वथा भिन्न और नये प्रतिमान ढूँढने में लगे हुए हैं। इस वर्ग के आलोचकों के कुछ विशिष्ट प्रतिमान हैं, ईमानदारी और प्रामाणिक अनुभूति, वर्तमान की पहचान, दायित्व और स्वातंत्र्य, लघु मानव तथा सामान्य व्यक्तित्व की स्थापना, मानवीय स्वाधीनता, मानव स्वाभिमान और मर्यादा, काव्य-भाषा, सम-सामयिकता, आधुनिकता और प्रयोग दृष्टि। इनमें से कितना कुछ बच रहेगा, यह तो समय ही निश्चित करेगा। अभी इसके सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि अभी तो ये सारे-के-सारे आलोचक अपना कार्य कर ही रहे हैं और बहुत संभव है कि आगे स्वयं ही अपने आप में वे संशोधन-परिवर्तन करें।

इस प्रकार शुक्लोत्तर हिन्दी-आलोचना को मैं एक व्यापक धरातल पर देखता हूँ और उसके विकास की विविध सम्भावनाओं में मेरा सुनिश्चित विश्वास है। क्योंकि साहित्य की सतत प्रवाहित धारा के समान मैं आलोचना की धारा को भी सतत प्रवाहमयी मानता हूँ, उसमें भी साहित्य-सृजन की भाँति मौलिक प्रतिमान-सृजन की सम्भावनाएँ देखता हूँ। यहाँ मैंने इसी दृष्टि से शुक्लोत्तर-काल में विकसित होने वाली विभिन्न आलोचना-पद्धतियों का विवेचन किया है और उनमें निहित मूल्य-चेतना तथा नये प्रतिमानों के अन्वेषण की प्रवृत्ति लक्षित की है। इस सम्बन्ध में मेरे निर्णयों या निष्कर्षों की अपनी सीमाएँ हो सकती हैं, मैं इन्हें सर्वथा त्रुटिहीन मानने का दम्भ नहीं पालता और न ही इस सम्बन्ध में कोई अंतिम बात कहने का ही दावा करता हूँ—कोई भी इस सम्बन्ध में अंतिम बात कहने का दावा नहीं कर सकता।

शिवनगर कालोनी, अल्लापुर
इलाहाबाद-२११००७

हिन्दी भाषा का स्वरूप : आचार्य शुक्ल की कलम से

डॉ० अनुजप्रताप सिंह

⊙

हिन्दी भाषा का उद्‌भव प्राकृत की अन्तिम अवस्था से ही हुआ है।[1] उस समय 'गाथा' ग्रन्थ प्राकृत में और 'दोहा' या 'दूहा' ग्रन्थ अपभ्रंश में खूब लिखे गये। अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं में सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में दिखायी पड़ता है। मुन्ज से भोजकाल (७वीं से १०५० वि०) तक ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार साहित्यिक या काव्यभाषा के रूप में प्राप्त होता है। जिन प्रारंभिक रचनाओं में प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव प्राप्त होता है उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गया है। जो असंदिग्ध सामग्री प्राप्त हुई है, उसकी भाषा अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी है।[2] यह अपभ्रंश ठीक ठीक बोलचाल की भाषा नहीं है, क्योंकि कवियों ने काव्य-परम्परा के अनुसार साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्द तो ग्रहण ही किये हैं, विभक्तियाँ, कारक चिह्न और क्रियाओं के रूप आदि भी अपने काल से प्राचीन रखे हैं। बोलचाल की भाषा घुलमिलकर जिस रूप में आ गयी थी, सारा स्वरूप वही न लेकर कुछ सौ वर्ष पहले की भाषा-परम्परा को प्रयोग में लाये। इस तरह की भाषा के उदाहरण १४वीं शताब्दी के मध्य तक प्राप्त होते हैं। संवत् ९९० में देवसेन नामक जैनी विद्वान् ने एक ग्रन्थ 'श्रावकाचार' दोहे में छपवाये थे, उसकी भाषा अपभ्रंश के अधिक निकट है। देवसेन की कुछ और रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। उसके बाद जैनी ग्रन्थों की सूची इस प्रकार प्राप्त होती है—श्रुतिपंचमी कथा, योगसार, जसहरचरिउ, णयकुमारचरिउ तथा पुष्पदंत की कविताएँ—आदिपुराण, उत्तरपुराण (१०२९ सं०)। वज्रयानी सिद्धों ने भी अपने मत के प्रचार प्रसार के लिए अपनी वाणी में अपभ्रंश मिश्रित देशभाषा या काव्यभाषा का प्रयोग संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त करते रहे। इनकी वाणियों और चर्यापदों के विविध संग्रह

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण-१८, पृ०-३।

२. वही, पृ० ३।

प्रकाशित हो चुके हैं। सिद्धों में सबसे पुराने सिद्ध 'सरह' (सरोजवज्र) का समय डॉ० विनय तोष भट्टाचार्य ने ६९० वि० माना है।[1] इनके साथ लूहिया या लूइया (सं० ८३०) विरूपा (सं० ९०० के लगभग), कण्हपा (सं० ९०० के बाद) की रचनाएँ देखी जा सकती हैं।[2] इन सिद्धों ने अपनी भाषा को स्वयं संध्याभाषा कहा है।[3] गोरक्षनाथ ने बिखरे हुए साधुओं को नाथ-पंथ या नाथ-सम्प्रदाय में संगठित किया और देश-विदेश में इसका प्रचार-प्रसार किया। पश्चिमी भारत में अपने मत को विशेष रूप से प्रचारित किये। गोरक्षनाथ का प्रादुर्भाव-स्थान भी पश्चिमोत्तर भारत ही ठहरता है। इनकी रचनाएँ तो विविध नामों के साथ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और नागर अपभ्रंश या ब्रज में तथा अन्य भाषाओं में भी प्राप्त होती हैं। इनका सम्प्रदाय भी खूब फैला था। "इस प्रकार नाथपंथ के इन जोगियों ने परम्परागत साहित्य की भाषा या काव्यभाषा से, जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक 'सधुक्कड़ी' भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ीबोली लिए राजस्थानी था।"[4] "सिद्धों की उद्धृत रचनाओं की भाषा देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी की काव्यभाषा है, यह तो स्पष्ट है। उन्होंने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्यभाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमण्डल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी। पर मगध में रहने के कारण सिद्धों की भाषा में कुछ पूरबी प्रयोग भी (जैसे-भइले, बूड़िलि) मिले हुए हैं। पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्यभाषा का ढाँचा शौरसेनीप्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली (पश्चिमी हिन्दी) का था।"[5] सिद्धों की गीतों की भाषा में पुरानी बिहारी और बंगाली का प्रभाव विशेष रूप से है।

हेमचन्द्र की रचना 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' है जिसमें संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश का समावेश है। इसके बाद सोमप्रभ सूरि (१२४१ वि०) की रचना 'कुमारपाल प्रतिबोध' गद्य-पद्यमय संस्कृत-प्राकृत-काव्य सामने आता है। ग्रन्थ अधिकांश प्राकृत में है, बीच-बीच में संस्कृत और अपभ्रंश के पद हैं। अपभ्रंश के पद कुछ इनके समय के तथा कुछ बाद के हैं। जैनाचार्य मेरुतुंग (सं० १३६१) ने 'प्रबन्ध चिन्तामणि' नाम की रचना संस्कृत में प्रस्तुत की, जिसके बीच-बीच के आख्यानों में अपभ्रंश के पद भी दिये। ये पूर्व प्रचलित पद हैं। "कुछ दोहे तो राजा भोज के चाचा मुञ्ज के कहे हुए हैं। मुञ्ज के दोहे अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के बहुत ही पुराने नमूने कहे जा सकते हैं।"[6] कवि विद्याधर ने (१३वीं शती)

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण १८, पृ०-७।
२. वही, पृ० ७, ८, ९।
३. वही, पृ० ९।
४. उपरिवत् पृ० १३।
५. उपरिवत् पृ० १४।
६. उपरिवत् पृ० १६।

राजा जयचन्द के यश में एक ग्रन्थ लिखा था, जिसका पता नहीं चलता है, कुछ पद 'प्राकृत-पिंगल-सूत्र' में मिलते हैं। इनकी भाषा भी अपभ्रंश है। शार्ङ्गधर की रचना 'शार्ङ्गधर-पद्धति' में देश भाषा के वाक्य भी आये हैं। अपभ्रंश की रचनाओं की परम्परा यहीं (१४वीं शती) समाप्त है। इस परम्परा के ५०-६० वर्ष पश्चात् विद्यापति (१४६० वि० में विद्यमान) ने बीच-बीच में देशी भाषा के भी कुछ पद्य रखकर अपभ्रंश की दो छोटी-छोटी पुस्तकें—'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' नाम से लिखीं। इस समय तक अपभ्रंश का स्थान देशी भाषा ने ले लिया था। "इस अपभ्रंश की विशेषता यह है कि यह पूरबी अपभ्रंश है। इसमें क्रियाओं आदि के बहुत से रूप पूरबी हैं।"[1] दूसरी विशेषता देशीपन तथा संस्कृत के पदों का प्रयोग और प्राकृत की रूढ़ियों से दूर है। प्रारम्भ में काव्यभाषा प्राकृत की परम्पराओं से इतनी बँधी थी कि बोलचाल में प्रचलित संस्कृत के तत्सम पद प्रयोग में नहीं लाये जाते थे, जैसे—शार्ङ्गधर की रचनाएँ। उपकार, नगर, वचन ऐसे प्रचलित शब्द भी उअआर, नअर, विज्जा, बअण के रूप में ही प्रयुक्त होते थे। जासु, तासु रूप बोलचाल से उठ गये थे, पर काव्यभाषा में प्रयुक्त होते थे। विशेषण-विशेष्य के बीच विभक्तियों का समानाधिकरण अपभ्रंश-काल कृदन्त विशेषणों से उठ चुका था, परन्तु प्राकृत की परम्परा को चलाने के लिए प्रयुक्त होता रहा। विद्यापति ने इससे मुक्त होने के लिए संकेत किया और देशी भाषा को महत्त्व प्रदान किया।

वीरगाथाकाल (सं० १०५०-१३७५) की रचनाओं में रासो ग्रन्थों की ही बहुलता है जिसमें 'खुमान रासो' सं० ८१०-१००० के मध्य का है। इसके बाद की रचना 'वीसलदेव रासो' नरपति नाल्ह (१२१२ वि०) की है। इसकी भाषा साहित्यिक नहीं है जैसे—सूकइ छै (सूखता है), पाटण थी (पटना से), भोजतणा (भोज का), खण्ड-खण्डरा (खण्ड-खण्ड का)। इससे पता चलता है कि—"शिष्ट काव्यभाषा में ब्रज और खड़ीबोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थान में भी व्यवहार होता था। साहित्य की सामान्य भाषा 'हिन्दी' ही थी जो पिंगल भाषा कहलाती थी। वीसलदेवरासो में बीच-बीच में बराबर इस साहित्यिक भाषा (हिन्दी) को मिलाने का प्रयत्न दिखायी पड़ता है। भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में समयानुसार कुछ हेरफेर होता आया है। पर लिखित रूप में रक्षित होने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत कुछ बचा हुआ है, जैसे, मेलवि = मिलकर, जोड़कर, चितह = चित्त में; रणि रण में, प्रापजइ = प्राप्त हो या किया जाय, ईणी विधि = इसी विधि; ईसउ = ऐसा, बाल हो = बाला का।"[2] इसके साथ फारसी, अरबी, तुरकी शब्दों का प्रभाव भी दिखायी पड़ता है। मुसलमानों का आक्रमण उत्तर पश्चिमी भाग पर हुआ। इसी समय दो भाषा-रूपों की चर्चा आती है—"प्रादेशिक बोलियों के साथ-साथ ब्रज या मध्यदेश की भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण १८, पृ० १९।
२. उपरिवत् पृ० २५।

साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी, जो चारणों में 'पिंगल भाषा' के नाम से पुकारी जाती थी। अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी भाषा का जो साहित्यिक रूप था, वह 'डिंगल' कहलाता था।"[1] शुक्ल जी ने पिंगल के ग्रन्थों पर ही विचार किया है क्योंकि यह साहित्य से सम्बन्ध रखती है तथा इसमें वीर और शृंगार रस की प्रधानता है जो इस काल की विशेषता है। रासो ग्रन्थों की भाषा पिंगल ही है। इन रासो ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ फुटकर रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं जिनकी भाषा तत्कालीन बोलचाल की है। इन्हीं रचनाओं से तत्कालीन जनभाषा के स्वरूप का भी पता चलता है। इस क्षेत्र में सबसे अधिक कार्य मियाँ खुसरो और तिरहुत के विद्यापति ने किया। इनके पूर्व की रचनाओं पर प्राकृत की रूढ़ियों के प्रभाव की चर्चा हो चुकी है। खुसरो ने १३४० वि० के आस-पास रचना का प्रारम्भ किया। इनकी रचनाओं में दो प्रकार की भाषा प्राप्त होती है—१.—ठेठ खड़ी बोलचाल, पहेलियों, मुकरियों और दो सुखनों की है, यद्यपि इसमें भी कहीं-कहीं ब्रजभाषा की झलक है। २. गीतों और दोहों की भाषा जो ब्रजभाषा मुखप्रचलित काव्यभाषा है। दूसरे कवि विद्यापति हैं, जिन्होंने अपने काल की मैथिली का भी प्रयोग किया। इनको बंगाल के लोग बंगला कवि मानते हैं तथा इनकी पदावली का संग्रह भी बंगला में हुआ है। ग्रियर्सन ने बिहारी और मैथिली को मागधी से उत्पन्न होने के कारण अलग माना है। परन्तु शुक्ल जी ने शब्दावली की एकता के आधार पर हिन्दी की बोली के रूप में ही स्वीकार किया है।[2]

इसके बाद हिन्दी का भक्तिकाल (१३७५-१७०० सं० तक) प्रारम्भ होता है। "नामदेव की रचनाओं में यह बात साफ-साफ दिखायी पड़ती है कि सगुण भक्ति के. पदों की भाषा तो ब्रज या परम्परागत काव्यभाषा है, पर 'निर्गुन बानी' की भाषा नाथपंथियों द्वारा गृहीत खड़ीबोली या सधुक्कड़ी भाषा है।"[3] सूफी कवियों की भाषा पूरबी हिन्दी या अवधी है, जैसे—'पद्मावत'। कबीर की साखी के पदों की भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ीबोली है, पर रमैनी और सबद में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी प्रभाव है।[4] गीतों की भाषा प्रायः ब्रज है। भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियों की शक्ति सराहनीय है। नाथपंथियों की सधुक्कड़ी भाषा का प्रभाव पूरी निर्गुणधारा पर है। गुरु नानक की भाषा पंजाबी है, जिसमें देश की सामान्य काव्यभाषा हिन्दी के भी कुछ शब्द हैं। यह हिन्दी कहीं तो देश की काव्य-भाषा या ब्रज है, कहीं खड़ीबोली जिसमें कुछ पंजाबी के भी रूप आ गये हैं—जैसे, चल्या, रह्या आदि।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण १८, पृ० २६।

२. उपरिवत् पृ० ४१।

३. उपरिवत् पृ० ४९।

४. उपरिवत् पृ. ५६।

हिन्दी की रामाश्रयी शाखा के प्रमुख कवियों की भाषा अवधी है। गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में गोंडा, अयोध्या, बस्ती तथा चित्रकूट के क्षेत्रीय शब्द प्राप्त होते हैं। साहित्य की भाषा जो अपने पुराने रूप के साथ वीरगाथाकाल में थी, वह भक्तिकाल में साहित्यिक रूप को प्राप्त कर सकी है। गोस्वामी तुलसीदास को अपने समय में काव्यभाषा के दो रूप मिले—१. ब्रज—जिसमें सूर आदि रचना कर चुके थे। २. अवधी—जिसमें सूफी फकीर या प्रेममार्गी भक्त रचना किये थे। दोनों पर उनका समान अधिकार था—देखिये अवधी में 'रामचरितमानस' और ब्रज में 'विनयपत्रिका'। इसके साथ-साथ ब्रज का जो माधुर्य तुलसीदास की रचनाओं में प्राप्त होता है वही माधुर्य और भी संस्कृत रूप में गीतावली और कृष्ण गीतावली में पाते हैं। ठेठ अवधी का जो आनन्द जायसी के पद्मावत में प्राप्त होता है वही इनकी रचना जानकी मंगल, बरवै रामायण और रामलला नहछू में प्राप्त होता है।

"सूरदास जी की रचना में संस्कृत की कोमल कांतपदावली और अनुप्रासों की वह विचित्र योजना नहीं है जो गोस्वामी जी की रचना में है। दोनों भक्तशिरोमणियों की रचना में यह भेद ध्यान देने योग्य है और इस पर ध्यान अवश्य जाता है। गोस्वामी जी की रचना अधिक संस्कृतगर्भित है, पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इनके पदों में शुद्ध देशभाषा का माधुर्य नहीं है। इन्होंने दोनों प्रकार की मधुरता का बहुत ही अनूठा मिश्रण किया है। विनयपत्रिका के प्रारंभिक स्तोत्रों में जो संस्कृत पदविन्यास है उसमें गीतगोविन्द के पद-विन्यास से इस बात की विशेषता है कि वह विषम है और रस के अनुकूल कोमल और कहीं कर्कश देखने में आता है।"[१] कवितावली में रसानुकूल शब्दयोजना तथा प्रसंगानुकूल, पात्रानुकूल, श्रोतानुकूल भाषा द्रष्टव्य है। कैकेयी-मन्थरा संवाद की भाषा घरेलू या ठेठ ही है। अनुप्रास की ओर झुकाव सर्वत्र है।

"चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्य रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होनेवाले कवियों की श्रृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी-सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है"।[२] इसी सम्भावना पर डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' शीर्षक से अपना शोधप्रबन्ध प्रस्तुत कर यह प्रमाणित कर दिया कि "ब्रजभाषा काव्यों की सूर पूर्व एक स्वस्थ और लिखित परम्परा थी। नन्ददास की ब्रजभाषा सरस, मुखर और जड़ाऊ है—और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।"[३] अष्टछाप के कवियों की भाषा साहित्यिक ब्रज है।

---

१. हिन्दी साहित्त का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण १८, पृ० ९३।
२. उपरिवत्, पृ० ११३।
३. उपरिवत्, पृ० १२०।

आचार्य केशव, भाषा के अधिकारी नहीं थे। संस्कृत की अनेक उक्तियों का उन्होंने अनुवाद ही रख दिया है, पर उनको व्यक्त करने में उनकी भाषा असमर्थ ही रही है। भाषा में कृत्रिमता अधिक है। पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त, फालतू शब्दों का प्रयोग और सम्बन्ध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्राञ्जल और ऊबड़-खाबड़ हो गयी है तथा आशय भी स्पष्ट नहीं हो सका है। इसी से उनकी कविता को कठिन बताया जाता है। संवादयोजना की भाषा सराहनीय है। रहीम ब्रज और अवधी भाषा के सहृदय कवि हैं। भाषा इतनी हृदयहारी है कि बिहारी आदि तक अनुकरण किये हैं। इसी काल में कुछ ब्रजभाषाके गद्य के नमूने भी मिलने लगते हैं। भाषा पर सेनापति का जैसा अधिकार है वैसा कम लोगों का है। भाषा में ब्रजभाषा का-सा माधुर्य विद्यमान है पर वह संस्कृतपदावली पर अवलंबित नहीं है।

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल (१७००-१९०० वि०) के साथ ही शुक्ल जी बड़ी अच्छी सम्भावना प्रकट करते हैं कि रीतिकाल में अवधी और ब्रजभाषा के परिमार्जन का कार्य पूर्ण हो जाना चाहिए था पर वह हो नहीं सका। भाषा का जिस तरह से विकास हुआ, उस तरह से व्याकरण द्वारा व्यवस्था होनी चाहिए थी जिससे ब्रजभाषा में च्युत-संस्कृत दोष न आ पाता। वाक्यदोषों का भी निराकरण हो जाता तो भाषा और उत्तम हो जाती। जिस तरह से वाक्य, पद और शब्दों में मनमाने तोड़-मरोड़ मिल जाते हैं, वे न मिल पाते। इसके साथ इस काल की भाषा के अव्यवस्थित होने का यह भी कारण था कि लोगों ने इच्छानुसार ब्रज और अवधी का मेल कर लिया, सूर की भाषा तक में पूरबी के प्रयोग—मोर, तोर हमार, कीन, अस, जस आदि मिल जाते हैं।[१] बिहारी में भी कीन, दीन पद प्राप्त हो जाते हैं। रीतिग्रन्थों का अधिकांश विकास अवध में हुआ क्योंकि रीतिकाल में दिल्ली भक्तिकाल-सी सम्पन्न नहीं रह सकी थी। दिल्ली दरबार के गिरने के बाद लखनऊ का दरबार उठता है जिसकी भाषा अवधी रही, इसी से इसका प्रभाव ब्रजभाषा पर पड़ा। अवधी के साथ-साथ और भाषाओं तथा बोलियों का भी प्रभाव ब्रजभाषा पर पड़ा। इस मेलजोल पर भिखारी दास ने प्रकाश डालते हुए उचित बताया है।[२] मागधी से यहाँ पूरबी हिन्दी से आशय है। क्षेत्रीय बोलियों का प्रयोग तुलसी और गंग जैसे कवियों तक ने किया है। इसके बावजूद इस काल की काव्य-भाषा ब्रजभाषा ही रही। इस काल के कवियों ने विविध भाषाओं की शब्द-सम्पदा के साथ-साथ कारक चिह्नों तथा क्रिया के रूपों का भी खूब व्यवहार किया है। कालों का प्रयोग बदल गया है। मुसलमानी सम्पर्क बढ़ जाने से फारसी, अरबी, तुरकी आदि के पदों की संख्या बढ़ गयी है। सूर और तुलसी तक ने इनको लिया है। तुलसी ने सूर से अधिक लिया है। शिष्टाचार के फ़ारसी के अनेक पद लिये गये। रीतिकाल में इनकी संख्या और बढ़ गयी है। इसके साथ-साथ ब्रजभाषा की अपनी सरसता भी सुरक्षित है, जैसे बिहारी।

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण १८, पृष्ठ १६४-६५ के आधार पर।

२. उपरिवत्, पृ० १६५।

अधकचरे कवियों की रचनाओं में ऐसे पदों के प्रयोग अधिक और बेढंगे हैं, जैसे रसनिध का 'रतनहजारा'। बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्यरचना व्यवस्थित और शब्दों का स्वरूप तथा व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। भूषण और देव जैसे शब्दों का अंगभंग इन्होंने नहीं किया है न तो गढ़ा ही है। हाँ, कुछ स्थानों पर स्मर का समर अवश्य कर दिया है, इसी तरह नाम मात्र के कुछ और पद भी खोजने पर मिल सकते हैं। मतिराम की भाषा अकृत्रिम है। शब्द-सम्पदा सर्वथा मुक्त है, अनावश्यक शब्दों की भर्ती नहीं है। रीतिकाल में इस तरह की सरल, स्वाभाविक, स्वच्छ और चलती हुई भाषा अत्यल्प मिल पाती है। वचन-वक्रता आपको पसन्द नहीं थी, इसको वे वास्तविक काव्य से पृथक् मानते थे। भूषण की भाषा में ओज गुण तो विद्यमान है पर अधिकतर वह अव्यवस्थित है। लक्षणों की भाषा भी स्पष्ट नहीं है और उदाहरण भी कहीं-कहीं ठीक नहीं है। व्याकरण का उल्लंघन-प्राय है और वाक्यरचना भी यत्र-तत्र अव्यवस्थित हैं। कुलपति मिश्र ने कुछ ब्रजभाषा का गद्य भी लिखा है। भाषा में कहीं-कहीं स्निग्ध प्रवाह न आने का एक कारण यह भी था कि ये गम्भीर भावों को लेकर अनुप्रास के आडम्बर में फँस जाया करते थे। इसके साथ-साथ इनकी भाषा प्रायः प्रवहमान है, कहीं-कहीं शब्द अधिक पर अर्थ कम हैं। शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी है। जहाँ भाव-भाषा का सामञ्जस्य बैठ गया है वहाँ कविता बहुत सरस बन गयी है, इनके समान अर्थ और सौष्ठव नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। दलपति राय और वंशीधर तक आते-आते (१७९२ वि०) ब्रजभाषा के गद्य का स्वरूप भी निखर जाता है। आगे सोमनाथ का 'माधव विनोद' नाटक प्राप्त होता है। विक्रम की सम्वत् १८०९ के कवि बेनी प्रवीन की भाषा चलती हुई साफ सुथरी है। ऋतुवर्णन की भाषा अति सराहनीय है। आप ब्रजभाषा में मतिराम के समकक्ष हैं। कहीं-कहीं तो भाषा और भाव में पद्माकर से टक्कर लेते हैं। "भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इस कवि का अधिकार दिखायी पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भावभरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की मीलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीर दर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशान्त सरोवर के समान स्थिर और गम्भीर होकर मनुष्य जीवन को विश्रांति की छाया दिखाती है। सारांश यह कि इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदास जी में दिखायी पड़ती है।"[1] इनका अनुप्रास प्रयोग इतना संयत है कि भाषा का प्रवाह कहीं रुकता नहीं। लाक्षणिकता इनकी बहुत बड़ी विशेषता है। ग्वाल कवि की भाषा चलती हुई व्यवस्थित है। वाग्विदग्धता भी अच्छी है। १८वीं विक्रमी के अन्त में 'अष्टदेश भाषा' नामक ग्रन्थ प्राप्त होता है, जिसमें ब्रज, खड़ीबोली, पंजाबी, पूरबी आदि आठ बोलियों के माध्यम से राधाकृष्ण की शृंगार लीला वर्णित है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण १८, पृ० २१३।

भक्तिकाल के समान रीतिकाल में भी थोड़ा बहुत गद्यशैली का कच्चा रूप दिखायी पड़ता है। गोस्वामियों की लिखी 'वैष्णववार्ताओं' के समान कुछ पुस्तकों में ही पुष्टभाषा दिखायी पड़ती है। खड़ीबोली कुछ दिनों तक मुसलमानों के व्यवहार की भाषा समझी जाती रही आज भी पुराने लोग खड़ीबोली को उर्दू कह देते हैं—इसी अर्थ में कुछ कवियों के प्रयोग भी प्राप्त हो जाते हैं। बाद में यह शिष्टसमाज की भाषा होगयी। सम्वत् १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी के 'योगवाशिष्ठ' की भाषा बहुत ही परिमार्जित है, जिस पर आधुनिक गद्यकाल में विचार किया गया है। सबलसिंह चौहान की भाषा में लालित्य या काव्य छटा नहीं है, पर भाषा का सीधा-सादा रूप लोकप्रिय हुआ। १७४०-१७६० सम्वत् के मध्य कविता करने वाले आलम कवि के काव्य में कुछ रेखता के पद भी प्राप्त हो जाते हैं। इनकी भाषा परिमार्जित और सुव्यवस्थित है, पर इसमें कहीं-कहीं कौन, दौन, जौन आदि अवधी या पूरबी हिन्दी के पद प्राप्त हो जाते हैं। कहीं-कहीं फ़ारसी की शैली रस में बाधा भी पहुँचा देती है। घनानन्द की भाषा विशुद्ध, सरस और शक्तिसम्पन्न ब्रजभाषा है। भाषा का भावपक्ष बड़ा ही गम्भीर है। ब्रजभाषा में इतनी अधिक प्रवीणता इस काल में अन्य किसी को नहीं मिली। बिना ब्रजभाषा के मर्म को समझे घनानन्द को नहीं समझा जा सकता है। "यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी होगयी थी कि ये उसे अपनी अनूठी भावभंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे, उस रूप में मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखायी पड़ी। जब आवश्यकता होती थी तब ये उसे बँधी प्रणाली पर से हटाकर अपनी नयी प्रणाली पर ले जाते थे। भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चलाकर इन्होंने उसे अपनी ओर से नयी शक्ति प्रदान की है। घनानन्द जी उन विरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यञ्जकता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूपरंग की व्यञ्जना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षक और व्यञ्जक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।"[1]

महाराजा विश्वनाथ सिंह को बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी का प्रथम नाटककार स्वीकार किया है। ब्रजभाषा में सर्वप्रथम इन्होंने ही नाटक लिखा। इनका 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक विशेष महत्त्व की वस्तु है। इसमें पद्य की प्रचुरता है। संवाद के अंश ब्रजभाषा के गद्य में ही हैं। इनकी भाषा स्पष्ट और परिमार्जित है। बख्शी हंसराज की भाषा मधुर, सरस और चलती हुई है। भाषा का साफ सुथरा और सरल प्रवाह ऐसा अन्यत्र अल्प ही है। पदविन्यास अत्यन्त कोमल, ललित तथा अकृत्रिम है। व्यर्थ के शब्दों का समावेश नहीं है। इनकी भाषा आदर्श स्वरूप है। इनका ग्रन्थ 'सनेहसागर' हर तरह से सराहनीय

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण १८, पृ० २३३।

है। चाचा हित वृन्दावनदास की रचनाएँ विपुल होते हुए भी भाषा की दृष्टि से व्यवस्थित है। भाषा पर चाचा का पूर्ण अधि ार प्रकट होता है। गिरधर कविराय की भाषा स्पष्ट और लोकव्यवहार की है। श्री हठी जी की भाषा अलंकारों से बोझिल होने के बाद भी चुस्त वाक्यविन्यास से युक्त है। इसी तरह गुमान मिश्र भी छन्दों की बहुलता के साथ-साथ भाषा पर संयम बनाये हुए हैं। इसके साथ सूदन कवि ने विविध भाषाओं और बोलियों के शब्दों को लेकर कविता को खिलवाड़-सा बना दिया है। ब्रजवासी दास के ब्रजविलास की भाषा सीधी-सादी, सुव्यवस्थित और चलती हुई है। बोधा की भाषा कुछ व्याकरण के दोषों से युक्त होती हुई भी चलती हुई और मुहावरेदार है। रामचंद्र की भाषा लाक्षणिक और पाण्डित्यपूर्ण है। मचित कवि की प्रसिद्ध रचना 'कृष्णायन' की भाषा ब्रज है। मधुसूदनदास की रचनाओं का पदविन्यास और भाषा सौष्ठव रामचरित मानस की तरह ही है। प्रत्यय और रूप भी बहुत कुछ अवधी के रखे गये हैं। भाषा शिष्ट अवधी है। लोकोक्तियों का जैसा सुन्दर प्रयोग ठाकुर बुन्देलखण्डी ने किया है, वैसा और किसी ने नहीं। रूढ़ियों के अनुसार शब्द-सञ्चयन इनमें नहीं है। कवि चन्द्रशेखर की भाषा पूर्ण व्यवस्थित, च्युत संस्कृति आदि दोषों से मुक्त और प्रवाहमयी है। बाबा दीनदयाल गिरि ने संस्कृत से प्रभावित होते हुए भी भाषा-शैली की सरसता और पद-विन्यास की मनोहरता के विचार से स्वतन्त्र हैं। भाषाधिकार सराहनीय है। परिष्कृत, स्वच्छन्द और सुव्यवस्थित भाषा बहुत थोड़े से कवियों की है। अप-वाद में कहीं अव्यवस्थित वाक्य और पूरबी शब्द भी मिल जाते हैं। इनका अन्योक्ति 'कल्प-द्रुम' हिन्दी साहित्य का अनमोल रत्न है। पसनेज की भाषा पर फारसी का प्रभाव है कठोर वर्णों के समावेश के बाद भी भाषा में लालित्य विद्यमान है। आपका पदविन्यास सराहनीय है। शब्दचमत्कार के प्रति मोह होने के कारण यत्र-तत्र भद्दापन भी आ गया है। हिन्दी के महारथी बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूज्य पिता श्री गिरधरदास जी ब्रजभाषा के बहुत ही प्रौढ़ कवि थे। भारतेन्दु जी ने स्वयं इनको ४० ग्रन्थों का रचनाकार माना है। द्विजदेव जी अयोध्या के महाराजा मानसिंह का ही कविनाम है, जो सरस कविताकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। पद्माकर की तरह इनके कवित्त भी लोकप्रिय हैं। इनको ब्रजभाषा के श्रृंगारी कवि परम्परा का अन्तिम कवि समझना चाहिए। आपकी भाषा स्वच्छ और सुन्दर है।

आधुनिककाल का गद्यखण्ड सं० १९००-१९८० तक माना गया है। इसके पूर्व गद्य का जो भाग मिलता है, वह ब्रजभाषा में ही है। कई गोरखपंथी ग्रन्थ इसी तरह की भाषा में मिले हैं, जिनका काल १४०७ वि० के आसपास है। इन पर राजस्थानी भाषा का प्रभाव है। इसके बाद भक्तिकाल में विट्ठलनाथ जी की रचना 'श्रृगाररस मंडन' मिलती है। यह गद्य का अपरिमार्जित और अव्यवस्थित रूप है। इसके बाद 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' रचनाएँ हैं, जिनका रचनाकाल १७वीं शताब्दी का उत्त-रार्द्ध हो सकता है। दूसरी रचना और भी पीछे की हो सकती है। भाषा बोलचाल की ब्रज-भाषा है जिसमें बोलचाल के फारसी-अरबी के पद भी प्राप्त हो जाते हैं। इसके बाद नाभादास

की रचना 'अष्टायाम' है। इसका समय १६६० वि० हो सकता है। इसकी भाषा व्रजभाषा का गद्य है। इसके बाद वैकुण्ठमणि शुक्ल की रचनाएँ सामने आती हैं, जिनकी व्रजभाषा व्यवस्थित है। आगे सूर मिश्र ने 'वैतालपचीसी' लिखी, जिसको आगे चलकर लल्लूलाल ने खड़ीबोली हिन्दुस्तानी में किया। इसी समय कई रचनाएँ गद्य शैली में व्रजभाषा तथा खड़ीबोली के अपरिष्कृत रूप में की गयी। ऐसी बोलचाल की भाषा पर फारसी का भी प्रभाव द्रष्टव्य है। इस समय तक साहित्यिक भाषा पद्य ही रही। यदि इसी समय गद्य का भी विकास हो गया होता तो विक्रम की १८वीं शताब्दी के आरम्भ में भाषा सम्बन्धी बड़ी विषम समस्या उत्पन्न हो जाती और जिस धड़ाके के साथ गद्य के लिए खड़ीबोली ले ली गयी, उस धड़ाके के साथ न ली जा सकती। व्रजभाषा का गद्य, पद्य की प्रतियोगिता में टिक नहीं सका। वैष्णववार्ताओं के समान प्रौढ व्रजभाषा का गद्य नहीं रचा जा सका। टीकाओं का व्रजभाषा गद्य व्यवस्थित नहीं है।

देश में मुसलमानों के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ दिल्ली की दरबारी शिष्टता से जुड़कर दिल्ली की खड़ीबोली भी शिष्ट समाज के परस्पर व्यवहार की भाषा होने लगी थी। खुसरो, विक्रम की १४वीं शताब्दी में ही व्रजभाषा के साथ-साथ खड़ीबोली में पद्य और पहेलियाँ रच चुके थे। औरंगजेब के समय फारसी मिली हुई खड़ीबोली या रेखता में शायरी बनने लगी थी। मुगलों के पतन से भी खड़ीबोली को बल मिला। दिल्ली, आगरे आदि पछाँही शहरों की समृद्धि नष्ट होने के कारण लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद आदि नयी राजधानियाँ चमक उठीं। इस उलटफेर के साथ खड़ी बोली के वक्ता भी देश के विविध भागों में फैल गये। उर्दू को रूप न प्राप्त होने के पहले की खड़ीबोली अपने देशी रूप में विद्यमान थी। भोज से हम्मीरदेव के अपभ्रंश काव्यों में भी खड़ीबोली के प्राचीन रूप की झलक को देखा जा सकता है। इसके बाद निर्गुणधारा के सन्तों की घुक्कड़ी में इसके व्यवहार को देखा जा सकता है। अकबर के समय में कवि गंग ने 'चंद छंद बरनन की महिमा' नामक एक गद्य पुस्तक खड़ीबोली में ही लिखी थी। अतः अकबर जहाँगीर काल में ही यह विभिन्न प्रदेशों में शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चुकी थी।

विक्रमी सम्वत् १७९८ में रामप्रसाद 'निरंजनी' ने 'भाषा योगवासिष्ठ' नाम का गद्य-ग्रन्थ बहुत साफ सुथरी खड़ीबोली में लिखा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुँशी सदासुख और लल्लूलाल से ६२ वर्ष पहले खड़ीबोली का गद्य परिमार्जित हो चुका था। इसके पीछे १८१८ सम्वत् में पं० दौलतराम ने हरिषेणाचार्यकृत 'जैनपद्मपुराण' का भाषानुवाद किया, पर भाषा 'योगवाशिष्ठ'-सी परिमार्जित नहीं है। अतः खड़ीबोली गद्य की परम्परा फारसी या मुसलमानों तथा अंग्रेजी प्रेरणा से न चलकर स्वतन्त्र रूप से चली है।[1] अंग्रेजी राज्य के प्रतिष्ठित होते-होते खड़ीबोली शिष्टजन के व्यवहार की भाषा बन चुकी थी। रीतिकाल का यही अवसानकाल भी है। मुगलों के बाद जब अंग्रेज आये तो उनको यहाँ की भाषा सीखनी

१. द्रष्टव्य-हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र-शुक्ल संस्करण १८, पृ० २८२।

पड़ी और वे गद्य की खोज करने लगे। इसी खोज में अनेक पुस्तकें मिलीं तथा फोर्ट विलियम कालेज की ओर से कई पुस्तकें लिखवायी भी गयीं। इससे एक-दो वर्ष पूर्व ही इंशा की पुस्तक 'रानी केतकी की कहानी' लिखी जा चुकी थी। १८६० वि० में फोर्ट विलियम कालेज (कलकत्ता) के हिन्दी-उर्दू अध्यापक जानगिल क्राइस्ट ने हिन्दी-उर्दू दोनों के लिए अलग-अलग व्यवस्था की। इससे भी हिन्दी-उर्दू के अलग-अलग होने का प्रमाण मिलता है।

इसके बाद गद्य की पुस्तकें लिखी जाती रहीं। १८६० वि० और १९१५ वि० के बीच का काल गद्यरचना की दृष्टि से शून्य ही मिलता है। सं० १९१४ के गदर के बाद इसकी परम्परा अच्छी चली। हिन्दी गद्य के प्रचार-प्रसार में ईसाई पादरियों का बड़ा सहयोग रहा। हिन्दी अनुवाद के माध्यम से इन लोगों ने अपने धार्मिक ग्रन्थों का परिचय भारतीय जनता को दिये। इन लोगों ने हर सम्भव प्रयास किया कि हिन्दी में फारसी-अरबी के शब्द न आवें बल्कि ठेठ ग्रामीण के आ जायँ। इनकी भाषा मुँशी सदासुख और लल्लूलाल के ही नमूने पर चली, पर ब्रजभाषा के प्रभाव को इन लोगों ने नहीं लिया। शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों के लिए १८९० वि० के० लगभग पादरियों ने आगरे में एक 'स्कूल वुक सोसायटी' स्थापित किया। इसके माध्यम से अनुवाद के विशेष कार्य हुए। इसी समय हिन्दू धर्म में जागरण आया। विविध समाजों की स्थापना हुई। ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय ने १८७२ वि० में वेदसूत्रो का भाष्य का अनुवाद हिन्दी में करके प्रकाशित कराया। १८८६ वि० में 'बंगदूत' समाचारपत्र भी निकाले। इनकी भाषा में बंगलापन और शास्त्रीयता है। इसके बाद पं० जुगुलकिशोर ने १८८३ वि० में 'उदण्ड मार्तण्ड' नाम का एक संवाद पत्र निकाला जो हिन्दी का पहला पत्र है।

एक लम्बे संघर्ष के बाद फारसी के स्थान पर उर्दू को राजभाषा होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसको शुक्ल जी ने खड़ीबोली का अरबी-फारसीमय रूप ही माना है।[१] १९०२ वि० तक राजा शिवप्रसाद जी शिक्षा-विभाग में नहीं आये थे, पर हिन्दी के प्रति उनके जागरूक विचार स्पष्ट हो चुके थे। ये 'बनारस' अखबार निकाले जिसकी भाषा उर्दू और लिपि नागरी थी। इसी समय बनारस से कुछ पत्र निकले, फिर आगरे से (१९०९ वि०)। उर्दू को पर्याप्त बढ़ावा मिला। अनेक बाधाओं के उपरान्त भी विक्रम की २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के पूर्व ही साहित्य में हिन्दी खड़ीबोली की परम्परा चल पड़ी थी, इस काल में काव्य की भाषा ब्रज ही रही। उर्दू के नेता सर सैय्यद अहमद और हिन्दी के राजा शिवप्रसाद जी हुए और बीसो वर्ष तक अर्थात् भारतेन्दुकाल तक संघर्ष चलता रहा। इसमें राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा हिन्दी को बड़ी मदद मिली। राजा शिवप्रसाद जी स्वयं तथा कुछ सहयोगियों से अनेक हिन्दी पुस्तकों का निर्माण कराये। इनकी प्रारंभिक पुस्तकें तो चलती हिन्दी में हैं, परन्तु बाद की रचनाएँ उर्दूपन से युक्त हैं, जैसे—'इतिहास

---

१. द्रष्टव्य, हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण १८, पृ० २९३।

तिमिर नाशक।' इसके विपरीत राजा लक्ष्मण सिंह ने संस्कृतनिष्ठ पदावली पर जोर दिया। शुक्ल जी ने इन्हीं की भाषा को असली हिन्दी का नमूना माना है। इस काम में अंग्रेजों ने प्रेस खोलकर भाषा-प्रचार में बड़ा योगदान किया। इनमें फ्रेडरिक पिन्काट महोदय का नाम हिन्दी प्रेमियों को सदैव बनाये रखना चाहिए।

संयुक्त प्रान्त (उ० प्र०)' में हिन्दी के लिए जो कार्य राजा शिवप्रसाद जी ने किया, वही कार्य पंजाब में बाबू नवीनचन्द राय ने किया। इनकी हिन्दी शुद्ध गद्य थी। इन महान् विभूतियों के साथ-साथ प्रारंभिक पत्रिकाओं का भी हिन्दी के विकास में सराहनीय योगदान रहा। इसी समय आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य धर्म से सम्बन्धित अपने व्याख्यान आर्यभाषा (हिन्दी)' में ही दिये। अपनी प्रमुख पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' को भी हिन्दी में ही प्रकाशित कराये। वेदों का भाष्य तक संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी में भी किये। अपनी संस्था 'आर्यसमाज' के लिए हिन्दी ज्ञान को अनिवार्य बताये। इससे उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में हिन्दी गद्य का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ। इसके साथ पूरे पंजाब को हिन्दीमय करने का श्रेय श्रद्धेय स्वामी जी को ही है। इसके साथ सं० १९१० के आसपास ही पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने भी अपनी कथा और व्याख्यान से हिन्दी का प्रचार-प्रसार पूरे पंजाब में किया। ये प्राचीन वर्णाश्रम धर्मावलम्बी थे। इनका सिद्धान्त ग्रन्थ 'सत्यामृत प्रवाह' की भाषा प्रौढ़ हिन्दी है।

हिन्दी क्षेत्र में बाबू हरिश्चन्द्र का आगमन इसके लिए सौभाग्य की बात है। भाद्र शुक्ल ५, संवत् १९०७ को पैदा होकर तथा माघ कृष्ण ६, संवत् १९४१ में मृत्यु को प्राप्त करके; इस अल्पावधि में ही ३५ वर्ष की उम्र में जो कार्य किया, वह स्मरणीय रहेगा। पहले आपने बंगला से हिन्दी में अनुवाद करके गद्य का अभ्यास किया, फिर कवि 'वचन-सुधा' 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' जो बाद में 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' हो गयी, पत्रिकाएँ निकाले। इनसे प्रोत्साहित होकर अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं, जिनकी संख्या २७ है। हिन्दी गद्य के परिष्कृत रूप का सबसे पहले 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रयोग मिलता है। इसके बाद इनकी कई पुस्तकें आयीं। हरिश्चन्द्र मण्डल के माध्यम से हिन्दी के शुद्ध गद्य में अनेक मौलिक और अनूदित ग्रन्थ सामने आये। गद्य-रचना के अन्तर्गत सर्वप्रथम नाटक आते हैं, जिनमें महाराजा विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' सर्व प्रथम है, यह ब्रजभाषा में है। भारतेन्दु में दो प्रकार की शैलियों का समावेश देखते हैं। भावावेश और तथ्यनिरूपण, पहली में वाक्य बहुत छोटे-छोटे और पदावली बोलचाल की, प्रचलित फारसी, अरबी के पद भी हैं, जैसे—'चंद्रावली नाटिका'। तथ्यनिरूपण के समय वाक्य बड़े, संस्कृतनिष्ठ पदावली मिलती है, जैसे—'नीलदेवी'। तत्कालीन लेखकों में सबसे अच्छी भाषा भारतेन्दु की ही होती है। पूरी भाषा में एकरूपता तथा व्याकरण-विरोध नाममात्र का है। पं० प्रतापनारायण मिश्र में पूरबीपन तथा विनोद और मनोरंजन की अनिवार्यता है। परन्तु गम्भीर विषयों पर लिखे गये लेख बड़े ही संयत और साधुभाषा में हैं। पं० बालकृष्ण भट्ट भी मिश्र जी की शैली से जुड़े हुए थे, ये भी कहा-वतों और मुहावरों का खूब प्रयोग करते थे। व्यंग्य और वक्रता के साथ वाक्य की दीर्घता

सर्वत्र है। सही खड़ीबोली के आदर्श का निर्वाह भट्ट जी ने भी नहीं किया है। पूरबी प्रयोग बराबर मिलते हैं। पं० प्र तापनारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी गद्य-साहित्य में वही काम किया है, जो अंग्रेजी गद्य-साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया था। पं० बद्रीनारायण चौधरी गद्यरचना को एक कला मानने वाले थे। अनुप्रास और अनूठे पदविन्यास पर भी उनका ध्यान रहता, कभी-कभी पाठक को दीर्घपदावली में बहुत देर तक रुक जाना पड़ता है। लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था वही उनकी हिन्दी का था। निबन्ध के साथ-साथ उन्होंने नाटक भी लिखे, जिनकी भाषा मिश्रित है। लाला श्रीनिवास दास जी की भाषा बहुत रोचक नहीं है। बाद की भाषा संयत, साफ सुथरी तथा रचना सोद्देश्य है। इनका 'परीक्षागुरु' हिन्दी का पहला उपन्यास है। आपकी भाषा में प्रचलित शब्द खूब मिलते हैं। ठा० जगमोहनसिंह में बंगशैली यानी शब्दप्रधान रूप का प्रयोग देखा जा सकता है। पं० अम्बिकादत्त व्यास इन्होंने, उन्होंने के स्थान पर इनने, उनने लिखते थे। इसी क्रम में फ्रेडरिक पिन्काट आते हैं, आपकी भाषा दीर्घविचारों को सँजोये हुए मुहावरेदार है। आप चलती हुई भाषा के पक्षपाती रहे हैं। ब्रजभाषा के आप अच्छे कवि भी थे। इसके साथ-साथ भारतेन्दु जी तथा उनके मण्डल ने देश में घूम-घूमकर हिन्दी भाषा का प्रचार किया। बलिया का भारतेन्दु जी का व्याख्यान तो सर्वप्रसिद्ध है, ये कहीं जाते तो इन दो पंक्तियों को अवश्य बोलते—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निजभाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥[1]

विविध प्रयासों के उपरान्त १९५७ वि० में नागरी के प्रवेश की उन्नति मिल गयी। हिन्दी भाषा के गद्य साहित्य का द्वितीय उत्थान १९५०-७५ वि० तक चलता है। इस काल में भारतेन्दु-मण्डल ने भाषा का अतिशय संस्कार किया। अनेक भाषाविद् इस क्षेत्र में आये, इससे विदेशी शब्दों की सम्पदा हिन्दी में बढ़ी। व्याकरण के प्रति असावधानी बहुत दिखायी पड़ती है। इसी समय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का पदार्पण हिन्दी-जगत् में होता है जिनकी हिन्दी सदैव ऋणी रहेगी। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई पर आपने विशेष ध्यान दिया। द्विवेदी जी हिन्दी के परिप्रेक्ष्य में तब तक याद किये जायेंगे जब तक भाषा में संस्कार की आवश्यकता बनी रहेगी। 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से इन्होंने यह कार्य किया। गद्य पर तो और कड़ी निगाह रखते थे। व्याकरण सम्बन्धी अनेक लेख तथा पुस्तकें आपकी प्रेरणा से लिखी जाने लगीं। बंगला से प्रभावित उपन्यास खूब लिखे गये। इसी समय निबन्धों के माध्यम से भाषा गाम्भीर्य को प्राप्त होती है। द्विवेदी जी ने सबसे पहले आलोचना का रास्ता निकाला। इनके माध्यम से भाषा के गुण-दोष पर भी पर्याप्त विचार हुए। बाबू गोपालराम गहमरी की भाषा में पूरबी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग है। बंगला के साथ-साथ उर्दू और मराठी के उपन्यासों का अनुवाद भी हिन्दी में हुआ। इस समय के मौलिक उपन्यासकारों के कार्य सराहनीय हैं। बाबू देवकीनन्दन खत्री इसी समय हुए।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण १८, पृ० ३२९।

इनकी पुस्तक 'चंद्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता सन्तति' को पढ़ने ही के लिए कितने लोगों ने हिन्दी पढ़ी, कितने हिन्दी के लेखक हो गये। तिलस्मी उपन्यासों की भरमार हो गयी। उन्होंने ऐसी भाषा का व्यवहार किया है कि थोड़ी हिन्दी और थोड़ी उर्दू पढ़े लोग भी समझ लें। राजा शिवप्रसाद सिंह की आमफहम का अनुसरण किया है या हिन्दुस्तानी लिखा है। किशोरीलाल गोस्वामी ने भाषा के साथ मजाक किया है। इनको बाद में उर्दू का शौक लग गया था। कहीं-कहीं समासबहुल भाषा है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की गद्यभाषा संस्कृतनिष्ठ और ठेठ हिन्दी भी है। उपन्यासों के अतिरिक्त इस चक्र में कुछ छोटी-छोटी कहानियाँ भी लिखी गयीं। सूर्यपुरा के राधिकाप्रसाद सिंह जी भाषा की शक्तियों पर अद्भुत अधिकार रखने वाले लेखक हैं। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचन्द और चतुरसेन शास्त्री इसी काल में मैदान में आये। इनके साथ ही, काव्य की कसौटी गद्य और गद्य की कसौटी निबन्ध को लिखने वाले आये। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास इसी विधा से हुआ। इनका चलन भारतेन्दु-काल से ही हुआ, परन्तु विशेष संस्कार इसी काल में हुआ। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में भाषा की नूतन शक्ति का चमत्कार मिलता है। लेखों में छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग विशेष है। माधवप्रसाद मिश्र और बाबू बालमुकुन्द गुप्त की भाषा चलती हुई सजीव और विनोदपूर्ण है। गोविन्दनारायण मिश्र की भाषा अनुप्रास-प्रधान तथा शब्द-गुच्छों का एक अटाला-सी है। शब्दावली संस्कृत और ब्रजभाषा की है। बाबू श्यामसुन्दर दास जी का हिन्दी को आधुनिक स्वरूप देने में बहुत बड़ा हाथ रहा है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के निबन्धों की भाषा पांडित्य-पूर्ण है। अध्यापक पूर्ण सिंह अपने चार निबन्धों से ही ख्याति प्राप्त कर लिये। उनकी भाषा की लाक्षणिकता एक नयी उपलब्धि के रूप में सामने आयी। भाषा की बहुत कुछ उड़ान, उसकी शक्ति लाक्षणिकता में देखी जा सकती है। भाषा और भाव की एक नयी विभूति उन्होंने सामने रखी। बाबू गुलाबराय की भाषा समास प्रधान, चुस्त भाषा के भीतर कसी हुई, अर्थ परम्परा जो हिन्दी में कम मिलती है, से युक्त है। निबन्ध-परम्परा के साथ आलोचना की परम्परा भी चली। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक लेख 'कालिदास की निरं-कुशता' में भाषा और व्याकरण के व्यतिक्रम एकत्र किये गये हैं। द्विवेदी जी ने भाषा के विविध दोषों को सामने रखा। इससे हिन्दी भाषा का बड़ा उपकार हुआ। यदि द्विवेदी जी न खड़े होते तो हिन्दी भाषा आज भी अव्यवस्थित, व्याकरण विरुद्ध, ऊटपटाँग ही रह जाती।

गद्य-साहित्य की वर्तमान गति को हम तृतीय उत्थान-काल कह सकते हैं, जिसका समय संवत् १९७५ से प्रारम्भ होता है। यहाँ तक आते-आते भाषा पर कई लोगों का अच्छा अधिकार हो गया था। परन्तु अनेक अधकचरे लेखक भी मिल जायेंगे। इनमें व्याकरण की भद्दी भूलें तो हैं ही, कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास भी गलत मिलता है। ये लोग हिन्दी की प्रकृति से अपरिचित रहकर अंग्रेजी के शब्द, वाक्य और मुहावरे तक ज्यों के त्यों रख दिये हैं। उप-न्यास और कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द की-सी चलती हुई और पात्रों के अनुरूप रंग बदलने वाली भाषा इनके पहले कभी नहीं देखी गयी थी। छोटी-छोटी कहानीकारों में उग्र जी की भाषा बड़ी अनूठी, चपल और आकर्षक वैचित्र्य से युक्त है। इस काल के निबन्धों पर बंगाली

भाषा का प्रभाव है। समालोचना के क्षेत्र में भाषा की क्रीड़ा कहीं-कहीं बाधक हो गयी है; कुछ बँधे हुए शब्द और वाक्य विचारों के प्रवाह को रोक दिये हैं।

आधुनिक काव्यखंड की पुरानी धारा संवत् १९००-१९२५ तक प्रवाहित रही है। इस काल की काव्यभाषा ब्रजभाषा ही रही। ब्रजभाषा काव्य की परम्परा गुजरात से बिहार तक, कुमाऊँ-गढ़वाल से लेकर दक्षिण भारत की सीमा तक बराबर चलती आ रही है। इस काल में कवियों का बहुत बड़ा झुण्ड आता है। राजा लक्ष्मण सिंह की ब्रजभाषा बड़ी ही मधुर और सरस है। इनकी भाषा से सहज मिठास टपकती है। गोविन्द गिल्ला भाई की कविता सुन्दर और पुराने कवियों की टक्कर की है। इसी धारा में बाबू भारतेन्दु जी भी आते हैं। ब्रजभाषा में जो पुराने पद जनसामान्य के व्यवहार से दूर हो गये थे या तोड़ मरोड़कर लोगों ने बिगाड़ दिया था, उनको आपने बाहर कर बोलचाल की भाषा का व्यवहार किया। प्रेमघन जी ने कजली, होली तथा अन्य गाने भी रचे। हरिऔध और श्रीधर पाठक की भाषा सरस और हृदयहारिणी है। इसी पुरानी परिपाटी में पं० जगन्नाथदास रत्नाकर हैं। भारतेन्दु के बाद इनकी ब्रजभाषा ही आकर्षण का केन्द्र बनती है। इनकी भाषा पुराने कवियों की भाषा से चुस्त और गठी हुई है। आप ब्रजभाषा के बहुत मर्मज्ञ हैं। श्री दुलारेलाल जी भार्गव ने ब्रजभाषा काव्य-चमत्कार पद्धति का एक प्रकार से पुनरुद्धार किया है।

काव्य की नयी धारा का प्रथम उत्थान १९२५-१९५० वि० है। भारतेन्दु जी ने हिन्दी खड़ीबोली की गद्य की धारा तथा ब्रजभाषा के पद्य की धारा को संचालित किया। इसमें भारतेन्दु , प्रतापनारायण मिश्र अंबिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी आदि हैं। भारतेन्दु जी भक्ति, राष्ट्रीयता और राजभक्ति के पदों को तो ब्रजभाषा में रचे पर लावनियों और खयाल को खड़ीबोली में रचे। जगमोहन सिंह संस्कृत के संस्कारों की ओर झुके और पं० अंबिकादत्त व्यास की भाषा परम्परा से चलती आ रही ब्रजभाषा है। परन्तु भारतेन्दु-काल में ही लोग सोचने लगे कि कविता की भाषा भी खड़ीबोली होनी चाहिए। खड़ीबोली में पद्य रचना कोई नयी बात नहीं; नामदेव और कबीर की रचनाओं में हम इसके पूर्व स्वरूप को देख आये हैं। उसका व्यवहार प्रायः सधुक्कड़ी भाषा के भीतर हुआ करता था। इंशा ने अपनी रचना 'रानी केतकी की कहानी' में कुछ ठेठ खड़ीबोली के पद्य उर्दू छन्दों में रखे। फिर नागरी दास के कुछ पद सामने आते हैं। इसके बाद नजीर अकबराबादी कृष्ण-लीला सम्बन्धी कुछ पद्य हिन्दी खड़ीबोली में लिखे। इसके बाद कुछ कृष्णभक्तों की रचनाएँ खड़ीबोली में 'झूलना' छन्द में दिखायी पड़ती हैं। इसके बाद लावनीबाजों का समय आता है—मीरजापुर (उ० प्र०) के तुकनगिरि गोसाईं ने सधुक्कड़ी भाषा में ज्ञानोपदेश के लिए लावनी की लय चलायी। लावनी की भाषा खड़ीबोली रहती थी। इसके साथ रीतिकाल के कुछ पिछले कवि भी कुछ पद्य हिन्दी खड़ीबोली में रचे। उधर लावनीबाज और खयालबाज भी अपने ढंग पर कुछ ठेठ हिन्दी में गाया करते थे। फलतः कविता की भाषा का सवाल सबके सामने आया क्योंकि खड़ी बोली की तीन 'छन्द' प्रणालियाँ सामने आ पड़ीं—१. कवित्त सवैया २. उर्दू छन्दों की ३. लावनी ढंग की। बाद में श्रीधर पाठक ने पिछले ढंग

पर कुछ पद्यों का निर्माण किया। इनकी भाषा अधिकतर बोलचाल की और सरल थी। इसके बाद तो खड़ीबोली का आन्दोलन ही चल पड़ा। मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री खड़ीबोली का झंडा लेकर उठे। उन्होंने 'खड़ीबोली आन्दोलन' की एक पुस्तक छपाई जिसमें कहा कि अब कविता की भाषा खड़ीबोली होनी चाहिए। परन्तु वे भाषातत्त्व के ज्ञाता न थे। उनकी समझ में खड़ीबोली ही हिन्दी थी। खड़ीबोली की विविध शैलियाँ सामने आयीं। चम्पारन के भारतेन्दु बाबू के मित्र पं० चन्द्रशेखर मिश्र जी भी हिन्दी में बड़ी सुन्दर रचनाएँ किये। शुक्ल जी के अनुसार हिन्दी साहित्य के आधुनिककाल में संस्कृत वृत्तों में खड़ीबोली के कुछ पद्य पहले पहल मिश्र जी ने ही लिखे।

काव्यखण्ड की नयी धारा का द्वितीय उत्थान संवत् १९४०-१९७५ के मध्य होता है। श्रीधर मिश्र की खड़ीबोली की सीधी-सादी रचनाओं ने खड़ीबोली के कवियों और जनता को आकर्षित किया। उन्होंने खड़ी बोली और ब्रजभाषा में रचनाएँ की। शब्द-शोधन में आप अद्वितीय थे। चलती हुई रसीली ब्रजभाषा, कोमल और मधुर संस्कृत पद-विन्यास, सराहनीय है। आपकी 'एकान्तवासी योगी' खड़ीबोली की पहली पुस्तक है। इसके बाद अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने खड़ीबोली के लिए उर्दू के छन्दों तथा ठेठ बोली को उपयुक्त समझा, क्योंकि इस काल तक खड़ीबोली अच्छी तरह मँज चुकी थी। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खड़ीबोली के पद्य रूप में भी खूब संशोधन किया। १९७१ वि० में हरिऔध जी की प्रसिद्ध रचना 'प्रिय प्रवास' सामने आती है। यह खड़ीबोली का प्रथम महाकाव्य है। इसकी संस्कृतनिष्ठ पदावली सराहनीय है। आपकी कुछ रचनाएँ बोलचाल की भाषा में भी हैं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी पद्य रचना की एक प्रणाली के प्रवर्तक के रूप में हैं। उनकी प्रेरणा से अनेक हिन्दी खड़ीबोली के कवि पैदा हुए। द्विवेदी जी ने भाषा संस्कार के साथ-साथ पद्य की भाषा का स्वरूप भी निर्धारित करने का प्रयास किया। पहले तो उन्होंने ब्रजभाषा का आलंबन किया, बाद में खड़ीबोली में पद्य रचे। संस्कृत और मराठी भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसके साथ वर्ड्सवर्थ का सिद्धान्त कि गद्य-पद्य की भाषा एक ही होनी चाहिए, को मानने लगे। पर सारी रचनाएँ तदनुकूल नहीं हैं। आप व्यावहारिक भाषा को वरीयता देते थे। आपकी अधिकतर कविताएँ इतिवृत्तात्मक हैं। भाषा गद्य की ओर अधिक झुकी हुई है। संस्कृत शब्दों का प्रयोग बाद में कम करने लगे थे। संस्कृत के ग्रन्थों के अनुवाद में भी सहजता की रक्षा कर सके हैं। मैथिलीशरण गुप्त की भाषा मार्मिक, सीधी-सादी तथा तथ्यपूर्ण है। मुक्त के खण्ड प्रबन्ध और गीतकाव्य रचे। आपको राष्ट्रकवि का पद भी बाद में मिला। आपकी भाषा के तीन स्तर दिखायी पड़ते हैं—१. भाषा की सफाई की है, जिसमें खड़ीबोली के पद्यों की मसृणबंध रचना है, कुछ गद्यवत रूखी और इतिवृत्तात्मक है। यह खड़ीबोली का संधिकाल या परिमार्जनकाल था। बंगभाषा तथा ब्रजभाषा के प्रभाव से कुछ सरसता तथा कोमलता आयी, परन्तु संस्कृत शब्दों की ठोकरें कहीं-कहीं दिखायी पड़ती है। २. इसमें भारत भारती तथा वैतालिक के बीच की रचनाएँ हैं। ३. इसके बाद छायावाद की ओर झुकी हुई रचनाएँ तथा गीतों की भाषा है, जैसे—

'यशोधरा' और साकेत। रामचरित उपाध्याय पुराने ढंग की हिन्दी रचना करते थे। बाद में खड़ीबोली में लिखने लगे। भाषा साफ तथा वैदग्ध्यपूर्ण है। गिरधर शर्मा नवरत्न पहले ब्रजभाषा में कवित्त आदि लिखते रहे, बाद में शुद्ध खड़ीबोली में रचने लगे। आपकी अधिकतर रचनाएँ इतिवृत्तात्मक और गद्यवत् हैं। लोचनप्रसाद पाण्डेय में गद्यवत् सीधी, सरल, खड़ीबोली का स्वच्छन्द निखरा रूप नहीं मिलता जैसा कि गुप्त आदि में मिलता है। इनके अतिरिक्त अनेक रचनाकार हुए। इनमें कुछ द्विवेदी जी की काव्यभूमि के बाहर के भी हैं, जो ब्रजभाषा और खड़ीबोली में रचनाएँ करते रहे, जैसे—नाथूराम शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० रामनरेश त्रिपाठी, लाला भगवानदीन आपकी रचनाएँ जोशीली, फड़फड़ाती हुई मुंशियाना तर्ज में हैं। भाषा में चलते हुए अरबी, फारसी के शब्द मिल जाते हैं। रूपनारायन पाण्डेय ब्रज और खड़ीबोली में रचना किये। पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ब्रजभाषा और खड़ीबोली में काव्य करते रहे।

नयी धारा का तृतीय उत्थान वर्तमान काव्यधारा ही है, जिसका प्रारम्भ संवत् १९७५ से होता है। खड़ीबोली का उत्तरोत्तर विकास होता रहा। गुप्त जी तथा गोपालशरण सिंह ने इसको खूब माँजा। अतुकांत कविताओं का प्रारम्भ भी इसी काल में हो जाता है। इस काल में खड़ीबोली के भीतर काव्यत्व का अच्छा स्फुरण हुआ। छायावाद की हिन्दी लाक्षणिक और व्यञ्जक गुणों से युक्त है। गुप्त जी के भी कुछ पद छायावादी हैं। भाषा चित्रमय, सजीव, मार्मिक, भावप्रधान, अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली तथा बंगला से प्रभावित है। अंग्रेजी की लाक्षणिकता से अनेक शब्द आये—कनक प्रभात, विचारों में बच्चों की साँस, स्वर्णमय प्रथम मधुवाल, तारिकाओं की तान, स्वप्निल कांति। भाषा की वक्रता, विरोधी चमत्कार, कोमल पदविन्यास आदि प्रमुख विशेषताएँ हैं। छायावादी भाषा से शुक्ल जी को संतोष नहीं है। छायावादी लाक्षणिकता से आपको घनानन्द की लाक्षणिकता अच्छी लगती है।

इस काल में भी ब्रजभाषा काव्य की परम्परा चलती रही। कवि सम्मेलनों में इसका उपयोग खूब हुआ। स्वयं शुक्ल जी अपनी रचना 'बुद्धचरित' ब्रजभाषा में रचकर संवत् १९७९ में प्रकाशित कराये। वियोगी हरि को 'वीर सतसई' पर मंगला पारितोषिक भी मिला। दुलारेलाल भार्गव, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रायकृष्णदास और उमेश की भाषा में परिष्कार की आवश्यकता पर बल दिया है।

द्विवेदी-काल में प्रवर्तित खड़ीबोली की काव्यधारा में गोपालशरण सिंह, अनूप शर्मा, जगदम्बाप्रसाद 'हितैषी', श्यामनारायण पाण्डेय, पुरोहित प्रतापनारायण और तुलसी राम शर्मा हैं। इनमें अन्तिम कवि को छोड़कर शेष की भाषा परिमार्जित खड़ीबोली है।

छायावादी काव्य में उक्त विशेषताओं के साथ-साथ संगीतात्मकता, नयी उपमाएँ, प्रतीक-विधान तथा अप्रस्तुत योजना भी है। इस काल के प्रमुख कवि हैं—जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा। प्रसाद जी पहले ब्रजभाषा में काव्य करते थे; 'चित्रधार' काव्यसंकलन ब्रजभाषा में ही हैं। संवत् १९७० से

ये खड़ीबोली में आये। आपकी भाषा रहस्यात्मक, परिमार्जित तथा मधुमती भूमिका से युक्त है। पंत जी की भाषा चित्रमयी, रहस्यात्मक और संगीतात्मकता से पूर्ण है। चित्रमयी भाषा, लाक्षणिक वैचित्र्य और अप्रस्तुत विधान की विशेषताएँ प्रचुर परिमाण में मिल जाती हैं। 'वीणा' और 'पल्लव' संग्रहों में अंग्रेजी भाषा के लाक्षणिक प्रयोग अधिक संख्या में मिल जाते हैं। कहीं-कहीं आरोप और अध्यवसान व्यर्थ और अशक्त हैं; केवल चमत्कार-वक्रता के लिए रखे गये प्रतीत होते हैं। शब्दों का मनमाने लिंगों में प्रयोग भी मिलता है। कहीं-कहीं वैचित्र्य के लिए एक ही प्रयोग में दो लक्षणाएँ गुंफित पायी जाती हैं, कहीं-कहीं दो अप्रस्तुत भी एक में उलझे हुए हैं। इसी प्रकार दो-दो उपमान एक में उलझे हुए प्राप्त होते हैं, जैसे—'गुञ्जन' में। पर कहीं साम्य बहुत सुन्दर और व्यञ्जक है। व्यवहार की सुगमता के लिए कुछ रचे गये अलग-अलग शब्द कभी-कभी मन से दूर हो जाते हैं। चित्रमयी भाषा सर्वत्र है। लाक्षणिक भाषा तथा रूपक आदि का सफल प्रयोग है। 'निराला' की भाषा संगीतात्मक, बंगला से प्रभावित तथा समास में गुंफित पदवल्लरी से युक्त है। कहीं-कही क्रियापदों का लोप है। लाक्षणिक वैलक्षण्य को लाने की प्रवृत्ति इनमें प्रसाद और पन्त से अधिक है। कुछ रचनाओं की भाषा बिलकुल बोलचाल की है। प्रबन्धात्मक रचनाओं की भाषा तत्सम पदावली से युक्त है, जैसे—राम की शक्ति-पूजा। इनकी भाषा में व्यवस्था की कमी प्रायः रहती है; अर्थ या भाव को व्यक्त करने में बहुत ढीली पड़ जाती है। महादेवी वर्मा के गीतों की भाषा स्निग्ध, प्राञ्जल और प्रवाह से युक्त है। इसके बाद खड़ीबोली हिन्दी की स्वच्छन्द धारा चल पड़ती है।

हिन्दी विभाग,
रणवीर रणञ्जय स्नातकोत्तर-
महाविद्यालय, अमेठी, सुलतानपुर
उ० प्र०

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का शब्दार्थ-विवेचन

डॉ० जगदीश्वर प्रसाद

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस और शब्द-विधान को साहित्यालोचन के एक प्रतिमान के रूप में स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि इन दोनों तत्त्वों का समावेश उन्होंने काव्य की परिभाषा में भी कर लिया है। काव्य एक प्रकार का भावयोग है। यह आत्मा की मुक्ति के लिए किया गया शब्द-विधान है।[1] उनकी धारणा थी कि साहित्य की वास्तविक आलोचना शब्द-शक्ति और रस-पद्धति का आधार मानकर ही हो सकती है। इन दोनों तत्त्वों की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है कि "शब्द-शक्ति और रस-पद्धति का निरूपण तो और गम्भीर है। उसकी तह में एक ऐसे स्वतंत्र और विशाल समीक्षा भवन के निर्माण की संभावना छिपी हुई है, जिसके भीतर जाकर हम सारे संसार के सारे साहित्य की आलोचना अपने ढंग से कर सकते हैं।"[2]

रस-तत्त्व की उपयोगिता इस तथ्य में है कि यह भाव-तत्त्व को उसकी पूर्ण सघनता में ले जाकर मनुष्य को आह्लादित करने के साथ-साथ उसकी आन्तरिक वृत्तियों के परिष्कार में सहायक भी बनता है। कविता भाव-योग है, हृदय की मुक्ति का साधन है और शब्द-विधान हृदय को रस-दशा में पहुँचाने में सहायक होता है।

'रस मीमांसा' चिन्तामणि', के निबन्धों तथा कवियों पर की गयी आलोचनाओं में उन्होंने शब्द-तत्त्व और उसके विनियोगात्मक रूप पर जो विचार व्यक्त किये हैं, उससे स्पष्ट हो जाता है कि शब्द की गरिमा और उसकी विनियोगात्मक संभावनाओं के प्रति वे कितने जागरूक थे।

भारतीय काव्य-शास्त्र में शब्द-शक्ति, रीति, गुण, अलंकार तथा ध्वनि-तत्त्व में शब्द और अर्थ-तत्त्व का विश्लेषण किस सूक्ष्मता से हुआ है, न्याय, मीमांसा, तथा व्याकरण जैसे

---

१. 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की मुक्ति की इसी साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती है, उसे कविता कहते हैं।' चि० म० प्र० भाग, पृ० १४१।

२. चिन्तामणि, द्वि० भा०, पृ० ९५।

ग्रन्थों में शब्द की नित्यता-अनित्यता, शब्द और अर्थ की प्रकृति तथा उसके सम्बन्धों, शब्द की बहुतन्मयता इत्यादि पर कितना गंभीर विवेचन हुआ है, इसे उन्होंने परखा था। रिचर्ड्स जैसे पाश्चात्य-आलोचकों ने साहित्यालोचन में शब्दार्थ प्रयोग की जो कसौटी निर्धारित की थी, उसका भी प्रभाव शुक्ल जी पर पड़ा था।

शुक्ल जी की शब्दार्थ सम्बन्धी धारणा इन सिद्धान्तों से प्रभावित तो है ही, इसमें अनेक मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं। काव्यात्मक अभिव्यक्ति का मूल अर्थाभिव्यक्ति के लिए शब्द की सही पकड़ है। भाव की गहराई में पहुँच कर उसे उसकी पूर्ण अर्थवत्ता में व्यक्त करने में शब्द का उचित प्रयोग ही समर्थ होता है। कुन्तक ने ठीक ही कहा है कि अनेक पर्यायवाची शब्दों के होते हुए भी एक भाव का व्यञ्जक एक ही शब्द हो सकता है। शुक्ल जी साहित्यालोचन की आधारशिला, शब्द की ऐसी ही पहचान और प्रयोग को बनाना चाहते थे।

शब्द को अभिव्यक्ति का निकष मानते हुए उन्होंने इसका विवेचन सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों धरातलों पर किया है। सैद्धान्तिक धरातल पर शब्द सम्बन्धी उनकी धारणाएँ मुख्यतः 'रसमीमांसा' के परिशिष्ट में शब्द-शक्ति के सम्बन्ध में दी गयी टिप्पणियों के रूप में मिलती हैं; जिसे वे कदाचित् स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में विकसित करना चाहते थे, किन्तु असमय ही कालकवलित हो गये। इन टिप्पणियों में उन्होंने शब्द की अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना और तात्पर्य वृत्तियों पर मौलिक ढंग से विचार किये हैं और अनेक परंपरागत धारणाओं पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाये हैं। उदाहरणार्थ, संकेत ग्रहण पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि संकेत-ग्रहण दो प्रकार का होता है—अर्थ ग्रहण और विम्बग्रहण। काव्यशास्त्रों में अर्थ-ग्रहण पर तो विचार किया गया है, किन्तु बिम्बग्रहण पर विचार नहीं किया गया।[1] इसी क्रम में उन्होंने काव्य में व्यंग्य अर्थ की अपेक्षा वाच्य अर्थ को प्रधान माना है। लक्षणा और व्यञ्जना पर भी उन्होंने ऐसी ही अनेक मौलिक उद्भावनाएँ रखी हैं, जो काव्यसम्बन्धी उनकी धारणाओं के अनुरूप हैं।[2]

शब्दतत्त्व का प्रायोगिक विवेचन

शब्द-तत्त्व के प्रयोग पक्ष की महत्ता का उद्घाटन करने वाले प्रथम आचार्य शुक्ल जी हैं। उन्होंने देखा था कि काव्य में लक्षणा के अमर्यादित प्रयोग के कारण अर्थ की अभिव्यक्ति में अस्पष्टता आती जा रही है, अर्थ-बोध धूमिल होता जा रहा है। लक्षणा का मर्यादित प्रयोग जहाँ भाषा को समृद्ध बनाता है, अभिव्यक्ति की नूतन भंगिमाओं के द्वार खोलता है, वहाँ इसका अनियंत्रित प्रयोग इसके स्वस्थ विकास के लिए घातक है। शब्द के ऐसे प्रयोगों को नियंत्रित करने के अतिरिक्त उन्होंने काव्य-भाषा के लिए प्रतिमान भी निर्धारित किये।

---

१. रस मीमांसा, शब्द-शक्ति पर टिप्पणी।

२. वही, पृ० ३४।

बिम्बग्रहण काव्य-भाषा का आवश्यक प्रतिमान है। काव्य में अर्थग्रहण से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। काव्य में गोचररूपों का विधान अधिक होता है। अगोचर बातों को भी कविता गोचररूप में रखने का प्रयत्न करती है। इसके लिए वह लक्षणाशक्ति से काम लेती है। जैसे, 'समय बीतता जाता है' की अपेक्षा 'समय भागा जाता है' कहना अधिक चित्रात्मक होगा, क्योंकि इससे भागने का एक चित्र आँखों के आगे उपस्थित हो जाता है। अतः वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक अनुभूति की अनुरूप व्यञ्जना के लिए लक्षणा का बहुत कुछ सहारा कवि को लेना पड़ता है।

भाषा में चित्रात्मकता लाने के लिए वे रूप-व्यापारसूचक शब्दों की अधिकता को आवश्यक मानते हैं। भावना को मूर्त्त रूप देने की आवश्यकता के कारण कविता में जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापारसूचक शब्द अधिक रहते हैं। जाति संकेत का बोध कराने वाले शब्द से किसी वस्तु के सामान्य व्यापार मात्र का बोध होता है और दूसरे से उसकी विशेष क्रियाओं का। उदाहरणार्थ, 'अत्याचार' एक सामान्य व्यापार-बोधक शब्द है जिससे मारना, पीटना, लूटना इत्यादि अनेक क्रियाओं का एक सामान्य चित्र उपस्थित होता है। ऐसे शब्दों से बिम्बग्रहण होता है। हत्या, लूटपाट इत्यादि विशेष व्यापारबोधक शब्द हैं। ऐसे शब्दों से अत्याचार का पूरा चित्र उपस्थित हो जाता है। वर्णन में चित्रात्मकता लाने के लिए अत्याचार जैसे सामान्य जातिबोधक शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा हत्या, लूटपाट जैसे विशेष व्यापारबोधक शब्दों की अपेक्षा होती है। इसीलिए काव्य में पारिभाषिक तथा साम्प्रदायिक शब्दों का प्रयोग भी उचित नहीं होता।

चित्रात्मकता लाने के लिए उनका सुझाव है कि व्यक्ति के नामों के स्थान पर उसके रूप, गुण या कार्यबोधक शब्दों का प्रयोग होना चाहिए। प्रायः एक ही व्यक्ति के कई नाम होते हैं, पर जो नाम जिस प्रसंग में आवश्यक हो, उसी का प्रयोग उस प्रसंग में होना चाहिए। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति यदि किसी अत्याचार से छुटकारा पाना चाहता हो तो ऐसे प्रसंग में कृष्ण को गोपिकारमण, वृन्दावनबिहारी कहने की अपेक्षा मुरारि अथवा कंसनिकन्दन कहना अधिक उपयुक्त होगा।

काव्यभाषा का दूसरा प्रमुख गुण नाद सौष्ठव है। उक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिए चित्रविधान के साथ-साथ नाद-सौन्दर्य का होना भी आवश्यक है। नाद-सौन्दर्य लाने के लिए कविता संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है। श्रुतिकटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्त-विधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद-सौन्दर्य के साधन हैं। शुक्ल जी के शब्दों में नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है।

अर्थ-विवेचन

अर्थ के सम्बन्ध में भी शुक्ल जी ने अनेक मौलिक उद्‌भावनाएँ रखी हैं। अर्थ, शब्द का विषय होता है। उन्होंने इसके चार भेद किये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध और

कल्पित। ये क्रमशः प्रत्यक्ष जगत्, दर्शन और विज्ञान, इतिहास तथा काव्य से सम्बद्ध हैं। दर्शन इत्यादि में शब्द का प्रयोजन अर्थबोध मात्र होता है। काव्य में इसका प्रयोजन भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरञ्जन भी होता है। काव्य के अर्थ में भावोन्मेष अथवा कौतूहल में से किसी एक का होना आवश्यक है।

काव्य में अर्थ-प्रकृति के सम्बन्ध में शुक्ल जी की सबसे महत्त्वपूर्ण उद्भावना है— वाच्य अर्थ की प्रधानता। लाक्षणिक तथा व्यञ्जना प्रधान प्रयोगों में भी चमत्कार इसके द्वारा निर्दिष्ट वाच्य अर्थ का होता है। 'जीकर हाय पतंग मरे क्या' अथवा 'आप अवधि बन सकूँ तो क्या कुछ देर लगाऊँ, मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ' इत्यादि लक्षणा अथवा व्यञ्जना प्रधान वाक्यों में 'जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगे', अथवा 'उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है' इत्यादि लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ में नहीं, बल्कि जीकर मरने अथवा उर्मिला जब आप मिट जायगी तब अपने प्रिय लक्ष्मण को लायगी कैसे' रूप अनुपपन्न वाच्यार्थ में है।

लाक्षणि प्रयोगों का महत्त्व

धारणा से अभिधावादी होते हुए भी शुक्ल जी लक्षणा के प्रबल समर्थक थे। इसे वे शब्द की व्यञ्जक-क्षमता को बढ़ाने का आवश्यक आधार मानते थे। छायावादी काव्य में लाक्षणिक प्रयोगों के कारण अभिव्यञ्जना की जिन नूतन सरणियों का विकास हुआ उसकी उन्होंने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। उनके शब्दों में—"लक्षणा शक्ति के सहारे अभिव्यञ्जना-प्रणाली या काव्यशैली का बहुत अच्छा विकास हुआ।"[१]

परंपरागत रूढ़ प्रणालियों से लाक्षणिक प्रयोगों की भिन्नता दिखाते हुए शुक्ल जी ने लिखा है कि लक्षणा शक्ति के चमत्कार का क्षेत्र अब तक अनुद्घाटित था। कुछ रूढ़ लक्षणाएँ मुहावरों के रूप में मिल जाती थीं। रस तथा ध्वनि पर बल देने के कारण व्यञ्जना की प्रधानता सर्वत्र स्वीकृत की गयी थी, लक्षणा का प्रयोग गौण था। चमत्कार के लिए अलंकारों का ही विधान अधिकतर होता था। किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में इनके अतिशय प्रयोग से कविता भाराक्रान्त तथा भद्दी हो जाती है। इसके अतिरिक्त अलंकार बहुत अधिक जगह ले लेते हैं और भावना को बहुत दूर तक साँचे में बन्द किये रहते हैं। बहुत से स्थलों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि के बँधे लम्बे-चौड़े क्षेत्रों की अपेक्षा लक्षणा से बहुत अधिक रमणीयता और वाग्वैचित्र्य का सम्पादन हो जाता है। लाक्षणिकता के सम्यक् और स्वाभाविक विकास द्वारा भाषा भावक्षेत्र और विचार के क्षेत्र में बहुत दूर तक बहुत ऊँचाई तक प्रकाश फेंक सकती है।[२]

लक्षणा का सर्वप्रमुख कार्य काव्य में चित्रात्मकता, मार्मिकता तथा वाग्वैचित्र्य का

१. इतिहास : रा० चं० शु०, पृ० ६५४।

२. चिंतामणि : दूसरा भाग, पृ० १५३।

विधान है। काव्य में केवल अर्थग्रहण से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह कार्य लक्षणा द्वारा सम्पन्न होता है। सूक्ष्म भावना के मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण में भी लक्षणा सहायक होती है। उदाहरणार्थ, लोभ से चंचल मन को यदि कहा जाय कि किसी ओर लपक रहा है तो उसकी वृत्ति का स्वरूप गोचर होकर सामने आ जाता है।'[1]

काव्य-भाषा के लाक्षणिक महत्त्व के प्रतिपादन के अतिरिक्त इसके प्रयोग के लिए कुछ सीमाएँ भी उन्होंने निर्धारित की हैं। लक्षणा का प्रयोग अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल होना चाहिए। उनकी स्थापना है कि हिन्दी के लाक्षणिक प्रयोग अंग्रेजी और बंगला के लाक्षणिक प्रयोगों से प्रभावित हो रहे हैं। उन्होंने अनुभव किया कि हिन्दी में वहाँ के लाक्षणिक प्रयोगों के शाब्दिक अनुवाद कर देने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इसी अन्धानुकरण के परिणामस्वरूप हिन्दी में मधुमय जीवन, सुवर्णस्वप्न, स्वप्न अनिल जैसे अनियंत्रित प्रयोग चल पड़े हैं। उनके शब्दों में एक भाषा के प्रयोग दूसरी भाषा में रख दिये जायँ तो ऐसा ही तमाशा खड़ा हो जाता है। अतः अंग्रेजी की लाक्षणिक प्रगल्भता से हिन्दी का प्रभावित होना तो स्वाभाविक है, किन्तु उसका अन्धानुकरण उचित नहीं। प्रयोग अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल होना चाहिए।

लाक्षणिक प्रयोग के प्रतिमान

लाक्षणिक प्रयोग के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने तीन प्रतिमान निर्धारित किये हैं—वाद का आग्रह छोड़कर प्रकृत काव्यभूमि (विभाव का सौन्दर्य) का उद्घाटन, अपनी भाषा की प्रकृति के अनुरूप इसका प्रयोग और जिस भाव से कोई शब्द लाया गया हो, उसकी ठीक अभिव्यञ्जना उस शब्द से हो रही है या नहीं इसका विचार।[2]

इसी प्रसंग में मुहावरों के सम्बन्ध में भी उन्होंने कुछ मौलिक विचार रखे हैं। मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग हैं, पर बंधे हुए।[3] उदाहरणार्थ—'लालसा जगाना' मुहावरा का सहारा लेकर 'लालसा सोती है' का प्रयोग हो सकता है; किन्तु ऐसे प्रयोगों की एक सीमा होनी चाहिए। इसी प्रयोग को आगे बढ़ा कर यदि कहें कि लालसा आँख मलती है, करवट बदलती है अथवा अंगड़ाइयाँ लेती हैं तो ऐसा प्रयोग गुड़ियों का खेल हो जायगा।[4]

लाक्षणिक प्रयोगों के सम्बन्ध में उनकी धारणा उनके काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण से प्रभावित है। काव्य का लक्ष्य केवल उक्ति-वैचित्र्य या चमत्कार उत्पन्न करना नहीं। इसका लक्ष्य है जगत् की नाना वस्तुओं और व्यापारों को इस रूप में रखना कि वे हमारे

---

१. चिन्तामणि, पृ० ६७।

२. वही, पृ० १४९।

३. वही, पृ० १४९।

४. वही, पृ० १५३।

भाव-केन्द्र के भीतर आजायँ। अतः लाक्षणिक चमत्कार का उद्देश्य है निहित भाव में चमत्कार लाना। जहाँ काव्य का उद्देश्य केवल लाक्षणिक चमत्कार हो जाता है, वह अपने प्रकृत उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाती। वहाँ वह मनोरंजन का साधन मात्र बन जाती है। अतः केवल लाक्षणिक चमत्कार, केवल उक्ति काव्य नहीं है, ऐसा कहकर उन्होंने छायावाद में केवल उपमानों का ढेर खड़ा करने अथवा केवल चमत्कार विधान में ही काव्य मान लेने की प्रवृत्ति का तीव्र खण्डन किया है।

उनके अनुसार लाक्षणिक प्रयोगों में रूढ़िबद्ध अलंकार योजना की अपेक्षा चित्र-विधान की अधिक क्षमता है। छायावाद के माध्यम से लक्षणाप्रधान शिल्प के प्रवर्तन से हिन्दी साहित्य में अन्योक्तिप्रधान काव्य धारा का सूत्रपात हुआ। हिन्दी के लिए यह शैली नयी थी। अब तक रस की प्रधानता स्वीकृत रहने के कारण व्यञ्जना ही काव्य की मुख्य वृत्ति थी। काव्य का विभाजन इसी की प्रधानता अथवा अप्रधानता की दृष्टि से हुआ था। किन्तु बंगला तथा अंग्रेजी से प्रभावित होकर लाक्षणिक चमत्कार की ओर भी लोगों का ध्यान गया।

शुक्ल जी इस नूतन अभिव्यञ्जना-शिल्प के प्रशंसक हैं, किन्तु अन्धानुकरण की प्रवृत्ति से बचते हुए प्रकृत काव्यभूमि में इसका प्रयोग वाञ्छित मानते हैं।

निष्कर्षतः शुक्ल जी काव्यात्मक अभिव्यञ्जना में शब्द और अर्थ के महत्त्व के प्रति पूर्णतया जागरूक हैं। वे इसकी पूरी गहराई में जाकर इसकी अभिव्यञ्जना-क्षमता का विश्लेषण ही नहीं करते, इसके आधार पर एक नयी समीक्षा-पद्धति का निर्माण भी करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में स्वरूप तथा वादरहित समीक्षा का आधारशब्द शक्ति ही हो सकती है।

छायावाद के कटु आलोचक होते हुए भी वे इसका अन्धविरोध नहीं करते। इसके आगमन से जिस लक्षणाश्रित काव्य-शिल्प का प्रवर्तन हुआ, उसके वे प्रशंसक थे। इसे वे स्वस्थ विकास और दिशा देना चाहते थे।

शब्द और अर्थ के शास्त्रीय विवेचन के क्षेत्र में भी शुक्ल जी की देन कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इस विवेचन में भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों का प्रभाव तो अवश्य है; किन्तु किसी भी सिद्धान्त का अन्धानुकरण नहीं करके उन्होंने उसमें पर्याप्त संशोधन करने तथा तर्कसंगत रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया। इस प्रसंग में काव्य में वाच्य अर्थ की प्रधानता, बिम्बग्रहण सम्बन्धी उद्भावना, लक्षण-प्रयोग के प्रतिमान का निर्धारण इत्यादि उद्भावनाएँ द्रष्टव्य हैं।

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
गणेशलाल अग्रवाल कालेज,
डालटनगंज (पलामू)
बिहार

आचार्य शुक्ल का काव्यशास्त्र

डॉ० ऋषिकुमार चतुर्वेदी

⊙

हिन्दी काव्यशास्त्र को रीतिकालीन लीक से हटा कर एक नूतन एवं स्वस्थ व्यवस्था प्रदान करने वाले प्रथम आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ही थे। उनके काव्यशास्त्रीय एवं आलोचनात्मक निबंधों में काव्यशास्त्र संबंधी स्वतन्त्र विवेचन, विश्लेषण एवं अनुसंधान मिलता है। शुक्ल जी के काव्यशास्त्र का स्वरूप क्या है, उसकी शक्ति क्या है और उसकी सीमाएँ क्या हैं—प्रस्तुत निबन्ध में इसी का विचार किया जायगा।

शुक्ल जी से पूर्व काव्य एवं काव्यांगों के लक्षणों और उदाहरणों का निदर्शन कर देने में ही काव्यशास्त्र की इति-श्री मान ली जाती थी। आचार्यगण अपनी मौलिकता का परिचय अलंकारों और नायिकाओं आदि के सूक्ष्मतम भेदोपभेदों का विस्तार करने में ही दिया करते थे, विवेचन-विश्लेषण में मौलिकता की परम्परा बहुत दिनों से निश्शेष हो चुकी थी। उधर पश्चिम के काव्यशास्त्र में नित्य नये वाद सामने आ रहे थे और वे भारतीय मनीषियों को भी प्रभावित एवं चमत्कृत कर रहे थे। फिर, देश में तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक पुनर्जागरण का प्रवाह उस युग की मनीषा को अभिषिक्त कर रहा था। तात्पर्य यह कि शुक्ल जी का समय घोर वैचारिक उथल-पुथल का समय था। ऐसे में पूर्व और पश्चिम, प्राचीन और नवीन के संगम पर खड़े होकर अपनी आस्थाओं की चट्टानों का निर्माण करना और उन्हें जमाना मामूली काम नहीं था। किंतु शुक्ल जी ने यह काम बड़ी दृढ़ता के साथ किया था।

शुक्ल जी ने काव्य को एक ऐसी परिभाषा प्रदान की जो नूतन होते हुए भी प्राचीन से सर्वथा कटी हुई नहीं थी। प्राचीन विवेचकों ने काव्य के आनंद को ब्रह्मास्वाद सहोदर और आत्मा के द्वारा भाग्य कहकर उसे एक आध्यात्मिक रंग दे दिया था। शुक्ल जी ने काव्यानुभूति को आत्मा से मन के स्तर पर उतारा और दोनों में अंतर स्पष्ट करते हुए कहा कि—"जैसे आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, वैसे ही हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। और हृदय की इसी मुक्ति के लिए मनुष्य की वाणी जो विधान करती आयी है, वही कविता है।[1]" शुक्ल जी के अनुसार हृदय की इस मुक्तावस्था की दो विशेषताएँ होती

---

१. रस-मीमांसा, पृ० ५।

हैं––एक तो हृदय को यहाँ पहुँचकर कुछ काल के लिए अपनी सत्ता का ज्ञान नहीं रहता और दूसरे, वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किये रहता है।[१] वास्तव में, शुक्ल जी के लिए हृदय की मुक्तावस्था ऐसी दशा है, जिसमें व्यक्ति अपनी सत्ता को भूलकर शेष सृष्टि के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करता है, जबकि प्राचीन अभिनवादि आचार्यों के लिए काव्य से प्राप्त होने वाली मुक्तावस्था संविद्विश्रान्ति की स्थिति थी––आत्मलीनता की स्थिति थी। इस अंतर का मूल कारण यही है कि प्राचीन आचार्यों की दृष्टि निवृत्तिपरक थी और शुक्ल जी ने अपने युग में उदित हुई प्रवृत्तिपरक जीवनदृष्टि को उसके संपूर्ण मर्म के साथ ग्रहण किया था। प्राचीन आचार्य भी 'निज निविड़ मोह संकटता निवारण' को काव्यास्वाद की अनिवार्य शर्त मानते हैं[२] और शुक्ल जी के लिए भी हृदय की मुक्तावस्था स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठकर लोकसामान्य भावभूमि पर पहुँचने का ही नाम है[३]। किंतु दोनों में अंतर यही है कि एक के लिए वह निजसंविद्विश्रांति की, परब्रह्मास्वाद की अर्थात् आत्मलीनता की स्थिति है[४] और दूसरे के लिए शेषसृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापित करने की स्थिति।[५]

शुक्ल जी के लिए कविता केवल आनंद की वस्तु नहीं, वह हमारे रागों का परिष्कार करने वाली वस्तु है, जीवन में सत् का संचार करने वाली वस्तु है––"कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देती है, हम सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर मोहित होने लगते हैं, कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है। हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर समस्त संसार में व्याप्त हो गया है। इस प्रकार कविता की प्रेरणा से कार्य में प्रवृत्ति बढ़ जाती है।...कविता के द्वारा हम संसार के सुख-दुःख, आनंद और क्लेश आदि यथार्थरूप से अनुभव करने में अभ्यस्त होते हैं, जिससे हृदय की स्तब्धता हटती है और मनुष्यता आती है।"[६]

प्राचीन आचार्यों ने भी कविता को निरे आनंद और संविद्विश्रान्ति की वस्तु माना हो, ऐसी बात नहीं। अभिनवगुप्त ने कहा कि––"कविता गुडप्रच्छन्न कटुकौषधिकल्प है और उसकी सहायता से 'राम की तरह आचरण करना चाहिए, रावण की तरह नहीं'––यह बात मन में इस प्रकार धँस जाती है कि सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी नहीं निकलती,[७] कुंतक ने उसे श्रम-भीरु राजकुमारादि को शिक्षा देने का उत्तम साधन माना है;[८] मम्मट ने शिवेतर की क्षति

---

१. रस-मीमासा, पृ० ६।

२. ३. के लिए दे०––हिन्दी अभिनव भारती––पृ० ४६५; ४. और ५. रस-मीमांसा, पृ० ५, ६ और आचार्य शुक्ल : प्रतिनिधि निबंध, सं०––सुधाकर पाण्डेय, पृ० ६५।

६. आचार्य शुक्ल : प्रतिनिधि निबंध, पृ० ६७, ६८।

७. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० १८७।

८. हिंदी वक्रोक्तिजीवितम् १।३, ४।

और कान्तासम्मित उपदेश करने वाला कहा है।[१] शुक्ल जी ने कविता के इन बाह्य प्रयोजनों का उल्लेख न करके उसकी उस आंतरिक शक्ति का उद्घाटन किया है जो इन सब के पीछे काम करती है और वह है संवेगों के परिष्कार और जागरण की शक्ति। इसी शक्ति से कविता में वे सारे गुण आते हैं, जिनका उल्लेख प्राचीनों ने किया है।

इस प्रकार शुक्ल जी ने कविता को हमारे जीवन की एक प्रबल आवश्यकता के रूप में स्थापित किया। उन्होंने कहा कि अगर तुम्हें रागों के परिष्कार की जरूरत है, अगर तुम्हें, मनुष्य की संवेदना को जगाने की, जीवन को गति प्रदान करने की जरूरत है, अगर तुम्हें इंसानियत की जरूरत है, तो कविता से बढ़कर और कोई साधन नहीं। दूसरे शब्दों में शुक्ल जी ने कविता को जीवन से जोड़ा। प्राचीन आचार्यों ने कविता को लोकोत्तर बनाने का प्रयास किया था। उन्होंने कहा था कि काव्यानुभूति लोकानुभूति से सर्वथा भिन्न है। इसीलिए लोकानुभूति सुखदुःखमयी है और काव्यानुभूति आनन्दमयी।[२] शुक्ल जी ने काव्यानुभूति की इस लोकोत्तरता पर भी प्रहार किया और प्रबल शब्दों में यह स्थापना की कि काव्यानुभूति और लोकानुभूति में कोई मौलिक अंतर नहीं है। लोक में भी तादात्म्य की वही अवस्था प्राप्त हो सकती है जो काव्य में मिलती है। उनके अनुसार प्रत्यक्ष, स्मृत और कल्पित—तीनों प्रकार के रूपविधान में भावों को इस प्रकार जागरित करने की शक्ति होती है कि वे रस की कोटि में आ सकें।[३] इसी प्रकार वे करुण रस की अनुभूतियों को दुःखात्मक ही मानते हैं, आनंदात्मक नहीं। उनका विचार है कि करुणरस-प्रधान नाटकों के दर्शक वास्तव में दुःख का ही अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त अवस्था में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।[४]

प्राचीन आचार्यों ने रस की लोकोत्तरता और अनिवार्य आनंदमयता सिद्ध करने के लिए साधारणीकरण के सिद्धांत की कल्पना की थी। साधारणीकरण को शुक्ल जी ने भी मान्यता प्रदान की, किन्तु उन्होंने उसकी व्याख्या इस प्रकार की जिससे उनकी हृदय प्रसार वाली धारणा की पुष्टि हो सके। साधारणीकरण के प्रणेता भट्टनायक के लिए साधारणीकरण का अर्थ था—विभावादि का साधारण हो जाना[५]—अर्थात् सीता का सीता न रह कर रमणी सामान्य और राम का राम न रह कर रतिमुग्ध पुरुष सामान्य हो जाना। बाद में विश्वनाथ ने साधारणीकरण में नायक के साथ सहृदय के तादात्म्य की बात भी जोड़ दी।[६] पण्डितराज जगन्नाथ ने साधारणीकरण पर पहली बार प्रश्नचिह्न लगाया और कहा कि

---

१. काव्यप्रकाश, प्रथम अध्याय।

२. रस-मीमांसा, पृ० २६०।

३. वही, पृ० २७०।

४. हिं० अ० भा०, पृ० ४६५।

५. साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक ९, १०।

६. रस गंगाधर, पृ० १०१, १०५।

प्राचीन आचार्यों ने विभावादिकों का साधारण होना लिखा है, उसकी सिद्धि भी बिना किसी दोष कल्पना के संभव नहीं, क्योंकि काव्य में शाकुंतलादि का बोध हमें शकुंतलादि के रूप में ही होता है, केवल स्त्री के रूप में नहीं। अतः सही बात तो यह है कि कल्पित दुष्यंतत्व से आच्छादित होकर हम थोड़ी देर के लिए अपने को दुष्यंत समझने लगते हैं और तब शकुंतला विषयक रति की अनुभूति करने में हमें कोई बाधा नहीं रहती।[1]

आचार्य शुक्ल ने भी विभावादि के साधारणीकृत हो जाने की बात का खंडन किया और आलंबनत्व धर्म के साधारणीकरण की प्रतिष्ठा की। उनके अनुसार, जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्णशक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। यह सिद्धांत यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है, जिसे लोकहृदय की पहचान हो।

इस प्रकार, शुक्ल जी के अनुसार साधारणीकरण का तात्पर्य विशिष्ट पात्रों का सामान्य हो जाना नहीं है, अपितु उन विशिष्ट पात्रों में ऐसे गुणों का समावेश करना है जो सबके उसी भाव का आलंबन बन सके। इसीलिए शुक्ल जी कहते हैं कि साधारणीकरण आलंबन का नहीं, आलंबनत्व धर्म का होता है। साधारणीकरण की स्थिति में शुक्ल जी ने प्राचीन आचार्यों के तादात्म्य-सिद्धांत को यथावत् स्वीकार कर लिया है और 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्तदा' की स्थिति को आदर्श एवं उत्तमकोटि की रसस्थिति स्वीकार किया है। उनके अनुसार एक अन्य रस-स्थिति मध्यमकोटि की भी हो सकती है जहाँ सहृदय आश्रय द्वारा व्यक्त भाव की अनुभूति न करके भिन्न भाव की अनुभूति करता है। जैसे, दुर्वासा को शकुंतला पर क्रोध प्रकट करते देख, सहृदय मुनि के प्रति विरक्ति, जुगुप्सा या क्रोध का अनुभव करेगा। इस दशा में उसका तादात्म्य आश्रय के साथ न होकर कवि की अव्यक्त अनुभूति के साथ होगा। इस स्थिति में, शुक्ल जी के अनुसार सहृदय एक द्रष्टा के रूप में रहता है।[2]

शुक्ल जी ने प्रथम, अर्थात् आश्रय के साथ तादात्म्य की अवस्था को उत्तमकोटि की रसदशा इसलिए माना है कि उसमें सहृदय की अपनी पृथक् सत्ता नहीं रहती और दूसरी को मध्यमकोटि की इसलिए कि उसमें सहृदय अपनी पृथक् सत्ता सम्हाले रहता है––और शुक्ल जी के लिए कविता की सफलता इसी बात में है कि वह हृदय को मुक्तावस्था में पहुँचा दे––मुक्तावस्था, जहाँ व्यक्ति की सत्ता लोकसत्ता में लीन हो जाती है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि लोकसत्ता में लीन होने की स्थिति में क्या व्यक्ति की अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया बिलकुल रुक जाती है। यह लीनता क्या बिंदु की सिंधु में लीनता है या किसी कुशल गोताखोर की लीनता है जिसमें वह गहरे पैठकर अमूल्य मोती चुन लाता

---

१. साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद––आचार्य शुक्ल, प्रतिनिधि निबंध, पृ. ११९।

२. वही, निबंध के आधार पर।

है, फिर भी उसका अपना व्यक्तित्व और उसकी भावात्मक प्रतिक्रिया वैसी ही बनी रहती है? काव्य में सहृदय की लीनता किस प्रकार की लीनता है? वस्तुतः वह सिंधु में बिंदु का विलीनीकरण नहीं है। सम्पूर्ण काव्य प्रस्तुति सहृदय की अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया का विषय बन जाती है। उसमें वह कहीं डूबता है, कहीं उतराता है, कहीं किसी भाव का अनुभव करता है। कहीं किसी भाव का। वह काव्यसत्ता में अनुप्रविष्ट होता है, लीन नहीं। वह दुष्यंत और शकुंतला के प्रेमप्रसंग में रति भाव की रसात्मक अनुभूति करता है; दुर्वासा-शाप के प्रसंग में दुर्वासा के प्रति क्रोध की अनुभूति करता है, क्योंकि उसे शकुंतला से सहानुभूति है। वह शकुंतला के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होता है। यह सब अपनी सत्ता को पूर्णतः अलग सम्हाले रहकर सम्भव नहीं। अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख से ऊपर उठकर, जब वह काव्य की दुनिया के लोगों के साथ अपने संबंध जोड़ता है तो उनके सुख-दुःख से सुखी-दुःखी होता है। इसमें उसकी अपनी भावात्मक सत्ता पूर्णतः तिरोहित भी नहीं होती और पूर्णतः अलग भी नहीं रहती। तात्पर्य यह कि काव्यानुभूति की स्थिति मुख्यतः और मूलतः तादात्म्य की नहीं, प्रतिक्रिया की स्थिति है। प्राचीनों ने तादात्म्य पर ज़ोर दिया था और सहृदय की अपनी प्रतिक्रिया को काव्यास्वाद में विघ्न माना था।[१] आचार्य शुक्ल ने सहृदय की अपनी प्रतिक्रिया को रस के अंतर्गत माना तो, किंतु तादात्म्य की स्थिति की अपेक्षा निम्नकोटि का माना।

शुक्ल जी ने साधारणीकरण की भट्टनायक वाली व्याख्या को अस्वीकार इसलिए कर दिया क्योंकि उनके अनुसार, "काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं।"[२] शुक्ल जी ने अपनी इस धारणा की पुष्टि क्रोचे का एक उद्धरण देकर की है जिससे प्रतीत होता है कि इस सिद्धान्त के निर्माण में उन पर पश्चिमी चिंतन का प्रभाव भी पड़ा। शुक्ल जी को यह धारणा इतनी प्रबल थी कि उन्होंने इसी आधार पर कबीर को बहुत महत्त्व नहीं दिया क्योंकि उनके काव्य का विषय विशेष न होकर, सामान्य ही है। सिद्धों और योगियों के साहित्य पर उनकी यह टिप्पणी द्रष्टव्य है--"उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं। वे सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं।"[३] 'कामायनी' में भी उन्हें यही कमी खटकी थी।[४] तात्पर्य यह कि शुक्ल जी काव्य का उद्देश्य मानते हैं--हृदय की मुक्तावस्था। यह मुक्तावस्था तभी प्राप्त हो सकती है, जब किसी काव्य में ऐसी सामान्य भावभूमि का उपस्थित कर देने की शक्ति हो, जो सभी सहृदयों का विषय बन सके

---

१. दे० अभिनवगुप्त द्वारा. कथित सात प्रकार के विघ्नों में 'स्वगतत्वपरगतत्व-नियमेन देशकालविशेषावेशः।--हिं० अ० भा०, पृ० ४७४।

२. साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २१।

४. वही, पृष्ठ ६९३।

और उन्हें लोकहृदय में लीन कर सके। यह भावभूमिका तभी उपस्थित हो सकती है जब जीवन की विविध स्थितियों और विशिष्ट पात्रों की कल्पना द्वारा कवि जीवन का एक बिंब उपस्थित करे, जीवन के बीच भावनाओं और कर्मों का प्रसार दिखाकर लोकमंगल की सृष्टि करे।

सहृदय सामान्य को जिस भावभूमि पर पहुँचाने में शुक्ल जी ने कविकर्म की चरितार्थता मानी है, उसमें संवेगों की प्रधानता है। शुक्ल जी वस्तुतः भाव को संवेग (एमोशन) का अपर पर्याय मानते हैं। वे 'भाव' की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—"प्रत्यय बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति—इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है।"[1] प्रत्ययबोध से उनका तात्पर्य चेतना के भीतर किसी आलंबन की प्रतिष्ठा से है, अनुभूति का मतलब चेतना की सुखात्मक या दुःखात्मक प्रतिक्रिया से है और वेगयुक्त प्रवृत्ति से उनका आशय मन के भीतर उठने वाले उस आवेग से है, जो किसी कर्म के लिए प्रेरित करता है। स्पष्ट ही ये 'संवेग' के लक्षण हैं।

शुक्ल जी के अनुसार, साहित्य में जिन्हें भाव कहते हैं, उनकी तीन दशाएँ मिलती हैं—भावदशा, स्थायीदशा और शीलदशा।[2] भावदशा में आवेग की प्रधानता रहती है, स्थायीदशा में भाव धीरे-धीरे स्थिर होकर चित्त में घर कर जाता है और शीलदशा में वह स्वभाव का एक अंग ही बन जाता है। उदाहरण के लिए, क्रोध की भावदशा में व्यक्ति वेगयुक्त संकल्प से युक्त हो जाता है, उसकी मुट्ठियाँ बँध जाती हैं और आँखें लाल हो जाती हैं, वह विपक्षी पर आक्रमण कर बैठता है, या कम से कम, उसके लिए तैयार हो जाता है। किन्तु क्रोध की स्थायीदशा बैर है। वहाँ आवेग नहीं होता; व्यक्ति खूब संयत होकर वैरी से बदला लेने की योजना बनाता है। क्रोधशीलता, उग्रता या चिड़चिड़ापन क्रोध की शीलदशा है। ऐसे व्यक्ति के स्वभाव में ही क्रोध बस जाता है।

शुक्ल जी मानते हैं कि काव्य में इन तीनों भावदशाओं का रसात्मक वर्णन हो सकता है, किन्तु हमारे काव्यशास्त्र में रस के अन्तर्गत केवल प्रथम का ही विचार किया गया है। इसका कारण यह है कि रस-निष्पत्ति के लिए अनुभाव आवश्यक माने गये हैं और अनुभावों की स्पष्ट प्रतीति केवल भावदशा में ही संभव है।

स्थायी और संचारी भावों का जो विभाजन हमारे काव्यशास्त्र में पाया जाता है, उसके संबंध में शुक्ल जी का मत है कि जो भाव ऐसे हैं, जिन्हें किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का अनुभव कर सकते हैं, वे तो स्थायीभावों में रखे गये हैं और ऐसे भाव जिन्हें किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता उन भावों की अनुभूति न करके किन्हीं अन्य भावों की अनुभूति करता है, उन्हें संचारी कहा गया है। जैसे रति, क्रोध, शोक आदि की अभिव्यक्ति किसी पात्र को करते देख या सुनकर

---

१. रस-मीमांसा, पृ० १६८।

२. वही, पृ० १६८।

सहृदय इन्हीं भावों में मग्न हो जायेगा, किन्तु शंका, लज्जा, ईर्ष्या, गर्व आदि की अनुभूति वह नहीं करेगा।

शुक्ल जी का उक्त भावविवेचन पर्याप्त मौलिक है। तीन भावस्थितियों की परिकल्पना करके उन्होंने परम्परागत भावविवेचन को निस्संदेह अधिक व्यापकता और स्पष्टता प्रदान की है। किन्तु उनके इस विवेचन में तीन बातें विशेषरूप से चित्य हैं—पहली बात है उनकी भाव की परिभाषा। प्राचीनों ने 'भाव' को 'काव्यार्थ' या कवि के अंतर्गत भावों को पर्याय ही माना है,[1] किन्तु शुक्ल जी उसे केवल 'एमोशन' या संवेग में सीमित कर देना चाहते हैं। इसीलिए संचारीभावों में भरत मुनि ने निद्रा, स्वप्न, विवोध, आलस्य, मूर्च्छा आदि शारीरिक स्थितियों को और मति, धृति आदि बौद्धिक व्यापारों को भी रखा है। किन्तु शुक्ल जी कहते हैं कि—"चकपकाहट, घबराहट, सोने या टहलने को जी करना आदि आलंबन-प्रधान न होने से भाव नहीं हैं।" पहली बात तो यह है कि आलंबन सदा मूर्त्त ही हो, यह आवश्यक नहीं, कोई भाव या विचार भी दूसरे भाव या विचार का आलंबन हो सकता है। आलंबन का अर्थ है 'विभाव' और भरत मुनि के अनुसार 'भाव' जिसके द्वारा ले आये जाते हैं, वह विभाव होता है।[2] अतः चकपकाहट, घबराहट आदि का भी कोई न कोई कारण होना चाहिए। 'त्रास' नामक संचारीभाव की शास्त्रोक्त परिभाषा देखें तो वह 'घबराहट' से बहुत भिन्न नहीं है। दूसरी बात यह कि भरत मुनि ने अश्रु, स्वेद, रोमांच आदि सात्विकों को भी 'भाव' की संज्ञा दी है। भरतोक्त आठ स्थायीभाव अवश्य 'एमोशन' की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं, किन्तु 'भाव' शब्द एमोशन का पर्याय कभी नहीं हो सकता। इसी प्रसंग में एक बात यह भी ध्यातव्य है कि शुक्ल जी स्थायीभावों में भी, संभवतः सबको रसात्मक नहीं मानते और यदि मानते भी हैं तो केवल कविता में ही रसात्मकता स्वीकार करते हैं, गद्य में नहीं। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि घटना-वैचित्र्यपूर्ण कहानियाँ, जिन्हें लोग रात-रात भर सुनते रह जाते हैं, रसात्मक नहीं कही जा सकतीं। वे मनोरंजक तो होती हैं, रसात्मक नहीं।[3] किन्तु क्या इन कहानियों का अंगीभाव 'विस्मय' और 'अंगीरस', 'अद्भुत' नहीं होता ? 'अद्भुत' में व्यक्ति के मन को बोध लेने की अद्भुत शक्ति न होती तो विश्वनाथ कविराज ने अपने पितामह का प्रमाण देकर 'सर्वाप्यद्भुतोरसः' न कहा होता। इसी प्रकार चमत्कारपूर्ण सूक्तियों की बात भी है। शुक्ल जी ने उन्हें भी काव्यकोटि से बहिष्कृत करके 'काव्य' और 'सूक्ति' ये दो विभाग कर दिये—"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे, या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य, जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचनावैचित्र्य,

---

१. (क) कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।—नाट्यशास्त्र ७।२।
(ख) वही, काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः।

२. वही; ७।१।

३. रस-मीमांसा; पृ० २७।

चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे वह है, 'सूक्ति'।" देखा जाय तो रचनावैचित्र्य और कथन का अनूठापन भी मन में भाव तो जगाता ही है, और वह भाव विस्मय का भाव है, जिसकी स्पष्ट स्वीकृति रसविधान में है। तब, शृंगारादि की रचनाओं को रसात्मक कहना और अद्भुत प्रधान रचनाओं को काव्यकोटि से बहिष्कृत कर देना किसी प्रकार उचित नहीं।

शुक्ल जी के भाव-विवेचन में दूसरा चिंत्य बिंदु है, स्थायी और संचारी के वर्गीकरण से सम्बन्धित तर्क। सभी स्थायीभावों की तादात्मक अनुभूति होती है और संचारियों की नहीं होती, यह नहीं कहा जा सकता। ऊपर हम देख चुके हैं कि दुर्वासा के क्रोध के प्रति सहृदय की अनुभूति तदात्मक न होकर प्रतिक्रियात्मक ही होती है, यह बात शुक्ल जी भी मानते हैं। और क्रोध, तो स्थायीभाव है। इसी प्रकार, 'संशय' संचारी भाव है किन्तु राम के 'मम मन सीता आश्रम नाहीं'—इस संशयपूर्ण वचन के साथ क्या सहृदय का मन भी संशय से नहीं भर उठता। प्रसाद की 'हमारा प्यारा भारतवर्ष' कविता पढ़कर क्या हमें भी 'गर्व' की अनुभूति नहीं होती ?

शुक्ल जी के भावविवेचन में तीसरा चिंत्य बिंदु है, अनुभाव से संबंधित। ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्ल जी अनुभाव को केवल आंगिक चेष्टाओं तक ही सीमित मानते हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि अनुभाव विधान केवल 'भावदशा में ही स्पष्ट होता है, स्थायीदशा या शीलदशा में नहीं। किन्तु अनुभाव तो 'भाव' का अभिव्यञ्जक तत्त्व है। यह अभिव्यञ्जना आंगिक चेष्टाओं द्वारा भी हो सकती है और वचनभंगिमाओं द्वारा भी। अतः अनुभावविधान तो शीलदशा और स्थायीदशा दोनों में स्पष्ट होता है, अन्यथा इन दशाओं की अभिव्यक्ति ही संभव नहीं। प्राचीन काव्यशास्त्र में इन दशाओं की स्पष्ट स्वीकृति भले न हो किन्तु इनका समावेश तो है ही। नायकों के धीरोदात्त आदि भेद भावों की शीलदशा के ही नाम हैं।

भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए शुक्ल जी दो बातें आवश्यक मानते हैं—चुने हुए व्योरों की कल्पना और भाषा के नूतन लाक्षणिक मूर्तविधान द्वारा उनकी अभिव्यक्ति।[१] तात्पर्य यह कि कवि पहले ऐसे भावों का चुनाव करता है जो सभी सहृदयों की अनुभूति का विषय बन सकें, फिर उनके उपयुक्त विभावयोजना या वस्तुविधान करता है और इसके बाद लाक्षणिक शब्दयोजना द्वारा उनकी अभिव्यक्ति करता है। काव्यरचना के इन तीन मौलिक और तात्त्विक सोपानों को शुक्ल जी की अतलस्पर्शिनी दृष्टि ने उद्घाटित किया, इसे उनकी एक बड़ी देन कहा जा सकता है।

शुक्ल जी का दृढ़ विचार है कि कविता में कही हुई बात मूर्तरूप में हमारे सामने आनी चाहिए। "अगोचर बातों या भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्त विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा

---

१. रसमीमांसा पृ० २९१।

शक्ति से काम लेती है।"[१] इस लाक्षणिकता को और अधिक मार्मिक बनाने के लिए शुक्ल जी आदिम रूपों और व्यापारों को अधिक समर्थ मानते हैं।[२] उनका मत है कि सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गये हैं और उनका आदिम रूप दबता चला गया है। किन्तु जटिल रूप उतना मार्मिक नहीं हो सकता जितना आदिम रूप। कवि का कार्य जटिलता की पर्तों को हटाकर मूल रागात्मिका-वृत्ति से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना है. हृदय पर पड़ी हुई कृत्रिम पर्तों को हटाकर उसके सहज रूप को उद्घाटित करना है और यह कार्य आदिम वस्तुव्यापारों द्वारा अधिक मार्मिकता से संपन्न हो सकता है। इस प्रकार, शुक्ल जी ने काव्यभाषा की अनिवार्य विशेषताओं को रेखांकित किया है और वे विशेषतायें हैं--लाक्षणिकता, चित्रात्मकता और आदिम वस्तुव्यापारों की योजना। इन विशेषताओं को शुक्ल जी ने अनेक प्रकार से समझाया है, जैसे एक स्थान पर काव्यभाषा की विशेषता बतलाते हुए वे कहते हैं--"समय बीता जाता है, यह कहने की अपेक्षा 'समय भागा जाता है' यह कहना अधिक काव्यसंगत है। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना आदि ऐसे ही कवि समयसिद्ध वाक्य हैं, जो बोलचाल में आ गये हैं।"

अलंकार और नादसौन्दर्य को शुक्ल जी वहीं तक उपयोगी मानते हैं जहाँ तक वे भावों की मार्मिकता और सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक हों। वे इनके पीछे पड़कर कविता को विकृत कर देने वाले कवियों को कभी माफ नहीं कर सके। उनकी प्रबल स्थापना है कि रस और भाव ही कविता के प्राण हैं--अलंकार, वर्णन करने की प्रणाली का नाम है। केवल अलंकारों के चमत्कार को शुक्ल जी कभी काव्य मानने के लिए तैयार नहीं।[३] संक्षेप में शुक्ल जी, सहृदय के हृदय को लोकहृदय में लीन कर देने वाले मार्मिक भावों की लाक्षणिक और चित्रमयी भाषा में कीगयी अभिव्यक्ति को ही काव्य मानते हैं। उनकी यह परिभाषा संकुचित हो सकती है, किन्तु इसके शुद्ध और टकसाली होने में संदेह नहीं। शुक्ल जी ने अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में इस निकष का प्रयोग जिस निष्ठा, निर्भीकता, सूक्ष्मता और मार्मिकता के साथ किया है, वह निश्चय ही स्पृहणीय है। यही कारण है कि शुक्ल जी आज भी हिन्दी-समीक्षा में एक मानदण्ड की तरह स्थित हैं।

काजी गली,
रामपुर-२४४९०१

●

१. रसमीमांसा पृ० ४१।
२. वही, पृ० ६।
३. कविता क्या है ? आचार्य शुक्ल : प्रतिनिधि निबन्ध।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास-दर्शन

डॉ० मृत्युञ्जय उपाध्याय

⊙

'इतिहास-दर्शन' शब्द का आविष्कार और प्रयोग सर्वप्रथम वोल्तेयर द्वारा अठारहवीं शताब्दी में मिलता है। इस शब्द से उनका तात्पर्य केवल आलोचनात्मक और वैज्ञानिक इतिहास था। हेगल और अन्य लेखकों ने उस शताब्दी के अंत में इस शब्द को विश्व इतिहास के अर्थ में प्रयुक्त किया। उन्नीसवीं शताब्दी में परीक्षणात्मक यथार्थवाद का प्रचलन हुआ और इतिहास को भी परीक्षणात्मक विज्ञानों की सूची में समाविष्ट किया गया। इस दृष्टि से इतिहास-दर्शन ऐतिहासिक घटना-चक्र में प्रच्छन्न नियमों का अनुसंधान माना जाने लगा। बीसवीं शताब्दी में इस परीक्षणात्मक दृष्टिकोण का विरोध किया गया और प्राकृतिक विज्ञानों की चिंतन-पद्धति से इतिहास के अध्ययन को भ्रांतिमूलक करार दिया गया। इतिहास-दर्शन के बारे में हम किसी भी मत को स्वीकार करें, पर इतना मानना पड़ेगा कि--"मानवता के अतीत के अनुसंधान के अपरिमित विस्तार को किसी नियमित आधार पर सज्जित करके मानव कार्यकलाप के विशाल क्षितिज को एक समन्वयात्मक दृष्टि से देखना आवश्यक है। इस विचारधारा के अनुसार अध्ययन की दिशा वैयक्तिक तथ्यों के स्थान पर सार्वजनिक प्रवृत्तियों की ओर बदल जाती है।"[1] दिनानुदिन घटनाएँ घटती रहती हैं और आन्दोलनों की श्रृंखलाओं की कड़ियों का महत्त्व ग्रहण करती जाती हैं। मानव-क्रिया व्यापार अनंत है और उसमें अगणित जटिल सामाजिक सम्बन्ध-भावनाएँ निहित रहती हैं। जैसे-जैसे हमारे ज्ञान और अनुभव की परिधि बढ़ती जाती है, वे सम्बन्ध सूत्र स्पष्टतया हमारे दृष्टि-पथ पर आने लगते हैं। ऐतिहासिक गवेषणा के उन्नतिशील विस्तार और व्यापकता के साथ-साथ घटनाएँ जीवन के जटिल, दुरूह और अक्षुण्ण प्रवाह में विलीन होती जाती हैं। इतिहासकार ऐतिहासिक घटनाओं के चक्र और क्रम की असंख्य प्रक्रिया की परस्पराश्रित परंपराओं से इतना अभिभूत रहता है कि उसके लिए एक-एक घटना का कोई तात्त्विक महत्त्व नहीं रह जाता। वह मानव-विकास की प्रवृत्तियों और दिशाओं के निर्धारण में लीन रहता है--"उसका

---

१. इतिहास-दर्शन--डॉ० बुद्धप्रकाश, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९६२, प्रस्तावना--पृ० १।

दृष्टिकोण निर्वाचनात्मक, समन्वयप्रधान और व्याख्यापरक है और उसका ध्यान घटनाओं की प्रक्रिया, प्रवृत्ति तथा परंपरा पर केंद्रित है।"[1] इतिहास को ग्रहण करने की यही प्रवृत्ति 'इतिहास-दर्शन' कहलाती है। परन्तु प्रसिद्ध जर्मन इतिहासकार रांके ने इस मत का खंडन किया है—"उनका लक्ष्य घटनाओं को उसी रूप में प्रस्तुत करना है, जिसमें वे वस्तुतः घटित हुई हैं"—(वी एस आइगेंतलिशगेवेजन)। यूरोप के लब्धप्रतिष्ठ इतिहासकार फिशर ने इस मत को आदर्श माना है और अपनी ललित शैली में लिखा है—

"मैं एक बौद्धिक उल्लास से वंचित रह गया हूँ। मुझसे अधिक बुद्धिमान् और विद्वान् पुरुषों ने इतिहास में एक पृष्ठकथा, एक स्वर, एक पूर्वनिर्धारित विधान का साक्षात्कार किया है। ये समन्वित स्वरलहरियाँ मुझसे छिपी हुई हैं। मैं तो केवल यह देख पाता हूँ कि एक अवस्था दूसरी के बाद इस प्रकार आती है जैसे एक लहर दूसरी के बाद उमड़ जाती है। मुझे केवल एक तथ्य दिखायी देता है जिसके विषय में कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता क्योंकि यह एकदम विशिष्ट और अनुपम है। इतिहासकार का स्वस्थ सिद्धांत यही है कि वह मानव भाग्यचक्र के आवर्तन में अदृश्य और आकस्मिक तत्त्वों की क्रीड़ा का दर्शन करें।"[3] उक्त मत का प्रतिपादन करके भी स्वयं फिशर ने उसका पालन नहीं किया है। यूरोप की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक कल्पना पाश्चात्य सभ्यता के उत्कर्ष का एक पक्ष है, जिसे फिशर महाशय ने अनायास ही अपनी कृति के शीर्षक[4] में व्यक्त कर दिया है। इस प्रकार इस सिद्धांत विरोधी इतिहासकार ने अज्ञात रूप से एक विशिष्ट बंधन स्वीकार कर लिया है। यह घटनावादी लेखक प्रवृत्तिवाद के चंगुल में फँस गया है। वस्तुतः मानव-मस्तिष्क की चिंतनशैली का मुख्याधार है—समानता, आवर्तन, संबंध, नियम और स्वर। अतएव इन घटनाओं और तथ्यों को बिना नियमित और संतुलित किये हुए इतिहासकार के लिए ग्रहण करना कठिन है। अतः इतिहास का अध्ययन करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से इतिहास-कार के मन में उसके युग की प्रवृत्ति के अनुसार एक दर्शन समाविष्ट हो जाता है जो 'इतिहास-दर्शन' कहलाता है।

साहित्येतिहास सामान्य इतिहासों की तरह कुछ व्यक्तियों और घटनाओं का लेखा-जोखा या इतिवृत्त प्रस्तुत नहीं करता। इसका ध्यान घटनाओं के मूल में अंतर्निहित प्रवृत्तियों और तदनुकूल प्रभावों के आकलन की ओर रहता है। यह आकलन व्यष्टिगत से ऊपर उठकर लेखक-समूह की समस्त कृतियों से संबंधित होता है। आचार्य नलिनविलोचन शर्मा लिखते

---

१. इतिहास-दर्शन—डॉ० बुद्धप्रकाश, हिन्दी समिति, सूचना-विभाग, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण १९६२, प्रस्तावना, पृ० २।

२. लियोपोल्द रान्के, गेगिश्तेन देयर रोमानिशेन उन्द गेरमानिशेन प्योल्केर (प्रस्तावना), वे के, भाग ३३-३४ (लाइप्तसिक्, १८७४) पृ० ७।

३. ए हिस्ट्री ऑव यूरोप (लंदन १९३५)—एच०ए० एल० फिशर, भाग १, पृ० ७।

४. वी यूरोपियंस आर दि चिल्ड्रन ऑव हेलास—एच० ए० एल० फिशर।

हैं—"साहित्येतिहास भी, अन्य प्रकार के इतिहासों की तरह कुछ विशिष्ट लेखकों और उनकी कृतियों का इतिहास न होकर युगविशेष के लेखक समूह की कृति-समष्टि का इतिहास ही हो सकता है।"[1] प्रसिद्ध अंग्रेजी समीक्षक आर० एस० क्रेन ने १९३५ ई० में संकेत किया था कि अंग्रेजी में उस समय तक ऐसा कोई इतिहास नहीं था, जो अंग्रेजी साहित्य के रूपतत्व के बदलते प्रकारों का विवरणात्मक इतिहास भर कहा जा सके। उसके अनुसार काव्यरूपों का विवरणात्मक इतिहास लिखना बहुत कठिन प्रयास है, क्योंकि उसके लिए लेखक में साहित्यिक भावबोध और सौन्दर्यबोध की परिष्कृत दृष्टि अपेक्षित है और यह प्रयास उसे चुनौती देता है कि वह अब तक की हमारी समीक्षा संबंधी मान्यताओं की बौद्धिक दरिद्रता को उद्घाटित करे, ताकि हम अपने भावबोध और सौन्दर्य बोध को उदात्त बना सकें। आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने स्वीकारा है—"सिद्धांत और व्यवहार दोनों में ही, ध्यान न देने के कारण साहित्यिक इतिहास ढीले सूत्र में गुँथी आलोचनाओं का रूप ग्रहण करता रहा है।"[2] पश्चिम में भी साहित्येतिहास राष्ट्रीय साहित्य तक ही सीमित रहा, वैसे ही भारत में भी विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्यों के अपने-अपने इतिहास मात्र हैं। अठारहवीं शताब्दी के फ्रेंच विद्वानों ने पता लगाया कि पड़ोसी इंगलैण्ड का भी अपना साहित्य है, तो उन्होंने उसे अपनी रुचि के अनुसार ही जाँचा और अंग्रेजी-साहित्य को हीन पाया।[3] ला फाँते की तुलना में प्रायर, बोइलो की तुलना में राचेस्टर और ड्राइडेन तथा फेनेलो की तुलना में मिल्टन नगण्य सिद्ध हुए। किन्तु धीरे-धीरे पश्चिम के विभिन्न राष्ट्रों ने एक दूसरे के साहित्यों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक जागरूकता का परिचय दिया है और अब पश्चिम में योरोपीय साहित्य के अंतस्संपृक्त इतिहास के निर्माण का प्रयास होने लगा है।[4]

साहित्येतिहास के निर्माणार्थ इनकी अपेक्षा है—ऐतिहासिक बोध, राष्ट्रीय अथवा भाषागत विशेषताओं का विचार, फिर पार्थक्य में अंतर्निहित संपृक्तता का अभिज्ञान, प्रत्नतत्त्वानुसंधान-वृत्ति के समन्वित विकास की चेतना और शताब्दियों से एकत्र होती हुई अपने

---

१. साहित्य का इतिहास-दर्शन—आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, प्रथम संस्करण, १९६०, भूमिका पृ० १।

२. वही—भूमिका पृ० १।

उदाहरणार्थ—

३. Journal litteraire (1717) में Dissertation Sur La O'esic anglaise"; Rivarol की प्रसिद्ध उक्ति 'What is not Clear is not French !

उदाहरणार्थ—

४. Ford Madox Ford का March of Literature, George Allen & Unwin 1947, Rene Wellck का A History of Moden Criticism, लंदन 1955.

युग की इदानन्तता की दृष्टि से उपयोग।[1] पहले के सभी साहित्यिक इतिहास जीवनी-मूलक तथा इतिवृत्तात्मक सूचनाओं तथा परिष्कार सापेक्ष सामग्री के आगार ही रहे हैं। गत सौ वर्षों से हिन्दी साहित्य के तथाकथित इतिहास-ग्रंथ निकलते रहे हैं और समयानुसार उनके दृष्टिकोणों तथा प्रणालियों में विभिन्नता रही है। उन्नीसवीं सदी के प्रायः सभी इतिहासग्रंथ संग्रह हैं। ये संग्रह भी तरह-तरह से किये गये हैं। फ्रांसीसी-लेखक गार्सा द तासी ने 'इस्त्वार द ला लितेरात्थूर ऐंदुई ऐं ऐंदुस्तानी' (१८३९ और १८४६) में ७० कवियों का संग्रह वर्णानानुक्रम से किया है, तो शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' (१८७७ ई०) में यों ही एक सहस्र कवियों का वृत्त एकत्र कर दिया है, जिसमें संक्षिप्त जीवनवृत्त के साथ कविताओं के उदाहरण भी हैं। ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव नादर्न हिन्दोस्तान' (१८८९) में शिवसिंह सरोज की ही सामग्री को कालक्रम से इतिहास का रूप देने की चेष्टा की। इन संग्रहों का प्रयोजन शायद हिन्दी साहित्य का केवल परिचय देना था और जैसा प्रयोजन वैसा निर्वचन। उन्होंने कुछ प्रसिद्ध और ज्ञात कवियों की सूची छाप दी। यह प्रवृत्ति साहित्य के इतिहास में ही नहीं थी, बल्कि उस युग के समस्त ऐतिहासिक दृष्टिकोण का एक अंगमात्र थी। इतिहास का अर्थ था व्यक्तियों की सूची और उसका उपयोग था कोरी जानकारी प्राप्त करना अथवा अधिक से अधिक काव्य के उदाहरणों का रसास्वादन।

अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीयता की भावना के उद्वेलन, विदेशियों के विरुद्ध अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की आकांक्षा, सांस्कृतिक पुनरुत्थान आदि ने वैयक्तिक धरातल से आगे बढ़कर व्यापक सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश को प्रोत्साहन दिया। गाँधी जी के साथ राष्ट्रीयता की भावना के विकास का नया चरण रखा गया। विचारों में सामाजिक चेतना आयी और इतिहास में व्यक्तियों के सहारे समूची जाति का कार्य-कलाप दिखाने की चेष्टा की जाने लगी। एक युग तथा एक प्रकार की रचना करने वाले कवियों की सामान्य विशेषताओं के अनुसार प्रवृत्तियों तथा युगों का विभाजन किया गया और इन साहित्यिक प्रवृत्तियों को तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं से संबद्ध करने का प्रयत्न हुआ।[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९२९ ई०) और डॉ० श्यामसुन्दर दास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (१९३० ई०) इस युग के प्रतिनिधि इतिहास कहलाते हैं। इनमें अग्रगण्य आचार्य शुक्ल का ही इतिहास है। उन्होंने जनता की चित्तवृत्ति के संचित प्रतिबिंब से साहित्य पर होने वाले प्रतिफलन की परम्परा और उनमें पारस्परिक सामञ्जस्य के उद्घाटन पर बल दिया। उनके ही शब्दों में देखा जाय—"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक

---

१. इतिहास-दर्शन—आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, भूमिका पृ० ३।

२. इतिहास और आलोचना—डॉ० नामवर सिंह, नया साहित्य प्रकाशन, २ डी, मिंटो रोड, इलाहाबाद, प्रथम सं० फरवरी १९६२, पृ० १७१।

इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामञ्जस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' है।[१] आगे चलकर इसी पृष्ठ में उन्होंने जनता की चित्तवृत्तियों के परिवर्तन और स्वरूप को बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार लक्ष्य किया है। इन्हीं परिस्थितियों के दिग्दर्शन तथा किसी विशेष समय में लोगों में विशेष रुचि के संचार के मूल कारणों और स्रोतों की विवेचना की ओर उनका ध्यान रहा। कहना नहीं होगा कि मिश्रबंधुओं ने हिन्दी साहित्य को जो कंकाल भर दिया था, शुक्ल जी ने उसी में रक्त-संचार कर उसे मांसल बना दिया। उनका मन तथ्यों की छानबीन (जैसी साहित्य के इतिहास के प्रति उनकी मान्यता है) की ओर उतना नहीं रमा, जितने की अपेक्षा उनसे की जाती थी। ढाँचा मिश्रबंधु का दिया हुआ, सामग्री भी उन्हीं की, शुक्ल जी ने उस संग्रह से संकलन किया, खोज से प्राप्त नयी सामग्री के अनुसार यत्र-तत्र तिथि, स्थान, ग्रंथसंख्या संबंधी संशोधन और विचार भर किया। उनको अग्रगण्य और साहित्येतिहास का प्रतिष्ठापक इसलिए स्वीकारा गया कि उन्होंने अपनी रसदृष्टि तथा विवेचन-प्रतिभा का कवियों के मूल्यांकन में खुलकर प्रयोग किया। उनका ध्यान कवियों के साहित्यिक सामर्थ्य के उद्घाटन की ओर अधिक रहा। रचना के नमूनों को उन्होंने वैसे ही रहने दिया, परन्तु नमूनों को अधिक प्रतिनिधि तथा उत्कृष्ट बनाने की चेष्टा की। प्रवृत्ति साम्य के आधार पर कवि को समुदायों में रखकर उन्होंने एक समग्र प्रभाव उत्पन्न करने पर बल दिया। यही कारण है कि उनकी इस कसौटी पर जो कवि खरे नहीं उतरे, वे फुटकल खाते में पड़े रह गये।

इतिहास का आदि, मध्य और आधुनिक (शुक्लानुसार) कोरे कालपरक विभाजन[२] को उन्होंने वीरगाथा, भक्ति, रीति और गद्यकाल की भावपरक क्यारियों में पुनः रोपकर, साथ ही इनका सामान्य परिचय देकर, एक ऐतिहासिक प्रवाह दिखाया और प्रवाह की गति के उत्थान-पतन की ओर स्पष्ट संकेत भी किया। लोकसंग्रही वृत्ति को ही कसौटी बनाकर उन्होंने समाजोन्मुख एवं समाजपराङ्मुख युगों में स्पष्ट अन्तर बताया। इसी लोकसंग्रही वृत्ति के कारण वे तुलसी की प्रशंसा के गीत गाते नहीं अघाते और सूरदास को वात्सल्य और शृंगार तक सीमित कर, निश्चित हो जाते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—"इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है। एक ओर तो वे व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विरागपूर्ण शुद्ध भगवद्भक्ति का उपदेश करती हैं, दूसरी ओर लोकपक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का सौन्दर्य दिखाकर मुग्ध करती हैं। व्यक्तिगत साधना के साथ ही लोकधर्म की अत्यंत उज्ज्वल छटा उसमें वर्तमान है।[३] तुलसी की भक्ति की चर्चा करते हुए उसमें भी वे लोकसंग्रही वृत्ति का दर्शन करते हैं—"जिस प्रकार उन्होंने लोकधर्म और भक्ति-साधना को एक में सम्मिलित करके दिखाया, उसी प्रकार कर्मज्ञान और उपासना के बीच भी सामञ्जस्य

१. इतिहास और आलोचना—डॉ० नामवर सिंह, पृ० १७४।

२. वही, पृ० १७४।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १३८।

उपस्थित किया।...भक्ति की चरम सीमा पर पहुँचकर भी लोकपक्ष उन्होंने नहीं छोड़ा। लोकसंग्रह का भाव उनकी भक्ति का एक अंग था।"[१] इसी के साथ कृष्णोपासक भक्तों (सूरदास की ओर संकेत) के बारे में कहते हैं—"कृष्णोपासक भक्तों में इस अंग की कमी थी। उनके बीच उपास्य और उपासक के संबंध की ही गूढ़ातिगूढ़ व्यञ्जना हुई; दूसरे प्रकार के लोक व्यापक नाना संबंधों के कल्याणकारी सौन्दर्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई"[२]—और अपना अंतिम निर्णय देने में भी नहीं चूकते हैं—"यही कारण है कि उनकी भक्ति-रस भरी वाणी जैसी मंगलकारिणी मानी गयी, वैसी और किसी की नहीं। आज राजा से रंक तक के घर में गोस्वामी जी का रामचरित मानस विराज रहा है और प्रत्येक प्रसंग पर उनकी चौपाइयाँ कही जाती हैं।"[३] इसी प्रकार प्रबंध कवि के लिए भी इन्हें अधिक मोह है, जिसके कारण 'सूरसागर' को नकार देते हैं। प्रबंधप्रियता, मार्मिक स्थलों की परख और लोकसंग्रही वृत्ति—इन्हीं कसौटियों पर सूरदास को चलता कर देते हैं और तुलसी को भारत का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित करते हैं। सगुणधारा की भारतीय पद्धति में कबीर, दादू आदि को लोकधर्म विरोधी स्वीकारते हैं।" और तुलसी को उसका पारखी तथा लोकोद्धारक, जबकि कबीर और दादू अद्वैतवाद, जातिपाँतिविहीन समाज, धर्म के बाह्य आडंबरों के लिए संघर्ष आदि विराट् उद्देश्य लेकर आगे बढ़े। शुक्ल जी का यही पूर्वाग्रह और बहुत अंशों में निरंकुशता, उनके इतिहास ग्रंथ को संतुलित नहीं रख सकी। तुलसी को ऊँचा उठाने के लिए कबीर और दादू का तिरस्कार और उन्हें लोकधर्म विरोधी बताना समीचीन नहीं लगता।

शुक्ल जी ने तत्कालीन युग की परिस्थितियों और साहित्यकार को साथ-साथ देखने का दावा तो किया है, परंतु ऐसा वे कर नहीं पाये हैं। भक्तिकाल के उदय का कारण उन्होंने मुसलमानी शासन की दासताजन्य निराशा बताया। भक्तिकाल के सामान्य परिचय वाले प्रकरण के प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं—"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया।...अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[४] डॉ० रामनरेश वर्मा ने भक्तिकाव्य की प्रमुख विशेषताओं में नैराश्यवाद को परिगणित किया है, मात्र उसी को शुक्ल के समान प्रमुखता नहीं दी है। भक्तिकाव्य को अंतिम रूप से निराशावादी नहीं कहा जा सकता। उसमें दिव्य सौन्दर्य, माधुर्य, राग, शील एवं शक्ति की व्यञ्जना हुई है। वह निराशा से कथमपि उद्भूत नहीं हो सकता। कलिकाल को पतनोन्मुख काल मानते हुए भी यह विचार कभी क्षीण नहीं होता कि भगवान् पृथ्वी का भार उतारने के लिए अवतार लेंगे। और सब कुछ सत्य युग में बदल

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १४१।
२. वही, पृ. १४१।
३. वही, पृ० १४१।
४. वही, पृ० ६०।

जायगा। अधिक से अधिक इसे इस रूप में स्वीकारा जा सकता है कि मानव के पास दैन्यपूर्ण समर्पण के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था।[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि यदि भारत में इस्लाम न आया होता, तो भी हिन्दी में भक्ति-काव्य की धारा इसी रूप में होती। वे इस धारा के मूल उत्स को पांचरात्र और सात्वतों की उपासना-पद्धति और साथ ही आगमपरक उपासना पद्धतियों से जोड़ते हैं। निर्गुण संतों की परम्परा को नाथों और बौद्ध-सिद्धों से भी जोड़ा जाता है, जो उचित ही है। डॉ० द्विवेदी की भी यह स्थापना आंशिक सत्य है, क्योंकि दो विरोधी धर्मों और संस्कृतियों की टकराहट न होती, तो मानवीय मूल्यों की टकराहट का ऐसा अहसास न होता।[2] मूलतः यह युग अपनी अस्मिता की तलाश कर रहा था और आशा, आस्था और विश्वास की नयी भूमि ढूँढ़ रहा था। सामाजिक और मानवीय मूल्यों की रिक्तता का अनुभव कर नये मूल्यों की स्थापना के लिए व्याकुल था। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इस पक्ष पर अपेक्षया अधिक ध्यान दिया है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका।' (१९४० ई०) पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी इतिहास प्रणाली के स्थान पर सामाजिक अथवा जातीय ऐतिहासिक प्रणाली का आरम्भ करने वाली पहली पुस्तक है। अनेक साहित्यकारों का वैयक्तिक परिचय देने का मोह छोड़कर इस पुस्तक ने हिन्दी साहित्य की युगयुगान्तर से आती हुई विकसनशील परम्परा और विचार-सरणि का दर्शन कराया। डॉ० नामवर सिंह स्वीकारते हैं कि—"परम्परा के इतने विराट् परिदृश्य में हिन्दी साहित्य को रखकर देखने का यह पहला प्रयत्न था।"[3] आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य को पूर्ववर्ती संस्कृत-साहित्य तथा समसामयिक अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से अलग करके देखने में भूल की थी, जिसका परिमार्जन डॉ० द्विवेदी ने किया।

साहित्येतिहास में सैद्धांतिक आलोचना के लिए कम स्थान है, वहाँ व्यावहारिक आलोचना द्वारा प्रवृत्तियों का विवेचन-विश्लेषण प्रधान रहता है, परन्तु शुक्ल जी ने अवसर पाते ही सिद्धान्त की स्थापना व्यावहारिक आलोचना के साथ की है। वे रम गये हैं और विषय सरस और उजागर हो उठा है। बिहारी के मुक्तक-काव्य की उन्होंने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है—"मुक्तक काव्य में जो गुण होना चाहिए, वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष

---

१. साहित्येतिहास आदिकाल—डॉ० सुमन राजे, ग्रंथम, रामबाग, कानपुर प्रथम सं० १९७६, पृ० ७६।

२. राजस्थान साहित्य अकादमी की व्याख्यानमाला योजना के अंतर्गत सत्र ७६-७७ में डॉ० भोलाशंकर व्यास द्वारा दिया गया द्वितीय व्याख्यान, 'पुस्तक-साहित्य का इतिहास-लेखन : समस्या-समाधान'—राजस्थान साहित्य अकादमी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, अगस्त १९७७, पृ० ५१।

३. इतिहास और आलोचना—डॉ० नामवर सिंह, पृ० १७६।

पर पहुँचा है।...इसमें रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं, जिनसे हृदयकलिका थोड़ी देर के लिए खिल जाती है। यदि प्रबंधकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है, तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।"[1] शुक्ल का यह भावन, साहित्येतिहास के लिए उपयुक्त नहीं सिद्ध होता है।

आचार्य शुक्ल रसवादी समीक्षक हैं, इनका यह रूप उनके साहित्येतिहास में भी उनका पीछा नहीं छोड़ता। वे कल्पना और भावुकता को कवि का आवश्यक गुण मानते हैं। उनके अनुसार सच्चा कवि वही है, जिसे लोकहृदय की पहचान हो, जो अनेक विचित्रताओं और विशेषताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोकहृदय में लीन होने की दशा 'रसदशा' है। इस कसौटी पर खरे कवियों को शुक्ल जी आसमान में उठा देते हैं। उनके लिए कविता भी कर्मयोग की भाँति भावयोग है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था है--रसदशा। इसी मुक्ति की साधना के लिए किया गया शब्दविधान कविता है। तुलसी उन्हें सूर से अधिक प्रिय थे, पर भावलोक के रसास्वादन में सूर की सहृदयता की दाद देते वे नहीं अघाते। कालिंदी के कूल पर शरद् की चाँदनी में होने वाले रास की शोभा का क्या कहना है, जिसे देखने के लिए सारे देवता आकर इकट्ठे हो जाते थे। सूर ने एक न्यारे प्रेमलोक की आनन्द छटा अपने बंदनेत्रों से देखी है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों का जो विरह सागर उमड़ा है, उसमें मग्न होने पर तो पाठकों को वारपार नहीं मिलता। वियोग की जितनी प्रकार की दशाएँ हो सकती हैं, सबका समावेश उसके भीतर है।[2]

आचार्य शुक्ल का समीक्षक रूप सदा इस बात पर ध्यान देता है कि काव्य में मानव संबंध का अधिक से अधिक विस्तार दिखाया जाय---साहित्येतिहास में भी इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। छायावाद को इसी गुण के अभाव के कारण वे उतना महत्त्व नहीं देते हैं। "छायावाद नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मक अभिव्यञ्जना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चले। शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना में ही लीन होने के कारण अर्थ-भूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। इस प्रकार प्रसरणोन्मुख काव्यक्षेत्र बहुत संकुचित हो गया।"[3] पूर्ववर्ती परंपरा के साथ छायावाद का ठीक से मेल न बैठाने के कारण परंपरावादी शुक्ल कहते हैं---"कुछ नये कवि उधर एकबारगी झुक पड़े।"[4] शुक्ल जी को छायावाद की अतिशय स्वप्नमयता, कल्पनाशीलता और यथार्थजगत् की उपेक्षा अच्छी नहीं लगी, यद्यपि यह सब एक विकसनशील परंपरा की उपज थी और तत्कालीन युग की मुख्य प्रवृत्ति बनकर उभरी। उन्होंने साफ लिखा---"कवि कल्पना प्रत्यक्ष जगत् से अलग एक रमणीय स्वप्न घोषित किया जाने लगा और कवि सौन्दर्य भावना के मद में झूमनेवाला एक

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास---रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३१४।

२. वही, पृ० १४८।

३-४. वही, पृ० ६५१।

लोकातीत जीव।"[१] आधुनिक युग में छायावाद के अन्तर्विरोधों ने ही प्रगतिशील सामाजिक यथार्थ भावना को जन्म दिया। असंगतियों एवं अंतर्विरोधों के सहारे ही एक युग में पायी जानेवाली अनेक प्रवृत्तियों का कार्य-कारण संबंध स्थापित किया जा सकता है। इसी प्रणाली को नहीं अपनाने के अभाव में शुक्ल जी को अपने इतिहास में 'औसतवाद'[२] का सहारा लेना पड़ा।

इतनी सावधानी और जागरूकता के बावजूद भी (प्रवृत्तियों की व्याख्या और निरूपण की घोषणा करके भी) उनके इतिहास में प्रवृत्ति-निरूपण गौण होकर विवरण-प्रधान हो गया।[३] ध्यातव्य है कि इसीलिए उन्होंने मिश्रबंधुओं की युक्ति रहित आलोचना ही नहीं की, उस पर निर्मम व्यंग प्रहार भी किये। आचार्य नलिनविलोचन शर्मा इस मत की पुष्टि करते हैं—"पं० रामचन्द्र शुक्ल के साहित्येतिहास की, इन विशेषताओं के बावजूद जो त्रुटि है, वह यह है कि अनुपात की दृष्टि से, उसका स्वल्पांश ही प्रवृति-निरूपण-परक है, अधिकांश विवरण प्रधान ही है, और वे स्वयं स्वीकारते हैं कि इसके लिए उनका मुख्य आधार वह 'विनोद' है, जिसके लिए मिश्रबन्धुओं पर उन्होंने अनावश्यक रूप से कटु व्यंग्य भी किये हैं।"[४]

शुक्ल जी इतने गम्भीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आँच से सूख जाती थी। सर्वोपरि था उनका दुराग्रह और अपने मत पर अडिग रहना—"मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने न मानने की मुझे परवाह नहीं।"[५] सांस्कृतिक चेतना के विराट् स्वरूप को स्पष्ट कर उससे प्रभावित जीवन-धारा की साहित्य में अभिव्यक्ति के विवेचन की ओर उनका उतना ध्यान नहीं गया। इसीलिए जैनेन्द्रकुमार ने इन पर आक्षेप किया है—"इतिहास उन्होंने जुटाया है, जगाया नहीं।"[६]

शुक्ल जी के इतिहास का जो अकल्याणकारी प्रभाव बाद के हिन्दी साहित्येतिहासकारों पर पड़ा है, उसके लिए वे दोषी नहीं हैं—यह तो उनकी सशक्तता तथा उनके द्वारा गाड़े गये मील-स्तंभ का प्रमाण है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने शुक्लोत्तर साहित्येतिहासों का वर्णन अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में अवश्य किया है, पर वह विचारणीय इसलिए नहीं है कि उसमें चाहे सामग्री कितनी भी नयी हो, साँचा शुक्ल जी का ही है। हिन्दी साहित्येतिहास की परम्परा में वे चिरस्मरणीय हैं, साहित्येतिहास का वास्तविक ढाँचा उन्होंने ही खड़ा किया है। बाद में तो इतिहास-ग्रन्थों की बाढ़ आगयी। परवर्ती साहित्येतिहासकारों ने उनकी

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६५३।

२. साहित्य और आलोचना—डॉ० नामवर सिंह, पृ० १८२।

३. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन—डॉ० रूपचंद्र पारीक, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा ३, प्र० सं० १९७२, पृ० १४३।

४. साहित्य का इतिहास-दर्शन—नलिनविलोचन शर्मा, पृ० ८९।

५. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १४७।

६. आचार्य शुक्ल—सं० गुलाबराय, विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ४८।

तिथियों, वर्णनों सामग्रियों आदि में भले ही किञ्चित् विस्तार या परिवर्तन किया हो पर पद्धति उनकी ही है, प्रवर्तित मार्ग उनका ही है। ये ध्रुव की तरह अटल रहते हैं, चाहे दूसरे पक्ष की अवहेलना का दोष उन पर लागू हो जाय। शुक्ल जी ने इतिहास के जो तथ्य दिये हैं, उनकी परम्परा बहुत दिनों तक चलती रहेगी।[1] उन्होंने तथ्यों की यथासाध्य छानबीन द्वारा रचनाकारों की रचना-सामर्थ्य का उद्घाटन कर आलोचकों और शोधकर्त्ताओं का पथ-प्रदर्शन किया। हिन्दी साहित्य के पचासों इतिहासों से उनका इतिहास अपेक्षाकृत उत्तम, प्रामाणिक, स्पष्ट और रोचक है। वे साहित्येतिहास लेखन-परम्परा के प्रवर्त्तक और भावी पीढ़ी के पथ-प्रदर्शक के रूप में सदा स्मरण किये जायेंगे।

—वृन्दावन, राजेन्द्रपथ, धनबाद,
८२६००१, बिहार

●

१. आलोचना—इतिहास-विशेषांक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० २९।

प्रकृति प्रेमी : कविवर रामचन्द्र शुक्ल

डॉ० दामोदर पाण्डेय

⊙

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल केवल निबन्धकार एवं समालोचक ही नहीं, अपितु शैली-निर्माता, विज्ञ इतिहासलेखक, भावुक कवि, अनुवादक, सफल अध्यापक और कुशल सम्पादक भी थे। द्विवेदी-युग के शीर्षस्थ कवियों में उनकी गणना की जाती है। कविता-करने के साथ-साथ कविता के लिए कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का भी निदर्शन किया है।

मूलभूत सिद्धान्त

'चिन्तामणि' भाग १, पृ० १४१ में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "कविता मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिये अपना पता नहीं रहता, उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है—इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकार का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"

संक्षेप में, पं० रामचन्द्र शुक्ल की इस परिभाषा को इस प्रकार कहा जा सकता है—कविता अभिव्यक्ति के उस माध्यम को कहते हैं जिसके द्वारा मानव-हृदय अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख, हानि-लाभ एवं योग-क्षेम के बन्धनों से मुक्त होकर लोकसामान्य भावभूमि पर पहुँच जाता है और वहाँ उसके हृदय का उदात्तीकरण हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि भावों का परिष्कार और शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना और रक्षा।

कवि के रूप में आचार्य शुक्ल की मुख्यतः दो प्रकार की कविताएँ उपलब्ध हैं-–प्रथम अनूदित एवं द्वितीय मौलिक। अपनी समस्त कविताओं में उन्होंने मूलभूत सिद्धान्तों का भरसक अनुपालन किया है।

अनूदित कविताएँ

द्विवेदी-युग में अनुवाद कार्य की प्रचुरता थी। काव्य के क्षेत्र में भी संस्कृत, बंगला

और अंग्रेजी के श्रेष्ठ काव्यों के अनुवाद किये जा रहे थे। कविवर शुक्ल ने 'एडविन आर्नल्ड' के अंग्रेजी काव्य 'The Light of Asia' का हिन्दी में 'बुद्धचरित' नाम से अनुवाद किया। अनुवादक की मर्यादा का पालन तथा मूललेखक के भावों की रक्षा करते हुए व्यक्तित्व के अनुकूल कहीं-कहीं शुक्ल जी ने स्वतन्त्रता से कार्य लिया है। 'बुद्धचरित' के आरम्भ में ही कवि ने अपने इस दृष्टिकोण से पाठक को परिचित करा दिया है—"यद्यपि ढंग इसका ऐसा रखा गया है कि एक स्वतन्त्र हिन्दी काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो, पर साथ ही मूल पुस्तक के भावों को स्पष्ट करने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया है। दृश्य-वर्णन जहाँ अयुक्त या अपर्याप्त प्रतीत हुए, वहाँ बहुत कुछ फेर-फार करना या बढ़ाना भी पड़ा है।" कुछ उदाहरण अवेक्षणीय हैं:—

But, when the days were numbered, then befell—
The parting of our Lord—which was to be—
Where by came wailing in the Golden Home.
Woe to the king and Sorrow O'er the land.
But for all flesh deliverance, and that Law
Which whose hears—the same shall make him free.

जब दिन पूरे भए बुद्ध भगवान हमारे,
तजि अपनो घर बार घोर बन और सिधारे।
जासो पर्‌यो खभार राज मन्दिर में भारी,
शोक-विकल अतिभूप, प्रजा सब भई दुखारी।
पैनिकस्यों निस्तार पंथ-प्राणिन हित नूतन,
प्रगट्यों शास्त्र पुनीत कटैं जासों भव-बन्धन॥

Softly the Indian night sinks on the plains
At full moon, in the month of Chaitra Shud,
When mangoes redden and the asoka buds
Sweeten the breeze, and Rama's birthday comes,
And all the fields are glad and all the towns.

निखरी रैन चैत पूनो की अति निर्मल उजियारी,
चारुहासिनी खिली चाँदनी पट पर पैं अति प्यारी।
अमराइन में धँसि अमियन को दरसावति बिलगाई,
सींकन में गुछि भूल रहीं जो मन्द झकोरन पाई।
चुवत मधूक परसि भू जौ लौं 'टप-टप' शब्द सुनावें,
ताके प्रथम पलक भारत भर में निज झलक दिखावें।

महकति कतहुँ अशोक-मंजरी कतहुँ कतहुँ पुर माँही,
राम-जन्म-उत्सव के अब लो राज हटे हैं नाहीं॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि कवि ने मूल के भाव की सुरक्षा की है, परन्तु जहाँ प्रकृति चित्रण का प्रसंग है, वहाँ अपने को रोक नहीं सका है। रोक भी कैसे सकता था क्योंकि 'मधुर-भार' कविता में ऐसे कवियों को फटकार दी है, जो केवल अपने ही अश्रु, श्वास, ज्वर, नीरव, रुदन, नृत्य को प्रकृति में देखते हैं, अपने कलेवर की मैली-कुचैली वृत्ति को थोपकर प्रकृति की निराली छटा को छिपाते हैं तथा झूठे-झूठे भावों के आरोप से आच्छन्न कर अपने कला की पाखण्डता का प्रदर्शन करते हुए प्रकृति के भीतर केवल रहस्य ही समझाते हैं, क्योंकि उनके पास प्रकृति के शुद्ध सात्विक रूप देखने को आँख नहीं है। इसके अतिरिक्त भारतीय शिष्टाचार, रीति-नीति एवं परम्पराओं से अर्धपरिचित 'आर्नल्ड' के वर्णनों में जहाँ कहीं भी अभाव दृष्टिगत हुआ है, वहाँ शुक्ल जी ने भारतीयता का पूर्ण समावेश किया है। आर्नल्ड ने राजकुमार गौतम के प्रेम को लक्षित करने के लिए महाराजा के द्वारा A Court of Pleasure' का आयोजन कराया है, पर शुक्ल जी ने उसे भारतीय वाङमय के अनुरूप 'अशोकोत्सव' कर दिया। महाराज के रंगमहल का वर्णन करते हुए आर्नल्ड ने Silver Lamps 'रजतदीपों' का वर्णन किया है पर, शुक्ल जी ने भारतीय साहित्य में वर्णित कंचन के दीपों का ही उल्लेख किया है। यह कवि की अनूदित कार्यों में भी सहज मौलिकता का ही द्योतक है।

मौलिक कविताएँ

कविवर पं० रामचन्द्र शुक्ल की मौलिक रचनाओं को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक 'देश जाति प्रेम सम्बन्धी कविताएँ' और दूसरी 'प्रकृति-सौन्दर्य विषयक कविताएँ'। प्रथम कोटि के अन्तर्गत आने वाली कविताएँ प्राय: द्विवेदी-युग की मान्यताओं से प्रभावित हैं। इसके स्पष्ट प्रमाण 'गोस्वामी जी और हिन्दू जाति', 'भारतेन्दु जयन्ती', 'हमारी हिन्दी', 'आशा और उद्योग', 'प्रेम प्रताप', 'अन्योक्तियाँ', इत्यादि हैं।
देश-प्रेम की कविताएँ :—

देश-प्रेम की कविताएँ

आज के युग में भी बिखराववादी एवं अलगाववादी शक्तियों के प्रभुत्व को कवि सहन नहीं करता है और उसकी लेखनी बरबस उठ जाती है तो भला पं० शुक्ल जी जैसा सहृदय एवं भावुक कवि, कैसे चैन ले सकता था। जिस समय सूरत कांग्रेस में फूट पड़ गयी, उस समय वे अपनी लेखनी को रोक न सके। देशवासियों को एकता एवं अखण्डता बनाये रखते हुए मातृभूमि की सेवा में लग जाने का आह्वान करने लगे—

किन्तु आज बाईस वर्ष तक कितने झोंके खाती।
अन्यायी को लज्जित करती न्याय छटा छहराती॥

यह जातीय सभा हम सबकी न्याय ढेलती आई।
हाय फूट तेरे आनन में वह भी आज समाई॥
यही समझते थे दोनों दल पृथक् पंथ अनुयायी।
होकर भी उद्देश्य हानि को सह न सकेंगे भाई॥
किन्तु देख सूरत की सूरत भगे भाव यह सारे।
आशंका तब तरह तरह की मन में उठी हमारे॥
अब तो कर कुछ कृपा कि जिससे एक सभी फिर होवें।
अपने मन की मैल देश की अश्रुधार से धोवें॥
जो जो सिर पर बीत रही उसको हम बेगि भुलावें।
मौन मार निज मातृभूमि की सेवा में लग जावें॥

'भारत और बसन्त' शुक्ल जी की देशभक्ति से ओत-प्रोत कविता है। भारत का ऋतु-परिवर्तन, यहाँ की सुखद जलवायु, विश्व के किसी भी कोने से आये व्यक्ति को प्रभावित करती है। यहाँ की विविध विद्या, कलाकौशल, उपकार एवं "वसुधैव कुटुम्बकम्" के ही कारण पाहुने के रूप में आनेवाले विदेशी अपनी जर्जरी बरोरी को तिलाञ्जलि दे, यहीं का होकर रह गये। भारत में रहकर पाश्चात्य-जनों ने हमसे इतने ज्ञान सीखे, परन्तु इतने कृतघ्न निकले कि कवि को उनकी कृतघ्नता पर पश्चात्ताप करना पड़ा :—

विविध विद्या कला-कौशल जगत् में फैलाय।
कियो अपने जान तो उपकार ही इन हाय॥
हा! कृतघ्न प्रतीचि जन सब सीखि इतने ज्ञान।
विभवमद में चूर सकुचत करत अब सम्मान॥

उपर्युक्त पंक्तियों में पश्चिम की कृतघ्नता पर कितना सुन्दर व्यंग्य है।

प्रकृति-पूरक कविताएँ

कविवर पं० शुक्ल जी को प्रकृति के कण-कण से अनुराग था। उनका कहना था कि ऐसे व्यक्ति के जीवन में रह ही क्या गया जो लहलहाते हुए खेतों और जंगलों में हरी घास के बीच घूमकर बहते हुए नालों तथा काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलती हुई झाड़ियों को देखकर क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देखकर वह न खिला। शुक्ल जी को इस बात का हार्दिक कष्ट था कि मानव 'सभ्यता के आवरण' में बँधकर प्रकृतिजननी की आनन्दमयी क्रोड को त्याग रहा है। इस संबंध में शुक्ल जी ने अपने विचार बड़ी भावुकता से व्यक्त किये हैं—"हम पेड़-पौधों और पशुपक्षियों से संबंध तोड़कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे, पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पात पर रखकर घेरे में बन्द करते हैं और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते

हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याँव-म्याँव करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और बासुदेव जी कभी-कभी दीवार छोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी चूने की कढाई की परवाह न करके हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूंढती हुई आती है और कहती है कि 'तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो।'

प्रकृति-हत्या के विरोधी

इस भौतिकवादी युग में मानव अत्याधुनिक संसाधनों की प्रतिस्पर्द्धा के कारण अपने ही हाथों से कहीं वृक्षों को काटकर , कहीं पशु-पक्षियों का संहार कर, कहीं पर्वतों को सपाट कर उद्योग-धन्धों का विस्तार करता जा रहा है। शुक्ल जी जैसे प्रकृति प्रेमी कवि की दृष्टि में ऐसे नर-प्रेत से भी बढ़कर हैं :—

कर से कराल निज काननों को काटकर,
शैलों को सपाट कर, सृष्टि को संहार ले।
नाना रूप रंग धरे, जीवन उमंग भरे,
जीव जहाँ तक बने मारते, तू मार ले॥
माता धरती की भरी गोद यह सूनी कर,
प्रेत-सा अकेला पाँव अपना पसार ले।
विश्व बीच नर के विकास हेतु नरता ही,
होगी किन्तु अलम् न, मानव विचार ले॥

शुक्ल जी की मान्यता है कि सच्चा भावुक या सहृदय कवि वही हो सकता है जो प्रकृति के विविध आयाम का चित्र प्रस्तुत करे। इसके विपरीत वे लोग तमाशबीन हैं 'जो केवल मुक्ताभास-हिम बिन्दुमण्डित मरकताभ-शाब्दल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गम्भीर गर्त्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध वर्ण-स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिये कुछ पाते हैं।' एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

भूरी-भूरी घास आसपास फूली सरसों है,
पीली-पीली बिन्दियों के चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार॥
गाढ़ी हरी श्यामलता की तुङ्ग शशि रेखा घनी।
बाँधती है दक्षिण की ओर जिसे घेर-घार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ-मण्डल से,
धुँधली-सी नीली नग-माला उठी धुआँधार।

उपर्युक्त उद्धरण में विन्ध्याटवी के आसपास के लहलहे खेतों के बसन्तकालीन लालित्य का कितने अनूठेपन के साथ वर्णन किया गया है। इसी प्रकार कवि ने ग्रीष्मकाल का भी सजीव वर्णन किया है। शुक्ल जी जैसे कवि का नगरों की अपेक्षा ग्रामों से आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। ग्राम्यजगत् के जीते-जागते अनेकशः वर्णन मिलते हैं। शुक्ल जी ग्रामपथ का, ग्रामवनिताओं का और ग्रामीण क्रियाकलापों का विशद वर्णन किया है:—

गया उसी देवल के पास है ग्राम पथ,
श्वेतधारियों में नई घास को विभक्त कर।
थूहरों से सटे हुए पेड़ और झाड़ हरे,
गो-रज से धूम ले जो खड़े हैं किनारे पर॥
उन्हें कई गायें पैर अगले बढ़ाये हुए,
कंठ को उठाये चुपचाप ही रही हैं चर।
जा रही हैं घाट और ग्रामवनिताएँ कई,
लौटती हैं कई एक घट औ कलश भर॥

इस प्रकार शुक्ल जी द्वारा रचित कविताओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि उनकी मौलिक रचनाओं में प्रकृति संबंधी रचनाएँ उच्चकोटि की हैं। यदि शुक्ल जी की वृत्ति अध्यापन न होती तो वे निश्चय ही द्रुमों की मृदु छाया को छोड़कर तथा प्रकृति से माया तोड़कर समालोचना के क्षेत्र में योगी की तरह रमते नहीं।

अन्त में, डॉ० केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों में शुक्लजी के साहित्य जीवन की विचार धारा का मूलस्रोत उनकी कविता में उमड़ता है, उनकी कविता में उनके जीवन की झलक पायी जाती है। उनमें उनकी आन्तरिक भावना के दर्शन होते हैं। उनकी समालोचना के आदर्श की कुंजी भी उनकी कविता में धरी है। उनकी कविता उनके जीवन, व्यक्तित्व और विचार का मंत्र है। उनकी कविता के भाव आगे चलकर विविध क्षेत्रों में नाना रूप से पुष्ट हुए हैं। उनकी कविता उनके हृदय का सच्चा उद्‌गार है। फिर भी शुक्ल जी ने अपनी कविताओं को हृदय का उद्‌गार न कहकर 'हृदय का मधुभार' कहा है, क्योंकि इनके सहारे वे 'संसार के इन रूखे रूपों के कड़वेपन की झार' सहते चल रहे हैं। वे जानते हैं कि इन्हीं कविताओं के बीच 'प्रथम उमड़ी थी जीवन की यह धार'—इसलिये वे समझते हैं कि:—

'लगी रहेगी ताक झाँक यह सब दिन इसी प्रकार।'

प्रवक्ता-हिन्दी
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
काशीपुर (नैनीताल)

समीक्षक : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डॉ० शम्भूनाथ चतुर्वेदी

⊙

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दो महान् दायित्वों का सफल निर्वाह किया—एक ओर तो उन्होंने शैण्ड और फ्रॉयड से प्रभावित होकर मनोवैज्ञानिक निबन्धों की सृष्टि की और दूसरी ओर अँधेरी बन्द गलियों में भटकती हुई हिन्दी समीक्षा को नवीन मानदण्डों की लालटेन पकड़ा दी। उनके निबन्धों में भी उनकी प्रखर समीक्षक दृष्टि कहीं भी ओझल नहीं हो सकी है और यह अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है। मनोविकारों का विश्लेषण, साहित्य-सिद्धान्तों की व्याख्या और कृतियों का मूल्यांकन उन्हें न तो केवल साहित्य सिद्धान्तों के निर्माता की कोटि में रखता है, न केवल स्तरीय निबन्धकार उन्हें बनाता है और न सिर्फ उन्हें उच्च कोटि के समीक्षक की श्रेणी में रखता है। परम्परा और व्यक्तिमेधा का जैसा अद्भुत सामञ्जस्य उनके समीक्षक में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। मानवीय संवेदना को उद्दीप्त करना तथा नवीन अर्थ-संभावनाओं की ओर इंगित करना, शुक्ल जी के समीक्षक को अभीष्ट था। यद्यपि शुक्ल जी ने हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य-साहित्य और समीक्षा के अध्ययन की नवीन प्रवृत्ति को बल दिया परन्तु उन्होंने अंग्रेजी आलोचना का अन्धानुकरण नहीं किया।

आलोचना-पद्धति

शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति न तो रीतिशास्त्रों का अनुसरण करती है और न पश्चिम के काव्यशास्त्र का। इसलिए मनोविज्ञान के संबंध में उनकी स्थापनाएँ और भी रोचक लगती हैं। उनकी स्थापनाएँ मौलिक हैं—वे साहित्यशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और दर्शन की सीमाओं को संस्पर्श करने वाले समीक्षक थे। संभवतः इसीलिए उन्होंने पाश्चात्य-मनोविज्ञान के आधार पर मनोविकारों का वर्गीकरण सुखमूलक और दुःखमूलक दो कोटियों में किया, परन्तु पश्चिमी व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को उन्होंने नहीं स्वीकारा। शुक्ल जी का मनोविज्ञान साहित्यशास्त्र और लोकजीवन को एक सूत्र में जोड़ कर चलता है। उनके अनुसार भाव, समाज सापेक्ष है और भावों के उदात्तीकरण या उन्नयन में सहयोग देना रचनाकार का धर्म है, कविता का उद्देश्य है। उनका दृढ़ विश्वास है कि काव्यानुशीलन द्वारा सहृदय के मन में भावों का उदय होता है। जो काव्य मन में किसी भाव को नहीं जमाता, वह काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं। भाव विषय-बोध से ही जगता है। इसीलिए शुक्ल जी ने कविता

आलम्बन को इतना अधिक महत्त्व दिया। शुक्ल जी रसवादी थे, परन्तु उन्होंने रस को लोकोत्तर न मानकर लोकसामान्य भाव-भूमि पर ही प्रतिष्ठित किया। वे काव्य का सम्बन्ध मनोमय-कोश से जोड़ते थे। उनके समीक्षक ने 'लोकधर्म' और 'व्यक्ति धर्म' के दो कटघरे भी बना रखे थे। परिणामस्वरूप केशव की चमत्कारवादी प्रवृत्ति के स्थान पर वे तुलसी के समाज-धर्म और चातक-धर्म को महत्त्व देते रहे। वे समीक्षा या साहित्य के क्षेत्र में न तो वादों के पक्षधर थे और न 'कलाबाजी' के। उन्होंने कविता को भाव-योग की संज्ञा प्रदान की और 'हृदय की मुक्तावस्था' को रस-दशा माना। रसानुभूति करना और कराना ही शुक्ल जी काव्य का मूल उद्देश्य मानते थे। व्यक्ति-सत्य को व्यापक सत्य बनाना ही वे कविता का लक्ष्य मानते थे। नर और नरेतर सृष्टि के बीच भाव-सेतु की स्थापना में उनकी अडिग आस्था थी। मानव के आभ्यन्तरिक सौन्दर्यबोध के जागरण की स्थिति पर वे सदैव बल देते रहे।

उन्होंने हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में गुण-दोष कथन, साधुवाद और तुलनादि को हटाया और इस प्रकार गंभीरता का सूत्रपात किया। वे समीक्षक के उन्नत व्यक्तित्व को महत्त्व देते थे तथा कृतिकार की मनोभूमि को कृति की आधारभूमि समझना भी आवश्यक समझते थे। वे तटस्थ समीक्षा के कायल थे। 'कला, कला के लिए' के सिद्धांत को उन्होंने मान्यता नहीं दी और संभवतः वे जायसी की तुलना में इसीलिए अन्य सूफी कवियों को महत्त्व नहीं देते थे। उर्दू शायरी में हादी, शेखशादी और रूमी की रचनाओं को भी वे पसन्द नहीं करते थे। आज के प्रयोगवादियों की भाँति शब्दवैचित्र्य और अस्तित्ववादियों की भाँति जीवन की निरर्थकता का ढोल उन्होंने नहीं पीटा। फ्रेंच नाटककार आयस्को के इस कथन से शुक्ल जी सहमत नहीं थे कि लेखक डाकिया (पोस्टमैन) नहीं बन सकता है। वे मूलतः भारतीयता के समर्थ समीक्षक थे और इसीलिए मनोविकारों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने भारतीय साहित्य से ही अधिक उदाहरण दिये हैं। उदाहरणार्थ, प्रेम-पात्र की सुख-चिन्ता के संदर्भ में शुक्ल जी ने सूर के सुविख्यात पदसंदेश 'देवकी सो कहियो' को उद्धृत किया है। यह उदाहरण 'करुणा' नामक मनोविकार का विश्लेषण करते समय दिया गया है। इसी प्रकार 'लज्जा और ग्लानि' का उदाहरण तुलसीकृत रामायण से उन्होंने दिया है।

शुक्ल जी के साहित्यालोचन का आधार उनका वस्तुवादी दृष्टिकोण था—'शब्द-काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है। उनके मनोविज्ञान का आधार ठोस सामाजिक जीवन है, साहित्य की अनुभूति भावों की अनुभूति है। भावों की अनुभूति वास्तविक जीवन में मनुष्य के व्यवहार-जगत् से होती है। इसलिए साहित्य की अनुभूति वास्तविक जगत् की अनुभूति से निराली नहीं है। जिन बातों से संसार में दुःख मिलता है, उनसे साहित्य में भी मिलता है। 'ट्रेजेडी' पर आँसू बहाने में शब्द-आनन्द का अनुभव होता है, यह शुक्ल जी नहीं मानते। वह पहले आलोचक हैं जिन्होंने पूर्व और पश्चिम के विचारकों से इस बारे में मतभेद प्रकट किया है। शुक्ल जी ने काव्य को अबौद्धिक क्रिया भी नहीं माना है। साहित्य के एक छोर पर विचार और बौद्धिक चिन्तन है, तो दूसरे छोर पर इन्द्रिय-बोध

और मूर्तिमत्ता है। कल्पना भी इन्द्रिय-बोध पर ही आधृत है। जिन पाश्चात्य-विचारकों ने कल्पना का स्वतंत्र अस्तित्व माना है, शुक्ल जी ने उनका विरोध किया है। एक ओर उन्होंने क्रोचे जैसे भाववादियों का प्रत्यक्ष विरोध किया है और दूसरी ओर कोलरिज जैसे भाववादियों से उनका अप्रत्यक्ष मतभेद है। शुक्ल जी ने बौद्धिकता, इन्द्रियबोध और भावना के समन्वय के आधार पर साहित्यालोचन के नवीन मानदंड निर्धारित किये हैं। उनका काव्यशास्त्र पौर्वात्य और पाश्चात्य—दोनों काव्यशास्त्रों से अधिक वैज्ञानिक, प्रौढ़ और संगत है। सही माने में शुक्ल जी ने हिन्दी के अपने नवीन साहित्यशास्त्र का निर्माण किया और इसी लिए सौन्दर्यबोध के संदर्भ में वे योरोपीय कलासमीक्षकों की बराबर खबर लेते रहे हैं।

शुक्ल जी सहृदय समीक्षक थे। तर्कशास्त्र की अपेक्षा वे भावुक साहित्यप्रेमी अधिक थे। तर्क-योजना में वे भले ही शिथिल हो जायँ, परन्तु सहृदयता में किंचित् शैथिल्य भी वे नहीं आने देते। उनके समीक्षक में भारतेन्दु की-सी जिन्दादिली है, व्यंग्य-विनोद है। भारतेन्दुयुगीन लेखक बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' की समीक्षा-शैली का प्रभाव भी उन पर परिलक्षित होता है। सत्यनारायण कविरत्न की समीक्षा करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है—"वे थे ब्रजमाधुरी में पगे जीव, उनकी पत्नी थीं आर्य सभा के तीखेपन में तली महिला।" वे केवल पुस्तक सेवी समीक्षक नहीं थे, अपितु एक घुमक्कड़, विनोदप्रिय और रसवादी आलोचक थे। सूत्र, व्याख्या और निष्कर्ष उनकी सभी समीक्षापद्धति के तीन प्रमुख गुण थे।

अन्त में, शुक्ल जी के समीक्षक के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर इंगित करना चाहूँगा। उन्होंने समीक्षा के तीन मानदण्ड बनाये थे—शक्ति, शील और सौन्दर्य। पाश्चात्य उपन्यासकार और समीक्षक जेम्स ज्वायस ने भी तीन सिद्धांतों का ही प्रतिपादन किया था—समग्रता (होलनेस), संगीत (हॉर्मनी) और दीप्ति (रेडियेंस)। परन्तु ज्वायस के साहित्यालोचन के मानदण्ड अभी पुराने नहीं पड़े हैं, शुक्ल जी कुछ पीछे रह गये हैं। आधुनिक विश्व-साहित्य का मूल्यांकन केवल शक्ति, शील और सौन्दर्य के आधार पर नहीं हो सकता। फ्रांसीसी और रूसी क्रांति के बाद के उपन्यासों के 'हीरो' शीलवान् नहीं होते। 'एण्टी हीरो' की परिकल्पना को इधर कुछ अधिक बल मिला है। कामू, सार्त्र, नोबाकोब और हेनरीमिलर के उपन्यासों के नायक शीलवान् नहीं हैं। काफ्का की कहानी 'मेटामोर्फोसिस' का नायक तो एक एकटिड्डा है। अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी,' 'नदी के दीप', भारती के 'गुनाहों का देवता' राजेन्द्र यादव के 'उखड़े हुए लोग' भगवती बाबू के 'प्रश्न और मरीचिका' और राही मासूम रजा के 'आधा गाँव' के नायक शीलहीन हैं। शेक्सपियर के नाटकों की नायिकायें अशक्त हैं, परन्तु फिर भी आकर्षक। शक्ति की परिकल्पना केवल सुखान्त नाटकों में की जा सकती है, दुःखान्त में नहीं। सम्प्रति, साहित्य में सौन्दर्य के स्थान पर भोंडापन और कुरूपता, निराला के 'कुकुरमुत्ता' के जमाने से प्रतिष्ठित होते आ रहे हैं। एलियट का सौन्दर्यबोध बदला है तो अज्ञेय का भी। अतएव शक्तिशील और सौन्दर्य का मानदंड कालजयी नहीं बन सका।

शुक्ल जी मूलतः व्यावहारिक आलोचना को महत्त्व देते हैं। सिद्धान्त-निर्माण या निरूपण के नाम पर वे 'रसवाद' को खड़ा कर देते हैं। परन्तु इससे उनके समीक्षक की भारती-

यता ही उजागर होती है। उनमें अखंड सिद्धान्त निरूपण की क्षमता भी थी और इन सिद्धांतों के आधार पर कवियों को परखने की प्रतिभा भी।

मेरे विचार से प्रत्येक रचनाकार और विशेषरूप से समीक्षक का दायित्व अपने समाज के प्रति नहीं, अपितु भाषा के प्रति होता है। वह पहले भाषा की सुरक्षा करता है, दूसरे उसका विस्तार करता है और तीसरा उसमें सुधार करता है। इसीलिए 'इतिहास-बोध' को टी० एस० एलियट ने महत्त्व दिया है और शुक्ल जी ने भी। एलियट और शुक्ल जी में काफी समानता है—दोनों ही धार्मिक संवेदना (रेलीजस सेसिबिलिटी) को महत्त्व देते हैं, दोनों अतीत के साथ सुसम्बद्ध रहना चाहते हैं, निरुद्देश्य कविता का विरोध करते हैं (इसका यह अर्थ नहीं कि उपदेशात्मक काव्य को दोनों पसन्द करते हैं) तथा दोनों पाठक-वर्ग की आवश्यकता पर जोर देते हैं। जब मैं समीक्षक के दायित्त्व की या धर्म की बात करता हूँ, तो मेरा स्पष्ट अभिप्राय होता है कि समीक्षा कैसी होनी चाहिए, अपेक्षाकृत इसके कि वह क्या करती है या उसने क्या किया है? यहाँ मैं विद्वान् और समीक्षक के अन्तर को भी स्पष्ट करना चाहूँगा। विद्वान् तथ्यों की पुष्टि करता है और समीक्षक निष्पक्ष निर्णायक होता है। दूसरे शब्दों में समीक्षक को 'स्कॉलर' होना चाहिए और स्कॉलर को समीक्षक। एलियट कवि-समीक्षक थे, शुक्ल जी नहीं—एलियट और एजरा पाउण्ड ने अपनी कविता से आलोचना को सम्बद्ध किया, इसको उन्होंने 'वर्कशाप क्रिटिसिज्म' कहा। समीक्षक के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे कवि हो, परन्तु अन्य कलाओं का ज्ञान उसके लिए अपेक्षित है। उदाहरणार्थ, कोलरिज का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने दर्शन, सौन्दर्यशास्त्र और मनोविज्ञान आदि विभिन्न ज्ञान की प्रशाखाओं पर समानाधिकार प्राप्त किया। शुक्ल जी ने भी दर्शन-मनोविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र का अद्भुत समन्वय किया, अपनी समीक्षा-पद्धति में। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य शुक्ल केवल 'साहित्य-समीक्षक' न थे। जो समीक्षक पाठकों को साहित्य समझने और उसका आनन्द सम्प्रेषित करने में सहायक सिद्ध हो, उसे साहित्य-समीक्षक कहा जा सकता है। परन्तु समीक्षक का सही दायित्व है कि वह उन अदृश्य विन्दुओं का दर्शन कराये, जिन पर साधारण तौर पर से पाठकों का ध्यान नहीं जाता है। आचार्य शुक्ल इसी कोटि के समीक्षक थे। केवल 'व्याख्येय आलोचना' को शुक्ल जी ने महत्त्व नहीं दिया। एलियट ने अपने निबन्ध 'द फंक्शन ऑव क्रिटिसिज्म' में इसका विरोध किया। वे इस प्रकार की आलोचना को 'लेमन स्क्वीजर स्कूल ऑव क्रिटिसिज्म' कहा करते थे। इससे कविता के प्रत्येक छन्द, शब्द का अर्थ निकाला जाता है। सम्प्रति, हिन्दी में इस प्रकार की समीक्षाएँ टीकाओं के रूप में प्रचलित हैं या कृति की राह से गुजरने वाली समालोचनाओं में। बहरहाल, आचार्य शुक्ल किसी विशेष 'साँचेवादी' समीक्षा के पक्षधर न थे।

३९, मॉडल हाउसेज,
लखनऊ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनका काव्य-सिद्धान्त

श्री अशोककुमार मिश्र

⊙

व्यक्ति जब "अपने आप को बिल्कुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। मनुष्य की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं।"[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने इस कथन में कविता-सृजन के पूर्व की उस दशा की आवश्यकता की ओर संकेत कर रहे हैं, जो कविता हेतु अपेक्षित है—अर्थात् हृदय की मुक्तावस्था। इस मुक्तावस्था में ही कविता या काव्य का सृजन सम्भव है। इस सृजन के लिए जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है वह है—शब्द-योजना, जो एक रूपपाकर 'कविता' नाम से पहचानी जाती है।

यह कविता भी कोरी कल्पना नहीं होती, बल्कि अनुभूतियों पर आश्रित होती है। शुद्ध अनुभूति की भावभूमि पर कविता का निर्माण होता है। "इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिये अपना पता नही रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है।"[२] दूसरे की अनुभूति को अपना समझ कर उसमें भावरूप तथा यथार्थरूप में रहकर ही उस तक पहुँचा जा सकता है तथा उसे शब्द-रूप में रूपायित किया जा सकता है। यही शुक्ल जी की कविता का निर्माण-सिद्धान्त रहा है। अपनी अनुभूतियों से ही कविता का सृजन सम्भव नहीं हो सकता, यदि होगा भी तो प्रभावहीन तथा अस्थायी। शुक्ल जी ने कविता को लोक-हित की दृष्टि से देखा था। उन्हें वही कविता प्रिय है जो 'नाना पदार्थों के साथ उनका प्रकृत सम्बन्ध प्रत्यक्ष करती है।' इस दृष्टि से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य शुक्ल कवि-कर्म या काव्य-लक्ष्य को एक सीमा तक ही संकुचित न रखकर उसे व्यापक-क्षेत्र में

---

१. रस-मीमांसा—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संवत् २०११, पृ० संख्या-६।

२. वही, पृ० सं० ७।

प्रतिष्ठित कराना चाहते थे। उनका यह व्यापक क्षेत्र आजकी भाषा में जनवादी या लोकवादी कहा जा सकता है।

शुक्ल जी ने अपनी साहित्यिक यात्रा की शुरूआत कविता-निबन्ध से की थी। आप की प्रारम्भिक कविताएँ मीरजापुर जनपद से भारतेन्दु-मण्डल के वरिष्ठतम सदस्य श्री प्रेमघन द्वारा सम्पादित 'आनन्द-कादम्बिनी' में प्रकाशित हुई थीं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रेमघन और 'आनन्द-कादम्बिनी' ही आचार्य जी के प्रथम काव्य-गुरु और काव्य-क्षेत्र रहे हैं। शुक्ल जी की कविता-यात्रा तथा आलोचना के विकास को आमने-सामने रख कर विचार करने पर उनकी मान्यताओं को सरलता से समझा जा सकता है। जैसे-जैसे कवि-मन का यथार्थ से परिचय-सम्पर्क होने लगता है, वैसे-वैसे उसकी कल्पनाओं का संसार क्रमशः क्षीण होता हुआ वास्तविकता के धरातल पर प्रतिष्ठित होने लगता है, उसके चिन्तन की धारा में ठहराव तथा गम्भीरता प्रवेश करने लगती है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि चिन्तन-मनन की बहुलता तथा गम्भीरता उसके काव्य-क्षेत्र में भी मुखर होने लगती है। आचार्य शुक्ल के साथ भी कुछ ऐसा ही था।

बीस वर्ष की अवस्था तक शुक्ल जी के लेख प्रकाशित हो चुके थे और इसके माध्यम से वह साहित्य में प्रतिष्ठित हो चले थे। ऐसे ही समय में उन्होंने अपनी कलम से भावुक कवि का स्वरूप प्रकट किया। आर्यावर्त की इस धरती का न जाने ऐसा कौन-सा प्रभाव है कि यहाँ का प्रत्येक कवि प्रथम उसी से सम्बोधित रहा है। शुक्ल जी की प्रथम रचना 'मनोहर छटा' प्रकृति को अर्पित रही है। प्रकृति का एक रूप में न रहना उन्हें प्रिय है। यही कारण है कि वे उसके निरन्तर गतिशील-परिवर्तित रूप पर मुग्ध थे—

> प्रकृति चित्र की छटा होत परिवर्तित ऐसी,
> चित्रकार की अजब अनोखी गति है जैसी।[1]

प्रकृति के इसी परिवर्तित रूप पर संसार की स्थिरता है। प्रकृति के इसी स्वरूप को आचार्य शुक्ल अधिक पसन्द करते थे। उनकी यह मान्यता थी कि प्रकृति ही व्यक्ति के अधिक समीप है। व्यक्ति के दुःख-सुख का सहचर तथा सच्चा गवाह प्रकृति होती है। कवि-व्यक्तित्व प्रकृति के केवल उस स्वरूप का ही अवलोकन नहीं करता जो सुन्दर हैं, अपितु उसके खुरदरे पक्ष को भी मान्यता देता है। प्रकृति अनन्त है—"अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूप में; कहीं रूखे, बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं भव्य, या विचित्र रूप में; कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है।"[2] यही चिर-साहचर्य की प्रतिष्ठित वासना ही वाणी का सहयोग पाकर कविता का रूप लेती है।

---

१. मधुर-स्रोत—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रथम संस्करण २०२८, पृ० सं० ९।
२. रस-मीमांसा—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० सं० १२।

यही प्रकृति कभी उसकी मनोदशा का कारण बनकर प्रिय लगती है, तो कभी खीझ की अवस्था में वह उससे अपने को पूर्णतः अलग रखने तथा उसे उसके नाम की असार्थकता पर कोसता है——

अहो विधाता वाम ! दया इतनी चित लावहु,
देश काल ते एहि बसन्त को नाम मिटावहु।
नहिं यह सब दरकार हमें, चहिए केवल अब,
उदर भरन हित अन्न और किन हरन होहिं सब।।[1]

कवि की यह भावुकता उसकी कवितामें ही नहीं, उसकी गद्य-परक रचनाओं में भी विद्यमान है। भारतीय मन बार-बार उनके हृदय को उद्वेलित करता है और वे उसे कहीं सायास और कहीं अनायास प्रयुक्त करने को बाध्य से हो जाते हैं। कविहृदय शुक्ल जी अपनी एकमात्र कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' में भी भावुकता का त्याग नहीं कर पाते हैं। यही क्रम उनकी कविताओं में भी देखने को मिलती है। 'ग्यारह वर्ष का समय' कहानी की नायिका अपने प्रियतम को सामने पाकर, उससे परिचित हो जाने के पश्चात् तुरन्त घूँघट काढ़कर उसके चरणों में पड़ जाती है, क्योंकि वह एक भारतीय नारी है और उसमें लज्जा का समावेश होता है——"उन्होंने चट अपना हाथ फैला दिया, जिस पर एक काला तिल दिखायी दिया। स्त्री कुछ काल तक उसी की ओर देखती रही, फिर मुख ढाँप कर सिर नीचा करके बैठ रही। लज्जा का प्रवेश हुआ।"[2] यही भाव आगे चलकर उनके 'शिशिर-पथिक' [सन् १९०५] कविता में भी स्पष्ट होकर सामने आता है। ध्यान दिया जाय तो यह भी एक संयोग ही है कि दोनों गद्य-पद्य रचनाओं की कथा-यात्रा एक समान है। 'शिशिर-पथिक' का पथिक भी अपनी प्रेमिका को अपना परिचय देते हुए कहता है——

कहुँ यहीं इक मन्मथ पूर है, जहाँ धनी बसती विधु-वंश की,
तहँ रह इक विक्रम सिंह जो, सुवन तासु यही रनवीर है।
गिरत ही इन बैनन पौन पे, मचि गयो कछु औरहि रंग ही,
बदन अँचल बीच छिपावती, मुरि परी गिरि भूतल भामिनी।।[3]

यह है आचार्य शुक्ल की प्रारम्भिक प्रकृतिपरक-भावुक कविताएँ जिनमें भावुकता अधिक तथा यथार्थ कम है। शुक्ल जी की कविता की गम्भीरता का परिचय उनकी देश-प्रेम-परक कविताओं में पहली बार देखने को मिलता है। यदि यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगा कि इन्हीं कविताओं तथा इसी अवधि की रचनाओं से शुक्ल जी के चिन्तन की वह प्रक्रिया शुरू होती है जिसके लिए वह साहित्य विख्यात है—वह है उनकी लोक-

---

१. 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल'—श्री चन्द्रशेखर शुक्ल, सं० २०१९, पृ० सं० २८०।

२. सरस्वती—भाग ४, संख्या ९, सितम्बर १९०३, पृ० सं० ३१७।

३. मधुर-स्रोत—पृ० सं० १८।

चेतना। आत्मानुभूति या स्वानुभूति को त्यागकर लोकानुभूति के धरातल पर वह पहली बार खड़े दिखायी देते हैं, जब उन्होंने 'भारत और बसन्त' नामक कविता का सृजन किया। वह उस समय भारतेन्दु-युग के अधिक समीप पहुँच जाते हैं, यद्यपि भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' का स्वर 'भारत और बसन्त' से अधिक प्रखर है। शुक्ल जी की इस कविता का स्वर सही माने में प्रेमघन के 'भारत सौभाग्य' नाटक के अधिक समीप ठहरता है। 'भारत सौभाग्य' तथा 'भारत और बसन्त' दोनों के उद्धृत अंशों से इस निकटता को अच्छे ढंग से समझा जा सकता है। दोनों की प्रारम्भिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

[स्थान भारत भवन]

[भारत और भारत सन्तान अचेत पड़े हैं, प्रवेश विद्या और बुद्धि का गाते हुए]

भए सकल नर में पहिले जे सभ्य सूर सुखरासी नामा।
ह०—सुजन सुजान सराहे सुमति विशाला रे हरी।
सब विद्या के बीज बोय जिन सकल नरम सिखलाये रामा।
ह०—"मूरख, परमनीच, ते अब गिनि जाला रे हरी।"[1]

आचार्य शुक्ल की 'भारत और बसन्त' का प्रारम्भ निम्न रूप से होता है—

[स्थान—एक प्राचीन राजभवन का अवशेष; भारत निश्चेष्ट पड़ा है।]

[झूमते हुए बसन्त का प्रवेश—पीछे पीछे एक आदमी फूल से भरी डाली और बहुत से पक्षी लिए हुए।]

कौन आस धरि, हे बसन्त ! अब आजु फेरि तुम आये।
हरे हरे द्रुम दल बहुलीने, सुमन भार लदवाये।।
× × ×
वे दिन सपने भये हाय, जब आवहु तुम यह द्वारे।
सुख सम्पति से भरे हमारे, सुत उमङ्ग के मारे।।[2]

शुक्ल जी की इस कविता में ब्रिटिश शासन के प्रति आक्रोश तो है परन्तु आक्रोश का वह भाव नहीं कहा जा सकता जो भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' में विद्यमान है। विकास-क्रम में इस प्रकार के भाव और अधिक प्रखर होकर उनकी 'देशद्रोही को दुत्कार' [आनन्द कादम्बिनी— मेघ ३ से ९, सं० १९६४, पृ० ६३] तथा 'फूट' [आ० का०, माला ७, मेघ १० और ११, सं० १९६४, पृ० ९४] कविताओं में प्रकट हुए हैं। इस प्रकार के भावों का उदय उनकी कविताओं तक ही सीमित न रहकर निबन्धों और लेखों में भी प्रकट होने लगा था। 'देशद्रोही को दुत्कार' के साथ ही उसी अंक में 'अपनी भाषा पर विचार' शीर्षक लेख में उनकी अपनी भाषा, संस्कृति तथा देश के प्रति लगाव को निम्न पंक्तियों द्वारा समझा जा सकता है—"यहाँ पर एक बात हम स्पष्ट रूप से कह देना चाहते हैं।

---

१. 'भारत सौभाग्य'—प्रेमघन, सन् १८८९, पृ० सं० ६५।

२. आनन्दकादम्बिनी, माला ६, मेघ ३, सम्वत् १९६३, पृ० सं० ४८-४९।

हम हिन्दू हैं, हिन्दुस्तान हमारा देश है, हिन्दी हमारी भाषा है। इस भाषा में अवश्यमेव हिन्दुओं के आचार-विचार का आभास रहेगा, इसमें अवश्य उनके प्राचीन गौरव की गन्ध रहेगी। कुढ़ने वाले भले ही कुढ़ें।"[1] ये पंक्तियाँ शुक्ल जी ने बहुत खीझ कर ही लिखा होगा, क्योंकि इस प्रकार के भाव की अभिव्यक्ति पुनः कहीं देखने को नहीं मिली। उपर्युक्त घोषणा जितनी सच है, उतनी ही सच यह भी है कि शुक्ल जी हिन्दी, हिन्दू तथा राष्ट्रीयता के नाम पर कभी भी समझौतावादी नहीं रहे। यही कारण है कि 'देशद्रोही को दुत्कार' में देशद्रोही के प्रति उनके मन में रत्तीभर भी सहानुभूति नहीं है—

स्वातंत्र्य की विमल ज्योति जगी जहाँ है,
आनन्द की अतुल राशि लगी जहाँ है।
जा देख ! स्वत्व पर लोग जमे जहाँ हैं,
तेरे समान नर क्या करते वहाँ हैं।।

× × ×

जा दूर हो अधम सन्मुख से हमारे,
हैं पाप-पुञ्ज तव पूरित अंग सारे।
जो देश से न हट तो हृद् देश से ही,
देते निकाल हम आज तुझे भले ही।।[2]

ऐसे देशद्रोहियों को देश से निकाल देना ही श्रेयस्कर होगा क्योंकि उनकी उपस्थिति से देश को सदैव संकट बना रहेगा। शुक्ल जी जैसे राष्ट्रप्रेमी को भला यह कब प्रीतिकर लगता। उन्हें यह अच्छी तरह से ज्ञात था कि ये ही वे अराजकतत्व हैं जो स्वार्थवश भाई-भाई में भी फूट करा सकते हैं। सम्भवतः इसी को ध्यान में रखकर ही उन्होंने इस प्रकार के तत्त्वों से दूर रहने की सलाह दी थी। आपसी तनाव, शक्ति के विखराव का कारण होता है। इस प्रकार का विचार उन्होंने अपनी कविता 'फूट' में व्यक्त किया है। एक रहने पर तो तुम्हारी आवाज समेत स्वर बनकर गूँज जाती थी परन्तु विखर जाने पर वह अस्तित्वहीन हो जायेगी—

दश सहस्र भारत सुपुत्र मिल कहाँ प्रेम प्रकटैंगे ?
गर्व सहित गर्जन करके निज गौरव गान करैंगे।
अब तो कर कुछ कृपा कि जिससे एक सभी फिर होवैं,
अपने मन की मैल देश की अश्रुधार में धोवैं।।[3]

उपर्युक्त पंक्तियाँ शुक्ल जी के राष्ट्रप्रेमी व्यक्तित्व को उस शिखर पर खड़ा कर देती है जहाँ तत्कालीन कोई भी कवि नहीं पहुँच पाया था। शुक्ल जी की काव्य-यात्रा में प्रथम

१. आनन्द-कादम्बिनी—माला ७, मेघ ३ से ९, सम्वत् १९६४, पृष्ठ ५५।

२. वही, पृ० ६३।

३. वही, माला ७, मेघ १० और ११, सम्वत् १९६४, पृष्ठ ९५।

चरण भावुकता से ओतप्रोत रहा है तो, द्वितीय चरण में राष्ट्रीयता उभर कर सामने आयी है।

द्वितीय चरण की काव्य-यात्रा के पश्चात् शुक्ल जी ने डेढ़ दशक तक अपनी लेखनी को काव्य-क्षेत्र से परे रखा। सन् १९२३ से पुनः इस क्षेत्र में प्रवेश किया और सन् १९३० तक विभिन्न सन्दर्भों पर समय-समय पर कविताएँ लिखते रहे। इस अवधि की अधिकांश कविताएँ उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में अधिक लिखी गयीं। आचार्य शुक्ल जी के भतीजे स्व० श्री चन्द्रशेखर शुक्ल ने अपनी पुस्तक [रामचन्द्र शुक्ल : जीवन और कर्तृत्व, सम्पादक, विश्वनाथप्रसाद मिश्र] में इस तथ्य को सहर्ष स्वीकार किया। उनके द्वारा निर्देशित कविताओं की सूची से भी यह भाव स्पष्ट हो जाता है।

सन् १९२३ से १९३० ई० तक की अवधि की कविताओं में ग्रामीण अंचलों तथा पर्वत के दृश्यों की अधिकता है। इन कविताओं में शुक्ल जी सच्चे भारतीय-मनीषा के रूप में उभरते हैं। इन्हीं कविताओं में उनकी तथाकथित छायावाद-विरोधी कविताएँ भी ली जा सकती हैं। इस काल की कविताओं की शुरूआत उन्होंने 'प्रकृति-प्रबोध' (माधुरी, चैत्र १९२३ ई०) से की। यह वह काल था जब कि हिन्दी-साहित्य में निराला जी की छायावादी कविताएँ प्रकाशित और प्रतिष्ठित होने लगी थीं। आचार-विचारों से शुद्ध भारतीयता का जीवन व्यतीत करने वाले शुक्ल जी को यह कुछ अटपटा-सा लगा था। छायावादियों के जाग्रतावस्था में भी स्वप्निल संसार में विचरने के भाव को नकारते हुए वे स्पष्टरूप से घोषणा करते हैं कि स्वप्न और जाग्रत में अन्तर होता है—

कर्म जिसे करते न जानते, है वह सोना।
होकर भी हम नहीं जानते जिसमें होना।।
कोई देख विराट रूप अपना घबराता।
गिरि, वन, सरि, पशु आदि सभी अपने में पाता।।
यदि जागृत है सत्य, स्वप्न है उसकी छाया।
इन दोनों का साथ सदा से रहता आया।।[1]

यह शाश्वत सत्य है, इनकी अभिन्नता ही कवियों के लिए प्रेरणा-स्रोत रही है। शुक्ल जी अन्त में छायावादियों के लिए कहते हैं—

कौओं ने चट छोड़ दिया यह पाठ पढ़ाना,
भला बने या बुरा बने बकते ही जाना।[2]

और इसके बाद वे कवियों को उस क्षेत्र में प्रवेश करने की सलाह देते हैं जहाँ से उन्हें कविता के लिए विपुल सामग्री मिल सकती है। कच्चे माल की उपलब्धि तो प्रकृति से ही हो सकती है। उसके लिए कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। ये सारी सामग्रियाँ कवि के आस-

---

१. मधुर-स्रोत—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० सं० २५।
२. वही, पृ० सं०२६।

पास विभिन्न रूपों में बिखरी हुई हैं। उसे ग्रहण करने के लिए कवि-हृदय तथा कवि-दृष्टि दोनों का होना अपेक्षित है। प्रकृति की मनोहरी छटा से लेकर उसके कीट-पतंगों तक में कविता का अंश विद्यमान है—

• घन-चित्रित अंबर अंक धरे, सुषमा-सरसी सरसाती जहाँ।
निधि खोल किसानों के धूल सने, श्रम का फल भूमि बिछाती जहाँ।
चुन के कुछ चोंच चला करके, चिड़िया निज भाग बँटाती जहाँ।
जननी धरणी निज अंक लिए, बहु कीट-पतंग खेलाती जहाँ।
ममता से भरी हरी बाँह की छाँह, पमार के नीड़ बसाती जहाँ।
कविता वह! हाथ उठाए हुए, चलिए कवि वृन्द! बुलाती वहाँ।[१]

आचार्य शुक्ल ने कविता के लिए जिस उर्वरा क्षेत्र की ओर संकेत किया है, उसे परवर्ती रचनाकारों ने अधिकाधिक मात्रा में अपनाया। यही कारण था कि शुक्ल जी ने कविवर पंत को अन्य छायावादियों की अपेक्षा प्राथमिकता दी। यद्यपि यह सच है कि आगे चलकर छायावाद के प्रति उनके विचारों में काफी अंश तक परिवर्तन हुआ था। पंत की कविताओं में सहज बोधगम्यता थी, प्रकृति के प्रति साहचर्य का भाव था, न उसमें कृत्रिमता थी और न ही अनुकरण की प्रवृत्ति। शुक्ल जी ने अपने समय में फैल रहे उस आन्दोलन का विरोध किया जो पश्चिम से आयातित था। यह आयात भी नवीन-काव्य आन्दोलनों का न होकर शिथिल व मृत काव्य आन्दोलन का था। अन्धानुकरण का जो उन्माद भारतीय काव्य-क्षेत्र में फैल रहा था, उसकी अधोगति की पूर्वानुभूति उन्हें थी। हिन्दी-साहित्य का छायावाद बहुत दिनों तक स्थायी न रह सका। विदेशी काव्य-आन्दोलनों की तरह इसकी भी आयु मात्र बीस वर्षों की रही। सन् १९१६ से १९३६ तक आते-आते छायावाद का अवसान हो गया। यद्यपि यह सच है कि इसी अल्प अवधि में इस आन्दोलन ने हिन्दी-साहित्य की प्रमुख विधाओं में अपना स्थायी स्थान बना चुका है। यहाँ तक कि कुछ आलोचकों ने छायावाद को ही हिन्दी काव्य-साहित्य का मापदण्ड मानकर काव्य-इतिहास का विभाजन भी कर रखा है।[२] छायावाद, प्रतीकवाद, प्रगतिवाद जैसे वादों के जन्म-मरण के सम्बन्ध में शुक्ल जी का कथन है—

"योरप में साहित्य-सम्बन्धी आन्दोलनों की आयु बहुत थोड़ी होती है। कोई आन्दोलन १० या २० वर्ष से ज्यादा नहीं चलता। ऐसे आन्दोलनों के कारण वहाँ बीसवीं शताब्दी में आकर काव्य-क्षेत्र के बीच बड़ी गहरी गड़बड़ी और अव्यवस्था फैली। काव्य की स्वाभाविक उमंग के स्थान पर नवीनता के लिए आकुलता मात्र रह गयी।"[३]

इन आन्दोलनों का जन्म-मरण इस रूप में देखा जा सकता है—रोमाण्टिक आन्दोलन

१. मधुर-स्रोत, पृ० सं० ९५।
२. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—शिवदान सिंह, १९५४ ई०, पृ० सं० ५८।
३. रस-मीमांसा, पृ० संख्या ३२४।

(सन् १८१०-१८२० ई०), प्रतीकवाद (१९००-१९२१ ई०), डाडावाद (१९१६-१९२१) तथा अभिव्यञ्जनावाद (१९१२-१९२५ ई०) आदि। हिन्दी-साहित्य में इन आन्दोलनों का पुनर्जागरण सन् १९१६ से हुआ। इसके बाद तो प्रत्येक दशक और अर्ध-दशक पर हिन्दी-साहित्य भी इन आन्दोलनों को प्रयुक्त कर गौरवान्वित होने लगा। शुक्ल जी ने इन आन्दोलनों को यह कहकर अस्वीकार किया कि "रहस्यवादी, प्रतीकवाद, मुक्तछंद-वाद, कला का उद्देश्य कलावाद इत्यादि तो अब वहाँ (विदेश) बहुत दिनों के मरे हुए आन्दोलन समझे जाते हैं।"[1]

यह मरा हुआ आन्दोलन ही बंगाल में आकर पुनर्जीवित हो उठा। बंगाल की उस काव्य-हवा को हिन्दी के कुछ कवियों ने अपनाया, जिनमें निराला जी का नाम प्रमुख है। यह भी संयोग ही था कि जिस समय बंगाल में इस काव्य-आन्दोलन का प्रवेश और पल्लवन हुआ, उस समय निराला जी भी बंगाल में स्थित रह कर रामकृष्ण संघ के 'समन्वय' पत्र का सम्पादन कर रहे थे। फलस्वरूप इस वाद का प्रथम प्रयोग हिन्दी-साहित्य में निराला और निराला की 'जूही की कली' से माना जाता है। आचार्य शुक्ल को कविता की भारतीय परम्परा से नितान्त भिन्न छंदहीन कविताएँ पसन्द न आयीं। अप्रसन्नता के भाव उनकी कविताओं तथा निबन्धों में मुखर हो उठे। अपने आन्तरिक अनुभूति को काव्यरूप में अभिव्यक्त किया—

काव्य में 'रहस्य' कोई वाद है न ऐसा, जिसे
लेकर निराला कोई पंथ ही खड़ा करे।
यह तो परोक्ष-रुचि रंग ही की झाईं है, जो
पड़ती है व्यक्त में अव्यक्तबिंबता धरे।।[2]

× × ×

कहीं बंग भंग-पद चकती चमक रही,
कहीं अंगरेजी अनुवाद का अनाड़ीपन।
ऐसे सिद्ध साँइयों की माँग मतवालों में है,
काव्य में न झूठे स्वाँग खींचते कभी हैं मन।[3]

शुक्ल जी का छायावाद विरोधी अभियान का यह अन्तिम पड़ाव था। शुक्ल जी का विरोध क्रमशः क्षरित होता जा रहा था। इसका कारण था, छायावाद का साहित्य में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो जाना। हिन्दी-साहित्य का वह अभिन्न अंग बन चुका था। बारीकी से निरीक्षण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी का विरोध उन रचनाओं से नहीं था जो यथार्थ के धरातल पर लिखे गये थे अथवा लिखे जा रहे थे। अनेकता में एकता की भावना

---

१. रस-मीमांसा, पृ० सं० ३२०।
२. मधुर-स्रोत, पृ० सं० ८४।
३. वही, पृ० सं० ८६।

भारतीय मनीषियों की चिन्तनधारा का अभिन्न अंग रहा है। जबकि पाश्चात्य-विचारधारा में झूठे-सच्चे विलक्षण भेद खड़ा करने का महत्त्व है। उनके इस उन्माद को कोई भारतीय कवि सोच भी नहीं सकता है। ग्राम्य-अंचलों की अल्हड़ता, पवित्रता तथा मानवता का यथार्थ चित्रण इन कविताओं में उपलब्ध है। गाँव के सम्बन्ध, एक-दूसरे को चिढ़ाकर-बिदकाकर आनन्द लेने की उद्दण्डता तथा युगों से चली आ रही संस्कृतियों की रक्षा का भाव यदि कहीं उपलब्ध है, तो इन गाँवों में ही जहाँ शहरों की सी कृत्रिमता नहीं। गाँव और शहर की संस्कृतियों का जैसा सूक्ष्म-सटीक तुलनात्मक चित्रण शुक्ल जी की दो पंक्तियाँ करा देती हैं, सम्भवतः उतना सटीक चित्रण अन्य कवि की लम्बी रचनाएँ भी नहीं करा पायेंगी—

ग्राम-ग्राम द्वार पर अतिथि समागम का,
गौरव सदा से इसी भाँति चला आया है।
नगरों के ऐसा वहाँ देख कोई आया गया,
दूर ही से कहीं कोई मुँह न चुराता है।
× × ×
नाता एक ग्राम से जो होता है किसी का उसे,
आस पास मानते हैं ममता के साथ कह।
देश के पुराने उस जीवन की धारा अभी,
सूखी नहीं यहाँ, क्षीण होकर रही है बह॥[1]

शुक्ल जी की यह आशंका आज अपने पूर्णरूप में चरितार्थ हो रही है। वह धारा क्षीण होती जा रही है जो गाँव तथा समाज को एकात्मकता के सूत्र में पिरोये हुए थी। इन सम्बन्धों एवं व्यवहारों के टूटने में पश्चिमी सभ्यता तथा उनके औद्योगिकीकरण की भूमिका प्रमुख रही है, जिसके कारण देश में पूँजीवादी व्यवस्था का प्रभुत्व होता जा रहा है। अर्थ और सत्ता का केन्द्रीयकरण होता जा रहा है जिसके कारण कुछ लोग सम्पूर्ण जाति के नियामक बन बैठे हैं। श्रम करने वाले मजदूर-श्रमिक-किसान आज उनके मुखापेक्षी बनकर जीवित रहने को मजबूर हैं। सामंतवाद के विरोध में पनपी यह पूँजीवादी व्यवस्था देश के अर्थ-तंत्र को व्यक्तिवादी बनाती चली जा रही है। शुक्ल जी जैसा समर्थ आलोचक अपनी पैनी-दृष्टि से केवल साहित्य की ही समीक्षा तक सीमित नहीं रहे, बल्कि देश में पनप रही उस पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना में भी व्यस्त थे—

सोखते हैं रक्त भरपेट कुछ लोग बैठ।
उनका जो तन के पसीने नित्य गारते।
× × ×
खोके पतिपानी, हार अपनी स्वतंत्रता को।
जनता वहाँ की मजदूर बन जावेगी।[2]

१. मधुर-स्रोत, पृ० संख्या ४३।

२. वही, पृ० सं० ४५-४६।

जहाँ सारी अर्थव्यवस्था अर्थतंत्र पर निर्भर करने लगती हैं, वहाँ सारे सम्बन्ध भौतिकता-मय हो जाते हैं। रागात्मक सम्बन्ध का अंश भी नहीं शेष रहता है। मन की पवित्रता अर्थ से नहीं, रागात्मक सम्बन्धों से सुरक्षित रहती है तथा पल्लवित होती रहती है। परन्तु शुक्ल जी यह देख रहे थे कि यह अर्थप्रधान व्यवस्था व्यक्ति को यंत्र में विकसित करती जा रही है। एक-दूसरे के दुःख-सुख का भागीदार बनने की प्रवृत्ति नहीं रही तथा उसके निवारण हेतु उन्हें अवसर नहीं। उन्हें अब एक ही धुन है—येन-केन प्रकार से धन-संचय। यह अर्थ-संचय उन्हें दुष्प्रवृत्तियों की ओर प्रेरित करती है और वे उसमें सायास बहते चले जाते हैं। मशीनीकरण व्यक्ति को चेतन से अचेतन की ओर ले जा रही है। उनमें रागात्मक सम्बन्धों के लिए रसत्व नहीं रहा। इस प्रकार की अव्यवस्था में मन की पवित्रता का ह्रास होना ही है—

सारी वृत्ति अर्थ से बँधेगी इस भाँति लोग,
कहीं आँख-कान तक व्यर्थ न लगावेंगे।
ऐसे इस अर्थ के अनर्थ से विभीत होके,
मन के पुनीत भाव सारे भाग जावेंगे।[१]

देश में पनप रही इस नयी संस्कृति से कविशुक्ल को यदि अपने समृद्धिशाली अतीत की याद ताजा हो उठे तो, क्या आश्चर्य है। उन्हें याद है किसानों का अपने जुते हुए बैलों के साथ खेत पर जाना, गाँव की अल्हड़ किशोरियों का घास के लिए जाना तथा उनका हास-परिहास, वियोगिनी का अपने परदेशी बालम की बाट जोहना, पी-कहाँ की रट लगाती पपीहों की अविकल रट और आपसी सद्‌भावना व प्यार का वातावरण। इन बातों के समक्ष आधुनिक संस्कृति का कोई मूल्य कैसे रह सकता है। अतीत तो जीवन को सुखमय बनाने का सबसे सशक्त माध्यम है—

किस अतीत-पट से छन-छन कर, रूप अमित स्मृति मधु-बन बनकर।
खुले नयन पथ की धारा में, कभी टपक कर घुल जाते हैं।[२]
तुम भी ग्राम खुले सपने हो, रूप रंग में वही बने हो।
ये खपरैल और ये छप्पर, गीले सोंधे मिट्टी के घर।
हमें न जाने कब की मीठी-मीठी, सुध में सुला रहे हैं।[३]
बैठ द्वार पर जो बिछोहती, परदेशी की बाट जोहती।
ऊपर किसी डाल पर धोई, पल भर बैठ पपीहा कोई।
धुन बाँधे, 'पी कहाँ, पी कहाँ? आग्रह भरा पूछ जाता है।[४]

---

१. मधुर-स्रोत—पृ० सं० ४६।
२. वही, पृ० सं० ३।
३. वही, पृ० सं० ५।
४. वही, पृ० सं० ६।

आचार्य शुक्ल की काव्य-यात्रा की यह अन्तिम कविता है जो सन् १९२९ की 'सुधा' में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद की कोई भी काव्य-रचना उपलब्ध नहीं है। अपनी इस अन्तिम काव्य-कड़ी में कवि-हृदय शुक्ल ने भारतीय जनमानस की अन्तस् गहराइयों में प्रवेश कर उनकी बात कही है जो आज भी क्षीण होती हुई भारतीय संस्कृति को अपने हृदय में अमूल्य थाती के रूप में सुरक्षित रखे हुए है। यह धरोहर व्यक्ति-केन्द्रित न होकर समष्टिवादी होकर विकसनशील रही है।

क्या कोई कह सकता है कि उपर्युक्त काव्य-पंक्तियाँ आधुनिक सन्दर्भों में सही नहीं हैं, जनवादी, लोकोन्मुखी अथवा जनमुखी कही जाने वाली वे पंक्तियाँ जिनमें मिट्टी की सोंध आती है, मजदूरों और किसानों के पसीने में रक्त का आभास देती हैं और मनुष्य की ढहती हुई आस्था का संकेत वर्णन कराती हैं। शुक्ल जी की उपर्युक्त पंक्तियाँ उन्नीस ठहरती हैं? जिन परिस्थितियों का वर्णन आचार्य शुक्ल चालीस-पचास वर्ष पूर्व अपनी रचनाओं में कर चुके हैं, वे ही आज साहित्य में एक नये वाद 'जनवाद' का नाम लेकर लिखी जा रही हैं तथा वे चर्चित और प्रशंसित भी हो रही हैं।

शुक्ल जी ने अपनी काव्य-यात्रा में समय-समय पर कुछ छोटी-छोटी घटना-प्रधान कविताएँ भी लिखीं। उनमें न तो प्रकृति का चित्रण है और न ही व्यवस्था पर आक्षेप। इन कविताओं में 'गोस्वामी जी और हिन्दू जाति' 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' तथा देवकीनन्दन खत्री के प्रति श्रद्धाञ्जलियाँ हैं तो शेष कविताएँ—याचना, हर्षोद्‌गार तथा रानी दुर्गावती आदि स्मरण-मात्र हैं। गोस्वामी तुलसीदास शुक्ल जी के प्रिय कवि रहे हैं। उनकी इस भावना के पीछे तुलसी का उदात्त व्यक्तित्व तथा लोकमंगल की भावना रही है। जिस लोकमंगल के प्रति चिन्तित होकर आचार्य शुक्ल ने 'मंगल की आभा की झलक रह जायेगी' लिखा था, उस लोक-मंगल की भावना का उदय हिन्दी-साहित्य में तुलसी ने जगाया था। तुलसी की लोकप्रियता उनकी मंगल की भावना तथा मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्रांकन के कारण थी। इस तथ्य को आचार्य शुक्ल ने स्वीकार किया है—

> रंजन करना साधु जनों का, दुष्टों को दहलाना,
> दोनों रूप लोक रक्षा के हैं, यह भूल न जाना।
> उभय रूप में देते हैं जिसमें भगवान दिखाई,
> वह प्राचीन भक्ति तुलसी से फिर से हमने पाई।[१]

दूसरी तरफ यदि भारतेन्दु न होते तो सम्भवतः हिन्दी-साहित्य को जो स्वरूप आज प्राप्त

---

१. मधुर स्रोत—पृ० सं० ९८।

है, उसकी रूप रेखा कुछ और ही होती। राजाओं, महाराजाओं तथा सामन्तों के महलों तक में ही सीमित रहने वाली हिन्दी विदेशियों के आगमन से उनकी भाषा का रूप लेकर अपने अस्तित्व को खोती जा रही थी। अस्तित्व की इस लड़ाई में हिन्दी का पक्षधर यदि कोई मिला तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। भारतेन्दु ने उसे जीवित किया, प्रतिष्ठित किया तथा उसमें विविध विधाओं का द्वार खोल दिया—

'पल्ला पकड़ विदेशी भाषा का दौड़े कुछ वीर,
नये-नये विज्ञान कला की ओर छोड़कर धीर।
पिछड़ गया साहित्य शिथिल तन लिया न उसको संग,
प्रिया ज्ञान रस आप, लगा वह नहीं जाति के अंग।
इसी बीच 'भारतेन्दु' कर बढ़े विशाल उदार,
हिन्दी को दे लगाया नये पंथ के द्वार।
जहाँ ज्ञान विज्ञान आदि के फैले रत्न अपार,
संचित करने लगी जिन्हें है हिन्दी विविध प्रकार।[१]

भारतेन्दु ने हिन्दी की रक्षा की और उसे विविध विधाओं से समुन्नत किया तो देवकीनन्दन खत्री ने उससे भी आगे बढ़कर हिन्दी का पाठक वर्ग तैयार किया। यह सर्वमान्य है कि खत्री जी ने अपने उपन्यासों से हिन्दी के पाठकों का ऐसा वर्ग तैयार किया जो हिन्दी रचनाकारों के लिए प्रेरणा-स्रोत बना। उनके उपन्यासों के संस्करणों तथा प्रतियों की संख्या देखकर इसका सहज अनुमान किया जा सकता है कि खत्री जी ने हिन्दी-साहित्य को कितनी बड़ी देन दी। उनके इसी योगदान को ध्यान में रखकर शुक्ल जी उनके प्रति श्रद्धानत हैं—

है यह शोक समाज आज उसके लिये।
जिसने हिन्दी के अनेक पाठक किये।
रचा तिलस्मी-जाल फँसे जिसमें बहुतेरे।
टो टो पढ़ने वाले और उर्दू के चेरे।
चन्द्रकांता हाथ न उनकी ओर बढ़ाती।
ढूँढ़े उनका पता कहीं हिन्दी फिर पाती।'[२]

इस प्रकार शुक्ल जी की बड़ी-छोटी कुल मिलाकर कविताओं की संख्या २६ ठहरती है। परन्तु इन्हीं कविताओं में उनके कवि-हृदय तथा काव्य-प्रतिभा का परिचय सहज ही उपलब्ध हो जाता है। अपनी गद्यात्मक रचनाओं में लोक मंगल को प्रमुखता प्रदान करनेवाला

---

१. मधुर स्रोत—पृ० सं० ९४।
२. उपर्युक्त—पृ० संख्या ९३।

कवि अपनी कविताओं में उस भावना से कहीं भी च्युत नहीं हुआ है। चाहे वह देश-भक्ति-परक काव्य रहा हो या तथाकथित छायावाद विरोधी कविता। छायावादी कविताओं के विरोध में उनका लोकानुरंजन ही झलकता है क्योंकि उनकी दृष्टि में कविता सर्वजन सुलभ तथा बोधगम्य होनी चाहिए। यह मानने में किसी को भी संकोच नहीं होना चाहिए कि छायावादी कविताएँ आज भी बोधगम्य नहीं हो पायी हैं। छायावादियों के सामान्य जनों तक पहुँचते देखकर उनका विरोध क्रमशः मन्द होता गया। शुक्ल जी की कविताओं का सार तत्त्व लोकानुरंजन तथा लोकमंगल ही है, चाहे उसे किसी भी दृष्टि से देखा जाय। यही शुक्ल जी की काव्य-यात्रा का शुक्ल-पक्ष है।

प्रेमघन मार्ग, वासलीगंज,
मीरजापुर

शुक्ल जी का व्यंग्य-विनोद

प्रो० रामशंकर द्विवेदी

शरबते दीदार की कीमत

एक शरबत की दूकान पर आचार्य शुक्ल और लाला भगवानदीन शरबत पीने गये। वीसवीं सदी की प्रथा के अनुसार विक्रेता ने अधिक लाभ की आशा में परिचारिकाएँ रख छोड़ी थीं। दोनों साहित्य महारथियों ने शरबत लिया। ठण्डे शरबत को पीने के बाद उनमें से एक ने पूछा—"कितना दाम हुआ ?"

'दस आने', सहज मुसकान सहित परिचारिका ने उत्तर दिया।

तीन आने के स्थान पर दस आने की बात कुछ अजीब-सी लगी। लाला भगवान-दीन जी ने शुक्ल जी की ओर आश्चर्य की मुद्रा में कुछ संकेत से पूछा। शुक्ल जी अपनी स्वाभाविक गम्भीर मुद्रा में थे। गम्भीर मुद्रा में ही बोले—"दे दीजिये दस आने। इसमें शरबते दीदार की कीमत भी शामिल है।"

काशी के साहित्य महारथियों में अग्रगण्य लाला भगवानदीन ने भी चलते-चलते कहा—'आप तो अपनी गम्भीरता शरबत की दूकानों पर भी लिये रहते हैं।'

गोड़ खियाय गा

डॉ० आत्माराम मिश्र ने आचार्य शुक्ल का एक संस्मरण इस प्रकार लिपिबद्ध किया है। वे कहते हैं कि एक बार शुक्ल जी लम्बी यात्रा से लौटे। उनकी छोटी पुत्री जिससे वे बड़ा स्नेह करते थे, उनके आते ही उनके पैरों से लिपट गयी। उससे विनोद करते हुए वे अपनी घरेलू बोली में बोले—अरे खियाय गा (अरे घिस गये।)

भोली-भाली बालिका ने कुतूहलवश पूछा—'कौन चीज बाबू जी ?'

शुक्ल जी ने कहा—'गोड़'।

बालिका ने पूछा—'चलत-चलत'।

शुक्ल जी ने कहा—'नाहीं रे'।

बालिका का कुतूहल और बढ़ा। उसने फिर पूछा—"तब कैसे ?"

शुक्ल जी ने गम्भीर होकर कहा—'छुअत, छुअत!'

शुक्ल जी का व्यंग्य

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सामान्य रूप से इतने गम्भीर थे कि उनकी विनोद-वृत्ति का परिचय बहुत कम भाग्यशालियों को मिल पाता था। पर जब कभी उनकी विनोद-वृत्ति स्फुरित होती थी, वे अपने हास्य को स्मित के आगे न जाने देते और अत्यंत सूक्ष्म ढंग से ही अपनी बात कहते। यहाँ दो घटनाएँ दी जा रही हैं। एक घटना तो क्लास-रूम की है। वर्षा की बहार, आचार्य शुक्ल जी पढ़ा रहे थे, बाहर मेघों की छटा, भेकों का सामूहिक मंगल-गान। विद्यार्थियों का ध्यान रह-रहकर उचट जाता था। कुछ ही क्षणों बाद विद्यार्थियों पर ऋतु का प्रभाव और गहरा हुआ और शुक्ल जी की उपस्थिति उन्हें याद न रही, आपस में बातचीत का स्वर मुखर हो गया। शुक्ल जी को व्याघात सह्य नहीं था, उन्होंने गम्भीर स्वर में पूछा—'यह क्या बात है कि आप लोग कक्षा में अवधान नहीं दे रहे हैं?" दो-एक विद्यार्थियों ने धृष्टता की—'ये मेढक टर्र-टर्र कर रहे हैं, पढ़ने नहीं देते।' शुक्ल जी ने धीरे से मूँछों के भीतर मुस्कराते हुए कहा—"पर आप लोग उनके स्वर में अपना स्वर क्यों मिला रहे हैं?"

दूसरी घटना साहित्यिक पर्यटन के अवसर की है। शुक्ल जी को विन्ध्य की सुषमा से हार्दिक लगाव था। वर्षा में प्रायः वे मिरजापुर अपने इने-गिने साहित्यिक साथियों के साथ घूमने जाते थे। एक बार घूमने गये तो संग में डॉ० जगन्नाथ शर्मा और पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी थे। घूमते-घामते उन्हें चाय की अमल हुई। फिर छोटी-सी चाय की दूकान पर आये। दूकान पर एक नागरी बैठी हुई थी। सामने पेड़ में झूला पड़ा हुआ था, पर झूला खाली था। शुक्ल जी चाय पी रहे थे और शर्मा जी पावस के रंग में रचे जा रहे थे। शर्मा जी से अन्ततः रहा नहीं गया, उन्होंने चायवाहिनी से पूछा—'यह झूला खाली क्यों पड़ा है?' उस नागरी ने तुरन्त उत्तर दिया—'मालिक आपके बदे झूला परल हौ।' शुक्ल जी तुरन्त पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को अलग ले गये और उन्होंने धीरे से कहा—'इस चायवाली ने शर्मा जी को झुला ही दिया।' इस 'झुलाने' में जो श्लिष्ट व्यंग्यार्थ था, उसका रसज्ञ ही आस्वादन कर सकते हैं।

'उद्दण्ड से कमीने तक'

स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल उन दिनों काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कोश विभाग में काम कर रहे थे। वास्तव में सभा के शब्दसागर नामक कोश का अधिकांश भार उन्हीं के ऊपर था, और वे बड़े परिश्रम से उस काम को करते थे। हिन्दी का पहला विशाल कोश बन रहा था और लोगों में उसकी प्रगति के संबंध में बड़ी उत्सुकता थी। साहित्यिक लोग विशेष रूप से उत्सुक थे और शुक्ल जी से बहुधा उसकी प्रगति के संबंध में प्रश्न किया करते थे। शुक्ल जी इन जिज्ञासुओं के प्रश्नों से ऊब गये थे, क्योंकि कोश का काम बहुत कठिन होता है और उसकी गति बहुत धीमी होती है क्योंकि उसमें बहुत सावधानी अपेक्षित है। एक साहित्यिक इस संबंध में बहुधा जिज्ञासा किया करते थे। जब उन्होंने बीसवीं

बार शुक्ल जी से पूछा—"इस सप्ताह में कहाँ-से-कहाँ तक पहुँचे?" तब शुक्ल जी ने अपनी घनी मूँछों के बीच से बड़ी गम्भीरता से कहा—"उद्दण्ड से कमीने तक।"

खाने भर को

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल देखने में बहुत गम्भीर थे। उनके विद्यार्थियों का कहना है कि हमने उन्हें कभी हँसते नहीं देखा। किन्तु उनके मित्र तथा साथ के उठने-बैठने वाले जानते हैं कि वह हँसते भी थे और विनोद-प्रिय भी थे। उनका व्यंग्य गम्भीर और तीखा होता था। यों तो उनकी रचनाओं में जहाँ-तहाँ वह देखने को मिलता है, किन्तु उनकी बातचीत में काफी उनके व्यंग्य के उदाहरण मिलते हैं। एक मनोरंजक घटना याद आ गयी। जब सभा में कोश का कार्य चल रहा था, उन दिनों कार्य-समाप्ति के पश्चात् सभा में वे, वर्मा जी, लाला भगवानदीन बैठ जाते थे। उन लोगों के मिलने-जुलने वाले भी बहुधा उस समय वहाँ पहुँच जाया करते थे और गप्प चला करती थी। दिया जलने तक यह समागम चलता था। एक दिन इसी प्रकार गप्प चल रही थी। शुक्ल जी ने सभा के चपरासी से कहा—"किसी मोची से मेरा जूता टकवा लाओ।" सभा के बाहर पटरी पर मोची, नाऊ आदि बैठा करते थे। अब भी वहाँ वह बिरादरी अपनी दूकान लगाये रहती है। दस मिनट बाद मोची हाथ में जूता लिये हुए आया। शुक्ल जी ने दो पैसे उसके हाथ में रख दिये। उसने कहा—"हुजूर खाने भर को न होगा।" शुक्ल जी ने बहुत गम्भीरता से कहा—"एक जूता से खाने भर को कैसे होगा?" मोची ने तो व्यंग्य-परिहास समझा नहीं किन्तु और लोग हँसते-हँसते लोट गये।

उड़ायी हुई

महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल दोनों ही हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक थे। उन दिनों रिक्शे नहीं चले थे। वाराणसी में उन दिनों इक्कों का ही रिवाज था। बनारसी इक्के बहुधा खुले हुए होते थे, अर्थात् उनमें छतरी नहीं होती थी। कभी-कभी दोनों महारथी एक साथ एक ही इक्के पर विश्व-विद्यालय से लौटते थे।

एक बार ये दोनों इक्के पर घर लौट रहे थे। दुर्गाकुण्ड के पास कुछ लड़के मैदान में पतंग लड़ा रहे थे। उनमें से एक पतंग कट गयी और संयोग की बात कि कटी हुई पतंग इन आचार्यों के इक्के के पास उड़ती हुई गिरने लगी। उसकी डोर उस ओर लटकती जा रही थी जिधर शुक्ल जी बैठे थे, और वह काफी नीची थी। शुक्ल जी ने हाथ बढ़ाकर लटकती हुई डोर को पकड़ लिया और उसे एक झटका दिया कि वह फिर संतुलित होकर उड़ने लगी। उन्होंने डोर का छोर हरिऔध जी की ओर बढ़ाते हुए विनोद में कहा—"लीजिए, उड़ाइए।" हरिऔध जी ने, जो मुहाविरों के माहिर थे, सूखे मुँह से गम्भीर होकर उत्तर दिया—"आप ही रखिए। मैं उड़ायी हुई नहीं उड़ाता।"

आचार्य शुक्ल की विनोदप्रियता

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आकृति बड़ी गम्भीर थी, किन्तु उनका हृदय बड़ा सरस और स्वभाव बड़ा विनोदी था। हाजिरजवाबी में तो वे बेजोड़ थे। किन्तु उनके विनोदी स्वभाव का परिचय उनके अन्तरंग मित्रों को ही मिल पाता था।

हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक होने के पहले वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हिन्दी शब्दसागर नामक कोश की तैयारी में लगे थे। उनके साथ लाला भगवानदीन जी और श्री रामचन्द्र वर्मा भी कोश विभाग में थे। गर्मी की ऋतु थी। वर्मा जी ने सभा के चपरासी को बाजार भेजकर गँड़ेरी मँगवायी। चपरासी का नाम पनारू था। जब गँड़ेरी आ गयीं और वर्मा जी उन्हें चूसने लगे तो लाला जी ने शुक्ल जी से कहा—"वर्मा जी की गँड़ेरियाँ पनारू द्वारा आती हैं।" शुक्ल जी ने उत्तर दिया—"क्या आप उसे नैविगेबल नहीं समझते?"

एक बार वर्मा जी को जुकाम हो गया और उसके कारण वे काम नहीं कर पा रहे थे। उन्होंने शुक्ल जी से कहा—"शुक्ल जी जुकाम में काम नहीं होता।" शुक्ल जी तत्काल बोल उठे—"जुकाम में तो काम लगा ही हुआ है।"

किसी स्कूली पाठ्य पुस्तक में चीरहरण पर एक कविता सम्मिलित थी। श्री साँवल जी नागर उसे देखकर बड़े क्षुब्ध हुए, और शुक्ल जी से उत्तेजित होकर बोले—"यह कविता एकदम निकाल देनी चाहिए। भला आप ही बताइये, बालकों को इसे कैसे पढ़ाया जायगा?" शुक्ल जी ने शान्त भाव से उत्तर दिया—"परेशान क्यों हैं? कह दीजिएगा कि कृष्ण जी स्काउटिंग करने गये थे।"

शुक्ल जी लिखते समय तर्जनी को कलम से दूर रखते थे। किसी ने इसका कारण पूछा,—तो बोले—"तर्जनी है न! लिखते समय पास आकर वर्जित न कर दे।"

मंगलाप्रसाद पारितोषिक में कटौती

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को उनके निबंध संग्रह 'चिन्तामणि' पर १२०० रुपये का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। वह पारितोषिक काशी के एक प्रसिद्ध रईस के नाम पर उनके परिवार ने स्थापित किया है, और हिन्दी साहित्य सम्मेलन उसे प्रदान करता है। यों तो हिन्दी में अनेक और बड़ी-बड़ी राशियों के पुरस्कार दिये जाते हैं, किन्तु जो सम्मान मंगलाप्रसाद पारितोषिक का है, वह अन्य किसी पुरस्कार का नहीं है।

जिस उत्सव में शुक्ल जी यह पुरस्कार लेने गये उसमें बैठक हिन्दुस्तानी ढंग की थी। अतएव शुक्ल जी को अपना जूता बाहर उतारना पड़ा। उन्होंने यह जूता एक-दो दिन पहले ही बारह रुपये में खरीदा था। जब पुरस्कार लेकर वे बाहर निकले तो देखा कि किसी ने उनका जूता तिड़ी कर दिया है।

शुक्ल जी इसी सोच में खड़े थे कि अब क्या करें, कि इतने ही में उनके कुछ मित्रों ने उन्हें घेर लिया और औपचारिक बधाई देने के बाद कहने लगे कि आपको बारह सौ रुपये

मिले हैं, कुछ हम लोगों का भी मुँह मीठा कराइये। शुक्ल जी ने सूखे मुँह से कहा—"बारह सौ कहाँ मिले ? ११८८ रुपये ही तो मिले हैं।" लोगों को आश्चर्य हुआ। वे बोले—"सो कैसे ? अभी-अभी तो आपको १२०० रुपये मिले हैं।" शुक्ल जी ने अपने नंगे पैरों को दिखाते हुए कहा—"भाई ! इसी पुरस्कार-उत्सव के लिए बारह रुपये के नये जूते ख़रीदे थे। आज उन्हें पहिनकर आया और वे किसी ने उड़ा दिये। अब बारह रुपये मुझे फिर खर्च करने पड़ेंगे वह इसी हिसाब में तो जायेंगे। अतएव मुझे तो नगद ११८८ ही मिले हैं। एक प्रतिशत से आपका मुँह मीठा कर देता सो जूतों में गये।"

लोग मिठाई माँगना भूल गये। शुक्ल जी के प्रति सहानुभूति प्रकट करने लगे। शुक्ल जी भी नंगे पैर एक इक्के पर बैठकर घर लौटे।

शुक्ल जी की विनोदपूर्ण सलाह

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी (भइया साहब) जब फैजाबाद में नियुक्त थे तब उन्होंने प्रान्त के हिन्दी शिक्षकों के लिए एक पन्द्रह-दिवसीय पाठ्यक्रम का आयोजन किया था। उनकी प्रार्थना पर आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल भी उसमें एक सप्ताह के लिए पधारे थे और उन्होंने आगत हिन्दी शिक्षकों के लिए हिन्दी साहित्य और इतिहास पर एक भाषणमाला दी थी। एक दिन वे दर्शन करने अयोध्या गये। वहाँ हनुमानगढ़ी के पास एक भिखारी खड़ा था जो बाबू लोगों से यह कहकर भीख माँगता था कि "साहब की टोपी ऊँची रहे।" उसको बार-बार यह टेक दुहराते सुनकर वे उसके पास गये और धीरे से बोले—"यदि तुम 'साहब की टोपी ऊँची रहे' के साथ यह भी कहा करो कि "मेम साहब की जूती ऊँची रहे" तो तुम्हें स्त्रियों से भी काफी पैसा मिले जो अभी तक तुम्हें कुछ नहीं देतीं।" बड़ी गम्भीरता से सलाह देकर वे मित्रों में आ मिले। मित्रों को यह जानने का कुतूहल हुआ कि शुक्ल जी उस भिखारी के पास क्यों गये थे कि सिवाय बात करने के उन्होंने उसे कुछ दिया नहीं था। वे बोले—"यही व्यापार-सम्बन्धी सलाह दी थी। बाद में उन्होंने अपनी सलाह बतलायी। वह भिखारी उन ऐसे गम्भीर और वृद्ध व्यक्ति से उस सलाह को सुनकर कुछ देर के लिए किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया, किन्तु शुक्ल जी के मित्रों ने 'जूती ऊँची रहे' का नारा याद कर लिया।

⊙

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और छायावाद

डॉ० श्यामसुन्दर घोष

⊙

कोई भी लेखक जो कुछ कहता है उसका महत्त्व तो है ही, लेकिन उसका महत्त्व भी कुछ कम नहीं होता जो उसका 'अनकहा' रह जाता है। लेकिन यह अनकही बात भी नितान्त गोपन नहीं रह पाती, किसी न किसी रूप में प्रकट हो ही जाती है। या तो 'कहे' के बीच उस अनकहे का संकेत छुपा होता है, या कहे में ही कुछ ऐसा अन्तर्विरोध होता है कि उसके माध्यम से उस अनकहे का आभास हो जाता है। यह किसी लेखक या कलाकार की कमजोरी ही नहीं है, इसके पीछे कुछ गहरे राज भी होते हैं।

इस संसार में कुछ भी इकहरा नहीं है। यदि ऐसा ही हो, तो फिर सृष्टि का आकर्षण ही क्या है? सृष्टि में सभी कुछ बहु आयामी है। इसीलिए सृष्टि में रहस्य हैं, गुत्थियाँ हैं और सोचने-समझने-गुनने की आवश्यकताएँ हैं। यह बात हमारे कथनों और अभिव्यक्तियों पर भी लागू है। इसीलिए जब कोई लेखक कुछ लिखता है, तो उसके अर्थ और आशय के अनेक रूप, आयाम और प्रकार होते हैं। जैसे कविता में बहुत कुछ पंक्तियों के बीच छुपा होता है, वैसे ही गद्य में भी होता है। इसे ही लेखक का अलक्षित आशय कहा जाता है। आलोचक, पाठक और पारखी, इस आशय को भी ढूँढ़ निकालते हैं। यह बात आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर भी लागू है। हिन्दी के कई लेखकों ने शुक्ल जी के ऐसे अलक्षित आशयों को समझा है। बहुत पहले 'अवंतिका' का काव्यालोचनांक (जनवरी, १९५४) प्रकाशित हुआ था। उसमें 'छायावाद का आरम्भ कब हुआ' शीर्षक परिसंवाद प्रकाशित हुआ था। उसमें भाग लेते हुए डॉ० प्रभाकर माचवे ने लिखा था—"पं० रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित और परिवर्द्धित सातवाँ संस्करण, संवत् २००८) में पृ० ६४७ और पृ० ६६९ पर उन्होंने यह स्पष्ट माना है कि 'अतः इस तृतीय उत्थान में जो परिवर्तन हुआ, और पीछे छायावाद कहलाया, वह इसी द्वितीय उत्थान की कविता के विरुद्ध कहा जा सकता है।' और 'यह पहले ही कहा जा चुका है कि छायावाद का चलन द्विवेदी काल की रूखी इतिवृतात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था।' सो स्वयं पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ही अपनी बात 'यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था' का खंडन किया है।"—(पृ० १९८-१९९)। यह बात तो बहुत पहले की है, इधर हाल में धूमिल की कविता पर विचार

करने के प्रसंग में डॉ० शुकदेव सिंह ने लिखा है—"क्या वजह है कि लोकमंगलवाद के प्रचारक आचार्य शुक्ल तीन धार्मिक कवियों—तुलसी, सूर और जायसी में प्रेम-व्यञ्जना और भावुकता का महत्त्व देखते हैं? क्या धार्मिक कवियों का लक्ष्य केवल प्रेम-व्यञ्जना और भावुकता होता है अथवा उनके लिए धर्म और आराध्य-प्रमुखता महत्त्वपूर्ण है? क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता कि छायावादयुगीन आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भक्तिकाल की कविता में सूर, तुलसी, जायसी के साथ घनानन्द को लेते हुए छायावाद की ही खोज कर रहे थे? इधर अपने समकालीन छायावाद का विरोध कर रहे थे, उधर ईर्ष्या, द्वेष, करुणा, उत्साह जैसे मनोभावों पर खुद निबंध लिख रहे थे और इन्हीं मनोभावों पर लिखित प्रसाद के 'कामना' नाटक और अन्यतम काव्य 'कामायनी' को अस्वीकार कर देने की तैयारी भी कर रहे थे। शुक्ल जी वस्तुतः छायावादी थे, उनके सम्पूर्ण लेखन में छायावादी दृष्टि का ही विस्तार है। लेकिन वे छायावाद के प्रबल विरोधी भी थे।"—(धूमिल की कविताएँ, पृ० १६-१७)।

शुक्ल जी के संबंध में कही गयी ये बातें बहुत मार्के की हैं। इस सन्दर्भ में कोई कह सकता है कि यह शुक्ल जी का अन्तर्विरोध है। अन्तर्विरोध शब्द से चौकने की जरूरत नहीं है। हर बड़े लेखक में अन्तर्विरोध होता है। इस अन्तर्विरोध में ही उसके विकास के बीज भी छुपे होते हैं। इसे हम अन्तर्विरोध न कहकर विचारों का द्वैत भी कह सकते हैं। विचारों का यह द्वैत आचार्य शुक्ल में भी है। अब इस द्वैत के बीच से ही लेखक के असली आशय को ढूँढ निकालने की आवश्यकता है।

कोई भी कवि, लेखक या विचारक अपने युग की उपज भी होता है। उसमें अतीत और वर्तमान दोनों मिले-गुँथे होते हैं। इसका अनुपात अलग-अलग लेखकों में अलग-अलग होता है। किसी में यह समतुल्य भी हो सकता है। किसी में अतीत अधिक होता है, तो वर्तमान कम, और किसी में वर्तमान अधिक होता है तो अतीत कम। ऐसे कम ही लोग होते हैं जिसमें कोई एक ही काल सम्पूर्णतः हो। आचार्य शुक्ल पर विचार करते हुए उनके पारम्परिक रुख पर तो लोगों की दृष्टि बहुत गयी है, पर उस पारम्परिक रूप के पीछे भी एक अपारम्परिक आशय और चेष्टा है, इस पर लोगों का ध्यान अधिक नहीं गया है। हमारा ध्यान स्वभावतः ही प्रमुख पर जाता है, गौण पर नहीं। लेकिन किसी भी व्यक्ति या प्रवृत्ति का गौण अंश भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। बहुधा देखा जाता है कि विकास के क्रम में गौण, प्रमुख और प्रमुख, गौण हो जाता है। इसलिए गौण को गौण मानकर अनदेखा नहीं करना चाहिए।

शुक्ल जी के अनुसार—"खड़ीबोली की कविता में पदलालित्य, कल्पना की उड़ान, भाव की वेगमती व्यञ्जना, वेदना की विवृति, शब्द-प्रयोग की विचित्रता इत्यादि अनेक बातें देखने की आकांक्षा बढ़ती गयी।"[1]

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, आठवाँ संस्करण, पृ० ६४७।

इस आकांक्षा के मूल में कौन-से कारण थे, शुक्ल जी ने इसकी ओर भी संकेत किया है—"द्वितीय उत्थान की कविता में काव्य का स्वरूप खड़ा करनेवाली दोनों बातों की कमी दिखायी पड़ती है—कल्पना का रंग भी बहुत कम या फीका रहता था और हृदय का वेग भी खूब खुलकर नहीं व्यञ्जित होता था। इन बातों की कमी परम्परागत ब्रजभाषा-काव्य के आनन्द लेने वालों को भी मालूम होती थी और बंगला या अंग्रेजी की कविता का परिचय रखनेवालों को भी।"[1] छायावाद ने इस कमी की पूर्ति करने की चेष्टा की।

छायावाद अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता है, यह स्वयं शुक्ल जी के वक्तव्य से ही सिद्ध हो जाता है—"तृतीय उत्थान में जो परिवर्तन हुआ और पीछे छायावाद कहलाया, वह इसी द्वितीय उत्थान की कविता के विरुद्ध कहा जा सकता है।"[2] शुक्ल जी के इस वक्तव्य का तात्पर्य, जैसा कि उन्होंने इतिहास में अन्यत्र भी कहा है, यही है कि छायावाद द्विवेदी-युगीनकाव्य की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उद्भूत हुआ। इसे ही कुछ आलोचकों ने 'सूक्ष्म का स्थूल के प्रति विद्रोह' कहा है।

यहाँ विरोध और प्रतिक्रिया[3] ये दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं। क्रिया और प्रतिक्रिया से मूल का ही विकास होता है। स्थिति (Thesis) और प्रतिस्थिति (Antithesis) के बाद समस्थिति (Synthesis) आती है। विद्रोह, रूढ़ि या सीमाओं का ध्वंस कर परम्परा को व्यापकता और विस्तार देता है, उसमें नवीनता का समावेश करता है। माचवे ने भी माना है कि कोई भी विकास विरोध के बिना घटित नहीं होता। प्रतिक्रिया और विद्रोह परम्परा को मिटाते नहीं, उसे विकसित करते हैं, नया रूप देते हैं। इस तरह यह सिद्ध है कि छायावाद परम्परा का ही विकास है।

"द्वितीय उत्थान के समाप्त होने के पहले ही कई कवि खड़ीबोली काव्य को कल्पना का नया रूपरंग देने और उसे अधिक अन्तर्भाव व्यञ्जक बनाने में प्रवृत्त हुए, जिनके प्रधान थे—सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय और बदरीनाथ भट्ट। कुछ अंग्रेजी ढर्रा लिए हुए जिस प्रकार की फुटकल कविताएँ और प्रगीत-मुक्तक (Lyric) बँगला में निकल रहे थे, उसके प्रभाव से कुछ विशृंखल वस्तु-विन्यास अनूठे शीर्षकों के साथ चित्रमयी, कोमल और व्यञ्जक भाषा में इनकी नये ढंग की रचनाएँ संवत् १९७०-७१ से निकलने लगी थीं, जिनमें से कुछ के भीतर रहस्यभावना भी रहती थी।"[4] यही छायावाद का

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६४७।

२ वही।

३ विरोध और प्रतिक्रिया, परम्परा के स्वाभाविक विकास के ही सूचक हैं, क्योंकि विकास का अर्थ सदैव परिपाटी-पालन ही नहीं होता। कोई भी विकास विरोध के बिना घटित नहीं होता। इस तरह शुक्ल जी अनजाने ही छायावाद को हिन्दी साहित्य की परम्परा का स्वाभाविक विकास सिद्ध करते गये।—नामवर सिंह, छायावाद, पृ० १४१।

४ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६४८।

पूर्वाधार है। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी में इसी का सुष्ठु विकास परिलक्षित होता है।

छायावाद के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि वह कवियों के मस्तिष्क की उपज था, और जैसा कि शुक्ल जी भी कहते हैं—"हिन्दी के कुछ नये कवि उधर एक बारगी झुक पड़े।" एकदम ठीक नहीं है। उसका सहृदयों के साथ भी सम्बन्ध रहा है। छायावाद सामयिक आवश्यकता था।[१] स्वयं शुक्ल जी ही अपनी पंक्तियों से इस मंतव्य की पुष्टि करते हैं—"सुधार चाहनेवालों में कुछ लोग नये-नये कवियों की, ओर प्रवृत्त खड़ीबोली की कविता को ब्रजभाषाकाव्य की-सी ललितपदावली तथा रसात्मकता और मार्मिकता से समन्वित देखना चाहते थे। जो अंग्रेजी की या अंग्रेजी के ढंग पर चली हुई बंगला की कविताओं से प्रभावित थे वे, कुछ लाक्षणिक वैचित्र्य व्यञ्जक चित्र-विन्यास और रुचिर अन्योक्तियाँ देखना चाहते थे।"[२] इस तरह यह स्पष्ट है कि छायावाद मात्र कुछ नये कवियों के उधर एक बारगी झुकने के कारण ही सम्भव नहीं हुआ, वरन् उसकी आवश्यकता सहृदय समाज भी अनुभव कर रहा था।

ऊपर शुक्ल जी के वक्तव्यों से यह सिद्ध करने की चेष्टा है कि शैली की दृष्टि से छायावाद, परम्परा का ही स्वाभाविक विकास है। अब शुक्ल जी की पंक्तियों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की जा सकती है कि भाव की दृष्टि से भी छायावाद परम्परा की ही कड़ी है। इसका बंगाल अथवा यूरोप से कोई सम्बन्ध नहीं है।[३]

छायावाद के रहस्यवादी पक्ष पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है—"कबीरदास किस प्रकार हमारे यहाँ के ज्ञानवाद और सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद को लेकर चले, यह हम पहले दिखा आये हैं।"[४] उसी "भावात्मक रहस्य-परम्परा का यह नूतन भावभंगी और लाक्षणिकता के साथ आविर्भाव है।"[५] इससे सिद्ध है कि भाव की दृष्टि से भी छायावाद, हिन्दी भावधारा की ही कड़ी है। उसकी आध्यात्मिकता का मूल-स्रोत रवीन्द्रनाथ नहीं है। रवीन्द्रनाथ ब्राह्म थे और ब्राह्म-मत और ईसाई-धर्म में कुछ समानता है, इसलिए शुक्ल जी ने अनुमान कर लिया कि रवीन्द्रनाथ की आध्यात्मिकता का मूल स्रोत यूरोप है। इस अनुमान का कोई आधार नहीं है। रवीन्द्रनाथ पर ईसाई संतों के छायाभास की अपेक्षा कबीर आदि का प्रभाव अधिक स्पष्ट है।

यहाँ हम एक दूसरी समस्या पर भी संक्षेप में विचार कर लेना चाहते हैं। शुक्ल जी ने इतिहास में एक जगह लिखा है—"भारतीय परम्परा का कोई कवि, मणिपूर, अनाहत आदि

१ छायावाद हमारी विशेष सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकता से पैदा हुआ।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६४७।

३ छायावाद—पृ० १२, नामवर सिंह।

४ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६४, ६५, ७७।

५ वही, पृ० ६५२।

चक्रों को लेकर तरह-तरह के रंगमहल बनाने में प्रवृत्त नहीं हुआ।[1]" फिर उसी पृष्ठ पर वे दूसरी जगह लिखते हैं—"क्या वाल्मीकि से पंडितराज जगन्नाथ तक कोई एक भी ऐसा कवि बताया जा सकता है जिसने अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर प्रियतम बनाया है और उसके प्रति कामुकता के शब्दों में प्रेम की व्यञ्जना की है?"

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है। आखिर शुक्ल जी परम्परा का क्या अर्थ लेते हैं? परम्परा में क्या केवल वाल्मीकि और पंडितराज जगन्नाथ जैसे कवि ही आते हैं—सिद्ध, नाथ, संत आदि कवि नहीं? सच पूछिये तो शुक्ल जी परम्परा का अपेक्षाकृत संकुचित अर्थ लेते हैं। उनकी दृष्टि में सूर और तुलसी तो परम्परा से हैं, किन्तु कबीर आदि परम्परा से बाहर हैं। शुक्ल जी की यह मान्यता इसलिए है कि वे परम्परा से मात्र शास्त्रीय परम्परा का अर्थ लेते हैं, लोक-परम्परा को छोड़ देते हैं। लोकपरम्परा का भी अपना महत्त्व है। कबीर आदि संत कवि लोक-परम्परा के कवि हैं। शास्त्रीय परम्परा के साथ लोक-परम्परा भी समानान्तर गति से चलती रहती है। यदि बीच में से उसकी कुछ कड़ियाँ गायब हो जायँ, तो भी वह परम्परा ही रहेगी, विदेशी चीज नहीं हो जायेगी। लोक-परम्परा का परमपूर साहित्य नहीं होने से अक्सर लोगों को उसके संबंध में भ्रम हो जाता है। और फिर, परम्परा में तो नित नयी-नयी बातों का समावेश होता चलता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर कबीर आदि संत कवि, परम्परा के ही पोषक समझे जायेंगे और उनकी भावनात्मक रहस्य-परम्परा का नूतन भावभंगी के साथ विकास करने वाले छायावादी कवि भी परम्परा के ही वाहक हैं।

⊙

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६५२।

आचार्य शुक्ल का काव्य

डॉ० माधवप्रसाद पाण्डेय

⊙

मधुस्रोत

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की स्फुट मौलिक कविताओं का संग्रह 'मधुस्रोत' उनके मौलिक कवि-व्यक्तित्व का अच्छा निदर्शन है। तीस वर्ष की लम्बी अवधि के बीच समय-समय पर लिखी गयी मुक्तक कविताओं के इस संग्रह की महत्ता एवं उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्कालीन प्रकाशन-मंत्री पं० करुणापति त्रिपाठी ने लिखा है कि—"शुक्ल जी के समीक्षक रूप ने उनके कवि, भाषान्तरकार आदि नाना रूपों को इतना आच्छन्न कर रखा है कि उधर उनके अध्येताओं की दृष्टि नहीं जाती। अध्ययनेच्छुओं के समक्ष सामग्री की दुष्प्राप्यता भी विकट समस्या उपस्थित करती रही है। प्रस्तुत-संग्रह उसी का समाधान है।"[1]

आचार्य शुक्ल कवि थे। कविता का मर्म उन्होंने जाना था। कालान्तर में उनके काव्यमर्मी रूप की विशालता में उनका कवि-रूप ढँक-सा गया। वे साहित्येतिहास लेखक, समीक्षक और निबन्धकार के रूप में विख्यात हुए। वे बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न थे। उन्होंने इतिहास, दर्शन और विभिन्न भाषा की साहित्य-रचनाओं का अध्ययन किया था। दूसरी भाषाओं में संचित ज्ञान का एक बड़ा भण्डार शुक्ल जी द्वारा हिन्दी में लाया गया। उनकी सशक्त लेखनी अनुवादों में भी मौलिकता का रंग भर गयी है। यह सच है कि शुक्ल जी के आचार्यत्व के समक्ष उनके साहित्यकार के अन्य रूप बौने प्रतीत होते हैं; किन्तु आलोचना के सोपानों पर उनके बढ़ते कदम को उनकी कविता सहारा देती है। यद्यपि शुक्ल जी का आलोचक हिन्दी साहित्य-जगत् का प्रखर दिवाकर है, पर उनका कवि भी उसी के क्षितिज पर शुक्र नक्षत्र के सदृश मधुर आलोक बिखेरता उनके कवि व्यक्तित्व को उजागर करता है।

डॉ० रामविलास शर्मा उनके कवि-रूप की चर्चा के संदर्भ में कहते हैं कि "अनेक कवियों ने आलोचनाएँ लिखी हैं; पर शुक्ल जी उनमें नहीं हैं। वे उन आलोचकों में हैं

---

१. मधुस्रोत। प्रकाशकीय, पृ० २।

जिन्होंने कविताएँ लिखी हैं।"[1] शुक्ल जी के आचार्य का साथ उनके कवि ने बराबर दिया है। वे स्वयं अपने एक कथन में इस तथ्य की पुष्टि करते हैं--"यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है, वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता, अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है।"[2] बुद्धि की यात्रा की थकान तभी मिटी है जब हृदय का पाथेय उसे मिलता है। 'मधुस्रोत' की कविताएँ भिन्न-भिन्न स्वादों का पाथेय हैं।

शुक्ल जी की काव्य-समीक्षा विषयक मानदण्ड निश्चित करने का संदर्भ उठाते हुए डॉ० रामविलास शर्मा लिखते हैं--"यह प्रयत्न किया जा सकता है कि शुक्ल जी ने काव्यालोचन के जो सिद्धान्त स्थिर किये थे, उन्हीं के अनुसार इन कविताओं की समीक्षा की जाय अथवा शुक्ल जी के काव्य-सिद्धान्तों की छाया-रेखाएँ इन कविताओं में प्रतिबिम्बित देखी जायँ।"[3] डॉ० शर्मा का निष्कर्ष है कि "शुक्ल जी के आलोचना-साहित्य से उनका जो विकास प्रकट नहीं होता, उसी की जानकारी के लिए कविताओं का अध्ययन आवश्यक है।"[4] यह तो ठीक है, पर आचार्य शुक्ल के काव्यानुशीलन के लिए कोई निश्चित आधार चाहिए। शुक्ल जी पहले आचार्य हैं, बाद में कवि--इस दृष्टिकोण के समर्थकों को शुक्ल जी की कविता की परख करते समय तनिक निराश होना पड़ेगा। 'मधुस्रोत' की रचनाओं का अवधि-विस्तार सन् १९०१ से १९२९ तक है और 'बुद्धचरित' भी सन् १९२२ में प्रकाशित हो गया था। उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सन् १९२९ में प्रकाशित हुआ। काव्य-मूल्यांकन के मानदण्ड की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मानदण्डों को स्थिर करते समय शुक्ल जी की अपनी कविताएँ भी सामने थीं। यों शुक्ल जी कविताएँ यदा-कदा ही लिखते थे। डॉ० शर्मा के अनुसार--"कभी गाँवों की सैर को गये, तब जो कुछ देखा-सुना, उसे डायरीनुमा कविताओं में लिख डाला या छायावादियों के उत्पात से उत्तेजित हुए तो दो-चार खरी-खोटी सुना दी।"[5] उपर्युक्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचा जा सकता है कि शुक्ल जी की कविता की परख के लिए उनके ही काव्य-मानकों को ध्यान में रखना होगा।

'मधुस्रोत' मुक्तक काव्य-संग्रह है और 'बुद्धचरित' प्रबन्ध। 'मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती....इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है।"[6] मुक्तककाव्य की परिधि का सीमांकन करते हुए आचार्य

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २३८।

२. चिन्तामणि, भाग १--निवेदन।

३. डॉ० रामविलास शर्मा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २३८।

४. वही। ५. वही, पृ० २३८-३९।

६. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, (संस्करण २००५ वि०) पृ० २४७।

शुक्ल इस प्रसंग को आगे बढ़ाते हैं--"यदि प्रबन्धकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुनाव हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खण्डदृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मंत्रमुग्ध-सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं या व्यापारों का एक छोटा-सा स्तबक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है।"[१]

'मधुस्रोत' की कविताओं में हृदय की कली को कुसुमित करने वाले रसबिन्दुओं के स्रोत ही हैं, एकाधिक मनमोहक गुलदस्ते हैं और पाठक को मंत्रमुग्ध करने वाले अनेक मनोहर खण्डदृश्य भी। उन्होंने सचमुच 'मनोरम वस्तुओं और व्यापारों' के स्तबक बनाये हैं। मधुस्रोत सही अर्थों में मधु का सोता है। इसमें सोंधी धरती की महक महसूस होती है, सुषमा सगी-सी लगती है तथा राष्ट्रीयता के साथ महान् व्यक्तित्वों की झलक भी मिलती है। अंग्रेज कवि मिल्टन का यह कथन कि कविता सरल, ऐन्द्रिय और भावमय होनी चाहिए, शुक्ल जी की कविता पर पूर्णतया चरितार्थ होता है।

इस संग्रह की कतिपय प्रमुख रचनाएँ आकार में बड़ी हैं और कतिपय लघु। बड़ी रचनाओं में प्रमुख मधुस्रोत, हृदय का मधुर भार, शिशिर पथिक, भारत और वसन्त तथा लघु रचनाओं में मनोहर छटा, वसन्त और पथिक और आमन्त्रण आदि हैं। ये रचनाएँ आचार्य शुक्ल द्वारा निर्मित गुलदस्ते हैं--'मधु स्रोत' इस संग्रह की पहली रचना है। इसमें माटी की मीठी गंध, प्रकृति का अलस रूप, भावुकता की कसौटी-प्यार, अतीत की मधुर स्मृतियाँ अपने स्वाभाविक एवं सहज रूप में प्रवहमान हैं। अतीत की यादों की मिठास का स्रोत ही तो मधुस्रोत है--

किस अतीत-पट से छन-छन कर
रूप अमित स्मृति मधु बन-बनकर
खुले नयन पथ की धारा में
कभी टपक कर घुल जाते हैं।

निसर्ग की सुषमा बे-हिचक सगी प्रतीत होती है। उसके आकर्षण से पुरानी प्रीति अँगड़ाई लेकर जाग उठती है--फिर चाहे फूलों से सजी जंगल की पगडण्डी हो या खादर की खाड़ी, चाहे निर्मल मधुर झरना हो या ऊसर।

यही पुरानी प्रीति हमारी
जगकर कर देती है प्यारी
जैसे कुसुम कलित वन-वीथी
वैसी ही खादर की खाड़ी।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास--रामचन्द्र शुक्ल (संस्करण २००५ वि०) पृ० २४७।

जैसी अमल मधुर निर्झरिणी
वैसी ही ऊसर की खाड़ी।

कवि का अतीत प्रेमीमन भरमता हुआ चित्रकूट की मंदाकिनी में गोते लगाने लगता है। राम-रमी सुषमा उसकी आँखों में समा जाती है। वहाँ की वनवीथियाँ राम के चरणचिह्नों को अपनी गोद में सँजोये हुए हैं, इसलिए प्यारी लगती हैं और कँटीले झाड़ भी इसीलिए प्यारे लगते हैं क्योंकि इनके पूर्वज राम के पैरों में चुभे थे—

मंदाकिनी-सलिल से सींची
चित्रकूट की ऊँची-नीची
भक्ति, लहर-सी भूमि भिगोती
भारतीय मन भास रही है।
× × ×
राम रमी सुषमा छाई है
कुछ आँखों की बन आई है।
× × ×
वन-वीथियाँ यहाँ की सारी
जिन्हें रामपद अंकित प्यारी
लगती हैं, उनके समीप ये
झाड़ कँटीले भी हैं प्यारे,
हैं उनके ही वंशज ये जो
कभी राम को चुभे हमारे।

'मनोहर छटा' तो प्रकृति-सौन्दर्य का कोष ही है। जहाँ तक कवि की दृष्टि जाती है, 'शैल, नदी, तरु, भूमि, अटपटी' के अलावा अन्य कुछ नहीं दीखता। ऐसी ही सगी सुषमा-प्रेमीजनों की चिरपिपासा बुझाती है—

इतही प्रेमपियास बुझत प्रेमीगण की अति।
आय मिलत जब प्रेम प्रेयसी मंद मधुर गति।

इस संग्रह की सबसे बड़े आकार की कविता है—'हृदय का मधुर भार'। इसमें अनेक खण्डदृश्य हैं जो अपनी सम्पूर्ण रमणीयता के साथ शुक्ल जी के कवि-हृदय की रमणीयता का बोध कराते हैं। कवि-कल्पना के एकाधिक स्तवक बड़े करीने-से सजाकर रखे गये हैं। कवि इन स्तवकों के मधुर भार से विस्मित है। तभी तो अपने हृदय से पूछता है—

हृदय क्यों लाद लिया यह भार—
किसी देश की, किसी काल की छाया का भण्डार?

८० छन्दों की यह रचना तीन झलकों में विभाजित है, जिसमें अनेक खण्डदृश्य सामने आकर शुक्ल जी को सफल मुक्तककार के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। 'पहली झलक' में नगर से दूर गाँव की एक बस्ती अपने सौन्दर्य से कवि को स्नात किए हुए हैं—

नगर से दूर कुछ गाँव की सी बस्ती एक,
हरे भरे खेतों के समीप अति अभिराम,
जहाँ पत्रजाल अन्तराल से झलकते हैं,
लाल खपरैल श्वेत छज्जों के सँवारे धाम।
बीचोबीच वटवृक्ष खड़ा है विशाल एक,
झूलते हैं बाल कभी जिसकी जटायें थाम,
चढ़ी मंजु मालती-लता है जहाँ छाई हुई,
पत्थर की पट्टियों की चौकियाँ पड़ी हैं श्याम।

कवि के साथ पाठक भी गाँव की उस बस्ती तक पहुँच जाता है या यों कहें कि वह ग्राम लोक जैसे कवि को अभिभूत किये हुए है, वैसे ही पाठक का मन भी कुछ क्षण वहाँ की अभिरामता से घिर जाता है। गाँव के खेतों में पीली-पीली विंदियों जैसे सरसों के फूलों की सुषमा, उसके आसपास हरी, भूरी घास का विस्तार, कुछ और आगे नीले आकाश को छूने वालो नीली पर्वतश्रेणी का सौन्दर्य, कवि को उसके आसपास देवलोक की कल्पना करने को उत्साहित करते हैं—

भूरी, हरी घास आसपास, फूली सरसों है,
पीली पीली विंदियों का चारों ओर है पसार।,
कुछ दूर विरल, सघन फिर, और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत-पारावार।
गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग राशि-रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर इसे घेरघार,
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ-मण्डल से,
धुँधली-सी नीली नगमाला उठी धुँआधार।

और फिर स्वर्ग की कल्पना का चित्र साकार हो उठता है—

लगती हैं चोटियाँ वे अति ही रहस्यमयी,
पास ही में होगा बस यहीं कहीं देवलोक,
बारबार दौड़ती है दृष्टि उस धुँधली-सी,
छाया बीच ढूँढने को अमर-विलास-ओक।

'वसन्त पथिक' में प्रकृति सौन्दर्य के अनेक गुच्छे पाठक के मन को एक तृप्ति, एक

तोष देते हैं। कलियों के भार से बोझिल मुदित कचनार, राग के रंग में सराबोर पलास, अमराइयों में आम के फूलों का सुनहला रंग और उसकी मादक गंध तथा साथ में कोयल की मीठी तान मन को सुखी कर देते हैं।

कचनार कलियों से लदे फूले समाते हैं नहीं,
नंगे पलासों पर पड़ी हैं राग की छींटें कहीं।
× × ×
देखो जहाँ अमराइयाँ हैं मौरकर उमड़ी हुई,
कंचनमयी पीली प्रभा सौरभ लिये पड़ती चुई।
× × ×
यह आम की मधु मंजरी अब मन्द मारुत से हिली,
कूकी कई मिल कोयलें, टूटी पथिक ध्यानावली।

फिर पपीहा क्यों चुप रहे—

भोली लजीली नारियों से नित्य ही आकर जहाँ,
है पूछ जाता आड़ से छिपकर पपीहा 'पी कहाँ'।

'आमंत्रण' शीर्षक कविता में कवि प्रकृति का चिर सहचर ही बन गया है, प्रकृति के उपादान उसे अपने समीप आने के लिए इशारा करते हैं। आचार्य शुक्ल का कवि, पूरे कवि-समाज को प्रकृति के हाथों की ओर संकेत करता है—

कविता, वह! हाथ उठाये हुए,
चलिए कवि-वृन्द बुलाती वहाँ।

पर कहाँ? जहाँ नयनों के प्रतिरूप कमलों को आलोक-किरण जगाती है, जहाँ कजरारे बादल और तृणजाल की काली छाया दृष्टिगोचर होती है, जहाँ धरती की सुषमा द्रुमों, दूर्वादलों और जलाशयों से है, जहाँ चन्द्रहास से कुमुद समूह विकसित होता है और जहाँ की धरती किसानों के श्रम का कोष पसार देती है तथा कछार में ग्वालों की टोली गाय चराती, गीत गाती है। कवि के शब्दों में—

दृग के प्रतिरूप सरोज हमारे,
उन्हें जग ज्योति जगाती जहाँ।
× × ×
घन अंजन-वर्ण खड़े, तृणजाल की,
झाँई पड़ी दरसाती जहाँ।
× × ×
द्रुम-अंकित, दूबभरी, जलखण्ड—
जड़ी धरती छबि छाती जहाँ।

हँसती मृदु मूर्ति कलाधर की,
कुमुदों के कलाप खिलाती जहाँ।
× × ×
निधि खोल किसानों की धूल सने,
श्रम का फल भूमि बिछाती जहाँ।
× × ×
मिल गोप की टोली कछार के बीच,
है गाती औ गाय चराती जहाँ।

चराचर के प्रति शुक्ल जी के कवि-हृदय में बड़ी ममता है। 'हृदय का मधुभार' की 'तीसरी झलक' में पेड़-पौधे, पशु-पक्षी के प्रति उनके ममत्व के परिचायक कई खण्ड दृश्य हैं जो बड़े स्वाभाविक एवं मनोहारी बन पड़े हैं। एक अकेला पेड़ शुक्ल जी के भाव-जगत् को आकृष्ट करता है—

मीठी मटियाली अंतरिक्ष की प्रभा में रमा,
एक है अकेला पेड़ ताने हरे पत्र जाल।
जीव धर्म पालन में अचल खड़ा है वह,
आये गये प्राणियों के हेतु घनी छाया डाल।

और भी—

काया की न छाया यह केवल तुम्हारी द्रुम!
अन्तस् के मर्म का प्रकाश यह छाया है।
भरी है इसी में वह स्वर्ण-स्वप्न धारा अभी,
जिसमें न पूरा पूरा नर बह पाया है।

तब तक कवि की दृष्टि एक श्वान पर जाती है। वह वृक्ष की छाया में आश्रय चाहता है, पर क्रूर मानव के डर से वह आगे छाया की ओर नहीं बढ़ता; तभी वह कवि की ममता का पात्र हो जाता है। किसी की दुत्कार को कवि की ममता भरी चुचकारें दबा देती हैं, फिर क्या? वहाँ प्रीति का जागरण हो जाता है और भय की परछाईं भी नहीं ठहरती।

देखते हैं श्वान एक धूप में खड़ा है आगे,
आश्रय के हेतु जिसे वृक्ष ने बुलाया है।
साहस न होता उसे छाया में बढ़ाये पैर,
जहाँ क्रूर आसन मनुष्य ने जमाया है।
× × ×

एक दुतकार को दबाती चुचकारें बढ़ीं—
यहाँ जगी प्रीति, वहाँ भगी भीति छाया है।

और यहीं एक दूसरा खण्ड दृश्य...इसका पात्र एक वानर है, जिसकी ओर ध्यान गया उस कुत्ते के भूँकने पर। वह जलपान की अँगोछे वाली पोटली लिए डाल पर बैठकर मौज उड़ा रहा है और कभी-कभी नीचे की ओर कुछ फेंक भी देता है। लाठी लपकाने पर वह घुड़की भी देता है। इस बनरघुड़की का अर्थ कवि के शब्दों में—

देते हैं घुड़की थैह अर्थ ओज-भरी हरि,
'जीने का हमारा अधिकार क्या न गया रह?'

क्यों नहीं....जीने का अधिकार सभी को है। यदि ऐसा नहीं होता तो उस पेड़ की फुनगी पर कपीश कैसे मौज करते और उसकी जड़ के समीप आँख मूँदे गाय क्यों जुगाली करती तथा कवि भी अपनी मित्र-मण्डली समेत उसकी छाया में क्यों आश्रय लेता।

पीवर गँठीली ऐंठी जड़ों के समीप बैठी,
करती जुगाली आँख मूँदे एक गाय लाल;
भेदभाव हीन यह आश्रय पुनीत, यहीं,
बैठ क्यों न काटें हम लोग कुछ क्लांति काल?

पर इस मण्डली की आहट पाते ही उस तरु के कोटर से मैना झाँकने लगी—

सिर को निकाल तरु कोटर से मैना एक,
चुपचाप आहट हमारी बैठ सुनती।

और भी कई 'पंखवाले पाहुने' उस वृक्ष पर बैठे हैं। कभी पण्डुक का स्वर तो, कभी चातक की पुकार सुनायी पड़ती है—

रह रह मारता है चोट-सी पवन पर,
पण्डुक निचाट पड़े बंजर के पार में,
चोखी चाह चातक की मौन चीखी है कभी,
माती हुई धुन के चढ़ाव में, उतार में।

चराचर के प्रति शुक्ल जी की ममता, करुणा और लगाव उनके कवि के सार्वभौम सहजभाव का परिचायक है। आचार्य की पैनी दृष्टि में और पैनापन उनके कवित्व के कारण आ गया है।

शुक्ल जी जीवन और जगत् के कवि थे। मधुस्रोत की रचनाओं का रचना-काल स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गाँधी के विचारों से प्रभावित था। प्रथम विश्वयुद्ध इसी काल में हुआ था। इन सभी का प्रभाव उनकी इन मुक्तक रचनाओं में देखा जा सकता

है। इस आशय के भी अनेक खण्डदृश्य 'अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा' में शुक्ल जी ने प्रस्तुत किया है। 'बसन्त' में शुक्ल जी के गायक को बसन्त-श्री के उपादानों से चिढ़-सी होती है। तरु-लता के संगम-सौन्दर्य में उसे कोई रुचि नहीं, रसालों का मञ्जरित होना उसके हृदय में शोक की वृद्धि करता है और कोकिल को तो वह फटकार कर अन्यत्र भग जाने के लिए कहता है, क्योंकि—

मथुरा, दिल्ली अरु कनौज के विस्तृत खण्डहर,
करत प्रतिध्वनि, आज दिवसहू निज कंपित स्वर।
जहँ गोरी महमूद केर पदचिह्न धूरि पर,
दिखरावत, भरि नैन नीर इतिहास-विज्ञ, नर।

इतिहासकार के आँसू देखकर उसका मन इतना क्षुब्ध होता है कि वह बसन्त का नाम तक देश-काल से मिटाने का निवेदन विधाता से कर बैठता है।

'भारत और बसन्त' की रचना शुक्ल जी ने नाट्य-कविता के रूप में की है। नाट्य-शैली की इस रचना के पात्र हैं—भारत, वसंत और भारत महिषी। निश्चेष्ट पड़े भारत को वसंत का झूमना अच्छा नहीं लगता। वह वसंत से पूछता है—

कौन आस धरि, हे वसंत, अब आज फेरि तुम आए।
हरे हरे द्रुमदल सजवाए, सुमन भार लदवाए।

हजार वर्ष की दासता की यातना से पीड़ित भारत वसन्त से कहता है—

देखत हौ तुम सहस बरस से बीत रही जो मोपै।
नये नये नित बीज विपति के विधि बपु पै मम रोपै।

पर वसंत भारत का मनोबल ऊँचा करने के लिए रूस पर जापान की जीत की सूचना देता है, जिसे सुनकर भारत को आश्चर्य होता है, पर निराश हृदय का स्वर—'कोउ नृप होइ हमैं का हानी' के माध्यम से ध्वनित होता है। तभी भारत-महिषी के स्वर में भारत की जागृत महिला का स्वर सुन पड़ता है। वह कहती है—

समुझाइ थकी हम बार बार,
नहिं सँभलत हैं ये अति गँवार।

तभी नेपथ्य से ध्वनि आती है—

सहि चुके जननी बहु यातना,
वचन ना कबहूँ अब टारि हैं।

तत्पश्चात् वन्दे मातरम् की गुरु-गंभीर ध्वनि के साथ पटाक्षेप होता है। 'वन्देमातरम्, हमारा राष्ट्रीय नारा है। भारत की स्वाधीनता के प्रेरक स्वरों में यह सर्वोच्च है।

शुक्ल जी के काव्य में राष्ट्रीय चेतना का यह स्वर हिन्दी-प्रेम के रूप में भी ध्वनित हुआ है। आज हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त है, पर दासता के उस युग में हिन्दी-प्रेम का संदेश राष्ट्र जागरण का संदेश सिद्ध हुआ। अपनी भाषा के बिना जीना अर्थहीन है। 'हमारी हिन्दी' शीर्षक की निम्नलिखित पंक्तियाँ उपर्युक्त भाव की पुष्टि करती हैं—

> अपनी भाषा से बढ़कर अपना कहाँ?
> जीना जिसके बिना 'न जीना है यहाँ।
> हम भी कोई थे कभी, अब भी कोई हैं कहीं,
> यह निज वाणी बल बिना विदित बात होगी नहीं।

इसी प्रकार 'देशद्रोही को दुत्कार', 'रानी दुर्गावती' और 'फूट' आदि रचनाओं में उनकी राष्ट्रीय चेतना स्वरित हुई है। 'हृदय का मधुरभार' की दूसरी झलक में कवि देश के तत्कालीन आर्थिक पहलू पर भी विचार करता है। डॉ० रामविलास शर्मा का कहना है कि "शुक्ल जी नये आर्थिक सम्बन्धों के प्रसार से गाँवों को बचाना चाहते हैं।"[1] गरीबों के शोषण की ओर वे सबका ध्यान यह कहकर आकृष्ट करते हैं—

> सोखते हैं रक्त भरपेट कुछ लोग बैठ,
> उनका जो तन के पसीने नित गारते।

भारत के अनेक महान् व्यक्तित्वों—साहित्यकार एवं महापुरुषों की ओर भी कवि की दृष्टि गयी है। अपनी लघु रचना 'याचना' में शुक्ल जी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का स्मरण करते हैं—

> धन्य धन्य हे ध्वनि के धनी कवीन्द्र!
> भावलोक के ठाकुर उदित रवीन्द्र!

कवीन्द्र से कवि याचना करता है कि—

> रोने में दें दीन दुखी का साथ,
> मन को अपने रक्खें सबके हाथ।
> यही वर दीजिए,
> लोक यश लीजिए।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के लिए शुक्ल जी के मन में अगाध श्रद्धा थी। भारतेन्दु जयन्ती सन् १९१२ और १३ के अवसर पर उन्होंने जो कविताएँ पढ़ी थीं, वे मधुस्रोत में संगृहीत हैं। 'गोस्वामी जी और हिन्दू जाति' शीर्षक रचना में उन्होंने महाकवि तुलसी के प्रति अपने भाव-सुमन अर्पित किये हैं। ऐयारी और तिलस्मी उपन्यासों—चन्द्रकान्ता आदि के रचयिता बाबू देवकीनन्दन खत्री के वियोग में कवि का शोकातुर स्वर भी सुनिए—

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २४४।

अहो ! देवकीनन्दन जी हा ! चल दिए।
छोड़ जगत जंजाल शोक उनके लिए।

'हर्षोद्‌गार' शीर्षक कविता आचार्य शुक्ल ने २० सितम्बर १९२५ को फैजाबाद के कवि-सम्मेलन में सभापति के पद से पढ़ी थी। इस कविता में उन्होंने आदिकवि वाल्मीकि, तुलसी और द्विजदेव को स्मरण किया है। तीनों का नाता कोशल से रहा है। यह वही कोशल है, जहाँ आदिकवि के कलकण्ठ से 'गिरा' अवतरित हुई थी और तुलसी ने 'मानस' का अनुपम द्वार खोलकर भगवान् के लोकरंजनकारी रूप का दर्शन सबको कराया। द्विजदेव तो अयोध्या के नरेश ही थे।

मधुस्रोत की कविताओं में ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों का प्रयोग शुक्ल जी ने किया है। भाषा का यह गंगा-जमुनी रूप शुक्ल जी द्वारा जब-तब काव्य-सृष्टि किये जाने के कारण बना है। तीस वर्ष की लम्बी अवधि में निर्मित इन कविताओं में कविता की कई शैलियों के दर्शन होते हैं। भारतेन्दु-युग से लेकर छायावाद-युग तक की विविध काव्य-शैलियों के उदाहरण उनके इस काव्यसंग्रह में मिल जाते हैं। रोला, बरवै, घनाक्षरी, सवैया आदि मात्रिक तथा द्रुतविलम्बित, वसंततिलका आदि वर्णवृत्तों का प्रयोग शुक्ल जी ने मधुस्रोत की कविताओं में किया है। शुक्ल जी ने यद्यपि कम कविताएँ लिखी हैं, पर 'मधुस्रोत' भारतेन्दू-युग को छायावाद-युग से जोड़नेवाला एक सफल मुक्तक काव्य-संग्रह है।

बुद्ध-चरित

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के काव्य-चिन्तन के इस क्रम में बचपन की एक याद की चर्चा उचित प्रतीत होती है। किसी छोटी कक्षा में पढ़ी 'सिद्धार्थ का महाभिनिष्क्रमण' शीर्षक रचना की दो पंक्तियाँ बार-बार मन में भरम रही हैं—

बाहर आयो कुँवर, पुकार्‌यो "छंदक छंदक !
उठो, हमारो अश्व अबै कसि लाओ कंथक।"

तभी जाना था कि गौतम बुद्ध के सारथि का नाम था छंदक और अश्व का कंथक तथा यह कविता सर एडविन आर्नल्ड रचित (Light of Asia) के आधार पर शुक्ल जी द्वारा रचित 'बुद्ध-चरित' का अंश है। जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है—"यह 'बुद्ध-चरित' अंग्रेजी के (Light of Asia) का हिन्दी काव्य के रूप में अवतरण है।"[१] यद्यपि 'बुद्ध-चरित' का आधार 'लाइट ऑव् एशिया' है, पर शुक्ल जी ने इसे एक मौलिक हिन्दी प्रबन्ध-काव्य का रूप दिया। इसके विषय में उनकी आकांक्षा थी कि "एक स्वतन्त्र हिन्दी काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो।"[२]

बुद्ध-चरित की रचना भगवान् बुद्ध की जीवन-गाथा उजागर करने के उद्देश्य से

---

१. बुद्धचरित : वक्तव्य, पृ० १।

२. वही।

आचार्य शुक्ल ने की। उन्होंने महसूस किया कि "भरथरी और गोपीचन्द के जोगी होने के गीत गाकर आज भी कुछ रमते जोगी स्त्रियों को करुणार्द्र करके अपना पेट पालते चले जाते हैं, पर कुमार सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण की सुध दिलानेवाली वाणी कहीं नहीं सुनायी पड़ती।"[1] एतदर्थ, "जिस वाणी में कई करोड़ हिन्दी भाषी रामकृष्ण के मधुर चरित का स्मरण करते आ रहे हैं, उसी वाणी में भगवान् बुद्ध को स्मरण कराने का यह लघु प्रयत्न है।"[2] आठ सर्गों में रचित इस ललित प्रबन्धकाव्य में भगवान् तथागत के जन्म से परि-निर्वाण तक की कथा है। ब्रजभाषा में रचित इस काव्य में विभिन्न छन्दों का प्रयोग मिलता है। प्रबन्ध-काव्य की तीनों अनिवार्य शर्तें—१. संबंध-निर्वाह, २. कथा के गंभीर और धार्मिक स्थलों की पहचान और ३. दृश्यों की स्थानगत विशेषता—इस काव्य-ग्रंथ में पूर्णता प्राप्त कर सकी हैं। सम्बन्ध-निर्वाह में आचार्य शुक्ल का कवि पूर्ण सक्षम है। इस दृष्टि से 'बुद्ध-चरित' एक सफल प्रबन्ध-काव्य है। 'बुद्ध-चरित' के मर्मस्पर्शी स्थलों का बड़ा सुन्दर एवं भावमय चित्रण कवि ने किया है। प्रथम सर्ग में ही वसंन्त की एक मोहक सुबह निसर्ग की सुषमा का अवलोकन करते हुए कुमार सिद्धार्थ अतीव हर्षित हो रहे थे, तभी—

सूक्ष्म रूप सों वाने कीनो विचार जब,
देखे जीवन कुसुम बीच कारे कण्टक तब।
कैसो दीन किसान पसीनो अपनो गारत,
केवल जीयन हेतु कठिन श्रम करत निहारत।
× × ×
कड़े पसीने की किसान की रूखी रोटी,
कैसो कड़वो काम करत बैलन की जोटी।

कण्टकों से आच्छादित है यह जीवन-कुसुम—मानव, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सभी जीव-जन्तुओं की गति एक ही है। दुःखमय जीवन और जगत् की चिन्ता में लीन कुमार के हृदय में—'उमगी दया अपार, प्रीति पसरी जीवन प्रति।'

देवदत्त और हंस का प्रसंग कुमार सिद्धार्थ के किशोर जीवन का बड़ा ही सुकुमार एवं मर्मस्पर्शी प्रसंग है। हंसों की धवल पाँत राजोद्यान के ऊपर से जा रही थी। वे मासूम परिन्दे अपने-अपने नीड़ों में पहुँचने के लिए आतुर उड़े जा रहे थे। तभी कुमार देवदत्त ने शर-संधान कर नील गगन को पार करने वाले एक हंस के सुकुमार डैनों को बेंध दिया। शर-बिद्ध पक्षी को सिद्धार्थ ने गोद में उठा लिया, और—

फेरि कर लघु जीव को भय दियो सकल छुड़ाय।
और धरकत हृदय को यों दियो धीर धराय।

---

१. बुद्ध-चरित: वक्तव्य, पृष्ठ १।

२. वही, पृ० २।

नवल कोमल कदलिदल सम करन सों सहराय।
प्रेम सों पुचकारि ताकत तासु मुख दुख पाय।

दोनों कुमारों में हंस के लिए विवाद छिड़ गया। 'होत पंछी तासु है जो देत वाहि गिराय'—देवदत्त के इस कथन के उत्तर में कुमार सिद्धार्थ ने हंस की गरदन को अपने कपोलों से लगाते हुए कहा—'गयो ह्वै यह विहग मेरो, नाँहि दैहों तात'। विवाद महाराज के सभा-मण्डप में विचारार्थ पहुँचा और निर्णय हो गया—

जीव पै है जीव-रक्षक को सकल अधिकार।
हंस है सिद्धार्थ को यह, सोइ पावनहार।

षष्ठ सर्ग में नीरंजना के तीर पर बोधिवृक्ष के नीचे सुजाता-सिद्धार्थ का मिलन शबरी और राम के मिलन सदृश है। भोली सुजाता पुत्र पाकर पूर्णकाम हो गयी थी और मनौती के अनुसार वनदेव की पूजा करके उन्हें खीर खिलाने आयी थी। सुजाता ने भगवान तथागत को वनदेवता समझा और उनसे खीर खाने के लिए विनय की। भोलेभाव से भगवान खीर खाते रहे और सुजाता भक्तिभाव से सिर झुकाये खड़ी निहारती रही। भाव-विह्वल सुजाता से भगवान ने कहा—'मोहिं पूजन तू चली, मैं तोहि पूजत हौं अरी!' यहीं भगवान सुजाता से आशीर्वाद की कामना करते हैं और भक्तिभाव में नहायी सुजाता सचमुच आशीष देती है:—

चाहत यह आसीस जाको देव तू जानति रही।
'काज पूरो होय प्रभु को' सुनि सुजाता ने कही।

दो पंक्तियों में सिद्धार्थ-सुजाता-संवाद कितना मर्मस्पर्शी बन पड़ा है। इसी प्रकार पूरे काव्य में विभिन्न मर्मस्पर्शी स्थलौ-महाभिनिष्क्रमण, सिद्धार्थ-छंदक-संवाद, गौतमी-गौतम-संवाद, कपिलवस्तु में यशोधरा और महाराज शुद्धोदन से भगवान का मिलन-प्रसंग, उपदेश-प्रसंग आदि का बड़ा ही मोहक वर्णन कवि ने किया है। जहाँ भगवान बुद्ध की जीवन-गाथा के मर्मस्पर्शी गंभीर स्थलों का हृदयग्राही चित्रण शुक्ल जी ने किया है, वहीं सम्बन्धों के निर्वाह और संवादों में उनकी सफलता पराकाष्ठा पर है।

आचार्य शुक्ल को केशव के प्रसंग में यह शिकायत है कि "कालिदास के दृश्य-वर्णनों में देशगत विशेषताओं का जो रंग पाया जाता है, वह भवभूति तक तो कुछ रहा; उसके पीछे नहीं। फिर तो वर्णन रूढ़ हो गये।"[१] प्रकृति-चित्रण की जो सूक्ष्मता उन्हें वाल्मीकि में मिली, वह तुलसी में भी नहीं—'क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं, नभः प्रकीर्णाम्बुघनं विभाति' तथा 'बरसहिं जलद भूमि नियराये, यथा नवहिं बुध विद्या पाये' को सामने रखकर शुक्ल जी टिप्पणी करते हैं कि 'कहाँ प्रकृति का वह सूक्ष्म निरीक्षण और कहाँ उदाहरण

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (संस्करण २००५ वि०), पृ० २११।

की ओर टूटना।"[१] दृश्य-वर्णन के प्रति शुक्ल जी यद्यपि सजग रहे हैं। 'बुद्ध-चरित' के विषय में जहाँ उनकी यह आकांक्षा थी कि एक स्वतन्त्र हिन्दी काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो, वहीं उन्होंने यह भी कहा कि "दृश्य-वर्णन जहाँ अयुक्त या अपर्याप्त प्रतीत हुए, वहाँ बहुत कुछ फेरफार करना या बढ़ाना पड़ा है।"[२]

स्थानीय रंगों का वैविध्य 'बुद्ध-चरित' में भरपूर है। वसन्त का एक खूबसूरत सबेरा, नगर के बाहर बन, बाग, तड़ाग की शोभा देखते ही बनती है—

कहूँ नव किंशुक जाल सों लाल लखात घने बन खण्ड के छोर।
परैं जहँ खेत सुनात तहाँ श्रमलीन किसानन को कल रोर।

कुमार सिद्धार्थ घर-बार छोड़ अनामा के तट पर पहुँचे। छंदक और कंथक से बिछुड़ने की बेला, ढलती रात। कुमार कंथक को प्यार और छंदक को प्रबोधन दे रहे हैं, शायद प्रकृति का इशारा था, क्योंकि—

गयो गगन तट शुक्र बह्यो जब प्रात समीरन,
लहरन लागी कछुक अनामा पाय झकोरन।

भगवान् बुद्ध को 'सम्बोधि' मिलने का पहर। उषा के आगमन के साथ यामिनी का काला आँचल सरकने लगा, और—

नव अरुण-आभा-रेख अब धुँधले दिगंचल पै कढ़ी,
नभ नीलिमा ज्यों ज्यों निखरिकै जाति ऊपर को बढ़ी।
त्यों त्यों सहमि कै शुक्र अपनो तेज खोवत जात है,
पीरो परो, फीको भयो, अब लुप्त होत लखात है।

'संबोधि' प्राप्ति के बाद प्रकृति भगवान की अनुचरी हो गयी। हिमजड़ित दूर्वा पर दिनकर की प्रभा बिखरी है, मानो रात्रि के अश्रुबिन्दु बिखरकर मोती बन गये हैं— 'गत रैन के अँसुवान की बूँदें बिखरि मोती भईं।' पशु-पक्षी वैर-भाव से रहित हो गये हैं। कवि विभिन्न पखेरुओं का कलख सुन रहा है,—कहीं कोयल की कूक, कहीं पपीहे की पी कहाँ, सारिका की सुरीली धुन और सुओं की टें-टें, कौवों को काँव-काँव तथा मोरों की कें-कें की ध्वनि तो उसके कानों में रस घोल ही रही है, परेवा-परेई का प्रेमालाप अचूक है—

पुलकित परेवन को परमप्रिय प्रेम गाथा रसभरी।
जो चुकनिहारी नाहिं जौ लौं चुकति नहीं जीवन घरी।

यहाँ भुजंग से तितलियों को मानो भय ही नहीं है। कवि को यह दृश्य बड़ा लुभावना लगता है—

---

१. कविता क्या है? मधुस्रोत की भूमिका, पृ० ३।

२. बुद्ध-चरित : वक्तव्य, पृ० २।

बैठे भुजंगे डार पै कहुँ रहे पूँछ हिलाय हैं,
पै आज झपटत नेकु नहिं तितलीन पै दरसाय हैं।
या फूल तें वा फूल पै, जो चपल गति सों धावतीं,
सित, पीत, नील, सुरंग, चित्रित पंख को फरकावतीं।

और यह कपिलवस्तु है, जिसके भग्नावशेष आज भी रोहिणी के तीर पर फैले हैं। जहाँ दूर-दूर तक दूर्वादल से पूरित पटपर की हरीतिमा छाई हुई है, जहाँ से हिमशैल के धवल शिखर दृष्टिगोचर होते हैं और सरस उद्यानों की शीतल छाँह मधुगंध बिखेरती है, जहाँ हरे-हरे झाड़ों को छूती साँझ की मन्द हवा डोलती है, जहाँ चित्रोत्कीर्ण पत्थरों के ठूह को फाड़कर अश्वत्थ उग आये हैं, जो 'तृण दल के तरल पट' से आच्छादित हो अत्यन्त शोभित हो रहे हैं। कवि के शब्दों में—

वा रोहिणी के तीर खँडहर आज लौ फैलो परो,
जहँ दूब सों छायो गयो बहु दूर लौं पटपर परो।
× × ×
लखि परत जहँ सों धवल हिमगिरि शृंग,....
× × ×
नित बहत सान्ध्य समीर ह्वै अति शांत झाड़न पै हरे,
जहँ ढेर चित्रित पाथरन के ढूह ह्वै कारे परे।
अश्वत्थ जिनको भेदि फैले मूल जाल बिछाय कै,
जो लसत चारों ओर तृणदल-तरल-पट सों छाय कै।

मानव निर्मित राजमहल खण्डहर बनकर पड़ा है, पर प्रकृत प्रदत्त धरती के शृंगार उपादान चिरन्तन बने ज्यों के त्यों अपनी सुषमा से जन-मानस को आकर्षित करते हैं—

बस शृंग, सरित, कछार और समीर ज्यों के त्यों रहे,
नसि और सब शोभा गई, वे दृश्य जीवन के बहे।

ठीक ही तो कहा है, क्यों न 'ज्यों के त्यों रहे'—वे प्रकृति के ये सौन्दर्य उपकरण। साहित्य में चिरन्तन और शाश्वत संगीत ये ही भरते हैं। मधुर काव्य की प्रेरकशक्ति ये ही हैं। हमारी जिन्दगी से इनका लगाव पुराना है। भावाभिव्यक्ति के ये अच्छे माध्यम हैं और हैं ये हमारे पुरातन सखा। इस धरा पर मानव जाति के उत्थान-पतन के प्रत्यक्ष-दर्शी गवाह हैं। शुक्ल जी ने इसीलिए तो कहा है—"वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़, पशु, पक्षी, अनन्त आकाश, नक्षत्र इत्यादि तो मनुष्य के आदिम सहचर हैं।"[1]

---

१. कविता क्या है? मधुस्रोत की भूमिका, पृ० १।

'बुद्ध-चरित' को अभिव्यक्ति देने के लिए आचार्य शुक्ल ने ब्रजभाषा को चुना। ब्रजभाषा को करोड़ों हिन्दी-भाषियों की काव्यभाषा होने का गौरव प्राप्त है। सूर, बिहारी, घनानन्द आदि इसी में मुखरित हुए। इस सन्दर्भ में शुक्ल जी कहते हैं कि "यद्यपि यह वाणी ब्रजभाषा के नाम से प्रसिद्ध है, पर वास्तव में अपने संस्कृत रूप में यह सारे उत्तरापथ की काव्यभाषा रही है और है।"[1] शुक्ल जी ब्रजभाषा के माधुर्य और मार्दव के कायल हैं। 'काव्य-भाषा' शीर्षक से इस ग्रंथ की पचपन पृष्ठों की विस्तृत भूमिका के अन्त में उन्होंने 'दूसरी प्राणप्रतिष्ठा' उपशीर्षक के अन्तर्गत लिखा है कि "काव्यभाषा या ब्रजभाषा का दूसरा संस्कार राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा हुआ, जिसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी कुछ योग दिया।"[2] कालिदास के मेघदूत का अनुवाद राजा साहब ने ब्रजभाषा में किया है और पं० श्रीधर पाठक ने ऋतुसंहार का। आचार्य शुक्ल इन अनुवादों की भाषा पर मुग्ध हैं। शुक्ल जी ने लिखा है कि उन्होंने (राजा लक्ष्मण सिंह) ब्रजभाषा की कविता को फिर जीता-जागता रूप दिया।[3] राजा साहब, भारतेन्दु जी, पाठक जी या और भी जिस किसी ने काव्य भाषा के दूसरे संस्कार में योग दिया हो, पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्ध-चरित' के द्वारा सचमुच ब्रजभाषा में प्राण-प्रतिष्ठा की।

हिन्दी विभाग,
बुद्ध स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
कुशीनगर, देवरिया।

⊙

१. बुद्धचरित : वक्तव्य, पृ० २।

२. बुद्धचरित की भूमिका—काव्यभाषा, पृ० ५४।

३. वही, पृ० ५५।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : गहरी राष्ट्रीय मानसिकता एवं बहुमुखी बोध का व्यक्तित्व

डॉ० भगीरथ मिश्र

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उन लोगों में हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य के माध्यम से भारत की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना का उन्नयन किया। आज के हिन्दी अध्येता, इस बात का अनुमान नहीं लगा सकते कि हिन्दी-साहित्य को विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में प्रतिष्ठित कराने में कितना संघर्ष करना पड़ा। कहना यह चाहिए कि सारा हिन्दी-साहित्य, हिन्दी को मान्यता और प्रतिष्ठा दिलाने के संघर्ष का इतिहास है। पूर्वकाल में विद्यापति, कबीर, तुलसी आदि और बाद में बिहारी, देव, पद्माकर, भारतेन्दु, प्रसाद आदि को संस्कृत-भाषा और साहित्य के समान हिन्दी या भाषाकाव्य को प्रतिष्ठित कराने में बड़ा प्रयत्न करना पड़ा। इसी प्रकार का कार्य काशी नागरी प्रचारिणी सभा के माध्यम से बाबू श्यामसुन्दरदास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया।

जब विश्वविद्यालयों में हिन्दी-विभाग स्वीकृत भी हो गये, तो सबसे बड़ी समस्या पाठ्यक्रम और उसके अनुरूप पुस्तकों की उठी। उस समय पाठ्यक्रम बनाने और स्तरीय पुस्तकों के लिखने-लिखवाने का काम बाबू श्यामसुन्दरदास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। इन लोगों ने साहित्यालोचन, भाषाविज्ञान, साहित्य का इतिहास आदि विषयों पर पुस्तकें लिखी और लिखवायीं तथा प्राचीन ग्रंथों का संपादन कराया। पृथ्वीराज रासो, कबीर ग्रंथावली, जायसी ग्रंथावली, सूर-सागर, तुलसी ग्रंथावली, केशव के ग्रंथ, बिहारी सतसई, रसखान तथा घनानन्द के काव्यसंग्रह तैयार कराये गये। इस कार्य को आचार्य शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दरदास के अतिरिक्त जगन्नाथदास रत्नाकर, लाला भगवानदीन, नन्ददुलारे वाजपेयी, पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि ने सम्पन्न किया। इन लोगों ने अपने नियमित अध्ययन अध्यापन के अलावा इन उपयोगी ग्रंथों के निर्माण और संपादन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के अध्ययन और अध्यापन को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा प्रयाग विश्वविद्यालय में अच्छी प्रतिष्ठा मिली।

इसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कार्य विशिष्ट और अधिक महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने जायसी और तुलसी की रचनाओं के सम्पादन के साथ-साथ इन ग्रंथावलियों की विस्तृत

भूमिकाएँ लिखी। इन भूमिकाओं के द्वारा हिन्दी अध्ययन और आलोचना का स्तर एकदम ऊँचा उठ गया और लोगों को मौखिकरूप से सोचने और विचार करने की दिशा मिली। साथ ही हिन्दी के प्राचीन कवियों की रचनायें पढ़ने की रुचि जाग्रत हुई। परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण उनका कार्य था "हिन्दी शब्द सागर" का सम्पादन। इसके लिए शब्द-भंडार जुटाने में शुक्ल जी को नागरी प्रचारिणी सभा के हस्तलिखित पुस्तकालय से असंख्य ग्रंथों का अध्ययन करना पड़ा। इसके साथ ही साथ, सभा द्वारा संपादित और प्रकाशित खोज-रिपाटों को भी पढ़ना पड़ा। उनके इस व्यापक अध्ययन के दो महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले—एक "हिन्दी शब्द सागर" का निर्माण और दूसरा उसकी भूमिका स्वरूप हिन्दी-साहित्य के इतिहास का लेखन। शुक्ल जी का "हिन्दी साहित्य का इतिहास" आज भी विभिन्न साहित्य के इतिहासों के बीच एक मिल का पत्थर है। वह केवल रिमिडों और पैंगाडाओं के दर्शनीय वस्तु बनकर नहीं रह गया, वरन् वह आज भी हिन्दी-साहित्य का जीवन्त इतिहास है। जो बात कालिदास के सम्बन्ध में कहीं जाती है कि—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावात् अनामिका सार्थवती बभूव॥

इतने साहित्येतिहास लिखे जाने पर भी शुक्ल जी के इतिहास के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि अनामिका सार्थवती है।

शुक्ल जी की भूमिकाएँ उनका इतिहास और उनके निबन्ध आज भी अद्वितीय हैं। इसका कारण है—उनका बहुमुखी बोध। उनमें गजब का इतिहास-बोध था। इसीलिए उनके इतिहास के अंतर्गत काल-विभाजन एवं युगीन प्रवृत्तियों के विश्लेषण में इतिहास का समुचित आधार और उसके यथावश्यक संदर्भ हमारा मार्गदर्शन करते हैं। उसके भीतर पूरी सामग्री न मिलने के कारण कहीं-कहीं तथ्यात्मक त्रुटियाँ भले ही हों, परन्तु इतिहास की भूमि पर युगीन गतिविधियों और कार्यकलापों का विश्लेषण उनके इतिहास-बोध का ज्वलंत प्रमाण है। उनके इतिहास के बाद, 'हिन्दी साहित्य के इतिहास'-लेखन में अनेक प्रयत्न हुए, पर उन पर नजर ठहरती नहीं है। ठीक उसी प्रकार जैसे रामचरित मानस के बाद राम-कथा को लेकर काव्य-लेखन के अनेक प्रयास हुए, पर रामचरित मानस के आगे कोई बढ़ नहीं पाया। ऐसे ही शुक्ल जी की इतिहास-दृष्टि भारतीय भाषाओं के लिए मार्गदर्शक है।

इतिहास-बोध के साथ-साथ उनका बड़ा गंभीर सांस्कृतिक बोध था। अपने इतिहास तथा तुलसी ग्रंथावली और जायसी ग्रंथावली की भूमिका एवं सूरदास पर तथा अन्य विषयों पर उनके निबन्धों से यह लगता है कि उन्होंने भारतीय सांस्कृतिक प्रवाह का कितनी गहराई से अवगाहन किया था। इस दिशा में शुक्लजी के समकक्ष उस समय के साहित्यकारों में एक ही और व्यक्तित्व था—वह था जयशंकर प्रसाद का। उनके भी काव्यग्रंथों में गंभीर संस्कृति-बोध तथा नाटकों में व्यापक इतिहास-बोध देखने को मिलता है। शुक्ल जी ने इसी संस्कृति बोध के कारण तुलसी-साहित्य को अपना आदर्श माना है। और साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी में अन्य बातों के अतिरिक्त लोकमंगल की भावना को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

इतिहास और संस्कृति बोध के साथ-साथ उनका सौन्दर्य-बोध भी बड़ा मर्मदर्शी है। यह सौन्दर्य बोध उनका जन्मजात और सहज है। इस बोध के साथ गोस्वामी तुलसीदास के साहित्य को आदर्श बनाने के कारण उनकी समीक्षा और वैचारिकता में एक सुन्दर औदात्य आ गया है, जो उनका अपना और अप्रतिम है। इसी सौन्दर्य बोध के कारण ही उन्होंने उपेक्षित और विस्मृत जायसी के पद्मावत काव्य और भाव सौन्दर्य को उजागर कर उन्हें मध्यकाल के साहित्य की वृहत्त्रयी में प्रतिष्ठित किया। उनके पहले जायसी की कवित्त-शक्ति को जानने वाले बिरले ही थे। इसी सौन्दर्य बोध से ही उनसे विद्यापति, सूरदास, जायसी, तुलसी, बिहारी, मतिराम, पद्माकर, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी के काव्य में निहित सूक्ष्म सौन्दर्य तत्त्व का उद्घाटन कराया। उनकी कवियों की समीक्षा-विषयक टिप्पणियाँ इतनी सप्रमाण और मार्मिक होती हैं कि उन्हें पढ़कर मूल ग्रंथ को पढ़ने की मन में उत्कट अभिलाषा जाग्रत होती है। एक महान् समीक्षक का यह प्रमुख गुण होता है कि उसकी समीक्षा से हमारा सौन्दर्य-बोध जाग्रत होती है और एक ऐसी दृष्टि मिलती है कि हम उससे काव्यसौन्दर्य की सराहना करते हैं और उसका आनन्द ले सकते हैं। इटली के सुप्रसिद्ध चिंतक क्रोचे का मत है कि प्रकृति की वस्तुएँ तभी सुन्दर लगती है, जब उन्हें कल्पना की दृष्टि से देखा जाय। इसी प्रकार कोई कविता भी तभी पूर्ण सौन्दर्य के साथ हमारी दृष्टि में उतरती है जब शुक्ल जी जैसे समीक्षक की दृष्टि से हम देखते हैं।

शुक्ल जी के लेखन का एक और पक्ष है—भाषाबोध का। उनके भाषा-प्रयोग की एक बड़ी विशेषता है कि वह विषय और प्रसंग के अनुसार अपने अलग-अलग रूप धारण करती रहती है। जब कोई गंभीर चिंतन का विषय होता है तो उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ और सामाजिक पदावली होती है। जब कोई परिभाषा देनी होती है या कोई निष्कर्ष का प्रसंग होता है तब विनोद वहाँ भाषा सूत्रमय होती है। इसी प्रकार जब कोई व्यंग्य अथवा हास्य विनोद की बात होती है तब उनकी भाषा तलख भरी और तीखी होती है। ऐसी कि सुनने वाला तिलमिला जाये हास्य विनोद के प्रसंगों में उनकी भाषा बोलचाल की और चुभते हुए मुहावरेवाली हो जाती है। जब वे सौन्दर्य का विश्लेषण करते हैं, तो शब्द और पद बिम्बात्मक हो जाते हैं, जो सौन्दर्य के प्रभाव का बारीक विश्लेषण करते हैं। सौन्दर्य को पूर्णतः हृदयंगम करा देते हैं। पर शुक्ल जी का अधिकांश लेखन गंभीर प्रसंगों को लेकर चला है, अतः उन्होंने उसके लिए प्रायः गंभीर संस्कृतनिष्ठ, फिर भी प्रचलित भाषा का व्यवहार अधिक किया है। हल्की-फुल्की और चलती हुई भाषा का प्रयोग कम ही मिलता है। परन्तु जहाँ पर बीच में वह आ जाता है, वहाँ ऐसा लगता है जैसे मीठा और गरिष्ठ खाते-खाते बीच में चाट या चटनी मिल जाये। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके भाषा के विविध आयाम हैं, जिस प्रकार संगीतज्ञ वही उत्कृष्ट कोटि का होता है जिसका स्वर-विस्तार षडस से लेकर पंचम तक और निष्प्रयास होता है, उसी प्रकार की स्थिति भाषा प्रयोग की भी है। शुक्लजी की भाषा विविध प्रसंगों में उपयुक्त रूप अनायास धारण करती चलती है और विवेचित विषय को हृदयंगम ही नहीं पूर्णतया आस्वाद बनाती चलती है। उनका भाषा-शुद्धि पर भी आग्रह नहीं है। क्योंकि उनकी भाषा में संस्कृत

शब्दों के साथ-साथ अरबी फारसी के शब्द भी बहुतायत से प्रयुक्त हुए हैं और कहीं-कहीं उर्दू की मुहावरेदानी की अद्भुत छटा भी मिलती है। वे चलती हुई जीवन्त भाषा के प्रयोग के पक्षपाती थे।

आचार्य शुक्ल में बड़ी उर्वर प्रतिभा और समन्वय शक्ति थी। अपने मनोवैज्ञानिक लेखों में उन्होंने पाश्चात्य मनोशास्त्रियों के विचार-बीजों से प्रेरित होकर अनेक भाव-लेखों को पल्लवित किया था। उसी प्रकार चिंतामणि के अनेक लेखों में क्रोचे, रिचर्ड्स और इलियट के सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों से प्रेरित होकर भारतीय रस और भाव सम्बन्धी परम्परा को आगे विस्तार देने का उपक्रम है। उनके ये विचार, न केवल सौन्दर्यशास्त्रीय विचारधाराओं को स्पष्ट करते हैं वरन् वे समकालीन काव्य समीक्षा की कसौटी भी प्रस्तुत करते हैं।

इस आधुनिक हिन्दी-साहित्य में आचार्य शुक्ल जी के साहित्येतिहासकार, समीक्षक और विचारक का हिमालय के समान गुरुगंभीर व्यक्तित्व हम सभी साहित्यकारों और साहित्यकों के लिए एक गौरवमय मानदण्ड है।

—एच–९, पद्माकर नगर
मकरोनिया,
सागर-४७०००४ म० प्र०

स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डॉ० रामनिरंजन पाण्डेय

⊙

स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का शिष्य होने का गौरव मुझे प्राप्त है। सन १९३७ की बात है। मुझे हिन्दी में एम० ए० परीक्षा में परीक्षार्थी होना था। 'हिन्दी कविता में व्यञ्जना का स्थान' प्रबन्ध के लिए मेरा विषय था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। उनसे उपर्युक्त विषय के लिये अनुमति लेनी थी। कुछ ऐसा संयोग बैठा कि आचार्य शुक्ल जी से दुर्गाकुण्ड के पास सड़क पर भेंट हो गयी। उन्होंने मुझे निबन्ध पढ़ाया था। पहचान गये। सड़क पर उनके पार्श्व में चलते-चलते प्रबन्ध का विषय सुनाया। बड़े ध्यान से सुनकर उन्होंने कहा—संस्कृत से एम० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हो, इसलिए विषय तो तुम्हारे वश में आ जायगा और अपनी इच्छा से जब तुमने यह विषय चुना है, तब निर्वाह कर लोगे। ध्यान केवल इतना ही रखना कि इस विषय पर अँग्रेजी में भी कुछ पुस्तकें देख लेना। 'सजेशन इन इंग्लिश पोयेट्री' पर कुछ पुस्तकें पढ़ लेने से परिज्ञान व्यापक हो जायगा। केशवप्रसाद जी मिश्र से सहायता लेना। वे तुम्हारे निर्देशक रहेंगे।

सड़क पर ही इतना कार्य हो गया। उनको अधिक कष्ट न देने का निर्णय लेकर मैंने उन्हें प्रणाम किया और आदेश लेकर स्वर्गीय मिश्र जी के घर जाकर उन्हें यह सूचना दी। मिश्र जी ने सहर्ष स्वीकार करके, इस कार्य में मेरे निर्देशक होकर मेरा बड़ा उपकार किया। शुक्ल जी का प्रोत्साहन ही विद्यार्थी को सक्षम बना देता था। विद्यार्थियों के लिए अगाध प्रेम उनके हृदय में था। वे पारस थे। उनका स्पर्श पाकर लोहा भी सोना हो जाता था।

प्रबन्ध के क्षेत्र में शुक्ल जी युगनिर्माता थे। भावों की प्रकृति एवं प्रक्रिया पर लिखे गये उनके निबन्ध आज भी चिन्तकों का पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। सूर, तुलसी एवं जायसी पर लिखे गये उनके प्रबन्ध आज भी पुराने नहीं हुए हैं। साहित्य के रहस्यों पर चिन्तन करनेवाले विद्वानों के लिए शुक्ल जी के प्रबन्ध आज भी पथ निर्देशन कर सकते हैं। 'भाव और मनोविकार', 'श्रद्धा और भक्ति', 'उत्साह', 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था', 'रसात्मक बोध के विविध स्वरुप', 'करुणा', 'क्रोध', 'भय', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'कविता क्या है', 'मानस की धर्मभूमि', 'लज्जा और ग्लानि', 'काव्य में रहस्यवाद

'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद', 'तुलसी का भक्तिमार्ग' 'लोभ और प्रीति', 'ईर्ष्या' इत्यादि निबन्धों में शुक्ल जी के चिन्तन की मणियाँ अद्भुत ढंग से सजी हुई हैं।

शुक्ल जी के बहुमुख चिन्तन की मौलिकता देखकर उनके प्रति श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है। यद्यपि अंग्रेजी का इस प्रकार का साहित्य उनके अनुशीलन के भीतर आ चुका था, फिर भी उस चिन्तन को पचाकर उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया था कि उनके प्रबन्ध मौलिक हो गये हैं। 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' में तो उन्होंने योरोप के 'विरल-व्यक्ति' सिद्धान्त का खण्डन करके सर्वसाधारण व्यक्ति की भारतीय मान्यता स्थापित की है। हैमलेट को विरल व्यक्ति स्वीकार न करके उन्होंने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से साधारण व्यक्तियों का प्रतिनिधि ही माना है। इसी प्रकार एक नागमाता के एकमात्र पुत्र की रक्षा के लिए गरुड़ का अपना शरीर अर्पित कर देने के लिए प्रस्तुत होने के कर्म को भी उन्होंने विचित्र न मानकर साधारण ही माना है और कहा है कि इस प्रकार की प्रकृति वाले अनेक मानव प्राणी हो सकते हैं। जीमूतवाहन उन सब के प्रतिनिधि हैं।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में भी शुक्ल जी ने पथप्रदर्शक का कार्य किया था। उनके लिखे हुए प्रबन्ध अपनी विधा में हिन्दी में सर्वप्रथम थे; इसीलिए शुक्ल जी इस क्षेत्र में युग-प्रवर्तक माने गये थे।

शुक्ल जी यह मानते थे कि मनुष्य की चित्तवृत्तियों में कुछ परिवर्तन अवश्य होते हैं और इसी सत्य के आधार पर समाज का बिम्ब स्थापित करनेवाला साहित्य भी उसी सीमा तक परिवर्तित होता रहता है। मनुष्य का मन स्थिर और गतिशील भी रहता है। उसके हृदय के सब भाव वासना के रूप में स्थिर रहते हैं। पर उन भावों को जीवन में चरितार्थ करने की क्षमता घटती-बढ़ती रहती है। समाज में उदार और कृपण दोनों रहते हैं। उदारता और कृपणता के विकास और ह्रास के अनुसार समाज में परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों का प्रतिबिम्ब साहित्य भी इसी रूप में परिवर्तित होता रहता है। पर साहित्य शाश्वत काल तक उदारता की उपासना और कृपणता की निन्दा करता रहता है। शुक्ल जी इसी मत के स्थापक थें। भावों को शाश्वत और सार्वभौम स्थिति को वे स्वीकार करते हैं।

जीवन के स्वतन्त्र रूप का अखण्ड रक्षक वे साहित्य को मानते हैं। किसी जाति की स्वतन्त्र धरोहर के गौरव के मूल्य के वे पारखी थे। इसीलिए भारतीय आदर्शों के वे रक्षक और उपासक थे। तुलसी, सूर और जायसी पर उनके चिन्तन इस बात के प्रमाण हैं। प्रत्येक जाति अपने शील को प्रयत्नपूर्वक सम्हालती है। इस शील को शाश्वत बनाने की आकांक्षा शुक्ल जी के हृदय में निवास करती है। यदि ऐसा न होता तो वे अतीत के मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के गायक तुलसी और सूर को गौरव क्यों प्रदान करते। रत्नसेन और पद्मावती के पवित्र प्रेम को रसमयी वाणी प्रदान करने वाले जायसी की आध्यात्मिक गरिमा की प्रशंसा क्यों करते।

स्वार्थ के ऊपर उठ जानेवाला मनुष्य ही महान होता है। ऐसे मानव का चित्रण करने वाली कविता भी धन्य होती है। रघुपति के उदार चरित को सँजोनेवाला रामचरित

मानस धन्य और अमर हो गया है। अपनी उस कृति के कारण कृतिकार तुलसी भी धन्य और अमर हो गये हैं। अनन्त काल तक मनुष्य उन्हें अपनी श्रद्धा अर्पित करता रहेगा। स्वार्थ में आसक्त मानव का हृदय बद्धहृदय होता है। जो मनुष्य स्वार्थ से ऊपर उठकर विश्व के लिए जीवित रहते हैं उनके मुक्त हृदय के भाव, स्वार्थमुक्त हृदय के भाव रस बन जाते हैं। रस की इस विश्व-व्यापिनी गरिमा के तुलसी उपासक थे। इसी गरिमा के उपासक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल थे। वे उसी गरिमा के रस को काव्य में देखना चाहते थे। जिस कविता में मानव को महामानव बनाने की क्षमता न हो, साधारण भाव को विश्वव्यापी रस बनाने की क्षमता न हो उसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कविता मानने के पक्ष में नहीं थे। जीवन की रसमयी विशालता को ही हृदय में सच्चा आनन्द उत्पन्न करने में शुक्ल जी सक्षम मानते थे।

परिवर्तित होने वाली जीवन की जो परिस्थितियाँ समस्या बनकर जीवन को समाप्त करने लगती हैं, उनके प्रतिरोध में जीवन में जो मूल धारा संघर्ष करती रहती है वही धारा जीवन के उस खण्ड का नामकरण कर सकती है। हिन्दी साहित्य के जिस युग में यह व्यापक प्रयत्न चल रहा था उसे शुक्ल जी ने वीरगाथा काल कहा। उस युग में आत्म-बलिदान मुख्य था। ईश्वरभक्ति उसी का अंग बनी हुई थी।

जब परिस्थितियों से बाध्य होकर हिन्दू राष्ट्रपद दलित हो गया तब उसके के हृदय को बल प्रदान करने के लिए भक्ति का व्यापक प्रचार हुआ। राम और कृष्ण के लोकरक्षक और लोकमंगल विधायकचरित का गान तुलसी और सूर ने किया। पूरे भारत की सब भाषाओं के कवियों ने यही स्तुत्य कार्य किया। अतः हिन्दी साहित्य के इस काल को शुक्ल जी ने भक्तिकाल का नाम दिया।

संस्कृत भाषा के ह्रास के बाद, साहित्य के उपादानों के चिन्तन के लिए, जब लोक-भाषाओं में, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, ध्वन्यालोक, अलंकार सर्वस्व एवं पिंगल प्रकाश इत्यादि के आधार पर जब अधिक संख्या में रीति ग्रन्थों की रचना हो रही थी उस काल को शुक्ल जी ने युग की मूल प्रवृत्ति के अनुसार रीतिकाल कहा।

इस काल के बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास के खंड को शुक्ल जी ने आधुनिक काल कहा। इसके विरोध में कई सुझाव आये, पर मुझे तो युग की मूल प्रवृत्ति के अनुसार शुक्ल जी के द्वारा किया गया 'हिन्दी साहित्य के इतिहास के खण्डों का नामकरण ही अधिक उप-युक्त जान पड़ता है 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के अनुसार।

काव्यरचना, कहानी लेखन, कोषनिर्माण, ग्रन्थसम्पादन, जीवनी-लेखन एवं अनुवाद कार्य के क्षेत्र में भी शुक्ल जी ने अपनी प्रतिभा का बहुत अच्छा परिचय दिया। इतनी बहुमुखी प्रतिभा के धनी, शुक्ल जी के चले जाने के बाद हिन्दी के क्षेत्र में कोई उनके समकक्ष समीक्षक हुआ यह अब भी निर्णीत नहीं हो सका है।

शुक्ल जी के जीवन के अनेक पक्ष हैं। उन पक्षों पर लोगों ने लेखनी भी चलायी है। अच्छा होता कि और छानबीन करके शुक्ल जी पर एक विशाल ग्रन्थ प्रस्तुत किया जाता। ●

आचार्य शुक्ल और रसानुभूति के विविध स्तर

डॉ० जगदीश गुप्त

⊙

नयी कविता जीवन को एक विशेष प्रकार से देखती है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रकृत्या यह दृष्टि ऋषि-दृष्टि है। इस स्थापना का अभिप्राय यह नहीं है कि नयी कविता के कवि, कवि न होकर ऋषि हैं। यहाँ ऋषि-दृष्टि से तात्पर्य उस निर्भीक सत्यान्वेषी दृष्टि से है जो सुन्दर-असुन्दर, मधुर-तिक्त, रुचिर-कटु, सरल-जटिल बहिरंतर वैविध्यमय एवं अनेकमुखी जीवन के रूप में स्वीकार करते हुए हर वास्तविकता को विवेक-युक्त तटस्थ भाव से देखता है। ऐसी दृष्टि एकदेशीय न होकर सार्वभौमिक होती है। किसी नये तथ्य या अर्थ के उपलब्ध होने पर वह उससे अभिभूत तो होती है पर आच्छन्न नहीं। उसकी सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वह बड़ी से बड़ी अनुभूति को प्रगाढ़ आत्मविश्वास के साथ, बिना अपने व्यक्तित्व को बिखराये या विचलितप्रज्ञ हुए धारण करने की क्षमता रखती है। वह केवल "दृष्टि" हीन होकर तथ्य तक पहुँचने की एक विधा भी है, जिसकी प्राप्ति गहरे आत्यमंथन और अनुभव की परिपक्वता के बाद होती है। नयी कविता भी ऐसी ही विधा में विश्वास रखती है जो प्रज्ञा को विचलित किये बिना, विवेक की जाग्रत अवस्था में, भावक को यथार्थअनुभूति के तल तक पहुँचा देने की क्षमता रखती हो। यही विधा काव्य-शास्त्रोक्त "रसानुभूति" से नयी कविता की भावानुभूति को मूलतः पृथक् कर देती है। "रसानुभूति" से समकक्ष इसे सह-अनुभूति की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इसमें रसानुभूति की तरह व्यक्तित्व और विवेक का परिहार होना आवश्यक नहीं है। कवि और भावक दोनों के व्यक्तित्वों के सह-अस्तित्व में अनुभूति कहना न निराधार है, न अनुपयुक्त।

सह-अनुभूति का स्वरूप तब स्पष्ट हो सकता है जब पहले रसानुभूति की प्रकृति को परख लिया जाय और तभी दोनों का अन्तर भी समझ में आ सकता है। हिन्दी में कम ही ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने रसात्मक अनुभूति के स्वरूप और स्वभाग को लेकर गंभीर चिंतन किया हो। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अवश्य इस सम्बन्ध में गहराई के साथ विचार किया था अतएव उनके निष्कर्ष उल्लेखनीय हैं। शुक्ल जी ने रसानुभूति के दो लक्षण बताये हैं।[1]

---

१. "रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है। उसका भी विचार करना चाहिए.....यह दशा भी एक प्रकार की

१—अनुभूति-काल में अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार।

२—किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।

रस-प्रक्रिया के अन्तर्गत घटित होने वाले "व्यक्तित्व के परिहार पर शुक्ल जी ने वहुत अधिक बल दिया है क्योंकि वही पहली शर्त है रसानुभूति की, साथ ही उसकी एक कसौटी भी है साधारणीकरण जिसके बिना कदापि संभव नहीं है। पर शुक्ल जी ऐसी भाव-स्थिति से भी अवगत थे जिसमें अनुभूति व्यक्तित्व का परिहार घटित हुए बिना भी संभव होती है। व्यक्तित्व का सम्बन्ध जितना घनिष्ठ होकर अन्तःकरण में स्फुट रहेगा" अनुभूति उतनी ही रस-कोटि के बाहर रहेगी" यह उनकी सुविचारित मान्यता है। ऐसी अनुभूति को वे अधिक से अधिक रस के किनारे तक पहुँची हुई मानते हैं। भारतीय साधारणीकरण के साथ पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की चर्चा करते हुए उन्होंने व्यक्ति-निष्ठ अनुभूति को रस की एक नीची अवस्था, मध्यम कोटि की रस दशा बताया है।[1] कारण यह है—कि उनके मत से "रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का उदात्त और अवदात स्वरूप है। इस उदात्त और अवदात्त अनुभूति के आस्वाद को ही आनन्दात्मक कहा जाता है जिसकी उपलब्धि में पुनः व्यक्तित्व बाधक होता है। और शुक्ल जी को आनन्द शब्द की, व्यक्तिगत सुखोपभोग के स्थूल अर्थ से भिन्न एक नयी परिभाषा देनी पड़ती है। जिसमें हृदय का व्यक्ति-बद्ध-दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना, अनिवार्य है। जुगुप्सा, भयंकरता आदि प्रतिकूल-वेदिनीय भाव किस प्रकार रसानुभूति में परिणत होंगे इस विषय में संस्कृत के आचार्यों के प्राचीन परम्परागत तर्कों से अलग हट कर स्वकीयदृष्टि से उन्होंने एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की और वह यह कि "जब हम किसी वस्तु की भयंकरता को, अपना ध्यान छोड़ लोक से सम्बद्ध देखेंगे तब हम रस-भूमि की सीमा के भीतर पहुँचेंगे, और इस प्रकार "घृणित आचरण वाले के प्रति उत्पन्न, हमारी जुगुप्सा भी रसमयी होगी।" यह व्याख्या कुछ अंगों में रसानुभूति के पूर्वोक्त स्वरूप के विरुद्ध पड़ती है क्योंकि हम और "लोक दोनों का समावेश शुद्ध अनुभूति व्यक्तित्वहीनता तथा अलौकिकता" को मर्यादित करता है। रसानुभूति में जब

रसदशा ही है। यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता.....यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।" ३ पृ० २३१, चिंतामणि, पहला भाग।

१. शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य दशा की अनुभूति जिसे आचार्यों ने रस कहा है। दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता कुछ सम्हाले रहता है, द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर, आश्रय की भाषात्मक सत्ता में मिल जाता है।

[—वही पृ० २३३

व्यक्तित्व का ही परिहार हो जायेगा तो हम और हमारा लोक यह कैसे स्थित रह सकेगा। पर शुक्ल जी "लोक-हृदय" में हृदय के लीन होने की दशा को ही रस-दशा मानते हैं। यह मौलिक कठिनाई है। इसी को पहचानते हुए शास्त्रकारों द्वारा रसानुभूति के लिए कल्पना-प्रसूत आदर्श वातावरण की आवश्यकता अनिवार्य रूप से बतायी जाती रही है। इसीलिए विभाव पक्ष को निश्चित शक्ति देने का आग्रह किया गया और तत्कालीन समाज की धारणा, के अनुरूप नायक-नायिका को श्रेष्ठ जाति, वंश, रूप, शील, गुण आदि से विभूषित करके एक "पैटर्न" खड़ा किया गया। आधुनिक चेतना तथा नये सामाजिक परिवेश ने इस पैटर्न को तोड़ दिया और रसानुभूति की बँधी-बँधाई पद्धति बिखर गयी। विभाव पक्ष के आदर्शीकरण की सीमा को शुक्ल जी भी मानते हैं और दुःशील कुरूप पात्र के प्रति अनुराग को वे रस क्षेत्र से बाहर बताते हैं। रस क्षेत्र, के बाहर वह भले ही हो पर जीवन के बाहर तो नहीं कहा जा सकता। आधुनिक साहित्य की व्यापक मानवीयदृष्टि ने रसानुभूति के इस रूढ़िबद्ध सीमित रूप को पूरे आवेग के साथ उद्घाटित कर दिया है साथ ही आत्मीयता एवं संवेदना के प्रसार से जो सह-अनुभूति का कार्य है, उस अवकाश को भी भर दिया है जिसके कारण ऐसे आदर्शवादी साहित्य-शास्त्र की आवश्यकता उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार रसानुभूति की अपेक्षा, सह-अनुभूति अधिक मानवीय स्तर पर प्रतिष्ठित दिखायी देती है। आत्म-विलयन, आनन्द और भावावेग के परिपाक की दृष्टि से रसानुभूति अवश्य ही उत्कृष्ट कोटि की कही जायेगी, परन्तु मानवीयता के विचार से सह-अनुभूति को उससे उत्कृष्टतर मानना ही विवेक-संगत दिखायी देता है। शुक्ल जी ने एक तो व्यक्तिवादी भावना और व्यक्तित्वनिष्ठ अनुभूति के बीच के अन्तर को लक्षित नहीं किया दूसरे उन्होंने इस पर विचार नहीं किया कि मध्यम कोटि की होने पर क्यों यह भिन्न प्रकार की अनुभूति को आधुनिक साहित्य का अधिकाधिक धारक-तत्त्व बनती जा रही है। इसके गहरे कारणों पर यदि उनकी दृष्टि गयी होती तो अपने कोटि-क्रम को स्वयंसिद्ध मानकर वह समस्त व्यक्तित्वनिष्ठ साहित्य को नवीनता के प्रति आकुलतामात्र का पर्याय न बता देते और न उसे नकली हृदय की ही उपज घोषित कर देते। शुक्ल जी ने अपने विवेचन में आधुनिक साहित्य के पीछे एक प्रधान प्रेरक शक्ति के रूप में निहित हृदय की गहरी सच्चाई की उपेक्षा की है, फलतः उनके सिद्धान्त मध्यकालीन साहित्य पर अधिक लागू होते हैं, आधुनिक पर कम।

—प्रोफेसर, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

एक संस्मरण

डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री

तब मैंने अपना अध्यापकीय जीवन आरम्भ ही किया था। संयोग ही था कि संस्कृत तथा हिन्दी में विभिन्न परीक्षाओं में सर्वोच्च अंक प्राप्त करने पर भी अंग्रेजी का बाजार-भाव ऊँचा होने के कारण अंग्रेजी का प्रवक्ता बना था। जीविकोपार्जन तथा सामान्यज्ञान के लिए अंग्रेजी का अध्ययन-अध्यापन करता था अवश्य, पर मन की भूख मिटाने और जीवन के रहस्यों को समझने के लिए मातृभाषा के अध्ययन का क्रम अबाध रूप से चलता रहता था। तभी हिन्दी जगत् में कुछ नाम विशेष रूप से उजागर थे। प्रेमचन्द, प्रसाद, गुप्त जी आदि प्रथम श्रेणी के हिन्दी-सेवियों के मध्य पं० रामचन्द्र शुक्ल अपना विशिष्ट स्थान बना रहे थे। बीसवीं सदी के चौथे दशक में आचार्य शुक्ल अपने आलोचक के उत्कृष्ट रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

हम कुछ साथियों ने मिल कर अपनी बाल्यावस्था में एक 'बाल-सभा' की स्थापना की थी। हम लोगों के वय में आगे बढ़ने के साथ 'बाल-सभा' का भी सर्वांगीण विकास हुआ। चौथे दशक के अन्त तक 'बाल-सभा' अपने विकास के चरम शिखर पर थी। उस समय आज के सम्मेलन के साहित्य मंत्री पं० प्रेमनारायण शुक्ल, (जो मुझे अनुज-सुलभ आदर तो भरपूर देते रहते हैं पर साथ ही सांसारिकता के क्षेत्र में सदैव मेरा पथ-प्रदर्शन भी करते रहते हैं) बाल-सभा के भी 'परराष्ट्र-सचिव' का-सा काम करते थे। उन्हीं के समान कुछ अन्य साहित्य प्रेमी नवयुवकों के साथ हम लोगों ने बालसभा के वयस्क सदस्यों के लिए 'आचार्य शुक्ल साधना मंदिर' की स्थापना की। इसके प्रत्येक सदस्य को अपने प्रिय लेखक की समस्त कृतियों को देना पड़ता था। आरम्भ में ही शुक्ल जी, प्रेमचन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त और महादेवी वर्मा की समस्त उपलब्ध कृतियाँ आ गयी थीं। एक बार सदस्य बनने के बाद आगे प्रकाशित होने वाली रचनाओं को संगृहीत करने का दायित्व 'साधना-मंदिर' पर होता था। उस समय (१९४०ई०) तक कानपुर में न तो किसी कालेज के पुस्तकालय में और न किसी अन्य सार्वजनिक पुस्तकालय में इस प्रकार का संग्रह उपलब्ध था।

इस समय एक बड़ा सुखद संयोग उपस्थित हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सुपुत्र पं० केशवचन्द्र शुक्ल डी० एस० ओ० के रूप में कानपुर में ही कार्यरत थे। सन्

१९४१ में डी० ए० बी० कालेज, कानपुर में हिन्दी एम० ए० की कक्षाओं को प्रारम्भ करने के संदर्भ में निरीक्षण कार्य से आचार्य शुक्ल जी कानपुर आये थे और अपने पुत्र के साथ ही ठहरे थे। 'बाल-सभा' के 'परराष्ट्र सचिव' प्रेमनारायण शुक्ल उस समय डी० ए० वी० कालेज से बी० ए० उत्तीर्ण करके सनातन धर्म कालेज में एम० ए० द्वितीय वर्ष के छात्र थे और पं० केशवचन्द्र के परिवार में आपका आना जाना होता रहता था। आपने शुक्ल जी के कानपुर नगर में आगमन का पूरा लाभ उठाते हुए उनकी आज्ञा से नगर के कई स्थानों में साहित्यिक आयोजन किये।

कानपुर के उस समय के एस० डी० (सनातन धर्म) कालेज (अब बी० एस० एस० डी०) में नगर के विद्वानों के बीच आचार्य शुक्ल जी का अभिनन्दन किया गया। उस समय एस० डी० कालेज के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष शुक्ल जी के शिष्य पं० अयोध्यानाथ शर्मा थे। वहाँ पर हिन्दी के स्नातकोत्तर कक्षाओं के विद्यार्थियों तथा विभागीय अध्यापकों के साथ शुक्ल जी का रेशमी कुर्ते और धोती में उस समय का ग्रुप अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है, क्योंकि सम्भवतः शुक्ल जी के सामान्य रूप से उपलब्ध सभी फोटो कोट और टाई में हैं। इस सम्बन्ध में भी एक रोचक प्रसंग है।

शुक्ल जी कानपुर में अपने सुपुत्र पं० केशवचन्द्र शुक्ल (डी० एस० ओ० कानपुर) के आर्यनगर स्थित बंगले पर ठहरे हुए थे। श्री प्रेमनारायण शुक्ल के साथ मैं शुक्लजी के बंगले पर गया। उन दिनों जाड़ा शुरू हो गया था। शुक्ल जी भी रूई का गदेला और धोती पहने बंगले की सीढ़ियों पर बैठे थे। मैंने उनका चित्र लेने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा, "जरा ठहरो।" और भीतर चले गये। थोड़ी देर में वह कोट और टाई पहन कर बाहर आ गये। मैंने उनका फोटो लिया। इस चित्र का भी भावात्मक महत्त्व हो गया; क्योंकि कानपुर की यात्रा से लौटने के वर्ष भर के भीतर ही समाचारपत्रों से शुक्ल जी के अचानक दिवंगत होने का समाचार मिला। एक प्रकार से उनकी कानपुर की वह यात्रा तथागतीय यात्रा सिद्ध हुई। जो फोटो कानपुर में लिये गये थे—वही उनके अन्तिम चित्र थे।

कानपुर की इस यात्रा में बाल-सभा के 'शुक्ल साधना-मंदिर' के तत्त्वावधान में आयोजित साहित्य-गोष्ठी की भी अपनी विशेषता थी। इसमें शुक्ल जी ने अपने जीवन के कुछ रोचक प्रसंग सुनाये थे। उन प्रसंगों में एक का सम्बन्ध उनके परम शिष्य पं० चन्द्रबली पाण्डेय से भी सम्बन्धित था। पाण्डेय जी ने एक समय केवल भिगोये हुए चने खाने का व्रत-सा साध लिया था। उसी व्रत-साधन के 'दौरान' पाण्डेय जी एक बार शुक्ल जी के निवास स्थान पर पहुँचे। रात्रि काफी बीत चुकी थी। पाण्डेय जी के लिए कुछ व्यवस्था तो करनी ही थी। बड़ी गम्भीरता से शुक्ल जी ने कहा, "रात काफी हो गयी है, और कहीं तो नहीं पर यदि पास के अस्तबल में जाओ (जहाँ भिगोये हुए घोड़े के हेतु सुरक्षित भीगे चनों के मिलने की सम्भावना थी) तो पाण्डेय जी का कुछ काम बन सकता है।" सब लोक खिलखिला कर हँस पड़े थे पर शुक्ल जी की हँसी उनकी घनी मूँछों के भीतर ही रह जाती थी। उनके

विद्यार्थी भी यही बतलाते थे कि कक्षा में हँसी का फौव्वारा छूट पड़ता था। उनकी विनोद भरी बात से, पर शुक्ल जी स्वयं धीर-गम्भीर बने बैठे रहते थे।

उनके सुपुत्र ने एक दूसरे अवसर पर जो प्रसंग सुनाया उससे शुक्ल जी की अध्ययन-शीलता का पता चलता है। डी० एस० ओ० साहब तब अपनी पी० सी० एस० की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहे थे। अंग्रेजी-साहित्य भी उनका एक विषय था। उन्होंने एक दिन अनुभव किया कि उनकी अंग्रेजी की किताबें जैसे रखी थीं वैसे नहीं हैं। दूसरे दिन भी कुछ वैसा ही लगा उनको। बस तीसरी रात वह बिजली बन्द कर चुपके से जागते रहे। बारह बजे के लगभग उन्होंने देखा कि उनके पिता जी आये और पुस्तकें ले गये। बस रात को तो वह सो गये पर सबेरे उन्होंने देखा कि उनकी किताबें उन्हीं के कमरे में रखी हैं। केशव जी ने बतलाया कि उनके पिता जी बहुत पढ़ते रहते थे। शुक्ल जी के लिए तो एक प्रकार से यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी था कि वह स्नातकोत्तर कक्षाओं को पढ़ायें और उसके लिये पाठ्य-क्रम की सहायक सामग्री भी तैयार करें और फिर साहित्य के नित्य प्रगतिशील क्रम से परिचित होने के लिए संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनों के ही विशेष अध्ययन की आवश्यकता थी।

आचार्य शुक्ल जी का अपना बनारसी ढब भी था। जब वह कानपुर आये, तब हम लोगों ने बातों-बातों में ही एक दिन 'ठण्ढाई' का कार्यक्रम रखने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से अपनी सहमति प्रदान की। हम लोगों ने स्थानीय जागेश्वर के पास नगर की पश्चिमी सीमा पर स्थित ग्राम ख्यौरा में (अब तो वह नगरमहापालिका का मोहल्ला बन गया है वहाँ) एक 'पिकनिक' की आयोजना की। यहाँ शुक्ल जी की अपनी मस्ती का नया रूप देखने को मिला, ठण्ढाई तो उन्होंने रुचि से पी ही। साथ ही साथ गाँव के लोगों से उनकी स्थानीय बोली में बतियाने को कहा। कुछ लोगों ने अपने को सभ्य दिखलाने की नियत से जब खड़ीबोली में कुछ कहना आरम्भ किया, तो शुक्ल जी अपनी बनारसी--मिर्जापुरी और अवधी का पुट मिलाते हुए कहा, "अरे कितबिया केर राहरातू बोली रहै देव। रंच अपन बोली ब्वालों।" वह नवयुवक तो शरमा गया था पर पास खड़े एक वृद्ध सज्जन ने स्थानीय अवधी-पछाहीं खिचड़ी बोली में उनका मनोविनोद किया।

विद्यार्थी के रूप में तो हम सब शुक्लजी को अपने लोगों के लिए अगम्य समझते थे पर शुक्लजी ने अपने कानपुर के स्वल्प-प्रवास में हम 'छुटभइयों' को इतनी अधिक आत्मीयता प्रदान की कि वे अपने अति निकट के वयोवृद्ध सम्बन्धी की भाँति सहज लगने लगे। दुःख इसी बात का है कि वह फिर दूसरी बार हम लोगों को अपने बीच में नहीं मिल सके। हाँ, यह अवश्य है कि उस अल्पकालीन सम्पर्क से ही उनसे जो कुछ मिला वह एक सुखद अनुभव के रूप अपने अतीत के जीवन की निधि बन कर रह गया है।

●

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि और लोकमंगल

डॉ० कोमलसिंह सोलंकी

⊙

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आधुनिक हिन्दी समीक्षा के अग्रणी आलोचक हैं जिनके समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों में लोकमंगल की अवधारणा अनेक रूपों में स्पष्ट हुई है, किन्तु समग्र मानवीय संस्कृति के विशृंखलित स्वरूप को देखते हुए काव्य दृष्टि का यह आधार कितना कालजयी है, यह विचारणीय है। आचार्य शुक्ल ने काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था नामक अपने आलोचनात्मक निबंध में लोकमंगल के बीच हृदय का पूर्ण निवेदन भारतीय भक्ति-मार्ग में ही देखा है। सत्‌चित्‌ और आनन्द-ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्ति मार्ग आनन्द स्वरूप को लेकर चला है। यहाँ यह तथ्य दृष्टि में रखना आवश्यक है कि आचार्य शुक्ल की काव्य दृष्टि का आधार भारतीय मध्ययुगीन भक्ति-मार्ग है जबकि काव्य की बहुआयामी रचना भारतीय भक्ति-मार्ग से हटकर भी साहित्येतिहास में उपलब्ध है। साहित्य के संबंध में संस्कृत काव्यशास्त्र में विपुल चिंतन उपलब्ध है और अनेक अवधारणाएँ, काव्य सिद्धांत, साम्प्रदायों के अध्ययन का प्रभाव हिन्दी आलोचना पर हुआ है या यह कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी कि भारतीय काव्यशास्त्र जिसका मूल आधार संस्कृत का काव्य शास्त्र है, से उसे यथावत हिन्दी आलोचना में मान्य कर लिया गया है, इतना ही नहीं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अत्यन्त सीमित काल के समीक्षा सिद्धान्तों या प्रतिभाओं को भी हिन्दी आलोचना ने ग्रहण कर लिया है। आचार्य शुक्ल ने भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-दृष्टियों का मनन कर हिन्दी काव्य की लोकप्रिय रचनाओं का अध्ययन कर, जो दृष्टि प्राप्त की वह वास्तव में उदात्त जीवन मूल्यों के चिंतन का परिणाम है। ऐसी अवस्था में आचार्य शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि मध्ययुगीन भक्ति-मार्ग से अनुप्राणित हुई तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि उन्हीं के कथनों को रेखांकित करने पर कुछ बिन्दुओं पर आधारित दृष्टिगत होती है, वे बिन्दु हैं—

- रागात्मिकावृत्ति के प्रसार के बिना विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामंजस्य घटित नहीं हो सकता। (भाव या मनोविकार)

- भीतरी या सच्ची प्रवृत्ति निवृत्ति को जागरित करने वाली शक्ति कविता है। (भाव या मनोविकार)
- धर्म ही से मनुष्य समाज की स्थिति है। (श्रद्धाभक्ति)
- काव्य पर शब्दालंकार आदि का इतना बोझ लादा गया कि उसका सारा रूप ही छिप गया। (श्रद्धाभक्ति)
- यदि किसी उत्तम काव्य या चित्र की विशेषता न समझने के कारण हम कवि या चित्रकार पर श्रद्धा न कर सकें तो यह हमारा अनाड़ीपन है। (श्रद्धाभक्ति)
- जनसाधारण के लिए शील का ही सबसे पहले ध्यान होना स्वाभाविक है क्योंकि उसका संबंध मनुष्य मात्र की सामान्य स्थिति-रक्षा से है (श्रद्धाभक्ति)
- मनुष्य विश्व-विधान का एक क्षुद्र चेतन अंश है (श्रद्धाभक्ति)
- हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। (कविता क्या है)

वैसे तो आचार्य शुक्ल के चिंतामणि निबन्ध-संग्रहों में से अनेक और ऐसे बिन्दु प्राप्त हो सकते हैं जिनसे आचार्य शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि और अधिक स्पष्ट हो सकती है किन्तु लोक-मंगल के संबंध में उनकी अवधारणा को ग्रहण के लिये उपर्युक्त बिन्दु ही पर्याप्त आधार प्रदान करते हैं।

आचार्य शुक्ल ने जीवन से लेकर जगत्, जीव और ब्रह्म तक के उसके स्वरूप विकास को इन बिन्दुओं में समेट लिया है। भारतीय चिंतन-पद्धति में जब भी प्राचीन आचार्यों ने समग्र दृष्टि से विचार किया है तब सर्वप्रथम जीव, जगत् और ब्रह्म इन तीन सूत्रों को ही लिया है। संसार प्रसिद्ध भारतीय वांङमय की वृहत्त्रयी में इसी जीव जगत् और ब्रह्म की चर्चा है। इस अनन्त रूपात्मक क्षेत्र को आचार्य शुक्ल ने जगत् के रूप में पारम्परिक अर्थ में ही स्वीकार किया है। जगत् के इन नाना रूपों और व्यापारों में मानव मात्र बद्ध है। ज्ञानमार्ग में आत्मा की मुक्ति के लिये संसार की असारता और क्षणभंगुरता को स्वीकार कर ज्ञानी मुक्ति की कामना करता है और उसे मुक्तावस्था प्राप्त भी होती है। आचार्य शुक्ल ने उसी शैली में मानव हृदय के हानि-लाभ, सुख-दुःख से मुक्त होने की अवस्था को रसदशा कहा है। उनकी दृष्टि में ज्ञान-भोग, कर्म-भोग की भाँति यह स्थिति भाव-भोग की है और इसीलिये उन्होंने आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष और आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर काव्य का वर्गीकरण किया प्रतीत होता है। भारतीय साधना मार्ग के इस आधार को उन्होंने थोडीर डंटन जैसे अंग्रेजी साहित्य के समीक्षक से प्रमाणित कर Poetry as Eneregy और Poetry as an Art के रूप में काव्य का उल्लेख किया है।

मध्ययुगीन काव्य समीक्षा के क्षेत्र में दो शब्द समूहों का प्रायः प्रचलन है। एक है लोकमंगल और दूसरा है लोकरंजन। लोकरंजन से लोकमंगल को कुछ समीक्षक विशेष दर्जा देते है जब कि काव्य के आस्वाद के धरातल पर ऐसा दर्जा दिया जाना न तो उपयुक्त

है और न अनिवार्य। जीवन के वर्तमान से या यथार्थ भूमि से जो जुड़ना नहीं चाहते या जिनमें उदात्त आदर्शों के प्रति विशेष आग्रह है, उनकी दृष्टि में भावों या विकारों का उदात्तीकरण काव्य या साहित्य का एक प्रमुख लक्षण है। मनोविज्ञान में भी रागात्मक वृत्तियों के उदात्तीकरण के प्रश्न को लिया गया है किन्तु काव्य के आस्वाद या अनुभूति को कवि और श्रोता या पाठक के भाव-तादात्म्य के आधार पर ही ग्रहण किया जा सकता है। कवि की दृष्टि से 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है' और श्रोता या पाठक की दृष्टि से भी। तब इस रस की अनुभूति में उदात्त या अनुदात्त भाव नहीं, संसार के मानव मात्र में प्राप्त भाव ही अनिवार्य हैं।

विश्व में काव्य के संबंध में सर्वप्रथम प्रामाणित रचना भरत मुनि का नाट्यशास्त्र है जिसमें रस और उसके अंगीभूत तत्त्वों का उल्लेख हुआ है और उसमें भाव के जिस मूल अर्थ की रक्षा की गयी है मेरे विचार से न वह उदात्त है और न अनुदात्त, वह मात्र भाव है जो प्रत्येक मानव के हृदय में अवस्थित है और वही कृतिकार की दृष्टि से तथा सहृदय या पाठक की दृष्टि से ग्राह्य है। परिवेश या परिस्थितियों के साथ भाव को स्वीकार कर यदि हम काव्य के संबंध में चिंतन करते हैं तो हमें यह तथ्य ध्यान में रखना होगा कि काव्य नीतिकथनों, कल्पना शील ऊहा-पोहों और शब्दों की लकदक पच्चीकारी से अलग हट कर कुछ भी नहीं है।

चूँकि आचार्य शुक्ल ने अपनी काव्य स्थापनाओं के लिए जिन कृतियों को आधारभूत माना है उनके अनुसार उनका कथन इससे भिन्न कुछ और हो ही नहीं सकता था। उन्होंने कविता क्या है नामक निबंध में स्पष्ट किया है कि कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भाव भूमि पर ले जाती है वहाँ जगत् की नानागतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिये अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता लोक सत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेषसृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है।

रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह ही वास्तव में वह स्थिति है जहाँ से साहित्य या कला का जन्म होता है। सर्जन के मूल में जिस मंगल का विधान है वही स्थिति किसी रचना के सृजन में भी है। विराट लोक सत्ता में समाहित कर सामान्य भाव भूमि पर जब रचनाकार वाणी का शब्द विधान करता है, तब जिस काव्य की सृष्टि होती है उसका हेतु सामाजिक जीवन मूल्यों की पुनर्रचना होता है, जिसे सामान्यतया लोकमंगल की साधना कहा जा सकता है। आचार्य शुक्ल मानते हैं कि यह कविता की पहली शर्त है जबकि यह एक युगीन रचना-धर्मी आवश्यकता है। जिन परिस्थितियों में महाकवि कालिदास ने काव्य-रचना की और जिन परिस्थतियों में महाकवि तुलसीदास के काव्य का सृजन हुआ, क्या हम उन्हें एक धरातल पर सृजित रचनाएँ मान सकते हैं? अतएव इस तथ्य को स्वीकार किया जाना

चाहिए कि आचार्य शुक्ल मध्ययुगीन भक्ति-काव्य के अधिकारी समीक्षक हैं और उनकी काव्य विषयक मान्यताओं को विशिष्ट संदर्भों में व्याख्यापित किया जाना चाहिए।

'लोक और वेद' का सामंजस्य आदि काव्य के बाद हिन्दी काव्य का मूल आधार रहा है। तुलसी का काव्य नानापुराणनिगमागम को हृदयंगम करने के बाद लोक के साथ अपना जीवन्तरिश्ता कायम करता है और शास्त्रीय मूल्यों के प्रति आस्थावान होने के बाद भी तुलसी के काव्य की बुनावट लोकपरक है। पात्रों के क्रियाकलापों से सामाजिकों में जिस मंगल का संचार होता है वही मानो कवि का हेतु है। मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति-काव्य का फलक इतना व्यापक और दूरगामी है जिसमें एक ओर टूटते हुए जीवन मूल्यों के प्रति संघर्ष और दूसरी ओर स्वस्थ भारतीय सामाजिक मान्यतओं की स्थापना के लिये अनुभूत आग्रह सतत् प्रवहमान है, भक्ति, धर्म की लोकपरक अनुभूति है जिसमें समाज और व्यक्ति जीव और ब्रह्म को एक साथ अभिभूत करने की क्षमता है, वह एक मनोवैज्ञानिक अवस्था है फलतः आचार्य शुक्ल ने जिस लोकमंगल के संबंध में काव्य में आग्रह किया है वह युगीन होने के साथ भी कालजयी है।

हिन्दी आलोचना को अपने प्रतिमानों को निर्धारित करने में यदि कोई प्रमाण सामग्री प्राप्त है तो वह हिन्दी भाषा की रचनाएँ हैं जिसमें आदिकाल की वीरगाथाएँ, भक्ति काल की लोकमंगल और लोकरंजनपरक रचनाएँ तथा रीतिकाल की शृंगारपरक रचनाएँ हैं। तुलसी के काव्य में संघर्ष से उत्पन्न और सामाजिक यथार्थ में उत्पन्न लोक-मंगल और काव्य में उदात्त आदर्श से उत्पन्न सौन्दर्य सर्वत्र प्राप्त है, आचार्य शुक्ल ने सम्भवतः इन्हीं तथ्यों को उजागर करते हुए अपने काव्य मंतव्यों को स्पष्ट किया है। आल-म्बनत्व धर्म और रस के संबंध में हिन्दी आलोचकों में मत भिन्नता हो सकती है किन्तु लोक के साथ काव्य या साहित्य के सामंजस्य में सभी एकमत हैं।

आचार्य शुक्ल हिन्दी आलोचना के समर्थ पायनियर विधायकों में से एक हैं।

●

संश्लिष्ट काव्यशास्त्र और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डॉ० सत्यदेव मिश्र

⊙

समकालीन हिन्दी-समीक्षा में भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों का अद्भुत समाहार हुआ है। आज पूर्व और पश्चिम के आलोचना-जगत् की नवसरणियाँ एक सार्वभौम साहित्य-संहिता, एक संश्लिष्ट काव्यशास्त्र में पर्यवसित होने के लिए प्रवहमान हैं। पर्यवसान की इस प्रयास-दिशा का इंगित हमें शुक्लजी की समीक्षा में मिलता है। वस्तुतः शुक्लजी की समीक्षा पाश्चात्य और प्राच्य समीक्षा-सिद्धान्तों का मिलन विन्दु है। उसमें पूर्व-पश्चिम की साहित्यिक विचारणाओं का बड़ा ही विशद् एवं प्राणवंत सामंजस्य मिलता है। उनकी समीक्षा पौरस्त्य एवं पाश्चात्य मानव-मूल्यों का एकीकरण है—किसी का अंधाधुंध आश्रयण नहीं। उसमें जहाँ एक ओर महाकवि गोस्वामी तुलसीदास के मर्यादावाद को प्रश्रय मिला है, वहीं दूसरी ओर डार्विन के विकासवाद और मनोविज्ञान पोषित नीतिवादी दृष्टिकोण को समर्थन भी। शुक्ल जी ने पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ वर्धमान ज्ञान-राशि का उपयोग प्राचीन सिद्धान्तों की व्यापकत्व प्रदान करने हेतु किया है। उन्होंने पाश्चात्य मत-मतान्तरों में से उन्हीं प्रकाश-कणों को ग्रहण किया है जो भारत की मूलवर्ती चिंताधारा के अनुकूल है। वे 'आधुनिक भारत के संश्लिष्ट काव्यशास्त्र के मेरुदण्ड' हैं। वे एक साथ ही 'रसवादी', 'रोमांटिक', 'एंटीरोमांटिक' और 'विकासवादी' हैं। इन सभी सिद्धान्तों ा समीकृत रूप उनकी समीक्षा में मिलता है, फिर भी मौलिक भारतीय चिंतना कहीं भी तिरोभूत नहीं होती। यही कारण है कि स्वच्छंदतावादी भावनात्मकता एवम् प्रकृति-प्रेम, विक्टोरियन नीति परायणता एवं सदाचार तथा डार्वेनियन विकासात्मकता को युगपत् रूप से ग्रहण करते हुए भी वे इनसे नितांत असम्पृक्त प्रतीत होते हैं।

शुक्लजी की अभिरुचि-निर्माण में पाश्चात्य मनोविज्ञान के साथ ही साथ स्वच्छंदतावाद एवं डार्विन के विकासवाद का भी अंशदान है। रीतिकालीन काव्यरूढ़ियों, राज्याश्रित काव्य के दरबारीपन एवं कृत्रिम शास्त्रीयता पर किये गये उनके प्रहार तथा कवि और कविता को प्रकृति की गोद में ले जाने का उनका प्रबल आग्रह उनकी स्वच्छंदतावादी मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। जिस प्रकार अंग्रेजी के स्वच्छंदताबादी कवि-आलोचकों ने नव-

शास्त्रवाद पर प्रबल प्रहार किये, ठीक उसी प्रकार शुक्ल जी ने भी रीतिकालीन कविता की कड़ी आलोचना की। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', विभिन्न भूमिकाओं एवं स्फुट निबंधों में शुक्लजी ने रीतिकालीन संकुचित 'बद्ध और परिमित-सी' मनोवृत्ति की आलोचना की है। पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी अंग्रेज कवि शैले, ब्लैक एवं जर्मन कवि गेटे आदि की भांति वह भी उसी काव्य की सराहना करते हैं, जो भावक में भावों को जाग्रत कर सके। भावोद्बोधन में अक्षम, किन्तु शास्त्रोचित नियमों से भाराक्रांत उक्तियों को वे बनावटी चमत्कार प्रदर्शन भर मानते हैं, कविता नहीं। तात्पर्य यह है कि पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी कवि-आलोचकों की भाँति ही वे भावोत्प्रेरक काव्य के संपोषक हैं।

आचार्य शुक्ल को पाश्चात्य साहित्य एवं मनोविज्ञान का गंभीर ज्ञान था और आलोचक शुक्ल की मानस-पृष्ठभूमि निर्माण में इस पश्चिमी ज्ञान का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यद्यपि उनके अलोचक-व्यक्तित्व की आधार-भूमि भारतीय साहित्य ही है, तथापि पश्चिमी मनोविज्ञान, स्वच्छंदतावादी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ , विक्टोरियन सदाचार एवम् नैतिकता आदि अनेक ऐसे विचार-पुंज रहे हैं, जिन्होंने उन्हें बड़ी गहराई तक निखारा-पखारा है। वस्तुतः उनके सिद्धान्तों का मूल स्रोत यदि भारतीय था, तो उनका पल्लवन-पुष्पन पश्चिमी।

शुक्लजी में वाह्य विचारों को आत्मसात करने की विलक्षण प्रतिभा थी। यही कारण है कि उनमें पौरस्त्य और पाश्चात्य अवधारणाएँ घुल-मिलकर एक नवीन रूप प्राप्त कर सकीं हैं। "वस्तुतः भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा परम्पराओं को आत्मसात् कर अपनी चेतना में प्रविलीन करके ही हिन्दी के स्वतंत्र काव्य-शास्त्र का निर्माण हो सकता था। शुक्लजी की समीक्षा इसी दिशा में एक उत्कृष्ट प्रयास है। यह न क्रमागत एवं परम्परानिष्ठ काव्यशास्त्र का पुनराख्यान है, न पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का एक पार्श्वी समर्थन। दोनों प्रभावों के संतुलित विलयन पर आधृत स्वतंत्र समीक्षा सर्वप्रथम शुक्लजी की कृतियों में ही देखी जाती है।" शुक्लजी ने अपनी समीक्षा-कृतियों में अनेक पाश्चात्य कृतिकारों एवं उनकी अवधारणाओं का उल्लेख किया है। इनमें से कुछ कृतिकारों एवं उनकी मान्यताओं का खण्डन किया गया है तथा कुछेक का मंडन एवं संवर्द्धन। इसके साथ ही साथ अपनी धारणाओं की पुष्टि के लिए भी शुक्लजी ने पश्चिमी साहित्यकारों एवं मनोवैज्ञानिकों का उल्लेख किया है। जिन कवि-आलोचकों, मनोवैज्ञानिकों एवं मनोवैज्ञानिक-आलोचकों के शुक्लजी प्रशंसक हैं, उनमें प्रमुख रूप से आई० ए० रिचर्ड्स, ए० एफ० शैंड, जोजेफ एडीसन, महाकवि वर्ड्सवर्थ, शैले, ब्राउनिंग आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी तरह शुक्लजी ने जिन पाश्चात्य मनीषियों की भर्त्सना की है, उनमें क्रोचे, आधुनिक अंग्रेज कवि कमिंग्ज, कलावादी विचारक ए० सी० ब्रैडले आदि के नाम विशेष रूप से परिगणनीय हैं। इसी प्रकार कुछ ऐसे भी साहित्यकार हैं, जिनकी कुछ अवधारणाओं के शुक्लजी समर्थक हैं तथा कुछ के आलोचक। ऐसे आलोचकों में डंटन, स्पिनगार्न आदि के नाम विचारणीय हैं। इस सभी पाश्चात्य विचारकों के शुक्लजी ऋणी हैं। इन सभी से न्यूना-

धिक रूप में वे प्रभावित भी ठहराये जा सकते हैं? वस्तुतः उन्होंने विभिन्न पाश्चात्य मनीषियों की साहित्यिक अवधारणाओं तथा उन साहित्येतर मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं को, जो साहित्य में गृहीत हो चुकी हैं अथवा साहित्य को प्रभावित कर चुकी हैं और जो उन्हें भारतीय चिंताधारा के अनुकूल प्रतीत हुई हैं, ग्रहण किया है। इन पाश्चात्य साहित्यिक अवधारणाओं को ग्रहण करने में भी उन्होंने अपनी मौलिकता, आत्मसात् करने की अद्भुत शक्ति तथा नीर-क्षीर विवेकिनी प्रबल प्रज्ञा का सहारा लिया है, जिससे वे अवधारणाएँ नितांत नवीनता के साथ रूपायित होकर हिन्दी में एक स्वतंत्र काव्यशास्त्र का मार्ग प्रशस्त कर सकी हैं। शुक्लजी ने पाश्चात्य साहित्यिक अवधारणाओं को त्रिविध रूप में लिया है— खंडन, मंडन एवं संवर्द्धन। वस्तुतः जब वे किसी पाश्चात्य साहित्यिक धारणा का खंडन करते हैं, तब वे उस अवधारणा के खंडन से अपने पक्ष का संवर्द्धन करते हैं। उदाहरणार्थ, क्रोचे के 'अभिव्यञ्जनावाद' पर किये गये उनके प्रबलतम प्रहार काव्यानुभूति के अलौकिकत्त्व संबंधी धारणा की अस्वीकृति के संवर्द्धन में पर्याप्त सहायक हुए हैं। इसी तरह उनके द्वारा कलावाद की कठोरतम आलोचना साहित्य में सदाचारवादी मूल्यों के प्रतिस्थापन में पर्याप्त सहायक हुई है।

आचार्य शुक्ल की आलोचना का अंगी सिद्धान्त 'रस-सिद्धान्त' है और 'रस-सिद्धान्त' की व्याख्या का मूल स्रोत संस्कृत के उद्भट आलोचक भट्टनायक, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि हैं। शुक्लजी प्रणीत रसदशा का विवेचन, 'हृदय-विस्तार', 'हृदय की मुक्तावस्था' आदि सिद्धान्तसूत्रों का आधार उक्त समीक्षकों का रस-स्वरूप-विवेचन ही है। किन्तु रस के स्वरूप को रेखांकित करते हुए, 'भाव-तत्त्व' को व्याख्यायित करते हुए वे पश्चिमी मनोविज्ञान का सहारा लेते हैं।

रस-सिद्धांत पर चर्चा करते समय शुक्लजी ने भाव-विवेचन संबंधी सामग्री प्रमुख रूप से शैण्ड एवम् रिचर्ड्स से ली है। इसके साथ ही स्पेंसर, बेन, मेक्डूगल, एंजिल आदि मनोवैज्ञानिकों से भी वे प्रभावित प्रतीत होते हैं। भाव-विवेचन में शुक्लजी मनोविज्ञान और साहित्यशास्त्र को समानांतर लेकर चले हैं। मनोविज्ञान संबंधी अवधारणाओं को जहाँ वे उक्त मनोवैज्ञानिकों के प्रभाव में विश्लेषित-विवेचित करते हैं, वहीं साहित्य-शास्त्र संबंधी अवधारणाओं को साहित्यदर्पणाकार के प्रभाव में।

यद्यपि शुक्लजी द्वारा प्रणीत भाव अथवा मनोविकारों का मूलस्रोत पश्चिमी मनोविज्ञान है, उनके मूलश्रोत शैण्ड हैं, फिर भी उन्होंने मनोविकारों के अध्ययन में अपने निजी ज्ञान का उपयोग किया है। इस संदर्भ में उनके सभी उदाहरण भारतीय साहित्य-संस्कृति एवं समाज से ही नियोजित किये गये हैं। शुक्लजी द्वारा 'भाव या मनोविकार' निबंध में भाव की परिभाषा, उत्पत्ति, स्वरूप-विकास एवं मानव-जीवन में उसकी उपयोगिता आदि पर जो विचार किया गया है, वह शैण्ड की पुस्तक 'फाउण्डेशन आफ करेक्टर' के आधार पर है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने मनोवैज्ञानिकों में प्रमुख रूप से शैण्ड से प्रभूत प्रभाव ग्रहण किया है। शीलदशा, भाव, भाव-कोश आदि संबंधी उनकी

धारणाओं पर शैण्ड प्रणीत 'इमोशन' और 'सेन्टीमेण्ट' संबंधी परिकल्पना (कांसेप्ट) का प्रमुख प्रभाव रहा है। किन्तु फिर भी उन्हें परप्रत्ययी नहीं कहा जा सकता है। भाव-तत्त्व-विवेचन में मूलावधारणाएँ शैण्ड से गृहीत होते हुए भी वे यथेष्ट मौलिक हैं; क्योंकि शुक्लजी का उद्देश्य पश्चिमी मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं को मौलिकता का मुखौटा लगाकर साहित्यशास्त्र में जोड़ना नहीं था, वरन् भारतीय साहित्यशास्त्र की रस-निरूपण संबंधी धारणाओं को पश्चिमी मनोविज्ञान की कसौटी पर कसकर सार्वभौमता प्रदान करना था।

पाश्चात्य-समीक्षकों में शुक्लजी को सर्वाधिक प्रिय हैं—मूल्यवादी समालोचक रिचर्ड्स। रिचर्ड्स मनोवैज्ञानिक दृष्टि के आलोचक हैं। शुक्लजी ने रिचर्ड्स से पर्याप्त प्रेरणा ली है। प्राचीन रस-सिद्धांत को आधुनिक मनोविज्ञानसम्मत प्रमाणित करने में वे रिचर्ड्स के ऋणी हैं। उन्होंने अपने प्रबन्धों में रिचर्ड्स समर्थित अन्यान्य अवधारणाओं का न केवल पोषण ही किया है, वरन् उनकी (रिचर्ड्स की) निर्मल समीक्षादृष्टि की मुक्तकंठ से प्रशंसा भी की है। शुक्लजी के कृतित्व का गंभीरतापूर्वक अनुशीलन करने पर साहित्यशास्त्र संबंधी अनेक धारणाओं की प्रामाणिकता के लिए, उन्हें रिचर्ड्स का समर्थक ठहराया जा सकता है। साहित्य के कलावादी दृष्टिकोण की भर्त्सना, काव्यानंद एवं काव्यानुभूति के अलौकिकत्व की आलोचना, प्रभावाभिव्यंजक समालोचना की अस्वीकृति, वैज्ञानिक एवं विचारात्मक समीक्षा के पोषण संबंधी अनेक साहित्यिक विधारणाओं के प्रतिस्थापन में शुक्लजी ने रिचर्ड्स से कुछ न कुछ अवश्य ग्रहण किया है।

शुक्लजी काव्यगत नैतिकतावादी अवधारणा के पक्षधर हैं। वे सदाचारविहीन काव्य को स्वीकृति नहीं देते। ज्ञातव्य है कि 'उनके आदर्शवादी और नैतिकतावादी दृष्टि-कोण का कारण भारतीय पृष्ठभूमि ही है, किन्तु उन्हें इस दिशा में रिचर्ड्स और आर्नल्ड से भी प्रेरणा मिली है। वस्तुतः शुक्लजी ने काव्य की नैतिकतावादी अवधारणा को अत्यधिक व्यापकत्व प्रदान किया है। वे कविता का 'सदाचार से घनिष्ठ संबंध' मानते हैं। उन्होंने कविता का उद्देश्य मानव मन का परिष्कार और आत्मविस्तार माना है। उनके लिए कविता मनोरंजन की वस्तु नहीं, हृदय-विस्तार का अमोघ अस्त्र है। उन्होंने लिखा है कि "मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अंतिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समझकर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जायगा।"[१]

रिचर्ड्स, आर्नल्ड एवं रस्किन आदि भी कविता में सदाचार एवम् नैतिक तत्त्व को अनिवार्य मानते हैं। रिचर्ड्स साहित्य और नैतिकता में निकटता के पक्षधर हैं। उनके लिए साहित्यकार द्वारा की गयी नैतिकता की अवहेलना अक्षम्य अपराध है तथा नैतिक-दृष्टिहीन साहित्यकार बाजारू चिकित्सकों 'क्विवक्स' तथा नैतिक-दृष्टि सम्पन्न साहित्यकार सुयोग्य चिकित्सकों के समान हैं। वस्तुतः रिचर्ड्स को कला के क्षेत्र में नैतिकता की अव-हेलना असह्य है। यही कारण है कि कला के साथ नैतिकता [illegible]-विच्छे[illegible]

विचार मात्र को वे अनिष्टकर, बुद्धिहीन एवं दुर्भाग्यपूर्ण अनर्गल प्रलाप मानते हैं, यथा---"What is more serious is that these indiscretions, vulgarities and absurdities encourage the view that Morals have little or nothing to do with the arts, and the even more unfortunate opiuion that the arts have no connection with morality."[१]

रिचर्ड्स की भाँति ही कविता को 'जीवन की आलोचना' मानने वाले मैथ्यू आर्नल्ड विक्टोरियन-युग के अंग्रेजी साहित्यकारों में नैतिकता के कदाचित्, सर्वाधिक प्रबल पक्षधर हैं। उनकी धारणा है कि कवि को काव्य में उन्हीं नैतिक सिद्धान्तों को निरूपित करना चाहिए, जो सहृदयों को व्यावहारिक जीवन में आदर्शोन्मुख बनायें। उनका अटूट विश्वास है कि "वह काव्य, जो कि नैतिक सिद्धांतों के प्रति विद्रोह करता है, वस्तुतः जीवन के प्रति विद्रोह करता है, तथा वह काव्य जो नैतिकता के प्रश्न के प्रति उदासीन है, जीवन के प्रति भी उदासीन है।" कहना न होगा कि आर्नल्ड की 'नैतिकता और जीवन के घनिष्ठ संबंध' विषयक अवधारणा, वस्तुतः शुक्ल जी की इस मान्यता---'सदाचार से कला का घनिष्ठ संबंध है'---के पूर्णतः समानुरूप है।

यहाँ शुक्ल जी की रिचर्ड्स एवं आर्नल्ड के विचार-साम्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शुक्लजी जाने-अनजाने रिचर्ड्स एवं आर्नल्ड से प्रभावित रहे होंगे। परन्तु इस प्रभाव-साम्य को रेखांकित करते हुए यह नहीं भुलाया जा सकता कि आचार्यप्रवर की नैतिकता संबंधी धारणा पाश्चात्यसमीक्षकों की नैतिकता संबंधी अवधारणाओं से कहीं अधिक मौलिक, गहन, व्यापक एवम् उदात्त हैं। उनके लिए साहित्यगत नीत्युपदेश, आत्म-विस्तार और विश्व-प्रेमानुभूति-संयुक्त हैं। उन्हीं के शब्दों में---"आजकल कवि के संदेश (मैसेज) का फैशन बहुत हो रहा है। हमारे आदि कवि का---आदि का अभिप्राय प्रथम कवि से है, जिसने काव्य के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा की---संदेश है कि सब भूतों तक संपूर्ण चराचर तक, अपने हृदय को फैलाकर जगत् के भाव रूप में रम जाओ। हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा विश्व के साथ एकता का अनुभव करो। करुणा, अमर्ष की जो वाणी उनके मुख से निकली, उसमें यही संदेश भरा था।"[१]

शुक्लजी और रिचर्ड्स दोनों ही का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक है। वे साहित्य-शास्त्र के प्रश्नों पर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करते हैं, दार्शनिक दृष्टिकोण से नहीं। परिणामतः शुक्ल जी एवम् रिचर्ड्स ने न तो काव्यानंद एवं काव्यानुभूति को लोकोत्तर ठहराया है और न कविता को ही कोई जगदितर वस्तु घोषित किया है। साहित्यशास्त्र की पूर्व प्रचलित अवधारणाओं---रस ब्रह्मानन्द सहोदर है अथवा सौन्दर्या-नुभव लोकोत्तर आनन्द है तथा काव्य की उत्पत्ति दैवी विधान है अथवा कवि एवं कविता लोकोत्तर वस्तुएँ हैं---का उन्होंने दृढ़ता से खंडन किया है। शुक्लजी ने कविता एवं काव्या-नुभूति के अलौकिकत्त्व को खंडित कर उन्हें अनिवार्य रूप से जीवन एवं जगत् से जोड़ा है। इस खंडन-मंडन में उन्होंने रिचर्ड्स को निरन्तर अपने मनः पटल पर रखा है। इससे

अनुमान किया जा सकता है कि अपनी उपर्युक्त अवधारणाओं के प्रतिपादन में उन्होंने रिचर्ड्स से प्रेरणा ग्रहण की है।

शुक्लजी 'काव्यानुभूति' को ही 'एस्थेटिक मोड' या 'एस्थेटिक स्टेट' एवं सौन्दर्यानुभूति कहते हैं। उनके अनुसार काव्यानुभूति कोई अलौकिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति नहीं, वरन् लौकिक अनुभूति है, वह जीवन और जगत् से अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ एक अनुभव है जिसे कविता में शब्दबद्ध किया जाता है। इस प्रकार कवि और कविता न तो जगदितर वस्तुयें हैं और न काव्य-सृजन ईश्वरीय विधान है। काव्य परमात्मा की उत्प्रेरणा का प्रतिफलन नहीं, वरन् गोचर जगत् की वस्तुओं का कल्पनासिक्त एवं बिम्बप्रधान प्रस्तुतीकरण है। वे कवि और कविता की अलौकिकत्त्व संबंधी धारणाओं का खंडन करते हुए लिखते हैं—"इसी प्रकार कविता और कवि की स्तुति में जो बहुत से अलंकारपूर्ण काव्य इधर कुछ दिनों से कहे-सुने और लिखे जाने लगे हैं, उन्होंने अर्थशून्य शब्दों का एक ऐसा झूठा परदा खड़ा कर दिया है जिनके कारण काव्यानुभूति बहुत कुछ अंधकार में पड़ती जाती है। कविता स्वर्ग से गिरती हुई सुधाधारा है, नंदनवन के कुसुमों से टपकी मकरंद की बूँद है, अनंत के दिव्य संगीत की स्वर-लहरी है, कवि इस लोक का जीव ही नहीं है, वह पार्थिव जीवन से परे है, उसका एक दूसरा ही जगत् है, वह पैगम्बर है, औलिया है, रहस्यदर्शी है—ऐसी-ऐसी लचर बातें समीक्षा के नाम से कही जाने लगी हैं। बुद्धि को रुग्ण करने वाली पाखंड का प्रचार करने वाली, यह हवा अंग्रेजो से बंगला और बंगला से हिन्दी में आयी है।"[१] अपनी इस धारणा की पुष्टि के लिए शुक्लजी रिचर्ड्स का सहारा लेते हुए आगे लिखते हैं—"निरर्थक इस शब्दों की आँधी से ऊबकर एक सूक्ष्मदर्शी अंग्रेज समालोचक को यहाँ तक कहना पड़ा है कि भाषा अभी तक उन सब वस्तुओं के स्वरूप को छिपाने ही में कृतकार्य हुई है जिनकी हम चर्चा किया करते हैं।" (Language has succeeded until recently in hiding from us almost all the things we talk about).[२]

शुक्लजी 'रसानुभव' अथवा 'काव्यानंद' के साथ 'लोकोत्तर' अथवा 'ब्रह्मानंद सहोदर' शब्दों के प्रयोग को कभी आध्यात्मिकोन्मुख स्वीकार नहीं करते। उनके लिए रस-दशा भावक अथवा सर्जक की पृथक् सत्ता की भावना का परिहार है। वह हृदय की 'निर्विशेष', 'शुद्ध' और 'मुक्तावस्था' है। "इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्त्व या ब्रह्मानन्द सहोदरत्व कहिए—चाहे विभावन व्यापार का आलौकिकत्त्व। (क्योंकि) अलौकिकत्त्व—का अभिप्राय इस लोक से संबंध रखने वाली कोई अलौकिक विभूति नहीं।"[३]

इस संदर्भ में वे न केवल डॉ० ब्रैडले एवं डॉ० मकेल आदि पाश्चात्य चिंतको के क्रमशः इन कथनों—'काव्य आत्मा है।' (Poetry is a spirit—A. C. Bradley) तथा 'काव्य एक अखंड तत्त्व या शक्ति है जिसकी गति अमर है।' (Poetry is a continuous substance or energy whose progress is immortal—Mackail) को भ्रामक प्रलाप ठहराते हैं, वरन् भारतीय साहित्यशास्त्र की इस अति प्राचीन अवधारणा—

'रस ब्रह्मानन्द सहोदर है'—के अलौकिकत्त्व का भी खंडन करते हैं। वे कहते हैं—"हमारे यहाँ लक्षण-ग्रंथों में रसानुभव को जो 'लोकोत्तर' और ब्रह्मानन्द सहोदर आदि कहा है, वह अर्थवाद के रूप में, सिद्धांत रूप में नहीं। उसका तात्पर्य इतना ही है कि इसमें व्यक्तित्व का लय हो जाता।'[1] तात्पर्य है कि शुक्लजी काव्य का संबंध किसी भी ज्ञानातीत दशा से नहीं जोड़ते। वे कहते हैं—"ज्ञानातीत (Transcendental) दशा से—चाहे वह कोई दशा हो या न हो—काव्य का कोई संबंध नहीं है—हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई संबंध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाषा, जो कुछ प्रकट किया जायगा, वह व्यक्त और गोचर ही के प्रति होगा...उन भावों को अव्यक्त और अगोचर के प्रति कहना और अपने काल्पनिक रूप-विधान को ब्रह्म या पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति बताना, काव्य-क्षेत्र में एक अनावश्यक आडम्बर खड़ा करना है।"[2]

शुक्लजी 'काव्यानुभूति' को जीवन और जगत् की वास्तविक अनुभूति मानते हुए रिचर्ड्स के मत का सहारा लेते हैं, जिन्होंने (रिचर्ड्स ने) यह प्रमाणित किया है कि सौन्दर्यानुभव (एस्थेटिक एक्सपीरियेन्स) को वास्तविक जीवनानुभव से इतर बताना भ्रामक है।

"The myth or a 'transmutation' or 'poetisation' of experience and that other myth of the 'contemplative' or 'aesthetic' attitude, are impart due to talking about poetry and the 'poetic' instead of thinking about the concrete experiences which are poems.

The Separation or poetic experience from its place in life and its ulterior worths, involves a definite lopsideness, narrowness and incompleteness in those who preach it sincerely."[3] इस प्रकार कहा जा सकता है कि रिचर्ड्स की तरह शुक्लजी काव्यानुभूति को जीवनानुभूति से सम्बद्ध करते हैं और ऐसा न करने वालों की भर्त्सना करते हुए काव्यानुभूति के अलौकिकत्व का खंडन करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि शुक्लजी ने काव्यानुभूति अथवा रसानुभूति को सर्जक एवं भावक दोनों ही दृष्टियों से, जीवन और जगत् से सम्बद्ध किया है। वस्तुतः वे काव्यानुभूति को रिचर्ड्स की सौन्दर्यानुभूति (एस्थेटिक एक्सपीरियन्स अथवा एस्थेटिक मोड़ अथवा एस्थेटिक स्टेट) के अनुरूप ही वास्तविक जीवन की अनुभूति मानते हैं। यही कारण है कि काव्यानुभूति के अलौकिकत्व संबंधी विचारधारा के खंडन में एवं कविता को गोचर जगत् के काल्पनिक रूपविधान से सम्बद्ध करने संबंधी धारणा के प्रतिस्थापन में शुक्लजी बराबर रिचर्ड्स के साथ दिखायी देते हैं।

रिचर्ड्स की 'मिश्रतावादी अथवा जटिलतावादी काव्यावधारणा' के अनुसार वही कविता उच्चकोटि की मानी जा सकती है, जिसमें विरोधी वृत्तियों अथवा भावानुभूतियों का समज्जन हो। परस्परविरोधी बहुभाव अथवा वृत्तिप्रधान कविता में चूँकि भावों अथवा वृत्तियों का अति सरलीकृत रूप प्रकट नहीं होता, वरन् जटिल एवं मिश्रित रूप

प्रकट होता है, इसलिए विरोधी भावप्रधान कविता अर्थात् अन्तर्वेशी काव्य (Poetry of Inclusion) उस अपवर्जी काव्य (Poetry of Exclusion) से श्रेष्ठ है, जो एक भाव प्रधान होती है और जिसमें भावानुभूतियों को अति सरलीकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है। रिचर्ड्स ने लिखा है—"There are two ways in which impulses may be organised, by exclusion and by inclusion, by synthesis and by elimination. Although every coherent state of mind depends upon both, it is permissible to contrast experiences which win stability and order through a narrowing of the response with those which widen it.[1]"

वस्तुतः रिचर्ड्स अंतर्वेशी (Poetry of Inclusion) काव्य को उसकी गहनता, गंभीरता तथा भावनाओं की विपुलता, मूल्यवत्ता और वृत्तियों की ईषत्कठोरता आदि के कारण सीमित वृत्तियों अथवा एकीभाव प्रधान अपवर्जी काव्य (Poetry of Exclusion) से उच्चकोटि का काव्य मानते हैं। अंग्रेजी समालोचक विमसाट ने लिखा है— "His interest is rather to distinguish a richer, deeper, and more tough-minded poetry (अर्थात् अन्तर्वेशी काव्य) from a more 'limited and exclusive' kind of poetry.," (अर्थात् अपवर्जी काव्य)।[2]

रिचर्ड्स अपवर्जी काव्य और अंतर्वेशी काव्य में विषयगत भेद नहीं मानते, वृत्तियों अथवा भावों के संघटन संबंधी भेद मानते हैं। उनके अनुसार अपवर्जी काव्य में अंतःवृत्तियाँ अथवा भावनाएँ समानान्तर तथा एक ही दिशा (Parallel and the same direction) में गतिमान होती हैं। यही नहीं, वे अधिकांशतः सजातीय हैं, जबकि अंतर्वेशी काव्य में विविध प्रकार की विषम, विजातीय एवं विरोधी (hetrogeneous and opposite) वृत्तियों अथवा भावों का संघटन (Organization) होता है। इसलिए उनकी धारणा है कि अंतर्वेशी काव्य अपवर्जी काव्य से दीर्घजीवी, भिन्न एवं श्रेष्ठ होता है, क्योंकि "The difference comes out clearly if we consider how comparatively unstable poems of the first kind (Exclusive and limited) are."[3]

आचार्य शुक्ल रिचर्ड्स की अवधारणा के अनुरूप ही भावात्मक काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि "जिस प्रकार जगत् अनेक रूपात्मक है, उसी प्रकार काव्य भी अनेक भावात्मक है। प्रेम, अभिलाषा, विरह, औत्सुक्य, हर्ष आदि थोड़ी-सी मनोवृत्तियों का एक छोटा-सा घेरा संपूर्ण काव्य-क्षेत्र नहीं हो सकता है। इन भावों के साथ और दूसरे भाव—जैसे, क्रोध, भय, उत्साह, घृणा इत्यादि—ऐसी जटिलता से गुम्फित है कि सम्यक् काव्यदृष्टि उनको अलग नहीं जोड़ सकती, चाहे उनका सामंजस्य शेष अंतःप्रवृत्तियों के साथ कभी-कभी मुश्किल से ही क्यों न बैठता हो।"[4] यही नहीं, वे रिचर्ड्स की भाँति ही परस्पर विरोधी वृत्तियों के संघटन एवं सामंजस्ययुक्त काव्य को ही श्रेष्ठ काव्य प्रमाणित करते हैं। 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' नामक निबंध में उन्होंने लिखा है—"लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनन्दकला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में

भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्म-क्षेत्र का सौन्दर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचंडता और मृदुता का सामंजस्य ही लोकधर्म का सौन्दर्य है।"[१]

रिचर्ड्स के अनुसार प्रेषणीयता का अर्थ है भावक के मन में समान दशा की उत्पत्ति। जब भावक और सर्जक के मन में कृति के भावन एवं सर्जन के समय समान भाव-दशा की उत्पत्ति होती है--अर्थात् किसी कलाकृति में प्रस्तुत (Embodied) सर्जक की अनुभूतियाँ जब अन्यान्य पाठकों के मन में (कृति के अनुशीलन पर) मूर्त रूप ग्रहण करती हैं और पाठक उसी भावदशा को उपलब्ध होता है, जिसको कि सर्जक हुआ था, तब अनुभूति की यह क्रिया प्रेषणीयता कहलाती है। इस प्रकार रिचर्ड्स के अनुसार सर्जक की अनुभूतियों (एक्सपीरियेन्सज) का भावक द्वारा अनुभूत करना ही प्रेषणीयता हुई।[२]

इसी संदर्भ में शुक्ल जी लिखते हैं--"एक की अनुभूति दूसरे के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है। इसके लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं। भाव-पक्ष में तो अनुभूति का कवि के अपने व्यक्तिगत संबंधों या योगक्षेम की वासनाओं से मुक्त या अलग होकर लोक-सामान्य की भावभूमि पर प्राप्त होना (Impersonality and detachment), कला या विधान-पक्ष में उस अनुभूति के प्रेषण के लिए उपयुक्त भाषा-कौशल। प्रेषण के लिए कवि में अनुभूति का होना पहली बात है, पर उस अनुभूति को जिस रूप में कवि प्रेषित करता है, वह रूप उसे बहुत कुछ इस कारण दिया जाता है कि उसे प्रेषित करना रहता है।"[३] आगे यहीं पर शुक्ल जी रिचर्ड्स के शब्दों को उद्धृत करते हैं--

"The two pillars upon which a theory of criticism must rest are an account of value and an account of communication....An experience has to be formed, no doubt, before it is communicated, but it takes the form it does largely because it may have to be communicated."[४]

वस्तुतः शुक्लजी प्रणीत साधारणीकरण की प्रक्रिया और रिचर्ड्स के प्रेषणीयता-सिद्धान्त में बहुत दूर तक संबंध है। रिचर्ड्स काव्य में कवि अनुभूतियों का प्रस्तुतीकरण तभी सार्थक एवं सफल मानते हैं, जब वे अन्यान्य पाठकों द्वारा उसी रूप में अनुभूत होती है। उनके अनुसार सर्जक-मन की अनुभूतियाँ जब भावक-मन को उसी रूप में प्रभावित करती हैं--अर्थात् जब सर्जक की अनुभूति के समान ही भावक अनुभव करता है, तब संप्रेषण की क्रिया पूरी समझनी चाहिए। वे लिखते हैं-- "Communication, we shall say, takes place when one mind so acts upon its environment that another mind is influenced, and in that other mind an experience occurs which is like the experience in the first mind, and is caused in part by that experience."[५] शुक्लजी प्रणीत 'साधारणीकरण' भी बिना 'प्रेषणीयता' के संभव नहीं, क्योंकि 'किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर

रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौन्दर्य, रहस्य-गांभीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है, वे अकेले उसी के हृदय से संबंध रखने वाले नहीं होते, मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले होते हैं—जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।"[९]

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल ने 'रस सिद्धान्त' की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने में रिचर्ड्स का सहारा लिया है और साहित्यशास्त्र के प्राचीनतम भारतीय सिद्धान्त तथा आधुनिक काल के पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों में साम्य उद्‌घाटित करते हुए समीक्षा-जगत् में पौरस्त्य और पाश्चात्य के संश्लेषण का मार्ग खोजा है।

शुक्लजी रसात्मक बोध के स्वरूप-निरूपण में अंग्रेजी के पत्रकार आलोचक जोजेफ एडीसन के निकट प्रतीत होते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि शुक्लजी ने एडीसन के कल्पना-विषयक निबंधों का हिन्दी-रूपान्तर भी प्रस्तुत किया था। वे एडीसन की तरह ही प्रकृति-दर्शन से उत्पन्न आनन्द को रसमय मानते हैं। रसानन्द को लौकिक, सात्विक और निर्वैयक्तिक मानने संबंधी चिंतना भारतीय है और इसी चिंताधारा को शुक्लजी ने पाश्चात्य समीक्षा-धारा के समनुरूप पाया है। एडीसन की इस धारणा से (कल्पनानन्द निष्पाप—(The pleasures of imagination are not gross) उत्तम प्रभावकारी होता है) शुक्लजी को पर्याप्त सम्बल मिला।

आचार्य शुक्ल ने रसानुभूति के त्रिविध रूप माने हैं। उनकी धारणा है कि इन तीन रूप-विधानों—प्रत्यक्ष रूपविधान, स्मृतिरूप-विधान, कल्पित रूप-विधान—में भावों को रस रूप में जाग्रत करने की शक्ति होती है। उन्हीं के शब्दों में—"इन तीनों प्रकार के रूप-विधानों (प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पित) में भावों को इस रूप में जागरित करने की शक्ति होती है कि वे रस-कोटि में आ सकें—कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति को तो सर्वत्र रसानुभूति मानी जाती है। प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती हैं।"[१०] वस्तुतः शुक्लजी प्रणीत रसात्मक बोध के इस वर्गीकरण का मूल स्रोत एडीसन ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि एडीसन भी अपने निबंध 'द प्लेजर्स आफ एमेजिनेशन' में कल्पनाजन्य आनंद का उद्‌भव जीवन और जगत् के प्रत्यक्ष एवं काल्पनिक रूपों में निहित मानते हैं। वे लिखते हैं—

"By the pleasures of the imagination I mean only such pleasures as arise originally from sight and that I divide these pleasure into two kinds; my design being first of all to discourse of those primary pleasures of the imagination, which entirely proceed from such objects as are before our eyes; and in the next place to speak of those secondary pleasures of the imagination which flow from the ideas of visible objects, when the objects

are not actually before the eyes, but are called up into our memories or formed into agreeable visions of things that are either absent of fictitious."

यही नहीं कल्पित रूप-विधान को रसात्मक मानने में भी शुक्लजी ने एडीसन से प्रेरणा ग्रहण की है। एडीसन ने काल्पनिक रसात्मकता के दो रूप माने हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। कल्पना के परोक्ष रूप-विधान को सुखात्मक मानने में एडीसन कल्पना के दो पहलुओं पर बल देते हैं—अतीत में कभी देखे हुए दृश्यों और वस्तुओं की कल्पना तथा अतीत में कभी न देखे हुए उन दृश्यों और वस्तुओं की कल्पना, जो अतीत में देखे दृश्यों अथवा वस्तुओं के समनुरूप हों। इस संदर्भ में शुक्लजी का मत है "अब तक हमने ऐसी बातों के स्मरण का विचार किया है जो पहले कभी हमारे सामने हो चुकी हैं। अब हम उस कल्पना को लेते हैं जो स्मृति या प्रत्यभिज्ञान में पहले देखी हुई वस्तुओं या बातों के स्थान पर या तो पहले सुनी या पढ़ी हुई बातें हुआ करती हैं अथवा अनुमान द्वारा पूर्णतया निश्चित।...ऐसी कल्पना के विशेष मार्मिक प्रभाव का कारण यह है कि यह सत्य का आधार लेकर खड़ी होती है। इसका आधार या तो आप्त शब्द (इतिहास) होता है अथवा विशुद्ध अनुमान।"[२]—इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शुक्ल जी मात्र विशुद्ध अनुमान अथवा कल्पना के आधार पर खड़े किये गये रूप-विधान में रसात्मकता की शक्ति निहित मानते हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा है—"यदि हम एकाएक किसी अपरिचित स्थान के खण्डहरों में पहुँच जाते हैं, जिसके संबंध में हम ने कहीं कुछ सुना या पढ़ा नहीं है—तो भी गिरे-पड़े मकानों, दीवारों देवालयों आदि को सामने पाकर हम कभी-कभी कह बैठते हैं कि यह वही स्थान है जहाँ कभी मित्रों की मंडली जमती थी, रमणियों का हास-विलास होता था, बालकों का क्रीड़ा-रव सुनायी पड़ता था इत्यादि। कुछ चिह्न पाकर केवल अनुमान के संकेत पर ही कल्पना इन रूपों और व्यापारों की योजना में तत्पर हो गयी। ये रूप और व्यापार हमारे जिस मार्मिक रागात्मक भाव के आलम्बन होते हैं, उसका हमारे व्यक्तिगत योग-क्षेम से कोई संबंध नहीं, अतः उसकी रसात्मकता स्पष्ट है।"[३] इसी प्रकार एडीसन भी जब कल्पना के परवर्ती आनन्द (सैकिंडरी प्लेजर) की चर्चा करते हैं, तब पूर्णतः कल्पित (फिक्टिशस) रूपविधान में भी आनंद प्रदान करने की शक्ति स्वीकार करते हैं। उन्हीं शब्दों में—"Secondary pleasures of the imagination......formed into agreeable visions of things that are either absent or Fictitious" उनकी धारणा है कि 'इमेजिनेशन' मनगढ़ंत रूपों को खड़ा करने में सक्षम होती है। वे लिखते हैं—"When I say the ideas we receive from statues, descriptions or such like occasions, are the same that were once actually in our view, it must not be understood that we had once seen the very place, action or person which are carved or described. It is sufficient that we have seen places,

persons or actions in general which bear a resemblance, or at least some remote analogy with what we find represented. Since it is in the power of the imagination, when it is once stocked with particular ideas to enlarge, compound and vary them at her own pleasure."[१]

शुक्लजी को प्रमुख रूप से प्रभावित करने वाले मनोवैज्ञानिक आलोचकों में इतर अन्यान्य ऐसे साहित्यिक एवं साहित्येतर विचारक भी हैं, जिनको अपनी अवधारणाओं की पुष्टि के लिए शुक्लजी ने पृष्ठभूमि में रखा है। ऐसे साहित्यकारों एवं दर्शनशास्त्रियों में सर्वप्रथम हम प्राचीन मनीषी प्लेटो एवं अरस्तू पर विचार करेंगे, तदुपरान्त मध्यकालीन एवं आधुनिक विचारकों पर।

प्लेटो कविता को सत्य से दूर मानते थे। उनके अनुसार विचार ही चरम तत्त्व हैं (आइडियाज आर द अल्टीमेट रियल्टी), मूलादर्श हैं तथा इस दृश्यमान जगत् में जितनी भी वस्तुएं, हैं वे सभी मूलादर्श (आइडिया) की प्रतिकृति हैं। इस तरह कला (चित्रकला, वास्तुकला, काव्य आदि) दृश्यमान जगत् में विद्यमान वस्तुओं की प्रतिकृति होने के कारण प्रतिकृति की प्रतिकृति हुई और सत्य से दुगनी दूर हैं। शुक्ल जी भी प्लेटो के समानुरूप ही 'चिंतामणि' में एक स्थल पर संसार को अव्यक्त ईश्वर की अभिव्यक्ति मानते हैं तथा काव्य को जगत् की अभिव्यक्ति। उन्हीं के शब्दों में—"जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।"[२]

शुक्ल जी की व्यावहारिक समीक्षा में अरस्तू प्रणीत संकलनत्रय (महत्वपूर्ण कार्य, कथानक का प्रारम्भ, मध्य, अंत आदि) से संबंधित कुछ छिटपुट संकेत भी मिलते हैं। वस्तुतः 'शुक्लजी की धारणा यूनानी विचारकों से मिलती-जुलती है। अरस्तू के लिए काव्य मानव-कर्मों की छवि है। मानव-कर्मों के चित्रण से काव्य में सहज नाटकीयता आ जाती है। यदि कविता हृदय का उद्‌गार मात्र नहीं है, वरन् मानव जीवन का व्यापक दर्पण है तो उसमें घटनाओं, चरित्रों, स्थानों आदि का चित्रण और वर्णन अवश्य होगा।—शुक्लजी ने प्रबन्ध-काव्य को श्रेष्ठ बताकर साहित्य के इस महत्वपूर्ण रूप की ओर हिन्दी-साहित्यकारों का ध्यान ठीक ही आकर्षित किया है।"[३]

अरस्तू की धारणानुसार महाकाव्य में कथानक का निर्माण त्रासदी की तरह नाट्य-सिद्धान्तों के अनुसार ही होना चाहिए। उसका आधार आदि, मध्य, अवसानयुक्त एक समय एवं पूर्ण कार्य होना चाहिए।"[४] शुक्लजी ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में कथानक पर जो विचार प्रकट किये, वे न्यूनाधिक रूप से अरस्तू से प्रेरित प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ, शुक्लजी के प्रस्तुत शब्द—"कथावस्तु के आदि' मध्य और अन्त तीनों स्फुट हों,"[५] विचारणीय है। यही नहीं, 'पद्मावत' में 'संबंधनिर्वाह' की चर्चा करते समय शुक्लजी ने बराबर अरस्तू की 'कार्यान्वय' (यूनिटी आफ एक्शन) को दृष्टि-पटल पर रखा है, क्योंकि उनकी धारणा है कि प्रबंध के वस्तु-विन्यास की समीक्षा बहुत कुछ दृश्य-काव्य के वस्तु-विन्यास के समान ही होनी चाहिए।[६]

मध्यकालीन पाश्चात्य विचारकों का शुक्लजी पर शायद ही कोई प्रभाव रेखांकित किया जा सके। अत्यधिक शास्त्रवादिता एवं नियमनिष्ठता उनकी प्रकृति के विपरीत थी। यही कारण है कि रीतिवादी हिन्दी कवियों की भाँति ही, कदाचित् कोई भी नव-शास्त्रवादी अंग्रेज़ी साहित्यकार एवं साहित्यिक अवधारणा उन्हें प्रभावित न कर सकी।

शुक्लजी 'कलावाद' के विरोधी थे। इस संदर्भ में 'शुक्लजी पश्चिम के उन तमाम भाववादियों का खंडन करते हैं जो मानव-जीवन से परे एक अव्यक्त सौन्दर्य की सत्ता मानते हैं, जिसकी झलक ही कभी-कभी इस संसार में दिखायी देती है। शुक्लजी वस्तुओं से अलग उनके गुण की कल्पना नहीं करते। (उनके लिए) इसी संसार के रूपों या व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य, माधुर्य की स्थिति नहीं।'[११] उन्होंने कला के सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण की बराबर कठोर आलोचना की है तथा मूल्यवादी दृष्टिकोण की प्रशंसा। यही कारण है कि पश्चिमी समालोचक थियोडोर वाट्स डंटन के कलावादी दृष्टिकोण की जहाँ वे भर्त्सना करते हैं, वहीं उसकी काव्य-शक्ति अथवा कवि के प्रयत्नपक्ष संबंधी धारणा की अभ्यर्थना। निष्कर्षतः कहना यह है कि "वह डंटन की तब प्रशंसा करते हैं, जब वह काव्य को शक्ति मानता है। वह उसकी निंदा करते हैं, जब वह काव्य को शुद्ध कला मानता है।"[१२]

शुक्लजी यूरोपीय साहित्य से प्रभावित थे। उन्होंने यूरोपीय स्वच्छंदतावादी आंदोलन से बहुत दूर तक प्रेरणा ग्रहण की थी। वर्ड्सवर्थ, कालरिज एवं शैली के काव्य के वे प्रशंसक थे। यथास्थल वे अंग्रेजी के इन कवियों के सत्पक्ष का समर्थन करते रहे हैं। वर्ड्सवर्थ का प्रकृति प्रेम उन्हें प्रिय था। यही कारण है कि 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबंध में उन्होंने शैले और वर्ड्सवर्थ की अत्यधिक प्रशंसा की है।

वर्ड्सवर्थ के अनुसार "मनुष्य प्रकृति के नैसर्गिक दृश्यों से चिरसाहचर्य के कारण अत्यन्त प्रभावित होते हैं।" शुक्लजी की भी धारणा है कि कविता मनुष्य की भावात्मक सत्ता का प्रसार करती है और प्रकृति इस उद्बोधन में बड़ी भूमिका का निर्वाह करती है। उनका विश्वास है कि प्रकृति से चिर साहचर्य के कारण प्रकृति के आदिम रूपों के वर्णन एवं श्रवण में सर्जक एवं भावक को गहरी भावानुभूति होती है।

वर्ड्सवर्थ को भी काव्यानुभूति के सच्चे स्रोत प्रकृति के आदिम रूप में ही दिखायी दिये। उनका संपूर्ण काव्य ही प्रकृति-प्रेम का जीवंत प्रतिबिम्ब है। प्रकृति के अति सरल आदिम रूपों में भावोत्प्रेरणा की अद्भुत शक्ति शुक्लजी और वर्ड्सवर्थ ने समान रूप से स्वीकार की है। इस संदर्भ में दोनों की तुलना करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं—"उन्होंने (वाल्मीकि ने) प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में केवल मंजरियों से छाये हुए रसालों, सुरक्षित सुमनों से लदी हुई मालती लताओं, मकरन्द पराग-पूजित सरोजों का ही वर्णन नहीं किया, इंगुदी, अंकोट, तेंदू, बबूल, बहेड़े, आदि जंगली पेड़ों का भी पूर्ण तल्लीनता के साथ वर्णन किया है। इसी प्रकार यूरोप के कवियों ने भी अपने गाँव के पास से बहते हुए नाले के किनारे उग आने वाली झाड़ी या घास तक का नाम आँखों में आँसू भर कर लिया है (वर्ड्सवर्थ की 'एडमानीशन टु ए ट्रेवलर' कविता) इसमें स्पष्ट है कि मनुष्य को उसके व्यापार-

गर्त से बाहर प्रकृति के विशाल और विस्तृत क्षेत्र में जाने की शक्ति फारस की परिमित काव्य-पद्धति में नहीं है--भारत और यूरोप की पद्धति में है।'[३३]

शुक्लजी ने कालरिज की कल्पनाविषयक अवधारणा (कल्पना का रूपावरण आनंद स्वरूप होता है, अर्थात् कल्पना आनंदविधायिनी है, भावोद्रेक एवं भावानुभूतिकारिणी है।)-से प्रेरणा ग्रहण की है। उन्होंने सूरदास के वाग्वैदग्ध्य निरूपण में स्पष्टतः भाव-प्रेरित वाग्वैदग्ध्य को ही काव्य में स्थान दिया है। उनकी दृष्टि में भावहीन वचन-वक्रता कोरा चमत्कार प्रदर्शन है, काव्य नहीं। कालरिज भी भावोन्मेषिनी वचन-वक्रता अथवा भाव-प्रेरित वाग्विदग्धता को ही काव्य में स्थान देते हैं---

"Images, however beautiful, though faithfully copied from nature, and as accurately represented in words, so dont in themselves characterize the poet. They become proofs of original genius only as far as they are modified by a predominant passion, or by associated thoughts or images awakened by that passion....."[३४]

अंग्रेज कवि शैले (पी० बी० शैले) काव्य का प्रभाव मंगलकारी मानते थे। उन्होंने अपनी सैद्धान्तिक आलोचना की पुस्तक 'डिफेन्स आफ पोयट्री' में काव्य-प्रभाव और कवि की महानता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। उनकी धारणा है कि कविता मानव-वृत्तियों एवं भावनाओं को परिष्कृत करती है, उन्हें भव्यता प्रदान करती हैं। उनकी दृष्टि में 'श्रोताओं की भावनाएँ (होमर की रचनाओं में) ऐसे महान् एवं भव्य पर रूप धारण (इम्प-सेंनिशन) से निश्चय ही परिष्कृत एवं परिवर्तित हो जाती होंगी।' शैले के अनुरूप ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भी धारणा है कि कविता मनुष्य के मनोविकारों को प्रशांत एवं परिष्कृत कर उसे मानवता की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करती है।---कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जग तू के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है।[३५]

शुक्ल जी की 'करुण-भाव को काव्य का बीज एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'भाव' मानने संबंधी धारणा भी शैले के अनुरूप ही पड़ती है। शैले सर्वाधिक करुण-प्रसंग लेकर चलने वाली कविता को ही मधुरतम एवं श्रेष्ठ मानते थे। स्वयं शुक्ल जी ने लिखा है--"करुणा ही एक ऐसा व्यापक भाव है, जिसकी प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सब रूपों में और सब दशाओं में रसात्मक होती है।" इसी से भवभूति ने करुण-रस को ही रसानुभूति का मूल माना और अंग्रेज कवि शैले ने कहा कि "सबसे मधुर या रसमयी वाग्धारा वही है जो करुण प्रसंग लेकर चले।" (Our sweetest songs are those that tell of saddest thought.)[३६]

स्वच्छंदतावादी कवि-आलोचकों के उपरान्त शुक्ल जी पर विक्टोरियन कवि-आलोचकों के परिप्रेक्ष्य में विचार करना अभिप्रेय होगा। आर्नल्ड ने कविता को 'जीवन की आलोचना' कहा है। 'जीवन की आलोचना' से उनका तात्पर्य जीवन को नैतिकता की ओर उन्मुख करना है, जीवन में सदाचार प्रधान मूल्यों की प्रस्थापना करना है।

'काव्य' जीवन की आलोचना है। अतः कवि का यह कर्त्तव्य है कि काव्य में उन नैतिक सिद्धांतों की अवतारणा करे जो हमारे व्यावहारिक जीवन को सही दिशा में मोड़ देने में सहायक हों। वह काव्य जो नैतिकता के प्रश्न के प्रति उदासीन है, जीवन के प्रति भी उदासीन है। आर्नल्ड नैतिकता को जीवन से अनिवार्य रूप से जोड़ते हैं तथा उत्तम काव्य को नैतिकता से अविच्छिन्न मानते हैं। कहना न होगा कि आर्नल्ड और शुक्लजी की काव्योद्देश्य संबंधी अवधारणा लगभग एक जैसी ही है, क्योंकि 'कविता क्या है?' निबंध के प्रारंभ में ही वे 'जीना किसे कहते हैं?' और 'जगत् क्या है?' की संक्षिप्त व्याख्या करते हैं। वे कविता को जीवन और जगत् से अनिवार्यतः संबद्ध मानते हैं। लोक के साथ अपनी प्रतिबद्धता के कारण से रस की नयी व्याख्या करते हैं और इसके विरुद्ध पड़ने वाले समस्त कलावादी आंदोलनों को अस्वीकार कर देते हैं। मैथ्यूआर्नल्ड कविता से इसी प्रकार की आकांक्षाओं की पूर्ति चाहते थे।' यही नहीं शुक्लजी ने 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका में प्रबंध काव्यगत कार्यव्यापार संबंधी धारणा को आर्नल्ड के अनुरूप ही प्रकट किया है। वे कथानक में 'महत्कार्य' को प्राथमिकता देते हैं और आर्नल्ड तथा जायसी की तुलना करते हुए लिखते हैं—"जो आर्नल्ड का आदर्श था वही जायसी का भी है। आर्नल्ड ने 'कार्य' विषयक प्राचीन आदर्श का ही समर्थन-अनुकरण किया है और कार्य के महत्त्वपूर्ण होने की सिफारिश की है। जायसी ने भी अपने काव्य के लिए 'महत्कार्य' का ही चयन किया है।"

आधुनिक अंग्रेजी-आलोचना के भी कुछ महत्त्वपूर्ण पहलू शुक्लजी को प्रिय थे। उनकी 'विभावन व्यापार' संबंधी अवधारणा कदाचित् इलियट के 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव' के समनुरूप है। इलियट की भाँति शुक्लजी भी काव्य में वस्तु-व्यापारयोजना के माध्यम से ही कवि-संवेगों की अभिव्यक्ति अनिवार्य मानते हैं।

आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांतों के संक्षिप्त विश्लेषण-विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि शुक्लजी द्वारा परिशोधित एवं प्रतिपादित पाश्चात्य और पौरस्त्य का यह साम्य आधुनिक भारत के संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का 'माइल स्टोन' है। हिन्दी-समीक्षा को आचार्य जी की यह देन अद्भुत है। कदाचित् हिन्दी के वे ही प्रथम महारथी-समीक्षक हैं, जिन्होंने पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों की सहायता लेकर भारतीय साहित्यावधारणाओं का विवेचन किया है, उन्हें सार्वभौमता प्रदान की है। रिचर्ड्स आदि पश्चिमी समीक्षकों की अन्यान्य साहित्यिक अवधारणाओं का उन्होंने सहारा मात्र इसलिए किया है क्योंकि वे भारतीय रस-सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिकता, सार्वजनीनता एवं व्यापकता प्रमाणित करना चाहते हैं। आधुनिकता के नाम पर चलने वाले पाश्चात्य साहित्यिक वादों का उन्होंने प्रबलता से खंडन भी किया है। वे पाश्चात्य साहित्य की उन्हीं अवधारणाओं को ग्रहण करते हैं; जो भारतीय परम्पराओं एवं उसके परिवेश के अनुकूल पड़ती हैं। यही कारण है कि जहाँ एक ओर वे पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों के शब्दों को उद्धृत कर अपने मत को प्रतिस्थापित करते प्रतीत होते हैं, वहीं दूसरी ओर अपने मत के प्रतिकूल पड़ने वाली पश्चिमी

अवधारणाओं की यत्र-तत्र कटु आलोचना करते भी दिखायी देते हैं। कहना यह है कि वे सामञ्जस्यवादी हैं। पूर्व और पश्चिम के सत् पक्ष का अपूर्व सामञ्जस्य एवं विलक्षण अभिव्यक्ति उनकी आलोचना का प्रधान लक्षण है। उनकी आलोचना ने हिन्दी में एक मौलिक साहित्य-शास्त्र का शिलान्यास किया है **प्राचीन** भारतीय रूढ़िवादी साहित्य-सिद्धान्तों से सर्वथा निरपेक्ष एवं पश्चिमी कलावाद से सर्वथा स्वतंत्र अपने में पूर्णतः मौलिक है। वस्तुतः साहित्य-समीक्षा संबंधी अवधारणाओं के निरीक्षण-परीक्षण एवं पुनर्निर्माण में उनका मौलिक योगदान सराहनीय है।

के० एम० मुन्शी विद्यापीठ,
आगरा

●

आचार्य शुक्ल का शब्द-चिन्तन

डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय

⊙

यह सर्वविदित है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व और कृतित्व का निर्माण करने में गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस का अपूर्व योगदान रहा है। 'मानस' के निरन्तर अध्ययन-मनन के फलस्वरूप उनके जो संस्कार बने वही आगे चलकर साहित्य के इतिहास-लेखन और समीक्षा-दर्शन के लिये उनके आदर्श बन गये। यह विचित्र संयोग है कि एक ओर तो हिन्दी में सर्वाधिक शोध-कार्य तुलसी-साहित्य पर हुआ और दूसरी ओर आचार्य शुक्ल का व्यक्तित्व परोक्ष-अपरोक्ष रूप से हिन्दी अध्येताओं पर छाया हुआ है। तुलसी और शुक्ल जी अभी तक हिन्दी के केन्द्र-बिन्दु बने हुए हैं।

शुक्ल जी की रचना-धर्मिता के अनेक आयाम थे और यह सर्वमान्य है कि वे उत्कृष्ट समीक्षक थे, उत्कृष्ट इतिहासकार थे और एक उत्कृष्ट निबन्धकार थे। उनकी जैसी अपूर्व विश्लेषण-क्षमता आगे चलकर हिन्दी के बहुत कम विद्वानों में लक्षित हुई। उनकी भाँति मनुष्य के रागात्मक भावों का सूक्ष्म विश्लेषण किसी ने नहीं किया। उनकी जैसी समास-प्रधान भाषा-शैली का प्रयोग भी परवर्ती-लेखन में प्रायः नहीं दिखायी देता। उनकी लेखन-शैली एक विशेष ढाँचे पर ढली हुई थी जिसके उदाहरण आदि से अन्त तक मिलते हैं। प्रायः कहा जाता है कि लेखकों की भाषा विषयानुसार बदलती है, किन्तु शुक्ल जी की भाषा में परिवर्तन हो चाहे न हो, उसमें समासप्रियता सर्वत्र विद्यमान रहती है।

उनकी समासप्रियता पर विचार करते समय हमारा ध्यान अनायास ही उनके शब्द-प्रयोगों की ओर चला जाता है जो सही स्थान पर सही रूप में नियोजित मालूम पड़ते हैं। उनके सम्पूर्ण लेखन में विशेष प्रकार के शब्द ऐसे नगों की भाँति जड़े हैं, जिन्हें न तो अन्य शब्दरूपी नगों में स्थानापन्न किया जा सकता है और न वाक्य-विन्यास के भीतर उन्हें आगे-पीछे खिसकाया जा सकता है। जो शब्द जहाँ पर हैं, वहीं से अर्थ की छटायें विकीर्ण करते हैं। हमारी दृष्टि में उनके इसी प्रकार के शब्द प्रयोग खड़ीबोली हिन्दी की अभिव्यञ्जना शक्ति को निखारने में उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

शुक्ल जी की विशिष्ट शब्दावली में मुख्यतः निम्नलिखित प्रकार के प्रयोग समाविष्ट किये जा सकते हैं—

१. अर्थगर्भित सूक्तियाँ,

२. विशिष्ट वाक्यांश,

३. समानार्थी शब्दों का अन्तर,

४. पारिभाषिक शब्दावली।

हम देखते हैं कि इन सभी प्रकार के शब्द प्रयोगों से लेखक का गंभीर चिन्तन प्रकट होता है, क्योंकि जब तक किसी शब्द के सारे संदर्भों पर विचार न किया जाय तब तक उसकी सीमा और सम्भावनाओं का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्येक महान् लेखक चाहे कवि हो चाहे निबन्धकार, वह अपने शब्दों की आत्मा को अवश्य पहचानता है। शुक्ल जी के विषय में यह बात पूर्णतः लागू होती है। इसके लिये पहले उनको कुछ प्रसिद्ध सूक्तियाँ लें जो एक ही निबन्ध में एकाधिक स्थानों पर मिल जायेगी, जैसे—'उत्साह' शीर्षक निबन्ध में कम से कम निम्नलिखित सूक्तियाँ हैं:—

१. 'दुःख के वर्ग में' जो स्थान भय का है, वही स्थान आनन्द वर्ग में उत्साह का है।'

२. 'साहसपूर्ण' आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है।'

३. 'उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और आनन्द का मेल रहता है।'

४. 'कर्म भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।'

५. 'बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार परम्परा का नाम ही प्रयत्न है।

उपर्युक्त पंक्तियों पर ध्यान देने से मालूम होगा कि इनमें भावविशेष की केवल परिभाषा ही नहीं दी गयी है; अपितु उसका वर्गीकरण किया गया है, उसके गुण बताये गये हैं और उसके स्रोतों का उल्लेख किया गया है। फिर भी वाक्य में किसी क्लिष्ट शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। वाक्य बिलकुल सीधा और संक्षिप्त है। विशेषता यह है कि जो बात एक वाक्य में कही गयी है; उसे समझाने के लिये आठ-दस वाक्यों का प्रयोग करना पड़ेगा। शुक्ल जी ने काव्य-समीक्षा में 'शब्दशोधन पर' अत्यधिक जोर दिया था। हम देखते हैं कि अपने निबन्धों में भी वे स्वयं इस आदर्श का पालन करते हैं।

सूक्तियों की यही अर्थगर्भित विशेषता, श्रद्धा, भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि जैसे निबन्धों में तो मिलेगी ही, उनकी कवि संबंधी समीक्षाओं एवं साहित्य के इतिहास में भी लक्षित होगी। जैसे; 'पद्मावत' की भूमिका उपस्थित करते समय वे लिखते हैं—"नागमती का वियोग हिन्दी साहित्य में विप्रलंभ शृंगार का अत्यन्त उत्कृष्ट निरूपण है।" तो लगता है कि वे इस उक्ति में बहुत कुछ कह गये हैं। यही कारण है कि उच्च कक्षाओं के परीक्षार्थी अभी तक ऐसी पंक्तियों की व्याख्या करते रहे हैं। 'भ्रमरगीत सार' में जब वे यह मन्तव्य प्रकट करते हैं कि 'सूर सागर ' वास्तव में एक महासागर है जिसमें हर एक प्रकार का जल आकर मिला है 'तो उक्ति संबंधी यही विशेषता लक्षित होती है। साहित्य के इतिहास में इसी प्रकार की पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास, केशवदास, घनानन्द आदि के लिये प्रयुक्त की गयी हैं; जिससे स्थान-स्थान पर उनके शब्द-चिन्तन का प्रमाण मिलता है।

शब्द-चयन का दूसरा क्षेत्र विशिष्ट वाक्यांशों के प्रयोग का है जिन्हें 'प्रत्यक्ष रूप-विधान', 'स्मृति रूप-विधान', 'कल्पित रूप-विधान', अथवा 'आनन्द की साधनावस्था', 'साधनात्मक रहस्यवाद', 'आश्चर्यपूर्ण प्रसादन' जैसे प्रयोगों में लक्षित किया जा सकता है। ऐसी शब्दावली यद्यपि समीक्षा के लिये प्रयुक्त हुई है, फिर भी यह समीक्षा तक ही सीमित नहीं है। इतिहास में जब वे कवियों और सूक्तिकारों के बीच अन्तर स्थापित करते हैं तो इसी प्रकार के विशेष वाक्यांशों के दर्शन होते हैं। इन वाक्यांशों का महत्त्व यह है कि इनके माध्यम से शुक्ल जी ने निरन्तर सर्जनात्मक साहित्य को समझने और समझाने की एक दृष्टि विकसित की है। इसका यह भी महत्त्व है कि उन्होंने हिन्दी समीक्षा-शास्त्र को संस्कृत-अंग्रेजी के वाग्जाल से मुक्त करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।

उदाहरणार्थ, उनके द्वारा प्रयुक्त 'प्रत्यक्ष रूप-विधान', 'स्मृति रूप-विधान' और 'कल्पित रूप-विधान' जैसे वाक्यांशों पर विचार करें जिनका प्रयोग 'रसात्मक बोध के विविध रूप' शीर्षक निबन्ध के अन्तर्गत किया गया है। इनमें प्रमुख शब्द है 'रूप विधान' जिसे 'प्रत्यक्ष', 'स्मृति' तथा 'कल्पित' शब्दों के द्वारा विशेषता प्रदान की गयी है। 'रूप-विधान' शब्द की व्याख्या करते हुए पहले तो लेखक ने चारों ओर फैले हुए उस रूपात्मक जगत् की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है जो भावों का आलंबन बनता है। फिर कहा है कि ये रूप हमारे बाहर और भीतर दोनों जगह विद्यमान रहते हैं। मनोवृत्तियों और भावों की सुन्दरता, अथवा भीषणता की भावना भी रूप बनकर मन में उठती है। फिर बताया है कि सुन्दर अथवा भीषण जैसे लगने वाले रूप या व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य अथवा भीषणता कोई पदार्थ नहीं है। हमारे भीतर सौन्दर्य की भावना जगने का तात्पर्य सुन्दर वस्तु का या व्यापार का मन में उठना ही है। यहाँ तक लेखक ने 'रूप-विधान' शब्द की व्याख्या की।

तदुपरान्त वह 'प्रत्यक्ष', 'स्मृति', और 'कल्पना' जैसे विशेषण लगाने पर तसद् रूपविधान की व्याख्या करता है। वह मानता है कि मन के भीतर यह रूपविधान दो प्रकार का होता है। जब यह कभी प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्यों का त्यों प्रतिबिंब हो, तो इसे आभ्यंतर रूप-प्रतीति अर्थात् स्मृति कहते हैं। जब यह रूपविधान प्रत्यक्ष देखे हुए पदार्थों के आधार पर नवीन वस्तुओं का रूप ग्रहण करता है तो इस दूसरी रूप योजना को 'कल्पित' कहते हैं। ये दोनों हमारे मन के भीतरी रूप-विधान हैं जिनके मूल में हमारे प्रत्यक्ष अनुभव किये हुए बाहरी रूपविधान विद्यमान रहते हैं। इन्हें हम 'प्रत्यक्ष' के अन्तर्गत स्थान देंगे। इस प्रकार रूपविधान तीन प्रकार के हो जाते हैं—'प्रत्यक्ष रूप विधान', 'स्मृति रूप-विधान' और 'कल्पित रूपविधान'।

वाक्यांशों की ऐसी व्याख्या, जहाँ पर वाक्य के एक-एक अंश को पहले अलग-अलग बताया जाये, फिर उसे समस्त रूप में समझाने का प्रयत्न किया जाये, और इस प्रयत्न के भीतर भी एक व्यवस्थित शैली का अनुसरण किया जाये, ऐसा प्रयोग बिना सूक्ष्म शब्दों के चिन्तन के सम्भव ही नहीं है। शुक्ल जी द्वारा प्रयुक्त अन्यान्य वाक्यांशों के निहितार्थ तक

इसी प्रक्रिया द्वारा पहुँचा जा सकता है और तभी उनके वास्तविक अर्थ की लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है।

जहाँ तक समानार्थी शब्द-प्रयोगों के सूक्ष्म अन्तर का प्रश्न है, हिन्दी के पाठक शुक्ल जी के भाव प्रधान निबंधों से भलीभाँति परिचित हैं। एक जैसे प्रतीत होने वाले विभिन्न भावों में वे प्रसंगानुसार मुख्य-मुख्य अर्थभेद बतलाते चलते हैं तथा सटीक उदाहरण देकर उनका स्वरूप निर्धारित करते चलते हैं। इस दृष्टि से 'श्रद्धा', 'प्रेम और भक्ति', 'करुणा और सहानुभूति', 'लज्जा', 'ग्लानि और संकोच', 'लोभ और प्रीति' जैसे भावों की उन्होंने जो ब्यौरेवार व्याख्या की है, और अन्तर बताते हुए उनका परस्पर संबंध भी स्थापित किया है, वह हिन्दी में अभूतपूर्व ही है। प्रायः कहा जाता है कि उन्होंने मनोविकारों पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार किया। यह ठीक है क्योंकि उनका ध्यान इन भावों के सामाजिक पक्ष पर केन्द्रित था। वैसे भी मूलतः वे साहित्य के विद्वान थे, मनोविज्ञान के आचार्य नहीं। उन्होंने मुख्य रूप से साहित्य में प्रयुक्त स्थायी, संचारी भावों को विश्लेषण का आधार बनाया था और भावों के उदाहरण लेकर अपनी धारणाओं को संपुष्टि किया था। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उनका लक्ष्य सर्जनात्मक भावों का स्वरूप-विश्लेषण करना था, भाव को भाव मात्र मानकर उसकी व्याख्या करने का नहीं था। इस दृष्टि से शुक्ल जी ने विवेच्य भावों को उन अर्थपरक संदर्भों के भीतर रखकर देखने का प्रयत्न किया जो कि भावों के विभिन्न रूपों को जन्म देते हैं।

यहाँ उक्त भावों के उदाहरण देकर शुक्ल जी के शब्द-प्रयोग बताने की आवश्यकता नहीं क्योंकि सभी उनसे परिचित हैं। फिर भी शब्द-चिन्तन की दृष्टि से दो तीन बातों का उल्लेख कर देना चाहिए। एक तो लेखक ने कुछ भावों का पूर्वापर क्रम निर्धारित किया है जो उसके व्यापक चिन्तन का द्योतक है। वे जब 'क्रोध', 'बैर', 'चिड़चिड़ाहट' और 'अमर्ष' जैसे भावों की परस्पर तुलना करते हैं तो उनका एक क्रम भी निर्धारित करते हैं। उनके मतानुसार यह मनोविकार 'अमर्ष' के धरातल से आगे बढ़ता है। उस धरातल पर हमारा ध्यान दुःख पहुंचानेवाली बातों के ब्यौरे पर केन्द्रित रहता है। इससे 'चिड़चिड़ाहट' उत्पन्न होती है जिसकी व्यंजना प्रायः शाब्दिक अभिव्यक्ति तक सीमित रहती है। फिर 'क्रोध' उत्पन्न होता है जो उन्हीं के शब्दों में 'दुःख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है।' यह 'क्रोध' पूर्णता की अवस्था में पहुंचने पर मनुष्य को दुःख पहुंचाने वाले व्यक्ति से बदला लेने की ओर प्रेरित करता है। जब पूर्णता पर पहुँचा हुआ क्रोध अधिक परिपक्व हो जाता है' तो उसे 'बैर' कहते हैं। इसीलिये शुक्ल जी ने बैर को क्रोध का अचार या मुरब्बा कहा है। यहाँ द्रष्टव्य है कि वे क्रम-क्रम से शब्दार्थ की गहराई में जाकर उसकी सूक्ष्म छायाओं को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। उनकी शब्द-मीमांसा की यह बहुत बड़ी विशेषता है।

शब्द-चिन्तन की दृष्टि से दूसरी बात लक्षणीय यह है कि कहीं पर या तो वे प्रचलित शब्दों की नवीन व्याख्या करते हैं अथवा उन्हें कोई नवीन अर्थ प्रदान करते हैं। कहीं

पर अनुकूल अभिव्यक्ति के लिये नया शब्द भी गढ़ लेते हैं। यह कार्य बिना चिन्तन और मनन के संभव नहीं है। इस दृष्टि से 'वस्तु-गांभीर्य', 'बिम्ब ग्रहण', 'संबंध भावना', 'चकपकाहट', 'तोषवृत्ति', 'वासुदेव जी', 'भाव प्रसार' जैसे उनके द्वारा प्रयुक्त एकाधिक शब्द लिये जा सकते हैं जिन्हें पारम्परिक आधार पर ग्रहण नहीं किया गया। 'सभ्यता' शब्द का अर्थ उनके लिये रूप बदलना है। 'बिम्ब ग्रहण' का तात्पर्य परिस्थितियों का परस्पर संश्लिष्ट विवरण प्रस्तुत करना है। 'उपासना', 'भावना' और 'कल्पना' जैसे शब्द उन्हें कहीं पर समानार्थी मालूम पड़ते हैं। क्योंकि जो वस्तु हमसे अलग है और दूर प्रतीत होती है उसकी मूर्ति मन में लाकर समीपता का अनुभव करना उनके अनुसार 'उपासना' है। साहित्य वाले इसी को भावना' कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना' मानते हैं। इसी प्रकार उनका प्रयोग 'वस्तु-गाम्भीर्य' वहीं नहीं है जिसे हमें वस्तुवर्णन अथवा वस्तु-पक्ष के अन्तर्गत स्थान देते हैं। उसके अन्तर्गत शुक्ल जी चुने हुए वस्तु-व्यापारों की गणना करना चाहेंगे जिनसे काव्य या साहित्य का मूर्त विधान किया जाता है।

उनके शब्द-चिन्तन का तीसरा पक्ष प्राचीन एवं नवीन कवियों द्वारा प्रयुक्त कुछ विशेष शब्दों की व्याख्या करने से संबंध रखता है। प्राचीन कवियों में कबीर और जायसी आदि ने रीतिकालीन कवियों में बिहारी और घनानन्द आदि ने तथा आधुनिक कवियों में पंत और निराला आदि ने अनेक आलंकारिक अथवा लाक्षणिक प्रयोग किये जिस कारण हिन्दी में दर्शन, योग, धर्म, संगीत आदि विषयों से शब्द के शब्द चले आये। कुछ कवियों ने सामान्य प्रचलित शब्दों का विशिष्ट प्रयोग किया तो कुछ कवियों ने परम्परागत शास्त्रीय शब्दावली को स्थान दिया। शुक्ल जी ने तुलसी, जायसी और सूरदास की भूमिकाओं में तथा अन्य स्थानों पर भी समय मिलते ही इन शब्दों पर टिप्पणियाँ की हैं और अपनी दृष्टि से उनका अर्थ स्पष्ट किया है। जैसे—उनके मतानुसार जायसी ने 'काविलास' शब्द का प्रयोग बराबर स्वर्ग के अर्थ में किया है। 'दसवाँ द्वार' शब्द से उनका तात्पर्य ब्रह्मरंध्र से है जहाँ वृत्ति को लीन करने से ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार हो सकता है।

शुक्ल जी द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ती है जिसकी ओर अभी हिन्दी विद्वानों ने बहुत कम ध्यान दिया है। इन शब्दावली ने हिन्दी समीक्षा-शास्त्र के लिए एक आधारभूत सामग्री तैयार की है। यह शब्दावली मुख्यतः चार रूपों में परिलक्षित होती है—

१. पारम्परिक शब्दावली के रूप में,
२. नवीन शब्दावली के रूप में,
३. अंग्रेजी शब्दों के अनुवाद रूप में,
४. सैद्धान्तिक शब्दावली के रूप में।

पारम्परिक शब्दावली में उन्होंने संस्कृत के काव्यशास्त्र और दर्शनशास्त्र से 'अन्योक्ति', 'वक्रोक्ति', 'महाकाव्य', 'प्रत्यभिज्ञा', 'अद्वैतवाद' जैसे शब्द लिए किन्तु उनके अर्थ गतानुगतिक नहीं हैं। पद्मावत के संदर्भ में 'अन्योक्ति' और 'समासोक्ति' का स्वरूप-विश्लेषण करते

समय उन्होंने दोनों शब्दों को जिस प्रकार जाँच-पड़ताल की है उससे ज्ञात होता है कि वे एकाएक दूसरों की सैद्धान्तिक विचारणा से सहमत होने वाले आचार्य नहीं थे। पद्मावत को उन्होंने एक 'महाकाव्य' न मानकर एक 'प्रबन्धकाव्य' कहा है और ऐसा मानने के लिए समुचित तर्क दिये हैं।' 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग करते समय वे इस बात में सावधान रहते हैं कि कहीं पाठक उसे प्रस्तुत वस्तु की विलक्षणता न समझ लें जो अद्‌भुत रस के आलंबन में होती है। इसलिये वे पहले ही कह देते हैं कि 'चमत्कार से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है।'

इसी प्रकार जब 'उपमेय' और 'उपमान' जैसे संस्कृत काव्यशास्त्र के पारम्परिक शब्द उन्हें आधुनिक संदर्भ में युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होते तो वे इनके स्थान पर 'प्रस्तुत-अप्रस्तुत' जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। उनके शब्दों को समझने में कठिनाई भी नहीं होती क्योंकि जो हमारे सामने है वह 'प्रस्तुत' है, और जो हमारे सामने नहीं है वह 'अप्रस्तुत' है। उनकी 'वक्रोक्ति' संबंधी धारणा आचार्य कुंतक की तत्संबंधी धारणा से कुछ अलग है जैसा कि 'कविता क्या है?' शीर्षक निबंध से ज्ञात होगा। दूसरे आचार्यों की शब्दावली से वहीं तक सहमत होते हैं जहाँ तक उनकी संभावना स्वीकार की जा सकती हो और इस बात का यथास्थान उल्लेख भी कर देते हैं। कारण यही है कि वे प्रत्येक स्थान पर शब्दार्थ की गहराई में उतरना चाहते हैं।

कहीं उपयुक्त शब्द का अभाव होने पर उन्होंने नये पारिभाषिक शब्द गढ़ लिये हैं। जिन्हें 'भावयोग', 'रसदशा', 'सत्त्वरस', 'विश्वहृदय', 'अनुभूतिमार्ग', 'बीजभाव', 'रसात्मक बोध', जैसे प्रयोगों में अथवा 'कथाप्रबन्धकार', 'वर्णनात्मक प्रबन्धकार', 'सूक्तिकार' जैसे इतिहास विषयक प्रसंगों में लक्षित किया जा सकता है। जब वे 'भक्ति-मार्ग' शब्द को अपर्याप्त मानकर उसके लिये 'अनुभूति-मार्ग' का प्रयोग करते हैं अथवा प्रबन्धकाव्यों के मूल प्रेरक भाव को 'बीज भाव' कहते हैं तो उनका आचार्य वाला पक्ष प्रमुख हो उठता है। किसी आचार्य की विशेषता यही नहीं होती कि वह प्रचलित मान्यताओं की परीक्षा करें। उसे नये सिद्धांतों की अवतारणा भी करनी पड़ती है। उसे नयी स्थापनाओं की तर्कयुक्त भूमिका भी उपस्थित करनी होती है। शुक्ल जी इस आचार्य वाली भूमिका के प्रति पर्याप्त सजग थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। जैसे 'बीजभाव' शब्द की अवतारणा करते समय उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि "इस बीज भाव को साहित्य ग्रन्थों में निरूपित स्थायी भाव और अंगी-भाव दोनों से भिन्न समझना चाहिए।" तात्पर्य यह है कि वे साहित्य में स्थायी भाव और संचारी भाव के साथ-साथ 'बीज भाव की' स्वतंत्र सत्ता का समर्थन करते थे।

साहित्य के इतिहास में उनकी नवीन शब्दावली काव्य-रूपों का विकासात्मक स्वरूप समझने में सहायक होती है। 'कथा प्रबंधकार' अथवा 'सूक्तिकार' जैसे शब्द हिन्दी कविता की उन प्रवृत्तियों के द्योतक हैं जो मध्यकालीन साहित्य में संस्कृत-अपभ्रंश की परम्परा से हटकर अपनी अलग पहचान बना रही थीं। इन प्रवृत्तियों का समावेश पारम्परिक शब्दों के भीतर नहीं किया जा सकता था। अतः शुक्ल जी ने शब्दार्थ-मीमांसा का सहारा लेते हुए

उनकी द्योतक नये शब्द बनाये जो उनकी मौलिकता और जागरुकता के परिचायक हैं। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी के समीक्षाशास्त्र को हिन्दी के पारिभाषिक शब्द तो दिये ही इतिहास की प्रवहमान चेतना को भी परिभाषित करने का प्रयत्न किया। यह उनके शब्द-चिन्तन को उल्लेखनीय विशेषता है।

यह शब्द-चिन्तन अंग्रेजी शब्दावली के अनुवाद रूप में भी प्रकट होता है। वे अंग्रेजी के बहुप्रचलित पारिभाषिक शब्दों को हिन्दी में ज्यों का त्यों ग्रहण करने के पक्षपाती नहीं थे। वे भलीभाँति जानते थे कि प्रत्येक भाषा का विशिष्ट शब्द अपनी एक सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि से सम्पन्न होता है। इसलिये उन्होंने यथासंभव अंग्रेजी शब्दों के लिए एक ओर तो समानधर्मी शब्द स्वीकार किये तथा दूसरी ओर भारतीय शब्दों का प्रयोग करते हुए कोष्ठक के भीतर मूल भाषा के पारिभाषिक शब्द का उल्लेख कर दिया। इसी कारण 'रोमाण्टिक मूवमेंट', 'इण्ट्यूशन', 'इम्परसैनेलिटी', एण्ड डिटैचमेंट' जैसे अंग्रेजी शब्दों के लिए उन्होंने क्रमशः 'स्वच्छंदता आन्दोलन', 'स्वयं प्रकाश ज्ञान', 'अहं का विसर्जन और निःसंगता' जैसे शब्दों का प्रयोग किया। किन्तु दूसरी ओर भाषा के 'सिंबोलिक आस्पेक्ट', तथा 'प्रजेण्टेटिव आस्पेक्ट' के लिये क्रमशः 'संकेत पक्ष' और 'प्रत्यक्षीकरण पक्ष जैसे शब्दों का प्रयोग किया। "पोइट्री एज एन आर्ट" तथा "पोइट्री एनरजी" का अनुवाद उन्होंने हिन्दी में 'कला-काव्य' और 'शक्ति-काव्य' किया है जो युक्तिसंगत तो है ही, भारतीय संस्कृति के निकट भी है। इनसे स्पष्ट होता है कि विदेशी भाषाओं से पारिभाषिक शब्दों का अनुवाद करते समय उनकी दृष्टि शब्दों की अर्थ भंगिमाओं से टकराती रहती थी। उनकी यही धारणा थी कि अन्य भाषाओं से विशिष्ट शब्द ग्रहण करते समय हमें यथासंभव अंधानुकरण से बचना चाहिए।

जहाँ तक सैद्धान्तिक शब्दावली का प्रश्न है उनके 'साहित्य', 'छायावाद', 'लक्षणा', व्यंजना', 'अभिव्यंजनावाद', 'प्रभाववाद' जैसे शब्दों की व्याख्या उल्लेखनीय है जहाँ वे उनके नामकरण की व्याप्ति और सीमाओं पर विचार करते हैं। नये शब्द गढ़ने अथवा प्रचलित शब्दों की समीक्षा करने के साथ-साथ वे यह भी देखते चलते हैं कि प्रत्येक नये प्रकार की शब्दावली हमारे लिये अनुकरणीय भी होगी अथवा नहीं। जैसे क्रोचे के 'अभि-व्यंजनावाद' (एक्सप्रेशनिज्म) को उन्होंने 'वक्रोक्तिवाद' ("वक्रोक्तिःकाव्य जीवितम्"—कुन्तक) का विलायती उत्थान माना है। यह दूसरी बात है कि हम उनकी धारणा से सहमत न हों। 'छायावाद' का सम्बन्ध वे वेदान्त के 'प्रतिबिम्बवाद' से जोड़ते हैं जो सूफियों से होता हुआ पहले यूरोप में गया। फिर वहाँ 'प्रतीकवाद' से संश्लिष्ट होकर बंगाल में आया, और फिर नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिए 'छायावाद' कहलाने लगा। 'साहित्य' शब्द के अन्तर्गत वे उस सारे वांङमय को समाविष्ट करना चाहते हैं जो अर्थबोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन करता हो तथा जिसमें इस प्रकार के वांङमय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो। अर्थात् वे रचनात्मक साहित्य (क्रिएंटिव लिट-रेचर) एवं व्याख्यात्मक साहित्य (क्रिटिसिज्म) दोनों को साहित्य के अन्तर्गत स्थान देना चाहते हैं।

'व्यंजना' शब्द पर विस्तारपूर्वक विचार करते हुए उन्होंने इसके दो भेदों की चर्चा की है—'वस्तु व्यंजना' और 'भाव व्यंजना'। ये शब्द तो पुराने हैं किन्तु इनकी व्याख्या शुक्ल जी की अपनी है। इस दृष्टि से 'चिन्तामणि' का निबंध 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' विशेष रूप से पठनीय है। उनकी एक बात सही थी कि वर्तमान साहित्यसेवियों को शब्द-शक्तियों के संबंध में अपनी विचार-परम्परा जारी रखनी चाहिए, क्योंकि काव्य की मीमांसा या स्वच्छ समीक्षा के लिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। स्वयं उन्होंने घनानन्द जैसे मर्मज्ञ कवि की काव्य-मीमांसा में अपने शब्दशक्ति ज्ञान का प्रयोग करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया था कि 'भाषा के रक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहां तक है, पूरी परख इन्हीं को थी।' इसी बात को प्रकारान्तर से शुक्ल जी के लिये भी कहा जा सकता है कि शब्दों की शक्ति कहाँ तक है, इसकी उन्हें पूरी पहचान थी।

विगत वर्षों में शुक्ल जी की मान्यताओं को लेकर पर्याप्त चर्चा-परिचर्चा हुई है, उनके सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन हुआ है। किन्तु भाषा पर उनके अधिकार को सभी विद्वानों ने एक मत से स्वीकार किया है। शब्दशक्तियों को उन्हें अपूर्व पहचान थी। कहना तो यह चाहिये कि अपने जीवनकाल में उन्होंने शब्दों को सिद्ध कर लिया था। रचनात्मक और समीक्षात्मक दोनों धरातलों पर वे मूलतः साहित्य सेवी थे। वे अपने जीवन भर साहित्य के ही गंभीर अध्येता बने रहे। इसी कारण वे शब्द और अर्थ दोनों के माध्यम से साहित्य की गहराई में उतरते गये। हमारे अनुसार यदि वे केवल भाषाशास्त्री होते तो संभवतः 'थेसारस' जैसे किसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का निर्माण करते। आज आवश्यकता इस बात की है कि शब्दार्थ मीमांसा की दृष्टि से उनकी समग्र रचनाओं का पुनरावलोकन किया जाए तथा पारिभाषिक शब्द-निर्माण संबंधी उनके कार्य को आगे बढ़ाया जाए। अनु-संधान की यह एक नवीन दिशा होगी जिसकी ओर हिन्दी विद्वानों को प्रवृत्त होना चाहिए।

—आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी एवं भाषाविज्ञान विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और प्रकृति

डॉ० कृष्णचन्द्र वर्मा

⊙

शुक्ल जी भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का पहला और सबसे आवश्यक काम मानते हैं।[1] अर्थात् कविता का कोई आधार होना चाहिए, कोई विषय होना चाहिए, जिसे उपस्थित करना कवि का लक्ष्य होता है और कवि में ऐसी सामर्थ्य होनी चाहिए—भाषा की, अभिव्यंजना की, अनुभूति की, चिन्तन की कि जिसके द्वारा वह अपने कथ्य को यथातथ्य रूप में उपस्थित कर सके। जब रस को ही काव्य में प्रधान मान लिया गया तब रस का आधार खड़ा करने वाला विभावन व्यापार (आलंबन और उद्दीपन ही) कवि कल्पना का प्रधान कार्यक्षेत्र ठहरता है। वस्तु का वर्णन करते हुए कवि का काम यों ही उड़ान भरना नहीं होता; उसे अनुभूति या रागात्मिता वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ता है।[2] विभाव के अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं—(१) आलंबन (भाव का विषय), (२) आश्रय (भाव का अनुभव करने वाला)। इसमें प्रथम के अन्तर्गत मनुष्य और समूचा जगत्—नगर, वन, वाटिका, नदी, पर्वत, आकाशादि सभी आ जाते हैं किन्तु द्वितीय तो हृदय सम्पन्न मनुष्य ही हो सकता है। भारत के प्राचीन कवियों ने अपने काव्य के अन्तर्गत इन दोनों का स्वरूप चित्रित करने और बिंब ग्रहण करने में कल्पना का पूरा-पूरा उपयोग किया है।

साहित्य के आचार्यों ने वन, उपवन, ऋतु तथा प्रकृति को उद्दीपन मात्र बता कर उसका महत्त्व बहुत कम कर दिया। शुक्ल जी ने बार-बार कहा है और बहुत ज़ोर देकर कहा है कि प्राकृतिक वर्णन शृंगार रस के एक अंग अथवा अवयव के रूप में ही ग्राह्य नहीं होना चाहिए। उनका ग्रहण स्वतन्त्र रूप में भी हो सकता है और होना चाहिए। वे स्वतः भी हमारे भावों के आलंबन हो सकते हैं। उससे काव्य-जगत् का विस्तार ही होगा और कवि कर्म का महत्त्व और भी बढ़ेगा। संसार की सभी समृद्ध भाषाओं में ऐसे कवि हुए हैं और ऐसे काव्य रचे गए हैं।

---

१. काव्य में प्राकृतिक दृश्य : चिन्तामणि (दूसरा भाग, सं० २००६), पृ० २।
२. वही।

वाल्मीकि के रामायण में राम के रूप, गुण, शील, स्वभाव तथा रावण की विरूपता, दुःशीलता, अनीति और अत्याचार आदि का तो पूरा चित्रण मिलता ही है किन्तु उसके साथ ही अयोध्या, चित्रकूट, दण्डकारण्य आदि का चित्र भी पूरे ब्यौरे के साथ हमारे सामने आता है। इन स्थलों के वर्णन में हमें हाट-बाट, नदी-निर्झर, ग्राम-जनपद आदि न जाने कितनी वस्तुओं और पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण कराया गया है। क्या विश्व-हृदय वाल्मीकि ने इन प्राकृतिक उपादानों का वर्णन केवल साहित्याचार्यों द्वारा कथित 'उद्दीपन' दृष्टि से किया है? क्या महाकवि कालिदास द्वारा किया गया कुमारसंभव के आरंभ का नगाधिराज हिमालय का विशद् वर्णन केवल शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से हुआ है? ऐसा तो नहीं है। एक तो ये वर्णन प्रसंग-प्राप्त हैं दूसरे आलंबन की परिस्थिति को अंकित करने वाले। इनके बिना आश्रय और आलंबन शून्य में खड़े मालूम होंगे। पात्रों के चित्रण, उनके मनोभावों तथा घटनावली के प्रस्तुतीकरण के लिए प्राकृतिक परिवेश को उपस्थित करना अपरिहार्य था। पारिवेशिक चित्रण से सहृदय को वस्तु, घटना और पात्र तथा उसकी मनोदशा से तादात्म्य स्थापित करना अधिक सुगम हो जाता है, उससे साधारणीकरण पूरा-पूरा होता है। पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति-चित्रण के संबंध में इससे भी आगे की बात कहते हैं। वे कहते हैं कि प्रकृति केवल भावों का उद्दीपन करने वाला उपकरण नहीं है, वह पात्र या घटनावली के लिए पृष्ठभूमि मात्र नहीं है बल्कि वह तो काव्य-विधान का सर्वथा स्वतन्त्र विषय भी है या हो सकती है। काव्य के आलंबन रूप में, कवि-कथ्य के स्वतन्त्र विषय के रूप में भी उसकी महत्ता स्वीकृत की जानी चाहिए। वे और भी आगे बढ़ते हैं—वे कहते हैं कवियों का प्रकृति से परिचय होना चाहिए, व्यक्तिगत परिचय। उससे तालमेल ही नहीं, रागात्मक लगाव होना चाहिए। इससे कवि चित्त का विस्तार ही होता है। सच तो यह है कि प्रशस्त कवि में यह बात सहज होनी चाहिए, नैसर्गिक रूप से होनी चाहिए। इस वृत्ति द्वारा ही वह इस व्यापक सृष्टि में अपने हृदय का व्यापार भली-भाँति चला सकेगा। ऐसा न होने पर वह जड़ अथवा जड़ताभिभूत भी कहा जा सकता है। आचार्य शुक्ल का अभिमत देखिए—'प्राकृतिक वर्णन केवल अंग रूप से ही हमारे भावों के आलंबन नहीं हैं, स्वतंत्र रूप में भी हैं। जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्य जाति का अधिकांश (जो नगर में नहीं आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेमभाव पूर्व-साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या वासना के रूप में हमारे अन्तःकरण में निहित है। उनके दर्शन या काव्य आदि में प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरंजन होता है वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस अनुरंजन को केवल किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटना है। जो प्राकृतिक दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामग्री मानते हैं उनकी रुचि भ्रष्ट हो गयी है।'[१]

शुक्ल जी का कहना है मनुष्य यदि अपने जीवन और व्यवहार के जगत् से बाहर की जो प्राकृतिक सृष्टि है उससे यदि नाता तोड़ लेगा तो वह अपना ही अहित करेगा। एक तो

१ काव्य में प्राकृतिक दृश्य : चिन्तामणि दूसरा भाग, पृ० ४।

सनिर्ग के साहचर्य में जो सुख-सुषमा और रस है उससे अपना नाता तोड़ लेगा दूसरे अपने आनंद की जो व्यापकता है उसे भी सीमित और संकीर्ण कर लेगा। हमारी बुद्धि की व्याप्ति और संचरण के लिए जिस प्रकार हमें विस्तृत विशाल और व्यापक अनेक रूपात्मक जगत् मिला है उसी प्रकार हमारे मनोरागों अथवा मनोभावों के लिए भी। यदि आलस्य, प्रमाद या अज्ञानवश हम अपनी इस विस्तीर्ण सृष्टि को छोटी कर लेते हैं तो हमारी वृत्तियाँ पशु-सुलभ वृत्तियाँ ही होकर रह जायेंगी। इसीलिए उनका निश्चित मत है कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु-पक्षी, खेतो-बारी आदि के प्रति हमारा जो आकर्षण और लगाव है वह नैसर्गिक है, नितान्त स्वाभाविक है, वह वासना के रूप में हमारे अन्तःकरण में ही विद्यमान है।

शुक्ल जी ने प्रकृति के प्रति मनुष्य के आकर्षण अथवा रुझान को दो प्रकार का बताया है। शुक्ल जी तो बड़े प्रातिभ विवेचक थे। विवेचन को यथासंभव परिपूर्ण दृष्टि से देख समझ लेते थे और उसका विवेचन भी यथासंभव सांगोपांग ही करते थे। उनका भावों का विवेचन रस का विवेचन, अलंकार का विवेचन, मानव-मन की नाना वृत्तियों का विश्लेषण-विवेचन इसी प्रकार का होता था। हमारे प्रकृति-प्रेम को द्विधा विभक्त करते हुए उन्होंने बताया है कि हमारा प्रकृति विषयक अनुराग स्थूल रूप से दो प्रकार का होता है या हो सकता है—

(१) रूप सौन्दर्यगत।

(२) हेतु-ज्ञान शून्य।

प्रकृति के रूप-सौन्दर्य के कारण जो लोग प्रकृति की ओर खिंचते हैं उनका प्रकृति-प्रेम वास्तविक नहीं होता। दूसरे शब्दों में जो लोग अपने सुख-विलास की दृष्टि से प्रकृति की ओर आकर्षित होते हैं, उसके विशेष-विशेष दृश्यों को देखकर हर्ष से उल्लसित होते हैं उनका प्रकृति-प्रेम सच्चा नहीं है। उन्हें शुक्ल जी तमाशबीन कहते हैं जो केवल अनोखापन, सजावट या चमत्कार देखने निकलते हैं। वे तड़क-भड़क, सजावट, रंगों की चमक-दमक के प्रति भले ही मुग्ध हो लेते हों, सच्चे सहृदय नहीं कहे जा सकते। इसके विपरीत वह प्रकृति-प्रेम जो केवल साहचर्य के प्रभाव से अंकुरित और पल्लवित होता है एक प्रकार से हेतु-ज्ञान-शून्य होता है—सर्वथा सहज और नैसर्गिक। इस अन्तर को शुक्ल जी ने एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है—'यदि हम किसी किसान को उसकी झोपड़ी से हटा कर किसी दूर देश में ले जाकर राजभवन में टिका दें तो वह उस झोपड़ी का, उसके छप्पर पर चढ़ी हुई कुम्हड़े की बेल का, सामने के नीम के पेड़ का, द्वार पर बँधे हुए चौपायों का ध्यान करके आँसू बहावेगा। वह यह कभी नहीं समझता कि मेरा झोपड़ा इस राजभवन से सुन्दर था; परन्तु फिर भी झोपड़े का प्रेम उसके हृदय में बना हुआ है। यह प्रेम रूप-सौन्दर्यगत नहीं है; सच्चा स्वाभाविक और हेतु-ज्ञान-शून्य प्रेम है। इस प्रेम को रूप-सौन्दर्यगत प्रेम नहीं पहुँच सकता।'[1] इसीलिए शुक्ल जी ने जगह-जगह यह बात कही है कि प्रकृति के सहज रूप में हमारे मन को मोहित करने की अपार क्षमता है पर क्या बात है कि नगर का सामान्य मनुष्य उनकी ओर आकर्षित नहीं

---

१. काव्य में प्राकृतिक दृश्य : चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ६।

होता। कँकरीले टीलों, ऊसर पटपरों, पहाड़ के ऊबड़-खाबड़ किनारों या बबूल-करौंदे के झाड़ों में क्या आकर्षित करने वाली कोई बात नहीं होती ? शुक्ल जी कहते है कि आजकल के शहरी लोगों का जीवन और उनकी प्रवृत्तियाँ इतनी कृत्रिम हो गयी हैं, उनका हृदय मानव-प्रवर्तित व्यापारों में पड़ कर इतना कुंठित हो गया है कि उसकी प्रकृति में लीन हो रहने वाली प्रवृत्ति जिसे वासना या संस्कार कहते हैं सर्वथा दमित हो गयी है। उसका प्रकृति-प्रेम सतही होकर ही रह गया है। शुक्ल जी ने कहा है कि जब तक हम अपने अहंकार का विसर्जन करके प्रकृति के श्री चरणों में अपने को नत नहीं कर देते तब तक हम प्रकृति के प्रेमी नहीं हो सकते और न प्रकृति हमारी हो सकती है—'काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नहीं) उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते।'[१] शुक्ल जी स्वयं बहुत बड़े प्रकृति प्रेमी थे। बाल्यावस्था से ही प्रकृति-प्रेम के संस्कार उन्हें मिले और उनका यह प्रकृति-प्रेम जीवनान्त तक बना रहा। शुक्ल जी के एक साहित्य-निष्णात शिष्य के लिखे संस्मरण का मुझे ध्यान आ रहा है जिसे मैंने लगभग २० वर्ष पूर्व पढ़ा था। 'हा मेंधिके!' शीर्षक उस संस्मरणात्मक निबंध में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने शुक्ल जी के प्रगाढ़ प्रकृति-प्रेम का निदर्शन करने वाली दो घटनाएँ लिखी थीं—एक तो यह कि शुक्ल जी समय-समय पर विन्ध्याचल की उपत्यकाओं, वनों एवं पहाड़ियों में जाया करते थे। जीवन भर वे प्रकृति के नाना रूपों का साक्षात्कार करते रहे, जब-जब भी उन्हें समय मिला पर उनके हृदय की तृप्ति नहीं होती थी। कई-कई बार तो वे विन्ध्य की सघन वनालियों में भी अभीत भाव से प्रवेश कर जाया करते थे, उनमें अपार कौतूहल का भाव था। उनका विश्वास था कि मेंहदी भारत की चीज़ नहीं है, वह बिलोचिस्तान के जंगलों में ही पैदा होती थी और मुसलमानों के साथ भारत आयी लेकिन विन्ध्य की सघन उपत्यकाओं में अकस्मात मेंहदी का जंगली झाड़ देखकर और आचार्य केशवप्रसाद मिश्र के कहने पर कि उन्होंने किसी कोश में 'मेंधिका नखरंजनी' पढ़ा है शुक्ल जी ने घोषणा की कि मेंहदी अपने यहाँ की वस्तु है; फारस, अफगानिस्तान या बिलोचिस्तान से आयी चीज़ नहीं। इससे विदित होता है कि शुक्ल जी कोई तमाशबीन नहीं थे तथा मनोरंजन मात्र की दृष्टि से ही प्रकृति को निहारने वाले प्राणी नहीं थे। दूसरी घटना उन्होंने इस प्रकार उल्लिखित की है—एक बार शुक्ल जी अपने विभागीय सहयोगियों के साथ विन्ध्याचल की पहाड़ियों पर अटन हेतु गये हुए थे। उन्हें तैरना नहीं आता था इसलिए वे एक कुंड में स्नान के लिए उतरे। कुंड में ज्योंही उन्होंने डुबकी लगायी, जल के अन्दर की एक शिला से उनका माथा जा टकराया। उनके मस्तक से रक्त का फौव्वारा फूट पड़ा। सब लोग विकल हो गये। किसी ने घाव की जगह चूना भर दिया, किसी ने उन्हें सँभाला, किसी ने व्यथा और सहानुभूति व्यक्त की परन्तु शुक्ल जी ने इतना कहा कि "मैंने तो प्रकृति देवी के चरणों में अपने रक्त का अर्घ्य दिया है।" इससे शुक्ल जी का

---

१. काव्य में प्राकृतिक दृश्य : चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ७।

प्रगाढ़ और अपार प्रकृति-प्रेम व्यक्त हुए बिना नहीं रहता। शुक्ल जी के भतीजे स्वर्गीय चन्द्रशेखर शुक्ल के जीवनीपरक ग्रंथ में भी बताया गया है कि शुक्ल जी के पिता श्री पं० चन्द्रबली शुक्ल को देहाती जीवन बहुत पसंद था। शहर के पों-पाँ और धूल-धक्कड़ से उन्हें नफरत थी। मीरजापुर में उन्होंने अपने मकान के सामने एक छोटा-सा बगीचा लगा रखा था और उसके सामने एक बीघा खेत लेकर मौसम की चीज़ें बुआया करते थे। बगीचे में अनेक फलों और फूलों के वृक्ष थे, जिनके लिए सुन्दर क्यारियाँ और थाले बने थे। फूलोंमें दस-बारह तरह की रंग-बिरंगी लताएँ विविध मौसमों में फूला करती थीं। इनके अतिरिक्त कई प्रकार की बेलें, चमेली, जुही, रजनीगंधा, रात-रानी, केतकी, मालती, गुलाब, गुलदावदी, गुलसब्बो, गेंदा, गुलचीनी, लतर, चंपा, हरसिंगार आदि उनके बाग की शोभा बढ़ाते थे। फलों में कई जाति के देशी और लँगड़े आम, जामुन, कदम, अनार, संतरे, नीबू, नारंगी, खिरनी, फालसा, आँवला, शहतूत, शरीफा, अमरूद आदि के पेड़ जगह-जगह खड़े थे। बाग के ईशान् कोण में वैजयंती और केवड़े की बनी थी, जिसके चारों ओर मेंहदी का घेरा था। इस वनी में विषमोचनी लता लगी थी, जिसे लोग साँप काटने पर औषधि के लिए ले जाते थे। उन्हें प्रकृति के दोनों रूपों से स्नेह था। सुगंधित फूलों और फलों के साथ निर्गंध, किंशुक, भँड़भाँड़, मदार, सेंहुड़ और नीम के पेड़ भी उस वाटिका में स्वच्छन्द बढ़ते थे।[1] पिता के इस प्रकृति-प्रेम और पशु-प्रेम की छाया शुक्ल जी पर भी पड़ी। ये सारी बातें संस्कार रूप में शुक्ल जी में बद्धमूल हो गयीं। शुक्ल जी का प्रकृति के प्रांगण में मुक्तभाव से विचरण करना, मित्र मंडली के साथ समय-समय पर प्रकृति की क्रोड़ में ही जा बैठना आदि बड़े विस्तारपूर्ण ब्यौरों के साथ श्री चन्द्रशेखर शुक्ल की पुस्तक में स्थान-स्थान पर वर्णित हुआ है।'[2] शुक्ल जी ने स्वयं भी इस प्रकृति-प्रेम को अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है और केवल रचनाओं में ही नहीं अपने समीक्षाओं में भी विन्यस्त किया है। वे हिन्दी के पहले समालोचक हैं जिन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य तथा कविता के प्रेमियों और पाठकों को आमंत्रित किया है कि वे कविता के लिए प्रकृति का ग्रहण एक स्वतन्त्र विषय के रूप में करें। इससे कवियों का भी हित है और काव्य का भी। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी का यह आवाहन व्यर्थ नहीं गया, परवर्ती हिन्दी कवियों और लेखकों तथा समीक्षकों ने ज्ञात-अज्ञात भाव से शुक्ल जी की आवाज़ को सुना और उनकी प्रेरणा पर वे उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चले भी।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
१२२ सिन्धी कॉलोनी, लश्कर, ग्वालियर (म० प्र०)

●

---

१. रामचन्द्र शुक्ल : जीवन और कर्तृत्व : चन्द्रशेखर शुक्ल सं० २०१९, पृ० ३३-३४।

२. वही, पृ० ६६-६८ ११७-१५१ आदि।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : एक संस्मरण

श्री दशरथप्रसाद श्रीवास्तव

आज से पचास वर्ष पूर्व सन् १९३३-३४ व सन् ३४-३५ में मैं क्वीन्स इण्टरमीडिएट कॉलेज, बनारस में इन्टर का विद्यार्थी था। कॉलेज में मैंने अन्य विषयों के अतिरिक्त हिन्दी विषय भी ले रखा था। श्रद्धेय पंडित रामबहोरी शुक्ल उस समय कॉलेज में हिन्दी विषय के व्याख्याता थे। वे आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व और कृतित्व से बहुत प्रभावित थे और पढ़ाते समय वे प्रायः शुक्ल जी के आलोचनात्मक ग्रन्थों का सन्दर्भ दिया करते थे। इससे शुक्ल जी के ग्रन्थों के अध्ययन की जिज्ञासा मुझमें उत्पन्न हुई और उससे भी अधिक उनके चरणों में हिन्दी विषय के अध्ययन की लालसा जगी। वे कहीं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक थे। उस समय सन् ३५-३६ व सन् ३६-३७ में श्रद्धेय बाबू श्यामसुन्दर दास विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। श्रद्धेय पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' व श्रद्धेय श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल भी उसी समय विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की सेवा कर रहे थे। पूज्यपाद महामना मालवीय जी ने चुन-चुन कर देश के सर्वोत्कृष्ट विद्वानों द्वारा विश्वविद्यालय को विभूषित किया था। ऐसे विद्वानों के दर्शन मात्र से महान् प्रेरणा मिलती थी।

इण्टर उत्तीर्ण कर लेने के पश्चात् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बी० ए० की शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ। बी० ए० में मैंने अपने पूर्व सपनों को साकार करने के उद्देश्य से हिन्दी विषय भी लिया। उस समय आचार्य शुक्ल जी बी० ए० की कक्षाओं को हिन्दी कविता पढ़ाते थे। उनको देखकर ही लगता था कि वे कोई गम्भीर विचारक हैं। मध्यम कद, अच्छा स्वस्थ शरीर, भरा चेहरा, बड़ा मस्तक, रक्तिम आभा लिए आँखें, उन पर चमकता हुआ चश्मा, अच्छी पोशाक से शुक्ल जी का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली लगता था। वास्तव में शुक्ल जी की रचनाओं की तरह सौष्ठव उनके व्यक्तित्व में भी था। वे हिन्दी के डॉ० जानसन देखने में भी लगते थे।

शुक्ल जी प्रायः रिक्शे से कॉलेज आते थे। रिक्शे से उतर कर एक बेंत लिए धीरे-धीरे कॉलेज की सीढ़ियों से चढ़कर हिन्दी-विभाग के कक्ष में प्रवेश करते थे। हिन्दी विषय की कक्षाएँ प्रायः हिन्दी विभाग के कक्ष के पास के कमरों में ही लगती थीं। हिन्दी का घंटा प्रारंभ

होते ही शुक्ल जी कक्षा की उपस्थिति-पंजी तथा पढ़ाने की पुस्तक लिए कक्षा में प्रवेश करते थे और विद्यार्थियों की उपस्थिति अंकित कर पढ़ाना प्रारंभ कर देते थे। उन्होंने विद्यार्थियों से यह कभी नहीं पूछा कि आज कहाँ से पढ़ाना है। जहाँ पिछले दिन पाठ समाप्त किया था उसके आगे से वे पढ़ाना प्रारंभ कर देते थे।

शुक्ल जी के अध्यापन की एक मुख्य विशेषता यह थी कि वे अपने को पाठ्य-विषय की समीक्षा तक ही सीमित रखते थे। जब वे किसी कविता का अर्थ बतलाते तब वे उस कविता के कठिन शब्दों का अर्थ, कविता का भावार्थ, उसकी कोई काव्यगत विशेषता जैसे अलंकार आदि अच्छी तरह समझाते थे। इधर-उधर की बहुत सी बातें वे उसके साथ नहीं जोड़ते थे जिससे कविता की असलियत ही छूट जाय। उनका कहना था कि बहुत से शिक्षक हर बात को पढ़ाने में सृष्टि के प्रारंभ से शुरू करते हैं। इससे विद्यार्थी झमेले में पड़ जाते हैं।

शुक्ल जी की अध्यापन-शैली आजकल की भाषण शैली नहीं थी जिसमें प्राध्यापक मंच-वक्ताओं की तरह जोर-जोर से बोलते हैं और सम्बन्धित विषय पर लम्बा चौड़ा भाषण देते हैं। इससे सम्पूर्ण पाठ्यक्रम के साथ न्याय नहीं होता। शुक्ल जी मंच (डायस) के ऊपर रखी एक कुर्सी में बैठ कर ही पढ़ाते थे। वे समझाते थे, भाषण नहीं देते थे। बोलने में कुछ घूंट-सा लीलते थे। उनके विषय में प्रसिद्ध है—

He Writes like an angel and speaks like a poor Poll.

शुक्ल जी कक्षा में खूब हँसते-हँसाते भी थे। मुझे दो एक प्रकरण स्मरण हैं जब बी० ए० द्वितीय वर्ष के विद्यार्थी कक्षा में हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये थे। शुक्ल जी भी हँसते-हँसते अपनी कुर्सी में कूद से रहे थे। एक प्रसंग श्रीरामचन्द्रिका में उस समय का था जब राम, सीता, और लक्ष्मण बनवास के समय मार्ग में चलते थे और जिन गाँवों के निकट से वे जाते थे वहाँ की स्त्रियाँ उन्हें देखकर उनकी सुन्दरता पर मुग्ध होती थीं और आपस में उनके सम्बन्ध में बातचीत करती थीं। सीता जी का मुख-वर्णन वे इस प्रकार करती हैं—

एकै कहैं अमल-कमल मुख सीता जू को,
एकै कहै चंद्र सम आनंद को कंद री।
होय जो कमल तो रयनि में न सकुचै री,
चंद जो तौ वासर न होत दुति मंद री।
वासर ही कमल रजनि ही मैं चंद्र,
मुख वासर हू रजनि विराजै जगबंद री।
देखे मुख भावै अनदेखेई कमल चंद,
ताते मुख मुखै सखी कमलै न चंद री।।

इसका अर्थ समझाते हुए शुक्ल जी ने कहा "देखिए केशवदास जी का प्रकृति-प्रेम। हम लोगों को चन्द्रमा और कमल देखने में अच्छे लगते हैं किन्तु केशवदास जी को वे देखने में अच्छे नहीं लगते। वे तो बिना देखे—पढ़ने या सुनने से अच्छे लगते हैं। किन्तु मुख उन्हें देखने में

अच्छा लगता है। इसलिए मुख की उपमा न चन्द्रमा से दी जा सकती न कमल से। मुख देखने के लिए तो केशवदास जी कुओं पर जाकर बैठा करते थे। एक बार एक स्त्री ने उन्हें बाबा कह दिया। इस पर केशवदास जी को बहुत क्षोभ हुआ और उन्होंने वह क्षोभ निम्नलिखित दोहे से प्रगट किया—

केशव केसनि अस करी जस अरिहु न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी बाबा कहि-कहि जाहिं॥

शुक्ल जी स्वयं भी हँसते तो खूब थे पर उनकी हँसी की एक विशेषता थी कि हँसते समय उनके दाँत नहीं दिखाई पड़ते थे। उनका हास्य संयमित या स्मितासा था, जो उनकी रचनाओं में भी दिखाई पड़ता है। शुक्ल जी मर्यादावादी थे और मर्यादा का पालन उन्होंने अपने सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार में किया।

शुक्ल जी के हास्य की एक विशेषता और थी। हँसने-हँसाने के बाद वे पुनः पूर्ववत् गंभीर हो जाते थे यह नहीं था कि वे बीच-बीच में हँसते ही रहें। थोड़े समय हँसने के बाद ज्यों-के-त्यों—वही चिन्तनशील मुखाकृति, वही गंभीरतापूर्ण प्राध्यापन।

श्री रामचन्द्रिका पढ़ाने में जहाँ कहीं भोजन का प्रसंग आता था उसको समझाने में भी शुक्ल जी खूब हँसते-हँसाते थे। कहा करते थे कि "केशवदास जी का मन नाना प्रकार के व्यंजनों, षट्रस युक्त भोजन के वर्णन में बहुत लगता है। बात यह है कि वे ओरछा-नरेश के दरबार में रहते थे जहाँ उन्हें अच्छा-अच्छा भोजन मिलता था।" श्री रामचन्द्रिका के तीसवें प्रकाश में छप्पन प्रकार के भोजन का वर्णन है।

शुक्ल जी का हृदय अपने विद्यार्थियों के प्रति प्रेम से लबालब भरा था। दो वर्षों में ऐसा कभी कोई प्रसंग नहीं आया जब किसी विद्यार्थी के प्रति शुक्ल जी ने खिन्नता व्यक्त की हो। कोई विद्यार्थी यदि उनसे कोई शंका निवारणार्थ कुछ पूछता तो वे उसे अपने उत्तर से सन्तुष्ट करते थे। वैसे शुक्ल जी इतनी स्पष्ट शैली में पढ़ाते थे कि ऐसे अवसर बहुत कम आते थे जब कोई विद्यार्थी विषयान्तर्गत कोई सन्देह लेकर शुक्ल जी से कोई प्रश्न करता। श्रद्धेय बाबू श्यामसुन्दर दास व बड़थ्वाल जी तो कभी-कभी यह कहकर शंका समाधान किया करते थे कि शुक्ल जी की यही राय है।

शुक्ल जी प्राध्यापन-कार्य में पूर्णरूपेण व्यावहारिक थे। वे इस बात का सदैव ध्यान रखते थे कि विद्यार्थियों को परीक्षा उत्तीर्ण करना है और वास्तव में यही उनका मुख्य उद्देश्य है। अतएव निर्धारित पाठ्यक्रम समय से पूरा हो और पाठ्यक्रम सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण (परीक्षा कीदृष्टि से महत्त्वपूर्ण) प्रश्नों की कक्षा में अच्छी तरह चर्चा हो जाय यह शुक्ल जी नहीं भूलते थे। मुझे स्मरण है शुक्ल जी की कक्षा में हिन्दी विषय में पाठ्यक्रम प्रायः समाप्त हो रहा था। प्रिपरेशन लीव होने वाली थी। कक्षा में हम लोगों ने शुक्ल जी से कहा—"पंडित जी कुछ इम्पारटेन्ट बता दीजिए।" शुक्ल जी ने पूछा "आप लोगों की प्रिपरेशन लीव कब से होने वाली है?" हम लोगों ने उत्तर दिया—"पंडित जी, कल से।" शुक्ल जी ने कहा "क्या आप

लोग दो-तीन दिन के लिए कॉलेज आ सकते हैं?" हम लोगों ने कहा, "जी हाँ पंडित जी आ सकते हैं।" शुक्ल जी ने कहा, "तो इसी समय यहाँ आ जाइये।" हम लोग प्रायः सभी विद्यार्थी निर्धारित समय पर कॉलेज पहुँच जाते। शुक्ल जी ने गोस्वामी तुलसीदास की गीतावली, जायसी की पद्मावत और केशवदास जी की श्रीरामचन्द्रिका पर कुछ अच्छे प्रश्न और उनके उत्तर हम लोगों को लिखवा दिये और कुछ प्रश्नों को मौखिक रूप से समझा दिया और हम लोगों को मौन आशीर्वाद देकर विदा कर दिया।

परीक्षा में हिन्दी पद्य प्रश्न-पत्र में शुक्ल जी के लिखाये गये और समझाये गये दो-तीन प्रश्न फँसे ही और हम लोगों ने उन्हें अच्छी तरह किया। परीक्षा के बाद जब हम लोग परीक्षा कक्ष से बाहर निकले तब मेरे रीवां के एक साथी श्री देवेन्द्र सिंह (जज साहब, खेद है कि अब वे नहीं रहे) ने मेरा नाम लेकर मुझसे पूछा—'कहीं कईसन पर्चा रहा?' मैंने उत्तर दिया 'पर्चा तो वहुत अच्छा रहा पर का बताई रटा नहीं रहा।' देवेन्द्र बाबू ने कहा 'काहे।' मैंने कहा 'हम नहीं जानत रहेन कि ओई प्रश्न आय जइहैं।' देवेन्द्र बाबू ने हँस कर कहा—"हम तो जानत रहेन, शुक्ल जो भला विद्यार्थिन का प्रपरेशन लीव का समय व्यर्थ काहे का लेय लगे।" इस तरह मजे से बातचीत करते हुए हम लोग अपने-अपने स्थानों की ओर चले गये। हिन्दी के सभी विद्यार्थी प्रसन्न थे और उस वर्ष शायद ही हिन्दी का कोई विद्यार्थी अनुत्तीर्ण रहा हो। इतना महान् विचारक और चिन्तनशील व्यक्ति और उसकी यह व्यावहारिकता। वास्तव में शुक्ल जी की यह हार्दिक इच्छा रहा करती थी कि हिन्दी विषय में कोई भी विद्यार्थी अनुत्तीर्ण न हो। यह था उनका मानवीय दृष्टिकोण। यह था उनके मस्तिष्क और हृदय का सामंजस्य।

हम जानते हैं कि शुक्ल जी की आलोचना प्रणाली अंग्रेजी-साहित्य की आलोचना-प्रणाली से बहुत प्रभावित है। इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी अंग्रेजी-साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। उनके ग्रन्थों में कहीं-कहीं अंग्रेजी-साहित्य के उद्धरण भी मिलते हैं। उनके 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के आधुनिक खंड में अंग्रेजी के ऐसे समीक्षक जैसे रिचर्ड्स, स्पिगर्न, ब्रैडले व उसी साहित्य के ऐसे कवि जैसे शेक्सपियर, वर्ड्सवर्थ, शेली व कीट्स आदि के संदर्भ मिलते हैं। पर आश्चर्य का बात है कि कक्षा में पढ़ाते समय शुक्ल जी अंग्रेजी के रोजमर्रा के शब्दों का भी प्रयोग कभी नहीं करते थे। उस समय तो अंग्रेजों का शासन था और इस देश के शिक्षित लोगों पर अंग्रेजी भाषा का अच्छा प्रभाव था। लोग बात-बात में प्लीज़, थैंक यू, सॉरी ऐसे शिष्टाचार के शब्दों का प्रयोग करने में आत्मसम्मान का अनुभव करते थे। पर मुझे स्मरण नहीं है कि शुक्ल जी ने कक्षा में कभी भी इन शब्दों तक का प्रयोग किया हो। वे विशुद्ध हिन्दी बोलते थे। उनमें अंग्रेजियत छू तक नहीं गयी थी।

शुक्ल जी का जीवन सेवा और त्याग का था। हिन्दी-साहित्य की सेवा उन्होंने जीवन भर की और उसे समृद्ध बनाने में उन्होंने अपना सराहनीय योगदान दिया। तुलसी, सूर और जायसी पर उनके आलोचनात्मक ग्रन्थ उनका हिन्दी साहित्य का इतिहास, उनका हिन्दी शब्द-कोश, उनके विचारात्मक निबंध (विचार-वीथी) उनका ग्रन्थ 'काव्य में रहस्यवाद' तथा

उनका काव्य-ग्रन्थ 'बुद्ध चरित' हिन्दी साहित्य की स्थायी निधि हैं। प्राध्यापक के रूप में उन्होंने जो सेवाएँ की उससे न मालूम कितने अच्छे साहित्यकार निकले जिन्होंने हिन्दी साहित्य की सेवा की और उसे राष्ट्र-भाषा का पद दिलाने में अपना योगदान दिया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में शुक्ल जी का प्राध्यापक-कार्य तो पूर्णरूपेण सेवा-कार्य ही था। उसमें तो आर्थिक आकर्षण का प्रश्न ही नहीं था। देश के अन्य किसी भी विश्वविद्यालय में हिन्दी के ऐसे महारथी का अत्यन्त आकर्षक आर्थिक दशाओं के साथ स्वागत किया जाता किन्तु शुक्ल जी ने सेवा-कार्य ही अपनाया। यह उनकी महानता थी।

वीणा-वादिनि के ऐसे सच्चे उपासक को शत-शत नमन्, शत-शत प्रणाम।

—अवकाश प्राप्त प्राचार्य
चँदिया
जिला—शहडोल (म० प्र०)

आचार्य शुक्ल की पाठ-दृष्टि

श्रीमती मंजू भार्गव

⊙

आचार्य शुक्ल की दृष्टि सारग्राहिणी एवं छिद्रान्वेषी थी। विषय के अन्तस्तल में प्रवेश कर, गहराई में पैठ कर, बारीकी से छान-बीन कर वे मरजिया की भाँति रत्नों को खोज लाये।

उनकी पाठ-दृष्टि भी अन्तर्भेदिनी थी, जिसके द्वारा उन्होंने जायसी, तुलसी, नूर-मुहम्मद आदि की रचनाओं का पाठोद्धार किया।

पाठ-दृष्टि से मेरा तात्पर्य पाठालोचन से है—अर्थात् कई मुद्रित-हस्तलिखित प्रतियों को सामने रख कर पाठ सम्पादित करना। शुक्ल जी का सम्पादन इसी प्रकार का है। ध्यातव्य है कि मात्र 'जायसी-ग्रन्थावली' ही उनका एकल संपादन है एवं शेष दो संयुक्त सम्पादन। अतएव पाठ-दृष्टि से विचारणीय केवल 'जायसी-ग्रन्थावली' और उसमें भी अभीष्ट 'पदमावत' के पाठ हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रक्रिया से सम्पादित एवं डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा व्याख्यायित-विश्लेषित होने के बाद भी शुक्ल जी द्वारा संपादित पाठ का कितना औचित्य है—इस पर मैं प्रस्तुत-लेख में विचार होगा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आश्विन संवत् १९८० (सन् १९२३) से 'पदमावत' तथा 'अखरावट' नामक कृतियाँ सम्पादित कर के नागरी प्रचारिणी सभा, काशी को प्रकाशनार्थ दे दी थी। कार्त्तिक संवत् १९८० से इनका मुद्रण कार्य शुरू हो गया तथा ९६, ९६, ९६ तथा ८४ पृष्ठों के केवल पाठ-विषयक चार खण्ड प्रकाशित हुए। फिर २५५ पृष्ठों की भूमिका तथा ९ पृष्ठों के वक्तव्य से युक्त 'जायसी-ग्रन्थावली' कृष्ण जन्माष्टमी संवत् १९८१ (सन् १९२४) को प्रकाश में आयी। इस संस्करण के पूर्व 'पदमावत' के निम्नलिखित संस्करण प्रकाशित हो चुके थे—

(१) पदुमावति—नस्तालीक लिपि, अठपेजी, संपादक (?) लाहौर, सन् १८४४।[1]

(२) पदुमावति : नस्तालीक लिपि, अठपेजी ३६० पृष्ठ, संपादक—सैयद हसन अली, मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, हिज्री सन् १२८२ (ई० १८६५)।

---

१. गार्सा द तासी : इस्त्वार द ल लितरेत्यूर ऐंदूई ऐं ऐंदूस्तानी (हिन्दी अनुवाद) इलाहाबाद, ई० सन् १९५३, पृ० ८६।

(३) पदमावत भाषा—देवनागरी लिपि, अठपेजी, संपादक रामरत्न बाजपेयी, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सन् १८८१।

(४) पदमावत—देवनागरी लिपि, संपादक पं० रामजसन मिश्र, चन्द्रप्रभा प्रेस, काशी, सन् १८८४।

(५) पदुमावति—देवनागरी लिपि, संपादक (?) बंगवासी फर्म, कलकत्ता, ई० सन् १८९६।

(६) पदमावत—नस्तालीक लिपि, संपादक मुंशी अहमद अली, कानपुर, हिज्री सन् १३२३ (सन् १९०५ ई०)।

(७) पदुमावति—देवनागरी लिपि, संपादक सर जार्ज ग्रियर्सन तथा पं० सुधाकर द्विवेदी, रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, कलकत्ता, सन् १९१०।

उपर्युक्त में से तीसरे-चौथे, छठे तथा सातवें संस्करणों का शुक्ल जी ने पाठ-संपादन में उपयोग किया।

किसी भी ग्रन्थ के संपादन के पूर्व प्रयुक्त सामग्री का परिचय देना आवश्यक होता है। शुक्ल जी ने भी इस पद्धति को अपनाया। सामग्री का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है—"इस ग्रन्थ के चार संस्करण मेरे देखने में आये हैं—एक नवलकिशोर प्रेस का, एक पं० रामजसन मिश्र संपादित काशी के चन्द्रप्रभा प्रेस का, एक कानपुर के किसी पुराने प्रेस का, फारसी अक्षरों में और चौथा म० म० पंडित सुधाकर द्विवेदी और डॉ० ग्रियर्सन द्वारा संपादित रॉयल एशियाटिक सोसाइटी का, जो पूरा नहीं तृतीयांश मात्र है। इनमें से प्रथम दो संस्करण तो किसी काम के नहीं, एक चौपाई का पाठ तक शुद्ध नहीं, शब्द बिना इस विचार के रखे हुए हैं कि उनका कुछ अर्थ भी हो सकता है या नहीं। कानपुर वाले उर्दू-संस्करण को कुछ लोगों ने अच्छा बताया पर देखने पर वह भी इसी श्रेणी का निकला।"[1] आगे वे लिखते हैं—

"'पदमावत' की चार छपी प्रतियों के अतिरिक्त मेरे पास कैथी लिपि में लिखी एक हस्तलिखित प्रति भी थी, जिससे पाठ के निश्चय करने में बड़ी सहायता मिली।"[2]

सामग्री-परिचय के बाद पाठ-सम्पादन के सिद्धान्तों का निरूपण आवश्यक होता है। शुक्ल जी ने भी सम्पादन-पथ में आने वाली कठिनाइयों का उल्लेख करते समय अनायास सिद्धान्तों का निरूपण भी किया है।

(१) "पाठ के सम्बन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि वह अवधी व्याकरण और उच्चारण तथा भाषा-विकास के अनुसार रखा गया है।[3]

२. "उस समय चलती भाषा में 'अइ' तथा 'अउ' के 'अ' और 'इ' तथा 'अ' और

---

१. रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, ई० सन् १९२४, वक्तव्य, पृ० १।

२. वही, पृष्ठ ६।

३. वही, पृष्ठ ६।

'उ' के पृथक्-पृथक् स्फुट उच्चारण नहीं रह गये थे, दोनों स्वर मिलकर 'ऐ' और 'औ' के समान उच्चरित होने लगे।"[1]

३. "अवधी भाषा में शब्द के आदि के 'ऐ' और 'औ' का अधिकतर पूरबी (अइ तथा अउ) तथा अंत में पड़ने वाले 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण पच्छिमी ढंग (अय तथा अव) होता है।"[2]

४. "हि' विभक्ति का प्रयोग प्राचीन पद्धति के अनुसार जायसी में सब कारकों के लिए मिलेगा।"[3]

५. "सम्बन्धवाचक सर्वनाम के लिए 'जो' रखा गया है और 'यदि' या 'जब' के अर्थ में अव्यय रूप 'जौ'।"[4]

६. "जब एक ही कवि की रचना में नये और पुराने दोनों रूपों का प्रयोग मिलता है, तब यह निश्चित है कि नये रूप का प्रचार कवि के समय में हो गया था और पुराने रूप का प्रयोग या तो उसने छंद की आवश्यकतावश किया है अथवा परंपरा-पालन के लिए।"[5]

७. "जायसी के ग्रन्थ फारसी लिपि में लिखे गये थे। हिन्दी-लिपि में उन्हें पीछे से लोगों ने उतारा है। इससे एक ही शब्द को किसी ने एक रूप में पढ़ा, किसी ने दूसरे रूप में। अतः बहुत स्थलों पर इस प्रक्रिया से काम लेना पड़ा है कि अमुक शब्द फारसी-अक्षरों में लिखे जाने पर कितने प्रकार से पढ़ा जा सकता है। काव्य-भाषा के प्राचीन स्वरूप पर भी पूरा ध्यान रखना पड़ा है।"[6]

इसके अतिरिक्त उन्होंने पूर्ववर्ती मुद्रित संस्करणों के अर्थों को भ्रान्तिपूर्ण बतलाया है। स्पष्ट है कि शुक्ल जी का गन्तव्य संकटाकीर्ण था। तभी तो उन्हें किसी-किसी चौपाई का पाठ और अर्थ निश्चित करने में कई दिन लग गये। हस्तलेख के नाम पर केवल कैथी लिपि में लिखित एक प्रति थी, जिसकी उन्होंने कोई विशेष जानकारी नहीं दी। फिर भी उन्होंने तथाकथित भ्रष्टपाठयुक्त प्रतियों तथा हस्तलिखित प्रतियों के पाठों की तुलना करके पाठ-निर्धारण का प्रयास किया है।

अब हम उनके द्वारा निर्धारित पाठ के औचित्य पर विचार करेंगे। [पंक्ति-पाठ शुक्ल जी के संस्करण से तथा पाठान्तर डॉ० गुप्त तथा डॉ० अग्रवाल के संस्करण और कहीं-कहीं शुक्ल जी के संस्करण से दिये जा रहे हैं]

---

१. रामचन्द्र शुक्ल--जायसी ग्रन्थावली काशीनागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, ई० सन् १९२४, वक्तव्य, पृष्ठ ६-७।

२. वही, पृष्ठ ८।

३. वही, पृष्ठ ८।

४. वही, पृष्ठ ८।

५. वही, पृष्ठ ७-८।

६. वही, पृष्ठ ९।

[१] सेरसाहि सरि पूजन कोऊ। समुद सुमेर भँडारी दोऊ॥[१]

पाठान्तर—समुँद सुमेरु घटहिं नित दोऊ।

इस कड़वक में शेरशाह की दानशीलता का वर्णन है। विधाता ने शेरशाह के रूप में संसार में बहुत बड़ा दानी बनाया। उसके समान संसार भर में किसी ने दान नहीं दिया। राजा बलि और विक्रमादित्य बहुत बड़े दानी थे। हातिमताई और कर्ण भी बहुत प्रसिद्ध दानी हो गये हैं। परन्तु इनमें से कोई भी शेरशाह की समानता नहीं कर सकता, क्योंकि समुद्र और सुमेरु दोनों ही उसके खजांची हैं—अर्थात् वह समुद्र से रत्न और सुमेरु से सोना लेकर सबको दान किया करता है।

डॉ० गुप्त द्वारा प्रस्तावित पाठ लेने पर उक्त पंक्ति का अर्थ हुआ—"(परन्तु दानशीलता में इनमें से) कोई भी शेरशाह की समानता नहीं कर सकता; (क्योंकि) समुद्र के रत्न और सुमेरु का सोना उसके दान से नित्य घटते जाते हैं।" प्रश्न उठता है कि दानशीलता के प्रसंग में कमी का क्या औचित्य? अर्थ एवं पूर्वापर प्रसंग की दृष्टि से पंक्ति के पूर्वार्द्ध की उत्तरार्द्ध से संगति नहीं बैठती है। इस संदर्भ में शुक्ल जी द्वारा प्रयुक्त 'भंडारी' शब्द प्रसंगसम्मत एवं सार्थक है और भंडारी के पास कमी होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

[२] नारँग नींबू सुरंग जँभीरा। औ बदाम बहु भेद अँजीरा॥[२]

पाठान्तर—औ बादाम बेद अंजीरा।

डॉ० गुप्त तथा डॉ० अग्रवाल ने 'बेद' पाठ स्वीकृत करते हुए, इस शब्द का अर्थ 'बेर' किया है, किन्तु इसी कड़वक की छठीं पंक्ति में 'राय करौंदा बेर चिरौंजी' 'बेर' शब्द प्रयुक्त है। एक ही कड़वक में एक फल के दो बार नाम आने का कोई औचित्य नहीं है। वस्तुतः मूल पाठ में 'भेद' शब्द होगा, जो फ़ारसी लिपिजनित विकृति के कारण डॉ० गुप्त द्वारा 'बेद' पढ़ लिया गया।

[३] असकै मंदिर सँवारैं जनु शिवलोक अनूप।[३]

पाठान्तर—अैहिक पंथ सँवारहिं।

अर्थ—सिंहल के मंदिर इस प्रकार सजे हुए हैं, मानो अनुपम शिवलोक हो।

गुप्त जी का पाठ ग्रहण करने पर अर्थ होगा—इस लोक (सिंहल) के मार्ग इस प्रकार सँवारे गये हैं मानो अनुपम शिव-लोक हो। यह अर्थ बुद्धिबोध्य नहीं है। प्रसंग यदि शिवलोक के स्थान पर इन्द्रलोक होता तो इस पाठ एवं तज्जनित अर्थ का औचित्य था। वस्तुतः 'असकै मंदिर' के स्थान पर 'अैहिक पंथ' नागरीलिपिजनित विकृति का परिणाम है।

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रन्थावली; काशी नागरी प्रचारणी सभा, प्रथम संस्करण, ई० सन् १९२४, (स्तुति खंड), छंद १७-२, पृष्ठ ७।

२. वही, (सिंहल दीप-वर्णन-खण्ड), छंद १०-२, पृष्ठ १४।

३. वही, (सिंहल द्वीप-वर्णन-खंड), दोहा १२, पृष्ठ १५।

[४] कंचन कोट जरे नग सीसा। नखतहिं भरी बीजु जनु दीसा॥[1]

पाठान्तर—(डॉ० अग्रवाल)—कंचन कोट जरे कौसीसा।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पदमावत' के संजीवन-भाष्य में 'नगसीसा' के स्थान पर 'कौसीसा' पाठ का सुझाव दिया है। उन्होंने 'कौसीसा' का संस्कृत रूप 'कपि शीर्षक' मानते हुए इस पाठ के औचित्य पर निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं—

"सोने के परकोटे पर रत्नजनित कपि-शीर्षक के लिए कवि की उत्प्रेक्षा है, मानो नक्षत्र भरे आकाश में बिजली कौंध रही हो।...मनेर शरीफ की प्रति में 'कौसीसा' पाठ है। 'कौसीसा' अत्यन्त प्राचीन पारिभाषिक शब्द था।"

'कौसीसा' पाठ की संभावना कोट के प्रसंग में अवश्य विचारणीय है। पूरी पंक्ति का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने इस प्रकार किया है—

"कंचन के कोट पर जड़े हुए कँगूरे हैं। वह ऐसा दिखायी देता है, मानो नक्षत्रों से भरे आकाश में बिजली चमकती हो।"

ध्यातव्य है कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी 'नगसीसा' को ही स्वीकृत पाठ में रखा है और 'कौसीसा' को पाठान्तर में, क्योंकि यह पाठ का साक्ष्य पाठ-सम्बन्ध की दृष्टि से स्पष्टतया दृढ़तर है। वस्तुतः 'नगसीसा' का 'कौसीसा' फारसीलिपिजनित विकृति का परिणाम है। डॉ० अग्रवाल द्वारा प्रस्तावित 'कौसीसा' पाठ ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। पाठ को स्वीकार करने में कठिनाई यह है कि 'नगसीसा' के पूर्वस्थित कर्मविहीन सकर्मक जर का प्रयोग रचना में अन्यत्र नहीं मिलता है। 'सीसा' वस्तुतः कपिशीर्षक है ही, इसलिए डॉ० अग्रवाल द्वारा प्रस्तावित 'कौसीसा' ग्राह्य नहीं प्रतीत होता।

[५] एक दिवस पून्यो तिथि आई। मानस रोदक चली न हाई॥

पाठान्तर—एक दिवस कौनिउँ तिथि आई। मान सरोदक चली अन्हाई॥

पाठालोचन का यह नियम है कि कठिन पाठ को सरल की अपेक्षा वरीयता देकर ग्रहण करना चाहिए। 'कौनिऊँ' 'पून्यो' की अपेक्षा कठिन पाठ था। अतएव डॉ० गुप्त एवं डॉ० अग्रवाल ने इसे गृहीत किया। इस पाठ के ग्राह्याग्राह्यत्व के विषय में दो बातें विचारणीय हैं—(१) प्रतियों का साक्ष्य (२) अन्तस्साक्ष्य।

डॉ० गुप्त को अपने द्वारा प्रयुक्त प्रथम पीढ़ी की तृ० १ प्रति तथा द्वितीय पीढ़ी की द्वि० ३ प्रति में 'पून्यो' पाठान्तर मिला। ये दोनों ही प्रतियाँ पाठ-सम्बन्ध की दृष्टि से भिन्न शाखा की प्रतियाँ हैं, जिनका संकीर्ण या प्रक्षेप संबंध भी नहीं है। दो स्वतन्त्र शाखाओं की प्रतियों में मिलने वाले इस अधिक सार्थक पाठ को सरलता से छोड़ा नहीं जा सकता।

अब अन्तस्साक्ष्य भी विचारणीय है। पदमावती के मानसरोवर में स्नान के

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रन्थावली, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, ई० सन् १९२४, (सिंहलद्वीप-वर्णन खंड), छंद १६-६, पृष्ठ १७।

२. वही, (मानसरोदक-खड), छंद १-१, पृष्ठ २६।

लिए जाते समय जायसी ने कोई निश्चित तिथि का प्रयोग अवश्य किया होगा, क्योंकि अन्यत्र उन्होंने ऐसा किया है—'कातिक सरद चंद उजियारी।' इसी मानसरोदक-स्नान के प्रसंग में प्रस्तुत कड़वक के चार कड़वक आगे वे लिखते हैं—

सरवर नहिं समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लेइ तारा॥
धनि सो नीर ससि तरई ऊई। अब कित दीठ कमल औ कूई॥
चकई बिछुरि पुकारै कहाँ मिलौं हो नाँह।
एक चाँद निसि सरग पर दिन दूसर जल माँह॥[1]

ये पंक्तियाँ पुकार-पुकार कर कह रही हैं कि उस दिन पूर्णिमा थी। इन पंक्तियों में भाव-सौन्दर्य, आलंकारिक सौन्दर्य एवं उक्ति-वैचित्र्य तभी है, जब यह माना जाय कि उस दिन पूर्णिमा थी।

वस्तुतः 'पून्यो' का 'कौनिउँ' पढ़ा जाना फारसीलिपिजनित विकृति का ही परिणाम है।

[६] यह धरती अस केतन लीला। 'पेट गाढ़ अस, बहुरि न ढीला'॥[2]

आचार्य शुक्ल को 'पेट गाढ़ अस, बहुरि न ढीला' का पाठान्तर 'असुपति, गजपति भूधर कीले' मिला, किन्तु उन्होंने इसे ग्रहण नहीं किया। प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ है—"इस धरती ने ऐसे कितनों को निगल लिया है और उसका पेट इतना गहरा है कि जो एक बार उसमें समाहित हो गया, वह फिर मुक्त न हो सका।" पाठान्तर का अर्थ हुआ—"इस धरती ने ऐसे कितनों को निगल लिया है, अश्वपति, गजपति, भूपति व दुर्गपति।" यहाँ उत्तरार्द्ध का अर्थगत कोई औचित्य नहीं है। छंदोगति, अर्थानुरोध या अर्थसंगति की दृष्टि से 'असुपति गजपति भूधर कीले' पाठ त्याज्य है। शुक्ल जी ने उचित पाठ का चयन किया है।

[७] 'डासन' सेज जहाँ किछु नाहीं। भुइँ परि रहै लाइ गिउ बाहीं॥[3]

अवतरित पंक्ति का अर्थ है—"जहाँ बिछौना और सेज कुछ भी नहीं है, उसके बिना मनुष्य गर्दन के नीचे बाँहें लगाकर भूमि पर पड़ा रह सकता है।" डॉ० अग्रवाल ने 'डासन' के स्थान पर 'दारा' पाठ दिया है। किन्तु कठिन पाठ होने के कारण 'डासन' पाठ ही ग्राह्य है। 'दारा' पाठ ग्रहण करने से अर्थ-सौन्दर्य भी विनष्ट होता है।

[८] पंडित तुम्ह (१) खंडित निरदोखा। पंडित हुतें परै नहि धोखा॥[4]

पाठान्तर—(१) (डॉ० गुप्त व डॉ० अग्रवाल)—दुख

पंक्ति का अर्थ है—"(हे हीरामन!) तू तो वैराग्य—खण्डित (कोई) निर्दोष पंडित था। पंडित से भी धोखा नहीं खाया जा सकता।" डॉ० अग्रवाल ने 'दुख' पाठ ग्रहण करते

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रन्थावली, काशी नागरी प्रचारणी सभा, प्रथम संस्करण, ई० सन् १९२४, (मानसरोदक-खंड), छंद, ५-६-७ व दोहा, पृष्ठ २७।

२. वही, (सुआ-खंड), छंद ३-७ पृष्ठ ३०।

३. वही, (बनिजारा खंड) छंद ७-४ पृष्ठ३५।

४. वही, (नागमति-सुवा-संवाद), छंद ४-३, पृष्ठ ३८।

हुए पंक्ति के पूर्वार्द्ध का अर्थ इस प्रकार किया है—"पंडित दुख से खण्डित और निर्दोष होता है।" इस अर्थ पर दृष्टिपात करने पर हमारी दृष्टि 'खंडित' शब्द पर केन्द्रित होती है। इसका स्पष्टीकरण जायसी ने दो छंद पूर्व ही कर दिया था—

यह पंडित खंडित बैरागू। दोष ताहि जेहि सूझ न आगू॥[1]

स्पष्ट है कि 'खंडित' से तात्पर्य वैराग्य खंडित पंडित से है। अतएव शुक्ल जी द्वारा गृहीत पाठ अधिक युक्तियुक्त है।

(९) हरै सो सुर चातक कोकिला। बिनु बसंत यह बैन न मिला॥[2]
पाठान्तर (डॉ० अग्रवाल)—'बीन बंसि वह बैनु न मिला।'

शुक्ल जी द्वारा संपादित पंक्ति का अर्थ है—"(पद्मावती के स्वर में इतनी अधिक मधुरता है कि) उसे चातक और कोकिला भी चुराने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि बिना बसन्त आये हुए उनको यह स्वर नहीं मिलेगा। डॉ० अग्रवाल द्वारा प्रस्तावित पाठ (जो ग्रियर्सन संस्करण, पृष्ठ १८६ का भी पाठ है) का निम्नलिखित अर्थ करना पड़ेगा—"पद्मावती की जिह्वा का स्वर चातक और कोकिला का स्वर भी हरण कर लेता है। वैसा स्वर वीणा और वंशी में भी नहीं मिलता।" कड़वक की तृतीय पंक्ति की सार्थकता शुक्ल जी का पाठ ग्रहण करने पर ही है।

[१०] धावन तहाँ पठावहु, देहिं लाख दस रोक।[3]

शुक्ल जी को 'रोक' का पाठान्तर 'थोक' मिला, किन्तु उसको उन्होंने ग्रहण नहीं किया। मनचाही वस्तु की प्राप्ति के लिए दस लाख नकद देने का तो औचित्य है, किन्तु दस लाख थोक का नहीं।

[११] अहुठ हाथ तन-सरवर, हिया कवँल तेहि माँह।[4]

'सरवर' के स्थान पर शुक्ल जी को 'तरिवर' पाठान्तर मिला। किन्तु 'कमल' सरोवर में खिलते हैं, न कि तरुवर पर।

(१२) गुपुत जो फूलि साँस परगटै। अब होइ सुमर दहहि हम्ह घटै॥[5]
पाठान्तर (डॉ० अग्रवाल)—गुपुत जो फल।

डॉ० अग्रवाल ने पाठान्तर को ग्रहण करते हुए निम्नलिखित अर्थ किया है—"जो फल (स्तन) गुप्त थे, वे गहरी उच्छ्वासों के साथ प्रकट हो रहे हैं, वे पूरे मर कर मानो पुनः घटना चाहते हैं।" शुक्ल जी द्वारा स्वीकृत पाठ का अर्थ है—"(पहले मेरी)। जो

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रन्थावली, काशी नागरी प्रचारणी सभा, प्रथम संस्करण, ई० सन् १९२४, (नागमती-सुवा-संवाद), छंद ४-३, पृष्ठ ३८।

२. वही, (नखशिख-खंड), छंद १०-२, पृष्ठ ४७।

३. वही, (प्रेम खंड) दोहा २, पृष्ठ ५३।

४. वही, (प्रेम-खंड), दोहा ३, पृष्ठ ५४।

५. वही (पदमावती वियोग-खंड), छंद ७-६, पृष्ठ ८१।

साँस गुप्त-सी रहती थी, अब वह विरह के आवेग के कारण फूल कर प्रकट हो जाती है—अर्थात् गहरी साँस निकलकर मेरे समस्त शरीर में भर जाती है और मेरे हृदय को दग्ध करती रहती है।

'गुपुत जो फूलि साँस' में अनुभूति की जो गहराई और स्वाभाविकता है, वह 'गुपुत सो फल' पाठ में नहीं है। सामान्य स्थिति में साँस धीमी चलकर गुप्त-सी रहती है, जबकि यौवनजनित विरह के उद्वेग में साँस गहरी होकर चलती है।

[१३] जौ जोगी सत बाँदर काटा......आपुहिं दाधे"[१]

—के आगे आचार्य शुक्ल को एक हस्तलिखित प्रति में चौपाइयाँ और मिलीं—

"राजा तोर हस्ति कर साईं। मोर जीउ यह एक गोसाईं॥
करकर है जो पाँव तर बारु। तेहि उठाइ कै करै पहारू॥
राज करत तेहि भीख मँगावें। भीख माँग तेहि राज दियावै।
मंदिर गहि उठावै नए। गढ़ करि गरब खेह मिलि गए॥"

अन्य प्रतियों में न मिलने के कारण आचार्य शुक्ल ने इन पंक्तियों को प्रक्षिप्त मानकर ग्रहण नहीं किया।

(१४) देखा चाँद सूर जस साजी। अस्टौ भाव मदन जनु जाजा॥

शुक्ल जी को 'अस्टौभाव' का पाठान्तर 'सहसौ भाव' मिला, जो फारसीलिपिजनित विकृति का परिणाम था। काम के आठ भाव ही हैं, न कि सहस्र। अतएव 'अस्टौ भाव' पाठ ही समीचीन एवं उपयुक्त है।

(१५) बारह अभरन सोरह सिंगारा। तोहि सौह नहिं ससि उजियारा॥
ससि सकलंक रहै नहिं पूजा। तू निकलंक न सरि कोई दूजा॥

पाठान्तर—१. तोहि सौं यह सारी संसारा। २. ससि सो कलंकी राहुहि पूजा।

आचार्य शुक्ल—'बारह आभरण और सोलह श्रृंगार (तुझे ही शोभा देते हैं)। तुम्हारे सौन्दर्य के समक्ष चन्द्रमा का सौन्दर्य फीका पड़ जाता है। चन्द्रमा कलंकी है और वह पूरा नहीं रहता, जबकि तुम निष्कलंकी हो और तुम्हारे समान कोई दूसरा नहीं है।'

डॉ० गुप्त—'बारह आभरण और सोलह श्रृंगार, हे शशि, यह तुझे ही संसार में शोभित होते हैं। वह चन्द्रमा कलंकी है और राहु को पूजता रहता है अर्थात् उसका ऋण भरा करता है।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने गुप्त जी का पाठ ग्रहण (करते हुए अंतिम पंक्ति का अर्थ किया है—'वह चन्द्रमा कलंकी है, इससे पूर्ण होने पर राहु ग्रस लेता है।'

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रन्थावली, काशी नागरी प्रचारणी सभा, प्रथम संस्करण, ई० सन् १९२४, (सजा-गढ़-छेंका-खंड), छंद ५-१-२, पृष्ठ १०२।

२. वही, (रत्नसेन पदमावति-विवाट) छंद ६-१, पृष्ठ १३३।

३. वही, (षट्ऋतु-वर्णन), छंद १-६-७, पृष्ठ १६०।

प्रथम पंक्ति के पाठ पर विचार करते समय ध्यान देने की बात यह है कि कवि ने अगली पंक्ति में पार्थिव चन्द्रमा से पदुमावति की तुलना करते हुए व्यतिरेक अलंकार प्रस्तुत किया है, जिसकी संगति आचार्य शुक्ल के पाठ के साथ अधिक ठीक बैठ जाती है। हाँ, 'उजियारा' की अपेक्षाकृत 'संसारा' अधिक संगत पाठ है।

द्वितीय पंक्ति में 'पूजना' क्रिया का गुप्तजी द्वारा निर्दिष्ट अर्थ, प्रयोग की दृष्टि से, चिन्त्य है। अवधी में प्रस्तुत शब्द का इस अर्थ में प्रयोग नहीं होता है। अतएव शुक्ल जी का पाठ श्रेष्ठ प्रतीत होता है। इस प्रकार 'पदुमावति' में और भी बहुत से स्थल ढूंढे जा सकते हैं।

आचार्य शुक्ल जी का संस्करण उनके अगाध पांडित्य एवं अनोखी सूझ-बूझ का परिणाम है, जबकि डॉ० गुप्त का संस्करण अथक परिश्रम एवं निर्वाध-निर्णय शक्ति का। दोनों विद्वान् अपनी-अपनी जगह ठीक हैं।

डॉ० अग्रवाल ने तो गुप्त जी के पाठ को थोड़े बहुत संशोधन के साथ ग्रहण करते हुए उसका संजीवन भाष्य प्रस्तुत किया है।

पाठालोचन वस्तुतः एक जटिल प्रक्रिया है, जहाँ विभिन्न शाखाओं की प्रतियाँ ही मूल पाठ की साक्षी होती हैं। शुक्ल जी का पाठ-निर्धारण अर्थानुसंगति पर आधृत था। कई स्थानों पर उनका पाठ गुप्त जी की अपेक्षा श्रेष्ठ भी है। असंभव नहीं कि पाठ के श्रेष्ठत्व का यह प्रयास प्रतिलिपिकारों द्वारा ही किया गया हो।

शुक्ल जी जायसी के मूल पाठ तक पहुँचे या न पहुँचे हों; किन्तु सीमित साधनों में उनके श्रम की सराहना तो करनी ही पड़ेगी।

द्वारा, भार्गव चश्मेवाले
त्रिमुहानी
मीरजापुर (उ० प्र०)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : नवोत्थानवादी समीक्षा-पद्धति

डॉ० घनश्यामदास व्यास

आधुनिक युग में समीक्षा का प्रारम्भ, काव्य के बाह्य उपकरणों के विवेचन से हुआ था। इस समीक्षा-पद्धति को नवरीतिवादी समीक्षा पद्धति की संज्ञा प्रदान की गयी। समयानुसार समीक्षा के क्षेत्र में क्रमिक विकास हुआ एवं मिश्रबंधुओं की परिपाटी को त्यागते हुए समीक्षकों ने सामयिक तत्त्वों का समावेश करने के साथ-साथ साहित्य के अंतरंग पक्ष का विवेचन प्रारम्भ किया। जीवन के साथ साहित्य को नवीन आलोक मध्य विवेचित करना प्रारम्भ किया, जो नवोत्थानवादी समीक्षा-पद्धति के नाम से अभिहित हुई। काव्य के आदर्शवादी स्वरूप को अनुभूतियों की गहनता एवं व्यापक पृष्ठभूमि पर विवेचित करने की ओर समीक्षक उद्यत हुए हैं। समीक्षकों ने काव्य को लोकमंगल की भावना या साधना पर आधारित करते हुए मूल प्रवृत्ति की ओर बढ़ने का सफल प्रयास किया है। काव्य की आन्तरिक सौन्दर्य अनुभूति से सम्बन्धित है—विवेचित करते हुए रस को व्यापक भूमि पर प्रस्थापित करने की ओर समीक्षक अग्रसर हुए हैं। काव्य में अनुभूतिपूर्ण भावों के परिणाम स्वरूप ही साधारणीकरण होता है एवं इस सामाजिक दृष्टि से व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार समीक्षा की विकसित पद्धति, नवोत्थानवादी समीक्षा-पद्धति रस-व्यवस्था को सामाजिक भावभूमि पर प्रस्थापित करने की ओर ग्रश्रित हुई है। साहित्य चर्चा एवं परीक्षण के साथ समीक्षा में नीतिपरकता विशिष्टरूप से परिलक्षित हुई है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं उनके समकालीन समीक्षकों के समीक्षा-कार्य का विकासात्मक स्वरूप नवरीतिवादी समीक्षा-पद्धति से पुष्ट होता हुआ, नवोत्थानवादी समीक्षा-पद्धति की ओर अग्रसर हुआ है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने समसामयिकता के रूप में रस की उपयोगिता के महत्त्व का विवेचन किया है। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने साहित्यालोचन के माध्यम से केवल साहित्य-सिद्धान्तों का परिचय कराया है। आपने कबीर-ग्रन्थावली आदि ग्रंथों की भूमिकाओं के माध्यम से भी नूतन विचारणाओं का विवरण मात्र दिया है। इसी समय हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में, जिसने प्रारम्भ में कहानी भी लिखी, कविता भी लिखी, उसका पदार्पण हुआ—वे हैं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का रस विवेचन भावों पर आधारित है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस को सामाजिक भावभूमि पर स्थापित किया है तथा रस को, अनुभूति के आधार पर नैतिक दृष्टि से आदर्शवादी स्वरूप प्रदान किया है। तुलसी के मर्यादावादी राम के आधार पर साहित्य में आदर्शवादी दार्शनिक मत को निरूपित करने का सद्प्रयत्न किया है, जो आध्यात्मिक कम, परन्तु सामाजिक भूमिका पर अधिक आधारित है। मैं यहाँ पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा-कार्य का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता हूँ।

समीक्षा-पद्धति—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी समीक्षा को नये आयाम प्रदान किये हैं। आपकी प्रौढ़ शैली एवं विचारों का प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुतीकरण पाठक को सहसा ही सहमत होने के लिए बाध्य कर देता है। आचार्य शुक्ल का रस-विवेचन आदर्शवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। सम्पूर्ण विवेचन मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत हुआ है। भावों का विवेचन, रस की व्याख्या मूलाधार है। आचार्य शुक्ल ने प्राचीन कवियों का विवेचन जिस प्रणाली एवं पद्धति से किया है, वह हिन्दी में प्रथमतः ही दृष्टिगोचर होती है। आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्थापित मत आज भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं एवं अकाट्य प्रतीत होते हैं। यही नहीं, अपितु उन्हीं के मतों के आधार पर आज प्राचीन कवियों के अनेक पक्षों का उद्बोधन किया जा रहा है। आचार्य शुक्ल ने निबंधों एवं भूमिकाओं के माध्यम से साहित्य-सिद्धान्तों का मौलिक ढंग से विवेचन किया है। शुक्ल जी का सम्पूर्ण समीक्षात्मक विवेचन नूतनोन्मेष विचारसरणि से सम्बद्ध है, जो हिन्दी समीक्षा की अमूल्य निधि है। आपका समीक्षण-कार्य नवोत्थानवादी समीक्षा पद्धति के अन्तर्गत ही आता है।

समीक्षा-कार्य—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों को समृद्ध करती है। शुक्ल जी के समीक्षा-कार्य की ओर ध्यान दिया जाय तो विदित होता है कि आपने तीनों रूपों में समीक्षाएँ प्रदान की हैं—१. पुस्तकों, २. निबंधों, एवं ३. भूमिकाओं के माध्यम से।

आचार्य शुक्ल की 'रस-मीमांसा' पुस्तकाकार रूप में है। इसमें रस विवेचन मौलिक दृष्टि से विवेचित है। आंशिक रूप में अन्य पक्षों का भी विवेचन किया गया है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'-इतिहास है, परन्तु स्थान-स्थान पर समीक्षा के शास्त्रीय एवं व्यावहारिक पक्ष परिलक्षित होते हैं। वृहद् ग्रंथ में शुक्ल जी ने आदि काल से लेकर अद्यतन काल तक के प्रायः सभी प्रमुख कवियों, नाटककारों, उपन्यासकारों, निबन्धकारों की साहित्यिक विधाओं का विवेचन प्रस्तुत किया है।

'भ्रमर गीत सार', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'जायसी ग्रंथावली' आदि ग्रंथों की भूमिकाएँ समीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। 'भ्रमर गीत-सार' की भूमिका के माध्यम से सूर एवं तुलसी के काव्य की अत्यन्त मार्मिक विवेचना शुक्ल जी ने प्रस्तुत की है। शुक्ल जी ने दोनों कवियों के भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष का विवेचन करते हुए, तुलनात्मक समीक्षा का सुन्दरतम स्वरूप परिपुष्ट किया है। 'जायसी ग्रंथावली' की सूफी काव्यपरंपरा का अन्यतम विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। 'जायसी' की प्रतिभा के ज्ञातव्य तथ्य हिन्दी साहित्य को

प्रस्तुत भूमिका के माध्यम से ही ज्ञात हो सके हैं। 'गोस्वामी तुलसीदास' शुक्ल जी की प्रभावशाली समीक्षात्मक कृति है। तुलसी के आदर्श एवं तुलसी के राम का विवेचन, जिस प्रकार शुक्ल जी ने प्रस्तुत किया है, वह अत्यधिक प्रभावपूर्ण एवं अद्भुत है तथा आज भी उसकी महत्ता अन्यतम है।

निबन्धों के संग्रह-चिन्तामणि भाग १ और २ की संज्ञा से प्रसिद्ध है।[१] चिन्तामणि में आचार्य शुक्ल का मौलिक चिन्तन निहित है। विभिन्न मानवीय भावों के विवेचन के मध्य आचार्य शुक्ल ने साहित्य सिद्धान्तों एवं साहित्य सम्बन्धी धारणाओं का तर्कपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। आपने पाश्चात्य सिद्धान्तों का प्रस्तुतीकरण भी समीक्षात्मक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए किया है।

समीक्षात्मक दृष्टिकोण : साहित्य सिद्धान्त एवं साहित्य सम्बन्धी धारणा—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मूलतः कविहृदय थे, भावुक थे। प्रारम्भ का कविहृदय जब समीक्षा क्षेत्र की ओर प्रवृत्त हुआ तो समीक्षा-साहित्य को भी रससम्पन्न करते हुए आगे बढ़ा है। परिणामतः काव्य-रस के सदृश्य समीक्षा को भी रसमय बना दिया। आचार्य शुक्ल की समीक्षाओं में हास्य-रस का सुन्दर एवं अपूर्व परिपाक दृष्टिगत होता है जिसका अनुभव सहृदय पाठक अवश्य कर सकता है।

आचार्य शुक्ल का रस-विवेचन मानवीय पहलुओं से सम्बद्ध है। लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।[२] व्यक्तित्व की भावना का परिहार तथा आलम्बन का सहृदय के साथ साधारणीकरण[२] एवं रस-दशा हृदय की मुक्तावस्था है।[३] रस की शास्त्रीय विवेचना पृथक् है एवं सरस कविता लिखना पृथक् है।[४] आचार्य शुक्ल जी के अनुसार रस की पूर्णता के हेतु अनुभाव, संचारी आदि की सीमा अनिवार्य नहीं है, अपितु रस-भावों के उत्कर्ष से वह पूर्ण हो जाय, इतना ही पर्याप्त है।[५] रस की सम्पूर्ण सामग्री जुटाना, कवि का कार्य नहीं है।[६] कवि के भावों का परीक्षण करते समय भावों की उत्कर्षता की ही ओर ध्यान दिया गया है।[७] जीवन की समस्त वासनाओं की नींव के अन्तरंग में भावों की प्रतिष्ठा निहित है।[८] भावों की तन्मयता में काव्य का वास्तविक स्वरूप निहित है।[९] सत्य भावों की स्वाभाविकता पर शुक्ल जी का विशिष्ट रूप से ध्यान रहा है।[१०]

भाव, मन की वेगयुक्त अवस्था-विशेष है।[११] वास्तव में प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है।[१२] पाठक हृदय के सम्बन्ध में आचार्य

१	चिन्तामणि—१	२२७	७	जायसी ग्रंथावली-भूमिका	९४
२	,,	२४७	८	इतिहास	१३९
३	,,	२४६	९	,,	१७२
४	इतिहास	१७२	१०	,,	१७१
५	जायसी ग्रंथावली-भूमिका	९४	११	रस मीमांसा	१६१
६	रस मीमांसा	१५८	१२	,,	१६८

शुक्ल का मत है—"पाठक का हृदय सामान्य लोक का हृदय होता है, वह अलग नहीं रहता।"[१] उदात्त कोटि की सौन्दर्य-भावना, मन के उदात्त कोटि के आलम्बन के चित्र आने पर ही जागृत होती है।[२] सच्ची रसानुभूति के लिए भाव और विभाव का सामंजस्य अनिवार्य होता है।[३] आश्रय के साथ सहृदय का तादात्म्य भी होना आवश्यक है, तभी साधारणीकरण हो सकता है।[४] रसानुभूति को आनंद की पृष्ठभूमि पर विवेचित करते हुए लिखते हैं, "हृदय की मुक्त दशा में ही रसानुभूति होती है तथा नाटक या काव्य रसात्मक होता है।[५]" काव्यानुभति तथा भावानुभूति में अन्तर स्वीकार न करते हुए, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के आधार पर मत प्रतिपादित किया है कि इसके लिए आनंद का होना अनिवार्य नहीं है।[६] आचार्य शुक्ल ने प्रत्यक्षानुभूति को रसात्मक कहा है।[७] रसावस्था में रसावयवों का संश्लेषण भी स्वीकार किया है।[८]

उपर्युक्त विवेचन यह निरूपित करता है कि आचार्य शुक्ल ने रस को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के आधार पर विवेचित करने का सफल प्रयास किया है तथा समय-समय पर रस की आदर्शवादी भूमिका की भी चर्चा की है।

आचार्य शुक्ल ने नीति और कला को पृथक्-पृथक् माना है। आचार्य नीतिपरक रचनाओं को सूक्ति कहा है, काव्य नहीं।[९] परन्तु आचार्य शुक्ल, पात्रों के विकास के साथ, काव्य-पक्ष का उत्कर्ष उपदेशात्मक तथ्यों के द्वारा होता है—इस मत को स्वीकार करते हैं।[१०] काव्य के दो पक्ष विवेचित किये हैं, तथा नैतिक दृष्टि को सर्वोपरि माना है।[११] कला और नीति के भेद का विस्तृत विवेचन चिन्तामणि भाग १ में किया है।[१२] आचार्य शुक्ल कला के लिए कला मत को स्वीकार नहीं करते एवं काव्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस मत का समर्थन किया है।[१३]

आचार्य शुक्ल ने काव्य-चमत्कार को महत्त्व प्रदान नहीं किया है। आप कविता की शाब्दिक कलाबाजी तथा उक्तियों को मान्य नहीं करते।[१४] चमत्कार काव्य का नित्य लक्षण नहीं हो सकता।[१५] प्रदर्शन पूर्ण काव्य दिल बहलाव तक ही सीमित रहता है।[१६] चमत्कार कलावाद के समकक्ष है, परन्तु कला को अस्वीकृत नहीं करते। कला का महत्त्व स्वीकारते हैं, कलावाद को अस्वीकृत करते हैं।[१७]

---

१. चिन्तामणि—१ २३०
२. ,, ३३०
३. वही,—१ ३३१
४. ,, ३३१
५. ,, २५१
६. —२ १८७-१८८
७. ,,—१ २५२
८. रस-मीमांसा ४१४
९. गोस्वामी तुलसीदास ७१
१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास १४४
११. चिन्तामणि—१ २६७
१२. ,, २२४
१३. ,,—२ १०७
१४. गोस्वामी तुलसीदास ७०
१५. चिन्तामणि—१ १६९
१६. रस-मीमांसा ९८
१७. चिन्तामणि—१ २१५

आचार्य शुक्ल ने तुलसीदास के भक्तिमार्ग, आत्म-कल्याण एवं लोक-कल्याण का विवेचन करते हुए लिखा है कि "लोक-व्यवहार में पाये जाने वाले कर्त्तव्य और दिव्य-जीवन में कोई अन्तर नहीं है।"[१] तुलसीदास ने लोकमंगलकारिणी विभूति की प्रतिष्ठा की है तथा शील-सौन्दर्य का महत्त्व विवेचित किया है, परिणामतः काव्य में सदाचार निरूपित है।[२] अनुभूति मार्ग या भक्तिमार्ग बहुत दूर तक फैला हुआ है तथा लोक-कल्याण की व्यवस्था करता है, जो समस्त भेदों से परे है।[३] मानस की धर्मभूमि में, आचार्य शुक्ल ने लोकव्यवहार-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए उसका चरम विकास विवेचित किया है। आपने मत व्यक्त किया है कि—'धर्म' की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है।[४] पूर्ण तथा सर्वोच्च धर्म वही है, जिसका सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति की रक्षा—से है।[५] उनकी भक्ति-भावना में ज्ञान और कर्म अंग रूप में स्वीकृत है।[६] आचार्य शुक्ल ने विवेचित किया है कि—आनंद की साधनावस्था के कवि ही पूर्ण है, क्योंकि ये जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं।[७] लोकमंगल का विधान ही धर्म है।[८] रस-विवेचन में भी धर्म-अधर्म की चर्चा है।[९] यही कारण है कि धर्मविरोधी निर्गुणियों तथा लोक-पक्ष से उदासीन कृष्णभक्त कवियों की तीव्र समीक्षा हुई है।[१०] तुलसी का लोकवाद रूस के साम्यवाद से भिन्न है, क्योंकि तुलसी व्यक्ति की स्वतंत्रता का उतना ही प्रतिबंध मानते हैं, जितने में दूसरों के जीवन मार्ग में बाधा न पड़े।[११] तुलसी की धर्मभावना के भीतर साधुमत और लोकमत, लोक-शासन के लिए है।[१२] जिस धर्म से लोक-रक्षा होती है, समाज चलता है, वही व्यापक धर्म है।[१३] लोक धर्म के अन्तर्गत समस्त लोकनिहित आदर्शों और लोक व्यवहारों की प्रतिष्ठा स्वीकारते हैं।[१४]

काव्य के सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत है कि—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं।"[१५] "कविता हृदय को लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है। . . . हमारे मनोविकारों का परिष्कार और शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह करती है।"[१६]

१.	,,	२००	१०.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	१३८-१६४
२.	,,	२०१	११.	गोस्वामी तुलसीदास	४८
३.	,,	२०३	१२.	,,	४७
४.	,,	२०६	१३.	,,	२४
५.	,,	२०८	१४.	,,	२८
६.	,,	२०९	१५.	चिन्तामणि—१	१४१
७.	,,	२१४	१६.	,,	१४१
८.	,,	२१७			
९.	,,	२१७			

परिणामतः हृदय और बुद्धि का समन्वय होता है। यही समन्वय मनुष्यत्व की साधना है।[१] काव्य में हृदय पक्ष प्रधान होता है। उसका बाह्य-पक्ष तो उसके अन्तरंग की अभिव्यक्ति में सहायता पहुँचाता है।[२] आचार्य शुक्ल ने भाव का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए मत दिया है—"बिना भाव के काव्य की सत्ता हो ही नहीं सकती।"[३] आपके मतानुसार काव्य-चमत्कार, काव्य नहीं, काव्याभास है।[४] जगत् की नाना-वस्तु व्यापार को ऐसे रूप में रखना चाहिए कि वे हमारे भाव-चक्र के भीतर आ जाँय, यही काव्य का लक्ष्य होता है।[५] आचार्य शुक्ल ने काव्य के तीन लक्ष्य मान्य किये हैं, परन्तु तीनों लक्ष्यों के माध्यम से वे भावों का स्वरूप प्रत्यक्ष करना तथा नाना पदार्थों के साथ उनका प्रकृत सम्बन्ध स्थापित करते हैं,[६] एवं भाव संचार करने का जहाँ लक्ष्य हो, वहाँ शुक्ल जी रस-काव्य स्वीकार करते हैं।[७] कला का लक्ष्य—एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना है।[८] तथा भाव की प्रेषणीयता के बिना काव्य को व्यर्थ मानते हैं।[९] कविता इसलिए लिखी जाती है कि एक ही भावना सैकड़ों-हजारों क्या, लाखों दूसरे आदमी ग्रहण कर सकें।[१०]

आचार्य शुक्ल का स्पष्ट मत है कि भावों की तीव्रता के बिना पाठक की पूर्ण तृप्ति नहीं हो सकती।[११] वह कवि कीर्तिशाली होगा, जिसकी कविता जनता के हृदय की सम्पत्ति होगी और उसकी यह कीर्ति तब तक बराबर रहेगी, जब तक जनता के मन में वह कविता रहेगी।[१२]

सौन्दर्यानुभूति को भी, आचार्य शुक्ल ने विषय की तदाकार परिणति ही स्वीकार की है एवं उसे वस्तुगत ही माना है।[१३] रस की पूर्णता के लिए कवि, पात्र एवं श्रोता—तीनों के हृदय का समन्वय अनिवार्य है।[१४] काव्य, जीवन से सम्बन्धित है, अतः रसानुभूति जीवन की ही वस्तु है।[१५] यही कारण है कि आचार्य शुक्ल ने सूर में यह अभाव विवेचित किया है।[१६] काव्य एकदेशीय न होकर असीम तथा सर्वदेशीय होता है एवं वही काव्य महत्त्वपूर्ण है।[१७] काव्य सार्वभौम तथा शाश्वत है।[१८] आचार्य शुक्ल ने काव्य को भी तुलसी के समन्वय के सदृश्य विवेचित करने का महती कार्य किया है तथा उसमें एकता का स्वरूप देखने का विशिष्ट कार्य किया है।[१९] आपने उन

---

१. चिन्तामणि भाग १ — १५१
२. भ्रमरगीत सार भूमिका — ३४
३. चिन्तामणि—१ — १७२
४. जायसी ग्रंथावली भूमिका — १४१
५. चिन्तामणि—१ — १८
६. रस-मीमांसा — ८८
७. ,, — ८९
८. चिन्तामणि—२ — १२२
९. गोस्वामी तुलसीदास — ७५
१०. चिन्तामणि—१ — २३८
११. गोस्वामी तुलसीदास — ८५-८६
१२. हिन्दी साहित्य का इतिहास — २५५
१३. चिन्तामणि—१ — १६४
१४. रस-मीमांसा — ४९७
१५. चिन्तामणि—२ — १४
१६. भ्रमरगीत सार भूमिका — १०१
१७. ,, — २
१८. हिन्दी साहित्य का इतिहास — ६०४
१९. ,, — ६१०

कवियों की प्रशंसा की है, जिनका हृदय भी भारतीय है, वाणी भी भारतीय है एवं दृष्टि भी भारतीय है।[१] आप देशप्रेम को संस्कारजन्य भाव स्वीकार करते हैं।[२]

आचार्य शुक्ल ने काव्य-विषय का विवेचन करते समय तीनों पक्षों का निरूपण किया है—नर क्षेत्र, मनुष्येतर बाह्य-सृष्टि एवं समस्त चराचर।[३] जीवन और जगत् से बाहर काव्य को घसीटने वाला कवि तो क्या, सच्चा आदमी भी नहीं है।[४] काव्य-विषय विशेष ही हुआ करता है, सामान्य नहीं, क्योंकि बिम्ब-ग्रहण विशेष का ही होता है।[५] कवि को मूल रूपों की पूर्णता के साथ स्पष्टता घोषित करनी चाहिए।[६] कविता की, व्यक्ति को नितान्त अनिवार्यता है तथा वह व्यक्ति के साथ चली आयी है एवं चलती रहेगी।[७] वास्तव में कविता मनुष्यता की उच्च भूमि का महती स्मारक स्तंभ है।[८] शुक्ल जी आगे लिखते हैं कि—"कविता, हृदय को प्रकृत अवस्था में लाती है, व्यक्ति को भाव-योग की सीमा तक उठा देती है एवं हृदय को विश्व मय बना देती है। काव्य अपनी भाव सत्ता के कारण, कर्म प्रेरक है।

आचार्य शुक्ल ने काव्य तत्त्वों की चर्चा करते हुए मत दिया है—अलंकार भी रस-विधान का अंग है, इन्हें विभाव पक्ष के अन्तर्गत परिगणित किया है। प्राकृतिक उपमानों को ही काव्योपयुक्त बताते हुए उन्हें रमणीक तथा अनुरंजित माना है। काव्य-विषय के अन्तर्गत अलंकारों का भी व्यापक क्षेत्र है। कवि-कौशल काव्य में किसी-न-किसी भाव की अवस्थिति निरूपित करता है। काव्य में संवेदना का विशेष महत्त्व होता है। आचार्य शुक्ल का मत है कि रसात्मक प्रसंगों में यह ध्यान रखना चाहिए कि अप्रस्तुत भी उसी प्रकार भावोत्तेजक हों जिस प्रकार की प्रस्तुत। सच्चे कवि रसानुभूति में सहायक बिम्ब प्रस्तुत करते हैं। अलंकारों को वर्णन की शैलियाँ निरूपित किया है। अलंकार वास्तव में वर्ण्यवस्तु नहीं है, वर्णन की एक प्रणाली है। आचार्य शुक्ल ने एक ही सौन्दर्य तत्त्व की अनुभूति स्वीकृत की है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भाषा के सम्बन्ध में स्पष्ट मत है कि भाषा, काव्य का बाह्य तत्त्व है, जो भाव और रसों के अनुकूल होती है। भाषा सरल और सहज हो, उसमें कारीगरी

---

१. चिन्तामणि—२ १५१
२. चिन्तामणि—१ ४०-४१
३. ,,—२ २५१
४. ,,—१ ७४
५. ,, २३०
६. ,, ४
७. ,, १८६
८. चिन्तामणि—१ १८७
९. ,, १६०
१०. ,, १५७
११. चिन्तामणि—१ ३१
१२. भ्रमर गीत सार भूमिका ३८
१३. ,, ५३
१४. जायसी ग्रंथावली भूमिका ३७
१५. ,, १०५
१६. ,, ११६
१७. ,, ११८
१८. चिन्तामणि—१ १८३
१९. हिन्दी साहित्य का इतिहास ७००
२०. ,, ४

नहीं होनी चाहिए।[1] कवि को भाषा के बिम्ब-विधायक पक्ष को ही स्वीकृत करना चाहिए।[2] नाद-सौन्दर्य को शुक्ल जी ने महत्त्व नहीं दिया है।[3] रूप-गुणादिबोधक शब्दों के प्रयोग से भावों का निर्माण होता है।[4] पद्माकर की भाषा मधुर और स्निग्ध है तथा अनेकरूपता से पूर्ण है।[5] तुलसी की भाषा में भी अनेकरूपता है।[6] साहित्य भाषा का चला आ रहा रूप होना चाहिए।[7] भाषा के देशी साँचे पर उनका विशेष ध्यान रहा है।[8] प्रत्यक्ष भाषा की लाक्षणिकता पृथक्-पृथक् होती है।[9] शिष्ट समाज लोकभाषा का सहारा लेकर उसमें नया प्राण डालते हैं।[10] छंदों के कारण कविता में अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता सहज हो जाती है।[11] छंद से विचारों पर आघात नहीं होता और न कल्पना पर कोई बंधन लगता है।[12]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सौन्दर्य को वस्तुगत रूप में स्वीकार करते हैं। आपका मत है कि, सुन्दर वस्तु से सौन्दर्य पृथक् नहीं होता, वह कोई पदार्थ नहीं है।[13] सौन्दर्य का आदर्श मनुष्यता की सामान्य भूमि पर प्रतिष्ठित है।[14] शुक्ल जी ने दो पक्ष—सुन्दर और कुरूप स्वीकार किये हैं।[15] सौन्दर्य में किसी-न-किसी प्रकार का व्यंग्य अनिवार्य है, परन्तु रस सर्वोपरि है।[16] सभी सुन्दर वक्रोक्तियाँ काव्य नहीं होतीं।[17] भाव की विमुक्ति और स्वच्छन्द गति काव्य के लिए प्रयोजनीय स्वीकृत किया है।[18]

साहित्य का रूप विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है—जीवन के मर्मस्पर्शी रसात्मक स्थलों तक पहुँचाने के लिए काव्य में कथा की योजना की जाती है।[19] प्रबन्धकाव्य की रसात्मकता उसकी प्रमुख विशेषता है।[20] लोकसंघर्ष की व्यापकता और अनेकरूपता के साथ जीवन की गंभीर समस्याएँ भी प्रबंधकाव्य में चित्रित होती हैं।[21] इसमें मानव-जीवन का पूर्ण दृश्य भी चित्रित होना चाहिए।[22] प्रबंधकाव्य में सामान्य अनुभव के स्थल होने आवश्यक हैं।[23] आचार्य शुक्ल ने दृढ़ता के साथ मत दिया है कि प्रबन्धकाव्य में मानव-जीवन की

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास	१४६		१३. चिन्तामणि—१	१४६
२. ,,	११६		१४. ,,	२२०
३. चिन्तामणि—१	१७९		१५. ,,	१६७
४. ,,	१८०		१६. भ्रमरगीतसार-भूमिका	४५
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास	३१०		१७. चिन्तामणि—१	१७४
६. ,,	३१०		१८. ,, —२	२१३
७. चिन्तामणि—२	२३९		१९. जायसी ग्रंथावली भूमिका	६९
८. ,,	२४०		२०. ,,	६८
९. ,,	१४२		२१. भ्रमरगीतसार-भूमिका	७
१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास	६००		२२. जायसी ग्रंथावली भूमिका	६८
११. चिन्तामणि—२	१४५		२३. ,,	७०
१२. ,,	१४८			

भिन्न-भिन्न दशाओं का सामंजस्य चित्रित किया जा सकता है।[१] प्रबन्धकवि, लोक-हृदय में लीन रहता है एवं वास्तविक जीवन का चित्रण करता है।[२]

गीत काव्य के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का मत है कि मधुर ध्वनि, प्रवाह के बीच कुछ चुने हुए पदार्थों की झलक स्पष्ट करता है।[३] उसमें प्रबंध जैसी रसधारा प्रवाहित नहीं हो सकती। प्रबंध एक वनस्थली है, तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।[४] प्रगीत में अतिरंजित वर्णन होता है तथा वास्तविकता का पल्ला छूट जाता है।[५]

निबन्ध की विशेषता, आचार्य शुक्ल ने पाश्चात्यमतानुसार व्यक्तित्व-प्रधान मान्य की है।[६] व्यक्तित्वविशेषता का निरूपण सामान्य भूमि के समीप किया है।[७] आचार्य शुक्ल निबन्ध को व्यक्तिगत रुचि का तमाशा मान्य नहीं करते।[८]

आचार्य शुक्ल का मत है कि नाटक भी रस-विधान तथा शील-वैचित्र्य से परिपूर्ण होना चाहिए।[९] उपन्यास में गूढ़ तथा चिन्त्य परिस्थितियों का चित्रण महत्त्वपूर्ण है।[१०] उपन्यास में सामान्य पात्र भी हो सकते हैं।[११]

आचार्य शुक्ल ने कल्पना का विस्तृत विवेचन भ्रमरगीत-सार की भूमिका में किया है। वे लिखते हैं--"किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप को गढ़ कर या काँट-छाँट कर सामने रखने लगती है, तब हम उसे सच्ची कवि कल्पना कह सकते हैं।"[१२] कल्पना और भावोद्रेक का घनिष्ठ सम्बन्ध है।[१३] साधारण जीवन के व्यवहार में भी भाव की प्रेरणा के फलस्वरूप सच्ची कल्पना देखी जाती है।[१४] अलंकार-विधान को उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है।[१५] कल्पना के माध्यम से कवि अपनी सामग्री को नयी योजना के साथ नये रूप में साहित्य में स्पष्ट करता है।[१६] आचार्य शुक्ल ने उपासना, भावना और कल्पना को अभिन्न माना है।[१७] प्राचीन मनीषियों ने जिसे भावना कहा था, उसे आजकल कल्पना कहते हैं।[१८] कल्पनाशक्ति के अनुरूप ही अनुभूति होती है।[१९] शुक्ल जी पाश्चात्य कल्पना के विचारों से पूर्णतः सहमत नहीं हैं।[२०] काव्य-कल्पना—अर्थात् शब्द वस्तु का सारा रूप-विधान कल्पना ही करती है, परन्तु काव्य के प्रयोजन की कल्पना वही है, जो हृदय

१.	जायसी ग्रंथावली भूमिका	७१	११.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	५३९
२.	गोस्वामी तुलसीदास	६७	१२.	भ्रमरगीतसार-भूमिका	३६
३.	भ्रमरगीतसार-भूमिका	६	१३.	,,	३७
४.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	२४७	१४.	,,	३०
५.	गोस्वामी तुलसीदास	६७	१५.	,,	३१
६.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	५०५	१६.	,,	७९
७.	,,	५०५	१७.	चिन्तामणि भाग—१	१६१
८.	,,	५०५	१८.	,,	१६१
९.	,,	५५०	१९.	,,	१६१
१०.	,,	५२६	२०.	,,	२३९

की प्रेरणा से प्रवृत्त होकर हृदय को प्रभावित करती है।[१] आलम्बन, उद्दीपन आदि की योजना भी कल्पना के सहारे होती है।[२] भाषा शैली को भी अधिक व्यंजक, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में कल्पना का ही हाथ रहता है।[३] इस प्रकार शुक्ल जी ने कल्पना को, काव्य में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना है।[४] काव्य में प्रतिभा या कल्पना का कार्य सर्वप्रथम है।[५]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल व्यक्तिवाद के विरोधी हैं। उनका स्पष्ट मत है कि व्यक्तिवाद कोई व्यापक और स्थायी मनोवृत्ति नहीं है।[६] आचार्य शुक्ल फ्रॉयड के मनोविज्ञान से सहमत नहीं हैं। आपका मत है कि अतृप्त काम-वासना की अभिव्यक्ति सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से अमान्य है।[७] अभिव्यंजनावाद कलावाद, वाग्वैचित्र्यवाद, वक्रोक्तिवाद का विलायती नाम एवं उत्थान है तथा उक्ति-वैचित्र्य का पर्याय है।[८] यह वाद केवल साहित्य के अन्तर्गत बेलबूटे और नक्काशी की हल्की धारणा का कच्चा-बच्चा है।[९] छायावाद विदेशीपन है।[१०] छायावाद में शैली की ओर विशेष ध्यान दिया गया है, परन्तु विधान की ओर नहीं।[११]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदर्शवादी हैं, जो व्यावहारिक अधिक है। परिणामतः आपने यह मत निरूपित किया है कि जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।[१२] रहस्यवादी काव्य के सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत है कि यह अकर्मण्यता और वैराग्य की वाणी है तथा कायर कल्पना के रूप में व्यक्त है।[१३] आपने रहस्यवादियों को मतवाले साम्प्रदायिक कहा है[१४] तथा काव्यविवेचनान्तर्गत व्यक्त और अव्यक्त का पारमार्थिक भेद नहीं किया है।[१५]

आचार्य शुक्ल ने रस-मीमांसा के अन्तर्गत शब्द-शक्तियों का भी विवेचन किया है। आपने वाच्यार्थ को ही काव्य माना है।[१६] व्यंग्यार्थ, वस्तु या तथ्य का ही होगा, वह भावानुभूति का नहीं हो सकता।[१७] रस, अनुभूति है, अनुभूति का विषय नहीं होता है।[१८] लक्ष्यार्थ में कोई वैचित्र्य नहीं होता है।[१९] लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ, वस्तु को प्रकट न करके उसके बुद्धिग्राह्य तथ्य या सत्य को प्रकट करते हैं।[२०] काव्य का सौन्दर्यपक्ष अभिधा अथवा वाच्यार्थ में सुरक्षित

---

१. चिन्तामणि--भाग--१	२६४	११. हिन्दी साहित्य का इतिहास	६४७
२. ,,	२६५	१२. चिन्तामणि भाग--२	५४
३. ,,	२६८	१३. ,,	५३
४. चिन्तमणि भाग--२	२१२	१४. ,,	६३
५. रस-मीमांसा	१०५	१५. ,,	५७
६. हिन्दी साहित्य का इतिहास	६५७	१६. ,,	१६८
७. चिन्तामणि भाग--१	२३७	१७. ,,	१६३
८. हिन्दी साहित्य का इतिहास	५७९	१८. रस-मीमांसा	४१५
९. चिन्तामणि भाग--२	२६२	१९. चिन्तामणि भाग--२	१४
१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास	६०३	२०. रस-मीमांसा	३१०

रहता है, परन्तु अनुभूति पक्ष लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ के माध्यम से ही व्यक्त होता है।[1] इसी के साथ आचार्य शुक्ल का यह भी मत है कि—व्यंजक वाक्य में रस होता है।[2] उनका साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में स्पष्ट मत है कि—जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही "साहित्य का इतिहास" कहलाता है।[3]

उपलब्धि और सीमा—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षात्मक कार्यविवेचन से सुस्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी समीक्षा को आचार्य शुक्ल ने अत्यन्त प्रौढ़ पृष्ठभूमि पर स्थापित कर दिया। आचार्य शुक्ल ने साहित्य के प्रमुख पक्षों का विवेचन करते हुए रस की महत्ता का निरूपण किया है। रस-विवेचन के अनन्तर साहित्य के विभिन्न पक्षों का मौलिक विवेचन करते हुए, उनके आधारभूत प्रश्नों को तर्कसम्मत ढंग से समझाने का पूर्ण प्रयास किया है। शुक्ल जी का काव्य-विवेचन तुलसी के आदर्शवादी दृष्टिकोण से अन्यतम रूप से प्रभावित है, ऐसा परिलक्षित होता है। उन्होंने समस्त साहित्य को इसी आधार पर विवेचित किया है। उनकी समीक्षा-पद्धति की ओर ध्यान देने पर सहज ही स्वीकार करना पड़ता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल स्वयं ही हिन्दी समीक्षा की महान् उपलब्धि हैं। हिन्दी समीक्षा को अनेक दृष्टियों से आपने समृद्ध करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। निःसन्देह आचार्य शुक्ल का साहित्य विवेचन रस के आदर्शवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। आपने काव्य को, रसानुभूति की दृष्टि से आनंददायी स्वीकारा है, जो आदर्शवादी विचारसरणि के साथ, नैतिक दृष्टिकोण से परिपुष्ट है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह विवेचन प्रौढ़ विचारपूर्ण, तर्कपूर्ण, प्रभावशाली एवं अपूर्व अद्भुत है। आचार्य शुक्ल ने समीक्षा के प्रत्येक पहलू को प्रभावशाली व्यक्तित्व से प्रभावित कर समीक्षा के अग्र सोपानों की ओर बढ़ने का पथ-निर्देश किया है। साथ ही, हिन्दी समीक्षा को अभूतपूर्व दृष्टि प्रदत्त की है।

मूल्यांकन : नवोत्थानवादी समीक्षा-पद्धति के विकास में प्रदेय—आचार्यप्रवर रामचन्द्र शुक्ल के पूर्व उपर्युक्त पद्धति के अन्तर्गत किसी भी समीक्षक ने इतनी प्रौढ़ता के साथ समीक्षा प्रस्तुत नहीं की है। आचार्य शुक्ल के प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व के तेज से प्रस्तुत पद्धति देदीप्यमान हो उठी है। आपके अथक कर्म-श्रम के परिणाम स्वरूप नवोत्थानवादी समीक्षा-पद्धति को अपूर्व विकास प्राप्त हुआ है, परवर्ती समीक्षकों को मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ है, पथ-निर्देश मिला है, हिन्दी में रस-विवेचन को नूतन दृष्टि प्राप्त हो सकी है। आचार्य शुक्ल ने सामाजिक पृष्ठभूमि पर रस-विवेचन किया है, मानव-जीवन के भावों के सन्निकट पहुँचाया है। रसानंद मानवीय भावों से सम्बन्धित है, जीवन के अन्तरंग पक्ष से

---

१. रस मीमांसा ३५४ ३. हिन्दी साहित्य का इतिहास १

२. ,, ३४५

एकाकार हैं, विवेचित किया है। रसानुभूति के विशिष्ट पहलू को विवेचित करते हुए निरूपित किया है कि रस, साहित्य के विभिन्न अंगों से सम्बन्धित है। रसानुभूति आदर्शात्मक भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। आचार्य शुक्ल ने काव्य के प्रत्येक पक्ष के साथ जीवन की गहराइयों को विवेचित कर, नवोत्थानवादी समीक्षा-पद्धति को समृद्ध किया है और अपूर्व भावभूमि पर स्थापित कर दिया है। प्रबंधकाव्य को आदर्श तथा जीवन का समग्र पक्ष कहा है। काव्य का विवेचन करते समय शुक्ल जी की दृष्टि-जीवन के प्रति आदर्शमय रही है तथा भूमिका भावमय रही है। परिणामतः वे अलंकारों की महत्ता को स्वीकार न करते हुए कहते हैं—अलंकार काव्य के बाह्य-पक्ष हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विवेचन-पद्धति अत्यन्त प्रौढ़ एवं अपूर्व है। आपने अपनी समीक्षा-पद्धति के माध्यम से हिन्दी समीक्षा को नयी दिशा दी है। साहित्य की समस्त विधाओं—यथा उपन्यास, कहानी, प्रगीत, गीत, निबंध, नाटक आदि की विवेचना करते हुए, सशक्त विचार प्रस्तुत किये हैं। आपके ही विवेचन से हिन्दी साहित्य को भक्तकवियों के काव्य की महत्ता एवं महानता का ज्ञान प्राप्त हो सका है। वस्तुतः आचार्य शुक्ल के पश्चात् अभी तक तो इतना सशक्त समीक्षक हिन्दी में दृष्टिगत नहीं हो रहा है।

आचार्य शुक्ल की छायावाद संबंधी अवधारणा

डॉ० कमला सिंह

⊙ .

आचार्य शुक्ल एक प्रबुद्ध आलोचक थे। उनकी नीर-क्षीरविवेकी प्रवृत्ति अच्छाइयों को ग्रहण करने में सदैव तत्पर रही। वे साहित्य को जन-जीवन के निकट लाना चाहते थे। दुरूह एवं अटपटी शैली, भाग्यवाद, निराशावाद, अतिशय रहस्यात्मकता और पश्चिमी कविता के पतनशील रुझानों से पीड़ित छायावादी काव्य जन-जीवन से बहुत दूर चला गया था। इसी कारण उन्होंने छायावाद की कटु आलोचना की। यहाँ तक की छायावादी प्रवृत्ति के प्रसार से हिन्दी काव्य को बचाने के लिए उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली औषधि के रूप में 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक एक निबन्ध लिखा। इस निबन्ध में उन्होंने अपने साहित्यिक सिद्धान्त, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और दार्शनिक सिद्धान्त की समन्वित कसौटी पर आधुनिक हिन्दी काव्यधारा को परखा और यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि तत्कालीन हिन्दी काव्य में प्रचलित रहस्यवाद अथवा छायावाद सम्बन्धी कविताएँ काव्य के स्वाभाविक स्वरूप को अभिव्यक्त नहीं कर पातीं, क्योंकि ये वादग्रस्त रचनाएँ हैं।

शुक्ल जी ने हिन्दी काव्यधारा में छायावादी कविता के साथ बहकर आये रहस्यवाद को सबसे घातक बताया। रहस्यवादी कविता का प्रचलित काव्य-रूप—हृत्तंत्री की झंकार, नीरव संदेश, अभिसार, अनन्त-प्रतीक्षा, प्रियतम का दबे पाँव आना, उन्हें उसी प्रकार कृत्रिम प्रतीत हुआ, जिस प्रकार दरबारी कवियों का नायिकाभेदी संसार। हिन्दी काव्य में रहस्यवाद के प्रवेश से काव्य का स्वाभाविक प्रवाह उन्हें रुकता-सा प्रतीत हुआ और उन्हें कहना पड़ा कि—"असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यन्त चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार के प्रेमोद्‌गारों तक ही काव्य की गति-विधि प्रायः बँध गयी है।"[१]

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में शुक्ल जी ने छायावाद में सच्चाई की कमी की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि "यदि कोई मृत्यु को केवल जीवन की पूर्णता कहकर प्रबल अभिलाष व्यंजित करे तो उससे मनोरंजन तो हो सकता है लेकिन उसमें सत्य का सर्वथा अभाव रहेगा।"[२]

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४४२।

२ वही, पृ० ४५३।

जहाँ पर छायावादी कवि वादग्रस्तता से मुक्त होकर, अलौकिक कल्पना को छोड़कर, स्वाभाविक रहस्य-भावना का आश्रय लेकर यथार्थ की ओर अपना पग बढ़ाये हैं या वर्णन में गोचर को महत्त्व प्रदान किये हैं अथवा लक्षणा शब्द-शक्ति का प्रयोग सावधानी से किये हैं और बंगला, अंग्रेजी की अन्धानुकरणवृत्ति को छोड़कर अपनी स्वाभाविक शक्ति से काम लिए हैं वहाँ पर शुक्ल जी ने उनकी प्रसंशा भी की है। 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में छायावाद की प्रसंशा करते हुए वे कहते हैं—"इसी छायावाद के भीतर कुछ लोगों की कविताएँ ऐसी भी मिलती हैं, जिनका स्वरूप विलायती नहीं होता, जो कुछ थोड़ा-सा बँगलापन लिए हुए सूफियों के तर्ज पर होती हैं। इनमें लाक्षणिकता भी पूरी रहती है, पर अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार होती है, अंग्रेजी से उठाई हुई नहीं होती।.....इनकी छायावाद की रचनाओं में भी भावुकता एवं रमणीयता रहती है। थोड़ा खटकने वाली जो बात मिलती है वह है फारसी शायरी के ढंग पर वेदना की अरुचिकर और अत्युक्ति विवृत्ति। शरीर धर्मों का अधिक विन्यास काव्य-शिष्टता के विरुद्ध पड़ता है।............जो हो, कोरे विलायती तमाशे से हम इसे सौ दर्जे अच्छा समझते हैं।"[१]

छायावाद के प्रसंग में शुक्ल जी ने आधुनिक चार कवियों—'प्रसाद', 'पंत', 'निराला' और महादेवी वर्मा की चर्चा की है। इनमें से 'प्रसाद' और 'देवी जी' के काव्य को उन्होंने कुछ साम्प्रदायिक रूढ़िग्रस्त कहा है, किन्तु पंत जी के सम्बन्ध में उनका विचार था कि—"पंत जी की रहस्यभावना प्रायः स्वाभाविक ही रही, वाद का साम्प्रदायिक स्वरूप उन्होंने शायद ही कहीं ग्रहण किया हो।" निराला जी को वे बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कवि मानते थे। उनका विचार था कि, "जिनकी वाणी पहले से भी बहुमुखी थी, तुलसीदास के मानस विकास का बड़ा ही दिव्य विशाल रंगीन चित्र खींचा है।"[३] उनके शिल्प पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि "निराला जी की शैली कुछ अलग रही। उसमें लाक्षणिक-वैचित्र्य का उतना आग्रह नहीं पाया जाता, जितनी पदावली की तड़क-भड़क और पूरे वाक्य के वैलक्षण्य का।"[४]

एक ओर जहाँ आचार्य शुक्ल छायावादी काव्य की लाक्षणिकता एवं भावुकता के प्रसंशक थे, वहीं उसके कृत्रिम विलायती लिवास के सख्त विरोधी भी। पश्चिमी काव्य के अन्धानुकरण से विस्मित होकर उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि "हिन्दी में आ निकला हुआ यह 'छायावाद' कितनी विलायती चीजों का मुरब्बा है।"[५] वास्तव में शुक्ल जी 'नैसर्गिक

---

१. चिन्तामणि भाग दो, ११९।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६९४।

३ वही, पृ० ४५९।

४. वही, पृ० ४४४।

५ चिन्तामणि, भाग दो (काव्य में रहस्यवाद), पृ० ११८।

स्वच्छन्दतावाद' के हिमायती थे। वे चाहते थे कि साहित्य में स्वाभाविक स्वच्छन्दतावाद का प्रसार हो, विषय-वस्तु में जन-वाणी को प्रमुखता दी जाय। इसी आधार पर उन्होंने स्काटलैण्ड के कवि बर्न्स की प्रशंसा की है जिसने लोकगीतों के आधार पर ऐसी रचनाएँ प्रस्तुत कीं, जो लोक-ग्राह्य थीं। उसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि अंग्रेज कवि कूपर ने कविता को रूढ़ियों से मुक्त किया लेकिन "स्वच्छन्द होकर जनता के हृदय में संचरण करने की शक्ति वह कहाँ से प्राप्त करे, यह स्काटलैण्ड के एक किसानी झोपड़ी में रहने वाले कवि बर्न्स ने ही दिखाया था।"[१] यह विचारणीय है कि जो आलोचक बर्न्स की कविता पर इस प्रकार मुग्ध हो, वह छायावाद का विरोधी किस प्रकार बना? वास्तव में बर्न्स उन रोमैण्टिक कवियों में नहीं था, जो समाज से अलग रह कर कल्पना के शीशमहल में कैद हो जाते हैं। उसने अपने देश के परम्परागत प्रचलित गीतों की मार्मिकता परख कर देशभाषा में रचनाएँ कीं, जिन्होंने यहाँ के सारे जनसमाज के हृदय में अपना घर कर लिया।

आचार्य शुक्ल हिन्दी काव्यधारा के नैसर्गिक प्रवाह में उन तत्वों को प्रवेश नहीं करने देना चाहते थे जिनका परीक्षण भारतीय वैचारिक प्रयोगशाला में उस समय तक अपूर्ण था तथा जो जनवाणी से कोशों दूर थे। इसी कारण उन्होंने छायावादी काव्य के स्वदेशी स्वरूप की जहाँ प्रसंशा की, वहीं विदेशी स्वरूप की आलोचना। स्वदेशीपन की भावना और हिन्दी काव्य के व्यापक हित से प्रेरित होकर उन्होंने कहा कि "हम अपने हिन्दी काव्य को विश्व के नित्य और अनन्त विभूति में स्वच्छन्दतापूर्वक, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार, अपनी आँख खोल कर विचरण करते देखना चाहते हैं।"

यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि छायावाद में रहस्यपरक कविताओं को देख कर रहस्यवाद और छायावाद को समानार्थक मानने की उन्होंने भूल की, जब कि ये दोनों ही पृथक्-पृथक् काव्यधाराएँ हैं। छायावाद व्यापक शब्द है, इसमें आधुनिक रहस्यवाद का समावेश हो सकता है। रहस्यवाद की सीमा संकुचित है। इसमें सभी छायावादी कविताएँ समाविष्ट नहीं हो सकतीं। इसलिए दोनों समानार्थक नहीं हैं।

वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने वादग्रस्तता पर आधारित छायावाद का जो विरोध किया है, उसके पीछे उनकी दृढ़-सिद्धान्तनिष्ठा, यथार्थ मानव-जीवन एवं राष्ट्र के प्रति उत्कट प्रेम-भावना ही क्रियाशील रही है। वे इसी कारण द्विवेदी जी के तथ्यवाद के पक्षधर नहीं, रीतिकालीन चमत्कारवाद के प्रेमी नहीं, छायावादी कविताओं में प्रयुक्त अतिशय लाक्षणिकता के समर्थक नहीं, क्योंकि उनके कलात्मक पक्ष को प्रशस्त करने वाली वाल्मीकि, भवभूति तथा तुलसी की कविताएँ हैं।

साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में डॉ० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रो० क्षेम तथा महादेवी आदि आधुनिक समीक्षकों के प्रवेश के साथ ही छायावादी काव्य का जो पुनर्परिक्षण कार्य प्रारम्भ हुआ, उससे छायावाद को नव-जीवन मिला और विवादों के बीच घिर कर भी वह

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४०९।

अपनी अमिट पहचान बनाने में समर्थ हो सका। लेकिन जिस समय आचार्य शुक्ल ने छायावाद पर विचार किया, वह परतंत्रता का युग था। भारतीय अभावों के बीच जीते हुए स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहे थे। ऐसे समय में कवि समुदाय का क्षितिज के उस पार जाने का अभिलाष व्यक्त करना, लौकिक-प्रेम पर असीम, अनन्त कुछ शब्दों द्वारा कृत्रिम आवरण डाल कर पाखण्ड फैलाना, राष्ट्र की मुख्य चिन्तनधारा से विमुख होकर वेदना का स्वर भरना, अकर्मण्यता एवं पलायन का मार्ग अपनाना शुक्ल जी को जनाकांक्षा के प्रतिकूल लगा। इन्हीं सब बातों से चिढ़ कर उन्होंने छायावाद की आवश्यकता से कुछ अधिक आलोचना की, जो युगीन परिवेश को देखते हुए स्वाभाविक था।

—१६५।९, आजाद नगर,
साउथ मलाका इलाहाबाद

आचार्य शुक्ल के निबन्धों में सूक्ति-विधान

डॉ० शिवनारायण शुक्ल

विचारव्याख्याता, समीक्षक, शास्त्रप्रणेता आदि की गरिमा से युक्त आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल सामान्य पाठक की दृष्टि से न केवल हिन्दी अपितु सम्पूर्ण भारतीय गद्य-साहित्य की विधा के बीच एक मूर्धन्य हस्ताक्षर के रूप में स्वीकृत एवं प्रतिष्ठित हैं। गद्य की जिन-जिन विधाओं को उनकी लेखनी ने संस्पर्शित किया है, सभी को एक सुचिन्तित विचार-बोध की प्रौढ़ पृष्ठभूमि प्रदान की है। यह उनकी अभिव्यक्ति-कुशलता की पहली शर्त है। यों उनके अभिव्यक्ति की शैली के नाम गिनाते समय भावात्मक, विचारात्मक, व्यंगात्मक और गवेषणात्मक नाम से कई शीर्षक दिये जाते हैं, पर इन सबके माध्यम से वे अपनी मान्यताओं एवं स्वीकृतियों को सूत्ररूप में या सूक्ति के रूप में प्रस्तुत करने में जितने सिद्ध प्रतीत होते हैं उतनी ही इस दिशा में उनकी रुचि भी दिखायी पड़ती है। शुक्ल जी की यह विशिष्टता उनके लेखन में सर्वाधिक निबन्धों के साथ सार्थकता ग्रहण करती है। इसीलिए इस लघु निबन्ध में शुक्ल जी के प्रतिनिधि निबन्धों में प्रयुक्त सूक्तियों की प्रस्तुति को विषय के रूप में सामने लाया गया है।

स्त्रीलिंग, संज्ञा शब्द, 'सूक्ति' का प्रयोग सुन्दर उक्ति या कथन, सुन्दर पद या वाक्य अथवा सुभाषित के लिए किया जाता है।[1] सूक्ति, संयुक्त पद है जिसकी रचना सु उपसर्ग पूर्वक उक्ति शब्द के साथ होती है। इस 'सु' उपसर्ग या विशेषण का हमारी समझ से मुख्य तीन अर्थ हो सकता है। इन पृथक् अर्थों की प्रयोग-दृष्टि प्रसंग-सापेक्ष्य है। हिन्दी-शब्दसागरकार ने इसके एक ही बहुप्रचलित एवं सामान्य धारणा को ग्रहण किया है। सु का अर्थ सुचिन्तित उक्ति भी होता है। इस प्रकार चारुता एवं आकर्षण से युक्त वह उक्ति जिसके पीछे वक्ता या लेखक का चिन्तन एवं विश्लेषण विद्यमान हो, उसे सूक्ति कहते हैं। ध्यान देने योग्य बात है कि सुचिन्तित विचार के कथन को सूक्ति कहने के साथ ही साथ सुगठित उक्ति का दायरा भी सूक्ति में ही है। वाक्य का सुगठन एवं उसकी चारुता दोनों अभिन्न धर्म हैं। किन्तु लम्बे वक्तव्य को हम सूक्ति नहीं कह सकते, भले ही वह सुगटित एवं चारुता मण्डित हो। अतः सूक्ति में सूत्रात्मकता या आकारगत लघुता की भी एक वृत्ति

---

१. रामचन्द्र वर्मा : हिन्दी शब्दसागर : संस्करण ५ : पृष्ठ १२०१।

होती है। यही सूक्ति सम्बन्धी धारणा सामान्यतः जानी पहचानी जाती रही है। प्रत्येक दशा में वह वाक्य जो अपने प्रभाव की सघनता, पैठ एवं चारुता के साथ सूत्रात्मक रूप धारण करता है, सूक्ति बन जाता है। इसका प्रयोग वक्ता या लेखक अपने सुचिन्तित, सुगठित एवं पैने विचारों की व्यंजना के लिए बहुत सोच-विचार कर पूरी सतर्कता एवं सावधानी के साथ करता है। आचार्य शुक्ल ने अपने विभिन्न निबन्धों में ऐसी तमाम उक्तियों का प्रयोग किया है जो चारुता, सम्यक् चिन्तन सुगठन एवं विचारसंगुम्फन को एक साथ सार्थकता प्रदान करती है। इन्हीं अल्पाकृति वाली प्रभावी चारु उक्तियों को हम शुक्ल जी के निबन्धों में पायी जाने वाली सूक्तियों के रूप में स्वीकारते हैं। स्पष्ट है कि प्रत्येक अवस्था में यह सूक्ति सामान्य उक्ति की अपेक्षा ईषद् आकार में विशद विचार-व्यापार को ध्वनित करने की क्षमता से युक्त होती है।

वाङ्मय-व्यापार मूलतः उक्ति व्यापार है--"'स्वभावोक्तिश्च रसोक्तिश्च, वक्रोक्तिश्च वाङ्मयम्।" सूक्ति इन तीनों प्रकार की उक्तियों में व्याप्त और इन सब की शोभाकारिका होती है। स्वभावोक्ति में भी सूक्ति होती है जैसे "रहहिं न नीच मते चतुराई"—तुलसीदास। इसी प्रकार रसोक्ति का उदाहरण रखा जा सकता है-—"वह चितवनि और कछू जेहिं बस होत सुजान"—बिहारी। यही स्थिति वक्रोक्ति की भी है अर्थात् कई एक बार वक्रोक्ति भी सूक्ति के रूप में लायी जाकर अपना कमाल दिखाती है। यथा—'प्यादे से फर्जी भयौ टेढ़ो-टेढ़ो जाय'—बिहारी। प्रस्तुत किये गये इन उदाहरणों की स्थिति को शास्त्र की बहुत बारीक निगाह से देखने पर भी झुठलाया नहीं जा सकता और वक्ता-श्रोता के सहज सम्बन्ध में तो इनकी पूरी अर्थवत्ता अभिघटित होती है। यही कारण है कि इस प्रकार की पंक्तियाँ पाठक को एकाध बार पढ़ने से ही कण्ठस्थ हो जाती हैं। इसे हम भाषा-व्यापार में सूक्ति के महत्त्व की स्वीकृति के लिए साक्ष्यरूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

सूक्ति का विलोम कटूक्ति है पर आश्चर्य होगा यह जानकर कि कटूक्तियाँ भी कई बार एक सूक्ति के रूप में आकर अधिक पैनी हो जाती हैं। भाषा में उक्ति की अवधारणा का स्पष्टीकरण करने वाली उक्तियों में से एक—अत्युक्ति भी है। विनोक्ति, गर्वोक्ति आदि भी उक्ति की विशिष्ट अवस्था का निदर्शन करती हैं। अत्युक्ति एवं विनोक्ति को तो आलंकारिकों ने अलंकार का दर्जा दे रखा है। दर्प या अहंकारयुक्त उक्ति को दर्पोक्ति भी कहते हैं। यह भी सूक्ति की सूत्रात्मकता की लोभी होती है। तात्पर्य यह कि आशय व्यक्त करने वाले इन सभी वाक्यतन्तुओं पर सूक्ति समान रूप से हावी होती दिखायी पड़ती है।

शुक्ल जी ने सूक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके प्रयोग की परम्परा की नीति वाक्य या पद्य के साथ अधिक जोड़ी है। अर्थात् सूक्तिवाक्य, सिद्धान्त वाक्य हैं। कई एक बार वे किसी वस्तु या व्यापार को परिभाषित करने का कार्य भी करते हैं। सूक्तियों में मार्मिकता और हृदयानुभूति को उद्घाटित करने की शक्ति भी होती है।[१] आचार्य शुक्ल के

---

१. डॉ० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी नीतिकाव्य : पृष्ठ ७।

सूक्ति सम्बन्धी ये विचार नीतिकाव्य के सन्दर्भ में प्रस्तुत किये गये हैं, फिर भी उनका महत्त्व सूक्ति के स्वरूप निर्धारण में कम नहीं है। सर्वस्वीकृत है कि सूक्ति ऐसी उक्ति है जो अपने ईषद्‌कार में विचार एवं भाव की व्यापक परम्परा को स्पष्ट करने में सक्षम होती है।

आचार्य शुक्ल का गद्य साहित्य, समीक्षा, भूमिका और निबन्ध आदि कई रुपों में पाया जाता है। किन्तु मौलिक रूप से शुक्ल जी निबन्धकार थे। उनकी समीक्षा और भूमिका भी एक प्रकार से निबन्धरचनान्तर्गत ही आयेगी। किन्तु यहाँ हम उनके द्वारा शुद्ध रूप से लिए गये मात्र निबन्धों के सन्दर्भ में ही सूक्ति-विधान पर विचार करने बैठे हैं। पण्डित सुधाकर पाण्डेय ने शुक्ल जी के निबन्धों को मुख्यत: तीन वर्गों में बाँटा है---

(अ) वैचारिक निबन्ध जैसे उत्साह, क्रोध, श्रद्धा, भक्ति, लज्जा और ग्लानि, भेद में अभेद दृष्टि तथा करुण।

(ब) सैद्धान्तिक निबन्ध---जैसे भाव, कविता क्या है, काव्य में लोकमंगल और माधुर्य, काव्य का रूपविधान और कल्पना, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद आदि।

(स) व्यावहारिक निबन्ध जैसे श्री वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त, सूर का श्रृंगार वर्णन, तुलसी की भावुकता, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : परिचय तथा कामायनी।

इन निबन्धों के अतिरिक्त भी उनके तमाम निबन्ध हैं किन्तु यदि इन्हीं उपर्युक्त को प्रतिनिधि मानकर हम उनके सूक्ति प्रयोग की प्रवृत्ति को देखें तो ऐसा लगता है कि आचार्यप्रवर ने त्रिवर्गों में विभक्त अपने इन सोलह निबन्धों में लगभग ८७ सूक्तियों का नितान्त स्पष्ट एवं प्रभावी रूप से संगत प्रयोग किया है। अतः हम प्रतिनिधि रूप में चुने गये इन्हीं सोलह निबन्धों की सूक्ति-सम्पदा के प्रति यहाँ सामान्यरूप से अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

वैचारिक निबन्ध-- वैचारिकी के अन्तर्गत प्रथम प्रतिनिधि निबन्ध 'उत्साह' है। इसके अन्तर्गत उत्साह सम्बन्धी अपने विचारों का प्रतिपादन करते हुए शुक्ल जी ने आठ मुख्य सूक्ति-वाक्य प्रस्तुत किये हैं, इनमें उत्साह की पहचान, उसकी परिभाषा, सच्चे उत्साही के लक्षण, उत्साह के लक्षण फल केन्द्रित कर्म का प्रभाव, फल के स्वरूप की रचना का स्पष्टीकरण, प्रयत्न की परिभाषा तथा कर्मठ की परिभाषायें प्रस्तुत की गयी हैं। इन सूक्तियों को क्रमानुसार प्रस्तुत किया जा रहा है---

१. दु:ख के वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनन्द वर्ग में उत्साह का है।

२. साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है।

३. कर्म सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

४. प्रयत्न और कर्म संकल्प उत्साह नामक आनन्द के नित्य लक्षण हैं।

५. फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है।

६. फल पहले से बना-बनाया कोई पदार्थ नहीं होता है।

७. बुद्धि द्वारा पूर्णरूप से निश्चित की गयी व्यापार-परम्परा का नाम ही प्रयत्न है।

८. कर्म में आनन्द का अनुभव करनेवालों का ही नाम कर्तव्य है।

इस कोटि का दूसरा निबन्ध है—क्रोध। क्रोध के स्वरूप, प्रभाव एवं वाञ्छित-अवाञ्छित पक्ष का प्रतिपादन करते हुए आचार्य जी ने अपनी अभिव्यक्ति शैली में लगभग आठ सूक्तियों का समाश्रय लिया है। इनके द्वारा विद्वान् निबन्धकार ने क्रोध की उत्पत्ति, सामाजिक जीवन में क्रोध की महत्ता, क्रोध की सक्रियता, क्रोध से उत्पन्न वाञ्छित व्यापारों की स्थिति, क्रोध के प्रभाव, क्रोध एवं करुणा के प्रासंगिक सम्बन्ध, क्रोध एवं दण्ड के सम्बन्ध तथा क्रोध एवं वैर के सम्बन्ध की पड़ताल सूत्रात्मक शैली में की गयी है। यथा—

१. क्रोध, दुःख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है।

२. सामाजिक जीवन में क्रोध की जरूरत बराबर पड़ती है।

३. क्रोध सब मनोविकारों से फुर्तीला है।

४. काम, क्रोध करता है, पर नाम दया का होता है।

५. क्रोध, शांति भंग करने वाला मनोविकार है।

६. दण्ड, कोप का ही एक विधान है।

७. क्रोध, करुणा का आज्ञाकारी सेवक है।

८. क्रोध, वैर का अचार या मुरब्बा है।

इसी प्रकार विचार-प्रधान निबन्धों में एक प्रतिनिधि निबन्ध है श्रद्धा-भक्ति। श्रद्धा-भक्ति शुक्ल जी के निबन्ध-साहित्य में वैचारिकी के अन्तर्गत उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना सैद्धान्तिक निबन्धों की कोटि में महत्त्वपूर्ण है—"कविता क्या है?" इस निबन्ध में शुक्ल जी ने श्रद्धा एवं भक्ति सम्बन्धी अपनी अवधारणाओं को स्पष्ट करते हुए मुख्यतः उन्नीस सूक्तियों का प्रयोग किया है। इन सूक्तियों के द्वारा निबन्ध में आयातित विषय के विभिन्न पक्षों जैसे—श्रद्धा की परिभाषा, श्रद्धा का क्षेत्र, श्रद्धा-प्रेम का सम्बन्ध, श्रद्धा और धर्म का सम्बन्ध, श्रद्धा का मूल तत्त्व, श्रद्धा के पात्र, श्रद्धा से भक्ति के निर्माण की विधि, शील, गुण, मन की प्रक्रिया, पाप और पापी, सत्व एवं तम, ईश्वरीय भावना, भक्ति के मूल साधन, अवतार तथा क्षात्र धर्म की परिभाषा आदि पर सूत्ररूप में प्रकाश डाला गया है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए निम्न सूक्तियों का शुक्ल जी ने नितान्त सटीक प्रयोग किया है—

१. श्रद्धा, महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है।

२. श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त।

३. प्रेम में घनत्त्व अधिक है, श्रद्धा में विस्तार।

४. श्रद्धा के आश्रय से उन कर्मों के महत्त्व का भाव दृढ़ होता है, जिन्हें धर्म कहते हैं।

५. यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।

६. श्रद्धा का मूल तत्त्व है दूसरों का महत्त्व स्वीकार।

७. स्वार्थी एवं अभिमानियों के हृदय में श्रद्धा नहीं टिक सकती।

८. श्रद्धा, न्याय बुद्धि के पलड़े पर तुली हुई एक वस्तु है।

९. श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।

१०. शील की विभूतियाँ अनन्त रूपों में दिखायी पड़ती हैं।

११. गुण प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके आश्रय एवं परिणाम प्रत्यक्ष होते हैं।

१२. अनुभूति, मन की पहली प्रक्रिया है, संकल्प-विकल्प दूसरी।

१३. पाप का फल छिपाने वाला, पाप छिपाने वाले से अधिक अपराधी होता है।

१४. यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी हमारे काम का है।

१५. जहाँ धर्म भाव है, वहीं ईश्वर भावना है।

१६. भक्ति, हृदय से की जाती है।

१७. अपने जीवन द्वारा कर्म सौन्दर्य संघटित करने वाले ही अवतार कहे गये हैं।

१८. क्षात्र धर्म एकांतिक नहीं है। उसका सम्बन्ध लोक-रक्षा से है।

"लज्जा और ग्लानि" वैचारिकी के कोटि का एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध है। इन दोनों मनोविकारों के स्वरूप, प्रभाव एवं परिणति का विभिन्न दृष्टियों से विश्लेषण करते हुए शुक्ल जी ने निर्लज्जता, ग्लानि, आशंका, मनुष्य की समाजबद्धता, संकोच आदि पर चुभन-शील सूक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। इस निबन्ध में शुक्ल जी ने बहुत ही कम संख्या में सूक्तियों का प्रयोग किया है। वे मुख्यतः मात्र पाँच हैं—

१. कोई बुरा कहे या भला, इसकी परवा न करके जो काम करते रहते हैं, वे ही निर्लज्ज कहे जाते हैं।

२. ग्लानि, अन्तःकरण की शुद्धि का एक विधान है।

३. आशंका अनिश्चयात्मकवृत्ति है।

४. मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है।

५. लज्जा का एक हल्का रूप संकोच है।

वैचारिकी का पाँचवाँ निबन्ध है—"भेद में अभेद दृष्टि।" इसमें अभेद दृष्टि को ज्ञान या सत्वदृष्टि बताते हुए यह सिद्ध किया गया है कि एक ही ब्रह्म अनेक जीवों में और अनेक जीव एक ही पारमार्थिक सत्ता के साथ अस्तित्ववान् है, यथा—

१. नाना भेदों में अभेद दृष्टि ही सच्ची दृष्टि है।

२. एक, अनेक की समष्टि है, अनेक, एक के ही आभास हैं।

शुक्ल जी के निबन्धों के इस प्रथम वर्ग में स्वीकृत निबन्धों के बीच एक और महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि निबन्ध, विवेच्य विषय के विचार से 'करुणा' है। "करुणा" नामक

निबन्ध के अन्तर्गत आचार्य जी ने लगभग एक दर्जन जिन सूक्तियों का प्रयोग किया है, उनमें करुणा की अन्य भावों से अलग पहचान प्रस्तुत करते हुए करुणा के महत्त्व, मनोविकारों की महत्ता, प्रत्यक्ष-परोक्ष स्थितिजन्य सुख-दुःखानुभव, सामाजिक जीवन में करुणा की भूमिका, करुणा के क्षेत्र के कपटाचार, नीति एवं धर्म के क्षेत्र के दम्भ, करुणा के प्रतिफल, करुणा के लिए अभीष्ट त्याग, आदि गम्भीर तथ्यों एवं मुद्दों को सूक्ति के सहारे प्रस्तुत करके स्वयं उसकी सुबोध व्याख्या की है। अपने इस निबन्ध को वैचारिक व्यवस्था देते हुए शुक्ल जी ने निम्नांकित सूक्तियों का सुचिन्तित प्रयोग किया है—

१. दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है।

२. मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता का आदि संस्थापक यही "करुणा" मनोविकार है।

३. नियम, शील या सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष नहीं।

४. मनोविकार वर्जित सदाचार, दम्भ-या झूठी कवायद है।

५. मनुष्य के आचरण के प्रवर्तक ये मनोविकार ही हैं।

६. प्रत्यक्ष निश्चय कराता है, परोक्ष अनिश्चय में डालता है।

७. सामाजिक जीवन की पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है।

८. छद्मशिष्टता मनुष्य की व्यवहारक्षेत्र की सचाई को चरती जा रही है।

९. करुणा अपना बीज लक्ष्य में नहीं फेंकती है।

१०. मनुष्य की सजीवता भावों की तत्परता में है।

११. नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है।

१२. करुणा, सेंत का सौदा नहीं।

सैद्धान्तिक निबन्ध—सिद्धान्त-निरूपण करने वाले निबन्धों की रचना भी शुक्ल जी ने पर्याप्त मात्रा में की है। किन्तु सूक्ति-विधान की दृष्टि से यहाँ हमने शुक्ल जी के केवल पाँच उन निबन्धों का चयन किया है जो इस वर्ग के प्रतिनिधि-निबन्ध कहे जा सकते हैं। जिनका उल्लेख पीछे किया भी जा चुका है। इन पाँचों निबन्धों में 'काव्य का रूपविधान और कल्पना' नामक निबन्ध में सूक्तिप्रयोग शून्य प्राय है। अतः यहाँ इस वर्ग के मात्र चार निबन्धों के सन्दर्भ में ही चर्चा की जा रही है।

इस वर्ग में गृहीत प्रथम निबन्ध है—'भाव'। इसमें शुक्ल जी ने भाव को कर्म का मूल प्रवर्त्तक एवं शील का संस्थापक बताया है और स्वीकार किया है कि मन की वेग युक्त विशिष्ट अवस्था ही भाव है। भावों से बिम्ब की रचना होती है और यही बिम्ब काव्य की सम्पदा बनते हैं।

सूक्तियाँ इस प्रकार हैं——

१. भाव ही कर्म के मूल प्रवर्त्तक और शील के संस्थापक हैं।

२. पात्र के भाव की ही प्रतीति श्रोता या पाठक को रस रूप में होती है।

३. भाव, मन की वेगयुक्त विशेष अवस्था है।

४. काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रह अपेक्षित होता है।

'कविता क्या है ?' इस दृष्टि से इस वर्ग का दूसरा प्रतिनिधि निबन्ध है। इस निबन्ध में प्रयुक्त विभिन्न सूक्तियों के माध्यम से शुक्ल जी ने कविता की परिभाषा, उसके उपयोग, मनोवेग, काव्योत्पत्ति के उदात्त आधार, काव्योक्ति एवं सामान्योक्ति के अन्तर, काव्य में भाव एवं रस की महिमा की प्रतिष्ठा की है। इसके लिए उनके द्वारा प्रयुक्त प्रमुख सात सूक्तियाँ उल्लेखनीय हैं——

१. कविता वह साधन है, जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।

२. मनुष्य की भीतरी रागात्मिका प्रवृत्ति का सामञ्जस्य ही कविता का लक्ष्य है।

३. कार्यों में प्रवृत्ति के लिए मन में वेग आना आवश्यक है।

४. कविता इसी (मानसिक) मर्ज की दवा है।

५. कविता, उच्चाशय, उदार और निःस्वार्थ हृदय की उपज है।

६. कविता की बोली और साधारण बोली में बड़ा अन्तर है।

७. रस और भाव ही कविता के प्राण हैं।

"काव्य में लोकमंगल और माधुर्य" शीर्षक निबन्ध में शुक्ल जी ने कर्मगत सुन्दरता, भावों की मंगलोन्मुखता, करुणा एवं प्रेम की दिशा, राग के रूपान्तरण के परिणाम, राग एवं द्वेष का अन्तर , करुणा के परमहंस रूप, कविता की व्यञ्जना मूलकता, सजावट एवं काव्य रुचि का सम्बन्ध, माधुर्य की परिभाषा, प्रेम के निर्माण में राग की मधुरता के पुटपाक आदि से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण बातों को सूक्ति-विधान द्वारा पाठकों तक प्रभावी ढंग से सम्प्रेषित किया गया है और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए लगभग एक दर्जन सूक्तियों का विनियोग किया गया है।

१. विरुद्धों का सामञ्जस्य ही कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है।

२. बीज भाव की प्रकृति मंगलविधायिनी होती है।

३. करुणा की गति, रक्षा की ओर और प्रेम की रंजन की ओर होती है।

४. एक बहुत ही ऊँचे प्रकार की सुख देने वाली वस्तु का नाम सुन्दरता है।

५. वासनात्मक अवस्था से भावात्मक अवस्था में आने वाला राग ही प्रेम है।

६. राग मिलाने वाली वासना है और द्वेष अलग करने वाली।

७. करुणा, वैर-प्रीति कुछ नहीं देखती।

८. कविता अभिव्यंजना है।
९. सजावट की रुचि का ही एक रूप काव्य की रुचि है।
१०. मन को पास खींचने वाली शक्ति माधुर्य है।
११. प्रेम के रूप में राग का आविर्भाव माधुर्य पाकर होता है।

सैद्धान्तिकी के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण निबन्ध के रूप में सामान्यतया 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' की गणना होती है। शुक्ल जी ने इसमें पाँच प्रमुख सूक्तियों की प्रतिष्ठा की है। इनके द्वारा सच्चे कवि की पहिचान, रस दशा की परिभाषा, 'काव्य में विशेष' के महत्त्व, साधारणीकरण में आलम्बन धर्म की भूमिका, और बोध वृत्ति के विचार से कल्पना के वर्चस्व आदि पर गम्भीर दृष्टि डालते हुए उनके सत्य स्वरूप का उद्घाटन किया गया है। यह सूक्तियाँ हैं––

१. सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो।
२. लोक हृदय में हृदय के लीन होने का नाम रसदशा है।
३. काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, सामान्य नहीं।
४. साधारणीकरण आलम्बन धर्म का होता है।
५. कल्पना काव्य का बोध पक्ष है।

व्यवहारिकी

शुक्ल जी ने अपने व्यवहारिकी निबन्धों में प्राय: साहित्यिक कृतियों और कृतिकारों की उपलब्धियों को उन प्रतिमानों पर आँकने की कोशिश की है, जिनका निर्धारण उन्होंने स्वयं सैद्धान्तिक निबन्धों में किया है। ऐसा भी देखा जाता है कि मूल्यांकन के ये निकष उनके अपने भी हैं और पूर्ववर्ती पराये भी। ऐसे निबन्धों में प्रमुख के नाम हम पहले ही बता चुके हैं। इस कोटि का ही उनका एक निबन्ध है––'वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त'। इस चिन्तन एवं तत्त्व-अनुशीलन प्रधान निबन्ध के अन्तर्गत आचार्य शुक्ल ने कर्ममय संसार के बाधापूर्ण पथ पर होने वाली कठिनाइयों की दु:खात्मक अनिवार्यता की ओर संकेत किया है। उनके द्वारा इस निबन्ध में प्रयुक्त एक मात्र सूक्ति नितान्त सूत्रवाक्य वेद वाणी जैसी प्रतीत होती है। यथा––

१. कर्त्तृत्व दु:ख रूप है।

शुक्ल जी ने सूर के श्रृंगार वर्णन का अभिमूल्यन करते हुए 'सूर का श्रृंगार वर्णन' नामक निबन्ध लिखा था। जिसमें राधाकृष्ण के प्रेम की उत्पत्ति, सूर के प्रेम-वर्णन की प्रभुविष्णुता, प्रेम व्यापार में नेत्रों की महत्त्वपूर्ण भूमिका, और नारी स्वभाव की अनेक बातों को सूक्तियों द्वारा समुस्थिति किया गया है। उदाहरणार्थ निम्न सूक्तियाँ देखी जा सकती हैं।

१. बालक्रीड़ा के सखा-सखी आगे चलकर यौन-क्रीड़ा के सखा-सखी बन जाते हैं।

२. सूर का संयोग वर्णन प्रेम-संगीत-मय जीवन की एक गहरी चलती धारा है।

३. रूप को हृदय तक पहुँचाने वाले नेत्र ही हैं।

४. हवा से लड़ने वाली स्त्रियाँ देखी नहीं तो कम से कम सुनी तो बहुतों ने होंगी।

व्यवहारिकी के क्षेत्र में उनका सर्वाधिक चर्च्य निबन्ध 'तुलसी की भावुकता' को माना गया है। इस निबन्ध में आचार्य जी ने राम-भरत का चित्रकूट मिलन, आश्रय और आलम्बन का सम्बन्ध, भारतीय कुल बधुओं का विरह, प्रिय के दुःख से उत्पन्न शोक, प्रिय विरह, 'भक्तों का ईश्वर' आदि प्रकरण को सुगठित सूक्ति शैली में विश्लेषित किया है। इस दृष्टि से उनके द्वारा अधोलिखित सूक्तियाँ उल्लेखनीय हैं:

१. रामचरितमानस में चित्रकूट की सभा एक आध्यात्मिक घटना है।

२. आश्रय और आलम्बन की स्थिति ठीक वही है जो ज्ञाता और ज्ञेय की है।

३. भारत की कुलबधू का विरह आवारा आशिक-माशूकों का विरह नहीं है।

४. प्रिय के दुःख या पीड़ा पर जो दुःख होता है, वह शोक है।

५. प्रिय के कुछ दिनों के लिए वियुक्त होने का जो दुःख होता है, वह विरह है—

६. भक्त लोगों का ईश्वर अविचल नियमों की समष्टि मात्र नहीं ।

इस धारा के 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र परिचय' नामक निबन्ध में कोई भी सूक्ति प्रयुक्त नहीं हुई है किन्तु 'कामायनी' नामक निबन्ध में लेखक ने जिन दो सूक्तियों का प्रयोग किया है वे व्यंजना एवं सम्प्रेषणीयता के विचार से काफी महत्त्व की प्रतीत होती हैं जैसे—

१. दूसरों के दुःख का अपना दुःख हो जाना ही करुणा है।

२. परदुःखानुभव अपनी ही सत्ता का प्रसार सूचित करता है।

विभिन्न प्रतिनिधि निबन्धों में प्रयुक्त लगभग इन सत्तासी सूक्तियों के प्रकाश में यदि शुक्ल जी के सूक्ति विधान पर निष्कर्ष किया जाय तो यह मानना पड़ता है कि उसका सबसे पहला प्रभाव पाठक पर यही पड़ता है कि इन सूक्तियों के द्वारा विद्वान निबन्धकार का गहन एवं सुगठित चिन्तन एवं भाषा की सामासिक शक्ति अपने समय एवं युग में ही नहीं समस्त हिन्दी गद्य के क्षेत्र में बेजोड़ है। शुक्ल जी की ये सूक्तियाँ अनुभूति एवं चिन्तन नीति एवं धर्म तथा मर्यादा एवं आचार की संहिता का एक साथ सार्वयुगीन आदर्श प्रस्तुत करती हैं। अनाख्येय अनुभव एवं चिन्तन को सूत्र रूप में निबद्धकर आगामी वाङ्मय-व्यापारियों के लिए आचार्य प्रवर ने जहाँ कई दिशाएँ एक साथ खोल दी हैं वहीं पाठक की रुचि के परिष्कार एवं उनके संस्कार को ललकारती हुई ये सूक्तियाँ आकर्षण का प्रकर्ष केन्द्र बन गयी हैं। ऐसे सूत्रों को लेकर हम अपनी वक्तृता तथा अभिभाषण को शाश्वत चारुता प्रदान कर सकते हैं—जैसे श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। अथवा 'सदाचार रहित नीतिमात्र दम्भ अथवा झूठी कवायद है।' एक में भक्ति भाव की परिभाषा की पहचान सर्वतोभावेन स्पष्ट हो गयी है तो इस दूसरी सूक्ति में सदाचार के ऋणात्मक पक्ष से बचकर उसके रचनात्मक स्वरूप की सृष्टि का आयाम स्वतः आयातित हुआ है। न बात में कोई

बनावट है और न शब्द संस्कार में कोई दुर्बोधता। जन सामान्य की बोली में जन समाज के जीवन के संहिता-सूत्रों की यह विरचना शुक्ल जी की प्रतिभा एवं उनके व्यक्तित्व के वैराट्य का ही प्रतिमान प्रस्तुत करती है।

ये निष्कर्ष उनके सम्पूर्ण निबन्ध साहित्य के साथ सूक्ति प्रयोग की दृष्टि से सार्थक इसलिए हैं कि इस लघु लेख में शुक्ल जी की निबन्ध रचना के काल-क्रम की दृष्टि से प्रारम्भ से लेकर उनके जीवन के अन्तिम समय तक लिखे गये निबन्धों का समावेश किया गया है। भाषा, साहित्य-शास्त्र तथा हिन्दी के भक्ति साहित्य से लेकर कामायनी तक इन निबन्धों के विषय हैं। बुद्धचरित, विश्वप्रपंच, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, रस मीमांसा, गोस्वामी तुलसीदास, हिन्दी निबन्ध माला के विविध संस्करण, भारतेन्दु साहित्य, हिन्दी साहित्य का इतिहास, चिन्तामणि भाग १ व २ और सूर आदि को इस सूक्ति अध्ययन में समेट लिया गया है। अतः हमने यहाँ जिन बातों की ओर संकेत किया है वे आचार्य शुक्ल के सम्पूर्ण निबन्ध साहित्य को सूक्ति प्रयोग के प्रकाश में हमारे सामने लाती हैं।

——अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
एम० एल० के० कालेज
बलरामपुर

●

सरस्वती पुत्र : आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल

डॉ० ज्ञानेश्वरी बाजपेयी

प्रतिभा मण्डित आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी को माँ सरस्वती का वरदान प्राप्त था। साहित्य की किसी भी विधा से वे अनविज्ञ नहीं थे। वे निबंधकार और आलोचक के रूप में हिन्दी साहित्य में सुप्रतिष्ठित हैं। शुक्ल जी सफल सम्पादक-अनुवादक एवं इति-हासकार के रूप में भी विख्यात हैं। मात्र एक कहानी "ग्यारह वर्ष का समय" लिख कर शुक्ल जी कहानीकार भी माने जाने लगे थे। हिन्दी साहित्य की सर्वप्रथम तीन कहानियों में "ग्यारह वर्ष का समय" को स्थान प्राप्त हुआ है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को लिखने में आचार्य शुक्ल की समता कोई भी इतिहास-कार नहीं कर पाया। रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास "सर्वाङ्गपूर्ण एवं अपने समय की समस्त सीमाओं को समेट कर चलने वाला पूर्ण इतिहास है।" शिवसिंह सरोज व मिश्र बन्धुओं के इतिहास की त्रुटियों को दूर कर एक सुसम्बद्ध हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल ने ही प्रस्तुत किया है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित "हिन्दी शब्द सागर की भूमिका" के रूप में यह इतिहास लिखा गया। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को ही आधार मानकर उनके परवर्ती इतिहासकार अपना हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते रहे हैं। यही उनकी प्रेरणा का केन्द्र बना है। शुक्ल जी द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य का इतिहास आज भी हिन्दी अध्येता के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि पहले था।

शुक्ल जी ने "बुद्ध चरित" नामक एक प्रबन्ध काव्य की रचना की। वास्तव में यह मौलिक रचना न होकर अनुवाद है। सर एडविन आरनोल्ड द्वारा लिखा गया "लाइट आफ एशिया" का अनुवाद ब्रजभाषा में शुक्ल जी ने किया है। इस कृति को पढ़कर पाठक यह कदापि नहीं समझ पाता कि यह मूल कृति न होकर अनुवाद है। वरन् इसे पढ़कर मूल कृति-सा ही आनन्द आता है। इसके सम्बन्ध में शुक्ल जी ने ही लिखा था कि—"यद्यपि इसका ढंग ऐसा रखा गया है कि एक स्वतन्त्र काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो पर साथ ही मूल पुस्तक के भावों को स्पष्ट करने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया है।" "बुद्ध चरित" की एक अपनी विशेषता अथवा यों कहें कि शुक्ल जी की प्रतिभा की विशेषता थी कि खड़ी बोली के उस युग में "बुद्ध चरित" ब्रजभाषा में रचा गया। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रजभाषा के लिए

शुक्ल जी के हृदय में कितना अगाध प्रेम था। खड़ी बोली का अधिक बोलबाला होने के कारण "बुद्धचरित" का अधिक प्रचार नहीं हो सका। शुक्ल जी ब्रजभाषा का युगानुकूल संस्कार करना चाहते थे। पर यह प्रयास उनका सफल नहीं हो पाया। शुक्ल जी निबन्धकार एवं आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित होते गये अतः काव्य रचना एवं कहानी लेखन का कार्य आगे न बढ़ सका। वैसे उन्होंने पाँच अंग्रेजी तथा एक बंगला की अर्थात् छः पुस्तकों का अनुवाद भी हिन्दी में किया था। अंग्रेजी की पुस्तकों में मेगस्थनीज का "भारतवर्षीय विवरण" आप द्वारा सर्व प्रथम अनूदित रचना थी। दूसरा एडिसन के "Essays on Imagination" का अनुवाद "कल्पना का आनन्द" नाम से किया था। "plain living and high thinking" नामक कृति का तीसरा अनुवाद, "आदर्श जीवन" शीर्षक से किया था। चौथा अनुवाद "The Riddle of Universe" का "विश्वप्रपंच" नाम से तथा पाँचवाँ "लाइट आफ एशिया' का "बुद्ध चरित" है। राखालदास बन्द्योपाध्याय के 'शशांक' उपन्यास का अनुवाद शुक्ल जी ने "शशांक" नाम से ही किया था।

शुक्ल जी के अनुवाद तो सतत् अध्ययन-मनन की निष्पत्ति हैं ही, इन अनुवादों की भूमिकाएँ भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन भूमिकाओं के पठन-पाठन से अध्येता को अनुवाद समझने में बड़ी सरलता होती है। साथ ही लेखक के विषय में भी ज्ञातव्य सारी जानकारियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यह शुक्ल जी की मौलिकता है कि वे वेद-पुराण आदि के उदाहरणों से अपने कथन को इतना पुष्ट कर देते हैं कि पाठक को कहीं शंका ही नहीं हो पाती कि यह विदेशी लेखकों द्वारा रचित कृतियों के अनुवाद मात्र हैं। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि शुक्ल जी को अपने अनुवाद क्रम में कितनी तन्मयतापूर्वक भाषा-परिष्कार एवं लेखन शैली का ध्यान रखना पड़ा होगा। उन्होंने इसके लिए कितना श्रम किया होगा।

अनुवाद के अतिरिक्त शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति पर ध्यान दें तो हम देखते हैं कि आलोचना के विकास में शुक्ल जी का योगदान एक आधार-शिला के रूप में ही मानना पड़ेगा। वर्तमान समय में आलोचना साहित्य, साहित्य का सर्वश्रेष्ठ अंग बन गया है। यह साहित्य पर्याप्त रूप से सम्पन्न भी है। वर्तमान समय के साहित्यकार बड़ी सतर्कता के साथ हिन्दी के वर्तमान सृजन-शक्ति व उससे निर्मित साहित्य के अनेक अंगों के विस्तार पर अपनी दृष्टि जमा कर आलोचना लिख रहे हैं। इन साहित्य-सेवियों का सतत् प्रयत्न यही रहता है कि उनका साहित्य जीवन की समग्रता को समेटता हुआ चले। आदर्श-वादी कल्पना के पेचदार चक्करों से निकाल कर साहित्य को यथार्थ के धरातल पर खड़ा करने का श्रेय इन्हीं आलोचकों को है, क्योंकि इन्हीं की मान्यताओं के अनुसार साहित्य-सर्जक अपना सृजन करते हैं। वर्तमान हिन्दी-आलोचना का जो रूप है उसका पूर्ण श्रेय पूर्व वर्ती साहित्यकारों को है, जिन्होंने आलोचना को प्रगति के मार्ग पर चलने की राह दिखाई। उन्हीं मनीषियों में श्री रामचन्द्र शुक्ल का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। यहाँ पर एक संक्षिप्त विवेचन के द्वारा शुक्ल जी की प्रतिभा का उद्घाटन करना ही मेरा लक्ष्य है। पहले हमारी दृष्टि शुक्ल जी के उस

क्षेत्र तक जाती है जिसे उन्होंने आलोचना की सीमाओं में सम्मिलित किया था। पहले क्षेत्र में तो हम निर्विवाद रूप से हिन्दी साहित्य के इतिहास को रखते हैं। दूसरे में सूर-तुलसी, एवं जायसी की विस्तृत समीक्षाएँ रखी जाती हैं। अपनी समीक्षाओं के माध्यम से शुक्ल जी ने काव्यगत रस एवं अलंकारों की सर्वथा नूतन एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की।

इस प्रकार की आलोचना करने में शुक्ल जी इसलिए सफल हो सके, कि उन्होंने पाश्चात्य साहित्य एवं भारतीय साहित्य का गहन अध्ययन किया था। उनका अध्ययन गहन होने के साथ-साथ वैज्ञानिक पद्धतियों पर आधारित था और उनकी समीक्षा में भारतीय एवं पाश्चात्य आलोचना का सुन्दर समन्वय था। मात्र साहित्य का विवेचन न करके शुक्ल जी ने उनके कृतिकार की अन्तःप्रकृति एवं उसके स्वभावगत विशेषताओं का भी उद्घाटन किया। शुक्ल जी की समीक्षा व्यक्तिगत रुचियों पर आधारित न होकर सर्वमान्य साहित्यिक सिद्धान्तों पर आधारित है। इसी कारण इसकी औदात्यता एवं पुष्टता अधिक प्रखर है। श्री नन्ददुलारे बाजपेयी ने शुक्ल जी की आलोचना के विषय में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया था "हिन्दी समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में शुक्ल जी ने युग-प्रवर्तक का कार्य किया वह हिन्दी के इतिहास में स्मरणीय रहेगा।" शुक्ल जी को लोगों ने तुलसी का अन्धभक्त भी कहा एवं पक्षपाती व एकांगी भी, पर इससे शुक्ल जी का महत्त्व रंचमात्र भी कम नहीं होता। शुक्ल जी तो शायद साहित्य के ऐसे गहन-गम्भीर सागर थे कि उसकी थाह पाना अति दुस्तर कार्य था। शुक्ल जी द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर हिन्दी समालोचना आज भी प्रगति करती चल रही है।

शुक्ल जी पर व्याज निन्दा के रूप में एक अन्य आरोप भी है कि शुक्ल जी की आलोचना अत्यन्त क्लिष्ट, गहन और गम्भीर है। अब इसमें शुक्ल जी का क्या दोष हो सकता है? डॉ० रामविलास शर्मा ने इस विषय पर कहा है कि "जो बात समझने में बुद्धि पर ज्यादा जोर पड़े उसे गम्भीर कह कर जल्दी पीछा छूट जाता है"। डॉ० शर्मा और भी कहते हैं कि "शुक्ल जी की आलोचना गम्भीर है, इसलिए कि उसका आधार भाववादी दृष्टि-कोण है। वह संसार के उन इने-गिने आलोचकों में हैं जिन्होंने मुक्त कंठ से इस भौतिक जगत्, मनुष्य के व्यवहार जगत को सत्य स्वीकार किया है। शुक्ल जी ने लिखा है कि "संसार का अर्थ आजकल योरोप और अमेरिका लिया जाता है।" जब संसार में भारत की भी गिनती होने लगेगी यानी कुछ बुद्धि-जीवियों का दिमाग पश्चिम की गुलामी से मुक्त होगा वहाँ की प्रगतिशील विचार-धारा पहचान कर उससे शुक्ल जी की तुलना करेगा तब वह उनका महत्त्व पहचानेगा। उसके पहले नहीं।

जहाँ एक ओर शुक्ल जी आलोचना के क्षेत्र में इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे वहीं दूसरी ओर हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में भी उनका महत्त्व कुछ कम नहीं था। हिन्दी निबन्ध के विकास में शुक्ल जी का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारतेन्दु-युग में गद्य-साहित्य के विभिन्न अंगों के विकास के साथ ही निबन्ध-साहित्य का भी प्रचुर विकास आरम्भ

हुआ था। भारतेन्दु काल से पूर्व जो थोड़े बहुत निबन्ध लिखे भी गए थे वे शुद्ध हिन्दी-निबन्ध नहीं कहे जा सकते।

द्विवेदी-युग में नवीन सामाजिक-राजनैतिक एवं सांस्कृतिक चेतना का प्रारम्भ हो रहा था। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा साहित्यकार निबन्ध के रूप में अपनी विचारधारा पाठक तक पहुँचाने में समर्थ होते थे। इस समय के निबन्ध लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रताप-नारायण मिश्र, प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास आदि प्रमुख थे। इन निबन्धकारों की अपनी-अपनी पृथक शैलियाँ थीं। बालमुकुन्द गुप्त जी द्वारा लिखा गया निबन्ध "शिवशम्भु के चिट्ठे" उस काल में बहुत लोकप्रिय हुआ। आज भी वे पत्र साहित्य की अमूल निधि बने हुए हैं। निबन्ध एवं गद्य साहित्य के विषय में डॉ० राम विलास शर्मा ने लिखा है कि "जितनी सफलता भारतेन्दु-युग के लेखकों को निबन्ध रचना में मिली उतनी कविता और नाटक में भी नहीं मिली। इसका एक कारण यह था कि पत्र-पत्रिकाओं में नित्य-प्रति निबन्ध लिखते रहने से उनकी शैली खूब निखर आयी थी। साहित्य की सच्ची प्रवणता उसी शैली में है जहाँ पाठक और लेखक के बीच कोई दुराव नहीं रह जाता।. . .इसलिए भारतेन्दु युग की गद्य-शैली के सबसे चमत्कारपूर्ण निदर्शन निबन्धों में ही मिलते हैं।"

भारतेन्दु-युग के निबन्धों की विषय-वस्तु भिन्न प्रकार की थी और द्विवेदी-युग की भिन्न प्रकार की। द्विवेदी युग में निबन्धों के विषय गंभीर होने लगे। भाषा को भी अधिक परिमार्जित और विस्तृत किया गया, इसका कारण यह था कि इस समय निबन्ध को मनोरंजन का साधन न मानकर शोध का साधन माना गया। निबन्धों के विषय, समाज, नीति, पुरातत्व और इतिहास से सम्बन्धित हो गये। वास्तव में अब यह निबन्ध न होकर प्रबन्ध अधिक हो गये। अब निबन्धों में बौद्धिकता को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। निबन्धों से चूँकि हार्दिकता का भाव घटने लगा था अतः व्यक्तित्व भी तिरोहित होने लगा। इस प्रकार द्विवेदी जी के मतानुसार अब निबन्ध 'ज्ञान राशि का कोष" मात्र रह गये।

निबन्ध की इस स्थिति के साथ ही पं० रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध के क्षेत्र में पदार्पण हुआ। बाबू गुलाबराय के शब्दों में "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध-क्षेत्र में पदार्पण करने से निबन्ध-साहित्य में एक नया जीवन आया। द्विवेदी युग में विषय विचार, और परि-मार्जन तो पर्याप्त हुआ किन्तु उस काल में उतना विश्लेषण और गहराई में जाने की प्रवृत्ति न उत्पन्न हो सकी।"

'चिन्तामणि' एवं 'विचार बीथी' में संग्रहीत निबन्धों के अवलोकन से हमारे सम्मुख यह सत्य उजागर हो जाता है कि शुक्ल जी की क्षमता गूढ़ विवेचन और अति सूक्ष्म विश्लेषण की थी। 'त्रिवेणी' नाम से भी शुक्ल जी ने एक निबन्ध-संग्रह लिखा था पर विद्वान उसे निबन्ध से अधिक प्रबन्ध की संज्ञा देते हैं। तुलसी व जायसी पर अपने विचार शुक्ल जी ने इनमें व्यक्त किये हैं। यह उन विद्वानों के ऊपर लिखी गई विस्तृत भूमिकाओं का ही संक्षिप्तीकरण है।

शुक्ल जी के निबन्धों के विषय में जब हम विचार करते हैं तो पाते हैं कि शुक्ल जी ने दो प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। (१) सामान्य विषयों पर लिखे गए निबन्ध जो जीवन से

सम्बन्ध रखते हैं और (२) साहित्यिक अर्थात् आलोचनात्मक निबन्ध जिनमें साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी विवेचन, विश्लेषण प्राप्त होता है। पहले प्रकार के निबन्धों में मनो-विज्ञान को शुक्ल जी ने आधार बनाया है यथा---ईर्ष्या, क्रोध, करुणा, उत्साह-श्रद्धा-भक्ति आदि। इन निबन्धों में शुक्ल जी ने यह प्रयास किया है कि विषय-वस्तु से सम्बन्धित भाव को स्पष्ट करके "यह क्या है? और क्या नहीं है?" इसकी व्याख्या करके इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि पाठक को वह सुगम्य लगे। इस प्रकार के निबन्धों के लिए शुक्ल जी ने जो शैली अपनायी है वह भी अत्यन्त सुलझी हुई है। दो प्रकार से अपने भावों को उन्होंने पाठकों के सम्मुख रखना चाहा है। एक तो कहीं-कहीं उन्होंने विषय को व्याख्यायित करके निष्कर्ष तक पहुँचाया है और दूसरे आरम्भ में एक सूत्र देकर फिर उसकी व्याख्या करते हुए उसका आशय स्पष्ट किया है।

शुक्ल जी की भाषा सरल, सहज और ग्राह्य है। इसमें शुक्ल जी का व्यक्तित्व स्पष्टतः झलक उठा है। इसी कारण इसमें भावुकता-जन्य आवेश है। फिर भी निबन्ध की 'साहित्यिकता' में कहीं न्यूनता नहीं आने पायी है। छोटे-छोटे सरल भाषा के वाक्यों के बीच-बीच हास्य-व्यंग्य का पुट दे देने के कारण शैली में एक आकर्षण उत्पन्न हो गया है।

शुक्ल जी के आलोचना सम्बन्धी निबन्धों के शीर्षक बहुत ही आकर्षक एवं साहित्यिक हैं। यथा "काव्य में रहस्यवाद," "कविता क्या है?" साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद" आदि। इन निबन्धों में शुक्ल जी का पाण्डित्य मुखर हो उठा है। निबन्धों की रूप-योजना, उनमें निहित भावुकता, काव्यात्मकता आदि के सम्मिश्रण से पाठक एक चित्रमयता का अनुभव करता है। इतना होने पर भी निबन्धों में आपेक्षित गंभीरता निहित है।

यह सत्य है कि "शुक्ल जी का हृदय कवि है, मस्तिष्क आलोचक और जीवन अध्यापक का है"। इसी कारण शुक्ल जी का विषय कितना भी गंभीर हो हृदय की करुणा उमड़-उमड़ कर उसमें साकार हो जाती है और एक ऐसी कल्याणकारी अनुभूति की सृष्टि करती है कि उनके निबन्धों की गम्भीरता तिरोहित हो जाती है। एक अनूठा सौन्दर्य प्रकट होने लगता है। समास शैली के माध्यम से शुक्ल जी विचारों को आगे करते चलते हैं। इसी विशेषता के कारण शुक्ल जी की शैली द्विवेदी-युग की नीरस शास्त्रीय-शैली से अधिक ऊँची उठ सकी है। ऐसी सशक्त गद्य-शैली के कारण ही आज हिन्दी-आलोचना एवं निबन्धों को बल प्राप्त हो सका है।

शुक्ल जी के निबन्धों के विषय में क्या विचार हैं यह उन्हीं के द्वारा लिखे "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में निबन्ध साहित्य के विवेचन से प्राप्त होते हैं। शुक्ल जी ने स्वयं ही लिखा है कि "आधुनिक, पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तिगत विशेषता हो।" व्यक्तिगत विशेषता को शुक्ल जी ने इस प्रकार व्याख्यायित किया है "व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जानबूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाय। भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना रखी जाए जो उनकी अनुभूति से प्रकृति या लोकमान्य

स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे। अथवा भाषा से सरकस वालों की-सी कसरतें, हठ-योगियों के से आसन कराये जायँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"

यदि लेखक तत्त्व-चिन्तन अथवा दार्शनिक विचार-धारा को अभिव्यक्त करने लगे तो उसका 'व्यक्ति' नहीं स्पष्ट हो पाता। किन्तु कुशल निबन्धकार उन्हीं बातों के मध्य विवेचन के द्वारा अपनी 'व्यक्तिगत विशेषता' अंकित कर देता है। इसका क्या रहस्य है यह शुक्ल जी के ही शब्दों में "तत्त्व-चिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध-सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरों में कहीं नहीं फसता है। पर निबन्ध लेखक अपने मन की वृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचारता चलता है। यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी विशेषता है। अर्थ-सम्बन्धी सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्मित करती हैं।

शुक्ल जी के 'चिन्तामणि' निबन्ध संग्रह में संग्रहीत निबन्धों के सन्दर्भ में हम परीक्षण करें तो उनकी ऊपर वर्णित समस्त विचार-धारा सटीक उतरती है। यही कारण है कि साहित्य-जगत् में न शुक्ल जी पूर्व और न हीं उनके पश्चात् उनकी कोटि का कोई आलोचक एवं निबन्धकर हो पाया।

—६२ छोटा बघाड़ा, इलाहाबाद।

●

आचार्य शुक्ल के निबन्धों में हास्य-व्यंग्य विनोद

डॉ० सरोज

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का व्यक्तित्व एक तरफ गम्भीर तो दूसरी तरफ हास्य-व्यंग्य विनोद से युक्त था। उनके व्यक्तित्व के ये दोनों पक्ष उनके साहित्य में, विशेष रूप से उनके निबन्धों में स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। शुक्ल जी ने श्रेष्ठ निबन्धकार के रूप में निबन्ध परम्परा को समृद्ध किया, साथ ही निबन्ध के क्षेत्र में युगान्तर भी उपस्थित किया। उनके निबन्धों में पूर्णता, विविधता, नवीनता और हास्य-व्यंग्य विनोद आदि की विशेषताएँ प्रमुख रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। अब साहित्य में विशेष-रूप से गद्य-साहित्य में श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य-विनोद को समान रूप से आवश्यक और महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है। शुक्ल जी निबन्धों में बुद्धि-पक्ष के साथ-साथ हृदय-पक्ष को भी लेकर चले थे, यही कारण था कि उनका हास्य-व्यंग्य विनोद प्रयोग इतना सफल सिद्ध हुआ। उनके निबन्धों में हास्य-व्यंग्य विनोद की सरिता प्रारम्भ से अन्त तक प्रवाहित रही है, इसके स्वरूप में कहीं-कहीं परिवर्तन मिलता है। यहाँ शुक्ल जी के निबन्धों में हास्य-व्यंग्य विनोद की जो विशेषता है उसी को देखने का प्रयास किया गया है। यहाँ ध्यान रखने योग्य है कि एक विशेषता के अन्तर्गत जो उद्धरण दिये गये हैं, वे उसी तक सीमित नहीं हैं।

विशुद्ध हास्य :

सर्वप्रथम उन स्थलों को प्रस्तुत किया गया है जो मुख्यतया हास्य या विनोद की सृष्टि कर रहे हैं। प्रायः गम्भीर चर्चा के आगे-पीछे शुक्ल जी इन विशुद्ध हास्य-विनोद वाले प्रसंगों को डाल देते हैं फलतः पाठक तरोताजा अनुभव करता है। 'उत्साह' का स्वरूप स्पष्ट करने के पूर्व वे हास्य की सृष्टि के लिए प्रयत्नलाघव से फली-फूली फलाशक्ति से सम्बन्धित उद्धरण रखते हैं।[1] 'श्रद्धाभक्ति' में जब साधन-सम्पन्नता का संदर्भ आता है तब शुक्ल

---

१. "...पर उनके समझाने पर भी...फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे, चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार

जी संगीत के प्रसंग[1] द्वारा एक बारगी सभी को हँसा देते हैं। संकोच जब 'अति' की सीमा पार करने लगता है तो शुक्ल जी यह कहने से भी नहीं चूकते "...सारांश यह कि एक बेवकूफी करने में लोग संकोच नहीं करते और सब बातों में करते हैं, इससे उतना हर्ज भी नहीं क्योंकि बिना बेवकूफ हुए बेवकूफी का बुरा लोग प्रायः नहीं मानते" (चिन्तामणि भाग १, पृ० ४५)। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि संकोच बला-ए-ताक रख दिया जाय अन्यथा जो परिणाम सामने आएँगे वे थोड़े होंगे[2]; यहाँ शुक्ल जी पुनः हास्य के द्वारा अपनी बात कहते हैं। लज्जा नारी का आभूषण मानी गयी और हास-विलास का विषय[3] बन गयी, शुक्ल जी ने हलका सा व्यंग्य विनोद यहाँ भी किया। लोभ की चर्चा में अभिरुचि का जो उदाहरण[4] दिया है, वह हास्य का सुन्दर नमूना है। व्यंग्य-विनोद की सीमा में देश-प्रेम की दुहाई देने

से लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे।"

(चिन्तामणि भाग १, पृ० १०)।

१. संगीत के पेंच-पाँच देख कर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ-आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है। दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है।...श्रद्धालुओं के अन्तःकरण की मार्मिकता इतनी उग्र हो गयी कि एक खर-श्वान के गले से भी इस लम्बी कवायद को ठीक-ठीक उतरते देख उसके मुंह से 'वाह-वाह', 'ओ हो हो' निकलने लगा।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० १७)।

२. "यदि सबकी धड़क एक बारगी खुल जाय तो एक ओर छोटे मुँह से बड़ी-बड़ी बातें निकलने लगें, चार दिन की मेहनत में तरह-तरह की फरमाइशें करने लगे, उँगली का सहारा पाने वाले बाँह पकड़ कर खींचने लगें, दूसरी ओर बड़ों का बहुत कुछ बड़प्पन निकल जाय, गहरे-गहरे साथी बहरे हो जायँ या सूखा जवाब देने लगें, जो हाथ सहारा देने के लिए बढ़ते हैं वे ढकेलने के लिए बढ़ने लगें—फिर तो भलमनसाहत का भार उठाने वाले इतने कम रह जायँ कि उसे लेकर चल ही न सकें।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० ४६)।

३. "धीरे-धीरे उनके रूप-रंग के समान उनकी लज्जा भी पुरुषों के आनन्द और विलास की एक सामग्री हुई। रसकोविद लोग मुग्धा और मध्या की लज्जा का वर्णन कान में डाल कर रसिकों को आनन्द से उन्मत्त करने लगे।" (चिन्तामणि, भाग १, पृ० ४७)।

४. "भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है पर चौबेजी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० ४९)।

वाले भी आ गये।[1] 'देश-प्रेमियों की खिंचाई,'[2] इतनी हुई कि निर्मल हास्य की सरिता बह चली। अब शुक्ल जी लोभियों की तरफ मुखातिब हुए "लोभियों का दमन योगियों के नमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं; सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में समान भाव रखते हैं। अब और चाहिए क्या? जिससे वे कुछ पाने की आशा रखते हैं वह यदि उन्हें दस गालियाँ भी देता है तो उनकी आकृति पर न रोष का कोई चिन्ह प्रकट होता है और न मन में ग्लानि होती है। न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती और न रक्त चूसने में दया...लोभ के अंकुश से अपनी सम्पूर्ण इंद्रियों को वश में रखते हैं। लोभियों! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इंद्रिय-निग्रह, तुम्हारा मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, अन्याय विग्रहणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!!"

(चिन्तामणि भाग १, पृ० ५९)।

कल्पना की उड़ान के जो उदाहरण[3] शुक्ल जी ने जुटाये हैं उनको पढ़ कर हँसी आये बिना नहीं रहती। नामपरिगणन शैली के संदर्भ में भी वे विनोदी रुख[4] अपनाते हैं। वे रहस्यवादियों के मुख से अव्यक्त अनुभूति की बात सुनकर मीठी चुटकी[5] लेते हैं। उनका चलताऊ

---

१. "जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभपूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं; जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बता कर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि, 'भाइयों! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा?" (चिन्तामणि भाग १, पृ० ५३)।

२. "...पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझ कर, या कम से कम खीझ कर, बिना मन मैला किये कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियों! तुम जरा-सा दुबले हो जाते--अपने अंदेशों से सही--तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० ५३)।

३. देखिए, चिन्तामणि भाग १, पृ० १८२।

४. "इन व्यंजनों को सामने रखने से पाठकों को ललचाने के सिवा और क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? पर काव्य भूख जगाने के लिए तो है नहीं। जिसे रोग आदि के कारण भोजन से अरुचि हो गयी होगी वह किसी अच्छे वैद्य के नुस्खे का सेवन करेगा।"

(चिन्तामणि भाग २, पृ० २३)।

५. "जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्यक्षेत्र से निकल मतवालों (सांप्रदायिकों) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए।" (चिन्तामणि भाग २, पृ० ५१)।

श्रोताओं पर कटाक्ष[1] पढ़ कर भी हँस लीजिए। 'अभिव्यंजनावाद' की चर्चा करने के पूर्व शुक्ल जी अपने परिचय[2] द्वारा तरोताजा कर देते हैं। इसके अलावा भूत या देवता आने की बात[3] भी व्यंग्य-विनोद की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

इनके अलावा कुछ स्थल ऐसे हैं जिनमें हास्य-विनोद गौण रहा है, यद्यपि उपर्युक्त स्थलों पर हास्य-विनोद प्रमुख रहा है। जहाँ हास्य विनोद गौण रहा, वहाँ मुख्य क्या रहा है? आगे इस दृष्टि से विचार किया गया है।

तथ्य निरूपण--शुक्ल जी के निबन्धों में ऐसे स्थल बहुतायत से मिलते हैं, जहाँ हास्य-व्यंग्य विनोद के माध्यम से गम्भीर तथ्यों का विवेचन किया गया है। यहाँ तथ्य का अर्थ सत्य अथवा यथार्थ कथन से लिया गया है। शुक्ल जी का विचार है कि संकोच के अभाव में बहुत-सी बातों की सीमा ढह जाती है, उनमें सद्भाव भी है।[4] वे प्रेम[5] को बहुत ऊँचा मानते हैं। उनके विचार से धन का लोभ मनुष्यता का लोप[6] कर देता है। कविता पूर्वाग्रहों से युक्त होकर लाभ के बजाय हानि करती है।[7] वे धर्म। कल्याण के स्वरूप को व्यक्ति संस्कारों पर निर्भर मानते हैं[8] अस्तु, उसमें अन्तर होना स्वाभाविक है। जब शुक्ल जी

---

१. "पर साथ ही यह बात भी है कि चाहे किसी प्रकार की रचना हो वह एक फैशन के रूप में चला दी जाती है तब कुछ लोग बिना किसी प्रकार की अनुभूति के यों ही रसज्ञ समझे जाने के लिए ही, वाह्-वाह् कर दिया करते हैं।" (चिन्तामणि भाग २, पृ० ९८)।

२. देखिए, चिन्तामणि भाग २, पृ० १२६।

३. "उसी के कारण जैसा भूतप्रेत, कुलदेवता आदि का सिर पर आना वैसा ही यह ईश्वर का सिर पर आना समझा जाता है। हमारे यहाँ के भक्ति मार्ग में यह बिल्कुल नहीं है। आज तक किसी भक्त महात्मा के सिर पर न कभी राम कृष्ण आये, न ब्रह्म--हाँ, ब्रह्मराक्षस अलबत आते हैं। हनुमान जी भी कभी कभी भक्तमंडली से उछल कर किसी सेवक के सिर पर आ जाया करते हैं।" (चिन्तामणि भाग २, पृ० १६५)।

४ देखिए चिन्तामणि भाग १, पृ० ४६।

५. 'प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं, पर प्रेम करने वाले नहीं।" (चिन्तामणि भाग १ पृ० ५३)।

६. "जो लोभ मान-अपमान के भावों को, करुणा और दया के भाव को, न्याय-अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्ट-निवारण या सुख भोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्य कहाँ तक रहने देगा?" (चिन्तामणि भाग १, पृ० ५८)।

७. "कविता पर अत्याचार भी बहुत कुछ हुआ है। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदियों ने उसका गला दबा कर कहीं अपात्रों की---आसमान पर चढ़नेवाली---स्तुति कराई है, कहीं द्रव्य न देने वालों की निराधार निंदा।"

(चिन्तामणि भाग १, पृ० १२७)।

८. "गरीबों का गला काटने वाले चींटियों के बिलों पर आटा फैलाते देखे जाते

समीक्षा पर उतर आते हैं तब बड़ी बेबाकी से कहते हैं "...पर उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत से विलायती कवि ऐसे हृदयों के प्रदर्शन में लगे जो न कहीं होते हैं, और न हो सकते हैं।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० १६३) शुक्ल जी के व्यंग्य में गोता लगाने पर खाली हाथ नहीं लौटना पड़ता, देखिए क्या-क्या तथ्य[1] हाथ लगते हैं। कविता यथार्थ से दूर पड़ कर कल्पना-विलास[2] होकर रह जाती है। काव्य स्तर की चर्चा करते समय शुक्ल जी यह भी कह देते हैं कि "इसी प्रकार केवल भाव-व्यंजक (तथ्य बोधक नहीं) और स्तुति-परक शब्दों को समीक्षा के क्षेत्र में घसीटकर पश्चिम में इधर अनेक प्रकार के अर्थ-शून्य वागाडम्बर खड़े किये गये थे।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० १६९) प्रकृति के नैसर्गिक चित्रण में कहीं अधिक सौन्दर्य, कहीं अधिक प्रभावक्षमता[3] होती है। सूक्ष्मता, संश्लिष्टता के अभाव में प्रकृति-चित्रण खाना-पूरी[4] मात्र होता है। मेघदूत का उदाहरण देकर वे बाह्याडम्बर प्रियता की

हैं; अकाल-पीड़ितों की सहायता में एक पैसा चन्दा न देने वाले अपने डूबते मित्र को बचाने के लिए प्राण संकट में डालते देखे जाते हैं।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० १४३)।

१. "पर कोरी नवीनता केवल मरे हुए आन्दोलन का इतिहास छोड़ जाय तो छोड़ जाय कविता नहीं खड़ी कर सकती। केवल नवीनता और मौलिकता की बढ़ी-चढ़ी सनक में सच्ची कविता की ओर ध्यान कहाँ तक रह सकता है?...समालोचना भी अधिकतर हवाई ढंग की होने लगी।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० १६४)।

"भावुकता की नकल करनेवाले श्रोता या पाठक ही नहीं, कवि भी हुआ करते हैं। वे सच्चे भावुक कवियों की वाणी का अनुकरण बड़ी सफाई से करते हैं और अच्छे कवि कहलाते हैं।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० १६७)।

२. "इस दृष्टि से काव्य का हृदय पर उतना ही और वैसा ही प्रभाव स्वीकार किया गया जितना और जैसा किसी परदे के बेल-बूटे, मकान की नक्काशी, सरकस के तमाशे तथा भाड़ों की लफ्फाजी, उछल-कूद या रोने-धोने का पड़ता है।"

(चिन्तामणि भाग १, पृ० १६९)।

३. "जो फारस की चाल के बगीचों के गोल चौखूँटे कटाव, सीधी-सीधी रविशों मेंहदी के भद्दे हाथी घोड़े, काट छाँट कर सुडौल किये हुए सरों के पेड़ों की कतारें, एक पंक्ति में फूले हुए गुलाब आदि देख कर ही वाह्-वाह करना जानते हैं उनका साथ सच्चे भावुक सहृदयों को वैसा ही दुःखदायी होगा जैसा कि सज्जनों को खलों का।"

(चिन्तामणि भाग २, पृ० ५)।

४. "और इधर के कवियों ने जहाँ परम्परा पालन के लिए ऐसे चित्र खींचे भी हैं वहाँ वे पूर्ण चित्र क्या, चित्र भी नहीं हुए हैं। उनके चित्र (यदि चित्र कहे जा सकें) ऐसे ही हुए हैं जैसा किसी चित्रकार का अधूरा छोड़ा हुआ चित्र जिसमें कहीं एक रेखा यहाँ लगी है, कहीं वहाँ—कहीं कुछ रंग भरा जा सकता है, कहीं जगह खाली है।"

(चिन्तामणि भाग २, पृ० १०)

खिचाई करते हैं "जिनकी रुचि भ्रष्ट हो गयी है, जो सर्वत्र उपमा, उत्प्रेक्षा ही ढूँढ़ा करते हैं, जो 'अनूठी उक्तियों' पर ही वाह-वाह किया करते हैं, उनके लिए चाहे उसमें कुछ भी न हो।" (चिन्तामणि भाग २, पृ० १२) काव्य में व्यवसाय विशेष की जानकारी प्रकट करने के लिए लम्बी-लम्बी शब्द सूचियों का कोई औचित्य नहीं। शुक्ल जी ने इस पर व्यंग्य की चुटकी लेते हुए कहा "जायसी से कवियों के एक ओर झुकाव का पता लगता है। 'कवि' और 'स्याने' जब एक ही समझे जाने लगे तब मनुष्य के व्यवसाय विशेष की जानकारी का खजाना भी काव्यों में खुलने लगा।" (चिन्तामणि भाग २, पृ० २३)।

शुक्ल जी ने नीर-क्षीर विवेक क्षमता से अनेकानेक तथ्य[1] सामने रखे। मर्म-स्पर्श क्षमता के अभाव में काव्य अपने स्तर से दूर[2] जा पड़ेगा। कविता और कवि-परिचय की अतिशयोक्ति का कोई लाभ न देख उन्होंने कहा ऐसी अभिव्यक्तियाँ 'बुद्धि को रुग्ण करने वाली, पाखंड का प्रचार करने वाली' होती हैं। उनके विचार से हिन्दी में नकलवाद अपेक्षाकृत[3] अधिक है। हमारी समीक्षा की उपलब्धियाँ बहुत ही कम हैं।[4] 'बुद्धि के साथ युद्ध' का संदर्भ रख कर बुद्धि और भावना की प्रधानता-अप्रधानता को लेकर महत्त्वपूर्ण तथ्य[5] सामने रखे।

१क. "जो नरक के, परजन्म के अथवा राजदंड के भय से ही पाप या अपराध नहीं करते तथा जो स्वर्ग के या परजन्म के सुख के लाभ से ही कोई शुभ कार्य करते हैं, उनमें हृदय के विकास का अभाव और जीवन के सौन्दर्य की अनुभूति की कमी समझनी चाहिए।" (चिन्तामणि भाग २, पृ० ३८)।

ख. "जो लोग केवल शान्त और (स्टेटिक) सौन्दर्य के अलौकिक स्वप्न में ही कविता समझते हैं। वे कविता को जीवन क्षेत्र से बाहर खदेड़ना चाहते हैं।' (चिन्तामणि भाग २ पृ० ३८)।

ग. "जो कविता मंगल को सिद्ध रूप में देखने के लिए किसी अज्ञात लोक की ओर ही इशारा किया करती है, वह आलस्य, अकर्मण्यता और नैराश्य की वाणी है। वह जगत् और जीवन के संघर्ष से कल्पना को भगाकर केवल मनोमोदक बाँधने और खयाली पुलाव पकाने में ऐसी कायर कल्पना ही से सच्चे काव्य का काम नहीं चलता जो जगत् और जीवन से सौन्दर्य और मंगल की कुछ सामग्री ले भागे और अलग एक कोने में इकट्ठी कर के उछला कूदा करे।" (चिन्तामणि भाग २, पृ. ४२)।

घ. "जिससे वहाँ आध्यात्मिकता की चर्चा का फैशन. . .बढ़ा। पर इस रोग की दवा अध्यात्मवाद, आत्मा की एकता, ब्रह्म की व्यापकता आदि की बनावटी पुकार नहीं है।" (चिन्तामणि भाग २, पृ० ४८)।

२. देखिए, चिन्तामणि भाग २, पृ० ४८।

३. देखिए, चिन्तामणि भाग २, पृ० ८७।

४. देखिए, चिन्तामणि भाग २, पृ० १८०।

५. देखिए, चिन्तामणि भाग २, पृ० १८२।

व्यक्तित्व की विसंगति :

जब शुक्ल जी ने निबन्धक्षेत्र में भावों, मनोविकारों पर लेखनी चलाई तो नित्यप्रति दिखाई देनेवाली व्यक्तित्व की विसंगतियाँ भी उनकी पकड़ में आ गयीं। चूँकि ये हास्य-व्यंग्य विनोद के माध्यम से रखी गयीं अतः सीधे आक्षेप की तरह सीधा प्रहार नहीं करतीं। इनका काम तो अक्लमन्द को इशारा करने जैसा है। तथाकथित वीर या उत्साहियों पर कटाक्ष करते हुए शुक्ल जी कहते हैं"...बहुत से लोग केवल इसके विरुद्ध लोभ में ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनसे कोई मतलब नहीं, उनकी ओर उनका ध्यान लेशमात्र नहीं रहता। जिस पक्ष के बीच की सुख्याति का वे अधिक महत्व समझते हैं उसकी वाहवाही से उत्पन्न आनन्द की चाह में वे दूसरे पक्ष के बीच की निन्दा या अपमान की कुछ परवा नहीं करते।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० ६)। वे समाज सुधारक बनाम मगरमच्छों की वृत्ति को भी खूब उजागर कर देते हैं। पौरुष का ह्रास व दुरुपयोग[२] देखकर वे खामोश नहीं रहते। उन्होंने पाखण्ड[३] पर खूब प्रहार किये हैं। कितने स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा "पाखण्डी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बनाकर पूने लगे हैं 'करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो। बस, हाथ-पैर हिलाओ, काम करो।" (चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३७) स्वार्थियों को भला ग्लानि से क्या सरोकार हो

---

१. "उसी प्रकार तुच्छ मनोवृत्तियों द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान भी मिलते हैं। कई छिछोरे और लम्पटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के लम्बे चौड़े दास्तान सुनते सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव में काम-कथा के रूप में ऐसे वृत्तान्तों का तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैं। ...'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोग गन्दगी फैलाते पाये जाते हैं।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० ७)

२. "ये वाग्वीर आज कल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाये हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाये जाते हैं और काफी तादाद में।"

(चिन्तामणि भाग १ पृ० ७)।

३. "हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी, पर ये लोग बाघ की बोली भी बोल लेते हैं। कहीं-कहीं केवल वचन ही से काम निकल जाता है।" (चिन्तामणि भाग १ पृ० १९) "खैर, नकली-सही, एक भाव पर दूसरे, भाव की कलई करके हम बाजार में क्यों न जायँ। अपनी भीरुता या चापलूसी को हम 'श्रद्धा-श्रद्धा' कह कर गलियों और संवादपत्रों में क्यों न पुकारें, ? ऐसे झूठे श्रद्धा-पात्रों को क्यों न मात करें जबकि आजकल झूठे मोती सच्चे मोतियों को मात करते हैं।" (चिन्तामणि भाग १ पृ० २०)।

सकता है।[1] पर छिद्रान्वेषण कितने कौशल और तत्परता से किया जाता है।[2] फालतू की आशंकाओं वाली लज्जा किसी काम की नहीं होती, व्यक्तित्व की एक कमी के रूप में सामने आती है।[3] मनुष्य में ही ईर्ष्या दृष्टि-दोष से उपजती है, मनुष्य ही अपनी अक्षमता में दूसरे से तुलना करने की दृष्टि रखता है।[4] यद्यपि शुक्ल जी ने क्रोध को कमी के रूप में माना है, तथापि स्वार्थियों के अक्रोध[5] पर व्यंग्य भी किया है। वे अपने व्यंग्य का निशाना धन लोलुपता को भी बनाते हैं।

युगबोध : शुक्ल जी ने हास्य-व्यंग्य-विनोद के माध्यम से सामाजिक स्वरूप व स्थिति को भी स्पष्ट किया। शुक्ल जी सौदेबाजी बहुल प्रवृत्ति देख कर, वर्तमान समय को व्यापार युग[6] की संज्ञा दे देते हैं। वर्तमान में बढ़ती व्यक्तिवादी प्रवृत्ति, अस्तित्ववाद को इस व्यंग्य में देखा जा सकता है "हमीहम वाले 'तुम भी' नहीं सह सकते, 'तुम्हीं-तुम' की क्या बात है? ऐसे लोग तो स्वयं अपने लिए भक्त ढूंढ़ने निकलते हैं।"

—(चिन्तामणि भाग १, पृ० २४)।

सभ्यता में ह्रास देख कर वे क्षुब्ध हो उठते हैं तो व्यंग्य का सहारा लेते हैं।[7] धन

---

१. "जिनका हृदय कठोर होता है, जिनकी वृत्ति क्रूर होती है, जो सिर से पैर तक स्वार्थ में निमग्न होते हैं, उन्हें सहने के लिए संसार में इतनी बाधाएँ, इतनी कठिनाइयाँ, इतने कष्ट होते हैं कि ऊपर से और इसकी भी न उतनी जरूरत रहती है, न जगह।"

—(चिन्तामणि भाग १, पृ० ४०)।

२. देखिए चिन्तामणि भाग १, पृ. ४०।

३. "उन्हें बात-बात में खटका होता है कि उनका बैठना न जाने कैसा मालूम होता हो, बोलना न जाने कैसा मालूम होता हो, हाथ-पैर हिलाना न जाने कैसा मालूम होता हो, ताकना न जाने कैसा मालूम होता हो, यहाँ तक कि उनके ऐसे आदमी का होना—वे कैसे हैं चाहे वह कुछ भी न जानते हों—न जाने कैसा मालूम होता हो।

—(चिन्तामणि भाग १, पृ० ४६)।

४. देखिए, चिन्तामणि भाग १, पृ० ७७।

५. देखिए, चिन्तामणि भाग १, पृ० ११०।

६. "······पर जबकि इस व्यापार युग में ज्ञान बिकता है, न्याय बिकता है, धर्म बिकता है—तब श्रद्धा ऐसे भाव क्यों न बिके?"

—(चिन्तामणि भाग १, पृ० २०)।

७. "वह दया को निरर्थक समझ अपने अन्तःकरण का एक अंग ही खण्डित करना चाहता है। वह किसी को काना देखकर अपनी एक आँख फोड़ने चलता है। कुछ दिन पहले

का बोलबाला होने से सामाजिक मूल्यों में ह्रास हुआ है। इस पर शुक्ल जी ने व्यंग्य किया "लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गयी तब उपासक पत्थर के हो गये, धीरे-धीरे यह दशा आयी कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थीं वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगीं। आजकल तो बहुत सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गयी हैं। पैसे से राजसम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है।... अत्यन्त भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं; राज-धर्म, आचार्य-धर्म, वीर-धर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका-धर्म हो गये। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से ब्राह्मण-धर्म और क्षात्र-धर्म का लोप हो गया, केवल वणिक-धर्म रह गया।'

—(चिन्तामणि भाग १, पृ० ५१)।

स्वार्थ साधना इतनी अधिक बढ़ गयी है कि इससे अलग-थलग रहनेवाला मूर्ख मान लिया जाता है। इसी भावना पर कटाक्ष करते हुए आचार्य कहते हैं "अतः अर्थागत से 'हृष्ट' स्वकार्य साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकाण्डी, कानपुर के बनिये और दलाल, कचहरियों के अमले और मुख्तार ऐसों को कार्य भ्रंशकारी, मूर्ख, निरे निठल्ले या खब्त-उल-हवास समझ सकते हैं।"

—(चिन्तामणि भाग १, पृ० १०९)

सुधार कामना :

शुक्ल जी कटाक्ष करके कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेते। अनेकानेक उदाहरणों में शुक्ल जी ने व्यंग्य के माध्यम से सुधार कामना व्यक्त की है। अमरबेल की तरह पनप रही वणिग्वृत्ति से शुक्ल जी दुःखी होते हैं पर निराश नहीं। अतः कहते हैं "कोई-कोई देश लोभवश इतना अधिक माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में दिन-रात मरते रहते हैं। जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख-शान्ति न होगी। दूर वह अवश्य होगा। क्षात्र-धर्म की संसार में एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी। चोरी का बदला डकैती से लिया जायेगा।"

—(चिन्तामणि भाग १, पृ० ५१)

बेवजह बड़प्पन दिखाने से समाज में शान्ति सुव्यवस्था नहीं बनायी जा सकती है। वे व्यंग्य उद्धरण[1] के माध्यम से अपनी बात कहते हैं। शक्ति-बल आधिक्य व प्रदर्शन

की सभ्यता मनुष्य जीवन को देव-तुल्य बनाने में थी; मर्कट-तुल्य और मत्स्य-तुल्य बनाने में समझी जाने लगी है।"

—(चिन्तामणि भाग १ पृ० २६)।

१. "... इस प्रकार की शान प्रायः किसी शक्ति के अनुचित प्रयोग में अधिक समझी जाती है। कोई पुलिस का कर्मचारी जब अपने पद का अभिमान प्रकट करता है तब यह

को भी वे श्रेष्ठ फलकारी नहीं समझते हैं अतः कहते हैं "इस बात का ध्यान रखना समाज का कर्त्तव्य है कि धर्म और राजबल से प्रतिष्ठित संस्थाओं के अन्तर्गत अभिमानालय और खुशामदखाने न खुलने पाएँ।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० ७९)। और कविता का महत्त्व दर्शाते हुए वे यह भी कहने लगते हैं "इसी प्रकार किसी महाक्रूर पुलिस कर्मचारी को जाकर देखिए जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरों के दुःख और क्लेश की भावना स्वप्न में भी नहीं होती है। ऐसों को सामने पाकर स्वभावतः यह मन में आता है, कि क्या इनकी भी कोई दवा है? इनकी दवा कविता है।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० ११०)। शुक्ल जी वादों को प्रतिवर्तन अथवा विलक्षणता-नवीनताजनित मानते हुए सदोष भी मानते हैं। अतः कहते हैं "अपनी कसौटी पर बिना उनकी कड़ी परीक्षा किए उनका राग अलापना अंधेपन का प्रचार करना है।" (चिन्तामणि भाग २, पृ० ७८)। शुक्ल जी प्रेम को हाय-हाय के रूप में नहीं, शक्ति के रूप में देखना चाहते थे। इसीलिए तो उन्होंने कहा––हमें तो वेदना का अधिक ब्यौरा पढ़ने पर ऐसा ही जान पड़ता है जैसे कोई भारी रोगी किसी वैद्य के सामने अपने पेट के भीतर की शिकायतें बता रहा हो। प्रेम को व्याधि के रूप में देखने की अपेक्षा हम संजीवनी शक्ति के रूप में देखना अधिक पसन्द करते हैं।"

(चिन्तामणि भाग २, पृ० ८१)।

शुक्ल जी की सुधार कामना का केन्द्र व्यक्ति-विशेष या क्षेत्र-विशेष नहीं रहा, जहाँ आवश्यकता समझी, कामना व्यक्त कर दी गयी। उन्होंने छायावाद के सन्दर्भ में[१] भी जहाँ कमी-वेशी देखी तो व्यंग्य लेकर मुखातिब हो गये। अन्धानुकरण किसी भी प्रकार श्रेष्ठ फलकारी नहीं हो सकता।[२] नकल को लेकर उन्होंने खुलासा विचार[३] प्रकट किये।

नहीं कहता कि मैं जिस बदमाश को चाहूँ उसको पकड़कर तंग कर सकता हूँ बल्कि यह कहता है कि मैं जिसको चाहूँ उसको पकड़ कर तंग कर सकता हूँ।"

(चिन्तामणि भाग १, पृ० ७९)।

१. "भला देश की नई 'जागृति' से देशवासियों की दारुण दशा की अनुभूति से और असीम ससीम के मिलन, अव्यक्त और अज्ञात की झाँकी आदि का क्या सम्बन्ध! क्या हिन्दी के वर्तमान साहित्यक्षेत्र में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बिल्कुल टूट गया है? क्या शब्द की गर्द भरी आँधी विलायत के कलाक्षेत्र से धीरे-धीरे हटती हुई अब हिंदीवालों का आँख खोलना मुश्किल करेगी।" (चिन्तामणि भाग २, पृ० १२३)।

२. देखिए, चिन्तामणि भाग २, पृ० १२३।

३. देखिए, वही, पृ० १२४।

"पर यह दिन तभी आ सकता है जब हमारी अन्तर्दृष्टि को आच्छन्न करने वाले

सूक्ष्मपकड़ :

आचार्य शुक्ल के हास्य-व्यंग्य-विनोद की प्रस्तुति किसी गम्भीर निरीक्षण-परीक्षण के परिणाम के रूप में दिखाई देती है। ऐसे स्थल जो सरसरी निगाह की उपज नहीं कहे जा सकते उनके निबन्धों में अक्सर मिलते हैं। लुगपंचायत करने वाले वाग्वीर हों या जी-हजूर[१] हों, शुक्ल जी की नजर से बच नहीं पाते। धन-संचय के उद्देश्य में जो अन्तर है[२] शुक्ल जी की पैनी नजर उसको पकड़ ही लेती है। 'चोर-चोर मौसिआउत भइया' एक प्रवृत्ति के लोग ही परस्पर ज्यादा समझते हैं।[३] वे वर्तमान अज्ञानता को व्यंग्य के काँटे से किस सफाई से पकड़ते हैं; द्रष्टव्य है।[४] ...[५]"हिन्दी में आ निकला हुआ यह 'छायावाद' कितनी विलायती चीजों का मुरब्बा है।" कहने वाले आचार्य अपनी जानकारी का कैसा बढ़िया परिचय दे देते हैं।

रोचकता-उत्सुकता :

आचार्य शुक्ल ने हास्य-व्यंग्य-विनोद के लिए जो-जो उद्धरण जुटाये हैं, प्रायः सभी बेजोड़ हैं। इस दृष्टि से पाठक निबन्धों को पढ़ना शुरू करता है तो पढ़ता चला जाता है। उन्होंने चुन-चुन कर उत्सुकता जगानेवाले रोचक उद्धरण[१] दिये हैं।

परदे हटेंगे और हमारे विचारों में बल आएगा। इससे पहले हम बाहर के नाना वादों और प्रवादों की ओर आँखें मूँद कर लपका करेंगे, अपने विचार के परीक्षालय में उनकी पूरी जाँच न करके उनके अनुकरण में ही अपने को धन्य माना करेंगे।"

—(चिन्तामणि भाग २, पृ० १२५)

देखिए, चिन्तामणि भाग २, पृ० १७४।

१. "इसी बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।" —(चिन्तामणि भाग १, पृ० ११)।

२. "धनसंचय करने में बहुतों का लक्ष्य धन ही रहता है, उसके प्राप्य सुख नहीं। वे बड़े से बड़े सुख के बदले में या कठिन से कठिन कष्ट निवारण के लिए थोड़ा-सा धन अलग करना नहीं चाहते। उनके लिए साधन ही साध्य होता है।"

—(चिन्तामणि भाग १ पृष्ठ ४९)।

३. "दूसरों के लोभ की निंदा जैसे अच्छे लोभी कर सकते हैं वैसे और लोभी नहीं।" —(चिन्तामणि भाग १, पृ० ५०)।

४. "इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोक कर कहा, "यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।" —(चिन्तामणि भाग १, पृ० ५४)।

५. "...इतने ही में सौभाग्यवश दुकानदार जी को ब्रह्मज्ञानियों के वाक्य याद आ गये। और उन्होंने चट कहा "माया छोड़ो और इसे ले लो।" सोचिए तो, काशी ऐसा

सटीक शब्द योजना :

शुक्ल जी के हास्य-व्यंग्य-विनोद की एक विशेषता उनका शब्द चयन भी है। उनके निबन्धों में हास्य-व्यंग्य स्थलों पर ऐसे चुन-चुन कर शब्दों का प्रयोग किया गया है कि देखते ही बनता है। एक भी शब्द कम-ज्यादा नहीं। एक भी शब्द इधर-उधर नहीं। शब्द चयन में शुक्ल जी ने बड़ी उदारता अपनाई है। अपने व्यंग्य की धार तेज करने के लिए वे किसी भी भाषा का शब्द निस्संकोच चुन लेते हैं। सटीक-शब्द योजना के स्थल बहुतायत से देखे जा सकते हैं। इनके स्थान पर अन्य शब्द रख दिए जायें तो इन प्रयोगों की प्रभाव-क्षमता समाप्त हो जायगी तभी तो श्री शिवनाथ[1] जी का कहना है "इसकी प्रशंसा करनेवालों के सामने हम शुक्ल जी को भी रख सकते हैं, जिनका हास्य या व्यंग्य-विनोद गम्भीर तो होता ही था अर्थगर्भ भी होता था, फालतू शब्द व्यय और फालतू उमंगों का वहाँ लेश भी नहीं।" यहाँ कुछ उदाहरण रेखांकित करके प्रस्तुत किये जा रहे हैं। "...जिस वेग से मनुष्य उस **पर टूटते हैं** उस वेग से भौरें कमल पर और कौए मांस पर भी न टूटते होंगे।" (चिन्तामणि भाग १, पृ० ४९)। आजकल तो बहुत-सी बातें **धातु के ठीकरों** पर ठहरा दी गयी हैं। (चि०" भा० १, पृ० ५१)। "...सब टका-धर्म हो गये। **बाबू पन** में बड़ा भारी **बट्टा** लगता है।" (चि० भा० १, पृ० ५४)। "मूसाई और ईसाई लोग देवपूजकों से इसलिए घृणा नहीं करते..." (चि० भाग १, पृ० ७०)। "पर अर्थियों के निकट उनकी बहुत-सी क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं होता।" (चि० भा० १, पृ० ९)। "पश्चिम में कई प्रसिद्ध वादों की **इमारतें** खड़ी हुईं।" (चि० भा० १, पृ० १६३)। जब वे बाह्याडंबर पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं, "यदि ये कलाएँ...किसी को **जलोदर** हुआ है, किसी को **फीलपांव** इनकी दशा सोने और रत्नों से जड़ी **गुठली** धार तलवार की सी हो गई।" तब शब्द प्रयोग देखते बनता है। (चि० भा० १, पृ० १७)। साथ ही वे प्रभाव उत्पन्न करने के लिए तुकबन्दी भी कर देते हैं। "**फैशन** की तरह चलने वाले नाना **वादों** और **प्रावादों** और **अपवादों** की चर्चा की जा चुकी है।" चि० भाग २ पृ० १३४। "इसी तरह भक्त कवियों को नाना मनोहर रूपों के प्रति अनुराग प्रकट करने का **लाइसेंस** मिल गया।" जैसे कई स्थानों पर शब्द-चयन कौशल दिखाई देता है।

पुण्य-क्षेत्र! वहाँ न माया छोड़ी जायगी तो कहाँ छोड़ी जायगी!...किसी लेखक ने कहीं पढ़ा कि प्रतिभाशाली लोग कुछ उग्रता और पागलपन लिये होते हैं। तब से वे बराबर अपने में इन दोनों शुभ लक्षणों की स्थापना के यत्न में लगे रहते हैं। सुनते हैं कि पहले में वे कुछ कृतकार्य भी हुए हैं पर पागलपन की नकल करना कुछ हँसी-खेल नहीं, भूल-चूक से कुछ समझदारी की बातें मुँह से निकल ही जाती हैं।" **तथा** देखिए, चिन्तामणि भाग १, पृ० १९, पृ० २५, ५८, ९५, ११०, **१८३, भाग २ पृ० २७, ७७, ९०, ११७, १२२, १५१ तथा १६९ भी।**

(चिन्तामणि भाग १, पृ० १९)

१. शिवनाथ, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० २१, सं० २००० काशी।

अन्त में, हम कह सकते हैं शुक्ल जी बुद्धि-पक्ष और हृदय-पक्ष को साथ-साथ लेकर चले थे इसीलिए उनके व्यंग्य में सरसता, रोचकता और पैनापन दिखाई देता है। उनका हास्य-व्यंग्य-विनोद अपनी निर्मलता बिखेरता रहता है, कहीं भी भौंड़ा पन अथवा फूहड़ता नहीं है। वे मूल रूप में गम्भीर प्रकृति के थे, उनमें नीर-क्षीर विवेक क्षमता बड़ी प्रबल थी इसीलिए उनका उद्देश्य हास्य-विनोद तक सीमित नहीं रहा। प्रत्यक्ष हास्य-व्यंग्य द्वारा उन्होंने तथ्य-निरूपण, व्यक्तित्व की विसंगतियों एवं सामाजिक स्थिति पर भी प्रकाश डाला। वे हास्य-व्यंग्य के द्वारा समस्या का संकेत करके नहीं रह गये, उन्होंने हास्य-व्यंग्य के द्वारा ही सुधार सुझावों का संकेत किया। इन प्रयोगों में उनकी सूक्ष्म निरीक्षण क्षमता देखने योग्य है। इन प्रयोगों में बड़े रोचक उदाहरणों को रखा गया है। तथा एक भी शब्द अपनी जगह से हटाया नहीं जा सकता। इस प्रकार सटीक शब्द योजना द्वारा रोचक उद्धरणों का चयन करके बुद्धि और हृदय पक्ष का तालमेल बिठा कर हास्य-व्यंग्य-विनोद की सृष्टि की गयी है जो अपने आप में महती कार्य है।

४२।२३३, अ बिल्लोचपुरा, लोहामण्डी आगरा-२

आचार्य शुक्ल के लिखने की प्रेरणा-स्थली मिर्जापुर

डॉ० अर्जुनदास केसरी

⊙

हिंदी के मूर्धन्य समालोचक तथा निबंधकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म तो वैसे बस्ती जनपद के अगोना नामक ग्राम में सन् १८८४ में हुआ था, किन्तु उनके जीवन का बसन्त मिर्जापुर में ही बीता था। मिर्जापुर की सजी-सँवरी धरती ने ही उन्हें साहित्य लिखने को उत्प्रेरित किया था। सन् १८९२ में ही उनके पिता श्री चन्द्रबली शुक्ल की नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर में हुई थी। उन्हीं के साथ बालक शुक्ल भी बाँदा से यहाँ आये थे।

शुक्ल जी का स्कूली जीवन

मिर्जापुर आने के उपरान्त सबसे पहले बालक रामचन्द्र शुक्ल की समुचित शिक्षा-दीक्षा की समस्या थी। उन दिनों यहाँ जुबली मिडिल स्कूल था जिसमें विन्देश्वरी प्रसाद नाम के एक सज्जन व्यक्ति संस्कृत के अध्यापक थे। कानूनगो साहब उन्हीं के मकान में रहते भी थे। उन्हीं की प्रेरणा से उस स्कूल में उनका नाम लिखाया गया और रामचन्द्र शुक्ल ने वहाँ से मैट्रीकुलेशन की परीक्षा उत्तीर्ण की। सर्वत्र उर्दू-फारसी का माहौल होते हुए भी उनका मन हिन्दी और संस्कृत में अधिक रमता था, यद्यपि उनके पिता उन्हें उर्दू-फारसी ही पढ़ाना चाहते थे।

लिखने की प्रथम प्रेरणा

शुक्ल जी बचपन से स्वतंत्र विचारों के व्यक्ति थे। उर्दू-फारसी का वातावरण उन्हें भाता न था। यही कारण था कि वे अपने पिता जी के विचारों से कम, विन्देश्वरी प्रसाद जी के विचारों से अधिक प्रभावित हुए। उन्हीं से उन्होंने हिन्दी-संस्कृत में लिखने की प्रेरणा प्राप्त की। 'प्रेमघन' जी के सम्पर्क में लाने का कार्य भी विन्देश्वरी जी ने ही किया था।

उस समय की प्रमुख पत्रिकाएँ थीं 'सरस्वती' और 'कजली कादम्बिनी'। रामचन्द्र शुक्ल उनमें धड़ल्ले से छपने लगे।

शुक्ल जी का भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग

जैसा कि पहले बताया गया रामचन्द्र शुक्ल के पिताश्री सदर कानूनगो के पद पर कार्यरत थे, वे उस समय के वातावरण और मुसलिम सभ्यता से अधिक प्रभावित थे। वे ही नहीं, बल्कि उनका पूरा परिवार प्रभावित था। परिवार के सभी लोग कुर्त्ता, पाजामा और टोपी पहनते थे। रामचन्द्र शुक्ल को भी बाध्य होकर ये ही पोशाक धारण करने पड़ते थे, किन्तु भीतर से वे भारतीयता के हिमायती थे। पं० विन्देश्वरी प्रसाद की प्रेरणा से उन्होंने कुर्त्ता-धोती भी खरीद लिया था और पिता जी की आँख बचाकर उसे पहनते भी थे। कभी जब वे कुर्त्ता-धोती पहने हुए होते और उसी समय उनके पिता जी उन्हें बुला लेते तो घबड़ा जाते और तुरंत कपड़े बदलकर ही उनके सामने उपस्थित होते थे। पिता जी के कार्यालय चले जाने पर प्राय: धोती-कुर्ता पहनते थे।

प्रतिभा के धनी

शुक्ल जी प्रतिभा के धनी थे। उनका हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी आदि भाषाओं पर समान अधिकार था। इस सम्बन्ध में उनके सबसे छोटे भाई श्री जगदीशचन्द्र शुक्ल ने एक घटना सुनायी। एक बार ऐसा हुआ कि मिशन मिडिल स्कूल के अंग्रेजी-अध्यापक ने अंग्रेजी की एक कविता का 'इक्सप्लेनेशन' लिखने को दिया। शुक्ल जी ने कक्षा के सभी छात्रों से सुन्दर 'इक्सप्लेनेशन' लिखकर मास्टर साहब के सामने रखा। मास्टर साहब ने उसमें अपनी कलम से थोड़ा संशोधन कर दिया, लेकिन शुक्ल जी को वह रुचा नहीं। उन्होंने अपनी दलील पेश की जिस पर मास्टर साहब नाराज हो गये और इस मामले को तत्कालीन हेड-मास्टर (अंग्रेज) के सामने प्रस्तुत कर दिया। हेडमास्टर साहब ने उस पर निर्णय देते हुए कहा—'बोथ आर करेक्ट, बट शुक्ला इज मोर करेक्ट, 'दोनों ठीक हैं, लेकिन शुक्ला अधिक ठीक है।'

वास्तव में अंग्रेजी अध्यापक का 'इक्सप्लेनेशन' गलत था, लेकिन एक विद्यार्थी के सामने अपमानित न होने देने के लिए हेडमास्टर साहब ने उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया। वे कक्षा में सर्वोत्तम अंक पाते थे।

सरकारी नौकरी की उपेक्षा

हाईस्कूल (मैट्रीकुलेशन) परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के बाद उनके पिता उन्हें भी सरकारी नौकरी में लगा देना चाहते थे। उस समय के कलेक्टर विंढम साहब से उन्होंने इस सम्बन्ध में बात भी की थी। एक बार विंढम साहब मछली का शिकार करने के लिए घोड़ा पर सवार होकर उन्हीं के मकान के पास से एक तालाब पर जा रहे थे। उस समय
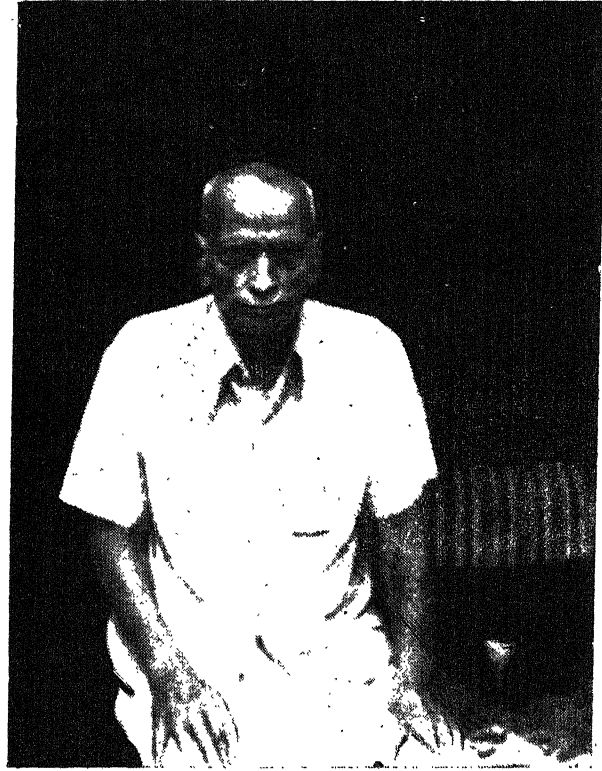
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सबसे छोटे अनुज
श्री जगदीश शुक्ल

कलेक्टर को सीधे नियुक्ति का अधिकार था। कलेक्टर साहब ने कानूनगो साहब के द्वार पर जाकर कहा—"कहाँ है तुम्हारा बेटा रामचन्दर? बुलाओ उसे तहसीलदार के पद पर नियुक्त कर दूँ।" कानूनगो साहब ने नौकर को भेजकर रामचन्द्र को बुलवाया। रामचन्द्र ने नौकर से कहा—"मैं सरकारी नौकरी नहीं करूँगा।" नौकर ने आकर उनके पिता जी से कहा—"ओन°कतउँ गा है न, बाकी कहेन हुँऽ कि सरकारी नौकरी न करब।" कलेक्टर साहब ने इसका अर्थ समझ लिया, कहा—"ओ सरकारी नौकरी नहीं करेगा! अच्छा! अच्छा!!" और घोड़ा बढ़ाकर चला गया।

इस बात पर पिता जी खूब नाराज हुए और बिगड़कर कहा—"जाओ कह दो, वह अपना खुद इन्तजाम करे।"

शुक्ल जी लिपिक से ड्राइंग अध्यापक के पद पर

शुक्ल जी स्वाभिमानी तो थे ही। उन्होंने इस घटना का जिक्र पं० विन्देश्वरी प्रसाद से किया। पंडित जी ने मिडिल स्कूल के प्रिंसिपल से बात की। प्रिंसिपल साहब उनकी विलक्षण प्रतिभा से अवगत थे ही। उस समय वहाँ क्लर्क की जगह खाली थी। शुक्ल जी की नियुक्ति उसी पद पर कर दी गयी। बाद में ड्राइंग अध्यापक की जगह खाली हुई तो वे उस पद पर कार्य करने लगे।

शुक्ल जी की कला में विशेष अभिरुचि थी। वे बच्चों से अच्छे से अच्छे चित्र बनवाते और स्वयं भी बनाते थे।

शुक्ल जी नागरी प्रचारिणी सभा में

कला अध्यापक पद पर कार्य करते हुए शुक्ल जी ने हिन्दी में कई लेख लिखे जिनसे मिर्जापुर निवासी तथा नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के कर्मचारी केदारनाथ पाठक बहुत प्रभावित हुए। उस समय हिन्दी-कोश के लिए ऐसे ही एक व्यक्ति की आवश्यकता थी। पाठक जी ने अधिकारियों से बात की और शुक्ल जी को कोश का कार्य देखने के लिए नागरी प्रचारिणी सभा में बुला लिया। शुक्ल जी ने कोश का कार्य बड़ी विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया और नागरी प्रचारिणी पत्रिका में कई लेख भी लिखे, बाद में वे उसका भी सम्पादन करने लगे। कहते हैं 'कोश' तैयार हो जाने पर उन्होंने उसकी गम्भीर भूमिका भी लिखी थी जो डॉक्टर श्यामसुन्दर दास के हस्ताक्षर से प्रकाशित हुई। शुक्ल जी की प्रतिभा से प्रभावित होकर बाद में महामना मालवीय ने इनकी नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्यापक के पद पर कर दी थी।

शुक्ल जी का सामान्य जीवन

आचार्य शुक्ल का जीवन सादा था। वे सात्विक भोजन करते थे। वे घुमक्कड़ प्रकृति के थे। काशी प्रसाद जायसवाल से उनकी खूब पटती थी। वे दोनों मित्र अवकाश के समय

किसी एकांत में निकल जाया करते थे और घण्टों प्रकृति का निरीक्षण किया करते। वे पहाड़ों पर विन्ध्याचल या त्रिकोण यात्रा पर अकसर निकल जाया करते थे। धर्म-कर्म में भी समान अभिरुचि थी। कजली-मेला के अवसर पर कजली गीत सुनते थे, किन्तु कजली लिखने में उनकी दिलचस्पी न थी।

नवाबी वातावरण में पले होने के बाद भी वे छोटे तपके के लोगों में घुलमिल जाते थे। गोष्ठियों, सम्मेलनों में कोई विशेष दिलचस्पी न थी। साहित्यकारों में मिल बैठ कर वार्तालाप कर लेते थे। मिर्जापुर में वे दूसरी बार एक सम्मेलन के सभापति हुए थे। इसके पहले इन्दौर के एक साहित्यिक आयोजन में उन्होंने सभापति पद से एक भाषण दिया था। वहाँ इनके बड़े भाई की लड़की की ससुराल थी। वहाँ वे राय बहादुर डॉ० सरजू प्रसाद तिवारी के आग्रह पर गये थे। तिवारी जी ने वहाँ हिन्दी साहित्य समिति बनायी थी। वह आयोजन भी उसी समिति की ओर से सम्पन्न हुआ था। कहते हैं उस सम्मेलन में उनके द्वारा दिया गया भाषण बहुत ही विद्वत्तापूर्ण था जिसे विरले ही समझ सके थे।

मिर्जापुर-निवासी श्री जगदीशचन्द्र शुक्ल से हुई बातचीत से ज्ञात हुआ कि आचार्य शुक्ल का पारिवारिक जीवन भी बहुत अच्छा था। बड़ा होने के कारण वे परिवार में संतुलन बनाये रहते थे। श्री शुक्ल ने बताया कि एक बार उनसे उनके बड़े भाई से किसी बात को लेकर कहासुनी हो गयी जिसकी जानकारी उन्हें हुई तो उन्होंने एक पत्र लिखकर मुझे समझाया और कहा कि छोटों को बड़ों की बातों का जवाब नहीं देना चाहिए। तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था।

श्री शुक्ल जी ने बताया कि वे चार भाई थे—रामचन्द्र शुक्ल, हरिश्चन्द्र शुक्ल, कृष्ण-चन्द्र शुक्ल और जगदीशचन्द्र शुक्ल। आचार्य शुक्ल सबसे बड़े थे। सभी भाइयों के साथ उनका उत्तम व्यवहार था। बहिनों के साथ भी अपरिमित स्नेह-भाव रखते थे। मिर्जापुर के मकान में चार भाइयों का हक था, उन्होंने अपना हक मुझे (जगदीशचन्द्र शुक्ल) सौंप दिया। तात्पर्य यह कि वे उदार भी बहुत थे।

लोकवार्ता शोध संस्थान,
राबर्ट्सगंज, मिर्जापुर

भक्त सूरदास जी से आचार्य शुक्ल की भेंट

डॉ० विश्वनाथ मिश्र

यह नक्षत्रों से भरा आकाश वियोगी जनों के लिए एक बहुत बड़ा सहारा है। उस दिन भी तो आकाश नक्षत्रों से भरा हुआ था और मैं उस सुनील नभ के प्रत्येक तारे में अपनी प्रिया के रूप-वैभव की गरिमा देखने में तल्लीन होकर, महादेवी जी की यह पंक्ति—'सो रहा है विश्व पर प्रिय तारकों में जागता है'—मन ही मन गुन-गुना रहा था। तभी आकाश में बादल घिर आए। उन्होंने समस्त गगन को आच्छादितकर लिया और कुछ ही देर में वर्षा की झड़ी भी प्रारम्भ हो गई। मुझे कमरे के भीतर आश्रय लेना पड़ा; उसी कमरे के भीतर, जिसका हवा में अबाध प्रवेश और आकाश के निरन्तर दर्शन के लिए सीकचों का खुला दरवाजा मेरे लिए कटघरे जैसा वातावरण उपस्थित कर देता था। उस दिन पता नहीं क्यों कालिदास के यक्ष की भाँति बादलों को दूत बना कर अपनी प्रिया के पास संदेश भेजने की बात मन में नहीं आई। हाँ, वर्षा की उन बूँदों को देख कर मन सूरदास की पंक्तियाँ :

निशि दिन बरसत नयन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पै जब ते श्याम सिधारे।।

अवश्य गुन गुना उठा। उसके बाद, एक नयी विचार परंपरा प्रवाहित हो उठी : सूरदास जी के विरह वर्णन को आचार्य शुक्ल ने बैठे-ठाले का काम और फालतू उमंग की अभिव्यक्ति कहा है. . .आचार्य शुक्ल तो गोस्वामी तुलसीदास के प्रति विशेष अनुरक्त थे. . .सूरदास जी पर तो उन्होंने कई स्थानों पर और गहरी चोटें की हैं. . .आज के किसी साहित्यकार को जब उसका कोई कटु आलोचक मिल जाता है. . .अच्छी चोंचें लड़ती हैं. . .भक्त कवि सूरदास से यदि आचार्य शुक्ल की भेंट हो जाती. . .तो. . .तो. . .सूरदास जी बहुत सौम्य व्यक्तित्व के थे. . .और शुक्ल जी अपने समस्त बुद्धि वैभव को लेकर भी श्रद्धालु प्रकृति के. .चोंचें. .चोंचें तो दोनों के ही नहीं थी. . .फिर भी दोनों का सम्मिलन. . .एक दूसरे के प्रति, गिल्ला-शिकायत को लेकर. . .मनोरम तो होता ही. . .यही सब सोचते हुए नींद आ गई, और उस रात स्वप्न में अपनी प्रिया को न देख कर भक्त कवि सूरदास से आचार्य शुक्ल की भेंट का यह अपूर्व दृश्य देख बैठा। उसी की कुछ झलक सब के मनोरंजन के लिए यहाँ उपस्थित है। भगवान्

बिष्णु के वैकुंठ-लोक के भक्ति नगर का एक सुन्दर-सा बंगला : द्वार पर लिखा है, 'वृन्दावन'। आकाश से परम मनोहर ज्योत्स्ना उतर रही है। लगता है जैसे सुधा की वर्षा हो रही है। शरद् पूर्णिमा के उस मधुर मादक वातावरण को तरंगित करता हुआ एक संगीत स्वर आ रहा है :

ब्रज भयो महर कैं पूत जब यह बात सुनी।
सुनि आनन्दे सब लोग, गोकुल-गनक गुनी॥

० ० ०

सुनि धाईं सब ब्रज नारि, सहज सिंगार किए।
तन पहिरे नूतन चीर, काजर नैन दिए॥

० ० ०

ते अपनैं-अपनैं मेल, निकसीं भाँति भली।
मनु लाल मुनैयनि पाँति, पिंजरा तोरि चली॥

इस संगीत लहरी में डूबते उतराते हुए जिधर भी दृष्टि जाती है, कृष्ण की बाल लीला अथवा यौवन सुलभ चपलताओं का कोई-न-कोई प्रसंग सामने आ जाता है। कहीं कोई शिशु मणिमय आँगन में घुटनों के बल चलने का प्रयास कर रहा है। फिर दूसरे स्थल पर हम देखते हैं, वही बालक, कुछ और बड़ा होकर अपनी माता से चन्द खिलौना के लिए आग्रह पर अड़ा है। तभी पास से आता हुआ कुछ बच्चों का शरारत भरा स्वर सुनाई दिया। देखा तो एक छोटा-सा बालक, अपने से कुछ ही बड़े एक बालक के कंधे पर खड़ा हुआ सामने के एक छोटे से भवन में सिकहर में टँगे दही के माठ को उतारने के प्रयत्न में लगा है। एक अन्य ओर दृष्टि जाती है तो दिखाई देता है—एक पन्द्रह सोलह वर्ष का नवयुवक झूले पर बैठी हुई नव-बाला को झोकें देकर झुला रहा है; और उसके चारों ओर एकत्र उस नव-बाला की सखियाँ गीत गा रही हैं। सहसा कृष्ण राधा को, उनका हाथ बड़े स्नेह के साथ अपने हाथों में लेकर, उतार लेते हैं। सभी सखियाँ उन दोनों के चारों ओर एकत्र हो जाती हैं और तब रास-नृत्य प्रारम्भ हो जाता है। . . .

'वृन्दावन' के उस दिव्य वातावरण में न जाने कितनी देर तक मैं इस मनोहर दृश्यावली को देखता रहा। न जाने कितनी संगीत लहरियाँ भी कानों में आईं और गईं। जब ध्यान टूटा तो संगीत के स्वर स्पष्ट हुए :

आजु निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मंद सुगंध पवन बहे, रोम रोम सुखदाई॥
जमुना-पुलिन पुनीत, परम रुचि, रचि मंडली बनाई।
राधा वाम अंग पर कर धरि, मध्यहिं कुँवर कन्हाई॥
कुंडल संग. . . . .

जिधर से यह स्वर लहरी आ रही थी, मैं उसी ओर बढ़ चला। उस 'वृन्दावन' के बीच में स्थित एक छोटे से सामान्य-से भवन के बरामदे में शीतल पाटी पर बैठा हुआ प्रौढ़ावस्था का एक व्यक्ति सितार बजा रहा था और गा रहा था :

मानौ आई घन-घन-अन्तर दामिनि।
घन दामिनि दामिनि घन अन्तर, सोभित हरि ब्रज भामिनि।...

इस संगीत की मधुर धारा के बीच ऊपर उठते हुए उस गीति साधक के महा-महिम व्यक्तित्त्व के आगे मेरा मन अपने आप श्रद्धावनत हो गया। कृष काया, सौम्य मुख-मंडल, संगीत के आरोह-अवरोह के साथ प्रतिपल नये वर्णों को धारण करने वाली भावन मुद्रा, खल्वाट सिर और उस पर क्रीड़ा करती हुई चोटी, सितार के तारों के साथ यन्त्रवत खेलती हुई पतली किन्तु लम्बी-सी उंगलियाँ, उन उंगलियों से जाग्रत होती हुई विभिन्न राग-रागिनियों में मुखरित होती हुई कृष्ण लीला के विभिन्न रूपों की झलकियाँ : इस मोहक व्यक्तित्त्व को देखते ही मुझे प्रतीत हो गया कि यही सूरदास जी हैं। मैं उनकी चरण-धूलि लेकर और चुपचाप बैठ गया और उस मधुर संगीत धारा का आनन्द लेने लगा।

सूरदास जी के उस स्वर्गीय संगीत का आनन्द लेने के लिए मेरे बाद और भी कई सज्जन आए। उनमें से मैं कई को पहचान भी सका, जो सज्जन पुराने लाला लोगों जैसे प्रभावशाली व्यक्तित्त्व को लेकर चूड़ीदार पाजामा, लम्बी अचकन और गोल टोपी पहन कर आये थे, वे 'रत्नाकर' जी थे। भारतेन्दु जी भी अपने मनभावन रसिकों जैसे व्यक्तित्व को लेकर छैल-छबीली वेश-भूषा में वहाँ उपस्थित थे। अन्य महानुभाव जिन्हें मैं देखते ही जान गया, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ तथा प्रसाद जी थे। ये सभी, तथा जो और लोग वहाँ आये, सूरदास जी को अपनी मन की भावना के अनुरूप, प्रणाम कर के अथवा चरण-धूलि लेकर बैठते गये। सूरदास जी भावमग्न होकर अपनी संगीत साधना में तत्पर रहे। कभी अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की बाल लीला, कभी यौवन क्रीड़ा से सम्बन्धित पदों के गायन में तल्लीन रहे। सहसा उन्होंने गाना बन्द कर दिया और अपनी बन्द आँखों से पथ की ओर देखने लगे। कुछ ही क्षणों में हमने देखा कि पाश्चात्य वेश-भूषा धारण किये हुए एक प्रौढ़ावस्था के सज्जन, जिनके गोलाकार चेहरे पर आँखों में चश्मा चढ़ा हुआ था और नासिका के नीचे तितली के आकार की छोटी-छोटी मूँछे थी, आये। जब वे बरामदे के नीचे ही थे, सूरदास जी ने हलके से हँसी के भाव को लेकर उनसे कहा—सुकुल जी, आप तो शायद रास्ता भूल कर यहाँ आ गये हैं। आपके 'बाबाजी', मेरा मतलब है, भाई तुलसी तो, इस 'वृन्दावन' के ठीक सामने, वह जो 'पंचवटी' है न, उसमें रहते हैं।

सूरदास जी के इस कथन को सुनकर हमें लगा जैसे यह नये सज्जन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं; और सूरदास जी अपने इस कटु आलोचक को अपने यहाँ देख कर उनकी चुटकी ले रहे हैं। शुक्ल जी सूरदास जी के इन परिहास भरे शब्दों को सुन कर, पहले तो कुछ गंभीर हुए, उनकी मुद्रा में भी कुछ कठोरता—सी आई, किन्तु फिर उन्होंने अपने को संयत कर के हँसते

हुए कहा, नहीं महाराज, आज तो मैं आपके श्री चरणों में अपने हृदय की श्रद्धा अर्पित करने आया हूँ।

सूरदास—बात बनाना तो तुम्हें खूब आता है। मेरे प्रति और तुम्हारे मन में श्रद्धा की भावना ! कुमुदनी तो चन्द्रमा के प्रकाश को ही लेकर उल्लसित हो सकती है, सूर्य के प्रकाश को धारण करके आनन्द मग्न होने के लिए तो कमल-सा विशाल हृदय चाहिए।

शुक्ल—आपने भी किस दृष्टि दरिद्र नाम-हीन आलोचक की बात उठा दी, जो यमक की झोंक में आपको सूर और तुलसीदास जी को शशि बना गया; भला आपके सौम्य, सुशील और कोमल-कान्त व्यक्तित्व में सूर्य-सा प्रखर ताप कहाँ है; और तुलसीदास जी ने भी तो सब कहीं चन्द्रमा की शीतल चाँदनी नहीं छिटकाई है।

सूरदास—किन्तु, फिर भी तो आपने उन्हें पूर्ण भावुक कहा है; और साथ में यह भी जोड़ दिया है कि हिन्दी के कवियों में सर्वांगपूर्ण भावुकता तो हमारे गोस्वामी जी में ही है।

शुक्ल—हाँ, मैं अपने इस कथन को स्वीकार करता हूँ। इसकी सत्यता सिद्ध करने के लिए मुझे विस्तार में जाना होगा। (अन्य लोगों की ओर देखते हुए) आप लोग यदि अनुमति दें तो मैं अपनी बात कुछ विस्तृत रूप में, आदरणीय सूरदास जी, तथा आप सभी महानुभावों के आगे रखने का प्रयत्न करूँ।

रत्नाकर—हम लोग तो सूरदास जी के सरस काव्य-प्रवाह का सुरस लेने आये थे, किन्तु सूरदास जी ने स्वयं ही जब यह वाक्-द्वन्द्व छेड़ दिया है, तो कुछ समय तक बौद्धिक-विलास ही सही। हम सभी इस वाक्-विलास का आनन्द ले रहे हैं, आप अपनी बात स्पष्ट कीजिए।

शुक्ल—मेरी धारणा है कि कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। गोस्वामी जी ने राम चरित्र को लेकर, उसमें मानव जीवन की सभी प्रकार की परिस्थितियों का समावेश कर दिया है। यदि कहीं सौन्दर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष-पुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखण्ड है तो घृणा, शोक है तो करुणा, आनन्दोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्त्व है तो दीनत तुलसीदास जी के हृदय में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से वर्तमान है। इतनी सर्वांगपूर्ण भावुकता हमें हिन्दी के अन्य किसी कवि में दिखाई नहीं देती, इसीलिए मैंने कहा है कि मानव प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामी जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतना अधिक हिन्दी भाषा के और किसी कवि के हृदय में नहीं।

सूरदास—भाई तुलसी की रचनाओं का सम्यक् अध्ययन करके तुमने यह तो देख लिया है कि उन्होंने रामचरित्र में सभी प्रकार की परिस्थितियों का समावेश कर दिया है। किन्तु मेरा विचार है कि यदि तुम हिन्दी भाषा के अन्य कवियों की रचनाओं का भली प्रकार अध्ययन करो तो, उनमें से कुछ में तो तुम्हें पूर्ण भावुकता देखने को मिल जायेगी।

शुक्ल—अच्छा चलिए, आपके इस दिशा-निर्देश को स्वीकार करके सब से पहले मैं हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों को लेता हूँ। हमारे यहाँ का भक्ति मार्ग भगवान् की अनन्त शक्ति,

शील और सौन्दर्य के अधिष्ठान रूप में इसी जगत् के व्यवहार के बीच रखकर चला है। रामोपासक भक्त तो उक्त तीनों विभूतियों-शक्ति, शील और सौन्दर्य से समन्वित 'राम' में अपने हृदय को लीन करते आये हैं। पर कृष्ण भक्त कवियों ने तो श्रीकृष्ण को केवल वात्सल्य और शृंगार के आलम्बन रूप में लिया है। यदि हम कृष्ण चरित्र को उसकी सम्पूर्णता के साथ लें तो हम कृष्ण को भी राम की भाँति लोक-कलंक, अत्याचारियों का पराभव कर, धर्म की शक्ति और सौन्दर्य का प्रकाश फैलाते हुए देखते हैं। महाभारत में जो दिव्य-शक्ति भारत के सब से प्रचंड और अत्याचारी सम्राट जरासंध को लोकमार्ग से हटाती है, अधर्म में रत कौरवों के पराजय द्वारा धर्म की विजय-घोषणा करती है, कृष्ण भक्त कवियों ने उस दिव्य-शक्ति के रूप में कृष्ण को अपने हृदय में प्रतिष्ठित नहीं किया है। श्रीमद्भागवत का आश्रय लेकर उन्होंने कुछ तो कृष्ण की बाल-लीला पर अधिकतर गोपियों के साथ उनकी प्रेम-लीला का ही वर्णन किया है। भगवान् के जो तीन-रक्षक, पालक और रंजक रूप माने गये हैं, उनमें उन्होंने केवल 'रंजक' रूप अपने लिये छाँट लिया है। आपने भी तो केवल, श्रीकृष्ण की बाल-लीला और यौवन-लीला का ही मनोयोग के साथ वर्णन किया है।

सूरदास—हाँ यह तो मैं स्वीकार करता हूँ कि श्रीकृष्ण की बाल-लीला और यौवन-क्रीडा का मैंने पूर्ण मनोयोग के साथ वर्णन किया है : किन्तु ऐसा नहीं है कि मैंने उनके लोक-रक्षक रूप को बिलकुल लिया ही न हो। इसलिए तुम्हारा यह आक्षेप कि मैंने लोक-पक्ष को छोड़ दिया है, उचित प्रतीत नहीं होता।

शुक्ल—क्षमा कीजियेगा, महाकवि, मुझे लगता है जैसे किसी ने मेरे विरुद्ध आपके कान बहुत अधिक भर दिये हैं। लोक-पक्ष की उपेक्षा की बात तो मैंने आपके सम्बन्ध में नहीं, सामान्यतः कृष्ण भक्त कवियों के लिए कही है। आपके सम्बन्ध में तो मेरा स्पष्ट कथन है कि बाल-लीला के वर्णन में कृष्ण चरित्र के लोक-पक्ष को आपने स्थान दिया है; कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपों को बचाना, काली नाग को नाथ कर लोगों का भय छुड़ाना, इन्द्र के कोप से डूबते हुए गोकुल की रक्षा करना आदि, इसी प्रकार के प्रसंग हैं। किंतु यह तो आप भी स्वीकार करेंगे कि इन प्रसंगों के वर्णन में आपकी वृत्ति लीन नहीं हुई है। जिस उत्साह से तुलसीदास जी ने मारीच, ताड़का, खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है, उस ओज और उत्साह से आपने श्रीकृष्ण द्वारा बकासुर, अघासुर, कंस आदि का वध नहीं दिखाया है। मेरी तो यह भी धारणा है कि कंस और उसके साथी असुरों को आपने लोक शत्रु या लोकपीड़क के रूप में नहीं, श्रीकृष्ण के अपने शत्रु के रूप में चित्रित किया है।

सूरदास—बस यहीं मुझे आपत्ति है। मैं यह तो स्वीकार करता हूँ कि श्रीकृष्ण के इस लोक-संग्रही रूप में मेरा मन विशेष रूप से नहीं रमा है; और न मैं भाई तुलसीदास की भाँति इन लोक-रक्षा के कार्यों का पूर्ण ओज और उत्साह के साथ वर्णन ही कर पाया हूँ। किन्तु कंस और उसके साथी असुर काली नाग, इन्द्र आदि, हैं लोक शत्रु ही। मैंने उन्हें श्रीकृष्ण का अपना शत्रु उसी रूप में बना दिया है जिस प्रकार आपके परम प्रिय कवि तुलसीदास जी ने सीता-हरण करा कर लोक-पीड़क रावण को राम का निजी शत्रु भी बना दिया है।

आचार्य शुक्ल इसका कुछ उत्तर देते कि रत्नाकर जी बीच में बोल पड़े—सूरदास की यह आपत्ति तो आपको स्वीकार ही करनी पड़ेगी। उनके कंस, अघासुर आदि वास्तव में रावण की भाँति लोक-पीड़क हैं; हाँ, यह मैं मान सकता हूँ कि वे रावण जैसे प्रचंड नहीं हैं।

शुक्ल—अच्छा चलो मैं यह मान लेता हूँ कि कंस और उसके साथी असुर लोक-पीड़क हैं, फिर भी मेरा यह कहना है कि सूरदास जी ने लोक-पक्ष को समुचित रूप से ग्रहण नहीं किया है। उन्होंने भक्ति को लोक-मर्यादा से अधिक प्रतिष्ठा दी है। तभी तो कृष्ण के प्रति अनुरक्त होकर गोपियाँ लोक-लाज, कुलकानि, वैदिक अनुशासन सब को भंग कर के, कृष्ण के आवाहन पर तुरंत घरों से निकल पड़ती हैं। उसके बाद गीत, नृत्य और उन्मुक्त विलास-क्रीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। मैं यह मानता हूँ कि कृष्ण और गोपियों की इस आनन्द-क्रीड़ा में एक महद् आध्यात्मिक रहस्य निहित है। किन्तु सामान्य जनता तो इस रंग-रहस्य में मर्यादा के अतिक्रमण, शील और सदाचार के उल्लंघन, उन्मुक्त विलास-क्रीड़ा के प्रोत्साहन के भाव को ही ग्रहण करेगी।

सूरदास—तुम्हारी यह आपत्ति मुझे भली प्रकार समझ में आ गई। किन्तु सामान्य जनता को दृष्टि में रख कर तो मैंने कुछ लिखा ही नहीं था। मैंने तो श्रीनाथ जी के मन्दिर में भजन-कीर्तन में भाग लेने वाले एक विशेष मानसिक स्तर के भक्तों के लिए अपने पदों की रचना की थी। कृष्ण और गोपियों की आनन्द-क्रीड़ा में जो आध्यात्मिक रहस्य अन्तर्निहित है, उसे तो महाप्रभु, जो सौभाग्य से आज यहाँ उपस्थित हैं अधिक स्पष्ट कर सकेंगे।

शुक्ल जी तत्काल बोल पड़े—इस सम्बन्ध में महाप्रभु बल्लभाचार्य जी को कष्ट देने की क्या आवश्यकता है। मैं स्वयं इस रहस्य से भली प्रकार परिचित हूँ। कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में कृष्ण और गोपियों के इस सम्मिलन को मुक्त आत्माओं के साथ परमात्मा की आनन्द-क्रीड़ा समझा जाता है। एक ओर पौराणिक व्याख्या है, श्रुतियों की प्रार्थना पर श्रीकृष्ण ने नित्य-वृन्दावन का निर्माण करके गोपियों के रूप में उनके साथ आनन्द-क्रीड़ा द्वारा उन्हें अपने समागम का दिव्य-आनन्द प्रदान किया था। कृष्ण भक्त-सम्प्रदायों में गोपियों को आदर्श समझा जाता है, और विविध मानसिक प्रयासों द्वारा अपने मन में उन्हीं जैसी भावना जगा कर नित्य-वृन्दावन में उस परब्रह्म सच्चिदानन्द के साथ सम्मिलन सुख की कामना की जाती है। किन्तु श्रीकृष्ण की प्रणय-क्रीड़ा के इस आध्यात्मिक रहस्य को बौद्धिक विकास के एक विशेष स्तर पर पहुँचे हुए लोग ही समझ सकते हैं। सामान्य जनता तो कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ा में लौकिक श्रृंगार का रंग-रहस्य ही ग्रहण कर पाती है। इसीलिए मेरा यह कहना है कि आपने लोकपक्ष का समुचित निर्वाह नहीं किया है।

सूरदास—तुम्हारी इस तर्क-परम्परा के उत्तर में मुझे फिर वही दुहराना पड़ेगा जो मैं अभी कह आया हूँ। मैंने जनता को दृष्टि में रख कर लिखा ही नहीं है। जनता के कवि तो तुम्हारे बाबा जी हैं; मैं तो भक्तों का कवि हूँ। महाप्रभु जी, आप मेरे इस कथन को कुछ स्पष्ट कीजिए न।

वल्लभाचार्य—हाँ मैं स्वयं भी तुम्हारी बात कुछ और स्पष्ट करने को सोच रहा था। आचार्य शुक्ल, हमारे साहित्य में मानवीय चेतना के पाँच-स्तर माने गए हैं। अन्न, प्राण, मन, बुद्धि और अन्तरात्मा। भक्त या साधक जब अपनी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी कर के अन्तरात्मा के स्तर पर पहुँचाता है, तभी उसे सच्चिदानन्द स्वरूप की अनुभूति होती है। आपके प्रिय कवि गोस्वामी तुलसीदास तो अन्न के स्तर से प्रारम्भ कर के बुद्धि के स्तर तक ही पहुँच पाये। इसीलिए लोक-मर्यादा पर उनकी दृष्टि बँध-सी गयी। भक्त होकर भी भक्ति के उल्लास और परमानन्द को वे अनुभव नहीं कर पाये। आध्यात्मिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो नित्य-वृन्दावन के दिव्य-जीवन के आनन्द और उल्लास का वर्णन करने वाला 'सूर-सागर' तुलसी के लोक-जीवन की मर्यादाओं में पूर्णतः आबद्ध काव्य-ग्रन्थ 'राम-चरितमानस' से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

शुक्ल—आचार्य महोदय, आप अपनी आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि तो लेकर यह कह सकते हैं, किन्तु मुझे तो आध्यात्मिकता को इतना अधिक महत्व देना कि लोक-जीवन पूर्णतः उपेक्षित रह जाय, समीचीन नहीं प्रतीत होता। मुझे तो यह धरती प्यारी है। इसमें खिलने वाले फूलों से प्यार है। इन पर मँडराती हुई तितलियाँ और मधु-संचय में तत्पर भौंरे मुझे भले प्रतीत होते हैं। आकाश में उड़ने वाले पक्षियों से मुझे स्नेह है। यह नील गगन मुझे प्यारा लगता है। इनमें से सबसे अधिक आकर्षण मेरे मन में, मानव के प्रति है। मैं समझता हूँ उसी के सुख सन्तोष के लिए सृष्टि का यह अनन्त विधान है। मेरे प्रिय कवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

'बड़े भाग मानुस तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन गावा।' मनुष्य की इसी श्रेष्ठता को दृष्टि में रख कर इस जगत् की प्रत्येक गति को मैं मानव सापेक्ष्य मानता हूँ।

सूरदास जी को शुक्ल जी के इस भावुकता पूर्ण कथन को सुन कर हँसी आ गयी और उन्होंने हल्के से परिहास की भावना को लेकर कहा—

किन्तु हे मानवोपासक! इस समय तुम धरती पर नहीं स्वर्ग में हो, वृन्दावन में हो; और मानवों के बीच नहीं दिव्य विभूतियों के बीच समुपस्थित हो।

शुक्ल—दिव्य सौन्दर्य और अलौकिक-उल्लास के गायक महाकवि, यह मैं भली प्रकार जानता हूँ; किन्तु इस स्वर्ग का मुझे वही प्यारा है जो कुछ धरती से मिलता जुलता है। यहाँ जब मैं देखता हूँ कि किसी को कष्ट में देख कर कोई भी करुणा से गद्‌गद् नहीं होता, किसी को वर्षों बाद अपने बीच पाकर स्नेह विह्वल होकर उसे अपनी बाँहों में भर लेने को नहीं उठता, किसी की अत्यधिक प्रसन्नता को देखकर भी आनन्दमग्न होकर नृत्य नहीं कर उठता, तो मुझे अपना धरती का जीवन ज़ोर से अपनी ओर खींचने लगता है। इस स्वर्ग का एकरस, एक-भाव जीवन, मुझे किसी प्रकार भी रुचिकर नहीं। यह तो कर्मों का विपाक है जो मुझे यहाँ आना पड़ा और रुकना पड़ रहा है। कभी-कभी मनुष्य की भलमनसाहत उसके लिए दण्ड स्वरूप हो जाती है।

शुक्ल जी का यह कथन समाप्त होते होते गुरुदेव रवीन्द्रनाथ बोल पड़े—आलोचक प्रवर, देवताओं की इस पुण्य भूमि में धरती के मानव की श्रेष्ठता के उद्‌घोषक के रूप में, मैं

तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ। अपनी 'स्वर्ग से विदा' शीर्षक रचना में, मैंने भी इसी प्रकार के भाव को व्यक्त किया है। मनुष्य की श्रेष्ठता का तो मैं भी प्रतिपादन करता हूँ। हमारे सोने के बंगाल के एक कृष्ण भक्त कवि, चंडीदास ने भी इसी प्रकार के भाव को व्यक्त किया है—

सवार ऊपर मानव सत्त, तहार ऊपर नाई।

मेरे समस्त साहित्य में मनुष्य की इसी श्रेष्ठता की घोषणा है।

प्रसाद—मानव की श्रेष्ठता का समर्थन तो मैं भी करूँगा; और मेरे पास बैठे हुए ये कालिदास, भारतेन्दु आदि भी इसी मत के हैं।

शुक्ल—मुझे प्रसन्नता है कि यहाँ उपस्थित कुछ दिव्य-विभूतियों ने भी मनुष्य की श्रेष्ठता के मेरे मत का समर्थन किया है। अभी प्रसाद जी मेरे समर्थन में बोले थे इन्हीं की धारा के एक कवि सुमित्रानन्दन पंत ने मानवीय श्रेष्ठता की घोषणा बड़ी भावात्मक शब्दावली में की है संयोग से वे भी यहाँ हैं। उनसे आग्रह है......

पन्त—मेरी वे पंक्तियाँ हैं—

सुन्दर हैं विहग सुमन सुन्दर,
मानव तुम सबसे सुन्दरतम्।
रंजित जग की तिल सुषमा से,
इस निखिल विश्व में चिर निरुपम॥

शुक्ल—इसी जीवन-दृष्टि को लेकर काव्य का मानव-सापेक्ष्य होना मैं उसकी सब से बड़ी कसौटी मानता हूँ।

सूरदास—लेकिन भाई यह सब तो विषयान्तर है। मैं तो उन आपत्तियों की चर्चा कर रहा था, जो तुमने मेरे सम्बन्ध में उठाई हैं। तुमने लिखा है—कि लोक-संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना मेरी रचनाओं में नहीं है; और जीवन की गम्भीर समस्याओं से इसी तटस्थता के कारण, उनमें वह वस्तु गाम्भीर्य नहीं है जो तुलसीदास जी की रचनाओं में है।

शुक्ल—हाँ, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मुझे आपकी रचनाओं में जीवन की गम्भीर समस्याओं से अलग रखने की वृत्ति देखने को मिलती है; और मैं यह जानना चाहूँगा कि इस सम्बन्ध में आपको क्या कहना है।

सूरदास—सब से पहले तो मैं यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि लोक-संघर्ष में उठने वाली समस्याओं का चित्रण मेरी रचनाओं का उद्देश्य नहीं है। मैंने इन क्षणिक समस्याओं को न लेकर उसके आगे खड़ी चिरन्तन समस्या को 'जीवन के सच्चे सुख, वास्तविक आनन्द की उपलब्धि किस प्रकार सम्भव है—उठाया है।' इस सम्बन्ध में मैंने केवल यही नहीं बताया है कि उसका साधन क्या है, वरन् उस दिव्य जीवन की मनोहर दृश्यावली भी उपस्थित की है।

शुक्ल—आपके इस उत्तर से तो मेरी आपके विषय में धारणा और पुष्ट हो गयी। आप लोक-जीवन के दुख-द्वन्द्व, झगड़े-टन्टे, युद्ध-विप्लव से घबरा कर यहाँ स्वर्ग में नित्य-वृन्दावन में आ गये हैं। आपके इस पथ का अवलम्बन कर लेने से तो केवल आपके बौद्धिक और मानसिक स्तर तक पहुँचे हुए लोगों को ही लाभ हो सकता है; और फिर स्वर्ग में स्थान भी तो थोड़ा ही है। मैं तो मनुष्य में ही देवत्व सद्भावना, सद् विचार और सदाचरण—की प्रतिष्ठा करके अपनी धरती को ही स्वर्ग बनाने की कामना करता हूँ।

सूरदास जी हँसते हुए इस विश्वास के साथ जैसे यह कभी नहीं होने का, कहते हैं—अच्छा भाई, जब तुम धरती को स्वर्ग बना लोगे तो हम लोग वहीं आ कर रहने लगेंगे। किन्तु अभी मेरी तुमसे जो शिकायतें हैं उनका उत्तर दिये जाओ।

शुक्ल—आपके मन में न जाने कैसे यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि मैंने आपके विषय में केवल आपत्तियाँ ही उठाई हैं। मैंने तो स्पष्ट लिखा है कि 'सूर-सागर' वास्तव में एक महासागर है—जिसमें हर प्रकार का जल आकर मिला है। जिस प्रकार उसमें मधुर अमृत है—उसी प्रकार कुछ खारा, फीका और साधारण जल भी है। मेरा प्रयास खारे, फीके और साधारण जल से हंस जैसी वृत्ति को लेकर, अमृत को अलग करने का रहा है। इसी दृष्टि को लेकर जहाँ मैंने आपके सागर के मूँगें, सीपी और घोंघों की ओर संकेत किया है; वहाँ उसके मोतियों की अपार राशि भी, उनकी दिव्य कीर्ति को और निखार कर, जनसाधारण की दृष्टि के आगे उपस्थित कर दी है।

सूरदास—इस समय तो मैं अपने 'सागर' के कुछ मूंगे, सीपी और घोंघें और देखना चाहूँगा।

शुक्ल—आपके विरह-वर्णन के सम्बन्ध में भी मुझे आपत्ति रही है। परिस्थिति की गम्भीरता के अभाव में गोपियों के वियोग में वह गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है। सीता का अपहरण हुआ था और अपने प्रिय से इस प्रकार बल-पूर्वक अलग किये जाने पर, उन्हें कई सौ कोस दूर, दूसरे द्वीप के राक्षसों के बीच रहना पड़ा था। गोपियों के गोपाल केवल दो चार कोस दूर एक नगर में राज-सुख भोग रहे थे। गोपियाँ यदि चाहती तो वहाँ पहुँच भी सकती थीं। इसीलिए आपका वियोग-वर्णन परिस्थिति के अनुरोध से नहीं, वरन् वियोग वर्णन के लिए ही लिखित प्रतीत होता है। गोपियों का वियोग तो बैठे-ठाले का काम है—और इसीलिए वह मुझे असंगत भी लगा है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने सीता के जिस वियोग का वर्णन किया है, वह राम को निर्जन वनों और पहाड़ों में घुमाने वाला, सेना एकत्र कराने वाला, पृथ्वी का भार उतरवाने वाला वियोग है। इस वियोग की गम्भीरता के सामने आपका वियोग-दर्शन अतिशयोक्ति पूर्ण होने पर भी बाल-क्रीड़ा-सा प्रतीत होता है।

सूरदास—हाँ, मैंने तुम्हारी इस आलोचना के सम्बन्ध में भी सुना है। किन्तु मुझे आश्चर्य यह देख कर होता है कि तुम्हारा जैसा सुधी आलोचक, लौकिक विरह और आध्यात्मिक-वियोग के अन्तर को नहीं समझ सका। भाई तुलसी ने लोक-संघर्ष का प्रसंग लिया है, इसीलिए उनके राम, सीता के वियोग में थोड़ा बहुत रो-धोकर उनके उद्धार के लिए तत्पर

हो जाते हैं। रावण के यहाँ से सीता का उद्धार आवश्यक है, इसीलिए राम उस दिशा में अग्रसर होते हैं। गोपियाँ नारी सुलभ स्वाभिमान को लेकर श्रीकृष्ण को लौटाने नहीं जातीं। फिर कृष्ण तो मथुरा में बन्दी नहीं थे, जो गोपियाँ उनकी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होतीं। भाई तुलसी ने तो सीता की वियोग व्यथा का वर्णन ही नहीं किया है, यदि किया होता तो वह बहुत कुछ वैसा ही होता जैसे जायसी भाई की नागमती तथा मेरी गोपियों का है। यदि नारी मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो मेरे वियोग-वर्णन में पूरी तरह से वास्तविकता देखने को मिलेगी। किन्तु इस यथार्थता के होते हुए भी मेरे वियोग-वर्णन का वास्तविक उद्देश्य तो उस परब्रह्म से वियुक्त विरहिणी आत्माओं की मनोव्यथा का उद्घाटन है।

शुक्ल—किन्तु महाकवि, मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि मैं आध्यात्मिकता को लौकिकता से अधिक महत्त्व नहीं देता। इसीलिए मैंने लोकदृष्टि से ही आपके वियोग वर्णन को परखना चाहा है। मुझे आशा है, आप भी यह स्वीकार करेंगे कि प्रिय से विमुक्त होकर गोपियों की भाँति निरन्तर रोने-धोने और निश्चेष्ट होकर बैठ रहने से, राम की भाँति थोड़ा-बहुत रो-धोकर अपने कर्तव्य पथ की ओर अग्रसर हो जाना, कहीं अधिक श्रेयस्कर है।

सूरदास—लेकिन भाई वियोग-व्यथा में चेष्टा तो राम में ही है, और पुरुष होने के कारण उनके लिए यही उचित भी है। भाई तुलसी ने सीता की वियोग व्यथा के वर्णन को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। यदि दिया होता तो मेरा निश्चित विश्वास है कि वह बहुत कुछ वैसा ही होता, जैसा मेरी गोपियों का है। खैर, छोड़ो इस प्रसंग को। मुझे सब से अधिक दुख तो यह सुन कर हुआ है कि तुमने मुझे साम्प्रदायिकता की भावना में आविष्ट कहा है।

रत्नाकर—हाँ इस सम्बन्ध में तो मुझे भी शिकायत है। साम्प्रदायिकता का आरोप तो सूरदास जी से अधिक तुम्हारे तुलसीदास जी पर लगाया जा सकता है। उनके मन में तो केवल राम के प्रति ही श्रद्धा का भाव था। तभी तो उन्होंने कहा है—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही॥

इतना ही नहीं, उन्होंने तो केवल उस माता को ही पुत्रवती माना है—जिसका पुत्र राम भक्त हो।

पुत्रवती युवती जग सोई, राम भगत जाकर सुत होई।

इसके अतिरिक्त हम उनकी रचनाओं में ब्राह्मणों के प्रति विशेष पक्षपात भी देखते हैं—

कवच अभेद विप्रपद पूजा। यहि सम विजय उपाय न दूजा॥

एक स्थल पर तो उन्होंने यह भी कह दिया है—

'पूजिय विप्र शील गुन हीना। शूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना॥' सूरदास जी की रचनाओं में इतनी संकुचित जीवन-दृष्टि कहीं भी देखने को नहीं मिलेगी।

सूरदास—प्रिय रत्नाकर, भाई तुलसी ने यद्यपि यह सब कहा है, फिर भी इन्होंने उनकी मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। उनके प्रति अत्यधिक अनुरक्त होने के कारण उनके दोषों को,

बड़ी-बड़ी भूलों को भी ये छिपा गये हैं; और उनसे तुलना करते हुए मेरी भूलों की इन्होंने तिल का ताड़ बना दिया है। इसीलिए इनसे मैं अत्यधिक क्षुब्ध हूँ। (इतना कहते-कहते उनका कंठ भर आता है, किन्तु वे कहते रहते हैं) मैं यह मानता हूँ कि मैंने भगवान् को केवल कृष्ण रूप में ही देखा है, किन्तु यह इसलिए है क्योंकि मेरा व्यक्तित्व महाप्रभु से दीक्षा ग्रहण करने के अनन्तर, श्रीनाथ-जी के मन्दिर में ही समाविष्ट हो गया था। श्रीनाथ जी के भजन-कीर्तन में ही मेरा शेष जीवन व्यतीत हुआ। फिर भी मैंने भगवान् के अन्य रूपों के उपासकों को कभी बुरा-भला नहीं कहा है। न जाने क्यों ये तब भी मुझे साम्प्रदायिकता की भावना से ग्रस्त कहते हैं। (इन शब्दों के साथ उनका कंठ और भी भर आता है)।

शुक्ल––(परम विनम्रता के साथ) मुझे वास्तव में बहुत दुःख है कि मेरी आलोचना से आपको इतना अधिक क्षोभ हुआ है। मैं इसके लिए सम्पूर्ण मन से क्षमा-याचना करता हूँ।

सूरदास जी (गद्‌गद् होकर)––नहीं, इतना अधिक विनम्र होने और क्षमा माँगने की आवश्यकता नहीं। आलोचक के उत्तरदायित्व की गहनता को मैं समझता हूँ; और मुझे यह भी ज्ञात है कि जहाँ तुमने मेरे दोषों की ओर संकेत किया है––वहाँ मुझमें जो थोड़ी बहुत अच्छाइयाँ हैं, उनकी मुक्त-हृदय से सराहना भी की है। कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ तुमने मुझे अपने प्रिय कवि गोस्वामी तुलसीदास से श्रेष्ठ कहा है। मेरी धारणा है कि मेरी त्रुटियों की ओर तुम्हारी दृष्टि विशेष रूप से इसीलिए गयी है क्योंकि तुमने मेरी रचनाओं को मेरी जीवन दृष्टि से अलग करके देखा है। मेरी भाषा आदि में जो त्रुटियाँ देखने को मिलती हैं, उनके सम्बन्ध में तुमने स्वयं स्वीकार किया है कि अन्धे होने के कारण काटने, छाटने और हरताल लगाने का कार्य मेरे लिए सम्भव नहीं हो सका।

शुक्ल––आपके इन शब्दों के साथ हमारा यह वाद-प्रतिवाद एक प्रकार से समाप्त हो जाता है। मैं आपसे तथा सभी उपस्थित सज्जनों से क्षमाप्रार्थी हूँ; जो मेरे कारण आज के कार्यक्रम में व्याघात पड़ गया है। मैं भी आज शरदपूनों के दिन, आपसे तर्क-वितर्क के लिए नहीं, वरन् इस नित्य-वृन्दावन में कृष्ण-लीला के विभिन्न रूपों की झाँकी देखने, आपकी संगीत का आनन्द लेने एवं सम्पूर्ण मन से आपके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने आया था। बाल-जीवन की दिव्य शोभा और यौवन के अनन्त उल्लास के गायक महाकवि! तुम्हारी काव्य प्रतिभा अप्रतिम है। तुम वास्तव में दिव्य-दृष्टि सम्पन्न थे, तभी तो वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्र का जितना अधिक उद्‌घाटन तुमने अपनी बन्द आँखों से किया उतना और किसी कवि ने नहीं। तुम्हारे बाल-लीला के चित्रण को देख कर लगता है, जैसे बालकों जैसी सरल प्रकृति तुम्हें स्वयं मिली थी। तभी तो तुम बाल-जीवन के बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही नहीं, बालकों की अन्तःप्रकृति का भी सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन कर सके। यौवन के मनोविज्ञान का भी तुमसे अधिक ज्ञान रखने वाला अब तक तो दूसरा हुआ नहीं। तुम्हारा श्रृंगार वर्णन, प्रेम संगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा है, जिसमें अवगाहन करने वालों को माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई देता। प्रेम के रंग-रहस्य को लेकर नारी हृदय की अपार भाव-राशि का जितना अधिक उद्‌घाटन तुमने किया है, उतना अन्य किसी ने नहीं। श्रृंगार रस का

रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया है तो तुम्हीं ने। काव्य के हृदय पक्ष की इस श्रेष्ठता के साथ, कलापक्ष का सम्पूर्ण सौष्ठव भी तुम्हारी रचनाओं में दर्शनीय है। तभी तो हमारी धारणा है कि तुममें जितनी सहृदयता और भावुकता है, उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता भी। किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढ़े सीधे ढंग......सूरदास जी गद्‌गद् होकर बड़ी विनम्रता के साथ—बस इतना ही। एक सामान्य ठीकरे को हिमालय की गरिमा प्रदान करने का प्रयास न करो और फिर मैंने सुना है आज के किसी विचारक का कहना है कि सौन्दर्य किसी वस्तु अथवा व्यक्ति में नहीं, देखने वाले की आँखों में उसकी दृष्टि में होता है। लो तुम्हारे प्रिय कवि......।

सूरदास जी के इस कथन के समाप्त होते-होते उन्हीं की अवस्था के एक सज्जन, शरीर से स्वस्थ, कान्तिमय मुखमंडल, रामनामी दुपट्टा ओढ़े हँसते हुए आये और इससे पहले कि कोई उनसे कुछ कहे वे स्वयं ही बोल पड़े—भाई सूर, क्षमा करना, मुझे आने में कुछ देर हो गयी। कुछ सज्जन आ गये थे, उन्होंने बड़ी विचित्र बातें सुनायीं। हमारे देश में सात समुद्र पार से जो प्रचारक आये हैं, उनमें से कुछ यह प्रचार कर रहे हैं कि श्री राम के समय में ही उनके धर्ममठ, गिरजाघर, हमारे यहाँ बन गये थे, और इसके प्रमाणस्वरूप मेरे 'मानस' की यह पंक्ति उद्धृत करते हैं—

'सर समीप गिरिजा-घर सोहा, वरनि न जाय देखि मन मोहा।' इसी प्रकार एक अन्य सज्जन का कहना है कि मैं कुछ दिनों मस्जिद में भी रहा था, शायद मुसलमान भी हो गया होऊँ—तभी तो मैंने लिखा है—

मांगि के खैबो, मसीत को सोइबो,
लेबे को एक न देबे को दोऊ।

तुलसीदास जी के इन शब्दों को सुन कर सभी लोग हँस पड़े और वातावरण की गम्भीरता पूर्णतः छँट गयी। भारतेन्दु जी ने तब सूरदास जी से अपना कोई ललित पद सुनाने की प्रार्थना की। सूरदास जी ने सितार सँभालते हुए कहा—'अब तो नन्द लला के जगावन की वेला भई'—और फिर तार सँभाल कर गाने लगे—

जागिए गुपाल लाल ग्वाल द्वार ठारे।
रैनि अंधकार गयो, चन्द्रमा मलीन भयो।
तारागन देखियत नहिं, तरनि किरनि बाढ़े॥

मुझे लगने लगा जैसे कोई मुझे ही जगा रहा हो। आँखें खोली तो देखा विद्या और जितेन्द्र सींकचों के बाहर खड़े हैं। मैंने उठ कर दरवाजा खोला। जितेन्द्र ने पूछा—आप कोई मधुर स्वप्न देख रहे थे, क्या? आपके मुख की मुद्रा बड़ी भावन थी। मैं शीघ्र ही तैयार होकर उनके साथ घूमने चल दिया और रास्ते में मैंने उन्हें......।

३२ द्वारकापुरी
मुजफ्फरनगर-२५१००१ (उ० प्र०)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और कविवर बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे

⊙

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (१८८४-१९४१) और कविवर बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (१८९७-१९६०) दोनों परम मित्र तथा एक दूसरे के प्रशंसक और स्नेही थे। दोनों को भक्त और संत कवियों के काव्य को कण्ठस्थ करने और उनसे प्रेरणा लेने के संस्कार बचपन से ही मिले थे। शुक्ल जी यद्यपि भक्तकवि और विशेषकर तुलसी के लोकमंगल को साहित्य का शाश्वत प्रतिमान स्वीकार करते थे परंतु 'नवीन' जी को कबीर और संत कवि तथा अष्टछाप के वैष्णव कवियों ने झकझोरा था।

शुक्ल जी १९०४ में मिरजापुर के लंदन मिशन स्कूल में चार वर्षों तक ड्राइंग-शिक्षक रहे। 'नवीन' जी ने भी यह कार्य मारवाड़ी विद्यालय में १९२३-२४ में किया था जबकि प्रेमचंद भी उनके कानपुर में सहयोगी थे।

'नवीन' जी १९१८ में कानपुर आ गये थे और अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी की संरक्षकता तथा मार्गदर्शन में कार्य करने लगे थे। उन दिनों 'प्रताप' कार्यालय न केवल राजनेताओं तथा क्रांतिकारियों अपितु साहित्यकारों का भी बड़ा भारी अड्डा था। जब शुक्ल जी १९१९ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में अध्यापक हो गये, तब १९२० के आसपास एक बार कानपुर में 'प्रताप' कार्यालय आये थे। यहीं 'नवीन' जी की सर्वप्रथम भेंट उनसे हुई थी। इसी वर्ष ही 'नवीन' जी ने बी० ए० चतुर्थ वर्ष के विद्यार्थी के रूप में कानपुर में महाविद्यालयीन शिक्षा को त्याग कर राष्ट्रीय आंदोलन, सक्रिय राजनीति तथा पत्रकारिता में प्रवेश लिया था

'नवीन' जी अपने विद्यार्थी काल से ही कानपुर के 'प्रताप' में कार्य करने लगे थे; यही उनका राष्ट्रीय पाथेय सिद्ध हुआ।

शुक्ल जी और 'नवीन' जी कानपुर तथा काशी में बराबर मिलते रहे; यद्यपि दोनों की दिशाएँ सर्वथा भिन्न एवं विपरीत थीं। शुक्ल जी राजनीति से सर्वथा दूर रहे।

कानपुर की मासिक 'प्रभा' को उस युग की सम्वेदनशील नब्ज कहा जा सकता है। 'प्रभा' का मूलाधार राजनीति था। कांग्रेस-अधिवेशनों पर उसके विशेषांक प्रकाशित होते थे

जो कि सर्वत्र चर्चा के विषय बनते थे। 'प्रभा' (१९२०-२६) के अक्टूबर, १९२८ से अंत तक 'नवीन' जी सम्पादक बने रहे। आचार्य शुक्ल जी 'प्रभा' के नियमित तथा गम्भीर पाठक थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रथम मौलिक ग्रन्थ पाठोपयोगी पुस्तकमाला-६ के अंतर्गत 'गोस्वामी तुलसीदास' शीर्षक से काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया था जिसकी प्रथम समीक्षा हिन्दी जगत् में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने १ नवम्बर, १९२४ में 'प्रभा' के 'सामाजिक साहित्यावलोकन' स्तम्भ के अंतर्गत की थी। इस ग्रन्थ की 'नवीन' जी ने बड़े विस्तार से आलोचना की। उन्होंने लिखा—पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने इस ग्रन्थ को लिखकर हिन्दी भाषा-भाषियों का बड़ा उपकार किया है। गोस्वामी जी के ग्रन्थों का गहन पर्यालोचन अभी तक हुआ ही नहीं। पण्डित रामचन्द्र जी का यह ग्रन्थ उसका प्रारम्भ करता है। हमें इसके पढ़ने से जो सुख मिला, उसे हम व्यक्त नहीं कर सकते। विद्वान् लेखक महाशय ने जान पड़ता है, एक-एक शब्द तौल-तौल कर लिखा है। भाषा का सौष्ठव, विचार-शृंखला का सुगठन, गम्भीर चिंतन, शब्द का क्रम-विकास, लेखक महोदय की एक-एक वाक्यावली में मिलता है। लोकधर्म के ऐतिहासिक अधःपतन का जो चित्र शुक्ल जी ने खींचा है, वह देखते ही बनता है। गोस्वामी जी के समय में भारतवर्ष मत-मतान्तरों के झगड़ों का केन्द्र हो गया था। हिन्दु समाज की जंजीर वह लौह-सोने की बेड़ी टूट चली थी। इसका मर्मस्पर्शी वर्णन लेखक ने बड़े अच्छे ढंग से किया है। गोस्वामी जी की लोकनीति, मर्यादा, भक्ति, भावुकता, चरित्र-चित्रण शक्ति, उनका भाषा-अधिकार आदि बातें लेखक महाशय ने अत्यंत उत्तमता के साथ चित्रित की है। इतने बड़े ग्रन्थ में मतभेद का स्थान रह सकता है पर इसका यह मतलब नहीं कि शुक्ल जी ने कोई ऐसी बात लिखी है कि जिस पर उन्होंने पूर्णतया विचार न कर लिया हो। ग्रन्थावलोकन के समय हमें जो बातें खटकीं उनको संक्षेप में यहाँ वर्णन कर देना अच्छा होगा। आलोचना-खण्ड के प्रारम्भ में लोकधर्म पर जो कुछ लिखा गया है, वह अधिकांश में ठीक होते हुए भी एक बड़ी कमी को लिये हुए है। उसमें तत्कालीन भारत की राजनैतिक परिस्थिति का चित्र होना आवश्यक था। राजनैतिक विशृंखलता और सामाजिक शृंखलता का एकीकरण करने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि विद्वान् लेखक भारत के तत्कालीन इतिहास-लेखकों के आधार पर अपने विचार व्यक्त करते। अभी जो कुछ लिखा गया है, वह एक त्वरित दृष्टिपात (रेपिड सर्वे) मात्र है। अस्तु, लोकधर्म की समीक्षा करते हुए गुसाईं जी—"सगुन छीर अगुन जल जाता, मिलइ रचइ परपंच विधाता" इन वाक्यों का उद्धरण देकर लेखक ने इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। आपके मतानुसार पापी पुण्यात्मा संसार में सदा रहेंगे। धर्म, कर्त्तव्य और नैतिक प्रयत्न को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए विषमताओं का रहना आवश्यक है। अतः लेखक के मतानुसार संसार में दुष्टता रहेगी। वह सज्जनता के द्वारा नहीं दबाई जा सकती। इसलिए लोकधर्म वही है जो लोगों की तमाम कमजोरियों को ख्याल में रख कर उसी के अनुसार सत्पथ दिखलाये। जनता की प्रकृति का औसत निकालने पर धर्म विषयक जो आपका कथन है कि गोस्वामी जी ने इसी लोकभावना का शुद्ध स्वरूप जनता के सम्मुख रखा है। हम समझते हैं कि लेखक का यह विचार लोकधर्म को जन-मानस की औसत प्रवृत्ति पर

निर्धारित करने की भावना खतरनाक हो सकती है। धर्म को लोक और व्यक्ति—इन दो मंजूषाओं में बंद कर देना ठीक नहीं मालूम पड़ता। लोक-प्रवृत्ति सतत् परिवर्तनशील होती है। अतः यदि धर्म को अर्थात् लोक-धर्म को उसी के ऊपर छोड़ दिया जाय तो परिवर्तित मनोवृत्ति धर्म के पूर्वरूप को निकम्मा समझ कर उसे परित्यक्त कर देगी अथवा परिवर्तन काल में वह धर्म प्रगति के मार्ग में बाधा स्वरूप हो जायगा। यदि लोक-धर्म का मापदण्ड लोक-प्रवृत्ति ही है तो वह धर्म समाज की उन्नति कैसे कर सकेगा। एक काल में संस्थापक लोकधर्म को परिवर्तनशील बनाये रखने के लिए या तो उसे अत्यंत व्यापक रूप दीजिए और या उसे अत्यंत उच्छृंखल रूप दीजिए। नान्यो पंथा विद्यते। यदि व्यक्तिगत साधना के लिए पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्यावलम्बन, पूर्ण प्रेमवासना उच्चतम एवं ग्राह्य अथवा पालनीय आदर्श है तो उसी प्रकार वे समाज के लिए भी वैसे ही उच्चतम ग्राह्य और पालनीय है। इसके अर्थ यह नहीं कि हम व्यक्तिगत रुचि विभिन्नता को तथा वैयक्तिक उन्नति (इंडिविज्यूवल डेवेलपमेंट) के अंतर को अनुभव नहीं करते। सारा भारत महात्मा गाँधी नहीं हो सकता। परन्तु (यदि महात्मा का सिद्धान्त सुन्दरतम कल्याणकर तथा पूर्ण सत्य है तो) वह आदर्श सामने होना चाहिए। चाहे फिर आचरण में विपरीत भाव आ जाय। जब वह आदर्श सामने रहेगा तो विपरीताचरण करते समय आत्मा विद्रोह करेगी। विश्वामित्र और मेनका का, पैपनूशियस और थामस का, पाराशर और मत्स्यगंध का युद्ध होगा। पतन होगा। पर उत्थान-पर्वत की अगम्य शिखर तिल भर पास खिसक आयेगी। लेखक महाशय ने गिडिंग का अवतरण देकर मनुष्यों को सामाजिक-असामाजिक, अकर्मण्य और समाज बैरी—इन चार श्रेणियों में विभक्त किया है तथा उसके मत की पुष्टि की है। वर्तमान समाज-शास्त्रियों ने इस भेद को सश्लेष ठहराया है। ये विभेद मानव-समाज की उस अवस्था के हैं जब समाज पूर्णरूपेण पूँजीवाद की नींव पर खड़ा था। हम समझते हैं कि समाज के वे प्राणी जो आज समाज-बैरी कहे जाते थे, इन मानवों से अच्छे हैं जो गिडिंग की सोसल (सामाजिक) श्रेणी में प्रवेश पा चुके हैं। बर्टेण्ड रसेल, एडवर्ड पेण्टर, जैम्स आदि मनोविज्ञ एवं तत्ववेत्ता इस कथन की पुष्टि में बहुत कुछ लिख चुके हैं, इसलिए दम्भी और पाखण्डी लोगों को नापने के लिए जो गज बनावे—देख लेना चाहिए कि वह किस धातु का है। अर्द्धशताब्दी या दो शताब्दियों के भीतर ही उसमें जंग लग सकता है। लेखक ने 'बादहिं शूद्र द्विजन सन आँख दिखावहिं डाटि' की भी पुष्टि की है तथा 'शूद्र' शब्द पर एक निघण्टु लिखा है। हमारी समझ में तुलसीदास जी बड़े जबरदस्त परिपाटी के भक्त थे। वहाँ पर उनका अर्थ शूद्र से मतलब शूद्र जाति से ही है। शूद्र शब्द के अर्थ लगाना केवल भक्ति अतिरेक का परिचय देना है। लेखक ने आगे चल कर भक्ति के विकास पर जो कुछ लिखा है उसका विकासक्रम जिस सुन्दरता और गूढ़ता, स्पष्टतया और सरलता से प्रतिलक्षित कराया है, वह पढ़ते ही बनता है। एक स्थान पर लेखक कहते हैं : 'व्यक्तिगत सफलता के लिए लोग जिसे नीति कहते हैं, सामाजिक आदर्श की सफलता का साधक हो कर वही धर्म हो जाता है'—यह एक भयंकर दिसांत है। देखिए इसके अर्थ यह है—"चूँकि नीति बराबर धर्म, चूँकि डाकू बराबर सिकंदर।" शुद्ध समाचार शास्त्र की दृष्टि से ऐसी नीति और ऐसा धर्म तथा ऐसा

डाकू और ऐसा सिकन्दर निंद्य, अधर्म प्रिय एवं अग्राह्य है। खैर! इस तरह की बातें तो निकल ही आएँगी और हम यह भी समझते हैं कि ग्रन्थ-प्रणयन और ग्रन्थालोचन की कोई बराबरी नहीं। ग्रन्थ-प्रणयन जितना कठिन काम है उसके आगे ग्रन्थालोचन का काम कुछ भी नहीं। इसलिए हमारे उपरोक्त वाक्यों का अर्थ यह हर्गिज नहीं है कि हम ग्रन्थ को रंचमात्र अनादर की दृष्टि से देखते हैं। हमारे हृदय में इस ग्रन्थ के लिए आदर है। हम प्रत्येक तुलसी भक्त और राष्ट्रभाषा-प्रेमी से प्रार्थना करेंगे कि वह इस ग्रन्थ को अवश्य पढ़ें। आशा है, हिन्दी-संसार इसका समुचित आदर करेगा।

यद्यपि 'नवीन' जी राजनीति के व्यक्ति थे परन्तु वे संस्कृत साहित्य, अंग्रेजी साहित्य, संस्कृति, दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के भी मर्मज्ञ पण्डित थे।

शुक्ल जी अन्तर्मुखी थे, जबकि 'नवीन' जी बहिर्मुखी। शुक्ल जी का छायावाद को आशीर्वाद नहीं मिला जबकि 'नवीन' जी ने अपने कृतित्व तथा पत्रकारिता द्वारा उसकी धाक जमायी। 'प्रसाद' तथा 'निराला' शुक्ल जी का समर्थन नहीं पा सके जबकि 'नवीन' जी ने व्यक्तिगत रूप से उनको समादृत किया।

दोनों अपार करुणा तथा परदुःखकातरता में समान थे। यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल महात्मा गाँधी का बड़ा आदर करते थे, परन्तु गाँधी जी की अहिंसावादी और समझौतावादी नीति उन्हें रुचिकर नहीं थी। 'नवीन' जी गाँधी जी के परम भक्त थे। बापू ने उनके काव्य को एक नयी दिशा ही प्रदान की। महात्मा गाँधी की 'हिन्दुस्तानी' न तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ही गले उतरी और न 'नवीन' और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के।

अप्रैल, १९३५ के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के अध्यक्ष, महात्मा गाँधी थे और यहीं से ही हिन्दी-हिन्दुस्तानी का बवेला बढ़ा था। इस अधिवेशन के साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष, रामचन्द्र शुक्ल थे। उनके अध्यक्षीय भाषण की बड़ी चर्चा रही। यह व्याख्यान ११७ पृष्ठों की एक पुस्तिका थी जो कि उनके देहांत के पश्चात् 'चिंतामणि' (भाग २) में 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' के शीर्षक से संकलित तथा प्रकाशित हुआ था। इसमें तत्कालीन काव्य और साहित्यकारों का बड़ा मार्मिक लेखा-जोखा है। चूँकि शुक्ल जी को इस बृहद्काय निबन्ध के पाठ में बड़ा समय लग रहा था, इसलिए बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने इस भारी-भरकम निबन्ध का वाचन अत्यन्त विनम्रता तथा युक्तिपूर्वक कौशल के साथ कर दिया था।

शुक्ल जी के जीवनकाल के परवर्ती वर्षों में 'नवीन' जी, कवि के रूप में प्रख्यात तथा प्रतिष्ठित हो चुके थे। यद्यपि 'नवीन' जी ने १९१५-१६ से लिखना शुरू कर दिया था, परन्तु उनका प्रथम काव्यसंग्रह 'कुंकुम' १९३९ में आया। शुक्ल जी के जीवनकाल में उनका यही संग्रह प्रकाशित हो पाया था जो कि शुक्ल जी के नज़रों से ओझल नहीं हो पाया था।

'नवीन' जी के इकलौते महाकाव्य 'ऊर्म्मिला' की चर्चा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में की। यद्यपि इसका रचनाकाल १९२२-१९३४ रहा और प्रकाशन १९५७, परन्तु पुस्तकाकार प्रकाशित होने के पूर्व, इस ग्रन्थ के कतिपय अंश पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो चुके थे। आचार्य शुक्ल ने लिखा : श्री 'नवीन' ने 'ऊर्म्मिला' के सम्बन्ध में एक काव्य लिखा

है जिसका कुछ अंश अंस्तगंत 'प्रभा' पत्रिका में प्रकाशित हुआ (हिन्दी साहित्य का इतिहास, नई धारा, स्वच्छन्द धारा, पृष्ठ ७२१)।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में 'नवीन' जी को स्वच्छन्द धारा के अंतर्गत रखा है।

'नवीन' जी की, शुक्ल जी के प्रति सदैव सम्मान-भावना ही रही। वे उनको हिन्दी के श्रेष्ठ आलोचक तथा इतिहासकार के रूप में स्वीकार करते रहे। यदि 'नवीन' जी का अधिक साहित्य उनके जीवन-काल में पुस्तकाकार प्रकाशित हो जाता तो वे 'नवीन' जी के साथ ठीक से न्याय कर पाते—इसी कारण शुक्ल जी ही क्या अन्य परवर्ती समीक्षक भी 'नवीन' जी के साथ औचित्य का प्रतिपादन नहीं कर पाये। 'नवीन' जी, शुक्ल जी के इतिहास, चिंतामणि, बुद्ध चरित आदि कृतियों से न केवल परिचित ही थे प्रत्युत वे उनका अवगाहन भी कर चुके थे।

—रीडर
हिन्दी-विभाग, सागर विश्वविद्यालय
सागर (म० प्र०)

⊙

आचार्य शुक्ल का काव्य-चिन्तन

डॉ० त्रिभुवन राय

⊙

नवजागरण की चेतना की ठोस जमीन पर खड़े पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के वह पहले आचार्य चेता चिन्तक हैं, जिन्होंने पारम्परिक भारतीय चिन्तन के उदात्त मूल्यों के साथ मनुष्य की प्रतिष्ठा की दृष्टि से उपयोगी एवं ग्राह्य पश्चिम की वैज्ञानिक एवं चिन्तनात्मक अवधारणाओं के आलोक में जीवन एवं साहित्य पर अपेक्षया वस्तून्मुखी दृष्टि से विचार किया। अपनी विचारणा के उपक्रम में उन्होंने काव्य को जीवन से संपृक्त कर के तो देखा ही, उसे जीवन के उन्नयनकारी उत्कृष्ट माध्यम के रूप में देखने-परखने की एक अभिनव दृष्टि भी दी।

काव्यसाधना को भावयोग के रूप में निरूपित करते हुए आचार्य शुक्ल ने काव्यसर्जना के लिए सर्जक का लोकसामान्य की उस भावभूमि पर अवस्थित होना आवश्यक माना, जहाँ से जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है।[१] इस भूमि पर पहुँचे हुए रचनाकार और उसकी रचना के पाठक और श्रोता का हृदय 'स्व' और 'पर' की सीमाओं को पार कर के मनुष्यता की उस ऊँचाई पर अवस्थित होता है जहाँ से अशेष सृष्टि के साथ वह सहज ही प्रगाढ़ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।[२] ऐसा इसलिए कि "काव्य हृदय प्रसार का स्मारक स्तंभ है। उसकी उत्तेजना से हमारे जीवन में एक नया जीवन आ जाता है जिससे हम सृष्टि के सौन्दर्य को देख कर रसमग्न होने लगते हैं, कोई निष्ठुर कार्य हमें असह्य होने लगता है। हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना बढ़ कर सारे संसार में व्याप्त हो गया है।"[३]

इस प्रकार कविता के द्वारा हृदय का इतना अधिक प्रसार हो जाता है कि वह सभ्यता के कृत्रिम आवरणों को भेद कर प्रकृत अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इससे अपने और पराये के बीच की दूरी ही नहीं, वरन् बाह्यजगत् और अन्तर्जगत का सारा अन्तराल भी स्वत: समाप्त हो उठता है। शुक्ल जी की दृष्टि में यही मनुष्यत्व की उच्चतम भूमि है और यही भावयोग की

---

१. चिन्तामणि, पहला भाग (१९४८), पृ० १४१।

२. वही, दूसरा भाग (संवत् २००२), पृ० २२७-२८।

३. वही, पहला भाग, पृ० १६०।

सब से ऊँची कक्षा भी। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि इस कक्षा पर पहुँचे हुए "मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत् के आनन्दनृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।"[१]

ज्ञानयोग में इसे अद्वैत-भूमि कहते हैं। मनुष्यत्व की साधना की पूर्णता के लिए शुक्ल जी इसकी प्राप्ति को आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी मानते हैं। ज्ञानी को इसकी प्राप्ति यदि बुद्धि की क्रिया से होती है तो भावयोगी काव्यसाधक इसे काव्य के सत्वरस के प्रभाव से प्राप्त करता है।[२] कर्मयोगी का लक्ष्य भी अन्ततः इसी भूमि पर पहुँचना होता है। यह ठीक है कि उसका साधन देह और माध्यम कर्म होता है, जबकि ज्ञानी का साधन बुद्धि और माध्यम ज्ञान तथा भावयोगी का साधन हृदय और माध्यम काव्य है। इस प्रकार, यद्यपि तीनों के साधन और माध्यम भिन्न-भिन्न हैं, तथापि तीनों की मंजिल एक है। तीनों में इस बात की भी समानता है कि तीनों को ही अपनी-अपनी साधनाओं में दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है। अतः शुक्ल जी ने ठीक ही काव्यसाधना को भावयोग कहते हुए उसे ज्ञानयोग और कर्मयोग की समकक्षता प्रदान की है।[३]

आचार्य शुक्ल की दृष्टि में इस प्रकार काव्य की चरम सार्थकता, भावयोग की उच्च कक्षा एवं मनुष्यत्व की सर्वोच्च भूमि की ओर ले जाने में है। क्योंकि इससे मनुष्य और मनुष्य के बीच ही नहीं, वरन् मनुष्य और सृष्टि के बीच भी एकात्मता का भाव प्रवहमान होता है, अतः अन्याय, अत्याचार, शोषण एवं विषमता की अमानवीय स्थितियों के ध्वंस के लिए काव्यसाधना आवश्यक है। जिस काव्य में यह शक्ति विद्यमान होती है, शुक्ल जी के मत में वही श्रेष्ठ है और ऐसे काव्य का कर्त्ता ही सच्चा कवि एवं सच्चा भावयोगी है। काव्य के उस अध्येता को भी वह एक सच्चे भावयोगी की संज्ञा देंगे, जिसमें काव्य के माध्यम से मनुष्यत्व की उक्त ऊँचाई पर पहुँचने की क्षमता है।

भावयोग संबंधी आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त धारणा परम्परागत भारतीय रसवाद की ही मानवतावादी व्याख्या है। अतः दोनों में अनेक दृष्टियों से साम्य है, यथा :

१. दोनों में ही व्यक्तित्व की संकुचित सीमाओं से मुक्ति एवं साधारणीकरण की स्थिति अपेक्षित है।

२. दोनों को ही हृदयवाद एवं रसदशा काम्य है।

३. इस प्रकार दोनों के मूल में भाववादी दृष्टि लक्षित होती है। अतः दोनों की परिधि भावात्मक काव्य तक ही सीमित है।

---

१. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १६१।

२. वही, पहला भाग, पृ० १५१।

३. वही, पहला भाग, पृ० १४१।

परन्तु, इसके बाद भी दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। कारण कि एक की मंजिल जहाँ आनन्द है, वहाँ दूसरे का चरम लक्ष्य मनुष्यता की सर्वोच्च भूमि। इसके अतिरिक्त परम्परागत रसवाद का विकास जहाँ भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में हुआ है, वहाँ शुक्लजी के भावयोग का विकास यदि एक ओर गोस्वामी तुलसीदास की लोकमंगलवाली भावना के संदर्भ में हुआ है तो दूसरी ओर आधुनिक मानवतावादी दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में।

शुक्ल जी ने कविता और जीवन के बीच गहरा सम्बन्ध मानते हुए लिखा है : "कविता जीवन ही से उत्पन्न है और जीवन के भीतर ही अपनी विभूति का प्रकाश करती हैं।"[१] अतः कविता को जीवन से विच्छिन्न बताना उनके शब्दों में "कहीं की बात कहीं लगाना है।" उनका तो यहाँ तक मत है कि जितना विस्तार इस जीवन और जगत् का है, उतना ही विस्तार काव्य का भी है। इसलिए रहस्यलोक में विचरण करने वाले काव्यसाधकों पर प्रहार करते हुए उन्होंने कहा है कि "ज्ञान या अज्ञान के प्रेम, अभिलाषा, लालसा या वियोग के नीरव क्रन्दन अथवा वीणा के तार झंकार तक ही काव्यभूमि मानना उसे सर्वथा संकुचित एवं सीमित कर देना है।"[२]

मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। इसलिए कविता क्या, किसी भी कला की सार्थकता शुक्ल जी के मत में लोक के ही भीतर है।[३] कवि कर्म की महत्ता उन्होंने लोकसामान्य की उस भावभूमि के प्राप्त होने में माना है, जहाँ काव्यसाधक को व्यक्तिगत सम्बन्धों की वासनाओं से मुक्ति मिल जाती है और इस प्रकार मानवमात्र की एकता परिलक्षित होने लगती है। यहीं व्यक्ति के भावों के पृथक् विषय नहीं रह जाते, मनुष्य मात्र के आलम्बनों में हृदय लीन हो जाता है और व्यक्ति जीवन का लोक जीवन में लय हो जाता है। चूँकि यहाँ जगत् के साथ हृदय का पूर्ण सामंजस्य घटित होता है, अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति भी यहाँ स्वतः मंगलोन्मुख हो जाती है।[४] इस प्रकार काव्य लोकमंगल का विधायक होता है। परन्तु इसके लिए कवि में उपयुक्त एवं कारगर संप्रेषण क्षमता का होना भी उतना ही आवश्यक है जितना अनुभूतियों का होना। इसलिए शुक्ल जी काव्य के विधान पक्ष पर भी कम बल नहीं देते।

काव्य की लोकमंगलकारी प्रकृति इस तथ्य से भी सिद्ध है कि भावप्रसाद द्वारा कर्मण्य के लिए वह कर्मक्षेत्र का विस्तार करता है।[५] इस प्रकार वह हमें प्रयत्नाभिमुख एवं संघर्षशील बनाता है। प्रयत्न में ही जीवन का वास्तविक सौन्दर्य है। किन्तु अपना पेट भरने या आनन्द से तृप्त होने तक ही सीमित रहनेवाला प्रयत्न नहीं, वरन् लोक में उपस्थित बाधा, क्लेश, विषमता आदि से भिड़ने का प्रयत्न ही सच्चा प्रयत्न है और इसी में शुक्ल जी ने जीवन और काव्य दोनों

---

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ११७।
२. वही, दूसरा भाग, पृ० ५५।
३. वही, दूसरा भाग पृ० १३४।
४. वही, दूसरा भाग, पृ० १५८।
५. वही, पहला भाग, पृ० ५१।

का वास्तविक सौन्दर्य माना है।[1] चूँकि जगत् की विघ्न-बाधा, अत्याचार, हाहाकार के बीच ही प्रयत्नमूलक सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति एवं भगवान् की मंगलमयी शक्ति का दर्शन होता है,[2] इसलिए लोकमंगल के विधायक काव्य के लिए जीवन के किसी एक ही पक्ष, एक ही वृत्ति का नहीं, वरन् विभिन्न पक्षों एवं वृत्तियों का चित्रण आवश्यक है। मात्र चित्रण ही नहीं वरन् उनके बीच अपेक्षित सामंजस्य भी, क्योंकि सामंजस्य काव्य और जीवन दोनों की सफलता का मूल मंत्र है।

इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने लोकमंगल की विधायिका रचना के लिए जीवन के सद्पक्ष के साथ असद् पक्ष का प्रस्तुतीकरण तथा विविध-विरोधी वृत्तियों के बीच सामंजस्य को आवश्यक माना है। विरुद्धों के सामंजस्य को तो उन्होंने कर्मक्षेत्र एवं लोक-धर्म का ऐसा सौन्दर्य बताया है जिसकी ओर मनुष्य आकर्षित हुए बिना रह ही नहीं सकता।[3]

इस प्रकार शुक्ल जी ने काव्य को जीवन और जगत् से अनिवार्य रूप से संबद्ध करके उसे लोक के माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने मंगल को व्यापक अर्थ प्रदान करते हुए उसे सौन्दर्य का पर्याय कहा है।[4] यही नहीं उन्होंने ब्रह्म की सतत क्रियमान सत्ता की भाँति मंगल को भी सतत गतिशील माना है। काव्य में उनके मतानुसार गत्यात्मक सौन्दर्य का अंकन ही अधिक श्रेयस्कर है। प्रयत्न रूप जीवन के लिए मंगल ही साध्य है। यदि उसे सिद्ध रूप देखने के लिए कविता किसी अज्ञात लोक की ओर इशारा करती है तो शुक्लजी के विचार में वह आलस्य, अकर्मण्यता और नैराश्य की वाणी है।[5]

मंगल का विधान करने वाले मूलभाव शुक्लजी के अनुसार दो हैं—(१) करुणा और (२) प्रेम। प्रथम की गति रक्षा की ओर रहती है और द्वितीय की रंजन की ओर। अतः प्रयत्न पक्ष अथवा आनंद की साधनावस्था वाली रचनाओं का बीजभाव-करुणा ही ठहरता है।[6] चूंकि इस प्रकार की रचनाओं में गतिशील मंगल के पूर्ण प्रकाश के लिए पूरा अवकाश रहता है, अतः शुक्लजी के विचार में उन्हीं में पूर्णता की स्थिति भी मिलती है। 'रामचरितमानस' को उन्होंने इसी कारण सर्वथापूर्ण एवं आदर्श काव्य के रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकार शुक्ल जी का भावयोग यदि परंपरागत रसवाद की देन है तो लोकमंगल सम्बन्धी अवधारणाएँ उनकी लोकाभिमुख आदर्शपरक नैतिक दृष्टि की साहित्यशास्त्रीय परिणति। निस्संदेह इनकी लोकमंगल सम्बन्धी मान्यताओं पर मानसकार के नैतिक आदर्शों के साथ-साथ द्विवेदीयुगीन नैतिकता और आदर्शों का भी कम प्रभाव नहीं रहा है। परन्तु यहाँ भी उनकी

---

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ५४।
२. वही, दूसरा भाग, पृ० ५५।
३. वही, पहला भाग, पृ० २१६।
४. वही, दूसरा भाग, पृ० ५८।
५. वही, दूसरा भाग, पृ० ५८।
६. वही, पहला भाग, पृ० २२३।

विशेषता यह रही है कि उन्होंने स्थूल नैतिक आदर्शों को सूक्ष्म साहित्यिक प्रतिमान में इस प्रकार परिवर्तित कर दिया है कि वे साहित्य के बाह्य आरोपित मान न होकर उसके अंतरंग आदर्श बन गए हैं। उपर्युक्त सिद्धान्तों के प्रतिपादन में शुक्ल जी की दूसरी विशेषता इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने उन्हें सर्वथा पृथक-पृथक अस्तित्व न देकर अन्ततः दोनों को परस्पर इस प्रकार अनुस्यूत कर दिया है कि दोनों एक दूसरे से शक्ति प्राप्त करते हैं। परिणामस्वरूप यदि भावयोग लोकमंगल की मंजिल के अभाव में अधूरा एवं अशक्त रह जाता है तो लोकमंगल भी भावयोग से विरहित होकर केवल उपदेशकों एवं शास्त्रकारों का सिद्धान्त बन जाता है। शुक्लजी की काव्य सम्बन्धी प्रायः सम्पूर्ण चिन्तना के मूल में इन्हीं दो मूलभूत अवधारणाओं की विवृत्ति मिलती है। इस दृष्टि से उनके "काव्य-स्वरूप, प्रयोजन और प्रकार सम्बन्धी विवेचनों को देखा जा सकता है।"

मनुष्य हृदय सामान्यतया बद्धदशा में रहता है। किन्तु जीवन और जगत् के नाना रूपों एवं व्यापारों पर विमुग्ध होकर जैसे ही वह उनमें तन्मय होता है वैसे ही वह मुक्तावस्था एवं रसदशा को प्राप्त करता है। उसकी इस अवस्था का शब्दात्मक प्रकाशन आचार्य शुक्ल की दृष्टि में कविता है। उन्होंने लिखा है—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्तिसाधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती है, उसे कविता कहते हैं।"[1]

यहाँ पर शुक्ल जी ने काव्यत्व के लिए रसात्मकता को अनिवार्य बतलाया है। सूक्ति से काव्य के अन्तर को स्पष्ट करते हुए भी उन्होंने कहा है—"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह...है काव्य।"[2] इस प्रकार संस्कृत के आचार्य विश्वनाथ की भाँति रसात्मकता अथवा भावात्मकता को शुक्ल जी ने भी काव्य के लिए अपरिहार्य माना है। अतः काव्य-स्वरूप सम्बन्धी शुक्ल जी के उपर्युक्त दृष्टिकोण पर विश्वनाथ के काव्य-लक्षण का प्रभाव स्पष्ट है। किन्तु जिस प्रकार रसात्मकता के ऐकांतिक आग्रह के कारण विश्वनाथ का काव्य-लक्षण संकुचित, एकांगी एवं अस्वीकार्य है, उसी प्रकार शुक्ल जी की उपर्युक्त काव्य परिभाषा भी।

अन्यत्र उन्होंने कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से स्थापित करते हुए उसे जीवन और जगत् की अभिव्यक्ति कहा है। "जगत् भी अभिव्यक्ति है, काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।"[3]

काव्य सम्बन्धी शुक्ल जी की प्रस्तुत धारणा निस्संदेह व्यापक है। किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या जीवन और जगत् की प्रत्येक अभिव्यक्ति को काव्य कहा जायेगा। यदि हाँ तब तो काव्यात्मक और अकाव्यात्मक अभिव्यक्तियों का अन्तर ही समाप्त हो जायेगा। काव्य की तह

---

१. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १४१।

२. वही, पहला भाग, पृ० १७१।

३. वही, दूसरा भाग, पृ० ५८-५९।

में भावानुभूति को आत्मा की तरह अवास्थित मानने वाले स्वयं शुक्ल जी को भी इस प्रकार की कोई धारणा अमान्य होगी। अतः अतिव्याप्ति दोष के कारण शुक्ल जी की काव्य सम्बन्धी द्वितीय धारणा को भी उपयुक्त एवं समीचीन नहीं कहा जा सकता।

परंपरागत काव्य प्रयोजनों के स्थान पर मनुष्यत्व की साधना को शुक्ल जी ने काव्य का एकमात्र प्रयोजन निर्धारित किया। कविता का काम उनके विचार में काव्यसाधक को प्रकृत दशा में लाकर उसके व्यक्तित्व का अधिकाधिक प्रसार करना है। इतना कि जगत् के साथ उसका पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाय और उसके अपने और पराये के बीच कहीं कोई दूरी ही न रहे। इस प्रकार उसे मनुष्यत्व की उच्चतम् भूमि की प्राप्ति होती है। यही भूमि शुक्ल जी की दृष्टि में काव्य का साध्य है। काव्यगत आनन्द उनके मत में इसकी प्राप्ति का साधन मात्र है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि आनन्द या मनोरंजन काव्य का वह मार्ग है जिस पर चलकर काव्य का साधक गन्तव्य पर पहुँचता है। आनन्द व मनोरंजन को वह कविता का अंतिम लक्ष्य इसलिए नहीं मानते, क्योंकि तब कविता को भी विलास को सामग्री मानना होगा।[1] इसके विपरीत कविता जीवन और जगत की एक गंभीर और श्रेष्ठ वस्तु है, मनुष्यता की सर्वोच्च भूमि जिसका अंतिम गन्तव्य है। इसके लिए एक ओर यदि जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण आवश्यक है तो दूसरी ओर उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापन।[2] ऐसा होने पर ही काव्यसाधक अपने संकुचित अहं एवं सीमित व्यक्तित्व से मुक्त होकर, एक ऐसे व्यापक व्यक्तित्व का वरण करता है कि सृष्टि के संपूर्ण प्राणियों को अपने भीतर और अपने को संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त अनुभव करने लगता है। मनुष्यत्व की यही सर्वोत्कृष्ट कसौटी है। अतः शुक्ल जी सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव करना, काव्य का चरम लक्ष्य मानते हैं।[3]

यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि शुक्ल जी ने आनन्द शब्द का प्रयोग मनोरंजन के सीमित अर्थ में किया है। यही कारण है कि आनन्द को वह किसी भी मूल्य पर काव्य का तथ्य मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। इसके मूल्य में यदि एक ओर रीतिकालीन मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया झलकती है तो दूसरी ओर द्विवेदीयुगीन नैतिकता एवं आदर्शों का प्रभाव। रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धान्त का परोक्ष योग भी यहाँ स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु वस्तुनिष्ठ दृष्टि से विचार करने पर आनन्द को इतना संकीर्ण नहीं माना जा सकता, क्योंकि मनुष्य के प्रत्येक कार्य के मूल में परितुष्टि एवं आनन्द की मनोवृत्ति ही कार्यरत रहती है। कौन कह सकता है कि मनुष्य की सेवा में अपना सब कुछ न्यौछावर कर देने में गाँधी को आनन्द नहीं मिलता था? कौन कह सकता है कि विवश, भूखी, नंगी मानवता को अपनी कविताओं में चित्रित करने में

---

१. रसमीमांसा (संवत् २००६), पृ० २८।
२. वही, पृ० २६।
३. वही, पृ० ११५।

निराला को परितुष्टि नहीं प्राप्त होती थी और उन्हें पढ़कर आज का सजग पाठक मनुष्यता के पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करके परितुष्ट एवं आनन्दित नहीं होता। अतः कौन कह सकता है कि सर्वभूत को आत्मभूतवत अनुभव करने में आनन्द की स्थिति अविद्यमान होती है। वस्तुतः शुक्ल जी से भूल वहीं हुई जहाँ उन्होंने आनन्द को "मौज मजे" के स्तर की वस्तु के रूप में देखा, अन्यथा हमारे यहाँ आनन्द की प्रतिष्ठा इतने ऊँचे स्तर पर मानी गयी है कि उसमें सुख और दुःख की प्रायः सभी स्थितियों का समाहार हो जाता है। इसी कारण हमारे यहाँ सामान्य सुख-दुःख को नहीं, वरन् उनसे छन कर आने वाले परितोष को आनन्द शब्द से अभिहित किया गया है। आचार्यों ने वस्तुतः इसलिए विभिन्न प्रकृति के विभिन्न रसों को अन्ततः आनन्दात्मक घोषित किया था। ऐसी स्थिति में काव्यात्मक आनन्द को मनोरंजन के स्तर पर उतारना और उसे मार्ग मात्र बताना शुक्ल जी के उपयोगितामूलक सामाजिक दृष्टिकोण का एक अतिवादी कमजोर पहलू है।

शुक्ल जी ने क्योंकि काव्य को जीवन और जगत् से अनिवार्यतः सम्बद्ध माना है, अतः आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति उन्होंने भी सम्पूर्ण सृष्टि प्रसार को काव्य का विषय स्वीकार किया है। सम्पूर्ण सृष्टि को तीन क्षेत्रों--नरक्षेत्र, मनुष्येत्तर बाह्य सृष्टि और चराचर जगत्--में विभक्त करते हुए उन्होंने कहा है कि "काव्यदृष्टि इनमें से कभी किसी एक क्षेत्र में रमती है, कभी एक से अधिक।"[1] यद्यपि कवियों की दृष्टि प्रायः नरक्षेत्र तक ही सीमित रही हैं, तथापि वाल्मीकि और कालिदास जैसे समर्थ रचनाकारों की दृष्टि अनन्त रूपात्मक प्रकृति या समस्त चराचर जगत् में विचरण करती दिखाई देती है। ऐसे ही कवियों को शुक्ल जी ने सच्चा कवि कहा है।"[2] निस्संदेह रचनाकार अपनी शक्ति के अनुसार इस व्यापक सृष्टि प्रसार से अपने काव्य का विषय ग्रहण करता है, किन्तु नरक्षेत्र के भीतर आबद्ध रहनेवाली, काव्य दृष्टि की तुलना में सम्पूर्ण चराचर क्षेत्र से मार्मिक तथ्यों का चयन करने वाली दृष्टि अधिक व्यापक और गम्भीर कही जायेगी,[3] ऐसा शुक्ल जी का स्पष्ट अभिमत है। इस प्रकार काव्य के विषय उनके मत में संपूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त हैं। यही नहीं उन्होंने तो सारे संसार को ही रसात्मक काव्य की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि "इस विश्वकाव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा समझना चाहिए।"[4]

"काव्य में रहस्यवाद" नामक अपने लम्बे निबन्ध में शुक्ल जी ने कवि भावना या कल्पना के पूर्णता के अवस्थान के लिए निम्नांकित चार क्षेत्रों का उल्लेख किया है--

१. इस भूलोक के बाहर, पर व्यक्त जगत् के भीतर का कोई अन्य लोक।

२. भूलोक के भीतर, किन्तु अतीत का संसार।

---

१. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १४६।

२. वही, पहला भाग, पृ० १४९।

३. वही, पहला भाग, पृ० १५६।

४. वही, पहला भाग, पृ० १४६।

३. भूलोक के भीतर, पर भविष्य की दुनिया।

४. गोचर-जगत् के परे, अभौतिक अव्यक्त का संसार।

इनमें प्रथम तीन का समावेश उपर्युक्त तीन क्षेत्रों में हो जाता है। शेष चौथा क्षेत्र रहस्यवादी कवियों के काव्य का संसार है, जिसमें अज्ञात की लालसा का भाव निहित होता है। परंतु, शुक्ल जी तत्व, मनोविज्ञान और साहित्य तीनों ही दृष्टियों से अज्ञात की लालसा को कोई भाव नहीं मानते। उनके विचार में यह केवल ज्ञान की लालसा है, जो केवल भाषा को छिपानेवाली वृत्ति के सहारे अज्ञात की लालसा कही जाती है।[1] स्पष्ट है कि शुक्ल जी अध्यात्म जगत् और उसकी भावना को काव्य का विषय नहीं मानते। किन्तु इसे भी उनकी दृष्टि सीमा एवं आग्रह ही कहा जायेगा, कारण कि लौकिक जगत् और उससे सम्बद्ध विविध भावनाएँ जिस प्रकार काव्य का विषय बनती हैं ठीक उसी प्रकार अध्यात्म जगत् और उससे सम्बंद्ध विभिन्न भाव भी कविता के विषय होते हैं। देश और विदेश की रहस्यवादी[2] रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। हिन्दी के प्राचीन साहित्य में कबीर के रहस्यवादी पदों, सबदों और साखियों तथा आधुनिक साहित्य में महादेवी की कविताएँ, मुंशीराम शर्मा 'सोम' के 'विरहिणी' महाकाव्य को पढ़ कर कौन कह सकता है कि अज्ञात की लालसा का भाव कोई भाव ही नहीं, उसमें केवल ज्ञात की लालसा को ही छिपाने की वृत्ति है।[3] यही नहीं इन रचनाओं का अपना सौन्दर्य है, अपना प्रभाव है, जिसे अस्वीकार्य करना वस्तु तत्त्व से मुख मोड़ना है। अतः गोचर भौतिक जगत् की भाँति अगोचर अभौतिक एवं अव्यक्त अध्यात्म-संसार भी काव्य का विषय बन सकता है, बनता है, इसमें संदेह नहीं।

आनन्द की अवस्था के आधार पर काव्य का एक भौतिक वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य शुक्ल ने काव्य को दो वर्गों में विभक्त किया—(१) आनन्द की साधनावस्था का काव्य, (२) आनन्द की सिद्धावस्था का काव्य। प्रथम का बीजभाव जहाँ करुणा है, वहाँ द्वितीय का प्रेम। प्रेम भाव पर आधारित दूसरे वर्ग की कविताओं में रचनाकार की दृष्टि लोकरंजन एवं जीवन के उपयोग पक्ष पर केन्द्रित रहती है, अतः सुख एवं शांति की अवस्था ही इनका वर्ण्य होता है। यही कारण है कि "यहाँ नगाड़े की धमक, गर्जन-तर्जन और हुंकार नहीं, विप्लव, ध्वंस और हाहाकार नहीं, वेग और तेज की तिग्मिता नहीं। यहाँ तो दीप्ति, माधुर्य और कोमलता की स्निग्ध भूमि है, लहलहाते सरस प्रसार और परिमलघटित पुष्पहास का कल कंठ कूजित क्षेत्र है, मद और उल्लास की तरंगमयी धारा का मानसलोक है।"[4] स्वभावतः इस प्रकार की रचनाओं में मंगल के स्थिर सौन्दर्य का विधान ही प्राप्त होता है। इसके विपरीत करुणा भाव को लेकर चलनेवाली रचनाओं में, क्योंकि मंगल के गत्यात्मक सौन्दर्य के विधान

---

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ८५।

२. जायसी ग्रंथावली (संवत् २००३), पृ० १६२।

३. वही, पृ० १६१।

४. रसमीमांसा, पृ० ७३।

के लिए पूर्ण अवकाश रहता है, अतः इनमें व्यापकता और पूर्णता की जितनी सम्भावना होती है, उतनी द्वितीय वर्ग की रचनाओं में नहीं। शुक्ल जी, वस्तुतः काव्य के माध्यम से जीवन एवं मनुष्यत्व की साधना के पक्षधर हैं, अतः जिस वर्ग की रचनाओं में इनके चित्रण की जितनी ही व्यापक एवं पूर्ण संभावना होगी, उसके प्रति उनका पक्षपात उतना ही स्वाभाविक एवं मुखर होगा। यही कारण है कि आनन्द की साधानावस्था को लेकर चलनेवाले प्रबन्ध काव्यों, चाहे वह तुलसीदास का 'रामचरितमानस' हो अथवा जायसी का 'पदमावत', में उनके विवेचक की दृष्टि जितनी रमी है, उतनी अन्यत्र नहीं। बन्ध की दृष्टि से मुक्तक की तुलना में प्रबन्ध को तरजीह देने के पीछे भी उनका उक्त जीवनोन्मुख दृष्टिकोण ही कार्यरत दीख पड़ता है।[१]

काव्य के पारंपरिक भारतीय प्रतिमानों में शुक्ल जी का झुकाव रसवाद की ओर रहा है। "काव्य का आभ्यान्तर स्वरूप या आत्मा" उनकी दृष्टि में 'भाव या रस' ही है।[२] 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नामक निबन्ध में भी उन्होंने कहा है, "संसार में मनुष्य जाति के बीच कविता हृदय के भावों को लेकर ही उठी है। प्रेम, उत्साह, आश्चर्य, करुणा आदि की व्यंजना के लिए ही आदिम कवियों ने अपना स्निग्ध कण्ठ खोला था। तब से आज तक संसार की प्रत्येक सच्ची कविता की तह में भावानुभूति आत्मा की तरह चलती आ रही है।"[३]

शुक्ल जी ने कविता को सच्ची कविता का स्वरूप प्रदान करने वाले भाव अथवा रस को, निस्संदेह, पारंपरिक रस सिद्धान्त से ग्रहण किया था, किन्तु एक मौलिक आचार्य की तरह उन्होंने उसकी पारम्परिक अवधारण को ज्यों का त्यों स्वीकार न कर के युगीन संदर्भों में उसे जीवन के एक व्यापक एवं नये फलक पर प्रतिष्ठित किया। इस दृष्टि से रस एवं भाव सम्बन्धी उनकी स्थापनाओं को देखा जा सकता है। रस को वह काव्य की आत्मा अवश्य बतलाते हैं, पर, साथ ही उसके लिए 'लोक हृदय में लीन होने' की कसौटी सामने रखकर स्पष्ट ही संस्कृत एवं 'रीति परंपरा के आचार्यों की रसदृष्टि की लक्ष्मण रेखा को लाँघ जाते हैं। उनकी मान्यता है 'जब हम क्रोध या भय को लोक से सम्बद्ध देखेंगे तब हम रसभूमि की सीमा के भीतर पहुँचे रहेंगे।"[४]

काव्य को शुक्ल जी जीवन से अलग करके देखने वालों का विरोध करते हुए उसे 'जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु' मानते हैं। यह प्रभाव ही हमें लोकहृदय में लीन होने की दशा, जिसे शास्त्रीय शब्दावली में रसदशा कहा जाता है, प्रदान करता है। शुक्ल जी इस दशा को निष्क्रिय दशा के रूप में नहीं, वरन् मनुष्यता की ओर उन्मुख करनेवाली सक्रिय दशा के रूप में स्वीकार करते हैं। भावों के कार्य पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने अनेकत्र उन्हें कर्मों में प्रवृत्त करनेवाला माना है। इस दृष्टि से भाव सम्बन्धी उनकी परिभाषा का उल्लेख

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (संवत् २०१९), पृ० २३९।
२. रसमीमांसा, पृ० १०५।
३. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १९५।
४. रसमीमांसा, पृ० २७३।

पर्याप्त होगा। भाव, उनके मतानुसार उस विकार को कहते हैं, जिसके अंतर्गत "विषय के स्वरूप की धारणा सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर सम्बद्ध संघटित हो।"[१]

भावों के विवेचन के सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल ने विशेषकर करुणा और उत्साह को जो व्यापक धरातल प्रदान किया है, वह उनके जैसे विलक्षण मेधा के आचार्य के लिए ही सम्भव था। करुणा को उन्होंने उसके परम्परा मान्य विरोधी भाव-क्रोध से समन्वित करके उसे सक्रिय प्रतिरोध की ललकार के सबल माध्यम के रूप में उपस्थापित किया। इस प्रकार उन्होंने सहज ही बाल्मीकि, भवभूति और तुलसीदास की शताब्दियों पुरानी करुणा को अपने युग की आकांक्षाओं के साथ अनुस्यूत करके काव्य के अभिनव प्रतिमान के रूप में प्रस्थापित किया। इसी प्रकार कर्ममय जीवन के उत्साह के व्यापक प्रसार को दिखला कर उन्होंने उसे पारम्परिक वीर रस के स्थायी उत्साह की तुलना में एक अभिनव क्षितिज प्रदान किया, जिससे वह सीधे ही बहुआयामी जीवन से घनिष्ठ रूप में जुड़ कर, उसे प्रेरित करनेवाली शक्ति का स्रोत बन जाता है। उनकी आचार्य चेता मेधा इसीलिए स्पष्ट शब्दों में कहती है, "कर्ममात्र के संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनन्द देखा जाता है, वह भी उत्साह ही कहा जाता है।"[२]

पार्थिव जगत की अन्य वस्तुओं और अनुभूतियों के समान शुक्ल जी ने काव्य-रस और उसकी अनुभूति को भी पार्थिव माना है।[३] उनके मतानुसार जैसे प्रत्यक्ष जगत् की मार्मिक अनुभूतियाँ हमें अपने में लीन करने की क्षमता रखती हैं, उसी प्रकार रसानुभूति भी। रसानुभूति, उनकी दृष्टि में "प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् अंतवृत्ति नहीं, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।"[४] रसानुभूति के उन्होंने दो लक्षण निर्धारित किए हैं

१. अनुभूतिकाल में व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार, ।

२. किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सभी सहृदयों के भीतर उसी भाव का उदय।

प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दशाओं में शुक्ल जी ने उक्त दोनों स्थितियाँ सम्भव मानी हैं, अतः इस प्रकार की अनुभूतियों को रसानुभूति के अंतर्गत मानने में वह कोई बाधा नहीं देखते।[५] यही नहीं, अतीत के मधुस्रोत के स्मृत्यात्मक अवगाहन को भी वह रसात्मक मानने के पक्ष में हैं। अतीत उनकी दृष्टि में एक मुक्तिलोक है, जहाँ मनुष्य-हृदय अनेक प्रकार के बन्धनों से छूटा रहता है और अपने शुद्ध रूप में विचरता है।[६] 'बीती ताहि बिसार दे'

---

१. रसमीमांसा, पृ० १६८।

२. वही, पृ० ९।

३. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २४७।

४. वही, पृ० २५३।

५. वही, पृ० २५८।

६. वही, पृ० २५७।

में वह विश्वास नहीं करते, क्योंकि इसका अभिप्राय है 'जीवन की अखंडता और व्यापकता की अनुभूति का विसर्जन, सहृदयता और भावुकता का भंग-केवल, अर्थ की निष्ठुर क्रीड़ा।"[१] अतएव स्मृत रूप विधान को भी वह रसानूभुति के अंतर्गत ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार आचार्य शुक्ल काव्य और उससे प्राप्त होने वाली रसानुभूति को भौतिक धरातल पर उतारते हुए उसके लिए इतना ही पर्याप्त मानते हैं कि हमारा हृदय थोड़ी देर के लिए उसमें लीन हो जाय। अपनी "व्यक्तिबद्ध दशा" से मुक्त होकर विशुद्धता एवं लोक-सामान्यता को प्राप्त कर ले। कोई बात नहीं, यदि वहाँ "विभावानुभाव व्याभिचारि संयोग" की शास्त्रीय स्थिति का संपादन नहीं मिलता। इस प्रकार रस सम्बन्धी परम्परागत धारण ओं से-हट कर शुक्ल जी ने उसे एक व्यापक स्वरूप प्रदान किया है। रस को यदि उनकी दृष्टि से परिभाषित करना हो तो कह सकते हैं कि "तल्लीनता ही रस" है।

प्रत्यक्ष रूप विधान और स्मृतरूप विधान से आनन्द प्राप्त होता है। इसमें संदेह नहीं, किन्तु, क्या इनसे प्राप्त होने वाली आनन्दानुभूति की तुलना में काव्य से प्राप्त होने वाली रसानुभूति में कोई विशिष्टता भी होती है अथवा नहीं, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। स्वयं शुक्ल जी भी रसानुभूति को प्रत्यक्ष अथवा वास्तविक अनुभूति का उदात्त और अवदात स्वरूप कहा है, तथापि वह उसकी लौकिकता के आग्रही हैं। निस्संदेह अलौकिक का अर्थ कोई स्वर्गीय विभूति नहीं, फिर भी प्रत्यक्ष व लौकिक अनुभूतियों से वह अभिन्न है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। लौकिक अनुभूतियों का आधार जहाँ स्थूल होता है, वहाँ उसका आधार सूक्ष्म शब्दात्मक होता है। लौकिक अनुभूतियों के विषय प्रत्यक्ष होते हैं, जबकि रसानुभूति के विभावादि सदैव अप्रत्यक्ष हुआ करते हैं। लौकिक अनुभूतियों से प्राप्त होने वाले आनन्द के क्षणों में हम उस प्रकार की व्यक्तित्वमुक्ति नहीं प्राप्त कर पाते जिस प्रकार की काव्य के पठन अथवा श्रवण के समय। अतः रसानुभूति को आप अलौकिक कहें या न कहें, पर उसे लोक विशिष्ट मानना ही होगा। प्रत्यक्ष व वास्तविक अनुभूतियों के समानान्तर उसे कदापि नहीं रखा जा सकता।[२]

रसानुभूति के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने एक विवादास्पद धारणा यह व्यक्त की है कि उसकी प्रकृति सदैव आनन्दात्मक नहीं होती। उनकी मान्यता है कि क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा की अनुभूति दुःखात्मक होती है। करुण रस के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि—"करुण रस प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के सम्बन्ध में यह कहना कि आनन्द में भी तो आँसू आते हैं, केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।"[३]

शुक्ल जी ने यहाँ वस्तुतः परस्पर विरोधी बातें कही हैं। कारण कि "मुक्त दशा में होना" और "दुःख का अनुभव करना" दोनों एक नहीं, वरन् दो विरोधी स्थितियाँ हैं। जो मुक्त दशा

---

१. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २६०।

२. वही, पृ० २५३।

३ वही पृ० २५१

में होगा, वह तो लौकिक दुःख-सुख की सीमाओं से इतना ऊपर उठा होगा कि सामान्य सांसारिक दुःखात्मक और सुखात्मक स्थितियों का उसके लिए कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। इसके विपरीत जिसे वास्तविक दुःख की अनुभूति होगी, वह मुक्त दशा में होने का दावा ही नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में करुण रस के संदर्भ में न तो वास्तविक दुःख की अनुभूति की बात स्वीकार की जा सकती है और न ही मुक्त दशा की आड़ में दुःख के रसात्मक होने की बात। असल में शुक्ल जी की मूल समस्या यह है कि वह आनन्द का परम्परामान्य अर्थ न लेकर उसे प्रायः मनोरंजन के अत्यंत संकुचित अर्थ में व्यवहृत करते हैं।[1] यही स्थिति उनके यहाँ चमत्कार की है। चमत्कार जिसे ध्वनिवादियों ने रमणीय एवं आनन्द के अर्थ में प्रयुक्त किया है, शुक्ल जी ने उसे उक्ति चमत्कार एवं रचना-वैचित्र्य के अर्थ में लेकर निकृष्ट कोटि के काव्य का आधार बना दिया है।[2] अतः न तो शुक्ल जी को इन शब्दों के अर्थ संकोच-दोष से मुक्त किया जा सकता है और न ही इस आधार पर उनके उक्त दृष्टिकोण को न्यायसंगत कहा जा सकता है। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि काव्यगत जिस आनन्द को हमारे यहाँ 'ब्रह्मास्वादसविध" कहा गया था, शुक्ल जी उसे नाच तमाशे के धरातल पर उतार लाये हैं।

इसी प्रकार शुक्ल जी के काव्यचिन्तन से अन्य अनेक विसंगतियाँ भी देखी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए तादात्म्य पर बल देनेवाली उनकी साधारणीकरण सम्बन्धी अवधारणा तथा वाच्यार्थ में काव्यत्व के अधिवाह वाली स्थापना को लिया जा सकता है। लोक को केन्द्र में रख कर तल्लीनता को रस के पर्याय के रूप में प्रतिष्ठित करके उन्होंने रसभूमि को व्यापक तो बनाया पर इसी के कारण उनकी रसधारणा को अतिव्याप्ति दोष से मुक्त नहीं माना जा सकता। अपनी इन सीमाओं के बावजूद शुक्ल जी हिन्दी के वह पहले काव्य चिन्तक हैं, जिन्होंने परम्परामुक्त काव्य चिन्तन को एक नवीन समाज सापेक्ष आचार्य दृष्टि प्रदान की। उन्होंने ही हिन्दी आलोचना के तृतीय उत्थान काल में गुण-दोष कथन प्रणाली से आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं के अन्वेषण और उनकी अन्तः प्रकृति की छानबीन की ओर सबसे पहले ध्यान दिया, और अन्यों को इस ओर प्रेरित किया। उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में अपने सिद्धान्तों का नियोजन भी बड़ी खूबी के साथ किया। इस प्रकार वह कोरे सिद्धान्त निरूपक आचार्य ही नहीं थे, वरन् उनके सफल प्रयोक्ता भी थे। उनके सम्बन्ध में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने ठीक ही कहा है "पांडित्य में उनकी अप्रतिहत गति थी, विवेचना की उनमें विलक्षण शक्ति थी। वे आलोचक या समीक्षक मात्र नहीं थे, सच्चे अर्थ में साहित्य के आचार्य थे।"[3]

---

१. रसमीमांसा, पृ० १०१।

२. वही, पृ० ३३, ३४, ३७।

३. हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ, पृ० ७०।

निबंधकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और मराठी लघुनिबंध

लेखक : डॉ० दूधनाथधर दूबे

⊙

मन के दो पक्ष हैं--बुद्धि तथा हृदय। जब तर्कसंकुल चिन्तन की प्रक्रिया भावना और कल्पना के साथ उद्वेलित होती है तब निबन्ध का जन्म होता है। आधुनिक यंत्रयुग वस्तुओं और व्यापारों को जिस प्रकार रागरंजित कर के देख सकता था उसी प्रकार उन्हें बुद्धि की निर्मम कसौटी पर भी कस सकता था। यही कारण है कि विज्ञान की प्रगति के साथ छापेखाने का आविष्कार हुआ और उसी के साथ गद्य की विभिन्न विधाओं ने जन्म लिया तथा शुक्ल युग से आकर ही निबन्ध' ने अवतार ही नहीं लिया वरन् अपने उत्कर्ष को भी प्राप्त हुआ।

भारतेन्दु युग के निबन्धकार पं० बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण 'प्रेमघन', बालमुकुन्द गुप्त, पंडित माधव प्रसाद मिश्र आदि कुछ-न-कुछ लिखते रहने का कार्य किया अवश्य, परन्तु व्यावर्तक लक्षणों का उनके लेखों में ठीक-ठीक निर्धारण करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसी सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने अपने 'इतिहास' में गद्य के विकास का इतिहास निरूपित करते हुए एक सन्दर्भ में लिखा है : "भारतेन्दु के सहयोगी अपने ढर्रे पर कुछ-न-कुछ लिखते तो जा रहे थे पर उनमें वह तत्परता और वह उत्साह नहीं रह गया था। बाबू हरिश्चन्द्र के गोलोकवास के आगे पीछे जिन लोगों ने साहित्य सेवा ग्रहण की थी, वे ही अब प्रौढ़ता प्राप्त कर के काल की गति परखते हुए अपने कार्य में तत्पर दिखाई देते थे। इसके अतिरिक्त कुछ नये लोग भी मैदान में धीरे-धीरे उतर रहे थे। वह नवीन हिन्दी साहित्य का द्वितीय उत्थान था, जिसके आरम्भ में 'सरस्वती' पत्रिका के दर्शन हुए।"

शुक्ल जी का उपरोक्त उद्‌गार हमें निबन्ध के इतिहास के २०वीं शताब्दी के दरवाजे पर खड़ा कर देता है। यही युग 'शुक्लयुग' से अभिहित किया गया। बाबू श्यामसुन्दरदास, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' और स्वयं शुक्ल जी ने मिल कर इस युग का निर्माण किया। इस युग के निबन्धों से पहले के निबन्ध मुख्यतया तथ्यों, विचारों और तर्कों पर ही आधारित थे। लालित्य का अभाव उसमें प्रायः खटकता है। सरल सपाट वाक्य विन्यास, नपे तुले बहु प्रचलित शब्दों का अभिधात्मक प्रयोग, लोकोक्तियों और मुहावरों से सामान्यतः शून्य तत्कालीन निबन्ध

केवल लेख तक ही सीमित थे। निबंधकार शुक्ल के उदय के साथ ही हिन्दी निबंध को सच्चे अर्थों में निबंध की गरिमा प्राप्त हुई।

पश्चिमी साहित्यकारों का विकसित निबंध-कौशल जिन गुणों से विभूषित था उन सब का समन्वित रूप हम शुक्ल जी के निबंधों में देख सकते हैं। यह केवल शुक्ल जी ही हैं जिन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि निबंध भी एक सशक्त साहित्यिक विधा है। निबंधकार के लिए उन्होंने वैचारिक बोध आवश्यक बतलाया। स्पष्ट और तर्कपूर्ण चिन्तन, सिद्धांतों और व्यवहार को पूर्ण सामंजस्य के साथ उसमें अनुभूतिपूर्ण मन का होना भी अपेक्षित है। केवल विचार, अनुभूति या वादों के लिए कुछ लिख देना लेख हो सकता है, निबंध नहीं। इस प्रकार की मान्यता प्रतिपादित करने वाले शुक्ल जी ने उन्हें अपने निबंधों में उतार कर भी दिखाया है। यद्यपि शुक्ल युग के अन्य निबंधकार इस प्रकार की मान्यताओं से बँधे नहीं हैं परन्तु शुक्ल जी उनसे अवश्य बँधे हैं। विचारों का गूढ़-गुंफित विन्यास, पूर्वापर वाक्यों और अनुच्छेदों का जनक-जन्य सम्बन्ध, पाठकों का श्रम परिहार करने वाले व्यंग्य-विनोद एवं रागात्मकता तथा गद्य-सौष्ठव का विशेष ध्यान शुक्ल जी की अपनी विशेषता रही है। इन्हीं विशेषताओं को आगे चलकर परवर्ती निबंधकारों ने भी अपनी दृष्टि से अपनाने का प्रयत्न किया है। इतना ही नहीं यदि हम मराठी साहित्य के लघु निबंधों पर विचारें तो वही प्रभाव जो शुक्ल जी के निबंधों पर दीख पड़ता है; मराठी निबंधकारों पर भी परिलक्षित है।

मराठी साहित्य में लघु निबंधकार के रूप में श्री ना० सी० फड़के, श्री वि० स० खाण्डेकर तथा पद्मश्री प्रा० अनंत काणेकर के नाम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः इस त्रयी को ही मराठी में निबंधों के श्रीगणेश का श्रेय है। इन तीनों के निबंध लेखन में प्रवृत्ति-भेद अवश्य दिखाई देगा, काल का अन्तर तो है ही। एक बात तीनों में समान यह है कि तीनों ने अपने निबंधों में आत्म-निवेदन किया है। सन् १९२६ के आस-पास प्रा० श्री ना० सी० फड़के, 'रत्नाकर' मासिक पत्रिका के सम्पादक थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के समान ही उनके समक्ष भी समस्याएँ थीं। पाठकों को पठनीय उत्तम साहित्य की आवश्यकता थी। शायद इसी उद्देश्य से निबंध को रोचक बनाने का ख्याल फड़के जी के मन में आया होगा और रोचकता को निबंध का विशेष गुण मान लिया गया होगा। अंग्रेजी निबन्धकार गार्डिनर, ल्यूकस आदि के समान स्पष्ट और सरल अभिव्यक्ति वाले निबंध को इन मराठी लेखकों और हिन्दी निबंधकारों ने शायद 'गुजगोष्टी' या 'चिन्तामणि' नाम दिया होगा। अंग्रेजी में जो 'पर्सनल एसे' या 'इण्टिमेंट एसे' ल्यूकस गार्डिनर आदि लेखकों ने आविर्भूत किया उसी प्रकार का नामकरण शुक्ल जी ने 'चिन्तामणि' या मराठी लेखकों ने 'गुजगोष्ठी' में किया है, इसमें शंका नहीं। प्रा० ना० सी० फड़के का पहला निबन्ध 'सुहास्य' प्रकाशित हुआ। प्रारम्भ में प्रा० फड़के ने अंग्रेजी निबंधों के धरातल पर ही निबंध रचना की। यह काल १९२७ के आस-पास का काल था। इस प्रकार मराठी में आधुनिक निबंध की शुरुवात तब हो रही थी जबकि हिन्दी का निबंध परिपक्वता को प्राप्त हो रहा था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान प्रगतिवादी लेखक परिस्थितियों के वशीभूत होकर अधिकाधिक चंचल और उद्विग्न हो उठे थे। जहाँ तक कि उनके आलोचनात्मक निबंध भी मंडनात्मक और रचनात्मक होने की अपेक्षा खंडन करने और साहित्यिक मान्यताओं के विरोध में आवाज उठाने में ही लग गये थे। निबंधों में उच्छृंखलता और ओछापन आने लगा था। परिणामतः निबंधों की गरिमा समाप्त हो चली थी। यही कारण था कि हिन्दी साहित्यकारों में गुटबन्दियाँ होने लगी थी और आपसी मनमुटाव बढ़ने लगे थे। मराठी में १९२० के बाद का गद्य साहित्य निबंध की नयी विधा लेकर जन्मा था। १९२७ में जब श्री वि० स० खाण्डेकर ने लेखन कार्य आरम्भ किया तब केवल द्रव्यार्जन ही उनका उद्देश्य था। कुछ लेखन समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी किया गया, लेकिन शुद्ध साहित्यिकता की दृष्टि से लिखा गया उनका तत्कालीन साहित्य पुष्कल नहीं है। खाण्डेकर जी ने 'वैनतेय' पत्रिका के लिए लेखन कार्य किया। उनके निबंधों में आचार्य शुक्ल जी के समान ही खुद की विविध भावना तथा स्वैर चिंतन की प्रधानता है। 'वैनतेय' पत्रिका के लिए इस प्रकार के लेखन की आवश्यकता थी। प्रा० ना० सी० फड़के के समान श्री खाण्डेकर के निबंध अंग्रेजी के अनुकरण मात्र नहीं कहे जा सकते। बाद में खाण्डेकर जी ने भी लिंड-चेस्टरटन आदि के साहित्य का अनुकरण किया।

शुक्ल जी जिस प्रकार हिन्दी साहित्य में विचारात्मक निबंध के स्रष्टा माने जाते हैं उसी प्रकार मराठी में श्री ना० सी० फड़के का स्थान है। आचार्य शुक्ल को उनके 'चिन्तामणि' में संग्रहीत निबंधों के आधार पर कुछ आलोचक उन्हें मनोवैज्ञानिक लेखक मानते हैं। वास्तव में वे शुद्ध साहित्यिक निबंधकार हैं। मनोविकारों को विषय बना कर जिस नवीन शैली का प्रतिपादन शुक्ल जी ने किया है, वह अपने में अद्वितीय है। 'प्रतिभासाधन' में लेखक श्री ना० सी० फड़केने लगता है उनका अध्ययन अवश्य किया होगा। श्री फड़के ने 'पर्सनल एसे' का मराठी नामकरण 'गुजगोष्ट' किया वह सचमुच ही व्यापक अर्थवाला है।

श्री ना० सी० फड़के और श्री वि० स० खाण्डेकर दोनों ही इस मत से सहमत हैं कि निबंधकार के लिए सृष्टि के सभी विषय सत्य हैं परन्तु उनका सबसे प्रिय विषय 'स्व' होना आवश्यक है। यह स्व उनको लिखने की हार्दिक प्रेरणा देता है। एक जगह पर श्री फड़के ने लिखा है कि जब मैं 'स्व' से प्रेरित होता हूँ तभी निबंध लिखता हूँ। खांडेकर जी का कहना है अन्य वाङमय प्रकारों के लेखकों में 'स्व' का भाव बीज रूप में रहता है। लघु निबंध में व्यक्तित्व की सूक्ष्मता, वेषांतर या रूपांतर करके लिखने की आवश्यकता ही क्या है? निबंध का 'स्व' सभी बंधनों से मुक्त रहता है।...स्वभावतः उसमें 'स्व' की प्रधानता रहती है।" 'फ्रेंच लेखक 'आण्टेन' के शब्दों को खाण्डेकर जी पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं। जहाँ माण्टेन यह कहता है कि (I am myself the subject of my book) मैं स्वयं अपनी पुस्तकों का प्रतिपाद्य हूँ, वहाँ निबंध की वैयक्तिकता का गुण स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दी निबंधकारों ने निबंधों में वैयक्तिकता को अनन्य असाधारण महत्त्व दिया है। आचार्यशुक्ल का व्यक्तित्व एक चिन्तनशील, मननशील और सात्विक प्रवृत्तियों का व्यक्तित्व

था। शुक्ल जी ने उन्हीं मनोविकारों को अपने निबंध का विषय बताया जो विभिन्न साहित्यिक रसों के स्थायीभाव या संचारी भाव हैं। उदाहरणार्थ करुण रस का स्थायीभाव शोक है इसलिए करुणा को उन्होंने अपने निबंध का विषय बनाया। इसी प्रकार क्रोध (रौद्र) उत्साह (वीर), प्रीति (शृंगार) और श्रद्धा तथा भक्ति आदि विषयों पर ही शुक्ल जी ने लेखनी उठायी।

असल में देखा जाय तो मनोवैज्ञानिक निबंध शास्त्रीय निबंध होते हैं। इनमें ज्ञान और प्रयोग दोनों के लिए अवकाश है। 'वैर' क्रोध का अचार या मुरब्बा है। प्रयोग करके देखिए तब उस पर विश्वास कीजिए। वैज्ञानिक निबंध अपने वैशिष्ट्य के कारण एकांगी होते हैं, परन्तु साहित्यिक निबंध सर्वांगीण होते हैं। निबंधकार जीवन में साहित्य, समाज, धर्म, राजनीति, संस्कृति, ज्ञान और विज्ञान से जो कुछ प्राप्त करता है उसे अपने व्यक्तित्व के रस द्वारा सींच कर पल्लवित करता है। ऐसे निबंध किसी एक ज्ञान या विज्ञान के अंग नहीं होते। वे अचिंतन की नई उत्तेजना को प्रेरणा देने वाले होते हैं। यह मान्यता शुक्ल जी तथा मराठी के निबंधकार ना० सी० फड़के के निबंधों पर समान रूप से लागू होती है।

सफल निबंध में भाषा की सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग संक्षेप में भावों को चुस्त और निबद्ध ढंग से प्रकट करने के हेतु किया जाता है, ताकि निबंध में अभिव्यक्त विचारों का सुचारु रूप में गुंफन पाठकों की बुद्धि को उत्तेजित कर नयी विचारसरणि के लिए नयी सर्जना का द्वार खोले।[१] भाषा-विधान के साथ ही साथ अर्थगरिमा का ऐसा समयोग निबंध की श्रेष्ठता और सौन्दर्य के लिए आवश्यक है जो भावुक को नयी सर्जनात्मक दिशा दे सके। शुक्ल जी ने स्वयं कहा है कि भावनात्मक दृष्टि से निबंध पाठकों को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े।[२] निबंध की सही कसौटी यही है। शुक्ल जी के निबंध इस कसौटी पर खरे उतरते हैं।

कालक्रम की दृष्टि से शुक्ल जी के निबंधों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। (१) प्रारम्भिक निबंध; (२) प्रौढ़ निबंध। उनके प्रारम्भिक निबंधों में कविता क्या है, राधाकृष्णदास की जीवनी, भारतेंदु हरिश्चन्द्र, फ्रेडरिक पिन्कौट, प्राचीन भारतवासियों का पहनावा, महाराज कनिष्क का स्तूप, बुद्धदेव की हड्डियाँ आदि आते हैं। इस प्रकार के निबंध उनके साहित्य के भावी सर्जनात्मक दृष्टिकोण को सूचित करते हैं। दूसरी कोटि के निबंध साहित्य में प्राण प्रतिष्ठा करने वाले हैं। भाव, भाषा, विचार और शैली की दृष्टि से ये निबंध पूर्णरूपेण साहित्यिक हैं।

विषय के अनुसार शुक्ल जी के निबंधों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

---

१. पाठकों की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नयी विचार पद्धति पर दौड़ पड़े।
(हिन्दी साहित्य का इतिहास,—रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ ५७६)।

२. वही, पृष्ठ ६७२।

(१) साहित्यिक निबंध।
(२) साहित्येतर निबंध।
साहित्यिक निबंधों के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रकार के निबंध आते हैं—
(१) वैचारिक निबंध।
(२) सैद्धान्तिक निबंध।
(३) व्यावहारिक निबंध।

साहित्येतर निबंधों के अन्तर्गत उनके पुरातत्व, इतिहास, विज्ञान, कथा, जीवनी तथा संस्मरण से सम्बन्धित निबंधों को रखा जा सकता है। साहित्येतर निबंधों की रचना उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं। फिर भी ज्ञान सम्पदा की दृष्टि से वे साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं।

मनोविकारों से संबंधित निबंधों में विचारों की प्रधानता होने के कारण उन सबको वैचारिक निबंधों की कोटि में रखा जा सकता है। उनका दृष्टिकोण लोकमंगलमूलक शक्ति और सौन्दर्य से युक्त रहा है। अपने पूरे साहित्य में सनातन मानदण्ड को शुक्ल जी नें स्वीकार किया है, परन्तु कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि वे लकीर के फकीर हैं। शुक्ल जी प्रकृति और पुरुष के सर्जनात्मक रूप को स्वीकार करते हुए अतीत के प्रति भावुक हैं। वे रसवादी तो थे ही, फिर भी उनकी अपनी मान्यताएँ उनकी आलोचनाओं में और निबंधों में परिलक्षित होती हैं। वे मान्य भारतीय साहित्य सिद्धांतों के साथ उनका सामंजस्य कर प्राचीन तत्त्वों में नयी उद्‌भावना करने वाले मौलिक आचार्य थे। कृति और कृतिकार के सम्बन्ध में उनकी परिकल्पना अपनी मौलिक थी। 'लोभियो तुम्हारा लोभ धन्य है।' कहने में भी वे नहीं हिचके हैं। जो भी हास्य या व्यंग्य उन्होंने लिखा उन सबका उद्देश्य रसात्मक ही रहा है।

शुक्ल जी की उपरोक्त शैली और मान्यताओं के परिपेक्ष्य में अब हम मराठी के 'लघु निबंधकारों' को भी थोड़ा पहचानने का प्रयत्न करें। मराठी के आदि लघु निबंधकार श्री फड़के ने 'स्व' परक निबंधों को ज्यादा महत्त्व दिया। निबंध में 'स्व' को स्खलित होने का अंदेशा रहता है। वि० स० खांडेकर ने एक जगह लिखा है 'दृष्टि और प्रकृति की प्रतिकूलता के कारण मेरे कितने ही उपन्यासों के संकल्प मन ही मन रह गये हैं। निर्धन व्यक्ति की इच्छाओं के समान लेखन के मात्र चिन्तन का आनन्द मुझे अनेक बार मिलता है। परन्तु दृष्टि और प्रकृति की अवकृपा के कारण और विविध प्रकार के लोगों के आगमन के कारण लिखना संभव नहीं हो पाता। परिणामत: मन की भावनाओं की कली फूल नहीं हो पाती।'[१] वहीं पर वे फिर लिखते हैं कि 'भग्न स्वप्न के टुकड़ों' से खेलने के लिए मनुष्य ने जन्म नहीं लिया है। मनुष्य के मन को भूतकाल की जंजीर से बाँध कर नहीं रखा जा सकता उसे भविष्य काल के गरुड़-उड़ान का वरदान भी मिला है। कोई स्वप्न देखना, उसे पुष्पित करना, उसे सत्य सृष्टि में उतारने का प्रयत्न करना और उस प्रयत्न में आनन्द की अनुभूति करना और यदि दुर्भाग्य से वह स्वप्न भंग हो गया तो उसके टुकड़ों पर से रक्तरंजित चरण रखते हुए दूसरे

१. अमृतवेल : वि० स० खाण्डेकर 'दान शब्द'।

स्वप्न की ओर दौड़ना मानव मन का धर्म है। इसी से मानवी जीवन को अर्थ प्राप्त होता है।'[1] कितने उदात्त और आशावादी विचार हैं श्री खाण्डेकर जी के। एक उच्च कोटि के निबंधकार के मन में इस प्रकार के विचारों का होना आवश्यक है। शुक्ल जी का व्यक्तित्व और उनका 'स्व' इसी कसौटी पर खरा उतरता है।

शुक्ल जी के व्यक्तित्व के समान ही ना० सी० फड़के और वि० स० खाण्डेकर का व्यक्तित्व गम्भीर था। उनकी गम्भीरता के भीतर विनोदप्रियता की स्रोतस्विनी प्रवाहित थी। शुक्ल जी ने प्राचीन का गूढ़ मनन और चिन्तन किया था उसी प्रकार इन दोनों मराठी साहित्यकारों ने भी प्राचीन का मनन और चिन्तन किया था। शुक्ल जी के साहित्य का उद्देश्य था कि जो इस धरती के अनुकूल हो और परम्परा जिसे अपना सके तथा जिसका उपयोग और प्रयोग समाज को नवजीवन प्रदान कर सके। उसे ही साहित्य में स्थान दिया जाना चाहिए। मराठी के निबंधकारों ने भी इसी उद्देश्य को अपनाया। ना० सी० फड़के और वि० स० खाण्डेकर जी का आग्रह था कि यदि लेखक का अलिप्त तथा निष्पक्ष 'स्व' खम्भ ठोककर खड़ा रहे तो साहित्य में श्रेष्ठ संवेदन-क्षमता, चिंतनशीलता और सुसंस्कृति का निर्माण किया जा सकता है। साहित्यकार के स्वच्छ प्रभावशाली व्यक्तित्व को तांत्रिक नियम रोक नहीं सकते, इसका उदाहरण शुक्ल जी स्वयं हैं।

मराठी निबंधकार प्रा० अनन्त काणेकर के प्रारंभिक निबंध फड़के और खाण्डेकर के नियमों से बँधे हैं परन्तु बाद में काणेकर जी ने नियमों की मर्यादा का उल्लंघन किया और अपने 'स्व' को विशेष स्थान दिया। परिणामतः लगता है कि उनके निबंधों पर शुक्ल जी के निबंधों की छाप पड़ी है अथवा अँग्रेजी के निबंधकारों ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया है। स्व० वि० द० घाटे के निबंध संग्रह 'मनोगते' (१९६६) तथा 'विचार विलसिते' (१९७३) शुक्ल जी की शैली तथा परम्परा के अन्तर्गत माने जाने चाहिए। प्रा० आनन्द यादव ने वि० स० खाण्डेकर के लघु निबंधों के सम्बन्ध में लिखा है—"खाण्डेकर के लघ निबन्ध मराठी साहित्य वृक्ष के कलम नहीं हैं बल्कि उसकी मूल शाखाएँ हैं।"[2] 'साहित्य और प्रेरणा' शीर्षक के अन्तर्गत नागपुर की आकाशवाणी से प्रसारित ना० सी० फड़के के व्याख्यानों में से एक व्याख्यान में लघु निबंधों को 'गुजगोष्ट' की संज्ञा दी गयी थी।[3] इससे स्पष्ट होता है कि निबंधों को फड़के जी जन-सामान्य के जीवन के कितना निकट लाना चाहते थे।

शुक्ल जी की भाषा शैली असाधारण है। उनकी मान्यता है कि "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है।"[4] भाषा शैली की असामान्यता के अतिरिक्त उनकी विचारधारा गहन-गम्भीर है। यदि विचार गम्भीर हों तो उसके अनुसार भाषा और शैली का होना जरूरी है, अन्यथा साहित्य का रस समाप्त हो जाता है। जब वे

---

१. वही, वि० स० खाण्डेकर के हस्ताक्षर में (तीसरी आवृत्ति १९७६)।

२. गाभारा : प्रा० आनंद यादव (पृ० ६६)।

३. देखिए, सत्यकथा फरवरी १९६१ का अंक (मराठी)।

४. चिंतामणि १, पृष्ठ ११।

यह कहते हैं कि "दुःख की कोटि में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनन्द की कोटि में उत्साह"[1] का है। तो पाठकों को विचार करने के लिए कितनी बड़ी बात कहते हैं। भय न हो तो दुःख का जन्म सम्भव नहीं। उत्साह न हो तो आनन्द का जन्म हुआ या नहीं इसे समझ नहीं पाते। आनन्द योगियों के समान निर्विकार नहीं होता। हम अपने किसी प्रियजन के आगमन की खबर सुनकर उसके सही स्वागत की तैयारी में लग जायँ वही सच्चा लौकिक आनन्द है। जिस आनंद में उत्साह न हो वह आनंद साहित्यिक आनंद नहीं, वह अलौकिक आनन्द हो सकता है इस बात को शुक्ल जी कितनी सहजता से कह डालते हैं। लगता है, कोई वेद वाक्य या सूत्रवाक्य कह रहे हैं। शुक्ल जी के निबंध विचार, तर्क, भाषा-शैली तथा भावप्रवणता के सौख्य संयोग से निर्मित है। शब्द और अर्थ की यौगिक सिद्धि जो उन्हें प्राप्त थी। उनके शब्द अर्थ के पीछे चलने वाले हैं। उनके लिखने और बोलने का कुछ अर्थ होता है। वे अर्थ को लेकर नहीं लिखते। तुलसी की कला 'गिरा अर्थ जल बीचि सम' को चरितार्थ करके यदि किसी निबंधकार ने दिखाया है तो वह शुक्ल जी ही हैं।

जहाँ तक शैली का सवाल है शुक्ल जी की शैली 'व्यास' शैली है। जैसा कि मैंने पहले कहा है कि वे किसी बात को पहले सूत्ररूप में कहते हैं और फिर उसका उदाहरणों द्वारा व्याख्यान करते चलते हैं। इसे विश्लेषणात्मक शैली भी कह सकते हैं। परन्तु शुक्ल जी के लिए चाहे विश्लेषणात्मक शैली हो या भावात्मक, अलंकारिक शैली हो या सामान्य सब पर उनकी प्रौढ़ता की छाप है। गद्य का इतना निखरा हुआ स्वरूप किसी भी पूर्ववर्ती लेखक में इतनी विधायिनी गरिमा के साथ परिलक्षित नहीं होता। निबंध की दो शैलियाँ हैं। (१) आगमन शैली, (२) निगमन शैली। शुक्ल जी ने इन दोनों शैलियों को अपनाया। मूलतः वे वैचारिक निबंधों के स्रष्टा हैं इसीलिए उदाहरणों द्वारा निष्कर्ष निकालना या सूत्र देखकर उदाहरणों से समझाना शुक्ल जी के लिए सर्वसाध्य था। निगमन शैली का अधिकांश स्थलों पर शुक्ल जी ने उपयोग किया है। मराठी लेखक वि० स० खाण्डेकर, ना० सी० फड़के तथा आधुनिक लेखक अनन्त काणेकर की शैलियाँ भी निगमनात्मक ही हैं। उपलब्धियों को सर्व प्रथम प्रस्तुत करना तथा उसकी सत्यता की स्थापना और सिद्धि की बात करना इन मराठी लेखकों के लिए भी सहज साध्य प्रतीत होता है। मराठी का निबंध व्यञ्जना और लक्षणा को लेकर जितना चला है उसकी बुनियाद इन लेखकों के निबंधों में खोजी जा सकती है। परवर्ती मराठी निबंधकार पु० ल० देशपाण्डे, इरावती कर्वे, दुर्गा भागवत, कुसुमावती देशपांडे, पु० भागवत, मधुकर, के० क्षीरसागर, गो० वी० करदिकर आदि ने इसी प्रकार की निगमन शैली का अनुकरण किया है। भाषा शैली की दृष्टि से मराठी का निबंध साहित्य जितना विकसनशील हो रहा है उस अनुपात में हिन्दी का निबंध साहित्य नहीं। हिन्दी साहित्य में जो परम्परा शुक्ल जी ने स्थापित की, वह अब यत्र-तत्र ही देखने को मिलती है। साहित्यकार अब एकमात्र जीविकोपार्जन के हेतु साहित्य लिखने लगा है। शुक्ल जी ने भी जीविकोपार्जन के लिए साहित्य लिखा,

---

१. वही, उत्साह, पृष्ठ १५।

लेकिन साहित्य बिक्री के लिए नहीं लिखा। प्रेमचन्द या शुक्ल जी चाहते तो चित्रपटों के लिए साहित्य लिख कर लक्ष्मीपति बन सकते थे लेकिन उन्हें तो अपने एक उसूल का निर्वाह करते हुए साहित्य की रचना करनी थी। आज मराठी साहित्य में नाटकों की भरमार चल रही है। 'हमीदाबाई की कोठी' नाटकों में आ रही है। उद्देश्य चाहे जो भी हो, द्रव्यार्जन मूल उद्देश्य बनता जा रहा है।

शुक्ल जी 'पूर्वपक्ष' का आयोजन पूर्णनिष्ठा और ईमानदारी के साथ करते थे। उनका किसी के प्रति दुराग्रह नहीं था, न ही वे किसी मान्यता की इतिवृत्तात्मकता को मानने वाले थे। यदि उन्हें पूर्वपक्ष को निरस्त करना होता तो 'उत्तर पक्ष' की प्रतिष्ठा भी उसी दृढ़ता और संकल्प के साथ करते। उनके विवेचन का चातुर्य लक्षणीय है। 'लोभ' की श्रेष्ठता का वर्णन करते समय पाठक यह समझ नहीं पाते हैं कि शुक्ल जी लोभ के पक्ष में बोल रहे हैं या विपक्ष में। 'लोभियो तुम्हारा लोभ धन्य है। तुम स्पृहणीय हो' जब वे कहते हैं तब पाठक समझ जाता है कि यह उनका व्यंग्यबाण है। वे प्रतिपक्ष को बड़े दायरे में व्यूह-बद्ध करने में बड़े ही कुशल हैं। थोड़ी ही देर में जब वे 'स्व' पक्ष की ओर मुड़ते हैं तो बात स्पष्ट हो जाती है। वातावरण को अनुकूल बना लेना उनके बायें हाथ का खेल है। उनकी यह व्यूहरचना विरोधियों और अनुयायियों को अलग-अलग ढंग से प्रभावित करे तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

शुक्ल जी नीरस विवेचक नहीं थे। बौद्धिक विवेचन में रागात्मकता पैदा करने में वे सिद्धहस्त हैं। वे पक्षधर अवश्य हैं। यही कारण है कि कुछ लोग उनसे असहमत, अशान्त यहाँ तक कि क्रुद्ध तक हो जाया करते हैं। परन्तु जिनमें तादात्म्य बुद्धि है, वे रागात्मक परितोष का अनुभव करते हैं। यही बात ना० सि० फड़के के निबंधों के साथ भी है। फड़के के कुछ आलोचक ऐसे भी हैं जो उनकी पक्षधरता की जबर्दस्त टीका करते हैं और कुछ अनुयायी उसके समर्थक भी हैं। लेकिन वि० स० खाण्डेकर के साथ ऐसा नहीं है। उनकी उपेक्षा करना किसी भी प्रबुद्ध पाठक के वश की बात नहीं।

शुक्ल जी ने प्राचीन शब्दावली में नवीन ज्ञान को बड़ी ही सफलता के साथ प्रस्तुत किया है। हिन्दी भाषा की निजी प्रकृति का सुन्दरतम निर्वाह सचमुच शुक्ल जी की अपनी विशेषता है। कोई भी यह समझ नहीं पाता कि उनका कौन सा वाक्य किस अंग्रेजी का अनुवाद है। उनका वाक्य संगठन किसी अग्रेजी या संस्कृत वाक्य रचना की अनुकृति नहीं है। उन्हें सभी भाषाओं के शब्द प्रिय हैं, केवल एक ही शर्त है कि वे शब्द उनके विचारों के साँचे में ढल कर निकले हैं। संस्कृत, अरबी, फारसी, अँग्रेजी, बोलचाल की भाषा या पारिभाषिक शब्द उनकी भाषा में स्वाभाविक गरिमा के साथ प्रतिष्ठित हैं। उनकी व्यंग्यमयीभाषा में सभी स्रोतों से आये हुए शब्दों की इन्द्रधनुषी जगमगाहट है। इसीलिए उनके निबंध संग्रह चिंतामणि भाग १, २ आज भी हिन्दी साहित्य में ही नहीं, वरन् आधुनिक भारतीय निबंध साहित्य में भी सपूर्ण प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं।

—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, वर्तक कालेज, बसई (थाना)
(महाराष्ट्र), पिन-४०१२०१

तुम हो हिन्दी के गंगाधर

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

हे सौम्य शुक्ल श्री रामचन्द्र!
तुम हो हिन्दी के गंगाधर॥

संस्कृत-संस्कृति के शील-शिखर,
औदार्य-शौर्य के हिम-चेतन।
कल्पना - भाव - पुष्पामण्डित,
चिन्तन - विवेक - प्रतिभा के घन।

तुम बरसे मानव - जीवन पर,
पावन वाणी के मधु-निर्झर!
हे सौम्य शुक्ल श्री रामचन्द्र!
तुम हो हिन्दी के गंगाधर॥

तुमने इतिहास लिखा उसका
जो सरस्वती जीवन-प्रवाह।
भारत की भाव-तरंगों की,
मिलती जिसमें प्रत्येक राह।

बह रही ज्ञान के हिमगिरि से,
भारती भरे ध्वनि में हर-हर।
हे सौम्य शुक्ल श्री रामचन्द्र!
तुम हो हिन्दी के गंगाधर॥

सिद्धों से वीरों-रसिकों तक,
हिन्दी - कविता की बही धार।
निर्गुण के गहन रहस्यों तक,
प्रभु की विभूति थी निराकार।

तुमने आलोचित किया सगुण
सत-शिव-सुन्दर से भर अन्तर!
हे सौम्य शुक्ल श्री रामचन्द्र!
तुम हो हिन्दी के गंगाधर!

—४३।८४, उत्तरी सुन्दरवास
उदयपुर (राज०) ३१३००१

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रचना-सूची
(काल-क्रमानुसार)

श्री उदयभान दुबे

⊙

अप्राप्य अप्रकाशित

(१) "हास्य विनोद" (प्रहसन), १८९६ ई०।
(२) पृथ्वीराज (नाटक), १८९७ ई०।
(३) संयोगिता स्वयंवर (नाटक)।

(सूचना स्रोत : रामचन्द्र शुक्ल (जीवन और कर्तृत्व)
लेखक : स्व० चन्द्रशेखर शुक्ल)

आचार्य शुक्ल द्वारा रचित एवं उनके जीवन काल में प्रकाशित पुस्तकें

१. बाबू राधाकृष्ण दास का जीवन चरित्र (जीवनी साहित्य), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९१३ ई०।

२. नागरी प्रचारिणी सभा का संक्षिप्त इतिहास, ५० पृष्ठों का यह अंग्रेजी निबंध १९१३ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित।
सूचना : स्व० चंद्रशेखर शुक्ल-"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल"; रामनरेश त्रिपाठी, 'कविता-कौमुदी' भाग-२, में शुक्ल जी का परिचय।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; १९२९ ई० (प्रथम संस्करण), कुल पृष्ठ ६८४।

४. काव्य में रहस्यवाद : साहित्य भूषण कार्यालय, वाराणसी, १९२९ ई०।
(बाद में यह निबंध चिंतामणि-२ में संकलित)।

५. विचार वीथि (निबंधों का संग्रह), इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३० ई०।
(मनोविकार संबंधी लेखों के साथ ही 'कविता क्या है?', 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र' तथा 'तुलसी का भक्ति मार्ग' लेखों का संग्रह। इन्हीं में कुछ और लेखों को जोड़कर चिंतामणि भाग-१, प्रकाशित)।

६. गोस्वामी तुलसीदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९३३ ई०, (प्रथम संस्करण)।

(तुलसी ग्रंथावली की भूमिका को ही संशोधित-परिष्कृत करके आलोचनात्मक पुस्तक का रूप दिया गया)।

७. हिन्दुस्तानी का उद्गम, नागरी प्रचारिणी सभा-काशी, १९३८ ई०।
(एक लघु पुस्तिका के रूप में प्रकाशित)।

८. चिंतामणि भाग-१, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३९ ई० (प्रथम संस्करण)।

९. हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित एवं प्रवर्द्धित संस्करण)।
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् १९९७ (१९४० ई०), पृष्ठ ८६२।

१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास (शोधित संस्करण)।
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् १९९७ (१९४० ई०),
पृष्ठ ६२३ (पंजाब संस्करण)।

आचार्य शुक्ल की दूसरों द्वारा संपादित पुस्तकें

१. सूरदास, संपादक-विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९४३ ई० (प्रथम संस्करण)।

२. चिंतामणि भाग-२, संपादक – विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, १९४५ ई०, (प्रथम संस्करण)।

३. रसमीमांसा, संपादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९४९ ई० (प्रथम संस्करण)।

४. मधुस्रोत (कविताओं का संग्रह), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९७१ ई० (प्रथम संस्करण)।

५. चिंतामणि भाग-३, संपादक नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-१, १९८३ ई० (प्रथम संस्करण)।

आचार्य शुक्ल द्वारा संपादित पुस्तकें

१. चंद्रावती या नासिकेतोपाख्यान, १९०६ ई०।
(बाबू श्यामसुन्दरदास ने शुक्ल जी से संपादित कराया और अपने नाम से छपवाया (सूचना—चन्द्रशेखर शुक्ल) किन्तु संपादन की योजना एवं योजना से सम्बद्ध धारणा बाबू साहब की ही थी।

२. तुलसीदास ग्रंथावली (भूमिका सहित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९८० (१९२३ ई०)।

३. जायसी ग्रंथावली (भूमिका सहित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९८१ (१९२४ ई०)।

४. भ्रमरगीत सार (भूमिका सहित), साहित्य सेवा सदन, वाराणसी, १९२५ ई० (इसकी भूमिका 'सूरदास' पुस्तक में संकलित)।

५. वीरसिंह देवचरित, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९२६ ई०। (केशवदास के ग्रंथ 'वीरसिंह देवचरित' के चौदहवें प्रकाशन का संपादन)। सूचना—सुधाकर पाण्डेय, 'आचार्य शुक्ल' के प्रतिनिधि निबंध'।

६. हिन्दी शब्दसागर (करीब ३०० पृष्ठों की भूमिका सहित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९२९ ई०। संपादन काल—१९०८-१९२७ ई० तथा भूमिका १९२९ जनवरी। यह भूमिका संशोधन परिवर्द्धन के साथ आगे चलकर 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के रूप में परिवर्तित।

७. भारतेन्दु साहित्य (१७ पृष्ठों की भूमिका सहित), पुस्तक भण्डार लहेरिया सराय, संवत् १९८५ (१९२८ ई०)।

८. अनुराग-बाँसुरी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००७ (१९५० ई०) (संपादक के रूप में दो लोगों का नाम है—रामचन्द्र शुक्ल तथा चंद्रबली पाण्डेय। शुक्ल जी मात्र इस योजना में शामिल थे। पुस्तक उनके निधनोपरांत श्री चंद्रबली पाण्डेय द्वारा तैयार हुई)।

आचार्य शुक्ल द्वारा लिखी गयी भूमिकाएँ और पुस्तक-परिचय

१. हिन्दी गद्य शैली का विकास—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९३० ई० (प्र० सं०), 'ग्रन्थ का परिचय'—रामचन्द्र शुक्ल।

२. शेष स्मृतियाँ—डॉ० रघुराज सिंह, प्रवेशिका—रामचन्द्र शुक्ल, १९३८ ई०। (शेष स्मृतियाँ की प्रवेशिका चिंतामणि-३ में संकलित)।

३. मानसरोवर और कैलास—श्री सुशीलचन्द्र भट्टाचार्य, अनुवादक—रामचन्द्र वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९३९ ई०, पुस्तक परिचय—रामचन्द्र शुक्ल।

४. विनय पत्रिका, (वियोगीहरि कृत टीका), साहित्य सेवा सदन, बनारस, 'परिचय'—रामचन्द्र शुक्ल, काशी, ५-१-१९२४ ई० (दस पृष्ठ)।

५. कुसुम संग्रह—बंग महिला, भूमिका—रामचन्द्र शुक्ल।

६. 'प्रेमघन सर्वस्व' (संपादित पुस्तक), भूमिका—रामचन्द्र शुक्ल।

अनूदित पुस्तकें

१. मैगास्थिनीज का भारतवर्षीय विवरण 'मैगस्थनीज इंडिका'—श्वानबक, १८९७, अनु०—रामचन्द्र शुक्ल (१५ पृष्ठों की भूमिका सहित), १९०६ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित।

२. प्राचीन भारत का एक शक राजा, अनु०—रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, जुलाई, १९१० ई०।

३. राज्य शिक्षा प्रबंध—श्रीमान राजा सर टी० माधव राव की पुस्तक 'माइनर हिंटेस'

अनुवाद—रामचन्द्र शुक्ल (६ पृष्ठों की भूमिका सहित), इंडिचन प्रेस, प्रयाग, १९१३ ई० (प्र० सं०)।

४. आदर्श जीवन—डब्ल्यू० एच० डैवेनपोर्ट ऐडम्स की 'प्लेन लिविंग एण्ड हाई थिंकिंग', का छायानुवाद। अनु०—रामचन्द्र शुक्ल (डेढ़ पृष्ठ का वक्तव्य सहित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९१४ ई० (प्रथम संस्करण)।

५. 'विश्व प्रपंच'—जर्मन वैज्ञानिक हैकल की पुस्तक 'रिडल् आफ द यूनिवर्स' का अनुवाद, अनुवादक—रामचन्द्र शुक्ल (१२६ पृष्ठों की भूमिका सहित) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९२० ई० (चिंतामणि-३ में संकलित)।

६. बुद्ध चरित—एडविन आर्नल्ड की 'लाइट आफ एशिया' का पद्यात्मक अनुवाद। अनुवादक—रामचन्द्र शुक्ल, ("काव्यभाषा" शीर्षक से करीब ३० पृष्ठों की भूमिका सहित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी १९२२ ई० (चिंतामणि-३ में संकलित)।

७. शशांक—राखालदास वंद्योपाध्याय के उपन्यास 'शशांक' (बँगला) का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक—रामचन्द्र शुक्ल (१३ पृष्ठों की भूमिका सहित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९२२ ई०।
(चिंतामणि-३ में संकलित)।

असंकलित मौलिक लेख (अंग्रेजी)

१. ह्वाट हैज इंडिया टू डू—"हिन्दुस्तान रिव्यू", ७ फरवरी, १९०७ ई०।
२. "द स्टेट आफ अ वर्नाकुलर"—"द इंडियन पीपुल" (इलाहाबाद), ६ जुलाई, १९०५।
३. आबजर्वेशन आन हिन्दी लिटरेचर—"द इंडियन पीपुल" (इलाहाबाद), २८ अगस्त, १९०५।
४. हिन्दी पुस्तकों की समीक्षाएं—"माडर्न रिव्यू"—१९०६-१९०८ के बीच 'एक्स' नाम से। (यह सूचना संदिग्ध एवं अप्रामाणिक है। 'माडर्न' 'रिव्यू' में इस बीच अनेक भाषाओं की 'पुस्तकों की अनेक समीक्षाएँ' 'एक्स' नाम से छपी हैं।)
५. हिन्दी एण्ड द मुसलमान्स—'द लीडर' (इलाहाबाद), १९ अप्रैल, १९१७।
६. 'नान-कोआपरेशन एण्ड द नानमर्कंटाइल क्लोसेस'—'एक्सप्रेस', बाकीपुर (पटना), १९२१ के दो अंकों में। (दस्तावेज (२१-२२) के शुक्ल विशेषांक, में आंशिक रूप में प्रकाशित)।

अनूदित-असंकलित लेख

१. भारत में हूण—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अगस्त, १९१९।
२. "अखंडत्व"—सर आलिवर लाज के एक निबंध का अनुवाद, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-१८, सं० ३-४, (सूचना—कृष्णदत्त पालीवाल 'जनसत्ता'—२२ जनवरी, १९८४)।

३. सदाचार और उसकी प्रगति—डॉ० ब्राउन के "फिलासफी आफ ह्यूमन माइण्ड" के आधार पर। अनुपलब्ध। (सूचना—कृष्णदत्त पालीवाल)।

४. "प्रगति या उन्नति : उसका नियम और निदान"—"हर्बर्ट स्पेंसर के 'प्रोग्रेस : इट्स ला एण्ड काजेज" का अनुवाद। अनुपलब्ध। (सूचना—कृष्णदत्त पालीवाल)।

पुस्तक-समीक्षा और सम्मति

१. "दुलारे दोहावली" पर शुक्ल जी की प्रशंसात्मक टिप्पणी। प्रकाशित—'सुधा', दिसम्बर, १९३४ ई०।

२ "रस कलस"—"हरिऔध", समीक्षक-आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रोफेसर, हिन्दू यूनीवर्सिटी, समीक्षा का शीर्षक—'स्वर्ण कलस' (दो पृष्ठों में)। प्रकाशित- 'प्रेमपत्र' विशेषाङ्क, अरुणोदय पब्लिशिंग हाउस, वर्ष ४-५, पूर्णाङ्क-५, संपादक- गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'। (नोट—इस विशेषाङ्क पर प्रकाशन-तिथि नहीं है)।

पेंम्फलेट

१. "हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध"—रामचन्द्र शुक्ल, सभापति, काशी नागरी प्रचारिणी सभा। मुद्रित—इं० प्रे० बनारस। (एक पृष्ठ का यह पैम्फलेट शुक्ल जी ने "हिन्दी" नामक पत्रिका के प्रकाशन के उपलक्ष्य में लिखा था। यह पत्रिका शायद १९३९-४० में नागरी प्रचारिणी सभा से निकली थी)।

पत्र

१. पं० केदारनाथ पाठक के नाम सात पत्र, संकलित—'त्रिपथगा' लखनऊ, १९५७ ई० पुनः "द्विवेदी युग के साहित्यकारों के कुछ पत्र"।—हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद।

२. राय कृष्णदास के नाम छः पत्र। संकलित—'दस्तावेज" २१-२२—शुक्ल विशेषाङ्क, गोरखपुर, १९८४।

३. रामबहोरी शुक्ल के नाम—एक पत्र—दस्तावेज, २१-२२। (कुछ अन्य लोगों के नाम भी पत्रों की संभावना है)।

साक्षात्कार

१. 'अभ्युदय'—प्रतिनिधि द्वारा। प्रकाशित—'अभ्युदय', ११ जून, १९३४।

अन्य असंकलित सामग्रियाँ

कहानी

१. "ग्यारह वर्ष का समय"—(मौलिक) "सरस्वती"—सितम्बर, १९०३।

लेख

१. भाषा का विस्तार, आनन्द कादंबिनी, १८९९ (?) यह शुक्ल जी का पहला लेख है। (सूचना—चंद्रशेखर शुक्ल)।

२. प्राचीन भारतीयों का पहनावा, सरस्वती, दिसम्बर, १९०२।
३. हुएन सांग, सरस्वती—जुलाई और अगस्त, १९०४ (दो किस्तों में)।
४. दुर्गावती, "आनन्द कादंबिनी", १९०५ (?)
(गोंड़वाने की रानी दुर्गावती पर ऐतिहासिक लेख।)
५. "मनस्ताप"—काशी प्रसाद जायसवाल के विवाद-संदर्भ में क्षमा याचना, प्रकाशित, सन् १९०५।
६. पारसीकों का इतिहास, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अप्रैल, १९०७—(सुधाकर पाण्डेय)। सरस्वती १९०७—(चन्द्रशेखर शुक्ल)।
७. महाराज कनिष्क, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सितम्बर, १९०९।
८. उत्तरी ध्रुव, ना० प्र० पत्रिका, अक्टूबर, १९०९।
९. बुद्धदेव की हड्डियाँ, ना० प्र० पत्रिका, अक्टूबर, १९०९।
१०. हेली का पुच्छलतारा, (हेली के जीवन पर खोजपूर्ण निबंध), नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १५ अक्टूबर, १९०९।
११. उर्दू राष्ट्रभाषा, ना० प्र० पत्रिका, दिसम्बर, १९०९।
१२. भाषा की उन्नति तथा हमारा ढंग, ना० प्र० पत्रिका, जनवरी, १९१०।
१३. जापानी खोज, ना० प्र० पत्रिका, फरवरी, १९१०।
१४. भारतीय शिल्पकला, ना० प्र० पत्रिका फरवरी १९१०।
१५. उर्दू साहित्य सम्मेलन, ना० प्रचारिणी पत्रिका, मार्च, १९१०।
१६. "पैसा" अखबार का आक्षेप, ना० प्र० पत्रिका, मार्च, १९१०।
१७. माटा खण्डहर, ना० प्र० पत्रिका, मार्च १९१०।
१८. मान्य भाषा, ना० प्र० पत्रिका, मार्च, १९१०।
१९. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, ना० प्र० पत्रिका, अप्रैल-मई, १९१०।
२०. बंगाल में उर्दू, ना० प्र० पत्रिका, जून, १९१०।
२१. एक लिपि विस्तार कान्फ्रेंस, ना० प्र० पत्रिका, जनवरी, १९११।
२२. हिन्दी में लिंग नियम, ना० प्र० पत्रिका, अप्रैल, १९११।
२३. हरिश्चंद्र समीक्षा, ना० प्र० पत्रिका, १९११।
२४. भाषा की शक्ति, ना० प्र० पत्रिका, जनवरी, १९१२।
२५. प्राचीन फारस का संक्षिप्त इतिहास, ना० प्र० पत्रिका (त्रैमासिक भाग-१, संवत् १९७७), १९२० ई०।
२६. गोस्वामी तुलसीदास और लोक-धर्म "माधुरी", श्रावण, १९२३।
(यह लेख मूल रूप में नहीं, विकसित रूप में "गोस्वामी तुलसीदास" पुस्तक में रखा गया। सूचना—चंद्रशेखर शुक्ल)।
२७. सभ्य संसार का भावी धर्म, "प्रताप", अगस्त-सितम्बर, १९२४।

२८. भारतेन्दु साहित्य, ना० प्र० पत्रिका, जनवरी, १९२८।
(संभव है, भारतेन्दु हरिश्चंद्र पर शुक्ल जी की यह समीक्षा उनके द्वारा संपादित पुस्तक "भारतेन्दु साहित्य" १९२८) की भूमिका ही हो।)

२९. गोस्वामी तुलसीदास (एक विवेचनात्मक निबंध)। (दो खण्डों—जीवन खण्ड और आलोचना खण्ड—में विभाजित यह निबंध आगरा विश्वविद्यालय की बी० ए० की परीक्षा का पाठ्य ग्रंथ था। सितम्बर, १९३२ की "माधुरी" में इस निबंध के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया छपी है जिसमें शुक्ल जी की तुलसी संबंधी समझ एवं विवेचना की कड़ी आलोचना हुई है।)

३०. "युग प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र", 'वीणा', सितम्बर, १९३५। (करीब ढाई पृष्ठों का यह लेख शुक्ल जी की फोटो के साथ छपा है। सम्भवतः यही लेख चिंतामणि भाग-१ में संकलित हुआ है)।

३१. हिन्दी की परंपरा, "हिन्दी"—वर्ष-१, अंक-४, मार्च, १९४१।
नोट : 'अन्य असंकलित सामग्रियों' में ५, २८, ३०, ३१ और ३२ के अलावा अन्य सूचनाएँ प्रायः स्व० चन्द्रशेखर शुक्ल की "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल" (जीवन और कर्तृत्व), तथा सुधाकर पाण्डेय की आचार्य शुक्ल के "प्रतिनिधि निबंध" पुस्तक पर आधारित है।

१४१, पूर्वांचल हॉस्टल, जे० एन० यू०
नई दिल्ली-११००६७

●

तुमने आलोचित किया सगुण
सत-शिव-सुन्दर से भर अन्तर!
हे सौम्य शुक्ल श्री रामचन्द्र!
तुम हो हिन्दी के गंगाधर!

—४३।८४, उत्तरी सुन्दरवास
उदयपुर (राज०) ३१३००१

●

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रचना-सूची
(काल-क्रमानुसार)

श्री उदयभान दुबे

⊙

अप्राप्य अप्रकाशित

(१) "हास्य विनोद" (प्रहसन), १८९६ ई०।
(२) पृथ्वीराज (नाटक), १८९७ ई०।
(३) संयोगिता स्वयंवर (नाटक)।

(सूचना स्रोत : रामचन्द्र शुक्ल (जीवन और कर्तृत्व)
लेखक : स्व० चन्द्रशेखर शुक्ल)

आचार्य शुक्ल द्वारा रचित एवं उनके जीवन काल में प्रकाशित पुस्तकें

१. बाबू राधाकृष्ण दास का जीवन चरित्र (जीवनी साहित्य), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९१३ ई०।
२. नागरी प्रचारिणी सभा का संक्षिप्त इतिहास, ५० पृष्ठों का यह अंग्रेजी निबंध १९१३ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित।
सूचना : स्व० चंद्रशेखर शुक्ल-"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल"; रामनरेश त्रिपाठी, 'कविता-कौमुदी' भाग-२, में शुक्ल जी का परिचय।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; १९२९ ई० (प्रथम संस्करण), कुल पृष्ठ ६८४।
४. काव्य में रहस्यवाद : साहित्य भूषण कार्यालय, वाराणसी, १९२९ ई०। (बाद में यह निबंध चिंतामणि-२ में संकलित)।
५. विचार वीथि (निबंधों का संग्रह), इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३० ई०। (मनोविकार संबंधी लेखों के साथ ही 'कविता क्या है?', 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र' तथा 'तुलसी का भक्ति मार्ग' लेखों का संग्रह। इन्हीं में कुछ और लेखों को जोड़कर चिंतामणि भाग-१, प्रकाशित)।
६. गोस्वामी तुलसीदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९३३ ई०, (प्रथम संस्करण)।

(तुलसी ग्रंथावली की भूमिका को ही संशोधित-परिष्कृत करके आलोचनात्मक पुस्तक का रूप दिया गया)।

७. हिन्दुस्तानी का उद्गम, नागरी प्रचारिणी सभा-काशी, १९३८ ई०।
(एक लघु पुस्तिका के रूप में प्रकाशित)।

८. चिंतामणि भाग-१, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३९ ई० (प्रथम संस्करण)।

९. हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित एवं प्रवर्द्धित संस्करण)।
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् १९९७ (१९४० ई०), पृष्ठ ८६२।

१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास (शोधित संस्करण)।
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् १९९७ (१९४० ई०),
पृष्ठ ६२३ (पंजाब संस्करण)।

आचार्य शुक्ल की दूसरों द्वारा संपादित पुस्तकें

१. सूरदास, संपादक-विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९४३ ई० (प्रथम संस्करण)।

२. चिंतामणि भाग-२, संपादक – विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, १९४५ ई०, (प्रथम संस्करण)।

३. रसमीमांसा, संपादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९४९ ई० (प्रथम संस्करण)।

४. मधुस्रोत (कविताओं का संग्रह), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९७१ ई० (प्रथम संस्करण)।

५. चिंतामणि भाग-३, संपादक नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-१, १९८३ ई० (प्रथम संस्करण)।

आचार्य शुक्ल द्वारा संपादित पुस्तकें

१. चंद्रावती या नासिकेतोपाख्यान, १९०६ ई०।
(बाबू श्यामसुन्दरदास ने शुक्ल जी से संपादित कराया और अपने नाम से छपवाया (सूचना—चन्द्रशेखर शुक्ल) किन्तु संपादन की योजना एवं योजना से सम्बद्ध धारणा बाबू साहब की ही थी।

२. तुलसीदास ग्रंथावली (भूमिका सहित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९८० (१९२३ ई०)।

३. जायसी ग्रंथावली (भूमिका सहित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९८१ (१९२४ ई०)।

४. भ्रमरगीत सार (भूमिका सहित), साहित्य सेवा सदन, वाराणसी, १९२५ ई० (इसकी भूमिका 'सूरदास' पुस्तक में संकलित)।

५. वीरसिंह देवचरित, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९२६ ई०। (केशवदास के ग्रंथ 'वीरसिंह देवचरित' के चौदहवें प्रकाशन का संपादन)। सूचना—सुधाकर पाण्डेय, 'आचार्य शुक्ल' के प्रतिनिधि निबंध'।

६. हिन्दी शब्दसागर (करीब ३०० पृष्ठों की भूमिका सहित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९२९ ई०। संपादन काल—१९०८-१९२७ ई० तथा भूमिका १९२९ जनवरी। यह भूमिका संशोधन परिवर्द्धन के साथ आगे चलकर 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के रूप में परिवर्तित।

७. भारतेन्दु साहित्य (१७ पृष्ठों की भूमिका सहित), पुस्तक भण्डार लहेरिया सराय, संवत् १९८५ (१९२८ ई०)।

८. अनुराग-बाँसुरी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००७ (१९५० ई०) (संपादक के रूप में दो लोगों का नाम है—रामचन्द्र शुक्ल तथा चंद्रबली पाण्डेय। शुक्ल जी मात्र इस योजना में शामिल थे। पुस्तक उनके निधनोपरांत श्री चंद्रबली पाण्डेय द्वारा तैयार हुई)।

आचार्य शुक्ल द्वारा लिखी गयीं भूमिकाएँ और पुस्तक-परिचय

१. हिन्दी गद्य शैली का विकास—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९३० ई० (प्र० सं०), 'ग्रन्थ का परिचय'—रामचन्द्र शुक्ल।

२. शेष स्मृतियाँ—डॉ० रघुराज सिंह, प्रवेशिका—रामचन्द्र शुक्ल, १९३८ ई०। (शेष स्मृतियाँ की प्रवेशिका चिंतामणि-३ में संकलित)।

३. मानसरोवर और कैलास—श्री सुशीलचन्द्र भट्टाचार्य, अनुवादक—रामचन्द्र वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९३९ ई०, पुस्तक परिचय—रामचन्द्र शुक्ल।

४. विनय पत्रिका, (वियोगीहरि कृत टीका), साहित्य सेवा सदन, बनारस, 'परिचय'—रामचन्द्र शुक्ल, काशी, ५-१-१९२४ ई० (दस पृष्ठ)।

५. कुसुम संग्रह—बंग महिला, भूमिका—रामचन्द्र शुक्ल।

६. 'प्रेमघन सर्वस्व' (संपादित पुस्तक), भूमिका—रामचन्द्र शुक्ल।

अनूदित पुस्तकें

१. मैगास्थिनीज का भारतवर्षीय विवरण 'मैगस्थनीज इंडिका'—श्वानबक, १८९७, अनु०—रामचन्द्र शुक्ल (१५ पृष्ठों की भूमिका सहित), १९०६ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित।

२. प्राचीन भारत का एक शक राजा, अनु०—रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, जुलाई, १९१० ई०।

३. राज्य शिक्षा प्रबंध—श्रीमान राजा सर टी० माधव राव की पुस्तक 'माइनर हिंटेस'

अनुवाद—रामचन्द्र शुक्ल (६ पृष्ठों की भूमिका सहित), इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९१३ ई० (प्र० सं०)।

४. आदर्श जीवन—डब्ल्यू० एच० डैवेनपोर्ट ऐडम्स की 'प्लेन लिविंग एण्ड हाई थिंकिंग', का छायानुवाद। अनु०—रामचन्द्र शुक्ल (डेढ़ पृष्ठ का वक्तव्य सहित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९१४ ई० (प्रथम संस्करण)।

५. 'विश्व प्रपंच'—जर्मन वैज्ञानिक हैकल की पुस्तक 'रिडल् आफ द यूनिवर्स' का अनुवाद, अनुवादक—रामचन्द्र शुक्ल (१२६ पृष्ठों की भूमिका सहित) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९२० ई० (चिंतामणि-३ में संकलित)।

६. बुद्ध चरित—एडविन आर्नल्ड की 'लाइट आफ एशिया' का पद्यात्मक अनुवाद। अनुवादक—रामचन्द्र शुक्ल, ("काव्यभाषा" शीर्षक से करीब ३० पृष्ठों की भूमिका सहित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी १९२२ ई० (चिंतामणि-३ में संकलित)।

७. शशांक—राखालदास वंद्योपाध्याय के उपन्यास 'शशांक' (बँगला) का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक—रामचन्द्र शुक्ल (१३ पृष्ठों की भूमिका सहित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९२२ ई०।
(चिंतामणि-३ में संकलित)।

असंकलित मौलिक लेख (अंग्रेजी)

१. ह्वाट हैज इंडिया टू डू—"हिन्दुस्तान रिव्यू", ७ फरवरी, १९०७ ई०।

२. "द स्टेट आफ अ वर्नाकुलर"—"द इंडियन पीपुल" (इलाहाबाद), ६ जुलाई, १९०५।

३. आबजर्वेशन आन हिन्दी लिटरेचर—"द इंडियन पीपुल" (इलाहाबाद), २८ अगस्त, १९०५।

४. हिन्दी पुस्तकों की समीक्षाएँ—"माडर्न रिव्यू"—१९०६-१९०८ के बीच 'एक्स' नाम से। (यह सूचना संदिग्ध एवं अप्रामाणिक है। 'माडर्न' 'रिव्यू' में इस बीच अनेक भाषाओं की 'पुस्तकों की अनेक समीक्षाएँ' 'एक्स' नाम से छपी हैं।)

५. हिन्दी एण्ड द मुसलमान्स—'द लीडर' (इलाहाबाद), १९ अप्रैल, १९१७।

६. 'नान-कोआपरेशन एण्ड द नानमर्कंटाइल क्लोसेस'—'एक्सप्रेस', बाकीपुर (पटना), १९२१ के दो अंकों में। (दस्तावेज (२१-२२) के शुक्ल विशेषांक, में आंशिक रूप में प्रकाशित)।

अनूदित-असंकलित लेख

१. भारत में हूण—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अगस्त, १९१९।

२. "अखंडत्व"—सर आलिवर लाज के एक निबंध का अनुवाद, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग–१८, सं० ३-४, (सूचना—कृष्णदत्त पालीवाल 'जनसत्ता'—२२ जनवरी, १९८४)।

३. सदाचार और उसकी प्रगति—डॉ० ब्राउन के "फिलासफी आफ ह्यूमन माइण्ड" के आधार पर। अनुपलब्ध। (सूचना—कृष्णदत्त पालीवाल)।

४. "प्रगति या उन्नति : उसका नियम और निदान"—"हर्बर्ट स्पेंसर के 'प्रोग्रेस : इट्स ला एण्ड काजेज" का अनुवाद। अनुपलब्ध। (सूचना—कृष्णदत्त पालीवाल)।

पुस्तक-समीक्षा और सम्मति

१. "दुलारे दोहावली" पर शुक्ल जी की प्रशंसात्मक टिप्पणी। प्रकाशित—'सुधा', दिसम्बर, १९३४ ई०।

२ "रस कलस"–"हरिऔध", समीक्षक–आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रोफेसर, हिन्दू यूनीवर्सिटी, समीक्षा का शीर्षक–'स्वर्ण कलस' (दो पृष्ठों में)। प्रकाशित-'प्रेमपत्र' विशेषाङ्क, अरुणोदय पब्लिशिंग हाउस, वर्ष ४-५, पूर्णाङ्क-५, संपादक-गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'। (नोट–इस विशेषाङ्क पर प्रकाशन-तिथि नहीं है)।

पैम्फलेट

१. "हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध"—रामचन्द्र शुक्ल, सभापति, काशी नागरी प्रचारिणी सभा। मुद्रित—इं० प्रे० बनारस। (एक पृष्ठ का यह पैम्फलेट शुक्ल जी ने "हिन्दी" नामक पत्रिका के प्रकाशन के उपलक्ष्य में लिखा था। यह पत्रिका शायद १९३९-४० में नागरी प्रचारिणी सभा से निकली थी)।

पत्र

१. पं० केदारनाथ पाठक के नाम सात पत्र, संकलित—'त्रिपथगा' लखनऊ, १९५७ ई० पुन: "द्विवेदी युग के साहित्यकारों के कुछ पत्र"।—हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद।

२. राय कृष्णदास के नाम छ: पत्र। संकलित—'दस्तावेज" २१-२२—शुक्ल विशेषाङ्क, गोरखपुर, १९८४।

३. रामबहोरी शुक्ल के नाम—एक पत्र—दस्तावेज, २१-२२।
(कुछ अन्य लोगों के नाम भी पत्रों की संभावना है)।

साक्षात्कार

१. 'अभ्युदय'—प्रतिनिधि द्वारा।
प्रकाशित—'अभ्युदय', ११ जून, १९३४।

अन्य असंकलित सामग्रियाँ

कहानी

१. "ग्यारह वर्ष का समय"—(मौलिक) "सरस्वती"—सितम्बर, १९०३।

लेख

१. भाषा का विस्तार, आनन्द कादंबिनी, १८९९ (?)
यह शुक्ल जी का पहला लेख है। (सूचना—चंद्रशेखर शुक्ल)।

२. प्राचीन भारतीयों का पहनावा, सरस्वती, दिसम्बर, १९०२।

३. हुएन सांग, सरस्वती—जुलाई और अगस्त, १९०४ (दो किस्तों में)।

४. दुर्गावती, "आनन्द कादंबिनी", १९०५ (?)
(गोंड़वाने की रानी दुर्गावती पर ऐतिहासिक लेख।)

५. "मनस्ताप"—काशी प्रसाद जायसवाल के विवाद-संदर्भ में क्षमा याचना, प्रकाशित, सन् १९०५।

६. पारसीकों का इतिहास, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अप्रैल, १९०७—(सुधाकर पाण्डेय)। सरस्वती १९०७—(चन्द्रशेखर शुक्ल)।

७. महाराज कनिष्क, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सितम्बर, १९०९।

८. उत्तरी ध्रुव, ना० प्र० पत्रिका, अक्टूबर, १९०९।

९. बुद्धदेव की हड्डियाँ, ना० प्र० पत्रिका, अक्टूबर, १९०९।

१०. हेली का पुच्छलतारा, (हेली के जीवन पर खोजपूर्ण निबंध), नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १५ अक्टूबर, १९०९।

११. उर्दू राष्ट्रभाषा, ना० प्र० पत्रिका, दिसम्बर, १९०९।

१२. भाषा की उन्नति तथा हमारा ढंग, ना० प्र० पत्रिका, जनवरी, १९१०।

१३. जापानी खोज, ना० प्र० पत्रिका, फरवरी, १९१०।

१४. भारतीय शिल्पकला, ना० प्र० पत्रिका फरवरी १९१०।

१५. उर्दू साहित्य सम्मेलन, ना० प्रचारिणी पत्रिका, मार्च, १९१०।

१६. "पैसा" अखबार का आक्षेप, ना० प्र० पत्रिका, मार्च, १९१०।

१७. माटा खण्डहर, ना० प्र० पत्रिका, मार्च १९१०।

१८. मान्य भाषा, ना० प्र० पत्रिका, मार्च, १९१०।

१९. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, ना० प्र० पत्रिका, अप्रैल-मई, १९१०।

२०. बंगाल में उर्दू, ना० प्र० पत्रिका, जून, १९१०।

२१. एक लिपि विस्तार कान्फ्रेंस, ना० प्र० पत्रिका, जनवरी, १९११।

२२. हिन्दी में लिंग नियम, ना० प्र० पत्रिका, अप्रैल, १९११।

२३. हरिश्चंद्र समीक्षा, ना० प्र० पत्रिका, १९११।

२४. भाषा की शक्ति, ना० प्र० पत्रिका, जनवरी, १९१२।

२५. प्राचीन फारस का संक्षिप्त इतिहास, ना० प्र० पत्रिका (त्रैमासिक भाग-१, संवत् १९७७), १९२० ई०।

२६. गोस्वामी तुलसीदास और लोक-धर्म "माधुरी", श्रावण, १९२३।
(यह लेख मूल रूप में नहीं, विकसित रूप में "गोस्वामी तुलसीदास" पुस्तक में रखा गया। सूचना—चंद्रशेखर शुक्ल)।

२७. सभ्य संसार का भावी धर्म, "प्रताप", अगस्त-सितम्बर, १९२४।

२८. भारतेन्दु साहित्य, ना० प्र० पत्रिका, जनवरी, १९२८।
(संभव है, भारतेन्दु हरिश्चंद्र पर शुक्ल जी की यह समीक्षा उनके द्वारा संपादित पुस्तक "भारतेन्दु साहित्य" १९२८) की भूमिका ही हो।)

२९. गोस्वामी तुलसीदास (एक विवेचनात्मक निबंध)। (दो खण्डों—जीवन खण्ड और आलोचना खण्ड—में विभाजित यह निबंध आगरा विश्वविद्यालय की बी० ए० की परीक्षा का पाठ्य ग्रंथ था। सितम्बर, १९३२ की "माधुरी" में इस निबंध के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया छपी है जिसमें शुक्ल जी की तुलसी संबंधी समझ एवं विवेचना की कड़ी आलोचना हुई है।)

३०. "युग प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र", 'वीणा', सितम्बर, १९३५। (करीब ढाई पृष्ठों का यह लेख शुक्ल जी की फोटो के साथ छपा है। सम्भवतः यही लेख चिंतामणि भाग-१ में संकलित हुआ है)।

३१. हिन्दी की परंपरा, "हिन्दी"—वर्ष-१, अंक-४, मार्च, १९४१।

नोट : 'अन्य असंकलित सामग्रियों' में ५, २८, ३०, ३१ और ३२ के अलावा अन्य सूचनाएँ प्रायः स्व० चन्द्रशेखर शुक्ल की "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल" (जीवन और कर्तृत्व), तथा सुधाकर पाण्डेय की आचार्य शुक्ल के "प्रतिनिधि निबंध" पुस्तक पर आधारित है।

१४१, पूर्वांचल हॉस्टल, जे० एन० यू०
नई दिल्ली-११००६७

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और गाँधीवाद

डॉ० विश्वभावन देवलिया

⊙ ⊙

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-साहित्य के द्विवेदी युग में एक शक्तिपीठ की भाँति सुस्थापित हैं। हमारी इस बीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी विशेषता भारत में राजनैतिक जागृति और सांस्कृतिक आन्दोलन का विकास है, जिसके मूल में भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता एक मूल उद्देश्य था। स्वतंत्रता के अभाव में देशवासियों की शिक्षा, संस्कृति, धर्म, साहित्य और भाषा पर खिचा हुआ पराधीनता का स्याह शामियाना, हीनता, स्वार्थ और विदेशी शासकों के अत्याचार की कनातें लगा रहा था। गुलामी के इस आल-जाल को छिन्न-भिन्न करके भारत को आजाद करने की पहिली और आखिरी शर्त लगाने वालों की, राष्ट्रीय स्वतंत्रता के निमित्त स्वार्थ त्यागियों, दूसरे शब्दों में लोकधर्म की दृष्टि रखने वालों की आवश्यकता थी।

इसी युगानुकूल लोक-प्रेरणा से आचार्य शुक्ल लोकधर्म के मार्ग पर अग्रसर हुए और उन्होंने 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में "भारत को क्या करना चाहिए" जैसा रोंगटे खड़े कर देने वाला लेख लिखा। इस लेख की भाषा अंग्रेजी थी। इस तरह के लेखन का कारण मिर्जापुर के अंग्रेज़ जिलाधीश के मातहत कार्यरत १९ वर्षीय नायब तहसीलदार रामचन्द्र शुक्ल की आहत लोकसाधना थी। सम्भवतः यहीं शुक्ल जी को लोकधर्म की दृष्टि मिली, यहीं मिली उन्हें अपनी सत्ता के लोकबद्ध ज्ञान की प्रेरणा। और तब त्याग-पत्र देकर उनका स्वाभिमान विदेशी सत्ता के समक्ष खम ठोककर डट गया और वे कह सके—"देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से ही सच्ची देशभक्ति या देशप्रेम की स्थापना होती है जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी सांस्कृतिक विशेषता के बल पर अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता—वह देशप्रेम का दावा नहीं कर सकता।" अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में अनेक स्थलों पर शुक्ल जी ने भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति में सहायक विचारों एवं धारणाओं की उपयोगिता, राष्ट्रीय-साहित्यिक परम्पराओं एवं राष्ट्रीय कवियों का विवेचन किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम को अंतर्राष्ट्रीय सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया तथा भारतीय स्वतंत्रता के ओजस्वी कवियों का गुणगान भी किया। परतंत्र जनता और अत्याचारग्रस्त राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों की दशा को ध्यान में रखकर ही उन्हें अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अकर्मण्यता और अवसाद के गीत गायक छायावाद और रहस्यवाद के कवियों का पाखण्ड असह्य था, किंतु कल्पना-लोक छोड़कर राष्ट्रीय समस्याओं पर एकाग्र ऐसे कवियों

की वे प्रशंसा भी करते हैं। स्पष्टतः शुक्ल जी का उद्देश्य राष्ट्रीय जागरण और साम्राज्यवाद से मुक्ति है। यह मुक्ति राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हैं। अतएव आचार्य शुक्ल का वास्तविक मूल्यांकन भारतीय नवजागरण एवं राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के सन्दर्भ में ही सम्भव है। आचार्य शुक्ल स्वयं व्यक्त करते हैं कि, "जनता की चित्तवृत्ति मुख्यतः राजनीतिक सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों द्वारा निर्मित होती है। इन परिस्थितियों में परिवर्तन आने पर जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन आता है और चित्तवृत्ति में परिवर्तन के साथ साहित्य में परिवर्तन आता है।"

स्थिरतापूर्वक विवेचन के लिए यहाँ कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं को स्मरण कर लेना अनावश्यक नहीं होगा। शुक्ल जी की साहित्य-साधना का युग "स्वतंत्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है" के सामाजिक अनुभव से उद्दीप्त राष्ट्रीय आन्दोलन का गाँधी युग है। गाँधी जी सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रीका कानूनी कार्य के लिए गये और १९०८ तक सत्याग्रह को एक धर्मयुद्ध घोषित कर तथा मानवीय मुक्ति के लिए 'सत्याग्रह' का सफल प्रयोग कर १९ दिसम्बर, १९१४ को भारत वापिस आ जाते हैं। सन् १८८४ में जन्मे रामचन्द्र शुक्ल जी का यही समय अर्थात् १९०१ से १९१२ का काल साहित्यिक साधना का काल है जिसमें उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ आती हैं। इन रचनाओं में उन्होंने समाजकल्याण एवं लोकमंगल के प्रयोजन की चर्चा की है। इसी समय २६ दिसम्बर, १९०७ को सूरत में हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन की प्रधान घटना गरम दल और नरम दल का अलगाव थी। शुक्ल जी यद्यपि कांग्रेस के सदस्य नहीं थे तथापि स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय एकता को आवश्यक मानते थे। इसलिए तत्कालीन पत्रिका 'आनन्द कादम्बनी' में प्रकाशित उनकी कविता 'फूट' का विशेष महत्त्व है जिसमें उन्होंने अपने अन्तर के दुःख को अभिव्यक्ति दी है। यदि वे कांग्रेस से प्रभावित नहीं होते तो अलगाव पर ऐसी दुःखभरी कविता नहीं लिखते—

> किन्तु आज बाइस वर्ष तक कितने झोंके खाती।
> अन्यायी को लज्जित करती न्याय छटा छहराती।।
> यह जातीय सभा हम सबकी समय ठेलती आई।
> हाय फूट! तेरे आनन में वह भी आज समाई।।

सन् १९१२ से १९२२ तक का समय शुक्ल जी की साहित्य-साधना का निर्माण काल है। इस बीच उनके मनोविकार सम्बन्धी तथा रसमीमांसा के निबंधों के साथ ही 'विश्व प्रपंच' उनकी प्रसिद्ध कृति लिखी गयी। अब तक महात्मा गाँधी भारत में राष्ट्रीय स्वतंत्रता अन्दोलन का नेतृत्व ले चुके थे। १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध तथा लेनिन के नेतृत्व में रूस की अक्टूबर क्रांति १९१७ में हो चुकी थी।

शुक्ल जी की प्रौढ़ वस्था की रचनाओं का समय १९२२ से १९३० तक का है जिसमें तुलसी तथा सूर पर लिखी कृतियों के साथ ही 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' एवं 'काव्य में रहस्यवाद' जैसी प्रसिद्ध कृतियाँ आती हैं। सन् १९३० तक भारत में गाँधी जी का सविनय

अवज्ञा आन्दोलन भी सक्रिय हो चुका था। इसके बाद का समय आचार्य शुक्ल के साहित्य-नियंता, आचार्यत्व एवं संरक्षक का काल है।

विवेच्य विषय की दृष्टि से यों तो उनका समग्र लेखन एवं कथन संदर्भ रूप में उपयोगी है, किन्तु समकालीन राष्ट्रीय एवं गाँधीवादी मानवीय जीवन के परिप्रेक्ष्य में 'रस मीमांसा', 'विश्व प्रपंच', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'काव्य में रहस्यवाद', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' एवं 'चिन्तामणि' अधिक प्रासंगिक हैं।

जैसा कि कहा गया है कि मुक्ति आन्दोलन के अश्व की वल्गा महात्मा गाँधी के हाथ में आ गयी थी अतएव देश महात्मा के द्वारा संचालित हो रहा था। स्वातंत्र्य समर में अहिंसा गाँधी जी का अमोघ शस्त्र था। सत्याग्रह की प्रयोगशाला से ही गाँधी जी ने अहिंसा के शस्त्र का संधान किया था। गाँधी के सत्याग्रह की आत्मशक्ति महाभारत के महान् वचन 'अहिंसा परमो धर्मः' का विनियोग है। मुण्डकोपनिषद ने प्राणिवध के विधान को सत्य से हीन माना है। छान्दोग्योपनिषद में गुरु अंगिरस ने अहिंसा के आदर्श पर बल दिया है। गौतम बुद्ध की पंच शिक्षाओं में प्रथम अहिंसा चौबीसों जैन तीर्थंकर हिंसा को अप्रशस्त घोषित करते हैं। चीन के लाओत्से अहिंसा का उपदेश देते हैं। प्लेटो ने हानिकर्त्ता को क्षमा की बात कह कर अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। हिब्रू मसीहाओं ने हिंसा पर अहिंसा को तरजीह दी है। ईसा ने दाहिने गाल पर थप्पड़ मारने वाले के समक्ष बायां गाल कर देने की बात कह कर अहिंसा का ही पक्ष लिया है। ईसा ने निष्क्रिय समर्पण की वकालत नहीं की। कुरान मुखरित है कि 'जो तुम्हारे प्रति क्रूरता का व्यवहार करता है, उसे क्षमा करो।' टालस्टाय का अहिंसा में दृढ़ विश्वास था। अमेरिका के हेनरी डेविड थारो ने गुलामी प्रथा के विरोध में अत्याचारी सरकार को टैक्स देने से जब इन्कार कर दिया था तो उसे कैद में डाल दिया गया था। जेल से छूटने के बाद थारो ने 'सविनय अवज्ञा के गुण' नामक अपना प्रसिद्ध निबंध टालस्टाय के पास भेजा जिसे पढ़कर टालस्टाय ने गाँधी जी के पास भेज दिया। गाँधी जी ने थारो से 'सविनय अवज्ञा' शब्द ग्रहण किया। थारो ने विवेकपूर्ण विरोध करने वाले को यह पद्धति अपनाने की सलाह दी थी जिसमें विश्व प्रेम की अनन्त संभावनाएँ छिपी थीं। इस पद्धति में थारो ने अहिंसा के आदर्श का प्रतिपादन किया था। गाँधी ने सविनय अवज्ञा की इसी अहिंसात्मक लोक संघर्ष की पद्धति द्वारा साम्राज्यवाद, जातीयतावाद और उपनिवेशवाद का विरोध किया।

इस बात को अनेक बार रेखांकित किया जाता है कि आचार्य शुक्ल लोकधर्म की स्थापना में टालस्टाय अथवा गाँधी जी के 'निष्क्रिय प्रतिरोध' का समर्थन नहीं करते। क्योंकि निष्क्रिय प्रतिरोध की प्रवृत्ति जनता की क्रांतिकारी भावना को रोकती है। ऐसा नहीं है कि शुक्ल जी भारतीय दर्शन और साहित्य में अहिंसा के विचार की परम्परा से अपरिचित थे। शुक्ल जी प्राचीन साहित्य और दर्शन के गंभीर अध्येता थे। आचार्य शुक्ल ने लोकधर्म का सिद्धान्त भारतीय दर्शन से ही लिया; जिसका आरम्भ वैदिक दर्शन से दिखाई पड़ता है। जैन और बौद्ध परम्पराओं की मान्यता लोकधर्म के रूप में ही अधिक है। लोकधर्म के इसी मूल तत्त्व को शुक्ल जी ने अपना साध्य धर्म बनाया है। महात्मा गाँधी और आचार्य शुक्ल दोनों के आदर्शों की

बुनियाद सनातन सिद्धान्त ही है। जहाँ तक टालस्टाय की निष्क्रिय प्रतिरोध की भावना का प्रश्न है शुक्ल जी उसे वैयक्तिक सिद्धान्त मानते हैं।

आचार्य शुक्ल लोकमंगल की साधना के लिए कोमल एवं कठोर अर्थात् प्रेम, उत्साह, करुणा, श्रद्धा-भक्ति, नम्रता, उदारता, क्षमा, समन्वय जैसे प्रवृत्यात्मक और क्रोध, घृणा, भय, ईर्ष्या, लज्जा-ग्लानि, शोक, ध्वंस जैसे निवृत्यात्मक साधन को भी उपयोगी मानते हैं। वे कहते हैं कि 'लोकधर्म' के पालनार्थ अनुचित साधन का प्रयोग आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।' शुक्ल जी स्वीकार करते हैं कि 'यदि किसी अत्याचारी का दमन सीधे न्यायसंगत उपायों से नहीं हो सकता तो कुटिल नीति का अवलंबन लोकधर्म की दृष्टि से उचित है।'

'न्यायसंगत उपाय' और 'कुटिल नीति' के संदर्भ में महात्मा गाँधी का सत्याग्रह, जिसे पूर्व में 'निष्क्रिय प्रतिरोध' कहा गया, केवल हिंसा से विरत नकारात्मक गुण नहीं हैं बल्कि अच्छे कार्य की दिशा में प्रेरित करने वाला सक्रिय गुण भी है। अहिंसात्मक प्रतिरोध का अर्थ ही एक सक्रिय और सशक्त क्रिया-पद्धति है। सत्याग्रह अत्यंत शक्तिवंतों का शस्त्र है जिसमें किसी भी रूप में हिंसा को स्थान नहीं है। निष्क्रियता तो गाँधीजी को असह्य थी। गाँधीजी की अहिंसा और सत्य का भव्य प्रासाद भारतीय लोकधर्म की त्यागमूलक भित्ति पर खड़ा हुआ है। स्वार्थ-त्याग का आधार प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों दर्शनों में मिलता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—'शुक्ल जी का यह दार्शनिक विपर्यय भारतीय अध्यात्म शास्त्र के लिए अन्यायपूर्ण हो गया है।' इस संदर्भ में रोमा रोलां ने कहा है 'गाँधी जी का प्राण सक्रिय प्रतिरोध, स्नेह, श्रद्धा और त्याग की भावना से धधकता हुआ सक्रिय प्रतिरोध है।' सत्याग्रह इसलिए भी निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं है क्योंकि यह मानवात्मा द्वारा प्राप्त वह उच्चतम शिखर है जिसकी प्राप्ति एक जीवन, एक पीढ़ी, एक शताब्दी अथवा एक कल्प में ही नहीं हो गयी बल्कि सत्य के अन्वेषण का आरंभ इतिहास के अरुणोदय से ही हुआ है। सत्याग्रह की शक्ति सदाचार है जिससे न्यायसंगत उपाय का जन्म होता है। गाँधी जी इस बात पर बल देते हैं कि 'मनुष्य का गौरव आत्मा की शक्ति के उच्च नियम का अनुसरण करने में है।' आचार्य शुक्ल अन्याय, अत्याचार और पशुबल का विरोध करते हैं और सौन्दर्य, शील तथा शक्ति को लोकोपयोगी मानते हैं। साथ ही सत्य, दम, अहिंसा, आज्ञा पालन आदि को सापेक्ष्य मूल्य मानते हैं। वह सापेक्ष्यता शील है और नियम शील का साधक है। इस शील-रक्षा का ही सम्बन्ध लोकधर्म से है।

समस्त धर्मों की एकता का सिद्धान्त गीता से महात्मा गाँधी और आचार्य शुक्ल दोनों ने ग्रहण किया है। गाँधी जहाँ 'सर्व-धर्म-समभाव' की बात कहते हैं वहीं शुक्ल जी ने लोक-मंगल के लिए सभी धर्मों की एकता' को अनिवार्य माना है। गाँधी जी समस्त प्रवृत्तियों को नैतिक आधार प्रदान करने वाले जीवन में ओतप्रोत धर्म के सिद्धान्त को विश्व मान्यता की कसौटी पर कसते हैं। शुक्ल जी धर्म को पारिभाषित करते हुए उसमें लोकमंगल का विधान मानते हैं। गाँधी जी कहते हैं—'धर्म की आत्मा एक है, परन्तु वह अनेक रूपों में प्रकट हुई है।' यहीं शुक्ल जी का विचार है कि 'धर्म का सामान्य लक्षण संसार के प्रत्येक सभ्य

जनसमुदाय में प्रतिष्ठित है।' आचार्य शुक्ल के अनुसार 'धर्म का सबसे उच्च विशुद्ध तथा सच्चा स्वरूप विश्वधर्म है जिसका सम्बन्ध मनुष्य मात्र की रक्षा से ही नहीं, वरन् कीट-पतंग मात्र की रक्षा से ही है।' आचार्य शुक्ल का लोकधर्म लोक की सीमाहीन व्याप्ति के अनुसार ही अत्यन्त व्यापक है जिसमें 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया' का अन्तरभाव निहित है। शुक्ल जी महात्मा गाँधी की विश्व-बन्धुत्व की भावना के निकट हैं। गाँधी कहते हैं कि 'बन्धुत्व मनुष्य मात्र के साथ ही नहीं, प्राणिमात्र के साथ होना चाहिए।' गाँधी जी समस्त विश्व को एक कुटुम्ब मानते हैं और सबके कल्याण में ही व्यक्ति के कल्याण को स्वीकार करते हैं। आचार्य शुक्ल जिसे लोक कल्याणकारी लोकधर्म कहते हैं।

हिन्दू चिन्तन में जीवन मुक्ति के तीन साधन—कर्म-ज्ञान-भक्ति माने गये हैं। शुक्ल जी ने कर्म-ज्ञान-उपासना के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं वे भारतीय दर्शन से ही अभिप्रेरित हैं। यहाँ वे गाँधी जी द्वारा कर्म-ज्ञान-भक्ति के संदर्भ में अभिव्यक्त विचारों से पृथक् नहीं हैं बल्कि दोनों में अत्यधिक साम्य है। गाँधी जी धर्म के रूप में ईश्वर का दर्शन करते हैं और 'निष्काम कर्मयोग' को हृदय का गुण मानते हुए सत्याग्रह में उसका विनियोग भी करते हैं। शुक्ल जी का धर्म-सौन्दर्य लोकोन्मुख है। वे कहते हैं—'अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी परम वीर का सच्चा सुख है।' तत्कालीन जरूरतों के सन्दर्भ में यह किसके 'अत्याचार का दमन' था? और 'क्लेश के शमन का उल्लास' था किसके चित्त में? निश्चित रूप से वह 'लोकोपकारी कर्म वीर गाँधी ही थे जिनके प्रभाव को शुक्ल जी अभिव्यक्ति दिए बिना नहीं रह सके हैं।

ज्ञान को शुक्ल जी अलौकिक मानते हैं। कर्म की व्यवस्था और बौद्धिक दक्षता के लिए वे शिक्षा का उद्देश्य अन्तःकरण की सभी शक्तियों का समान अभ्यास, संस्कार एवं विकास मानते हैं। गाँधी जी कहते हैं कि 'ज्ञान का अर्थ है सारासार विवेक' और विवेक को अक्षर ज्ञान का परिणाम मानते हुए गाँधी जी शिक्षा को 'सर्वाङ्गीण विकास का साधन' मानते हैं। यहाँ भी आचार्य शुक्ल महात्मा गाँधी द्वारा प्रस्तुत शिक्षा की मूल प्रेरणा से प्रभावित हैं। बाल मनोविज्ञान और सहज प्रवृत्तियों को संतुष्ट करने में असमर्थ विदेशी शिक्षा पद्धति की त्रुटि से गाँधी जी की भाँति शुक्ल जी भी परिचित थे इसलिए वे विदेशी भाषा के भी विरोधी थे। गाँधीजी राष्ट्रभाषा के प्रबल समर्थक थे और 'राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार को एक पुनीत राष्ट्रीय रचनात्मक कार्य' मानते थे। उनके निकट हिन्दी राष्ट्रीय एकता की सुदृढ़ कड़ी थी। राष्ट्रभाषा के बिना गाँधी जी राष्ट्र को गूंगा मानते थे और इस बात से दुःखी रहते थे कि अंग्रेजी के प्रति हमारे मोह के कारण ही देश की शक्ति और श्रम व्यर्थ हो जाता है।' भारत की सभी देशी भाषाओं और उनके साहित्य पर सर्वाधिक दबाव अंग्रेजी भाषा और साम्राज्यवादी अंग्रेजी संस्कृति का रहा है। शिक्षा के नाम पर अंग्रेजी भाषा का आतंक आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है। अंग्रेजी शासक इस बात को ठीक तरह जानते थे कि अंग्रेजी भाषा की संस्कृति भारत के युवा वर्ग को उसकी राष्ट्रीय सांस्कृतिक जमीन से काटने का सर्वाधिक सशक्त औजार है और यह औजार आज भी धारदार है। रामचन्द्र शुक्ल जैसे देशभक्त आचार्य की यह दृढ़

धारणा थी कि देशी भाषा में शिक्षा आवश्यक है और इसके बिना सारी शिक्षा अपूर्ण है, अधूरी है। अपने इतिहास ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है 'देशी भाषा पढ़कर भी कोई शिक्षित हो सकता है यह विचार उस समय तक लोगों का न था।' शुक्ल जी ने स्पष्ट किया कि 'अंग्रेजी जानने से हिन्दी की जानकारी नहीं हो सकती' और उन्होंने ऐसे अंग्रेजी पढ़े-लिखे लेखकों को फटकारा भी जो बिना मेहनत किये हिन्दी सेवा अथवा हिन्दी पर उपकार करने के लिए हिन्दी लेखक बनते थे पर अंग्रेजी का विद्वान् कहलाने में अधिक गौरव अनुभव करते थे। स्पष्टतः शुक्ल जी राष्ट्रीय शिक्षा, भाषा और साहित्य की युगीन समस्या के सन्दर्भ में तत्कालीन राजनीतिक चेतना से स्वाभाविक रूप में प्रभावित थे। शिक्षा के सन्दर्भ में भी गाँधी जी और शुक्ल जी के विचारों में साम्य देखा जा सकता है।

उपासना अथवा भक्ति के स्वरूप की व्याख्या में शुक्ल जी बहुत स्पष्ट हैं। वे 'भक्ति को धर्म की रसात्मक अनुभूति' मानते हैं जिसमें व्यक्ति के साथ ही लोक का भी कल्याण निहित है। शुक्ल जी गाँधी जी की ही भाँति उपनिषद के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के आधार पर जगत् को सत्य मानते हैं। गाँधी जी प्रार्थना का अर्थ उपासना, ईश्वर की स्तुति, भजन, कीर्तन, सत्संग, अन्तःध्यान और अन्तःशुद्धि बतलाते हुए उसे 'आत्मा की खुराक' कहते हैं इसलिए प्रार्थना को आत्मा और जगत् के लिए अधिक कल्याणकारी बतलाते हुए व्यक्त करते हैं कि 'भक्त को जगत् के समस्त जीव-जन्तु पर प्रेम रखना चाहिए।' तात्पर्य यह है कि गाँधी जहाँ प्रार्थना को आत्मा और जगत के लिए कल्याणकारी मानते हैं वहाँ शुक्ल जी उपासना में व्यक्ति कल्याण और लोककल्याण का संगम प्रतिपादित करते हैं। अपने लोकधर्म के इस तीसरे रागात्मक अवयव उपासना के प्रसंग में भी शुक्ल जी लोकधर्मी व्यक्ति को भक्ति का आलम्बन बनाकर उसमें व्यक्ति और लोक का सामंजस्य करते हैं।

"चिन्तामणि" के मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध मूल रूप से रस-व्याख्या की दृष्टि से लिखे गये थे, तथापि शास्त्रीय व्याख्या के बावजूद शुक्ल जी ने इन निबन्धों में समकालीन समस्याओं की आलोचना भी की है। चुभते हुए व्यंग्य के साथ ही मानवता, नीति और लोकधर्म पर उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रकाश डाला है जिससे राष्ट्रीयता का तत्त्व भी उसमें सम्मिलित हो गया है। यहाँ इन निबन्धों में से केवल एक क्रोध में व्यक्त शुक्ल जी के विचारों को गाँधी जी के आदर्शों के समतुल्य देख लेना पर्याप्त होगा।

शुक्ल जी क्रोध को प्रतिकार मात्र बतलाते हुए व्यक्त करते हैं कि 'क्रोध के वेग में उसके परिणाम का अज्ञान ही क्रोध का अंधापन है।' गाँधी जी कहते हैं कि 'अहिंसात्मक प्रतिरोध प्रत्येक स्थिति में प्रतिकार का सर्वोत्तम उपाय है।' गाँधी जी क्रोध को 'पागलपन' मानते हैं और इसलिए क्रोधी को इसका परिणाम भोगने के लिए सजग करते हैं। गाँधी जी 'क्रोध को अहिंसा का बैरी' कहते हैं। शुक्ल जी कहते हैं "दण्ड कोप का ही एक विधान है।" गाँधी जी 'क्षमा को दण्ड से अधिक पुरुषोचित' मानते हैं। शुक्ल जी क्रोध और बैर का भेद केवल कालकृत मानते हैं। गाँधी जी कहते हैं 'बैरभाव घोर अंधकार है।' शुक्ल जी स्पष्ट करते हैं—'बैर भाव उन्हीं प्राणियों में होता है जिनमें भावों के संचय की शक्ति होती है' और गाँधी जी 'संग्रह मात्र

को हिंसापूर्ण बतलाते हैं।' तात्पर्य यह है कि शुक्ल जी ने लोक कल्याण की व्यापक भावना के हितार्थ क्रोध का विधान चेतन सृष्टि के भीतर मात्र रक्षार्थ स्वीकार किया है जबकि गाँधी जी घोर-से-घोर अज्ञान को नष्ट करने के लिए क्रोध, द्वेष रहित कष्ट सहन को उपयोगी मानते हैं।

आचार्य शुक्ल जी भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक और पोषक थे। 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक अपनी कृति में उन्होंने भारतीय संस्कृति के चिन्मय स्वरूप और स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा के प्रयत्न को आवश्यक माना है तथा प्राचीन एवं नवीन के समन्वय में भी संस्कृति की अखण्ड परम्परा के प्रसार पर बल दिया है। सच्ची देशभक्ति के लिए शुक्ल जी देशबद्ध मनुष्यत्व का अनुभव अनिवार्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में 'जो व्यक्ति अपने माता-पिता, पास-पड़ोस के फूल-पौधे, लता-वृक्ष, अपने देश के रीति-रिवाज, पर्व, उत्साह, सभ्यता, संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि से प्रेम नहीं करता, जो अपने देश की रूप माधुरी पर मुग्ध नहीं हो सकता उसका प्रेम झूठा है आडम्बर है।'

कतिपय मार्क्सवादी आलोचक 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के संदर्भ में आचार्य शुक्ल को गाँधी जी की अहिंसात्मक क्रान्ति का विरोधी मानते हैं। दूसरी ओर ये ही लोग गाँधी जी और शुक्ल जी को एक पंक्ति में रख कर सामंती अवशेषों के वकालतकर्त्ता भी कहते हैं। कुछेक तो शुक्ल जी को स्पष्ट रूप से सामन्तवादी और ब्राह्मणवादी होने का आरोप भी लगाते हैं। जिन्हें सामंती अवशेष कहा गया है, वस्तुतः वे भारतीय जीवन, सभ्यता एवं संस्कृति के ऐसे अनुमोदित आदर्श हैं जिनका प्रयोग गाँधी जी ने दलित, पीड़ित मानवता के हितार्थ, 'अहिंसावाद' के रूप में और शुक्ल जी ने अपने 'लोक मंगलवाद' के लिए किया। एक ही युग में पनपी गाँधी की अहिंसात्मक और लेनिन की हिंसात्मक प्रवृत्तियों में से भारतीय परिस्थितियाँ अहिंसात्मक प्रवृत्ति के अनुकूल थीं। इसलिए हिंसात्मक क्रान्ति से आचार्य शुक्ल बिल्कुल प्रभावित नहीं थे। शुक्ल जी मार्क्सवादी समाज व्यवस्था को शोषित वर्ग की दुर्वृत्तियों के आधार पर स्थापित व्यवस्था मानते हैं। वे क्रूरों की हिंसावृत्ति और दुष्टों की ईर्ष्या से क्षुब्धता व्यक्त करते हैं। शुक्ल जी साहित्य में आयातित वादों, विचारों के अन्धानुकरण को साहित्यिक गुलामी मानते हुए 'दीर्घकाल व्यापिनी विश्वात्मक भाव सत्ता को साहित्य की आत्मा' सिद्ध करते हैं और इसलिए क्रान्ति को जीवन का अनित्य अंग घोषित करते हैं।

लेनिन ने अनेक बार साहित्य को क्रान्ति का साधन तथा जो कुछ प्रतिगामी है उसको नष्ट करने का शस्त्र कहा है। मार्क्सवादी, प्राचीन साहित्य को अनास्था की दृष्टि से देखते हैं। मार्क्सवाद विश्व के शोषित वर्ग को एक करके हिंसक क्रांति की राजनीतिक भूमिका पर स्थित है अतएव मार्क्सवादी समीक्षक शाश्वत सत्य को स्वीकार नहीं करता। आचार्य शुक्ल मार्क्सवादी साहित्य का खण्डन करके भारतीय संस्कृति की स्वतंत्र चेतना की रक्षा को महत्व देते हैं और वर्गविहीन समाज की स्थापना में विश्वास नहीं करते। समाज के विभिन्न वर्ग कभी मिट नहीं सकते अतएव वे मानते हैं कि साहित्य का कार्य समन्वयपूर्ण सुखावह सम्बन्ध स्थापित करना है तथापि उनके साहित्य में सामंतवाद का विरोध स्थान-स्थान पर

मुखरित है। डॉ० रामविलास शर्मा ने शुक्ल जी को घोर सामंत विरोधी स्वीकार करते हुए स्पष्ट किया है कि 'शुक्ल जी ने पूँजीवादी सभ्यता की कड़ी आलोचना की तथा मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्य परम्परा का समर्थन किया।'

स्पष्ट है कि गाँधी जी के क्रान्तिकारी निष्क्रिय प्रतिरोध, जिसे रोमा रोलां ने धधकता हुआ 'सक्रिय प्रतिरोध' कहा है, की आलोचना और शुक्ल जी को गाँधीवादी न मानने वाले लोग ऐतिहासिक विकास की सम्यक दृष्टि से विवेचन नहीं करते। न्यायसंगत बात यह है कि अशिक्षित अन्धकारग्रस्त भारतीय मनुष्य के लिए पराधीनता के वातावरण में सुधारवाद ही अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। १९१७ की रूसी-क्रान्ति के पश्चात् सन् १९२० से ही एकता और राष्ट्रभक्ति की जागृति के संदर्भ में भारतीथ समाज अहिंसावाद की ओर अधिक आकर्षित होता दिखाई देता है जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में गाँधी जी के नेतृत्त्व में देश-व्यापी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ।

साधनहीन भारतीय जनता को एक सूत्र में बद्ध कर उसमें राष्ट्रीय चेतना के प्रसार की गाँधीवादी सफलता को आचार्य शुक्ल नहीं देख पाये। स्वतंत्रता के तीन वर्ष पूर्व ही शुक्ल जी का निधन हो गया। अपने जीवन काल में भी न तो वे व्यक्तिगत रूप से जनसंगठन के लिए समाज के सम्पर्क में आये और न ही वे कोई राजनैतिक नेता थे। उनके सामाजिक सम्पर्क का माध्यम साहित्य था, परन्तु शुक्ल जी की विचार सरणि में परिवृत्ति के प्रभाव को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। गाँधी जी और शुक्ल जी एक ही जाति और एक ही युग के दो व्यक्तित्व हैं। डॉ० धर्मवीर भारती एक स्थान पर व्यक्तित्व का रहस्य उन दो खिले हुए फूलों से समझाते हैं जिनकी जड़ें एक हैं, धरती एक है लेकिन मिट्टी को व्यक्त करने का ढंग उनके बाहरी-रूप की तरह बिल्कुल विभिन्न हैं। गाँधी और शुक्ल में यदि कहीं अन्तर है तो इसी मूल भाव के कारण है अन्यथा डॉ० रामलाल सिंह के शब्दों में—'उस युग के व्यक्तियों में सबसे अधिक प्रभाव शुक्ल जी के ऊपर स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक, मालवीय, गाँधी तथा भारतेन्दु का पड़ा था।'

सत्यता यह है कि आचार्य शुक्ल को न तो सामन्तवादी कहा जा सकता है और न गाँधीवाद का विरोधी। एक दो शब्दों अथवा वाक्यों के आधार पर शुक्ल जी का लोकोपयोगी मूल्यांकन असंगत ही है। स्वयं शुक्ल जी के विचार से 'किसी कवि या लेखक को समग्र रूप से जानो, देखो और परखो, टुकड़ों में नहीं। जीवन और जगत् में जब तक गहरी रुचि नहीं होगी तब तक मूल्यांकन की कसौटी पर यथार्थवादी धार नहीं रखी जा सकती।'

कतिपय विचारक यह मानते हैं कि गाँधी और मार्क्स नदी के दो किनारों की तरह हैं जो कभी नहीं मिलते। मैं इस दृष्टान्त से सहमत नहीं हूँ। मेरा विश्वास है कि नदी जब सागर में मिलती है तब नदी के किनारे सागर के किनारे बन कर अनन्त जलराशि को अपने में समेटे सुरक्षित रखते हैं। नदी का जो लक्ष्य है जल की सुरक्षा का, वही सागर की सीमा है। गाँधी और मार्क्स दोनों का लक्ष्य मनुष्य की मुक्ति है। दोनों के विचार और साधन

भिन्न हैं। मार्क्स सामञ्जस्य विरोधी हैं जबकि अतीत और वर्तमान का सामञ्जस्य 'गाँधीवाद' में उपस्थित है। इसी सामञ्जस्य से कथा साहित्य में प्रेमचन्द का 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद प्रभावित' था। इसी सामञ्जस्य से आलोचना में आचार्य शुक्ल का 'लोकमंगलवाद' प्रभावित है। स्वयं शुक्ल जी स्वीकार करते हैं कि 'साहित्य समन्वय का मूल साधन माना गया है' और वह इसलिए कि 'समन्वय के बिना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं होती।'

—हिन्दी एवं भाषाविज्ञान-विभाग,
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

सम्मेलन और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डॉ० त्रिवेणीदत्त शुक्ल

⊙ ⊙

किसी देश का उत्थान-पतन उसके भाषा तथा साहित्य पर निर्भर है, यह बात स्पष्ट है। भाषा एवं साहित्य के बिना राष्ट्रोन्नति की आशा करना स्वप्न-समृद्धि-समान है; क्योंकि कोई भी जाति विचारों में परिपक्वता प्राप्त किये बिना उन्नति नहीं कर सकती और विचारों में परिपक्वता तभी हो सकती है, जब उसकी स्वतः अपनी भाषा हो। कारण यह है कि धारणा शक्ति और मेधा शक्ति उनकी प्रकृति के अनुसार होती है। विचारानुकूल ही प्रकृति और प्रकृत्यानुकूल ही विचार बनते हैं। विचार और भाषा का अभिन्न सम्बन्ध है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अपेक्षित है कि हिन्दी भाषा एवं साहित्य की उन्नति के विषय में कई महत्त्वपूर्ण कार्य हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने किये हैं। विद्वान् लेखकों ने तो भाषा-साहित्य को अनेक प्रकार से अलंकृत कर तथा अनेक शैलियों का रूप देकर सजाया-संवारा; किन्तु हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने भाषा-साहित्य के साथ साहित्यकारों को भी सम्मानित-प्रतिष्ठित किया। हिन्दी भाषा तथा देवनागरी लिपि के संशोधित, परिवर्द्धित और परिमार्जित रूप का देश में ही नहीं विदेशों में भी महत्त्वपूर्ण प्रचार किया। हिन्दी के उन लेखकों को, जिनकी कृतियाँ सर्वोत्तम होती थीं, सम्मेलन 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' प्रदान कर, उन्हें प्रोत्साहित करता रहा। अनेक ऐसे विषय जिनकी हिन्दी में न्यूनता थी अथवा बिलकुल अभाव था, उनके निर्माण, प्रणयन एवं प्रकाशन के लिए न केवल प्रेरित किया वरन् ऐसे कार्यों: का संफल निष्पादन भी कराया। अपने साधनों के माध्यम से समस्त देश में हिन्दी भाषा एवं साहित्य का व्यापक प्रचार-प्रसार सम्मेलन और उसकी अंगभूत संस्थाओं ने ही किया है। प्रसंगतः सम्मेलन के सम्बन्ध में डॉ० श्यामसुन्दर दास का यह अभिमत विशेष रूप से उल्लेखनीय है:

"सम्मेलन हमारी बिखरी हुई शक्तियों को एक स्थान पर एकत्र करता है। आज हिन्दी प्रेमियों का अभाव नहीं है। जो सहायता आजकल प्राप्त होती है, वह पहले नहीं होती थी। जिस प्रकार छोटी-छोटी नदियों और नालों का जल एकत्र होकर एक सुदीर्घ काय नदी का रूप धारण करता है; बिखरी हुई किरणें एकत्र होकर जिस प्रकार प्रकाश फैलाती हैं, उसी प्रकार इस संस्था के लिए साधनों की आवश्यकता है। एकता, धर्म, स्वराज्य आदि बन्धन पारस्परिक प्रेम का प्रादुर्भाव कर सकते हैं। यूरोपीय देशों में उसके लिए जो साधन हैं, वे हमें प्राप्त नहीं हैं। एक भाषा ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा सब लोग

प्रेमबन्धन में बँध सकते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि मातृभाषा के लिए हृदय में भक्ति हो। यदि आप जानना चाहें कि सम्मेलन ने इस छोटी-सी अवस्था में कौन-कौन से कार्य किये हैं तो आपको विदित होगा कि जितना कार्य इस थोड़े समय में इस संस्था ने कर दिखाया है, उतना कार्य कर दिखाना किसी दूसरी संस्था के लिए कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है।"[1]

हिन्दी भाषा-साहित्य एवं देवनागरी लिपि के प्रचार-प्रसार की दृष्टि में रखकर प्रारम्भ में सम्मेलन ने अनेक संस्थाओं की स्थापना की थी। हिन्दी साहित्य की समस्त विधाओं की उन्नति का प्रयत्न करना, देवनागरी लिपि का देश भर में प्रचार करना, हिन्दी के लेखकों, सम्पादकों, प्रचारकों और सहायकों को समय-समय पर उत्साहित करने के लिए पारितोषिक, प्रशंसा-पत्र, मानपत्र, पदक, उपाधि आदि से सम्मानित करना हिन्दी साहित्य के प्रचार के लिए हिन्दी की उच्च परीक्षाएँ लेने का प्रबन्ध करना इन संस्थाओं की सम्बद्धता के महत्वपूर्ण उद्देश्य थे; जिनकी सम्पूर्ति के लिए सम्मेलन निरन्तर प्रयत्नशील रहा। इसके अतिरिक्त सम्मेलन ने अपने स्थापना-काल से अब तक अनेक अधिवेशनों के माध्यम से हिन्दी भाषा एवं देवनागरी लिपि के प्रचार-प्रसार में बहुविधि प्रयत्न किया। यह गौरव का विषय है कि सम्मेलन को राष्ट्र की महान् विभूतियों यथा महामना पं० मदनमोहन मालवीय, विश्ववंद्य महात्मा गाँधी, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, सेठ जमनालाल बजाज, डॉ० सम्पूर्णानन्द, श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, स्वामी श्रद्धानन्द सदृश महान् नेताओं का नेतृत्व प्राप्त हुआ था; साथ ही हिन्दी साहित्य की महानतम् विभूतियों यथा—श्री प्रेमघन, बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० भगवानदास, श्री हरिऔध, श्री माधवराव सप्रे, पं० पद्मसिंह शर्मा, श्री रत्नाकर, श्री माखनलाल चतुर्वेदी, महापण्डित राहुल जी, श्री वियोगी हरि आदि विद्वानों का सान्निध्य प्राप्त था। सम्मेलन के अधिवेशन प्रायः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के समकक्ष होते थे। राष्ट्रभाषा को भारत के प्रत्येक अंचल में प्रचारित करने की अटूट निष्ठा लेकर राष्ट्रभक्त मिशनरी भाव से इन अधिवेशनों में आते थे।

स्मरणीय है कि सम्मेलन के अधिवेशनों की एक विशिष्ट गौरवशाली परम्परा रही है और यह सुखद संयोग की बात है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उन अधिवेशनों से अनेक रूपों में जुड़े रहे।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन का कार्य काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अहाते में एक बड़े मंडप के नीचे सोमवार, तारीख १० अक्टूबर, १९१० को दिन के ११-३० बजे प्रारम्भ हुआ था। सब महाशयों के यथा स्थान बैठ जाने पर स्वागतकारिणी समिति के सभापति राय शिवप्रसाद ने सभापति का आसन ग्रहण किया। बाबू हरिदास माणिक ने

---

१. मेरी आत्म कहानी : डॉ० श्यामसुन्दर दास, इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग, प्रथम संस्करण सन् १९४१, पृ० १९२।

सुन्दर स्वर में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल रचित निम्नलिखित मंगलमय प्रार्थना की। उल्लेखनीय है कि सम्मेलन के शुभारम्भ के अवसर पर गाया गया पहला गीत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा विरचित था—

जय जय जगनायक करतार।
करत नाथ कर जोरि आज हम विनती बारंबार।
प्रात समीर सरिस भारत मँह हिन्दी करै प्रसार।।जय जय०।।
खोलै परसि उनीदे नयनन दरसावें संसार।
बुध हिय सागर बीच उठावै भाव तरंग अपार।।जय जय०।।
देश-देश के मृदु सुमनन सों भरि सौरभ के भार।
बगरावै यदि भूमि बीच जो हरै समाज विकार।।जय जय०।।
मेटै सब अज्ञान ताप करि शीतलता संचार।
विविध कला कौशल किसलय कल खदरावै प्रतिद्वार।।जय जय०।।[1]

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ग्वालियर अधिवेशन (सन् १९३३ ई०), दिल्ली अधिवेशन (सन् १९३४ ई०) एवं इन्दौर अधिवेशन (सन् १९३५ ई०) में साहित्य-परिषद् से जो अभिभाषण किया, वह निश्चय ही अभूतपूर्व था।

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का चौबीसवाँ अधिवेशन इन्दौर में १९३५ में हुआ था। उस समय सम्मेलन के मनोनीत सभापति महात्मा गाँधी थे। अधिवेशन में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पं० माखन लाल चतुर्वेदी, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री गुलाबराय, श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, श्रीमती कस्तूरबा गाँधी, श्रीमती लीलावती मुंशी, श्री सियारामशरण गुप्त प्रभृति विद्वान् एवं हिन्दी प्रेमी सुधी साधक समुपस्थित थे। साहित्य-परिषद् के सभापति के रूप में पं० रामचन्द्र शुक्ल का ऐतिहासिक अभिभाषण हुआ। वही अभिभाषण बाद में 'काव्य में अभि-व्यञ्जनावाद' शीर्षक से चिंतामणि भाग—२ में प्रकाशित किया गया। इस अभिभाषण में शुक्ल जी ने साहित्य-नियन्ता के रूप में भारतीय काव्य दृष्टि का आधार ग्रहण कर क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद का खण्डन किया है और यह सिद्ध किया है कि भारतीय रस-सिद्धान्त में विश्व-साहित्यस-मीक्षा के मानदण्ड की समालोचना निहित है। शुक्ल जी ने अपने उस अभिभाषण में वर्तमान हिन्दी-साहित्य की विभिन्न विधाओं—काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, समालोचना, निबन्ध, गद्य-काव्य की तत्कालीन उपलब्धियों एवं प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन किया है। उन्होंने उस समय की साहित्यिक प्रवृत्तियों के गुण-दोषों का जहाँ एक ओर विवेचन किया है, वहीं दूसरी ओर उनके स्वतन्त्र विकास का भी पथ निर्देशित कर, हर विधाओं के अभाव तथा दोषों को दूर करने का सुझाव भी दिया है। शुक्ल जी ने अपने उस ऐतिहासिक अभिभाषण में हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के स्वतन्त्र विकास पर सर्वाधिक महत्त्व प्रकट करते हुए देश की

---

१. प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, काशी—कार्य विवरण—पहिला भाग, पृ० १-२।

स्वतन्त्रता में सहायक सामाजिक जीवन-वृत्तियों और साहित्यिक प्रवृत्तियों का बलपूर्वक समर्थन किया है।

शुक्ल जी में शिव संकल्प के सत्व सन्निहित थे। आत्म सम्मान तथा स्वावलम्बन उनके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग थे। इसीलिए उन्होंने धनलिप्सा के वशीभूत होकर कभी भी आत्म गौरव का हनन नहीं किया। एक बार की बात है, शुक्ल जी फटी धोती पहने हुए थे। इस पर उनकी पत्नी ने विनोद भाव से ही कहा कि कहीं आप अच्छी नौकरी कर लें, जिससे इस प्रकार का दैन्य-जीवन-यापन न करना पड़े। शुक्ल जी बरस पड़े और गर्वोन्नत भाव से पत्नी को जवाब दिया—

"चीथड़े लपेटे चने चाभेंगे चौखट पर,
चाकरी करेंगे नहीं चौपट चमार की।"

वस्तुतः आत्म सम्मान का यही भाव विकसित होकर उनके हृदय में भारतीय शिक्षा, भारतीय-संस्कृति तथा भारतीय दर्शन के प्रति इतना संपृक्त हो गया कि वे विदेशी साहित्य सिद्धान्तों के प्रति कभी भी झुके नहीं। पाश्चात्य समीक्षा के अनुयायी नये आलोचकों पर व्यंग्य करते हुए इन्दौर अधिवेशन के ही अपने अभिभाषण में शुक्ल जी ने कहा है कि—"वर्तमान हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कुछ लोग तो ऐसे हैं जो लक्षणों की पुरानी लकीर से जरा भी इधर-उधर होने की कल्पना ही नहीं कर सकते। बेचारे नवीनतावादी अभी कलाबाजी कर रहे हैं, उन्हें बिलायती समीक्षा-क्षेत्र के उड़ते हुए लटकों की उद्धरणी और योरोप के ग्रन्थकारों की नाममाला जपने से फुरसत नहीं।"[1] वे अपने तत्कालीन सहकर्मी साहित्यकारों से विचारात्मक समीक्षा-प्रणाली को अपनाने का सुझाव देते हुए बड़े ही ओजस्वी स्वर में कहते हैं—"भाइयों, कुछ मरदानी समीक्षा भी होनी चाहिए।"[2]

'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' निबन्ध के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि शुक्ल जी का व्यक्तित्व सर्वत्र सांस्कृतिक तत्त्वों से सम्पन्न है। भारतीय संस्कृति में गहरी निष्ठा रखने के कारण ही वे साहित्यशास्त्र अथवा साहित्यिक दृष्टि को सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं। वे अपने समीक्षा में सर्वत्र भारतीय समीक्षा के चिन्मय स्वरूप एवं उसकी सर्वोत्तम विचार निधियों की रक्षा का प्रयत्न करते हैं। रस एवं अलंकार को पुरानी चीज कहकर हिन्दी-समीक्षा क्षेत्र में नवीनतावादी दृष्टि की शेखी बघारने वाले आलोचकों पर तीखा व्यंग्य करते हुए शुक्ल जी कहते हैं—"इनका नाम लेना फैशन के खिलाफ है। दिन में सैकड़ों बार 'हृदय की अनुभूति' चिल्लायेंगे पर रस का नाम सुन कर ऐसा मुँह बनायेंगे मानों उसे न जाने कितना पीछे छोड़ आये हैं। भले मानुस इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में 'रस' या 'भाव' कहलाती है। यदि जानते तो कोई नया आविष्कार समझकर 'हृदयवाद' लेकर

---

१. इन्दौर-अभिभाषण, पृ० ९३।

२. वही, पृष्ठ ४९।

सामने न आते।"[1] इससे यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि समीक्षा-सिद्धान्तों के क्षेत्र में शुक्ल जी स्पष्टवादी एवं पुनरुत्थानवादी दृष्टि रखते थे। उन्होंने परम्परावादी, नवोनतावादी, प्रभाववादी एवं व्याख्यात्मक आलोचकों की अस्वस्थकर प्रवृत्तियों का खण्डन करते हुए उन्हें सर्जनात्मक बनने का सुझाव तथा हिन्दी साहित्य को स्वतन्त्र ढंग से आगे बढ़ाने की प्रेरणा दी है।

इन्दौर अधिवेशन में दिये गये आचार्य शुक्ल के इस भाषण के सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि—"इसे भाषण का रूप कुछ वाक्यों ने आदि, मध्य और अन्त में जुड़कर दिया है। यदि यह वाक्यावली हटा ली जाय तो यह वर्तमान हिन्दी साहित्य का सिंहावलोकन करने वाला निबन्ध ही दिखाई देगा। वस्तुतः साहित्य की अन्य शाखाओं का अवलोकन तो इसमें नाम मात्र को है, कविता और काव्य क्षेत्र में फैले अभिव्यञ्जनावाद की विस्तृत मीमांसा ही प्रमुख है।"[2] अन्ततः यह कहने में हमें किंचित संकोच नहीं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह अभिभाषण अपने आप में अद्वितीय और अपनी गुरुता के कारण साहित्य जगत में विशेष महत्त्व रखता है।

शिमला सम्मेलन के पश्चात् सन् १९३९ में काशी में सम्मेलन का अठ्ठाइसवाँ अधिवेशन हुआ, जिसमें सभापति पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी तथा साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' थे। उस समय भी साहित्य परिषद् के स्वागताध्यक्ष के रूप में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का अभिभाषण हुआ था।

सम्मेलन से १९३८ ई० में 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' साहित्य-विषय के निबन्ध भाग पर दिया गया। उस समय श्री जैनेन्द्रकुमार जी (दिल्ली), बाबू गुलाबराय (आगरा), श्री सद्गुरुशरण अवस्थी (कानपुर), श्री गुरुप्रसाद टण्डन, (ग्वालियर), श्री सूर्यकान्त (लाहौर), डॉ० अमरनाथ झा (इलाहाबाद), श्री शिवप्रसाद पाण्डेय (इलाहाबाद), आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (शान्तिनिकेतन), श्री जनार्दन मिश्र (पटना) तथा डॉ० दीनदयाल गुप्त (लखनऊ) जैसे लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् निर्णायक थे।

तत्कालीन प्रधानमन्त्री डॉ० बाबूराम सक्सेना पुरस्कार के संयोजक थे। उस समय चिन्तामणि (पं० रामचन्द्र शुक्ल), साहित्यालोचन (डॉ० श्यामसुन्दरदास), हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (डॉ० रामकुमार वर्मा), हिन्दी व्याकरण (पं० कामताप्रसाद गुरु), तिब्बत में सवा वर्ष (महापण्डित राहुल सांकृत्यायन) एवं तुलसी-दर्शन (पं० बलदेवप्रसाद मिश्र) आदि गौरव-ग्रन्थ पुरस्कार के लिए प्रस्तुत किये गये थे। सम्प्रति उक्त समस्त ग्रंथों पर निर्णायकों की दी गयी सम्मतियों को निर्दिष्ट करना सम्भव नहीं है। विषय-विस्तार के भय से यहाँ पर केवल चिन्तामणि पर हुई कतिपय सम्मतियों को प्रस्तुत किया जाता है।

---

१. इन्दौर अभिभाषण पृ० ४३।

२. चिन्तामणि (दूसरा भाग) : दो बोल : आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

श्री जैनेन्द्रकुमार की दृष्टि में "चिन्तामणि पुस्तक में सूक्ष्म मनोभावों के मूल खोजने की वृत्ति है। साहित्य-कार्य में इस वृत्ति को मैं सबसे ऊँची मानता हूँ और यह काम पर्याप्त दायित्वशाली और निराग्रही भाव से पुस्तक में सम्पन्न हुआ है।"

बाबू गुलाबराय का मत है—"निबन्ध साहित्य में चिन्तामणि का विशेष स्थान है। इसमें साहित्य और मनोविज्ञान सम्बन्धी उच्चकोटि के निबन्ध हैं। मनोवैज्ञानिक लेखों में क्रोध, लोभ, प्रीति आदि मनोवृत्तियों का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण है। इन मनोवृत्तियों का साहित्य से भी विशेष सम्बन्ध है। इसलिए ये लेख भी साहित्यिक ही हैं। साहित्यिक लेखों में 'कविता क्या है' तथा 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' आदि लेखों में भारतीय पद्धति से काव्य के तत्त्वों का विवेचन है। प्राचीन सिद्धान्तों का एक नवीन दृष्टिकोण से स्पष्टीकरण किया गया है और एक प्रकार से उस परम्परा को उसी पद्धति पर थोड़ा आगे बढ़ाया गया है। इन निबन्धों में यही विशेषता है कि सूक्ष्म और ठोस विवेचन के साथ साहित्यिक निबन्धों में जैसा भाषा का चमत्कार चाहिए वह इनमें पूर्णतया वर्तमान है। इन्हीं कारणों से मैंने इसको प्रथम स्थान दिया है।"

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी की सम्मति है—"चिन्तामणि को मैं सबसे ऊँचा स्थान इसलिए देता हूँ कि उसके प्रबन्धों की विचारधारा नितान्त मौलिक और उसकी शैली सुगठित और परिपक्व है। इस पुस्तक के प्रत्येक प्रबन्ध में विषय की ऊँची और मौलिक चिन्तना के साथ-साथ आकर्षक और सुबोध व्याख्या मिलती है। ये बातें किसी दूसरी पुस्तक में नहीं मिलतीं।"

श्री गुरुप्रसाद टण्डन ने अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की है—"चिन्तामणि में पं० रामचन्द्र शुक्ल के भिन्न-भिन्न साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक विषयों पर लिखे गये सत्रह निबन्ध हैं। श्रद्धा-भक्ति, लोभ-प्रीति, ईर्ष्या, क्रोध, कविता क्या है, साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद आदि निबन्धों के शीर्षकों से ही पता चलता है कि लेखक कैसे जटिल और गूढ़ विषयों पर चिंतन करना चाहता है। इन विषयों पर लेख लिखना सहज नहीं है। कौतूहल या मनोरंजन के लिए यहाँ स्थान नहीं, यह तो तत्त्ववेत्ता और समीक्षक का क्षेत्र है। लेखक ने बड़ी ही विश्लेषणात्मक प्रणाली से उक्त विषयों का मौलिक निरूपण किया है।"

चिन्तामणि के अधिकांश निबन्धों में बुद्धितत्त्व प्रधान है, पर तुलसी का भक्ति मार्ग, रसात्मक बोध के विविध रूप, लोभ और प्रीति आदि निबन्धों में हृदय तत्त्व का भी सामञ्जस्य हुआ है। इन निबन्धों से लेखक के व्यापक पाण्डित्य, निरीक्षण शक्ति एवं मननशीलता का सहज ही परिचय हो जाता है। निबन्ध का गुण केवल विचार-शक्ति तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत भाषा शैली के प्रौढ़ विधान में भी ढूँढ़ा जाता है। चिन्तामणि की भाषा अत्यन्त परिष्कृत और तर्कपूर्ण है, व्यर्थ का शब्द या वाक्य कहीं नहीं है। पद-पद पर लेखक की व्यक्तिगत अनुभूति है जिसमें हमें प्रत्येक पंक्ति पर रुक-रुक कर आगे बढ़ना पड़ता है। यदि हमने पिछले विचारों को नहीं समझा तो आगे कुछ न समझ में आवेगा। इस प्रकार लेखक, पाठक को अपने साथ-साथ ले चलता है। यही आत्मीयता का गुण उत्कृष्ट निबन्धों का अनिवार्य अंग है।

विचारों की महानता के कारण चिन्तामणि की भाषा में प्रवाह की कमी कहीं-कहीं अवश्य है, पर विचारात्मक निबन्धों में लेखक भाषा के श्रृंगार पर उतना ध्यान नहीं देता, जितना प्रयुक्त शब्दावली के औचित्य पर। भाव के अनुकूल ही भाषा में परिवर्तन हुआ है। अवसर विशेष पर शुक्ल जी की शैली ओजस्विनी बन जाती है और उसमें तीव्र व्यंग्य का भी समावेश हो जाता है—

"लोभियों! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक तुम्हारा अन्याय विग्रहणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!!"

शुक्ल जी ने अपने निबन्धों की भाषा-शैली एवं विचार-पद्धति से हिन्दी गद्य को काव्य के कलात्मक रूप पर तो प्रतिष्ठित किया ही है, पर उनका सबसे अधिक उपकार आलोचना के क्षेत्र में नयी समीक्षा प्रणाली की उद्भावना में पाया जाता है। तार्किक पद्धति पर जो आलोचनाएँ आज निकल रही हैं, उस प्रवृत्ति को फैलाने का श्रेय शुक्ल जी को ही है। निबन्ध और आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने आचार्यवत् कार्य किया है। निबन्ध के क्षेत्र में 'चिन्तामणि' शीर्षस्थान पाने योग्य है।

'चिन्तामणि' और 'साहित्यालोचन' अपने-अपने क्षेत्र में श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं पर मौलिक चिन्तन एवं व्यक्तिगत अनुभूति के कारण चिन्तामणि ही अधिक प्रशस्त रचना है।"

श्री शिवाधार पाण्डेय ने अपने सम्मति-पत्र में लिखा है—"चिन्तामणि (रामचन्द्र शुक्ल कृत) में निबन्धों की प्रकृति का कहीं-कहीं अच्छा समावेश है।"

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अभिमत है कि "विचारों की मौलिकता की दृष्टि से श्री रामचन्द्र शुक्ल की पुस्तक 'चिन्तामणि' बहुत महत्त्वपूर्ण है।"[१]

—३५०, ए-बख्शीखुर्द, दारागंज
इलाहाबाद

●

१. सम्मेलन पत्रिका भाग–२७ संख्या १-२, भाद्रपद, आश्विन १९९६, पृ० १-१८।

आचार्य शुक्ल का भाषा-चिन्तन

डॉ० कृष्णकुमार गोस्वामी

⊙ ⊙

हिन्दी साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एक महान् गद्यकार, निबंधकार और आलोचक के रूप में प्रादुर्भाव हुआ। इसी के साथ ही भाषा के प्रति सजग और व्याकरण के प्रति सतर्क साहित्यकारों और विद्वानों में उनका स्थान अग्रणी है। उनकी हिन्दी भाषा को सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने साहित्य रचना में भाषा के संबंध में एक विशेष दृष्टिकोण देने का प्रयास किया। उनके भाषायी चिंतन के संकेत उनके सैद्धांतिक निबंधों एवं शास्त्रीय विवेचन के अतिरिक्त उनकी सूर, तुलसी और जायसी संबंधी व्यावहारिक आलोचना में मिल जाते हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में यदा-कदा भाषा के प्रति सजग तथा व्याकरण की ओर सचेत रहने के लिए सावधान किया। उन्होंने भाषा के शुद्ध और व्याकरणसम्मत होने पर अधिक बल दिया है तथा यह शिकायत भी की है कि साहित्यकार जहाँ साहित्य के अनेक रूपों में काफी प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं वहाँ व्याकरण की अशुद्धियों पर ध्यान नहीं दे रहे।[१] वस्तुतः भाषा के शब्दों का चयन करने, उनका निर्माण व्याकरण के आधार पर करने तथा उन्हें सुसंस्कृत बनाने में उन्होंने सराहनीय कार्य किया है। उन्होंने शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध कराना ही भाषा का प्रथम कार्य कहा है, क्योंकि जहाँ अर्थ होगा वहाँ उसकी योग्यता और प्रसंगानुकूलता अपेक्षित होगी।[२] शुक्ल की दृष्टि में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ-योग द्वारा अर्थात् तात्पर्यवृत्ति द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध और कल्पित इन चार प्रकार के अर्थों में से किसी एक का बोध कराती है जो बाधित, असंभव, असंगत या असंबद्ध होते हैं वहाँ वह केवल भाव या चमत्कार का साधन मात्र होती है, उसका वस्तुज्ञापन कार्य एक प्रकार से कुछ नहीं होता।[३]

आचार्य शुक्ल ने 'कविता क्या है' निबंध में काव्य में अगोचर बातों एवं भावनाओं को यथासंभव स्थूल गोचर रूप में अर्थात् मूर्तरूप लाने के लिए काव्य-भाषा की चार मुख्य विशेषताएँ बतायीं।[४] पहली, भाषा में लक्षणा-शक्ति का होना जरूरी है, क्योंकि भाषा में लक्षणा-शक्ति, जितनी प्रबल होगी उसमें भावों या अन्तर्वृत्तियों को उतना ही स्पष्ट एवं सजीव

---

१. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि (सं० १९७०), पृष्ठ २३९।

२. वही, पृष्ठ १६२।

३. वही, पृष्ठ १५९-६०।

४. वही, पृष्ठ १४०-४५।

आकार प्रदान किया जा सकेगा। "वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक अंतर्वृति के अनुरूप व्यंजना के लिए लक्षणा का बहुत कुछ सहारा कवि को लेना पड़ता है।" दूसरा, काव्य भाषा में जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं। इस प्रकार के शब्दों के चयन से व्यंजक, मर्मस्पर्शी और स्वाभाविक पदार्थों या क्रियाओं का गोचर रूप हमारे समक्ष आ सकेगा और हमारे हृदय पर मार्मिक प्रभाव डालेगा। इस प्रकार काव्य-भाषा विशिष्ट प्रकार की होती है। इसी वैशिष्ट्य के आधार पर शास्त्र की भाषा को शुक्ल जी ने काव्य की भाषा से अलग किया है। एक जाति संकेत-मूलक शब्दों से भरी होती है और दूसरी व्यक्ति संकेत मूलक। तीसरा, भाषा में सुन्दर वर्ण-विन्यास का होना आवश्यक है। "शुष्कोवृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" के स्थान पर 'नीरस तरुहित विलसति पुरतः' आदि वाक्य अधिक कर्ण-सुखद होंगे और नाद-सौष्ठव से काव्य का स्थायित्व बना रहेगा। शुक्ल जी कहते हैं कि "जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए कविता चित्र-विधा की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है। श्रुति-कटु मान कर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्त-विधान, लय, अंत्यानुप्रास आदि नाद-सौन्दर्य साधन के लिए ही हैं। भारतीय काव्य शास्त्र की प्राचीन परंपरा में ही वर्णों की कोमलता-कठोरता और विभिन्न वृतियों का विचार इस मूल तत्त्व को ध्यान में रख कर किया गया। भाव को अधिक तीव्र, और पुष्ट बनाने के लिए वर्णों का यह सूक्ष्म भेद अपनाना चाहिए। बहुत से पुराने कवि इस बात को भूल गए और वे नाद-सौष्ठव के निमित्त निरूपित वर्ण-विशिष्टता को इतनी दूर तक घसीट ले गए कि उनकी बहुत सी रचना बेडौल और भावशून्य हो गई। नाद-सौन्दर्य के इस दुरुपयोग को देख कर शुक्ल जी कुछ खिन्न तो अवश्य हुए लेकिन इसकी आवश्यकता को वे पूरी तरह समझते हैं। उनके शब्दों में "गोस्वामी तुलसीदास 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि' में भी झंकार का नाद-चित्र है। नाद का कविता की सौन्दर्य वृद्धि में निश्चत ही योगदान है। कविता में इससे पूर्ण मुक्ति न तो संभव है और न ही वह अपेक्षित है। चौथा, व्यक्तियों या स्थानों के रूप-गुण बोधक शब्दों का चयन प्रसंगानुसार होना चाहिए। 'गिरिधर', 'मुरारि', 'दीनबंधु' आदि शब्दों के प्रसंगानुकूल और साभिप्राय प्रयोग से काव्य में सौन्दर्य आ जाएगा।

काव्य भाषा को बिंबात्मक बनाने में अलंकार भी सहायक होते हैं। वास्तव में कविता की भाषा की सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ा कर दिखाना पड़ता है, कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के रूप-रंग से मिला कर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मवाली वस्तुओं को सामने ला कर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा फिरा कर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं। इनके सहारे से कविता अपना प्रभाव बहुत कुछ बढ़ाती है। कहीं-कहीं तो उनके बिना काम ही नहीं चल सकता। इसके साथ ही शुक्लजी ने यह भी स्पष्ट किया है कि ये साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य को भुला कर

इन्हीं को साध्य मान लेने से कविता का रूप कभी-कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता ही नहीं रह जाती है।[1]

शुक्लजी की व्यावहारिक आलोचना में उनकी साहित्यिक मान्यताओं के साथ-साथ उनके भाषायी चिंतन का सफल विनियोग मिलता है। तुलसी ग्रंथावली की भूमिका लिखते हुए शुक्लजी ने तुलसी की भक्ति-पद्धति, लोक-धर्म, तुलसी की काव्य पद्धति आदि पर चर्चा करते हुए तुलसी की भाषा का भी विवेचन किया है। तुलसी के भाषा पर असाधारण अधिकार की ओर ध्यान दिलाते हुए शुक्लजी कहते हैं कि तुलसी की-सी भाषा की सफ़ाई और वाक्य-रचना की निर्दोषता अन्य कवियों में नहीं मिलती। तुलसीदास ने वाक्यों में शैथिल्य नहीं आने दिया और मुहावरों का सटीक प्रयोग किया है। तुलसी और जायसी की भाषा में पद-विन्यास को लेकर उन्होंने यह अन्तर बताया है कि जायसी में ठेठ अवधी का माधुर्य है पर गोस्वामी जी की रचना में संस्कृत की कोमल पदावली का भी बहुत ही मनोहर मिश्रण है।[2] एक अन्य स्थान पर शुक्लजी ने सूरदास की भाषा से तुलसीदास की भाषा की तुलना करते हुए कहा है कि 'सूरदास की रचना में संस्कृत की कोमलकांत पदावली' और अनुप्रासों की वह विचित्र योजना नहीं है जो गोस्वामी जी की रचनाओं में। दोनों भक्त-शिरोमणियों की रचना में यह भेद ध्यान देने योग्य है और इस पर ध्यान अवश्य जाता है। गोस्वामी जी की रचना अधिक संस्कृत गर्भित है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इनके पदों में शुद्ध देशभाषा का माधुर्य नहीं है। इन्होंने दोनों प्रकार की मधुरता का बहुत ही अनूठा मिश्रण किया है।

शुक्लजी ने सूरदास को वात्सल्य और शृंगार का कवि मानते हुए उनकी वाग्विदग्धता का उल्लेख किया है। किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढ़े-सीधे ढंग, उन्हें मालूम थे। इसका सब से सुन्दर उदाहरण उनका 'भ्रमरगीत सार' है जिसमें गोपिकाएँ वाग्विदग्धता के बल पर ही उद्धव को निरुत्तर कर देती है। यह वाग्विदग्धता रसात्मक है कोरा वचन चातुर्य नहीं सूर की काव्य-भाषा पर मुग्ध होकर शुक्ल जी कहते हैं, "जयदेव "की देववाणी स्निग्ध पीयूषधारा जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरलता में परिणत हो कर मिथिला की अमराइयों में कोकिल कंठ से प्रकट हुई और आगे चल कर ब्रज के करील-कुंजों के बीच फैल मुरझाए मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सब से ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वाणी की थी।[3] सूर में चलती भाषा की कोमलता है, वृत्तिविधान और अनुप्रास की ओर झुकाव कम है। इससे भाषा की स्वाभाविकता में बाधा नहीं पड़ने पाई है। भावुक सूर ने अपना शब्द-शोधन दूसरी ओर दिखाया है। उन्होंने चलते हुए वाक्यों, मुहावरों और कहीं-कहीं कहावतों का बहुत अच्छा प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि

---

१. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ १४५।

२. रामचन्द्र शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास।

३. रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृष्ठ ९२।

सूर की भाषा बहुत चलती हुई और स्वाभाविक है।[१] सूर की भाषा में पुराने रूपों, अपभ्रंश के शब्दों आदि को देख कर शुक्लजी ने यह निष्कर्ष निकाला कि उस समय यह एक व्यापक काव्य-भाषा रही होगी। व्यापक काव्य-भाषा रही हो, चाहे न रही हो, सूर की भाषा व्यापक अवश्य है। जायसी की-सी अति-स्थानीयता उसमें नहीं है। तुलसीदास की तुलना में सूर की काव्य-भाषा में कहीं-कहीं जो शिथिलता दिखलाई पड़ती है, उसके बारे में शुक्लजी ने लिखा है कि "अंधे होने के कारण लिखे पदों को सामने रख कर काटने-छांटने या हरताल लगाने का उन्हें वैसा मौका न था जैसा तुलसीदास को।"[२] वास्तव में उन्होंने सूरदास की काव्य-भाषा पर विचार करते हुए उनकी जीवन संबंधी परिस्थितियों पर भी ध्यान दिया है।

शुक्लजी ने जायसी का महत्त्व इस बात पर बताया कि प्रेमगाथा की परंपरा के भीतर जायसी का नंबर सबसे ऊँचा ठहरता है। उन्होंने पद्मावत की लोककथा को जिस प्रकार पसंद किया है उसी प्रकार उसकी लोकभाषा को भी। उन्होंने जायसी की सरस भाषा, प्रभावपूर्ण वर्णन-शैली आदि की मुक्त कंठ से सराहना की है। उनके शब्दों में "जायसी की भाषा बहुत ही मधुर है, पर उसका माधुर्य निराला है। यह माधुर्य भाषा का माधुर्य है, संस्कृत का माधुर्य नहीं। वह संस्कृत की कोमलकांत पदावली पर अवलंबित नहीं। उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए है।"[३] वास्तव में तुलसीदास में संस्कृत और अवधी दोनों का माधुर्य है जबकि अवधी की खालिस, बेमेल मिठास के लिए 'पद्मावत' का उल्लेखनीय स्थान रहेगा। कवि की भोली-भाली और प्यासी भाषा तथा उसकी स्वाभाविक उक्तियों की दाद देते हुए शुक्लजी कहते हैं "केशों की दीर्घता, सघनता और श्यामलता के वर्णन के लिए सादृश्य पर जोर न दे कर कवि ने उनके प्रभाव की उद्भावना की है। इस छाया और अंधकार में माधुर्य और शीतलता है, भीषणता नहीं।"[४]

वास्तव में शुक्लजी काव्य-कला के समर्थक थे, कलाबाजी के नहीं। चमत्कारवादी कवियों के शब्दों के खिलवाड़ को वे काव्य-कला नहीं मानते, उसे उन्होंने कलाबाजी कहा है। इसी कारण रीतिकालीन काव्य की सराहना करने में उन्होंने आनाकानी की है। अपने इतिहास में उन्होंने केशव की भाषा की आलोचना करते हुए उन्होंने उसमें पदों और वाक्यों की न्यूनता अशक्त और फालतु शब्दों के प्रयोग आदि के दोष दिखलाए हैं। शुक्लजी ने सिद्ध किया है कि केशव की दुरूहता का कारण मौलिक भावनाओं की गंभीरता या जटिलता नहीं है, उनकी दुरूहता का मुख्य कारण उसकी भाषा का ऊबड़-खाबड़पन है, उसमें वाक्य-रचना आदि व्याकरण के साधारण नियमों का उल्लंघन है।"[५] देव की कवित्वशक्ति और मौलिकता

---

१. रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृष्ठ १११।

२. वही, पृष्ठ ११६।

३. रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ १९६-९७।

४. वही, पृष्ठ १९८।

५. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २०१-२०२।

को स्वीकार करते हुए भी शुक्लजी ने उसके अत्यधिक शब्दालंकार प्रेम उसकी कवित्व शक्ति के स्फुरण में बाधक माना। "अनुप्रास के आडंबर की रुचि बीच ही में उसका अंग-भंग कर के सारे पद्य को कीचड़ में फंसा छकड़ा बना देती थी।"[२] वास्तव में देव में लफ्फाजी बहुत है, थोड़े से अर्थ के लिए बहुत से शब्दों का खर्च है। उन्होंने शब्दों को काफी तोड़ा-मरोड़ा भी है। यह कृत्रिमता भाषा तक सीमित नहीं उनका प्रेम वर्णन भी काफी कृत्रिम है। लेकिन इसी काल के घनानंद, बोधा, ठाकुर आदि कवियों के भाषा-सौन्दर्य की उन्होंने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में आधुनिक काल के साहित्य का विवेचन करते हुए यदा-कदा भाषायी आधारों को भी लिया है। शुक्ल जी ने हिन्दी को संस्कृत के शब्द जाल से लादने का अत्यधिक विरोध किया और हिन्दी का विकास अपनी प्रकृति के अनुसार करने पर बल दिया। इसीलिए उन्होंने गोविन्दनारायण मिश्र जैसे लेखकों के समास अनुप्रास के गुथे शब्द गुच्छों पर व्यंग्य किया। इसके साथ ही उन्होंने भारतेन्दु युग के लेखकों में जो सरसता, सजीवता और स्वाभाविकता देखी तो उसका कारण यह बताया कि भारतेन्दु काल के सब लेखकों में अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी।[३] इससे उस काल में हिन्दी की शुद्ध साहित्योपयोगी रूप ही नहीं, व्यवहारोपयोगी रूप भी निखरा। इसके अतिरिक्त भाषा इस काल में सदासुख लाल के 'पंडिताऊपन', लल्लूलाल के 'ब्रजभाषापन' और सदल मिश्र के 'पूरबीपन' से मुक्त हो पाई। शुक्लजी ने छायावाद की पूर्ण मान्यता स्वीकार नहीं क्योंकि इन कवियों ने कहीं-कहीं उपमानों का ढेर लगा दिया, व्याकरण का ध्यान नहीं रखा लाक्षणिकता का जरूरत से ज्यादा प्रयोग करते हैं। इस प्रकार शुक्लजी ने जहाँ साहित्य रचना में भाषा के प्रति सजग और सचेत रहने के लिए एक दृष्टिकोण दिया वहाँ उन्होंने आलोचना की भाषा भी तैयार की। आलोचना की यह भाषा उन्होंने आलोचना की भाषा के संबंध में सिद्धांत बना कर नहीं, बल्कि आलोचना के निरंतर प्रयोग के द्वारा तैयार की थी।[१] इसीलिए उनकी भाषा का प्रवाह भी विषयानुकूल एवं प्रसंगानुकूल है। गंभीर विश्लेषण करते समय वह संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग करते हैं और जहाँ अपने विषय का स्पष्टीकरण करना चाहते हैं वहीं उनकी भाषा में बोलचाल के शब्दों की छटा दिखाई देती है। शुक्ल की भाषा अत्यधिक प्रौढ़ प्रांजल तथा तत्समप्रधान भाषा है और उन्होंने अपने साहित्य में भाव-व्यंजक वाक्यों का सुन्दर प्रयोग किया है। वह अपने भाषा-प्रयोग में व्याकरण के प्रति पूर्णतया सजग एवं सचेत रहे हैं जिससे उनकी भाषा की अभिव्यंजना शक्ति तथा प्रवाह-पूर्णता पर कोई रुकावट नहीं आई बल्कि वह अधिक निखर आई है।

शुक्लजी ने समालोचना के लिए ज्ञान और भाव दोनों पक्षों की अपेक्षा की है। इसीलिए

---

१. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २५६।

२. वही, पृष्ठ ४३०।

३. नंदकिशोर नवल : हिन्दी आलोचना का विकास, पृष्ठ १५७।

उन्होंने निर्णयात्मक आलोचना और प्रभावात्मक समीक्षा दोनों को एक साथ लेकर चलने के लिए कहा है।[1] लेकिन उनकी आलोचना का भाषावादी दृष्टिकोण भी साथ-साथ रहा है। वास्तव में भाषावादी आलोचक साहित्य को स्वायत्त शाब्दिक कला मानते हैं। कवि अपनी सौन्दर्यानुभूति को साकार बनाने के लिए भाषा का सहारा लेता है। इसी आधार वस्तु या तथ्य का बोध रसानुभूति नहीं है, उसके मार्मिक पक्ष की अनुभूति का स्वरूप ही काव्यानुभूति तथा उस अनुभूति को उत्पन्न करने वाला शब्द-विधान ही काव्य है।[2] यह स्पष्ट है कि यहाँ 'शब्दविधान' को कार्व्य कहा गया है जिसमें आधार वस्तु या तथ्य के मार्मिक पक्ष की अनुभूति उत्पन्न करने की क्षमता होती है इस दृष्टि से यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि साहित्य भाषा के माध्यम से और उसके गर्भ से उत्पन्न होता है। इस बात की पुष्टि हमें शुक्लजी के अन्य कथन से मिल जाती है—"उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक काव्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति किस प्रकार की व्यंजना करने वाला वाक्य है।"[3] इसकी व्याख्या करते हुए शुक्लजी कहते हैं "काव्य की रमणीयता किसमें रहती है? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में? इसका बेधड़क उत्तर यही है कि वाच्यार्थ में चाहे वह योग्य और उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न। मेरा यह कथन विरोधाभास का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं है, सोलह आने ठीक है। कोई रसात्मक या चमत्कार विधायक उक्ति लीजिए। उस उक्ति ही में अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही में, काव्य या रमणीयता होगी, उसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नहीं।"[4] इस प्रकार शुक्लजी ने उक्ति या वाच्यार्थ को अधिक महत्त्व दिया है लेकिन इससे आगे जाने की बात भी करते हैं। वे उक्ति को कविता मानते हैं 'उक्तिमात्र' को नहीं। वही उक्ति श्रेष्ठ है जो लक्षणा और व्यंजना को प्रेरित करती है। यही कारण है कि उन्होंने शब्द संस्कार पर बल दिया है शब्द-चमत्कार पर नहीं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि शुक्लजी के भाव-विवेचन के साथ-साथ उनका भाषावादी दृष्टिकोण भी उनके व्यावहारिक आलोचना की ही नहीं, सैद्धांतिक आलोचना की भी भूमिका स्पष्ट करता है।

—केन्द्रीय हिन्दी संस्थान
श्री अरविन्द आश्रम मार्ग,
नई दिल्ली-११००१६

●

---

१. रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि भाग २, पृष्ठ १०२।

२. रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा, पृष्ठ २७४।

३. रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि भाग १, पृष्ठ १७४।

४. वही भाग २, पृष्ठ १८२।

आचार्य शुक्ल का प्रकृति-प्रेम

डॉ० मुरारिलाल शर्मा 'सुरस'

⊙ ⊙

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी एक ओर काव्य के मर्मज्ञ सुधी आलोचक थे तो दूसरी ओर सहृदय एवं भावुक कवि भी थे। उनकी लिखी हुई समस्त काव्य-सामग्री आज प्राप्य नहीं है, फिर भी जो रचनाएँ उपलब्ध हैं उनमें उनके कवि-व्यक्तित्व का सरल-सहज रूप दिखाई देता है। इन रचनाओं के अध्ययन से यह भलीभाँति स्पष्ट होता है कि वन्य एवं ग्रामीण प्रकृति के प्रति उनका अनन्य अनुराग था। विन्ध्य के चरणों में प्रकृति की अनुपम क्रीड़ास्थली में बसे मिर्जापुर और बुंदेलखण्ड की पहाड़ियों में घूम-घूम कर शुक्ल जी ने बचपन में ही प्रकृति का सान्निध्य प्राप्त किया था। संस्कृत के भावुक भक्त एवं तेजस्वी विद्वान पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद अपने साथ अपनी शिष्य मण्डली को लेकर जंगल-पहाड़ों की ओर निकल जाते और कालिदास, भवभूति, माघ आदि के श्लोकों को सुमधुर स्वर से पढ़ाया करते थे। बालक रामचन्द्र भी प्रायः उनके साथ चले जाते थे; क्योंकि प्राकृतिक दृश्यों के प्रति उनका अनुराग था। मिर्जापुर के प्रति उनका यह आकर्षण यावज्जीवन बना रहा। अपनी मृत्यु के डेढ़ वर्ष पहले जब वे मिर्जापुर गये थे तब उन्होंने कहा था—"यद्यपि मैं काशी में रहता हूँ और लोगों का यह विश्वास है कि वहाँ मरने से मुक्ति मिलती है तथापि मेरी हार्दिक इच्छा तो यही है कि जब मेरे प्राण निकलें तब मेरे सामने मिर्जापुर का यही भूखंड रहे। मैं यहाँ के एक-एक नाले से परिचित हूँ—यहाँ की नदियों, काँटों, पत्थरों तथा जंगली पौधों में एक-एक को जानता हूँ।" 'हृदय का मधुभार' शीर्षक कविता में उन्होंने मिर्जापुर की 'रमई पट्टी' का उल्लेख करते हुए हरे-भरे खेतों के बीच 'लाल खपरैल के साँवारे धान' का वर्णन करके प्राकृतिक सुषमा की ओर संकेत किया है।

शुक्ल जी की रचनाओं के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि वे वन्य-प्रकृति के अनुरागी थे। ग्राम्य शोभाश्री के प्रति उनका सहज आकर्षण था। उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत गाँव का एक

---

१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल : सम्पादक प्रो० गुलाबराय, पृ० १४, (लेखक : पंडित केशवचन्द्र शुक्ल)।

चित्र—

ग्राम के सीमान्त का सुहावन, स्वरूप अब,
भासता है भूमि कुछ और रंग लाती हैं।
कहीं-कहीं किंचित् हेमाभ हरे खेतों पर,
रह रह श्वेत शुक आभा लहराती है॥
उमड़ी-सी पीली भूरी हरी द्रुम पुंज घटा,
घेरती है दृष्टि दूर दौड़ती ही जाती है।
उसी में विलीन एक ओर धरती ही मानों,
घरों के स्वरूप में उठी-सी दृष्टि आती है॥

गाँवों के क्रिया-कलापों एवं ग्राम-पथ का एक विशद चित्र—

गया उसी देवल के पास से है ग्राम-पथ,
श्वेतधारियों में नयी घास को विभक्त कर।
थूहरों से सटे हुए पेड़ और झाड़ हरे,
गोरज से धूम ले जो खड़े हैं किनारे पर॥
उन्हें कई गायें पैर अगले चढ़ाये हुए,
कंठ को उठाए चुपचाप ही रही हैं चर।
जा रही हैं घाट ओर ग्राम-वनिताएँ कई,
लौटती हैं कई एक घट औ कलश भर॥

प्रकृति-वर्णन का कोई भी अवसर मिलते ही उनकी कविता सदा जलधारा की भाँति अप्रतिहत गति से प्रवाहित होने लगती थी। वे मस्त होकर झूम उठते थे। उनके लिखे हुए गद्य में भी कविता-जैसा आनन्द मिलता है। एक उदाहरण—मैंने पहाड़ों पर या जंगलों में घूमते समय बहुत से ऐसे साधु देखे हैं जो लहराते हुए हरे-भरे जंगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी से ढलते हुए झरनों, चौकड़ी भरते हुए हिरनों और जल को झुक कर चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहंगों को देख मुग्ध हो गये हैं, काले मेघ जब अपनी छाया डाल कर चित्रकूट के पर्वतों को नील वर्ण कर देते हैं, तब नाचते हुए नीलकण्ठों (मोरों) को देखकर सम्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है।"[१]

प्रकृति-चित्रण में शुक्ल जी को यथातथ्यता प्रिय थी। वे मानव व्यापारों के साथ प्रकृति के विभिन्न रूपों का सामंजस्य स्थापित करते थे। उन्हीं के शब्दों में—"अनंत रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूपों में; कहीं रूखे, बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में; कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है; क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना

१. चिन्तामणि, भाग २, २००२ वि०, पृष्ठ ४-५।

खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिर साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है; जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून प्रसाद के सौरभ-संचार, मकरंद-लोलुप मधुप-गुंजार, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल-सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमबिन्दु-मण्डित मरकताभ-शाद्वल-जाल, अत्यंत विशाल गिरि शिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।[१]

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने प्रकृति के प्रति शुक्ल जी का दृष्टिकोण अर्थ-चेतना का माना है, आत्म-चेतना का नहीं। वे कहते हैं—"प्रकृति से उनका सम्बन्ध स्थूल है, सूक्ष्म संवेदनात्मक नहीं।"[२]

आचार्य शुक्ल रचित सबसे पहली कविता 'मनोहर छटा' सरस्वती में छपी। इसके बाद उन्होंने 'शिशिर-पथिक', 'बसंत-पथिक', 'भारत और बसंत' शीर्षक से प्रकृति सम्बन्धी मौलिक कविताएँ लिखीं। **'दि लाइट आफ एशिया'** का 'बुद्ध चरित' शीर्षक से उन्होंने पद्यानुवाद किया। उसमें प्रकृति के अनूठे दृश्य एवं ग्राम-जीवन के मनोरम चित्र सुमधुर ब्रजभाषा में प्रस्तुत किये।

शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत वसन्तश्री का वर्णन—

> लिये खरिहारन में सुथरे पथ पार पयार के ढूह लखात।
> मढ़े नव मंजुल मौरन सो सहकार न अंगन माँहि समात।
> भरी छवि सौं छलकाय रहे, मृदु सौरभ लै बगरावत बात।
> चरैं बहु ढोर कछारन में जहँ गावत ग्वाल नचावत गात।।

प्रो० भारतभूषण 'सरोज' "के विचार से— शुक्ल जी ने प्रकृति-चित्रण एवं ग्राम-चित्रण का अधिक अवसर देख कर ही **दि लाइट आफ एशिया** को अनुवाद के लिए चुना।"[३] एक उदाहरण—

> Softly the Indian night Sinks on the plains
> At full moon, in the month of Chaitra Shud,
> When mangoes redden and the Asoke buds,
> Sweeten the breeze, and Rama's birthday comes,
> And all the fields are glad and all the towns.

---

१. चिन्तामणि, भाग प्रथम, १९५६ ई०, पृ० १४९।

२. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, १९५२, सम्पा० प्रो० गुलाबराय, प्रो० विजयेन्द्र स्नातक, पृष्ठ २१०।

३. वही, पृष्ठ १९३।

अनुवाद—

निखरी रैन चैत पूनो की अति निर्मल उजियारी।
चारुहासिनी खिली चाँदनी पट पर पै अति प्यारी।।
अमराइन में धँसि अमियन को दरसावति बिलगाई।
सींकन में गुछि झूल रहीं जो मन्द झकोरन पाई।।
चुवत मधूक परसि भू जौ लौं 'टप-टप' शब्द सुनावैं।
ताके प्रथमें पलक भारत भर में निज की झलक दिखावैं।।
महकति कतहुँ अशोक-मंजरी कतहुँ-कतहुँ पुर मांहीं।
राम जन्म-उत्सव के अब लौं साज हटे हैं नाहीं।।

शुक्ल जी की दृष्टि में प्रकृति के सुन्दर-असुन्दर सभी प्रकार के दृश्यों के प्रति प्रेम-प्रदर्शित करने वाला ही सच्चा प्रकृति-प्रेमी है। वे स्वयं प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण के पक्षपाती थे। उसके नैसर्गिक रूप के प्रति उनके हृदय में असीम अनुराग था। यद्यपि आज का तथाकथित सभ्य मानव प्रकृति-जननी की सुषमा-मण्डित क्रोड़ को छोड़ कर नागरिक जीवन की चमक-दमक में लिप्त होता जा रहा है फिर भी प्रकृति के प्रति उसका सहज स्नेह छूट नहीं पाया। आज भी प्रकृति मानव की सहचरी है। शुक्ल जी के शब्दों में— हम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों के सम्बन्ध तोड़ कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रख कर एक घेरे में बन्द करते हैं और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं; गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्यावँ-म्यावँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है; कुत्ते घर की रखवाली करते हैं, और वासुदेवजी कभी-कभी दीवार फोड़ कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी चूने की कड़ाई की परवा न कर हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूंढ़ती हुई आती है और कहती है कि 'तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो?''[६]

विन्ध्य के समीपवर्ती लहलहाते खेतों की वसंतकालीन सुषमा के चित्रण में आचार्य शुक्ल जी की सूक्ष्म पर्यवेक्षण क्षमता को देखिए—

भूरी हरी घास आस-पास फूली सरसों है,
पीली-पीली बिन्दियों के चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार।।
गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग शशि-रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर-घार।

---

६. चिन्तामणि (पहला भाग), १९५६ ई०, पृष्ट १५०-१५१।

जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ-मण्डल से,
धुंधली-सी नीली नग-माला उठी धुआँधार।।

इसी प्रकार संतप्त ग्रीष्म का सजीव चित्र—

प्रखर प्रणयपूर्ण दृष्टि से प्रभाकर की,
ललक लपट भरी भूमि भभराई है।
पीवर पवन लोट-लोट धूलि-धूसरित,
झपट रहा है बड़ी धूम की बधाई है।
सूखे तृण-पत्र लिए कहीं रेणु-चक्र उठा,
घूर्णित प्रमत्त देता नाचता दिखाई है।
झाड़ और झपेट झेल झूमते खड़े हैं पेड़
मर्मर मिलित हूहू दे रहा सुनाई है।
बढ़ती चली आ रही है मण्डली हमारी,
वही धुन में हो चूर भरपूर पैर धुनती।
आसपास चौकड़ी न भरते कहीं हैं पैर,
डोलते न पंख कोई चोंच भी न चुनती।
उभरे किसी ढेले की छाया में बटोही कीट,
लेता है विराम वहीं लता-जाल बुनती।
सिर को निकाल तरु-कोटर से मैना एक
चुपचाप आहट हमारी बैठ सुनती।।

'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक निबंध में उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृत-साहित्य की परम्पराओं का उल्लेख करते हुए वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और माघ प्रभृति महाकवियों की प्रकृति-वर्णन-शैली की प्रशंसा की है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—'प्राकृतिक चित्रणों में शुक्लजी वाल्मीकि को अपना आदर्श मानते हैं।'' उन्होंने पद्मावत, रामचरितमानस और सूरदास आदि की कविताओं में से कवियों की सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण-शक्ति का दिग्दर्शन कराया है। साथ ही रीतिकालीन कवियों के प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण की संकीर्णता, विविधता तथा शब्द-चमत्कार-चातुरी की ओर यत्किंचित् संकेत किया है।

आचार्य शुक्ल ने प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन तथा काव्यगत यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण द्वारा रस-बोध की अनुभूति को स्वीकार किया है। उनके मतानुसार प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन में रसानुभूति की प्रक्रिया के अंतर्गत प्रकृति-दर्शन ही रति-भाव का आलम्बन है। वस्तुतः जड़ प्रकृति पर भावनाओं का आरोप करके कविगण उसे सजीव बना देते हैं। लक्षण-ग्रंथों में उद्दीपन के रूप में गृहीत प्रकृति भी सर्वत्र जड़ के रूप में ही चित्रित नहीं होती क्योंकि वह हँसती,

बोलती, सुनती, रूठती-सी भी वर्णित होती है। डॉ० गुलाबराय का कहना है कि "प्रकृति वर्णन में शुक्ल जी ने अर्थ ग्रहण की अपेक्षा बिम्ब-ग्रहण पर अधिक जोर दिया है। अर्थ-ग्रहण से केवल मानसिक बोध का और बिम्ब-ग्रहण से वस्तु का पूर्णरूप ज्ञान अभिप्रेत है। वस्तु से मतलब है उसको पूर्णरूप में परिस्थिति और उचित वातावरण में देखना, केवल नाम से परिचय प्राप्त कर लेना नहीं।"[१]

आचार्य शुक्ल प्रकृति का केवल सौम्य रूप ही नहीं देखना चाहते, वरन् भवभूति की भाँति उसका उग्र रूप भी देखना चाहते हैं। इतना ही नहीं, वे उसे सभी रूपों में देखना चाहते हैं। इस प्रकार प्रकृति के प्रति उनका अनुराग एवं साहचर्य भाव भारतीय एकात्म-भाव तक पहुँच जाता है।

उनके विचार से यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण के द्वारा रसानुभूति की स्थिति के समय प्रकृति कवि के रति-भाव का आलम्बन रहती है। इस प्रकार कवि, पाठक और श्रोता तीनों की दृष्टि से प्रकृति आलम्बन ठहरती है क्योंकि ऐसी स्थिति में कवि आश्रय के रूप में अपने को स्थित कर के उसका वर्णन तो करता ही है श्रोता और पाठक भी उनको पढ़ते समय या तो स्वयं आश्रय बन जाता है अथवा किसी आश्रय की कल्पना कर लेता है। जिस प्रकार दृश्य काव्य से रसानुभूति होती है उसी प्रकार पाठ्यकाव्य से भी होती है। वस्तुतः शुक्ल जी ने प्रकृति के लिए कविता के व्यापक क्षेत्र—नर-क्षेत्र, नरेतर बाह्य सृष्टि और यहाँ तक कि चराचर सृष्टि—को स्वीकार करने पर विशेष बल दिया है।

मनोविकार सम्बन्धी निबंधों में प्राकृतिक दृश्यों के प्रति व्यक्त किया गया उनका उल्लास दर्शनीय है—"यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँखें खोल कर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं।"[२] अनेक स्थानों पर व्यक्त उनके विचारों से स्पष्ट है कि वे प्रकृति से मार्मिक तथ्यों के ग्रहण के पक्ष में थे और उनमें सामंजस्य के भी पक्षपाती थे।

—अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,
डी० ए० वी० कालेज, जालंधर (पंजाब) १४४००८

●

१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १७३।
२. चिन्तामणि, भाग पहला, पृष्ठ ७८।

आचार्य शुक्ल और रीति—शृंगार-काव्य

डॉ० रामफेर त्रिपाठी

⊙

रीतिकालीन शृंगारी काव्य इसलिए और भी मधु-मधुर और मादक हो गया है क्योंकि उसमें बहुत गहरे उतरकर उन कवियों ने उसकी अनथक साधना की है। उनकी इस साधनात्मक गरिमा और महिमा का पता बतानेवाली आचार्य शुक्ल की ये उक्तियाँ ध्यातव्य हैं—"उदाहरणों की सरसता और रमणीयता की दृष्टि से यदि संस्कृत के समस्त लक्षण ग्रन्थों में उदाहृत छन्दों को आकलित किया जाय तो भी रीति कवियों की समकक्षता में वे न पहुँच सकेंगे।" स्पष्ट है कि शुक्लजी रीतिकाव्य की रमणीयता और मार्मिकता को संस्कृत काव्य से घटकर नहीं बढ़कर ही मानते हैं। कुछ हमारे वरिष्ठ प्रगतिशील आलोचक जब आचार्य शुक्ल के किये धरे का आकलन केवल साम्यवादी मूल्यों पर करने लगते हैं तो वे उनके काव्य विषयक ऐसे कथनों को नजरन्दाज कर जाते हैं जिसे किसी भी तरह ठीक नहीं माना जा सकता। यह सही है कि वह सामंती काल था। सामन्तों की रुचियाँ ही तत्कालीन मूल्यों की मानक थीं। प्रजा की अपनी रहनी और करनी थी। इन दोनों के बीच से कोई सबल मध्य वर्ग नहीं था। राजा और प्रजा दो ही वर्ग थे। साहित्य अपने समय की उपज होता है। रीतिकालीन काव्य इसी का सच्चा प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। उस काल के कवियों के आश्रयदाता राजे-महराजे, नवाब आदि उनकी रोजी-रोटी के आधार थे। वे उनको छोड़कर अन्यत्र कहीं पनाह पाते, यह सोचने की चीज है। अब के समीक्षक उनको लानत भेजते रहे, स्थिति को समझे बिना, यह बात दूसरी है। इस युग की कविता पर आश्रयदाताओं की रुचिकुरुचि हावी हो गयी थी, यह एक कविता की हित-हानि करने वाली बहुत चिंतनीय बात थी।

सभी राजा अपनी रुचि से एक ही प्रकार के थे कुछ एक अपवादों को छोड़कर। अभिप्राय यह कि उनकी रुचि प्रायः शृंगार तक सीमित थी। इसका समर्थन करते हुए आचार्य शुक्ल ने इसीलिए लिखा है, "इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।"

शृंगार और शास्त्रीयता इस काल की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ थीं। उस काल के अधिकांश कवियों ने इसमें अपना योग दिया। इन दोनों ही प्रवृत्तियों की प्रेरणा का आधार संस्कृत का साहित्यशास्त्र और काव्य था। रीतिकवियों ने शास्त्रकवि के रूप से जो साधना की उससे वे सफल नहीं हो पाये, यह निर्विवाद है। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास से अनेक कवियों के सन्दर्भ

में एतद्विषयक विवेचन में यह बात कही है। लेकिन शास्त्र और काव्य दोनों को साथ लेकर चलने वाले इस युग के कवियों को शास्त्रीयता की साधना से बड़ा लाभ हुआ जिसकी ओर लोगों ने कम ध्यान दिया है—"कुछ विषय की प्रेरणा से, कुछ पारस्परिक स्पर्द्धा से, कुछ आंतरिक स्फूर्ति से, कुछ सभा-कवि होने के नाते प्रशंसा पाने की कामना से, विषम, भाव और कला के क्षेत्र से, चेतना को मुग्ध करने वाले छन्दों का ढेर मोतियों की झलमलाती राशि के समान लग गया। मेरे विचार से यह रीतियुगीन शास्त्रीय काव्य-साधना का अप्रत्यक्ष लाभ था जिसकी ओर लोगों का ध्यान जितना मैंने जाना है, गया नहीं है। काव्य रचना को तत्कालीन कवियों ने एक पेशे के रूप से अपनाया था। उनके लिए यह एक तरह की नौकरी ही थी। नौकरी पाने के पहले जैसे कुछ अर्हता अर्जित करने की जरूरत होती है वैसे ये भी कविता करने की ट्रेनिंग हासिल करते थे—"सीख लीनो मीन मृग षंजन कमल नैन" वाला ठाकुर का कवित्व इस बात का गवाह है। आश्रय के अभाव में या श्रीमानों के अहंकार से पीड़ित होकर उनमें विरक्ति भाव भी जगता था। देव का "ऐसो जू हौं जानतो" वाला पूरा छन्द इसका साक्षी है।

भक्तिकाल से रीतिकाव्य का उद्घाटन करने वाले काव्याचार्य हैं—केशवदास। उनके ही काव्यशास्त्रीय ज्ञान के लिए नहीं वरन् उस काल के ढेर सारे कवियों के ऐसे ज्ञान के बारे में आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "वे संस्कृत के मम्मट, विश्वनाथ, भानुदत्त जैसे आचार्यों से प्रभावित ही नहीं, उनकी नकल करने वाले थे।" यह भी लिखा है कि इस नकल में या लक्षण ग्रन्थों में संस्कृत लक्षणों के अनुवाद में वे सफल नहीं हुए हैं। गद्य का अभाव भी ऐसे लक्षणकार कवियों की असफलता का एक बड़ा कारण है। शास्त्रीय दृष्टि से केशव में मौलिकता की कमी है और उनके काव्य पर संस्कृत काव्यों का प्रभाव है, ऐसा भी उन्होंने माना है। केशव और चिन्तामणि के बीच में पचास वर्षों का गैप है, इसलिए शुक्ल जी रीतिकाव्य की अटूट परंपरा चिंतामणि से मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बहुत पहले अपने 'वाङमय विमर्श' में रीति-रचनाओं की ऐसी सूची प्रस्तुत की है जिनका रचना-काल संवत् १६०० से १७०० के बीच में पड़ता है। इस समय की रचनाओं को उन्होंने प्रस्तावना काल के अन्तर्गत माना है। इसलिए वस्तुस्थिति के अनुसार भी अब केशव को रीतिकाव्य के प्रथम आचार्य के रूप में मान लिया गया है।

रीतिकालीन कविता श्रृंगार रस तक ही सीमित थी और उसका विषय-क्षेत्र भी बहुत संकुचित हो गया था। इस विषय में भी शुक्लजी ने लिखा है, "वाग्धारा बँधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी।" यह सही है कि श्रृंगार से सम्बन्धित भावकोणों को निहारने के लिए कवियों ने जो प्रयास किये वे बाद में भाव-साँचों के रूप में सामने आये और उनका वर्ण्य विषय ही नहीं, वरन् अभिव्यंजना पक्ष भी बहुत कुछ बँधा-बँधाया और पूर्ववर्णित से भिन्न नहीं था। इस काल की कविता के लिए यह खटकने वाली बात थी। एक तरह से कथ्य और शिल्प दोनों ही इतने सिमट गए थे कि किसी कविता को पढ़ कर उसके रचयिता की पहचान नहीं हो सकती थी। सब कुछ बँधी-बँधायी पद्धति पर वर्णित किए जाने के कारण कवियों का काव्य

व्यक्तित्व खो सा गया था। इसीलिए उन्होंने लिखा है कि "कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया।" कविता, इस प्रकार, बाहर-भीतर दोनों ओर से बहुत कुछ इतनी एक हो गयी कि व्यक्तिगत चेतना का उसमें कहीं पता नहीं था। इससे काव्य-गुण बढ़ा नहीं, घटा है। यह एक ह्रास का युग था। यह ह्रास हमारे तन-मन दोनों को गर्त में ढकेल दे रहा था। इसलिए भी व्यक्ति-व्यक्ति की पहचान मिटती जा रही थी। स्वाधीन-कुछ भी नहीं था तो कवियों में स्वाधीनता कहाँ से आती। स्वाधीन होकर समाज-हित-चिंतन करना कभी भी कोई मामूली बात नहीं थी। वे भी बेचारे अपने पेट के धन्धे में फँस कर दौलत से मदान्ध लोगों के पास जाते थे अपनी सारी व्यक्ति-चेतना को तिलांजलि दे कर। लोग कहेंगे कि भूषण स्वाधीन चेता थे, लाल भी और चन्द्रशेखर भी। अगर ये स्वाधीन चेता थे तो घनानन्द, ठाकुर, बोधा इनसे जरा भी कम स्वाधीन चेता नहीं थे, जिन्होंने स्वच्छन्द प्रेममार्ग को प्रशस्त किया।

चूंकि रीति काव्य का अधिकांश दरबारों की छाया-माया में लिखा गया इसलिए उसकी विषय-सामग्री राजदरबारों और उनके परिवेश से ही ग्रहण की गयी। जनसामान्य से सम्बन्धित जीवन का चित्रण उसमें नगण्य है। उनके दरबार की शोभा, उनके प्रासाद, उनकी रानियाँ, उनके जायज-नाजायज गुप्त-प्रकट प्रेम सम्बन्ध, उनके घोड़े-हाथी यहाँ तक कि उनके आठोयाम के वर्णन किसी-न-किसी बहाने कर दिए गए हैं। लेकिन ऐसे वर्णनों में कहीं-कहीं मर्यादा का जो उल्लंघन किया गया है उन्हें शुक्ल जी ने "रास-लीला के रसिक और नायिका भेदवाले कवि" नाम से संबोधित कर माफ नहीं किया है। शुक्लजी ने जायसी के प्रेम और रीति कवियों के प्रेम की तुलना करते हुए लिखा है "ऐसा प्रेम प्रिय को छोड़ किसी अन्य वस्तु का आश्रित नहीं होता। न उसे सुराही चाहिए, न प्याला, न गुंलगुली गिलमें, न गलीचा।" रीतिकालीन काव्य में वर्णित प्रेम का ढर्रा ही अलग था। उसकी अपनी अलग एक पहचान थी। वह प्रेम कितना ऊँचा या नीचा था, यह बात दूसरी है। उस प्रेम की पहचान बिहारी के इस दोहे से हो जाती है—

> जो न जुगति पिय मिलन की धूरि मुकुति मुँह दीन।
> जौ लहिये संग सजन तौ धरक नरक हूँ की न॥

रीतिकालीन कविता अपने बनावटीपन का शिकार हो गयी थी, ऐसा शुक्लजी स्पष्ट रूप से मानते हैं। इस बनावट से काव्य के सहज प्रफुल्लित स्वरूप में कभी आ जाती है, ऐसी उनकी मान्यता हैं। उन्होंने ऐसे अतिरंजित वर्णनों की जगह-बजगह जम कर खबर ली है। दरबारी मनोवृत्ति वालों को शृंगार के ऐसे अतिरंजित चित्र बहुत जायकेदार लगते होंगे क्योंकि दरबारी काव्य के संस्कार की पहचान 'काव्यशास्त्र विनोद' जैसे टुकड़े में निहित है। काव्य और शास्त्र के आश्रय से काव्यास्वाद ही नहीं, विनोद भी पाना चाहते थे वे दरबारी। यदि उस विनोद में कुछ चाकचिक्य हो और बार-बार आँख मल-मल कर आश्चर्य से निहारने

की वस्तु भी हो तो और भी अच्छा। इस तरह के दरबाराश्रयी साहित्य में व्याप्त चमत्कार को शुक्लजी ने कलाबाजी की संज्ञा दी है। उनकी दृष्टि में भावोत्कर्ष को बिगाड़नेवाली कला कविता का दूषण है। कई कवियों के काव्य-विवेचन के सन्दर्भ में उन्होंने काव्य के सहज स्वरूप को बिगाड़नेवाली ऐसी कलाबाजी की विगर्हणा भी कम नहीं की है।

—रीडर, हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

मेरे गुरुदेव

पण्डित अयोध्यानाथ शर्मा

कभी पढ़ा था और प्राय: पढ़ाया भी करता था कि "क्या लै गुरु संतोषिये हौंस रही मन माहिं।" कबीर की यह साखी तब विवेक और ज्ञान की सीमाओं में रगती थी, पर आज मेरे अभाव की स्थिति में यही पंक्ति मेरी समस्त भावात्मक सत्ता को अपने में आबद्ध किये है। आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जिनके पारस-स्पर्श को प्राप्त कर यह लौहवत् शरीर स्वजनों का स्नेहभाजन बना है उन्हीं की स्मृतियों को, संस्मरणों को वह अपनी चेतना के सहारे सँजोने का उपक्रम कर रहा है। मेरी श्रद्धा संवलित अनन्त भावराशि उस महान आत्मा के पद परवारना चाहती है। पर वह यश: काया अब तो मात्र स्मृति शेष है। जीवन की एक सुदीर्घ पगडण्डी पर चलते-चलते गुरु को संतुष्ट करने की 'हौंस' ही मेरे मन को सतत कुरेदा करती है।

सन् १९२३ की बात है। मैं कानपुर में ही रह रहा था। अपने समय के सुप्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री एवं प्रभावी श्री हीरालाल खन्ना की प्रेरणा से उन्हीं का पत्र लेकर मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० से उनके घर पर मिला। मैं वहीं से हिन्दी विषय में एम० ए० करना चाहता था। खन्ना जी के पत्र के कारण मैं बाबू जी की आत्मीयता की परिधि में आ गया और मुझे विश्वविद्यालय में प्रवेश मिल गया।

संवत् १९८० (अगस्त १९२३) की श्रावण शुक्ला सप्तमी को सर्व प्रथम मैंने आचार्य शुक्ल जी के दर्शन अपनी एम० ए० की कक्षा में किये। उस समय केवल ६ ही विद्यार्थी कक्षा में थे, तीन छात्र एम० ए० (प्रथम वर्ष) और तीन ही छात्र द्वितीय वर्ष में थे। सभी छात्र उनके समीप ही बैठ जाते थे। शुक्ल जी उन दिनों अवधवासी लाला सीताराम द्वारा सम्पादित पुस्तक "बार्डिक सेलेक्शन्स" से 'रेवातट' पढ़ा रहे थे। कक्षा में वातावरण पूर्ण शांत रहता था। किसी को 'चूं' करने तक का साहस न होता था। हम सभी छात्र यह विचार करके कि शुक्ल जी पढ़ाते समय कब कौन सी महत्त्वपूर्ण बात बोल जायँ, उनका एक-एक शब्द अपनी-अपनी कॉपियों में यथाशक्ति अंकित करते जाते थे। शुक्ल जी प्रत्येक पंक्ति का शब्दश: अर्थ स्पष्ट करते हुए पढ़ाते थे तथा प्रत्येक स्थल के भाव-सौन्दर्य एवं भाव गाम्भीर्य को भी समझाते रहते थे। यदि कभी किसी स्थल पर किसी प्रकार का अटकाव आ जाता था तो शुक्ल जी निस्संकोच भाव से तुरंत कह देते थे—"यह कल बतायेंगे।" आपने अपने ज्ञान के घटाटोप में न किसी को

भ्रम में डाला और न भटकाया। उन्होंने स्वयं भी कोई भ्रम नहीं पाला। वे प्रकृति से बड़े स्पष्टवादी थे, किसी को भी संदिग्धावस्था में रखना उन्हें रुचिकर न था। कक्षा में उनका मात्र लक्ष्य पढ़ाना ही रहता था। इसलिए प्रत्येक घण्टे का प्रत्येक मिनिट पढ़ाने में ही व्यतीत होता था।

आचार्य शुक्ल जी की वेशभूषा में भारतीय और पाश्चात्य स्वरूपों का मोहक सम्मिश्रण था। उनके शरीर का रंग कुछ दबा हुआ था, चेहरा गोल था, मूँछें घनी और कुछ बड़ी रहती थीं। वे चश्मा लगाते थे और फेल्ट कैप (टोपी) का ही प्रयोग करते थे। बंगाली ढंग से धोती पहनते थे और कमीज को धोती के नीचे दबा दिया करते थे। कोट खुले गले का ही आप पहनते थे तथा कक्षा में या कक्षा के बाहर अन्यत्र कहीं भी आते-जाते 'टाई' बाँधना वे कभी भूलते नहीं थे। फीतेदार जूते पहनते थे, पर मोजे के प्रति वे प्रायः ध्यान नहीं देते थे। इसी संदर्भ में मुझे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के विभागाध्यक्ष गुरुमुख निहाल सिंह का नाम स्मरण आ रहा है। आपने 'लंदन स्कूल ऑफ एकॉनामिक्स' से एम० ए० किया था। आप बार-एट-ला भी थे। राजस्थान के गवर्नर भी आप रह चुके थे, तथा दिल्ली प्रदेश के मुख्य मंत्रित्व पद को भी आपने गौरवान्वित किया था। मैंने उन्हें विश्वविद्यालय के अध्यापक रूप में सदैव पैजामा के साथ 'टाई' का प्रयोग करते हुए देखा था। अपने समय के इन दोनों महापुरुषों की 'सजधज' से यह स्पष्ट है कि महान व्यक्ति फैशन का अनुगमन नहीं करते, अपितु 'फैशन' उनकी रुचि का अनुसरण करता है।

एम० ए० प्रथम वर्ष के छात्र श्री मार्कण्डेय प्रसाद पाठक मेरे अच्छे मित्र थे। ये आचार्य शुक्ल जी के परिवार से सम्बन्धित थे। उन दिनों आचार्य जी गुरुधाम मुहल्ले में रहा करते थे। मैं प्रथम बार श्री पाठक जी के साथ शुक्ल जी के घर गया। वह घर यद्यपि बड़ा था पर बड़ा जर्जर सा प्रतीत होता था, किन्तु अपनी उदार सहृदयता के कारण प्रकृति की रमणीयता को वह अपने अंक में अंकोरे रहता था। जगह-जगह फूलों की क्यारियाँ बनी थीं। छोटे बड़े अनेक प्रकार के पौधे शुक्ल जी की प्रकृति-प्रियता का परिचय दे रहे थे। कहीं करील तो कहीं झाऊ अपनी आन-बान-शान में खड़े थे। इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि विदेशी फूल-पत्तियों के प्रति शुक्ल जी की रुचि नहीं थी। अपने देश की धरती से, माटी से उन्हें प्यार था। उसके फूल-काँटों में उनका मन रमता था।

शुक्ल जी के हृदय का स्नेह भाव एवं ममता फूल-पत्तियों एवं लताओं तक ही सीमित न थी, अपितु मानवेतर सृष्टि कुत्ता-बिल्ली आदि के प्रति भी वे सहज भाव से आकृष्ट रहा करते थे। ये दोनों ही आपके घर में पले रहते थे। अपनी बालोचित विनोद प्रियता में वे कभी-कभी स्वयं भी कुत्ते की बोली बोलते और देखते कि उनकी बोली का कुत्ते पर क्या प्रभाव पड़ता है। शुक्ल जी के साहित्य को पढ़ कर आज का व्यक्ति क्या उनकी इस विनोदी वृत्ति की कभी कल्पना भी कर सकता है?

शुक्ल जी अपने सहज रूप में बड़े गम्भीर प्रतीत होते थे। पर बातचीत के प्रसंग में वे प्रायः ऐसी कोई-न-कोई बात कर दिया करते थे जिससे सुनने वालों को हँसी आ जाय और

स्वयं होंठ भी न हिले। एक बार एक विद्यार्थी ने कहा कि उसने एक ऐसा आदमी देखा जिसके मुख पर राम नाम अंकित था। शुक्ल जी ने तुरंत कहा—"अरे वह विभीषण के घर का होगा।" एक दिन सायंकाल भोजन के साथ आपने प्याज खा लिया। दूसरे दिन आप बोले, "रात भर मेरा मुँह मियाँ बना रहा।"

शुक्ल जी श्वाँस के रोगी थे। इस रोग में भोजन संबंधी सावधानी विशेष रहनी चाहिए। पर आप इस दिशा में व्यवहारतः अधिक संयम के पक्षपाती न थे। आपको चाट के दही बड़े बहुत पसंद आते थे। आपको चाय भी विशेष रुचिकर थी। कई वर्षों तक हम दोनों ही हाईस्कूल ऐण्ड इण्टर मीडिएट बोर्ड, इलाहाबाद में हिन्दी समिति के सदस्य रहे। जब कभी हम लोग समिति की बैठकों में इलाहाबाद जाते तब शुक्ल जी यह प्रायः कहा करते थे "चलो पहले कहीं चाय पी ली जाय।" क्रिया शक्ति में स्फूर्ति की दृष्टि से वे यत्किंचित मात्रा में विजया का भी सेवन कर लिया करते थे। काशी में तो विजया बाबा विश्वनाथ का प्रसाद मानी जाती है। सन् १९४१ में वे एक बार डी० ए० वी० कालेज कानपुर में एम० ए० (हिन्दी) की कक्षाओं के खोलने के संदर्भ में आगरा विश्वविद्यालय की ओर से कानपुर आए। उन दिनों संयोग से काशी से श्री चन्द्रबली पाण्डेय और डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा भी कानपुर आ गए। शुक्ल जी इस क्षेत्र की ग्रामीण बोली सुनना चाहते थे। अतः प्रेमनारायण जी शुक्ल उन्हें कानपुर से लगे हुए श्री नारायण जी अग्निहोत्री के गाँव खेउंरा ले गए। शुक्ल जी को ग्रामीण सुषमा के प्रति अधिक आकर्षण था। सब के साथ मैं भी था और मेरे विभागीय सहयोगी स्व० चन्द्रशेखर पाण्डेय भी थे। उस देहात में ठंढाई का कार्यक्रम बना। साथ में ठंढाई का शृंगार विजया भी थी। शुक्ल जी ने प्रसाद रूप में सभी को थोड़ी-थोड़ी विजया दिलवाई। उन्होंने मुझसे भी कहा, भाई, यह तो गुरु का प्रसाद है इसे लेते क्यों नहीं? मैंने बड़े विनीत भाव से निवेदन किया "आपकी कृपा तो मुझे प्रसाद रूप में पहले से ही प्राप्त है।" एक ओर मैं कक्षा में उनकी उस गुरु-गंभीर मुद्रा के देखने का अभ्यासी था और दूसरी ओर वैयक्तिक व्यवहार में वे इतने अधिक सरल एवं उदार थे कि आत्मीयता की परिधि में वे अपने बड़प्पन का किसी को भान नहीं होने देते थे।

आचार्य शुक्ल जी में एकाग्रता की स्पृहणीय क्षमता थी। गम्भीर-से-गम्भीर विषयों पर लिखते समय यदि कोई उनके पास आ जाता और अपनी बात कहता तो वे उसकी भी सुनते जाते और अपना लिखने का क्रम भी जारी रखते। जब वह अपनी बात कह चुकता तो अपने विवेक के आधार पर उसका संक्षेप में उत्तर दे देते और लिखते रहते। वे कम बोल कर अपनी शक्ति संचय सी करते थे और उसी शक्ति का प्रयोग वे अपने अध्ययन और लेखन कार्य में किया करते थे। इस प्रकार की क्षमता प्रायः बहुत कम ही देखने को प्राप्त होती है। शुक्ल जी को लेटे-लेटे लिखने का अच्छा अभ्यास था। वे चित्त लेट जाते और अपनी एक टाँग पर दूसरे पैर का घुटना रख कर प्रायः पेंसिल से लिखते थे। सीधी पंक्ति और सधे हुए सुडौल सुन्दर अक्षर उनकी लिपि की विशेषता थी। रात्रि में भी वे अधिक समय तक पढ़ा करते थे और कभी-कभी तो पूरी रात पुस्तक के समाप्त करने में ही बीत जाती थी। जाड़े के दिनों में गरदन तक ओढ़े

हुए एक करवट लेट कर पढ़ना और एक या दो अँगुलियों से पन्ना पलट कर पढ़ते रहने में उन्हें कभी असुविधा नहीं होती थी।

पर दुःख कातरता उनके स्वभाव का विशेष अंग थी। अपने आश्रित एवं सम्पर्क में रहने वाले व्यक्तियों की सुख-सुविधा का ध्यान उन्हें सदैव रहता था। घोर आर्थिक संकट रहते हुए भी उन्होंने कभी उफ तक नहीं की। अपनी आवश्यकताओं को समेटे हुए बड़ी मित-व्ययिता एवं सहिष्णुता के साथ उन्होंने जीवन यापन किया। आपकी विमाता के भी लड़के-लड़कियाँ थीं। उन सब के भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, विवाहादि का उत्तरदायित्व स्वयं आचार्य जी ने अपनी सीमित आय के साधनों के आधार पर ही पूर्ण किया। घर के प्रत्येक बच्चे के दूध, बीमारी में उपचार एवं ऋतु के अनुरूप वस्त्र एवं समय पर भोजन आदि पर उनकी दृष्टि सगे-सौतेले की भेदक रेखा के खींचे बिना, समान रूप से सदैव रहती थी। यदि शुक्ल जी अपने निबंधों में आदर्श की विवेचना में "मनुष्यता की उच्च भूमि" की सराहना की है तो स्वयं में भी उसकी अपनी आचारपरक व्याख्या द्वारा उसे साकारता प्रदान की है। वे अन्तः एवं बाह्य दोनों रूपों में सचमुच बहुत महान थे। निरलसता उनकी जीवन-पद्धति की विशेषता थी। किसी पुस्तक के अंश या लेख के छपते-छपते यदि उन्हें सामग्री की आवश्यकता पड़ती तो बाबू श्यामसुन्दरदास शुक्ल जी के पास सूचना भेज देते कि 'अमुक विषय' पर 'इतनी' मात्रा में आगे के लिए सामग्री चाहिए। शुक्ल जी तत्क्षण लिखने बैठ जाते और आवश्यकतानुसार सामग्री प्रेस भिजवा देते थे जिससे छपाई के कार्य में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ने पाता था।

विश्वविद्यालयों में हिन्दी पठन-पाठन का द्वार खोलने की दृष्टि से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। एम० ए० तथा बी० ए० की कक्षाओं में पठनीय विषयों का निर्धारण करना तथा उनके अनुरूप सामग्री का निर्माण करना इन दोनों ही दृष्टियों से यहाँ का हिन्दी विभाग अग्रणी रहा है। सर्वप्रथम सन् १९१९ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और लाला भगवानदीन 'दीन' हिन्दी विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हुए थे। उन्हीं दिनों काशी नागरी प्रचारिणी सभा की प्रशंसनीय गतिविधियों के कारण इसके संस्थापक बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए० का नाम हिन्दी जगत में प्रमुखता पा रहा था। अतः सन् १९२१ में महामना मालवीय जी ने इन्हें बी० ए० उत्तीर्ण होने के कारण हिन्दी विभाग में अध्यक्ष रूप में नियुक्त किया। इन्हीं दिनों पण्डित अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' भी हिन्दी विभाग में नियुक्त हो गए थे। इस प्रकार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रारंभिक अध्यापकों में इन्हीं चार की गणना की जाती है। अध्यक्ष होने के नाते बाबू जी को २५० रुपया प्रति मास वेतन मिलता था। शुक्ल जी तथा लाला भगवानदीन जी को ७५ रुपया प्रति मास तथा 'हरिऔध' जी को ५० रुपया प्रतिमास वेतन प्राप्त होता था। ये सभी गण्यमान अध्यापक हिन्दी सेवा का व्रत लेकर इस क्षेत्र में आए थे। हिन्दी संसार इनके ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकता है।

आचार्य शुक्ल जी इण्टर तक ही शिक्षा प्राप्त कर सके थे। पारिवारिक आवश्यकताओं

की पूर्ति के लिए उन्हें जीविकोपार्जन के साधन जुटाने पड़े। अतः प्रारंभ में आप एक स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक हो गए। ड्राइंग में नाना प्रकार के चित्र बनाने पड़ते हैं। कदाचित् विद्यार्थियों के बीच नाना रेखा चित्रों की कल्पना करते-करते अपने भावी जीवन-निर्माण के लिए जो नाना भाव चित्र उनके मानस पटल पर अंकित हुए होंगे, उन्हीं के परिणाम स्वरूप प्रतिभा एवं स्वाध्याय के माध्यम से हिन्दी साहित्य को आपने जो अमूल्य ज्ञान-राशि समर्पित की वह अप्रतिम है। उन्होंने अपनी भाव-तूलिका से साधना का शृंगार किया है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने कोश का कार्य जब प्रारम्भ किया तब एक ऐसे व्यक्तित्व की खोज की जाने लगी जो पाण्डित्यपूर्ण ढंग से इस कार्य का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व वहन करने की क्षमता रखता हो। पण्डित केदारनाथ पाठक ने शुक्ल जी को इस दिशा की ओर प्रेरित ही नहीं किया, अपितु प्रयत्नपूर्वक इस कार्य में उन्हें लगवाया भी। सहयोगी रूप में शुक्ल जी को बाबू रामचन्द्र वर्मा प्राप्त हुए। यह भी बड़े परिश्रमी एवं लगन के व्यक्ति थे। कुछ समय तक कोश निर्माण कार्य में शुक्ल जी के साथ मुझे भी सहयोग देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अतः मेरा यह वैयक्तिक अनुभव है कि इस दिशा में उनका ज्ञान एवं परिश्रम अविस्मरणीय है। पता नहीं उन्होंने इस कार्य की कला एवं योग्यता कहाँ प्राप्त की थी।

हिन्दी शब्दसागर के प्रारंभ में शुक्ल जी ने जो भूमिका लिखी वह एक प्रकार से हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रारूप-सा सिद्ध हुई। इसी भूमिका में नाम देने का प्रश्न उठा। कतिपय गतिविधियों से उन्हें यह आशंका हुई कि कहीं उनका नाम हटा न दिया जाय। शुक्ल जी अपनी रचना में अपना ही नाम दिए जाने के पक्षपाती थे। अंततोगत्वा शुक्ल जी का ही नाम भूमिका लेखक के रूप में दिया गया। बाद में यही भूमिका विस्तृत रूप में हिन्दी साहित्य के इतिहास का कलेवर प्राप्त कर सकी। इसी प्रकार नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित तुलसी ग्रंथावली में आचार्य शुक्ल जी की ही लिखी भूमिका प्रकाशित हुई थी। इस भूमिका के लेखक रूप में नाम देने के संबंध में भी वही स्थिति आई। वे स्वाभिमानी व्यक्ति थे। उनके सिद्धान्त की विजय हुई। यही भूमिका आगे चल कर गोस्वामी तुलसीदास नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी को अन्तः एवं बाह्य दोनों रूपों में सतत संघर्षशील रहना पड़ा। अन्तः संघर्ष धनाभाव एवं पारिवारिक भार के रूप में था और बाह्य संघर्ष सामाजिक दृष्टि से आगे-पीछे होने का था। यह स्थिति उनके जीवन में कोई नयी नहीं थी। प्रत्येक शील-सौजन्य सम्पन्न एवं विकसनशील जीवन को सभी प्रकार के संघर्षों का सामना करना ही पड़ता है। शुक्ल जी का जीवन साधनापरक एवं निष्ठावान था। अतः पथ की बाधाओं पर उन्होंने सदैव ही विजय पायी। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व सब से पृथक् अपने अस्तित्व का बोध कराता रहता है।

आचार्य शुक्ल जी का अधिकार केवल हिन्दी साहित्य पर ही हो, ऐसा नहीं है। वे अंग्रेजी साहित्य के भी अच्छे ज्ञाता थे। पत्रकार जगत् में "मार्डन रिव्यू" का अपना विशिष्ट स्थान माना जाता है। शुक्ल जी अपने लेख इस पत्र में प्रायः लिखा करते थे। आपकी अंग्रेजी भाषा सामान्यतः क्लिष्ट हुआ करती थी। आपके लेख पढ़ कर कोई यह अनुमान नहीं लगा

सकता था कि एक इण्टर पास व्यक्ति इतनी प्राञ्जल एवं सशक्त भाषा लिख सकता है। इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि शुक्ल जी ने अंग्रेजी साहित्य का गंभीर अध्ययन किया था ?। वे उसके मर्म को समझते थे। वे अपनी रचना प्रक्रिया में अंग्रेजी से प्रभावित नहीं थे, हाँ, उन्होंने उससे लाभ अवश्य उठाया था।

उस समय हिन्दी जगत् को बाबू श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रूप में अपने-अपने ढंग की दो अद्‌भुत प्रतिमायें प्राप्त थीं। बाबू जी में संयोजन शक्ति बहुत बड़ी मात्रा में थी। कौन सा कार्य, कब, किससे और किस प्रकार लेना है इसका परिज्ञान बाबू जी को भली प्रकार था। योजनाओं की कल्पना और उनका प्रतिफलन यह सब बाबू जी की ही कार्य पटुता का परिणाम होता था। अछूते एवं गम्भीरातिगम्भीर विषयों पर चिंतन-मनन एवं लेखन की स्हृणीय क्षमता से परिपूर्ण व्यक्तित्व आचार्य शुक्ल जी का था। संस्कृत एवं अंग्रेजी साहित्य का गहन अध्ययन एवं मंथन करके उसे भारतीय एवं पाश्चात्य हवा पर तौलते हुए समन्वयात्मक रूप में हिन्दी जगत् को देना, यह शुक्ल जी की ही सामर्थ्य की बात मानी जायगी।

प्रायः यह देखा गया है कि एक प्रतिभा दूसरी प्रतिमा का आदर तो करती है, पर दोनों के बीच कुछ-न-कुछ ऐसी बात प्रायः हो जाती है जिससे स्पर्धा मिश्रित अलगाव दिखाई पड़ने लगता है। तथ्यात्मक उल्लेख में वस्तुस्थिति की उपेक्षा संभव नहीं। इन दोनों आचार्यों के जीवन में भी कुछ ऐसा ही देखने को मिला। पर दोनों ही व्यक्तियों का दृष्टिकोण बड़ा उदार था। आचार्य शुक्ल जी मुझ पर बड़ी कृपा रखते थे और मेरे प्रति उनका सहज स्नेह भी था। वे मुझसे प्रायः कहा करते थे कि "बाबू जी के घर अवश्य हो आया करो।"

शुक्ल जी के दो लड़के हुए। बड़े श्री केशवचन्द्र शुक्ल, और छोटे स्व० गोकुलचन्द्र शुक्ल। एक दिन आपने बहुत ही भाव-भरित होकर गोकुलचन्द्र जी से कहा—"तुम केवल दो ही भाई नहीं हो। अयोध्यानाथ के रूप में एक तुम्हारा तीसरा भाई भी है। सन् १९३९-४० के बीच ज्येष्ठ पुत्र श्री केशवचन्द्र शुक्ल डिपुटी कलेक्टर होकर कानपुर आने लगे तब शुक्ल जी ने आदेशात्मक रूप में उनसे कहा—"आर्यनगर में तुम्हारे भाई अयोध्यानाथ का घर है। जब तक सरकारी या अन्य कोई मकान न मिले तब तक वहीं रहना।" श्री केशव जी अपने पिता जी की आज्ञा का अनुपालन भी किया।

किसी देश या समाज के बीच महान् विभूतियों की अवतारणा प्रभु की ही कृपा का प्रतिफल होता है। ये विभूतियाँ अपनी आचार परक निष्ठा एवं ज्ञान-साधना द्वारा उस देश और समाज को गौरव प्रदान करती हैं। शुक्ल जी ऐसी ही एक महान् विभूति के रूप में हिन्दी साहित्य के संप्राप्त हुए। वे हिन्दी जगत् में एक ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में सतत स्मरण किए जायँगे। उनका समग्र साहित्य हमारी अक्षय निधि के रूप में है।

गुरुदेव आचार्य शुक्ल जी की पुनीत स्मृति को शत-शत प्रणाम।

—साकेत
आर्यनगर
कानपुर

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के संस्मरण

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय

जुलाई, सन् १९३१ ई०। मैं आज से ५४ वर्ष पहिले की बात लिख रहा हूँ जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बी० ए० तथा एम० ए० के साथ ही इण्टर की भी कक्षायें चला करती थीं। उन दिनों में इस कक्षा के भी छात्र बड़े-बड़े विद्वानों के सम्पर्क में आकर उनकी विद्वत्ता तथा अध्यापन-अनुभव का लाभ उठाया करते थे।

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में भी अन्य विश्वविद्यालयों की भाँति उन दिनों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा थी। इतिहास, राजनीति और अर्थशास्त्र आदि विषयों की चर्चा तो दूर रहा, संस्कृत भी अंग्रेजी के ही माध्यम से पढ़ायी जाती थी। मैं उत्तर प्रदेश के अत्यन्त पूर्व में स्थित अत्यन्त पिछड़े हुए जनपद बलिया जिले के एक हाईस्कूल से परीक्षा पास कर काशी में इण्टर में अध्ययन करने के लिए आया था। इसका कारण यह था कि मेरे पितृ तुल्य ज्येष्ठ भ्राता आचार्य (अब पद्म-भूषण) बलदेव उपाध्याय इसी विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राध्यापक थे।

मैंने इण्टर में संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी, इतिहास तथा नागरिक शास्त्र विषयों को ले रखा था। इन सभी विषयों का अध्यापन केवल अंग्रेजी भाषा में ही हुआ करता था। इंगलैण्ड से अपनी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर लौटे हुए अनेक 'धाकड़' विद्वान कक्षा में धुँआधार भाषण किया करते थे। लच्छेदार अंग्रेजी में बोलना अपना कर्तव्य समझते थे। मैं इस प्रदेश के 'अटट' पिछड़े जदपद से आया हुआ विद्यार्थी था जिसने संभवतः अपने जीवन में कभी अंग्रेजी में भाषण नही सुना था। ऐसी दशा में इन कक्षाओं में अध्यापन का एक अक्षर भी पल्ले नहीं पड़ता था। मैं कक्षाओं में काष्ठ कौशिक की तरह चुप-चाप बैठा रहता था।

ऐसी विषम परिस्थिति में हिन्दी कक्षा में ही कुछ त्राण मिलता था। क्योंकि हिन्दी का अध्ययन हिन्दी में ही हुआ करता था। उन दिनों हिन्दी-विभाग में केवल चार अथवा पाँच अध्यापक थे। अथवा इसलिए लिख रहा हूँ क्योंकि पं० अयोया सिंह उपाध्याय की नियुक्ति आर्ट्स कालेज में होने पर भी वे अपनी वृद्धावस्था के कारण महिला महाविद्यालय में ही अध्यापन के लिए "उचित" प्राध्यापक समझे गये थे। उस समय विभाग के अध्यक्ष बाबू श्यामसुन्दर दास थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल वरीयता के क्रम में द्वितीय प्राध्यापक थे। परन्तु अपनी अगाध विद्वत्ता तथा दिव्य व्यक्तित्व के कारण वे प्रथम स्थान के अधिकारी थे।

हिन्दू विश्वविद्यालय में उन दिनों में सभी छात्रों के लिए 'जेनेरल हिन्दी' (अनिवार्य हिन्दी) पढ़ना आवश्यक था। अतः इण्टर और बी० ए० में इस अनिवार्य हिन्दी का अध्यापन अनिवार्य रूप से होता था। शुक्ल जी हम लोगों को इण्टर कक्षा में इसी अनिवार्य हिन्दी को पढ़ाया करते थे।

शुक्ल जी के अध्यापन का विषय निबन्ध था। जब ये कक्षा में पधारते थे तब इनके गंभीर व्यक्तित्व के कारण कक्षा में सन्नाटा छा जाता था। उन दिनों में कक्षा में विनयन की कोई समस्या नहीं थी। छात्र अपेक्षाकृत अध्ययनशील होते थे और अध्यापक भी बड़ी लगन और परिश्रम से पढ़ाया करते थे।

आचार्य शुक्ल की अध्यापन शैली बड़ी ही सुन्दर होती थी। कक्षा में सर्वत्र शान्ति विराजती थी और शुक्ल जी उस विशाल कक्षा के मध्य भाग में काठ के तख्ते पर रखी गई कुर्सी पर विराजमान हो कर पढ़ाते थे। निबन्ध का अध्ययन करते समय उसकी कुछ पंक्तियों को पढ़ कर उसकी विस्तृत व्याख्या करते जाते थे जिससे छात्र उसको अच्छी तरह से हृदयंगम करते जायँ। यह दूसरी बात थी कि हम अबोध छात्र उनके विद्वत्तापूर्ण अध्यापन को सम्यक् रीति से समझने में अत्यन्त असमर्थ रहते थे। इण्टर की कक्षा के छात्रों की ज्ञान-परिधि ही कितनी होती थी जिससे वे इस गंभीर अध्यापन को पूर्णतया हृदयंगम कर सकते।

आचार्य शुक्ल कक्षा में छायावाद पढ़ाते हों अथवा रहस्यवाद उनके हिमालय के समान महान् व्यक्तित्व के कारण सर्वत्र आतंकवाद ही छाया रहता था। इसीलिए कोई प्रश्न पूछने का किसी छात्र का साहस अथवा दुःसाहस ही नहीं होता था।

अनेक प्राध्यापक अपनी कक्षा में छात्रों को प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित करते थे और प्रश्न करने पर उसका समुचित उत्तर देकर छात्रों की शंका का समाधान भी करते थे। परन्तु आचार्य शुक्ल के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। जहाँ तक उनकी कक्षा में अध्ययन करने का मेरा अनुभव है उसके आधार पर यह निर्विवाद सत्य है कि आचार्य शुक्ल छात्रों को प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते थे और कदाचित् किसी जिज्ञासु छात्र ने प्रश्न कर ही दिया तो डाँट कर बैठा देते थे। मैं बी० ए० तथा एम० ए० जैसी ऊँची कक्षाओं में उनके अध्यापन की चर्चा नहीं करता, परन्तु इण्टर कक्षाओं में उनकी यही अध्यापन पद्धति थी। संभवतः वह यह समझते थे कि इण्टर कक्षा के अज्ञानी छात्र भला रहस्यवाद के रहस्य को क्या समझ सकते हैं ? फिर सामान्य हिन्दी की कक्षा में इसकी विवेचना और भी अनावश्यक थी।

इसीलिए शुक्ल जी की कक्षा में सदा 'मोनोटोनी' छाई रहती थी। जहाँ पं० केशव प्रसाद मिश्र आदि प्राध्यापकों की कक्षा में संजीदगी रहती थी वहाँ आचार्य पाद की कक्षा में उदासीनता का साम्राज्य विराजमान रहता था।

मेरे ग्रन्थ पर आशीर्वचन

जब मैं इण्टर कक्षा में पढ़ता था उसी समय मैंने अपने अग्रज की प्रेरणा से 'चारुचरितावली' नामक एक छोटी सी पुस्तिका बच्चों के लिए लिखी थी, जिसमें इस देश के पच्चीस महापुरुषों

का जीवन चरित बड़ी ही सीधी सादी भाषा में लिखा गया था। इसके साथ ही इन महान् पुरुषों के चरित्र से जो शिक्षा मिलती है उसका संक्षिप्त रूप से उल्लेख था। भाई साहब ने कहा कि शुक्ल जी का इस पुस्तिका पर आशीर्वाद ले लो। इस निमित्त उन्होंने एक पत्र शुक्ल जी के नाम लिख कर मुझे उन्हें देने के लिए दिया।

शुक्ल जी उन दिनों दुर्गा कुण्ड के पास पुलिस चौकी के पीछे स्थित किसी किराये के मकान में रहा करते थे। उनका 'न्यू कॉलोनी' में स्थित नवीन भवन का अभी निर्माण नहीं हुआ था। मैं इण्टर का एक साधारण छात्र आचार्य पाद जैसे अलौकिक तथा अगाध विद्वान् के पास अपनी क्षुद्र पुस्तिका पर आशीर्वचन लेने के लिए जा रहा था। मन में यह बड़ी आशंका हो रही थी कि वे अपने सामान्य छात्र की क्षुद्र पुस्तिका पर अपना बहुमूल्य आशीर्वाद देंगे या नहीं। इसी शंका की दोल में दोलायमान मन से मैं भइया जी का पत्र लेकर आचार्य जी के घर गया। प्रातःकाल का समय था। शुक्ल जी उस समय एक काठ के तख्ते पर बैठे हुए तल्लीनता के साथ कुछ लिख रहे थे। मैंने उनके पास जाकर जब उनका चरण-स्पर्श किया तब उनका ध्यानभग्न हुआ। अपने ध्यान में प्रातःकाल ही बाधा उपस्थित करने वाले एक छात्र को देख कर उन्होंने बड़ी बेरुखाई से पूछा—क्या है। मैंने डरते-डरते भाई साहब का पत्र उनको दिया। उसको पढ़ कर उन्होंने तत्काल ही कहा—"कल सन्ध्या समय आना।" उन्होंने मुझसे यह भी नहीं पूछा कि क्या पढ़ते हो? कहाँ पढ़ते हो? आदि। घर लौटते समय मेरे मन में बड़ी ग्लानि हुई कि आचार्य पाद कैसे विचित्र व्यक्ति हैं जिन्होंने सामान्य शिष्टाचार की बात भी मुझसे नहीं पूछी। परन्तु यह विचार कर मुझे कुछ सन्तोष करना पड़ा कि प्रातःकाल उनके लेखन-कार्य के लिए अमूल्य समय होगा। मैंने जब पाँच मिनट के लिए ही सही उनका अमूल्य समय नष्ट किया और उनके कार्य में बाधा पहुँचाई तब वे शिष्टाचार की बातें पूछ कर अपना अधिक समय और क्यों खराब करते? उस समय तो शुक्ल जी का यह व्यवहार मुझे बड़ा अजीब सा लगा, परन्तु आज यह व्यवहार उचित जान पड़ता है। दूसरे दिन जब इनके पास सन्ध्या समय गया तब इन्होंने अपना आशीर्वचन पहिले से ही लिख रखा था और फिर कुछ बिना बोले या पूछे ही उसे मुझे दे दिया। मुझे इसे प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता हुई और सोचने लगा कि यह व्यक्ति अपने वचन का कितना अधिक पालन करने वाला है।

आचार्य शुक्ल के द्वारा मेरी पुस्तिका पर दिये गये उनके आशीर्वचन का यहाँ उल्लेख करना कुछ अनुचित नहीं होगा।

"स्कूलों के विद्यार्थियों के हाथ में यदि ऐसी पुस्तकें पड़ें जिनमें लोक के बीच ऊँचे आदर्श प्रदर्शित करने वाले, अपनी प्रतिभा, पराक्रम और अध्यवसाय का चमत्कार दिखाने वाले महानुभावों के जीवन वृत्त सीधी-सादी भाषा में दिए गए हों तो उनके मन में शुभ और सबल संस्कारों का समावेश अनायास हो सकता है। ऐसे संस्कारों के प्रभाव से वे अपने जीवन-पथ में आवश्यक दृढ़ता और उत्साह प्राप्त करेंगे और उनकी दृष्टि सदा कल्याण की ओर रहेगी। 'चारुचरितावली' ऐसी ही पुस्तक है। इसमें ऐसे प्रभावशाली महापुरुषों के जीवन चरित हैं

जिन्होंने संसार को त्याग, शील, दया, अध्यवसाय, धर्मनिष्ठा, सत्य प्रियता इत्यादि की अद्भुत विभूति दिखाई है।

पुस्तक की शैली रोचक तथा भाषा स्वच्छ और सुव्यवस्थित है। विक्रमादित्य एक निश्चित ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में लाए गए हैं। यह बहुत अच्छा हुआ है। पुस्तक विद्यार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी।"

दुर्गा कुण्ड, काशी —रामचन्द्र शुक्ल
६-५-१९३३ ई०

मैं इस आशीर्वचन को प्राप्त कर कृतार्थ हो गया। शुक्ल जी जैसे महान् विद्वान् का आशीर्वाद एक छात्र को प्राप्त हो गया यह क्या कम महत्त्व की बात थी।

आचार्य शुक्ल का व्यक्तित्व तथा वेश-भूषा

संस्कृत के किसी कवि ने गौरव प्राप्त करने के लिए मनुष्य में पाँच गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक बतलाया है—

"विद्यया, वपुषा, वाचा, वस्त्रेण विभैव न च।
वकारैः पञ्चभिः, युक्तैः, नरः प्राप्नोति गौरवम्॥

अर्थात् किसी मनुष्य के पास विद्या, शरीर सौष्ठव, वाणी की प्रगल्भता, सुन्दर वस्त्र तथा वैभव होने से वह सन्मान तथा गौरव को प्राप्त करता है। आचार्य शुक्ल की विद्या के बारे में क्या कहना है।

सच तो यह है कि उनके समान श्रेष्ठ समालोचक तथा गंभीर विद्वान् अभी तक हिन्दी में पैदा ही नहीं हुआ। शुक्ल जी का शरीर सुन्दर तथा सुगठित था। वे वाग्मी तो नहीं थे परन्तु वक्ता अवश्य थे। सभाओं में भाषण कर श्रोताओं को कक्षाओं में अध्यापन कर छात्रों को प्रभावित करना उनके बायें हाथ का काम था। जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में उनके पास विभव का भले ही अभाव रहा हो परन्तु जीवन की गोधूलि में उन्होंने अपना मकान बनवाकर उसमें सुखपूर्वक निवास करना प्रारम्भ कर दिया था।

परन्तु आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व की जो सब से आकर्षक वस्तु थी वह उनकी वेष-भूषा थी। ये पाश्चात्य ढंग के यूरोपीय पद्धति की वेश-भूषा को धारण करते थे। ये सदा कक्षा में कोट, पैण्ट तथा टाई को धारण कर आते थे। इनकी कमीज का कालर साधारण न हो कर 'स्टार्च्डह्वाइट' हुआ करता था जिसे उन दिनों के बहुत फैशनेबुल व्यक्ति ही धारण करते थे। इनके पैरों में "फ्लैम्स शू" सुशोभित रहता था। जिसकी सुन्दर तथा चमकती हुई पालिश किसी दर्पण को भी चुनौती देने में समर्थ थी। ये 'कर्जन फैशन' की मूँछ को धारण करते थे जिसके बाल अधरों की सीमा को पार कर लटकते रहते थे। भारतीय साहित्य तथा संस्कृति के उपासक आचार्य शुक्ल की पाश्चात्य ढंग की यह वेश-भूषा उनके अध्ययन तथा विद्वत्ता के विषय से विरोधाभास उत्पन्न करती थी। फिर भी शुक्ल जी ऐसे वस्त्रों को क्यों धारण करते थे इसका रहस्य हम छात्रों की समझ में नहीं आता था। इस सम्बन्ध में भवभूति की इसी पंक्ति को

स्मरण कर मौन रह जाना पड़ता है जिसे लवकुश के सामने भगवान् राम के लिए इस महाकवि ने कहा था——

"वृद्धास्तेन विचारणीय चरिताः"

स्वभाव——आचार्य शुक्ल के स्वभाव की उपमा नारिकेल फल से की जा सकती है, जिसका ऊपरी भाग तो अत्यन्त कठोर होता है परन्तु उसके भीतरी भाग में प्राणों को आनन्द देने वाला मधुर रस भरा रहता है। आचार्य पाद की बाहरी आकृति बड़ी शुष्क दिखाई पड़ती थी, परन्तु उनका हृदय करुणा, दया तथा परोपकार के अमृत-रस से परिपूर्ण था। किसी को दुःख में देख कर दयार्द्रचित्त होना, किसी विपन्न की आर्थिक सहायता करना उनके जीवन का अनिवार्य अंग था। वे बहुत कम बोलते थे। वाचाटता की तो कथा ही दूर रही, वाचालता भी उनके पास कहीं फटकने नहीं पाती थी। वाणी का संयम करना वे अपना धर्म समझते थे, जिसे हमारे शास्त्रकारों ने महामानव का एक आवश्यक लक्षण बतलाया है। शुक्ल जी बोलते कम थे, परन्तु जब भी कभी कोई बात कहते थे वह सार्थक होती थी।

मनोरंजन की प्रवृत्ति——अंग्रेजी के किसी लेखक ने लिखा है कि "स्टाइल इज़ दि मैन" अर्थात् जिस मनुष्य का जैसा स्वभाव होता है उसके लेखन की शैली भी वैसी ही होती है। शुक्ल जी के संबंध में यह उक्ति अक्षरशः सत्य है। जैसा उनका धीर एवं गंभीर स्वभाव था उनकी लेखन शैली भी वैसी ही कठिन, समसित गंभीर थी। परन्तु उनके स्वभाव में मनोरंजन की प्रवृत्ति का अभाव नहीं था। मेरे अग्रज——पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय ने शुक्ल जी का एक संस्मरण सुनाते समय एक बार कहा था कि ये दोनों ही व्यक्ति विश्वविद्यालय के कार्यालय में किसी कार्य के लिए गये थे। उस कार्य के होने में कुछ विलम्ब होते देख कर भाई साहब ने शुक्ल जी से कहा——आज इस काम को कर के ही चलना है। इसी प्रसंग में उन्होंने महाकवि 'दाग़' का यह शेर सुनाया——

"हज़रते दाग़ जहाँ बैठ गए, बैठ गये।
और कोई होंगे तेरी महफ़िल से उठने वाले।"

शुक्ल जी ने इस शेर को सुन कर अपनी विनोदी स्वभाव से कहा कि शायद हज़रत दाग़ को आजकल के "वाशिंग केमिकल्स" का पता नहीं था अन्यथा वे ऐसा शेर न लिखते।

आगन्तकों से मिलने में उदासीनता——आचार्य शुक्ल का काशी का नया भवन वर्तमान लेखक के घर से आधी फर्लांग की दूरी पर स्थित है जिसमें इनके कनिष्ठ पुत्र पं० गोकुलचन्द्र शुक्ल रहा करते थे। यह लेखक प्रायः उनके घर जाया करता था। एक दिन गोकुलचन्द्र जी ने अपने पिता जी का संस्मरण सुनाते हुए कहा कि उन्हें आगन्तुक लोगों से मिलना-जुलना अधिक पसन्द नहीं था। एक बार राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन शुक्ल जी को सम्मेलन के साहित्य परिषद् के सभापति के पद को स्वीकार कर लेने की प्रार्थना करने स्वयं उनके गृह काशी आये। शुक्ल जी लेखन कार्य में व्यस्त थे। अतः राजर्षि टण्डन को कुछ देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। परन्तु उनके परिवार के व्यक्तियों ने टण्डन जी से शीघ्र मिलने के लिए जब उनसे आग्रह किया तभी वे

मिलने के लिए बाहर आये। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने राजर्षि के आग्रह को स्वीकार कर परिषद् का सभापतित्व किया।

स्वाध्याय से अटूट प्रेम—आचार्य शुक्ल को स्वाध्याय से अटूट प्रेम था। विशेष कर वह लेखन का कार्य बड़ी ही तल्लीनता से किया करते थे। उस कार्य में जो कोई भी बाधा उपस्थित करता था उस पर क्रोधित ही नहीं होते थे बल्कि उसको कभी-कभी खरी-खोटी भी सुना दिया करते थे।

शुक्ल जी जिन दिनों विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का कार्य किया करते थे उन दिनों वहाँ के प्राध्यापकों का वेतन क्रम १५०-१५-३०० रुपये था, जिसे सुन कर आज आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। परन्तु यह ध्रुव सत्य है। उसमें भी यह वेतन क्रम हिन्दी के प्राध्यापकों को संभवतः नहीं दिया जाता था। ऐसी दशा में आर्थिक कठिनाइयों से पीड़ित होना स्वाभाविक है। पं० गोकुलचन्द्र जी ने मुझसे यह संस्मरण सुनाते हुए कहा था कि एक दिन पिता जी (शुक्लजी) किसी लेखन कार्य में अत्यन्त व्यस्त थे। उसी समय इनकी माता जी (शुक्ल जी की पत्नी) उनके पास गयीं और कहा कि घर में अमुक-अमुक खाद्य सामग्री का नितान्त अभाव है। शुक्ल जी ने व्यवस्तता के कारण उनके कथन पर ध्यान न देकर उसको टालने का प्रयास किया। परन्तु उन्होंने फिर कहा कि आपको भोजन की आवश्यकता भले ही न हो परन्तु मेरे बच्चों को तो भोजन देना ही होगा। उनका यह कथन शुक्ल जी के भावुक हृदय में चुभ गया। वे तुरन्त सब काम छोड़ कर चल पड़े और कहीं से रुपयों का प्रबन्ध किया जिससे घर का योग क्षेम चला। ये दोनों ही संस्मरण स्वयं पं० गोकुलचन्द्र जी ने मुझे सुनाये थे अतः इनकी सचाई में किसी भी प्रकार सन्देह नहीं किया जा सकता।

इससे पता चलता है कि आचार्य शुक्ल जी अर्थाभाव में रह कर भी साहित्य सेवा का कार्य निर्वाध गति से करते रहे। आचार्य पाद के अनेकों संस्मरण मुझे याद हैं, परन्तु अधुना इतना ही पर्याप्त है।

—गुरुधाम कॉलोनी
दुर्गाकुण्ड रोड
वाराणसी

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अमृत महोत्सव

वर्ष में

प्रकाशित

दो स्तरीय कृतियाँ

⊙

संस्कृत-साहित्य में अन्योक्ति

—अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र ८०.००

⊙ □ ⊙

सृजनशीलता और सौन्दर्यबोध

—डॉ० निशा अग्रवाल ६०.००

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन ⊙ प्रयाग

१२ सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ७५वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में प्रकाश्यमान

अमृत महोत्सव ग्रन्थमाला

के

संग्रहणीय ग्रन्थ

१. सभापतियों के भाषण भाग-१ सम्पादक—डॉ० विद्यानिवास मिश्र

२. सभापतियों के भाषण भाग-२ श्री लक्ष्मीशंकर व्यास

३. सभापतियों के भाषण भाग-३ डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल

४. राष्ट्रभाषा की समस्याएँ सम्पादक—श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन
(राष्ट्रभाषा परिषद् के सभापतियों के भाषणों का संकलन)

५. हिन्दी साहित्य की समस्याएँ—डॉ० रघुवंश
(साहित्य परिषद् के सभापतियों के भाषणों का संग्रह)

६. हिन्दी में विज्ञान लेखन : कुछ समस्याएँ —सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र
(विज्ञान परिषद् के सभापतियों के भाषणों का संग्रह)

७. भारतीय इतिहास संस्कृति और समाज—सम्पादक—डॉ० गंगासागर तिवारी
(समाजशास्त्र परिषद् के सभापतियों के भाषणों का संग्रह)

⊙

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१२. सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

पुराण-साहित्य-प्रकाशन

प्रकाशित पुराण

१. ब्रह्मपुराणम् (मूल श्लोक, हिन्दी अनुवाद, बृहत् सूचीद्वय, प्रशस्त भूमिका तथा पाठ-भेद सहित) : अनु० श्री तारिणीश झा — १००.००

२. ब्रह्मवैवर्तपुराणम्—पूर्वभागः (उपर्युक्त विशेषताओं सहित) : अनु० श्री तारिणीश झा, पं० बाबूराम उपाध्याय — १००.००

३. मत्स्यपुराण (केवल हिन्दी) : पं० रामप्रताप त्रिपाठी — ६०.००

४. वायुपुराण (केवल हिन्दी) : पं० रामप्रताप त्रिपाठी — ४०.००

शीघ्र प्रकाश्यमान

१. ब्रह्मवैवर्तपुराणम् (उत्तर भाग)

२. अग्निपुराणम्

सन्दर्भ-ग्रन्थ

पुराणों में गंगा : पं० रामप्रताप त्रिपाठी — १०.००

अनुशीलन-ग्रन्थ

पुराणगत वेद विषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन : डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य — ४०.००

⊙

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद
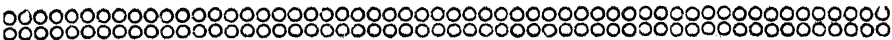
रजिस्ट्रार न्यूज पेपर्स ऐक्ट के अन्तर्गत

विज्ञप्ति

(१)	प्रकाशन	का	स्थान	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
(२)	प्रकाशन	की	तिथि	:	त्रैमासिक
(३)	मुद्रक	का	नाम	:	सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
			राष्ट्रीयता	:	भारतीय
			पता	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
(४)	प्रकाशक	का	नाम	:	प्रभात मिश्र शास्त्री
			राष्ट्रीयता	:	भारतीय
			पता	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
(५)	सम्पादक	का	नाम	:	डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल
			राष्ट्रीयता	:	भारतीय
			पता	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
(६)		स्वत्वाधिकारी		:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

मैं प्रभात मिश्र शास्त्री घोषित करता हूँ कि
उपरिलिखित विज्ञप्ति मेरी जानकारी के अनुसार
बिलकुल ठीक है।

हस्ताक्षर—प्रभात मिश्र शास्त्री
प्रधानमंत्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन : प्रयाग
१२ सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

मुद्रक तथा प्रकाशक : प्रभात मिश्र शास्त्री : सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग